कृष्ण-गोपाल ग्रन्थमाला का दशम पुष्प

सिद्धपरीक्षा पद्धति

(प्रथम खण्ड)

प्रकाशक—

कृष्ण-गोपाल आयुर्वैदिक धर्मार्थ औषधालय

पो० कालेड़ा-कृष्णगोपाल

(जिला अजमेर)

प्रथम संस्करण प्रति २००० मूल्य ८) रु०

१६५० ई०

प्रकाशक—

कृष्ण-गोपाल आयुर्वेदिक धर्मार्थ औषधालय,

पो० कालेड़ा-कृष्णगोपाल (अजमेर)

चरक सूत्रस्थान

तस्माच्छास्त्रेऽर्थविज्ञाने प्रवृत्तौ कर्मदर्शने ।
भिषक्चतुष्टये युक्तः प्राणाभिसर उच्यते ॥ ९-२६ ॥

× × × × ×

रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम् ।
ततः कर्मभिषक्पश्चाज् ज्ञान पूर्वं समाचरेत् ॥ २०-२४ ॥

× × × × ×

यस्तु रोगमविज्ञाय कर्माण्यारभते भिषक् ।
अप्यौषधविधानज्ञस्तस्य सिद्धिर्यदृच्छया ॥ २०-२५ ॥

× × × × ×

यस्तु रोगविशेषज्ञः सर्वभैषज्यकोविदः ।
देशकालप्रमाणज्ञस्तस्य सिद्धिरसंशयम् ॥ २०-२६ ॥

मुद्रक—

सत्यपाल शर्मा

कान्ति प्रेस आगरा ।

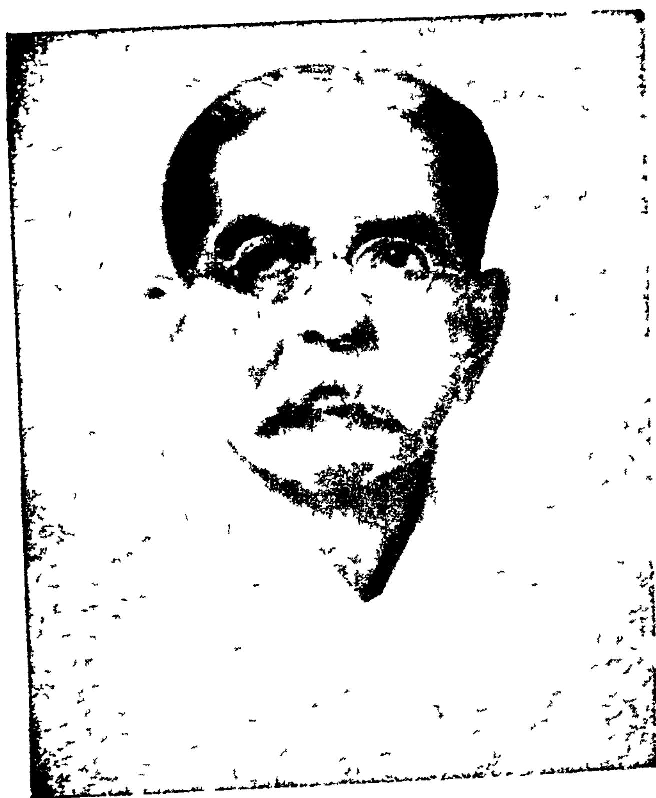
श्रीमान् आयुर्वेदमार्तण्ड, प्राणाचार्य, वैद्यावतस, भट्टारक, राज-

वैद्योपाध्याय मरूधर भूषण श्री० पं० उदयचन्द्रजी महाराज,

संचालक—श्रीजिनदत्तसूरी आयुर्वेदिक महौषधालय,

जोधपुर के चिरयुष्मकी कामना के साथ कर-

कमलो में सादर समर्पित



सौभाग्य से उदार हृदय वाले वैद्य महानुभाव प्राचीन विज्ञान में नूतन प्राणपोषणार्थ जुटे हुए हैं, इस आयुर्वेदोद्धारक कार्य में आपका भी पूर्ण सहयोग है। आपको राजकीय सहायता, सहानुभूति और सौहार्द की भी कोई कमी नहीं है।

निवेदन

कृष्ण-गोपाल आयुर्वेदिक धर्मार्थ औषधालय द्वारा हो रही आयुर्वेदिक साहित्य की सेवा से आज प्रत्येक आयुर्वेदज्ञ भली भाँति परिचित हैं। अपने अल्पकालीन जीवन काल में ही इसने १२ प्रामाणिक ग्रंथ रत्न प्रकाशित कर हिन्दी आयुर्वेदिक साहित्य के भंडार की शोभा वृद्धिंगत कराने का सफल प्रयत्न किया है। इस सिद्धपरीक्षापद्धति को तैयार करने का विचार पूज्य स्वामीजी महाराज का दीर्घ काल से था। कारण, चिकित्सक को सफलता तब ही मिल सकती है, जब रोग निदान योग्य हो। निदान में भूल होने पर अच्छी से अच्छी मूल्यवान औषधि भी लाभ नहीं पहुँचा सकती। उतना ही नहीं, कभी कभी निदान की भूल के हेतु से रोगी को हानि भी पहुँच सकती है। अतः आयुर्वेद के विद्यार्थी और सामान्य बोधवाले चिकित्सकों के लिये इस प्रकार के ग्रन्थ की अति आवश्यकता थी। अभी तक इस प्रकार के प्रकाशित ग्रन्थ हिन्दी भाषा में १ या २ ही हैं, जो संक्षिप्त हैं। उनसे विद्यार्थी वर्ग और चिकित्सक पूरा लाभ नहीं उठा सकते थे। इस हेतु से स्वामीजी महाराज ग्रन्थ के लेखनार्थ साधन और सहायक के लिये प्रयत्न कर रहे थे।

स्वामीजी महाराज की इस इच्छा को जानकर औषधालय के चिकित्सक वैद्य सोहनलालजी ने निवेदन किया कि, आपकी प्रेरणा और मार्ग दर्शन के अनुसार डाक्टरी ग्रन्थों से अनुवाद करना आदि कार्यों मे मैं हो सके उतना सहयोग देना चाहता हूँ। यदि मेरे पर से चिकित्सा का भार कम कर दिया जाय, मुझे सहायक वैद्य दिया जाय और विजिट फीस आदि से होने वाली हानि जितना आर्थिक लाभ मुझे दिया जाय, तो मैं सहर्ष सेवा कर सकूंगा।

फिर स्वामीजी महाराज की प्रेरणा के अनुसार क्लिनिकल मेथड्ज आदि ग्रन्थों से अनुवाद आदि कार्य वैद्य सोहनलालजी करते रहे। वे जो अनुवाद तैयार करते थे, उसे स्वामीजी महाराज देखकर शुद्ध और सरल बनाते थे, एवं परिवर्द्धन भी करते थे। किसी स्थान पर परिवर्द्धन अधिक और किसी स्थान पर कम करना पड़ा है। प्रथम प्रकरण जो क्लिनिकल मेथड्ज से अनुवादित किया गया है। वह मूल ग्रन्थ में लगभग १० पृष्ठों का है और इस ग्रन्थ में ६ गुना बड़ा हो गया है। इस प्रकार स्वामीजी महाराज ने ग्रन्थ तैयार किया है।

स्वामीजी महाराज की भाषा शैली में उर्दू शब्द प्राय: नहीं आते। वैद्य सोहनलालजी उर्दू शब्दो का प्रयोग करते रहे। इसके अतिरिक्त दोनो की लेखन शैली मे भी कुछ अन्तर है। इस भाषा प्रभेद को स्वामीजी सुधार सकते थे; किन्तु इससे पाठको को किसी प्रकार की हानि नहीं है, ऐसा मानकर दोनोभाषाएं जैसी की वैसी रहने दी हैं।

हिन्दी भाषा, जो कि भारत की अब राष्ट्रीय भाषा मान ली गई है, में इस प्रकार के ग्रन्थों की कितनी आवश्यकता है, यह राष्ट्र के प्रत्येक वैज्ञानिक और शुभचिन्तक भली भाँति जानते हैं। हमारे भारत पर सैकड़ों वर्षों के विदेशी और विजातीय शासन के परिणाम स्वरूप हमारी प्रत्येक विषय में अवनति हुई है। समय के साथ उन्नति और प्रगति करने के स्थान पर हम अपने ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशल के अनेक महत्वपूर्ण अंशो को खो बैठे हैं। ऐसा स्वीकार करते हुए हमे किसी प्रकार की लज्जा अनुभव नहीं करनी चाहिये, अपितु यह तो एक गर्वकी बात है और स्वयं हमारी महत्ता प्रकट करती है, कि इतने अत्याचारों, पक्षपात और क्रूरतापूर्ण दमन के बावजूद हम अपने विज्ञान को इस समय तक सुरक्षित रख सके है। इस हीनावस्था में भी पाश्चात्य देश के निष्पक्ष विचारक यह स्वीकार करते हैं, कि अब भी हम पूर्व से कुछ सीख सकते हैं।

भारतीय चिकित्सा प्रणाली भी कालकी इस क्रूर विषमगति से अछूती न रह सकी। ज्ञान-विज्ञान के उन्नति पथ पर निरन्तर अग्रसर रहने की अमिट अभिलाषा के स्थान पर जो कुछ हम बचा पाये, उसे ही पूर्ण मानकर सन्तोषपूर्वक बैठ गये। इसीका परिणाम है, कि नवीन शोध और आविष्कार तो दूर रहा हम अपने अस्पष्ट और लुप्तप्राय अंशो का भी पुनरूत्थान करने का साहस अपने मे आज नही पाते। अब यह स्पष्ट हो चुका है, कि अगर आयुर्वेद को जीवित रखना है, तो उसे अवैज्ञानिक कहने वालो की चुनौती स्वीकार करनी ही चाहिये। आज यह समय की माँग है कि हम अपने सुप्रयत्नो द्वारा यह सिद्ध करदे, कि भारत के लिये उपयुक्त, सुलभ और सब दृष्टियों से युक्ततम चिकित्सा प्रणाली आयुर्वेदीय चिकित्सा-प्रणाली ही है।

पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने अमूल्य समय और अतूल धनराशी व्यय करके जो ज्ञान प्राप्त किया है, उसे हेय या हानिकर न समझकर हमें उससे भीलाभ उठाने का प्रयत्न करना चाहिये। त्रिकालदर्शी महर्षियो द्वारा निर्धारित अपने अमिट और अपरिवर्तित सिद्धातों के अनुसार जिस ज्ञान का हम समन्वय करके लाभ उठा सके, उसे निःसंकोच स्वीकार कर लेना चाहिये।

प्रस्तुत पुस्तक का विषय "रोगःनिदान" अर्थात् रोग निर्णय तक ही सीमित है। इस विषय में किसी भी चिकित्सक के दो विचार हो ही नहीं सकते कि ठीक रोग निदान करने की सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये चिकित्सक अपनी इच्छा अनुसार किसी भी प्रणाली या उपकरण की सहायता ले सकता है। इसमें किसी भी प्रकार से सिद्धान्तों की हानि का भय है ही नहीं। इसके अतिरिक्त आधुनिकतम रोग निदानार्थ प्रयुक्त होनेवाली प्रणालियाँ, साधन और उपकरणों से अनभिज्ञ रहने के स्थान पर विद्यार्थियो को उनकी जानकारी प्राप्त कर लेना सर्वदा ही लाभप्रद सिद्ध होगा। चाहे रोगनिदान दूसरी पद्धति से करे, विदेशी साधन होने से उपयोग में न लें। फिर भी ज्ञान प्राप्त कर लेना हितावह है।

मात्र उपरोक्त भावनाओ से प्रभावित होकर हमने यह प्रयास करने का साहस किया है। हमारा प्रयत्न कहाँतक सफल हुआ है, इसका परीक्षण तो अपनी अपनी भिन्न भिन्न दृष्टियो से चिकित्सा निष्णात विद्वद्वर्य ही कर सकेंगे।

उपर्युक्त कथन से हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं है, कि रोग निदान करने में चिकित्सक एक दम यंत्रो और रासायनिक परीक्षणो के वशीभूत हो जाँय। निश्चय ही यन्त्रों के स्थान पर चिकित्सक को अपनी इन्द्रियो पर अधिक विश्वास करना चाहिये। यन्त्रों को मुख्य साधन न मानकर, उन्हे मात्र अपनी इन्द्रियो के सहायक रूप ही से स्वीकार करना चाहिये। पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली के अनुयायियो ने विपरीत मार्ग का अनुसरण करके रोगनिदान में अपनी इन्द्रिय क्षमता का बहुत बड़ी सीमा तक ह्रास और चिकित्सा को बहुत व्यय साध्य एवं साधारण जनता की पहुँच से बाहर की वस्तु बना दिया है।

रोगनिर्णयार्थ रोगके निश्चयोत्मक प्रत्यक्षसिद्ध और क्रियात्मक ज्ञान की प्राप्ति प्रत्येक चिकित्सक के लिये नितान्त जरूरी है। प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम खण्ड में रोगपरीक्षा संबंधो प्रत्येक विषयका समावेश करने का प्रयत्न किया है। जो विषय शेष रह गया है, ग्रन्थ के आकार वृद्धि के भयसे इसमें न देकर द्वितीय खण्ड के रूप में सुविधापर अलग प्रकाशित कर दिया जायगा।

हिन्दी भाषा मे वैज्ञानिक निश्चित पारिभाषिक शब्दो की न्यूनता के कारण पुस्तक लिखते समय कठिनाई का अनुभव होना स्वाभाविक है। फिर भी इस बात का भरसक प्रयत्न किया गया है कि हो सके उतने भावप्रद सरल शब्दों का ही उपयोग किया जाय, जिनका तात्पर्य पाठक आसानी से समझ सके। कुछ स्थलो पर, विशेषतः रासायनिक परीक्षा का विषय कुछ क्लिष्ट हो

गया है, जिसे निकाला जा सकता था; परन्तु विषय की पूर्णता की दृष्टि से ही उसे स्थान दे दिया गया है।

विद्यार्थी और सामान्य बोधवाले चिकित्सक, जिनको शारीर शास्त्र और शारीर क्रिया विज्ञान शास्त्र का बोध न मिला हो, उनको ग्रन्थ समझने में विशेष कठिनाई न हो, वे सरलता से तात्पर्य को ग्रहण कर सकें और परीक्षा पद्धति को अपना सकें, इस लिये स्थान स्थान पर शारीरिक अवयवों का संक्षिप्त परिचय और १०० से अधिक चित्र भी दिये गये हैं। आशा है कि, इससे विद्यार्थी वर्ग विशेष लाभ उठा सकेंगे।

चाहे जितनी सावधानी रखी जाय, फिर भी मनुष्य मर्यादित बुद्धि-वाला है। इस हेतु से ग्रन्थ में न्यूनता रह जाना और दृष्टि भेद से न्यूनता भासना, यह स्वाभाविक है। अतः पाठकों से निवेदन है, कि उनको जो जो न्यूनताएं प्रतीत होती हों, वे लिखें। जिससे हम उनको अगले संस्करण में दूर करने का यथाशक्य प्रयत्न कर सकें।

श्रीमान् माननीय डाक्टर साहब मोहनलाल जी अग्रवाल एम. बी. बी. एस— मेडिकल आफिसर—प्रतापगढ़ ने निःस्वार्थ भाव से ग्रन्थ को आद्यो-पान्त देख, अनेक स्थलों पर महत्वपूर्ण संशोधन कर देने का कष्ट किया है। अतः हम उनके हृदय से आभारी हैं।

ग्रन्थ लेखन में Clinical method (Hutchinson) का विशेष आधार लिया गया है। इसके अतिक्त (1) Medical diagnosis (Pullin); (2) Savill's system of clinical medicine; (3) Diseases of the skin, (4) Differential diagnosis तथा (५) स्व० डा० राधागोविंद कर की मेटेरियामेडिका (बंगाली) आदि का भी कतिपय स्थानों में आश्रय लिया है। इन सबके लेखक और प्रकाशकों के हम आभारी हैं।

अन्तिम प्रूफ देखने का कार्य प्रेस वालों पर ही रखना पड़ा। वे इस विषय से बिल्कुल अनभिज्ञ थे। इस हेतु से स्थान स्थान पर अशुद्धियाँ हो गई हैं। महत्व की कुछ अशुद्धियाँ, जो हमारे लक्ष्य मे आगईं, उनको हमने शुद्धि पत्रक मे लेली है। इन अशुद्धियों के लिये हम पाठकों से क्षमा याचना करते हैं। भविष्य के द्वितीय संस्करण में उनको शुद्ध कर लेने का भरसक प्रयत्न किया जायगा। इसके अतिरिक्त पाठकों को जो जो दोष दृष्टिगोचर हो, वे लिखने की कृपा करेंगे, तो उनका साभार स्वीकार किया जायगा।

ता० १५—११—४६ ई०
कालेड़ा-बोगला (अजमेर)

विनीत
कुंवर जसवन्तसिंह
मंत्री

सिद्धपरीक्षापद्धति [प्रथम खंड]

विषय सूची ।

प्रथम अध्याय ।

द्वितीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

अध्याय ७ वां

आठवाँ अध्याय ।

चित्र सूची

प्रस्तुत पुस्तकें

१—रसतन्त्रसार व सिद्ध प्रयोग संग्रह प्रथम खण्ड १८×२३ अठपेजी, पृष्ठ ६०० । षष्ठ संस्करण । अजिल्द मू० ७)

२—चिकित्सातत्व प्रदीप प्रथम खण्ड १८×२२ अठपेजी पृष्ठ ८०० द्वितीय संस्करण । मू० अजिल्द ८), सजिल्द ६॥)

३—औषधगुण धर्म विवेचन द्वितीय संस्करण १८×२३ अठपेजी पृष्ट ३३६ मूल्य अजिल्द ३), सजिल्द ४॥)

४—गाँवों में औषधरत्न प्रथम खण्ड १८×२३ अठपेजी पृष्ठ ३३६ मूल्य अजिल्द २), सजिल्द ३॥)

५—नेत्र रोग विज्ञान १८×२३ अठपेजी पृष्ठ ६५० । चित्र २४२ मूल्य सजिल्द १५)

६—सिद्ध परीक्षापद्धति १८×२२ अठपेजी पृष्ठ ६५० । मू० ८)

७— ज्वर विज्ञान २०×३०, १६ पेजी पृष्ठ ५०० । मू० ३) और ४॥)

८—रुग्णपरिचर्या २०×३० १६ पेजी पृष्ठ ५०० । मू० ३॥)

९—संक्षिप्त औषधपरिचय २०×३०, १६ पेजी पृष्ठ १२० मू० ॥=)

१०—गृह विज्ञान २०×३०, १६ पेजी मू० ॥)

प्रेस में पुस्तकें

११—रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोग संग्रह, प्रथम खण्ड, गुजराती अनुवाद १८×२३ अठपेजी, पृष्ठ ६५० । मू० सजिल्द ६)

३१ जुलाई १९५० ई० तक मूल्य भेजने वालों को रु० ८॥) में दिया जायगा । पोस्टेज औषधालय की ओर से दिया जायगा पुस्तक सप्टेम्बर में भेजी जायगी ।

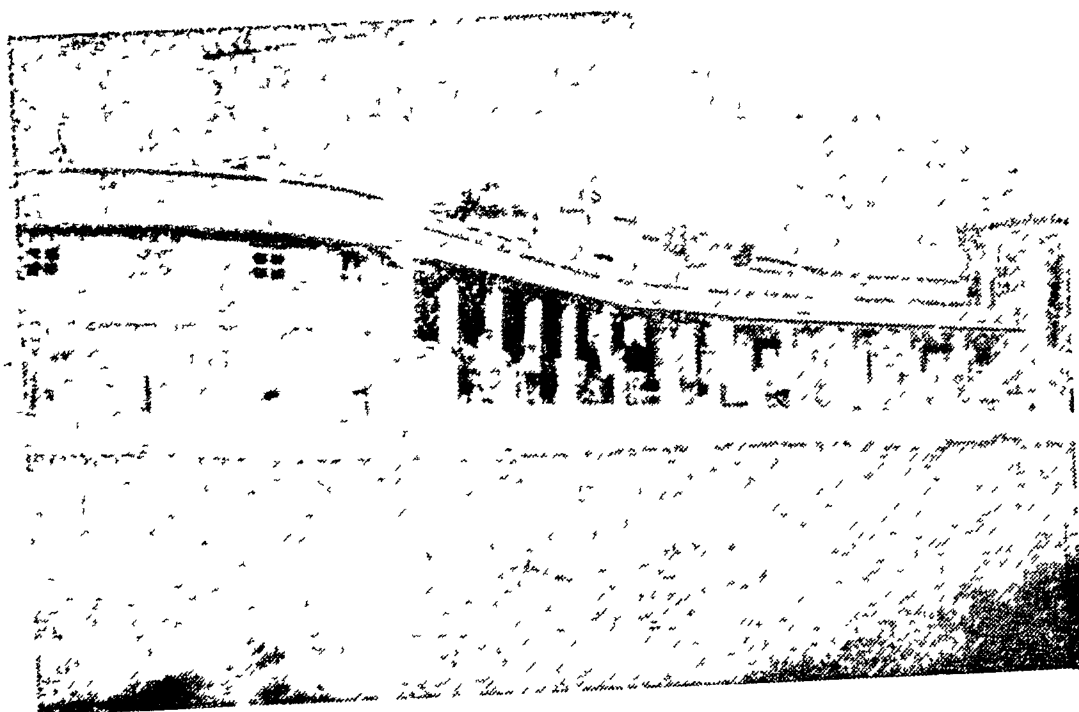
१२—गाँवों में औषधरत्न भाग दूसरा १८×२३ अठपेजी पृष्ठ ३२० ।

डिसेम्बर १९५० ई० तक तैयार हो सकेगी । औषधियों के २० चित्र भी दिये जायंगे ।

कृष्ण-गोपाल आयुर्वेदिक धर्मार्थ औषधालय

ग्राम कालेड़ा बोगला के

रुग्णालय (Hospital) का भव्य भवन



इसका निर्माण ही विश्ववन्द्य महात्मा गाँधीजी के

आदेशानुसार ग्रामनिवासियों को सक्रामक

भयानक रोगो से बचाकर उनकी

स्वास्थ रक्षा के लिए

हुआ है।

सिद्धपरीक्षापद्धति



प्रथम अध्याय

रोगविशेषविज्ञान ×

(Case taking)

अध्याय का शीर्षक ही अपनी गुरुता का निदर्शक है। इसके महत्व के विषय में आशंका के लिये कोई स्थान ही नहीं है। इसकी सफलता चिकित्सक की सावधानी और तत्परता पर निर्भर करती है। यह भिषग्बुभुत्सुओं को दृढ़ता के साथ-साथ कर्मण्यता और पूर्णता का पाठ पढ़ाती है। इसका ध्येय है कि रोग विशेष विज्ञान अर्थात् क्रियात्मक रोग परीक्षा करते समय रोग से सम्बन्ध रखने वाले तथा रोगी के सम्पर्क में आने वाले किंचनातिकिंचन द्रव्यों की,भी उपेक्षा न हो। वे सबके सब यथा स्थान रोगी के सान्निध्य में हो। उनका इतिवृत अनुभवी वैद्यों को उनके कार्यक्षेत्र में अग्रसर होने के लिये उत्साहित करता है। वह इनके बल पर अपने कार्यक्रम का खाका खींचता हुआ अपने अनुभवों का मूर्त्तिमान स्वरूप खड़ा कर देता है। वह अपने पूर्व के अनुभवों के उदाहरणों से इसकी तुलना करता हुआ सफलता के स्तर पर स्तर रखता हुआ क्रमशः एक सुदृढ़ नींव तैयार कर देता है। जिसके द्वारा सत्वर और अचूक रोगनिदान* करने की शक्ति वृद्धिगत कर सकता है।

× रोग (विषम धातु और ज्वरादि रोगों) के विशेष (वात या रक्त आदि विषम धातुओं और ज्वरादि रोगों की विकृतावस्था से उत्पन्न रूपों) का विज्ञान (विशेष ज्ञान) जिस परीक्षा से हो, उसे यहाँ "रोगविशेषविज्ञान" संज्ञा दी है।

* रोगनिदान एक द्विअर्थी शब्द है। एक तरफ निमित्त, हेतु, आयतन आदि वचनों द्वारा इसे हेतु का पर्याय वाची लिखा है तथा दूसरी तरफ श्री माधवाचार्य ने "माधवनिदान" ग्रन्थ का नाम रखकर इसे रोग विनिर्णय (Diagnosis) के लिये प्रयुक्त किया है।

इस रोग परीक्षा पद्धति के कई तरीके हैं, तथा हर एक चिकित्सक भिन्न भिन्न तरीके का उपयोग करते हैं। इनमें से कौनसे तरीके का अनुसरण किया जाय, इसका कुछ भी महत्व नहीं है, परन्तु जो भी शैली ग्रहण की जाय, वह सङ्क्षिप्त (थोड़े में ही निर्णय करा देने वाली) और व्यापक (विशेष फलदायी) होनी चाहिये। पद्धति उतनी व्यापक हो कि, उसका उपयोग अनेक प्रकार के रोगों में हो सके और रोग के विषय की कोई भी बात शेष न रहने पावे, तथा सङ्क्षिप्त उतनी ही हो, कि थोड़े ही प्रश्नों में सम्पूर्ण वर्णन ज्ञात हो जाय। व्यर्थ के प्रश्न रोगी के मन में अश्रद्धा उत्पन्न करा देते हैं। विद्यार्थियों को रोगियों के कष्टों का का संक्षिप्त वर्णन लिख कर इस बात का अभ्यास करना चाहिये। विस्तृत वर्णन सुनने से भी जहाँ तक हो सके चिकित्सक को बचना चाहिये। विशेषतः जहाँ रोग के लक्षण स्पष्ट प्रतीत होते हों, वहाँ उसका विस्तृत वर्णन सुनकर समय नष्ट करना अवाञ्छनीय है। इसके लिये एक निश्चित रूपरेखा (Out line) उपकारी सिद्ध होती है। रोगी के शारीरिक चिह्न प्रचलित निशान (Symbols) द्वारा अंकित कर लेना चाहिये।

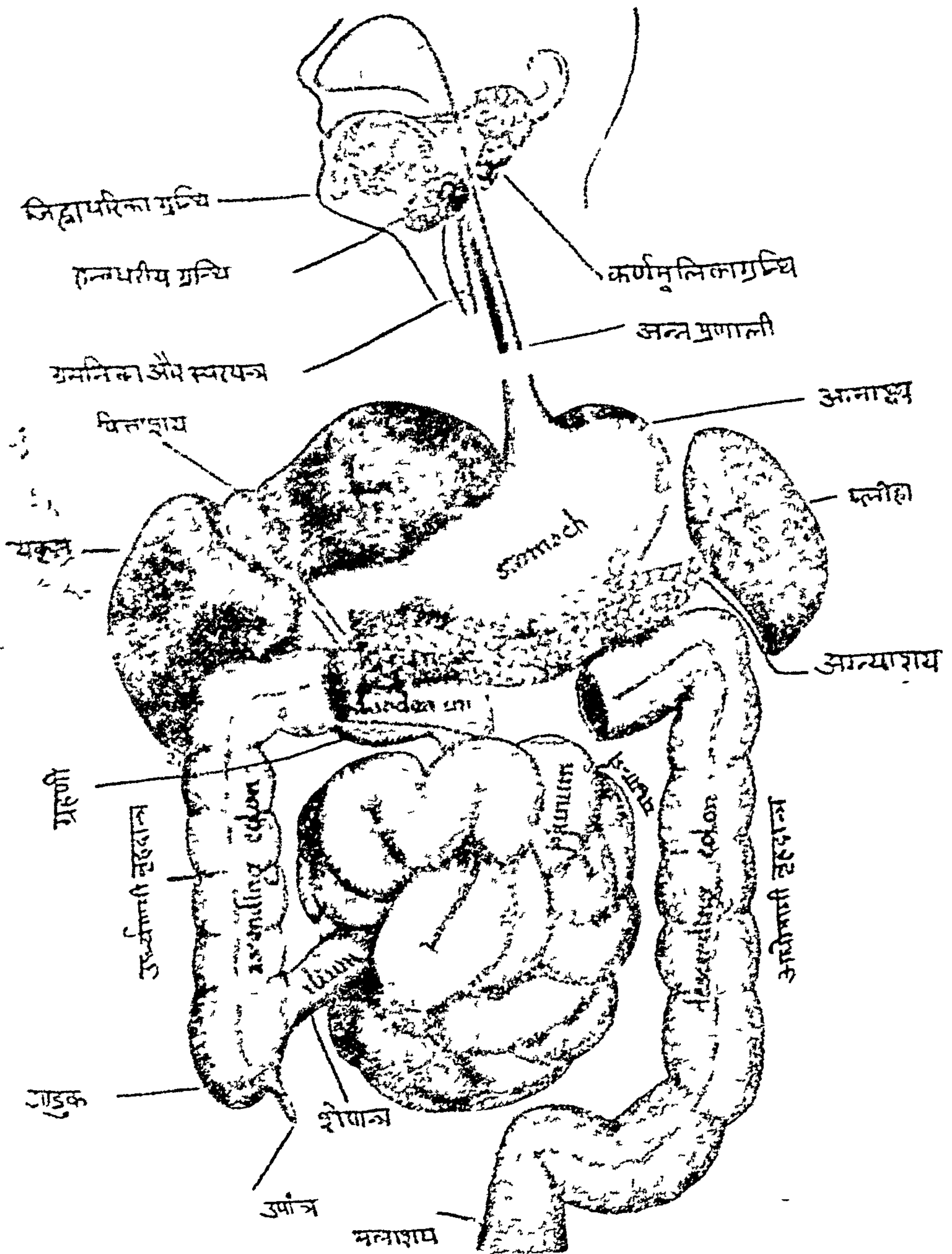
रोग-परीक्षा की एक संक्षिप्त पद्धति इस अध्याय में दी गई है, जिसे संपूर्ण रोगों की प्रत्येक अवस्था में आसानी से प्रयुक्त की जा सकती है। परन्तु इसके साथ ही यह भी लिख देना अनुपयुक्त न होगा कि अन्य शैली के समान इसे भी वैद्य को तुलनात्मक दृष्टि से विचार करके प्रयुक्त करना चाहिए। इसके विपरीत प्रत्येक वैयक्तिक रोग में प्रकाशित गौण रोगों की उल्लिखित सम्पूर्ण बातें सूक्ष्मतापूर्वक ज्ञात करना भी अनावश्यक है। उदाहरणार्थ—कोई आदमी हृद्-रोग से पीडित है, तब उसके दांतों की दशा विस्तारपूर्वक लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है। हालांकि, नव चिकित्सक इस प्रकार की भूल प्रायः कर बैठते हैं। वास्तव में यह निश्चय करने के लिये, कि कौन से रोग में कौनसा प्रश्न करना महत्व का है, इसके लिये कुछ अनुभव की आवश्यकता है। प्रारम्भ में कुछ समय, जब तक अनुभव न हो तब तक यह भूल हो सकती है; परन्तु साधारण बुद्धि का प्रयोग बड़ी भूलों से बचा सकता है।

रोग परीक्षा पद्धति प्रकार—इस पद्धति के मुख्य दो विभाग हैं। १. प्रश्न परीक्षा; २. शारीरिक परीक्षा। यह अधिक सुविधा वाला माना जायगा कि, वैद्य प्रथम इन दोनों विभागों की मुख्य-मुख्य बातें सङ्क्षेप में लिखले और फिर अवकाश के समय इनका विस्तारपूर्वक वर्णन लिखले।

रोग निर्णयार्थ प्रयोजनीय मुख्य बातें:—

१—रोगी और रोग के सम्बन्ध में आवश्यक समस्त घटना का परिचय।

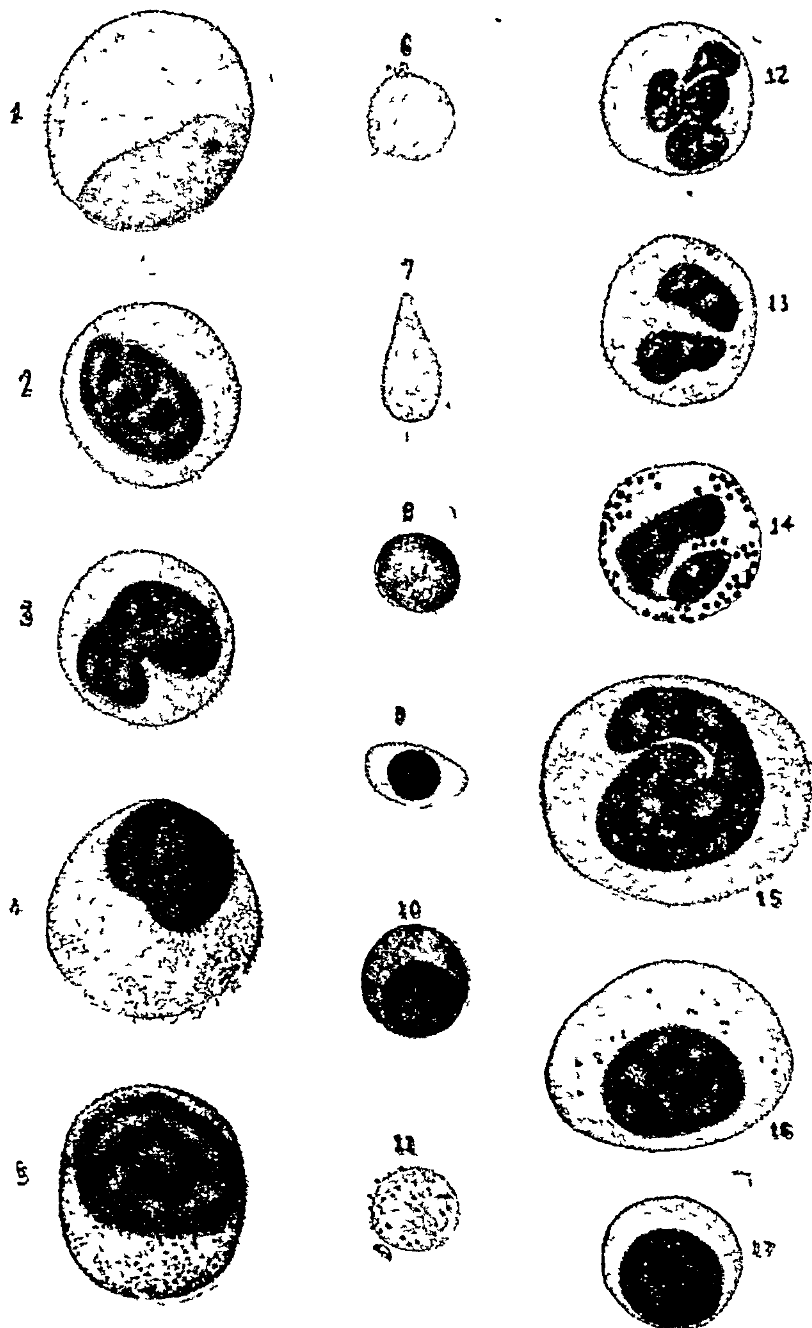
(अ) रोगी की आयु, जाति, व्यवसाय, आर्थिक स्थिति आदि।



पृ० नं० १ पचनेन्द्रिय संस्था।

रक्त के भीतर मिलने वाले जीवाणु

(स्वाभाविक और अस्वाभाविक)



(आ) पूर्व इतिहास,

A. रोगाक्रमण के पहिले रोगी के स्वास्थ्य सम्बन्धी इतिहास।

B. रोगी के व्यसन, आचरणका इतिहास।

C. कुलका इतिहास। वंशावली क्रमसे रोगी की वशवर्त्तिता।

D. पहले औषध सेवन किया हो तो उसका इतिहास।

इ. रोगी के लक्षण (रोगी अनुभव कर सके वे) और चिह्न (परीक्षा से चिकित्सक जान सके वे)

२–सुनी हुई या जानी हुई घटनाओं का रोग के साथ सम्बन्ध।

३–सब इतिहास का विचार करके सत्य का अनुमान।

इन सब विषयों पर दृष्टि रख कर आद्योपान्त युक्ति सह विचार करके रोग निर्णय करना चाहिये।

किसी किसी समय ३,४ रोगों के प्रायः एक ही जाति के लक्षण और चिह्नप्रकाशित होते हैं। ऐसे समय पर प्रभेदक लक्षण व चिह्नों पर लक्ष्य देकर उनमें से एक एक रोग को पृथक् करके सच्चे रोग का निर्णय कर लेना चाहिये। विद्यार्थियों को इस बात को भी लक्ष्य में रखना चाहिये कि कभी कभी औषध सेवन कराकर भी रोग निदान किया जाता है। उदा—किसी रोगी को ज्वर है; किन्तु वह ज्वर विषम है या आन्त्रिक? इसका निर्णय प्रारम्भ में डाक्टरी मतानुसार कुनेन सेवन करा करके किया जा सकता है।

रोग संप्राप्तिदर्शक आवश्यक लक्षण-चिह्न आदि सब प्रकाशित न हुए हों, तो कभी कभी रोग निर्णय में प्रतिबन्ध होता है। जैसे ज्वर है, ऐसा विदित होने पर भी विभिन्न ज्वरों की प्रथमावस्था में रोग निर्णायक लक्षण चिह्न उपस्थित नहीं होते। इसके अतिरिक्त अनेक बार रोगी स्वेच्छा से कितनीक घटनाओं को गुप्त रख लेता है। अथवा रोगी बालक, मूक, मानसिक विकार ग्रस्त या अज्ञानी होने पर आवश्यकीय वृतान्त समझाने से असमर्थ होता है। इन सब स्थानों में रोगी के कुटुम्बी या सम्बन्धी जनों के कथन पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इसके अतिरिक्त कभी रोगी का कोई भी आत्मीय न मिल सके, तब केवल भौतिक परीक्षा ही मात्र अवलम्बनीय होती है।

जिन सब घटना या लक्षण-चिह्न आदि पर निर्भर रह कर रोग निर्णय किया जाय, वे सब अयथार्थ या भ्रमात्मक होने पर रोग निर्णय भी मिथ्या होजाता है। कभी रोगी मिथ्या विवरण देकर चिकित्सक की प्रवंचना कर सकता है, एव कभी चिकित्सक ने परीक्षा द्वारा जिस संप्राप्ति का अनुमान किया हो, वह भी भूल वाली हो सकती है। असम्पूर्ण या अंगहीन परीक्षा

होने से अथवा किसी अज्ञान चिकित्सक के विश्वास पर रह कर रोग संप्राप्ति मान लेने से अनेक स्थानों पर विद्यार्थी और अभिनव चिकित्सक भ्रम में गिर जाते हैं।

रोगी शोथ ग्रस्त प्रतीत हुआ और परीक्षा द्वारा पेशाब में शुभ्र प्रथिन की प्राप्ति भी हुई। अतः सामान्यतः वृक्क प्रदाह, इस शोथ रोग का कारण मान लिया जाता है; किन्तु कभी कभी लक्ष्य पूर्वक पूर्ण परीक्षा करने पर विदित होता है कि मूत्र मे शुभ्र प्रथिन की प्रतीति हुई है, वह वृक्क में रक्त संग्रह के हेतु से हा है। इस शोथ से इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। किन्तु शोथ का हेतु सूक्ष्म निरीक्षण करने पर हृदय के बायीं ओर अवस्थित द्विपत्र कपाट की विकृति है।

निर्णायक रोग लक्षण उपस्थित न हो, उस समय अनेक चिकित्सक मल कर रोग निर्णय कर लेते हैं। कभी क्वचित् नूतन रोग के लक्षण-चिह्न प्रकाशित हो जाते हैं। ऐसे समय पर पुनः रोग निर्णयार्थ परीक्षा न की जाय, तो भ्रमवश मिथ्या चिकित्सा होती रहती है। क्वचित रोग का लक्षण-चिह्न आदि या इतिहास आदि योग्य मिला हो, किन्तु उनकी व्यवस्था पर योग्य लक्ष्य न दिया जाय, या योग्य विचार न किया जाय तो भी असंगत सिद्धात द्वारा रोगनिर्णायक भ्रमात्मक हो सकता है। अतः विद्यार्थियो को चाहिये कि इन सब बातों को स्मरण रखकर मनोयोगपूर्वक विचार करके निदान करें।

१. प्रश्न परीक्षा

रोगी से प्रश्न करने का उद्देश्य यह है कि, उपस्थित रोग के विषय में ज्ञान प्राप्त किया जाय। रोग के लक्षणों के ज्ञान से और नाड़ी आदि अष्टांग परीक्षा पर से अनेक बाते जानने में आ जाती हैं। फिर भी वंश परम्परागत रोग, बालक के लिए माता का रोग, रोगी को भूतकाल में हुए रोग के हेतु व्यवसायादि हैं तो रोग का कारण, रोगी की मानसिक स्थिति, रोगी का आहार विहार और व्यसनादि बाते जानने के लिये प्रश्नों की आवश्यकता रहती ही है। यदि प्रश्न न किया जाय, तो अनेक रोगों के निदान में अपूर्णता हो रह जाती है।

रोगी को जहाँ तक हो सके इस बात की स्वतन्त्रता देनी चाहिये कि, वह अपना इतिहास अपनी जबान से ही कह देवें। कई रोगी अच्छे योग्य गवाह प्रमाणित होते हैं और कितनेक अयोग्य। उदाहरणार्थ—शहरवासी सज्जन अक्सर अपने रोग का सच्चा वर्णन कह देते हैं। उनके उत्तर न्यायसंगत और सही होते हैं। उनकी गवाही रोग निर्णय में सहायक सिद्ध होती हैं; इसके

विपरीत ग्रामवासी जो अपठित हैं, उनके रोग की कथा बलात्कार से धीरे-धीरे मालूम करनी पड़ती है। मुख्यतः गुप्त अंगों के रोगों के विषय में एवं जो व्यक्ति आधुनिक सभ्यता की हवा खाये हुये हों, उनके कथन पर विश्वास करना कठिन होता है। क्योंकि, प्रायः वह असत्य या रहस्यमय होता है। उनमें से रोगी का कोनसा कथन सत्य और विश्वसनीय है, यह तुलनात्मक बुद्धि और अनुभव से ही निश्चित करना पड़ता है।

रोगी को केवल आवश्यक प्रश्न ही पूछे; निरर्थक प्रश्न न पूछे। रोगी समझ सके, ऐसी सरल भाषा में ही प्रश्न पूछने चाहिये। प्रश्न भी इस तरह के हों, कि जिनके उत्तर में रोगी लक्षण, उपद्रव या समयआदिका वर्णन करें, केवल 'हाँ' या 'ना' कहना पड़े, ऐसे प्रश्न हो सके उतने कम करें। जैसे बद्धकोष्ठका संदेह होने पर मलावरोध है या नहीं? ऐसे प्रश्न की अपेक्षा शौच कैसा आता है? शौच कब आया था? इस तरह के प्रश्न पूछने चाहिये। यदि कब्ज तो नहीं है? ऐसा प्रश्न किया जायगा, तो अनेक अज्ञानी और लज्जाशील युवतियाँ बद्धकोष्ठ होने पर भी नकारात्मक प्रत्युत्तर दे देती हैं।

किसी किसी वैद्य का प्रश्न करने का ढंग ही ऐसा होता है कि, वह निर्बल और संशयी रोगी के मन में बहुत अन्तर पैदा कर देता है, कई वैद्य शारीरिक-परीक्षा आरम्भ करने के पूर्व ही रोगी के बुद्धि और विवेक को नष्ट कर डालते हैं। इससे उनको रोग निदान में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वैद्य को इस बात का पूर्ण ख्याल रखना चाहिये कि, एक ही प्रश्न रोगी से दुबारा न पूछा जाय; अन्यथा रोगी की श्रद्धा नष्ट हो जाती है; तथा उसके मन में सन्देह हो जाता है कि, चिकित्सक मेरी उपेक्षा कर रहा है।

रोग के सब ही लक्षण महत्व के नहीं होते। साधारणतया एक ही लक्षण ऐसा होता है, जो अन्य लक्षणों की अपेक्षा रोगी को ज्यादा दुःख दे रहा होता है। उसे विद्यमान लक्षण (Presenting Symptom) कहते हैं। वैद्य को उस लक्षण की तरफ ही विशेष ध्यान देना चाहिये। यह अच्छा नियम है कि, रोगी से इतिहास जानने के समय प्रश्न न पूछा जाय, उनको पहले स्वतन्त्रतापूर्वक कहने देवें। फिर जब विद्यमान लक्षण से रोग की कल्पना हो जाय, तब ही रोगी से रोग को पूर्णतया निश्चित करने वाले लक्षण के विषय में पूछना चाहिये कि, जो रोगी कहना भूल गया हो या जिन पर ध्यान ही न गया हो। अनुभवी चिकित्सक सप्रेम खूब चतुराई से प्रश्नों के शब्दों का प्रयोग करते हैं। यह गुण नियमानुसार अभ्यास करने वाले कुशल विद्यार्थी कुछ ही समय में ग्रहण कर लेते हैं।

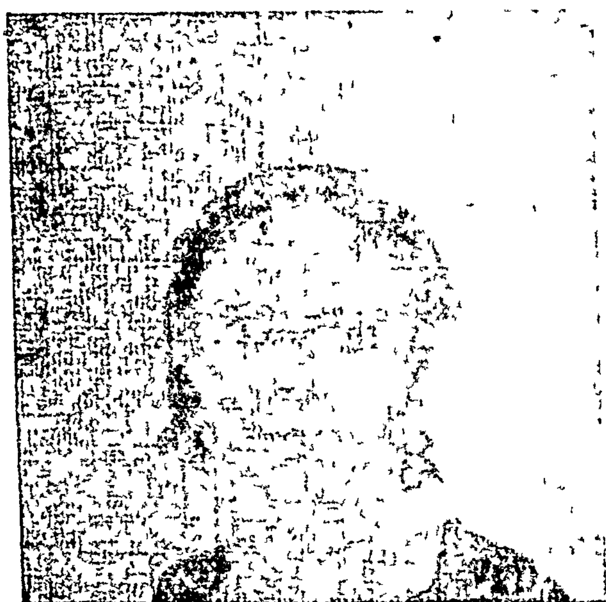
प्रश्न परीक्षा विभाग—A. सामान्य प्रश्न परीक्षा; B. विशेष प्रश्न

परीक्षा। इनमें से सामान्य प्रश्न प्रायः प्रत्येक रोगी को पूछे जाते हैं, तथा विशेष प्रश्न पृथक्-पृथक् संस्था और अंगों के रोगों से पीड़ित रोगियों को पूछे जाते हैं।

A. सामान्य प्रश्न परीक्षा

सर्व प्रथम रोगी का नाम, आयु, व्यवसाय और विवाहित या अविवाहित होने का निश्चय हो जाने के पश्चात् उसका निवास स्थान और डाक का पता मालूम कर लेना भी मत्वपूर्ण है; ताकि भविष्य में आवश्यकता होने पर पत्र-व्यवहार किया जा सके।

आयु सम्बन्धी प्रश्न—रोगी की आयु का सम्बन्ध दुष्टार्बुद, रक्त में श्वेताणु वृद्धि, स्त्रियों के मासिक धर्म की निवृत्ति, तुंगाक्ष गलगण्ड (Graves' disease) उपवृक्कप्रदाह (Addison's disease), मधुमेह, अपक्रांति सह ऊरुस्तंभ (Primary spastic paraplegia) और धमनी विस्तारादि अनेक रोगों के साथ कितनेक अंश में रहता है। अतः इन रोगों में आयु सम्बन्धी प्रश्न करना चाहिये।



चित्र नं० २ तुंगाक्ष गलगण्ड

इसके पश्चात् निम्नानुसार प्रश्न किये जाते है।

आपको क्या कष्ट है ?—प्रमाद वश अनेक वैद्य रोगी को आते ही पूछ बैठते है कि क्या बात है ? इस प्रकार का अनादर सूचक प्रश्न रोगी से करना अनुचित है, क्योंकि, इस प्रश्न का कभी-कभी शुष्क ही प्रत्युत्तर मिलता है कि, यही तो मै जानने के लिये आपके पास आया हूँ।

कितने समय से यह लक्षण विद्यमान है ?—रोगी अक्सर अपने रोग का **आरम्भ** किसी दुःखदायी लक्षण के प्रगट होने या गम्भीर घटना के घटित होने से मान लेता है। इस लिये रोग आरम्भ होने का निश्चित दिन या समय मालूम करना कठिन होता है। परन्तु आप पूर्ण स्वस्थ कब तक थे ? ऐसा पूछने पर कभी कभी रोग आरम्भ की ठीक तिथि मालूम हो जाती है। कभी

कभी यह भी ज्ञात करना चाहिये कि, इस प्रकार का कष्ट इसके पूर्व भी हुआ था क्या ?

रोग के इतिहास विषय के प्रश्न—इसके लिये सबसे अधिक न्याय-संगत उपाय तो यह है कि, सर्व प्रथम रोगी के कुटुम्बियों के स्वास्थ्य के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त की जाय, परन्तु व्यवहार में यह अधिक सुविधा वाला माना जाता है कि, उसका इतिहास उसके वर्तमान कष्ट से ही आरम्भ किया जाय। फिर रोग आरम्भ होने के पूर्व का स्वास्थ्य और फिर कुटुम्बियों के स्वास्थ्य के विषय में जानकारी प्राप्त की जाय। कुटुम्बियों का इतिहास जानने के लिये सिर्फ निकट के सम्बन्धियों के ही स्वास्थ्य की दशा या मृत्यु का कारण ज्ञात कर लेना काफी है। इनसे वैद्य को इस बात का विश्वास हो जायगा कि, रोगी को व्याधि वंश परम्परागत धरोहर रूप से तो नहीं मिली।

वंशागत रोग (Hereditary diseases)—अनेक रोग वंश परम्परागत आ जाते हैं, या कितनेक रोग की सहज उत्पत्ति हो सके, ऐसे निर्बल अवयवों की प्राप्ति पूर्वजों (माता पिता) द्वारा होती है। अतः उपदंश और उसके उपद्रव रूप कुष्ठ आदि, सुजाक और उसके उपद्रव रूप सन्धिवात आदि, रक्तस्रावीय प्रकृति, अर्श, आमवात, ऊरुस्तम्भ, मधुमेह, अर्बुद, क्षय, कुष्ठ, अपस्मार, उन्माद, गूंगापन, वर्धनशील, मांसशोष (मांसपेशियों का अपूर्ण पोषण—Progressive muscular distrophy), मांसशोष (Muscular atrophy) इत्यादि व्याधियों में कुल वृतान्त पूछना चाहिये। बालकों के अस्थिमार्दव (Rickets) रोग हो, तो माता पिता को उपदंश रोग हुआ है या नहीं, इस बात को जानना चाहिये।

व्याधि वशवर्तिता (Diathesis)—कितनेक व्यक्ति रोग विशेष के वशवर्त्ति प्रतीत होते हैं। कितनेक स्वभावसिद्ध राजयक्ष्मा, कण्ठमाला, अर्श, आमवात, मृगी, उन्माद, व्युची, मधुमेह, आदि के वशवर्त्ति होते हैं। उनके देह में कभी प्रारम्भ से ही न्यून लक्षण प्रतीत होते हैं, कभी लक्षण कालान्तर से प्रकाशित होते हैं। उदा०—कितनेक बालकों के पेशाब में आक्जलिक एसिड मिलने पर वह उसके वशवर्त्ति विकार का बीज है। मधुमेह का लक्षण बड़ी आयु होने पर ही उपस्थित होता है। कितनेक रोग वंशजों को उतरते हैं। राजयक्ष्मा, कण्ठमाल, आमवात, मृगी, कर्कस्फोट, उन्माद, मधुमेह, गर्भाशयविकार आदि रोग माता पिता को होने पर उनकी सम्प्राप्ति संतान को सहज हो जाती है। अश्मरी कण (Gravel), फिरंग, सुजाक, आदि मूत्रयन्त्र के रोग एवं कतिपय कुष्ठ आदि चर्मरोग भी इसी श्रेणिकाके अन्तर्गत हैं। चाहे पिता के वीर्य द्वारा राजयक्ष्मा आदि के कीटाणु संतानों में प्रवेशित न होते हों। फिर भी

संतान उन रोगों से पीड़ित होती हैं, ऐसा प्रत्यक्ष हो रहा है। कितनेक स्थानों मे वंशागत व्याधिवशवर्त्तिता न होने पर भी व्यसन, भूल, प्रमाद आदि हेतु से रोग स्वसंपादित होते है।

क्वचित् पथ्य और हितकर वस्तु भी प्रकृति के प्रतिकूल होने से हानि पहुँचाती है। जैसे एक रुग्णा जीर्ण ज्वर से पीड़ित और कृश रहती थी, उसे दूध अनुकूल नही रहता था। गोदुग्ध पिलाने पर दूसरे ही दिन थूक में रुधिर आने लग गया। इस तरह आमाशय मुद्रिका द्वार की विकृति हो जानेपर किसी किसी को दुग्ध पान करने पर उदर में शूल होने लग जाता है। किसी को दही खाने पर फुफ्फुस मे कफ वृद्धि, साधे जकड़ना और ज्वर की संप्राप्ति हो जाती है। किसी को खटाई खानेपर साधाओं में वेदना और स्वप्न दोष होता है।

रोगी के जीवन और उद्योग विषयक प्रश्न—रोगी के व्यक्तिगत इतिहास (Personal history) को मालूम करने के लिये उसके जीवन और व्यापार-उद्योग के विषय में प्रश्न करना चाहिये। व्यक्तिगत इतिहास, उसकी शारीरिक और मानसिक दशा, संगति, घर और बाहर की परिस्थिति तथा स्वभाव को जानने के लिये प्रश्नारंभ करना चाहिये। रोगी के प्रतिदिन के भोजन उद्योग, व्यसन और अभ्यास को देख कर तथा मुख मण्डल के देखाव और मानसिक भावनाओं को जानकर उसके जीवन को समझने का यत्न करना चाहिये। रोगी के किसी खास दिन का कार्यक्रम आरम्भ से अन्त तक का मालूम करना प्रायः लाभप्रद सिद्ध होता है। इसलिये व्यवसाय, मकान, कुटुम्ब, रुचिकर विषय, व्यसन आदि के लिये निम्नानुसार प्रश्न करना चाहिये।

व्यवसाय विषयक प्रश्न—रोग निर्णयार्थ केवल उसके व्यवसाय के नाम मात्र से काम नहीं चलेगा; अपितु वह क्या क्या कार्य करता है ? इसकी ठीक ठीक जानकारी प्राप्त करना चाहिये। ताकि यह निर्णय कर सके कि वह किसी प्रकार के बाह्य हानिप्रद प्रभाव से प्रभावित तो नहीं हो रहा है ? रोगी के वर्तमान से पूर्व का व्यवसाय भिन्न हो, तो वह भी जान लेना चाहिये। चिकित्सक को कभी-कभी रोगी के व्यापारिक कार्य, आकाक्षायें, चिंताऐं-झगड़े और साधारण तौर पर उसके उद्योग के विषय मे उसकी भावनाओं का भी परिचय ले लेना चाहिये। वह अपने व्यवसाय से संतुष्ट है या नहीं; इस बात का मनुष्य के स्वास्थ्य पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

व्यवसाय के बोध से अनेक बार रोग ज्ञान में सहायता मिल जाती है। जैसे छापाखाने मे शीशे के अक्षरों (Types) का निरन्तर व्यवहार करने वाले कम्पोजीटरों के शरीर मे स्वच्छता के अभाव मे अंगुलियो द्वारा शीशे के विष का प्रवेश होकर नागविष रोग (Lead Poisoning) की प्राप्ति

होजाने की संभावना है । रंग के कारखानो में कार्य करने वालो को रंग में रहे हुए विष से नागविष सदृश लक्षण या उदर शूलादि रोग, कपड़े की मिल के मजदूरों को फुंफ्फुस विकार और क्षय, गाजा, चरस और अफीमादि मादक द्रव्य बेचने वालों को उनके विष का असर, तथा ऊन बेचने और बुनने वालों को घातक स्फोटक (एन्थ्रेक्स Anthrax) रोग हो जाने की अधिक संभावना है, अथवा ये व्यवसाय इन रोगों की वृद्धि मे सहायता पहुँचाते हैं ।

आर्थिक स्थिति—आर्थिक स्थिति प्रतिकूल होने पर मानसिक चिन्ता बनी रहती है । खान-पान अनियमित और शुष्क मिलता है । रहने के लिए अनुकूल स्थान की योजना नही होती, परिश्रम अधिक करना पड़ता है। विश्रान्ति कम मिलती है । इन सब प्रतिकूलता से अपचन, निर्बलता, स्मृति लोप, उन्माद, हृदयविकार, कब्ज, अग्निमान्द्य, बलनाशादि व्याधियॉ सताने लग जाती हैं । अतः ऐसे लक्षणों की प्रतीति होने पर और उदासीनता या निस्तेजता को जानकर आर्थिक स्थिति सम्बन्धी प्रश्न पूछने चाहिये या अन्य रीति से जान लेना चाहिये ।

निवास स्थान सम्बन्धी प्रश्न—रहने के मकान की स्थिति और मकान स्वास्थ्यवृत्त सम्बन्धी अवस्था को भी जानना चाहिये । मकान के आस पास कीचड़ या पानी तो जमा नही रहता या दुर्गन्ध, मच्छर, शीलदार मकान, अंधकार पूर्ण स्थान, या अन्य कोई स्वास्थ्य पर प्रभाव डालने वाली हानिपूर्ण बात तो नही है ? मकान में सघन रहवास (Over crowding) तो नहीं है ? जैसा कि शहरो में प्रायः होता है ।

नगर निवासी निर्धन लोग, जो अन्धकार युक्त मकानो मे रहते हैं, उनको मलावरोध, विषमज्वर और राजयक्ष्मा आदि रोग सहज हो जाते है । ज्वर काल मे अति तीव्र वायुवेग वाले मकानों में रहने से श्वसनक ज्वर बन जाता है । उष्णकाल मे सूर्य के ताप से तपे हुये टीन के नीचे और एञ्जिन के पास सतत कार्य करने वालो को मूर्च्छा, तीव्र ज्वर, उन्माद, वात नाड़ियो में विकृति आदि व्याधियॉ हो जाती है ।

कौटुम्बिक सम्बन्ध आदि के लिये प्रश्न—कुटुम्बियो से सम्बन्ध मानसिक विकार, रुचि, प्रीतिकर कार्य, मित्र और भय आदि के विषय मे प्रश्न करना चाहिये । उसे प्राप्त अवकाश के दिन में वह आनन्द मनाता है या नही ? वह रोज कितना व्यायाम करता है ? क्या वह खेलता रहता है ? माता पिता, धर्मपत्नी, बन्धु, बहने आदि सबके साथ बर्ताव सप्रेम होता रहता है ? साधारण तया उसके जीवन के विषय मे जैसी उसकी प्रतीति हो, वैसा प्रश्न पूछना चाहिये ।

मानसिक वृत्ति—निर्बल मन वाले को भय लग जाने पर ज्वर, हिस्टीरिया, मूर्च्छा, अतिसार, उन्मादादि रोग हो जाते हैं। चिन्ता से अग्निमान्द्य, अतिसार, क्षीणता आदि व्याधि हो जाती है। माता के क्रोध से क्रोध काल में स्तन पान करने वाले शिशु को ज्वर आदि रोग हो जाते हैं। अतः ऐसे रोगों मे मानसिक स्थिति और वृत्ति को भी जान लेना चाहिये।

रोग के पहले का स्वास्थ्य—इस रोग की संप्राप्ति के पहले स्वास्थ्य (Previous health) कैसा था, यह जान लेना चाहिये। उसे कौनसा रोग कब और कितने समय तक रहा था ? चिकित्सक को सतर्क रहना चाहिये कि, वह बिना निर्णय किये, रोगी के कहने मात्र से, उसके पूर्व रोग पर विश्वास न करले। रोग निदान किससे कराया गया था ? सम्भव हो सके तो उस समय के कुछ लक्षण पूंछकर रोग से तुलना कर लेनी चाहिये। उदा०—कितनेक रोगी शिकायत करते है कि, वे वातश्लैष्मिक ज्वर से पीडित रहते थे। वातश्लैष्मिकज्वर (Influenza), यह संज्ञा रोगी सामान्य प्रतिश्याय और इतर ज्वर के लिये प्रयुक्त कर देते हैं। सब रोगों मे मुख्यतया आमवातिक ज्वर, नृत्यवात, गलग्रन्थि प्रदाह, श्वसनक ज्वर, कण्ठरोहिणी (Diphtheria) आगन्तुक प्रबल व्यवस्था से मस्तिष्क, सुषुम्णा या हृदय को धक्का लगना और किसी विदेश मे रोग की संप्राप्ति होने के विषय मे अवश्य जान लेना चाहिये। रोगी अगर तरुण पुरुष है तो उसे कभी उपदंश या पूयमेह (Gonorrhea) हुआ है ? उसकी क्या चिकित्सा की गई थी ? उपदंश और सुजाक आजकल अत्यधिक देखने में आते है, इसलिये इनका निर्णय अवश्य कर लेना चाहिये। प्रथमावस्था मे केवल घाव होने पर या पेशाब मे जलन होने पर ही चिकित्सक को संतोष नही कर लेना चाहिये अपितु गौण चिह्न ददौरे आदि भी उपस्थित हुए थे या नही ? रोगी इन रोगों के न होने को कहता है, तो इन रोगों से पीडित मनुष्यों के संसर्ग मे तो कभी नही आया ? ये संसर्गज व्याधियाँ होने से यह प्रश्न पूछना आवश्यक है। रोगी स्त्री होने पर जननेन्द्रिय के रोगों के सम्बन्ध मे जितना सम्भव हो सके उतना परिचय उसके पति से प्राप्त करना चाहिये। रोगी पुरुष होने पर भी गुप्त रोगों के सम्बन्ध मे प्रश्न करते समय सभ्यता का विशेष ध्यान रखना चाहिये। एक ही प्रश्न कई प्रकार से पूछा जा सकता है। जैसे किसी स्त्री को सुजाक होने की कल्पना हो, तो सुजाक हुआ है ? ऐसा कभी नही पूछना चाहिये। उसे या उसके पति को इस प्रकार पूछना चाहिये कि, आपको प्रदर हुआ था ? पेशाब मे कभी जलन होती थी ? प्रदर के हेतु से गुह्यभाग मे कण्डू हुई थी ? साधों मे कभी पीडा होती थी ? आदि प्रश्न संमान पूर्वक करें। रोगी प्रत्युत्तर जिह्वासे न देते हुए कदापि इशारे से देवे, तो भी

समझ लेना चाहिये। पुरुष के रोग के लिये भी वह किसी अन्यों के समक्ष न कह सके, तो एकान्त में पूछ लेना चाहिये।

कितनेकके रोगों का सम्बन्ध पूर्वोत्पन्न व्याधि के साथ रहता है। जैसे यकृत् पर विद्रधि अनेक बार रक्तप्रवाहिका होने के पश्चात् होता है। एवं प्लीहावृद्धि सविराम विषम ज्वर के पश्चात् उनके विष से उत्पन्न होती है। इनके अतिरिक्त कितनी व्याधियाँ ऐसी हैं कि जो शारीरिक यन्त्रों को हानि पहुँचा देती हैं और रोगनिरोधक शक्ति को निर्बल बना देती है। जैसे संग्रहणी रोग अन्त्र को निर्बल बनाता है। आशुकारी मधुरा अन्त्र को निर्बल बनाता है और कुछ काल तक रोगनिरोधक शक्ति भी कमजोर रहती है।

कितनेक रोग एक बार हो जाने के बाद सुविधा मिलने पर पुनः आक्रमण कर देता है। जैसे विषम ज्वर, संन्यास, तमक श्वास का दौरा, कामला, नागविषज शूल, धनुर्वात आदि के द्रुताक्षेप, वातज शूल, पित्ताशय, वृक्क, और उपान्त्र का शूल, मदात्यय, आम संग्रहणी, नासा रक्तस्राव, दुष्ट जीर्ण प्रतिश्याय, कण्ठरोहिणी, अपस्मार, हिस्टीरिया, विसर्प, वातरक्त, रक्तमेह (Hematuria), अर्धावभेदक, वृक्कप्रदाह, फुफ्फुसप्रदाह, आमवात, स्वर यन्त्र प्रदाह, कण्डूमय नेत्र श्लेष्मावरण प्रदाह, दद्रु, व्युची, कण्डू आदि।

कितनेक रोग एक बार हो जाने पर बहुधा दूसरी बार नहीं होते। जैसे कि, काली खासी, रोमान्तिका, शीतला, लघुमधुरिका, कर्णग्रन्थिप्रदाह, प्रलापक ज्वर आदि।

उपदंश हो जाने पर उसके उपद्रव रूप पक्षाघात, कुष्ठ, गुदशूक, नाडीव्रण, सन्धिवात आदि रोग भविष्य में हो जाते हैं। शीतप्रधान विषमज्वर, काला आजार आदि के पश्चात् प्लीहावृद्धि हो जाती है। नेत्र में शीतला का व्रण होने पर नेत्रशुक्र हो जाता है।

विषम ज्वर, काल आजार, पीत ज्वर, शोणित ज्वर, श्लीपद, ग्रहणी, पेचिश, उदर कृमि आदि रोगों का सम्बन्ध रोगी के रहने के देश के साथ कुछ अंश में रहता है। अतः दूर देश से आने वाले रोगियों को उपरोक्त रोगों में से किसी से पीडित होने पर देश सम्बन्धी या प्रवास सम्बन्धी प्रश्न करना चाहिये।

जन्म सिद्ध और पीड़ा जनित विकृतावस्था (Dyscrasia and Cachexia)—किन कारणों से देह पुष्ट नहीं होती, यह जानना चाहिये। कितनेक व्यक्तियों में रक्त रचना और रस संस्था में स्वाभाविक विकृति होने से छोटी आयु से देह निर्बल हो जाती है। कईयों को कर्कस्फोट, कामला, विषम ज्वर, उपदंश, सुजाक आदि संक्रामक रोग जनित विकृतावस्था (Venereal Cachexia) की संप्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार साधारण जानकारी प्राप्त कर लेने के पश्चात् वर्तमान रोग का इतिहास जानना चाहिये।

रोगारम्भ और रोग बल विषयक प्रश्न—यह रोग कब किस तरह, शनैः शनैः या अकस्मात् उत्पन्न हुआ है? इसके पश्चात् अगर कोई मुख्य घटना घटित हुई हो, तो उसका वर्णन भी तारीख सहित जान लेना चाहिये। सर्व प्रथम उसका लक्ष्य किस लक्षणने आकर्षित किया? उसके लक्षणो के प्रकाशन का क्रम क्या रहा है? इस समय कौन से लक्षण सबसे अधिक कष्टदायी हैं? अब तक उसकी चिकित्सा क्या क्या की है? उससे स्वास्थ्य में क्या लाभ या हानि हुई है?

B. विशेष प्रश्न परीक्षा
(Special Interrogation)

रुग्ण अंग विशेष या संस्था, जिसके रुग्ण होने की संभावना हो तथा जिस अवयव मे रोग की प्राप्ति के लिये संदेह होता हो, उसके लिए किये जाने वाले प्रश्न स्थान की विभिन्नता के अनुसार रूपान्तरित होजाते हैं। यही विषय है, जिसमे विद्यार्थियों को कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। यह अनुभव से ही कहा जा सकता है कि, प्रत्येक व्यक्तिगत रोग में क्या क्या प्रश्न करना आवश्यक है। नव चिकित्सकों के लिये विशेष अंगों के प्रश्नो की एक संक्षिप्त पद्धति का यहा उल्लेख किया जायगा। सामान्य प्रश्नों से पीड़ित अंग या संस्था विशेष का निश्चय हो जाने पर इसका अनुसरण हो सकता है। इस प्रकार की सर्व पद्धति सर्वथा अपूर्ण ही मानी जायगी। क्योकि, व्यक्तिगत विशेष रोगो मे अवस्थानुसार भिन्न भिन्न प्रश्न करने की जरूरत रहती है। एवं न कोई इस बात का उत्तर ही दे सकता कि, इस पद्धति में वर्णित प्रश्न अमुक अंग या संस्था के रोगो में क्यो किये जाते हैं? इस शंका का उत्तर विद्यार्थियो को स्वयं अनुभव प्राप्त करने पर ज्ञात हो जायगा। यह पूर्व ही लिखा जा चुका है कि, किसी भी पद्धति का अनुसरण किया जा सकता है। इस पुस्तक मे इस पद्धति को निर्धारित करने का उद्देश्य सिर्फ इतना ही है कि, विद्यार्थियो को रोगियों से प्रश्न करने की शैली का अभ्यास सरलता से प्राप्त हो सके और कोई महत्वपूर्ण लक्षण शेष न रहने पावे। चिकित्सक को चाहिये कि, जहाँ तक हो सके आन्तर लक्षणों के अनुरूप ही प्रश्न करें।

लक्षण के २ प्रकार है। १—आन्तर (Subjective), २—बाह्य (Objective) इनमेंसे आन्तर लक्षण का अनुभव केवल रोगीही कर सकता

है। जैसे वेदना, भारबोध, चक्षु में गड़ना, हाथ-पैर टूटना आदि। बाह्य लक्षण वे हैं, जिनका अनुभव चिकित्सक कर सकता है। जैसे शोथ, लाली, नीलापन आदि। बाह्य लक्षणों को चिह्न (sign) भी कह सकते हैं।

संस्था विभाग—रोगी की ओर से जो प्रत्युत्तर मिले, उसका अन्तर्भाव भिन्न-भिन्न संस्थाओं में करना चाहिये। अतः विद्यार्थियो की सुविधा अनुसार संस्थाओं के विभाग निम्नानुसार कर दिये हैं:—

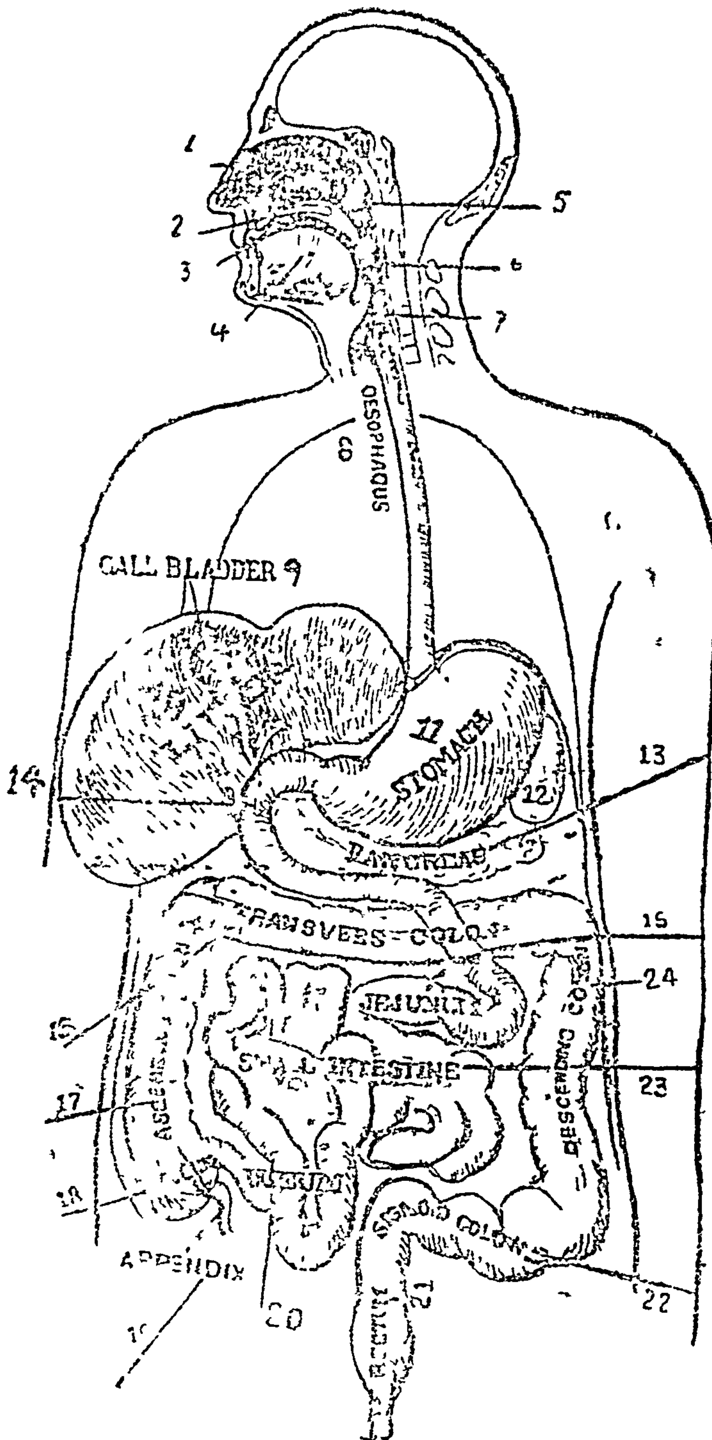
१. पचनेन्द्रियसंस्था और उदर (Alimentary system and Abdomen) अन्त्र, यकृत्, प्लीहा आदि।
२. रक्ताभिसरण संस्था (Circulatory system)—हृदय, रक्तवाहिनियाँ।
३. रक्त रचना (Blood)—रक्ताणु, श्वेताणु आदि।
४. श्वसनसंस्था (Respiratory system)—फुफ्फुस, श्वास-प्रणालियाँ आदि।
५. मूत्रसंस्था (Urinary system)—वृक्क, मूत्राशय, मूत्र आदि।
६. त्वचारोग (Spin diseases)
७. वातनाडीसंस्था (Nervous system)—मस्तिष्क, सुषुम्णा, वातनाड़ियाँ आदि।
८. अस्थिसंधि विकार परीक्षा (Affection of the bonses and goints)
९. बालरोग परीक्षा (Examination of Infants)

इन सबके परीक्षार्थ प्रश्न और परिचयका क्रमशः वर्णन करते हैं। जिन विद्यार्थियोंनें प्रत्यक्षशरीर और शरीरक्रियाविज्ञान जैसे ग्रन्थोका अध्ययन किया होगा, उनको परीक्षा-विधि समझनेमें सुविधा रहेगी। इसके विपरीत जिनको इन संस्थाओंके अवयवोंकी रचना और कार्यका अनुभव न होगा, उनको समझनेमें कुछ-न-कुछ कठिनाई रहेगी। अतः अपरिचित विद्यार्थियोंको भी परीक्षा विधिका लाभ मिल सके, इसलिये ग्रन्थमें स्थान स्थानपर शरीर-शास्त्र और शरीरक्रियाविज्ञानका भी संक्षिप्त परिचय करा देनेका प्रयत्न करते रहेंगे।

पचनेन्द्रिय संस्था और उदर विषयक प्रश्न

यह एक विशाल प्रदेश है, जिसके भीतर अनेक अवयव हैं। इसे समझाने में सरलता हो, इस हेतु से इसके ६ विभाग करते हैं। A. आमाशय, B. अन्त्र, C. यकृत् और पित्ताशय, D. प्लीहा, E. अग्न्याशय, F. उदर्या-कला। इन सब के लक्षण और प्रकाशित चिह्नों के अनुसार रोग निर्णयार्थ प्रश्न किए जाते हैं।

महास्रोत



चित्र नं० ३

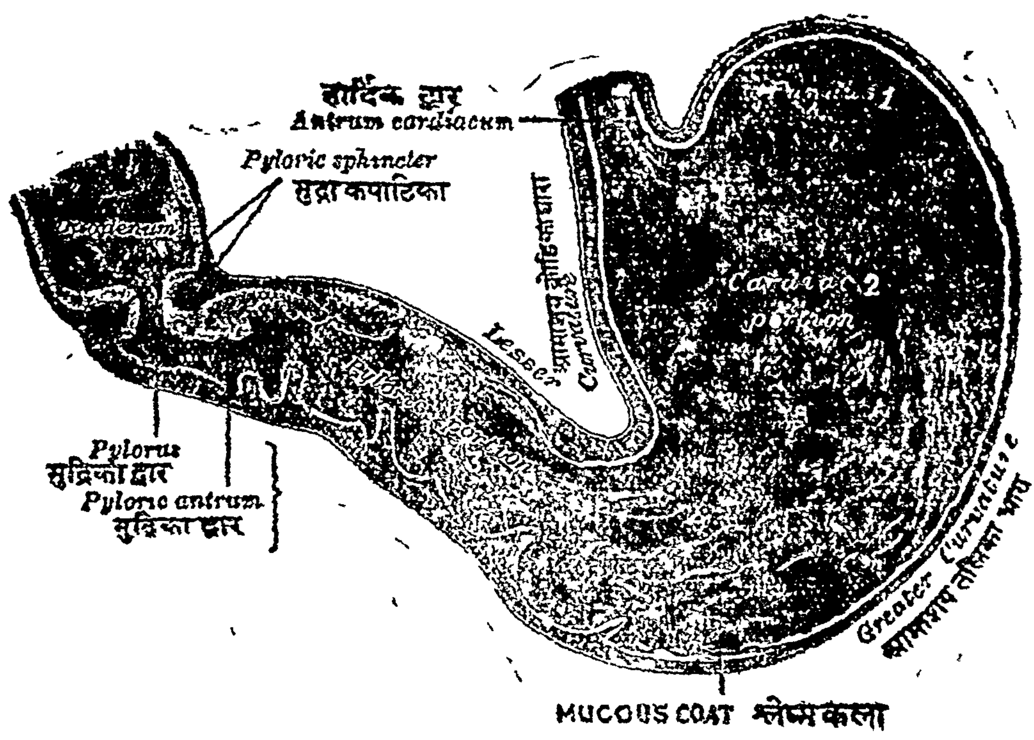
चित्र नं० ३

महास्रोत

१ नासागुहा Nasal Cavity
२ तालु Palate.
३ मुख Mouth Cavity.
४ जिह्वा का निम्न प्रदेश Inferior surface of Tongue.
५ नासागुहा पश्चिम Nasal part of Pharynx.
६ गल विल Oral part of Pharynx.
७ स्वरयन्त्र पश्चिम Laryngeal part of Pharynx.
८ अन्न नलिका Oesophagus.
९ पित्ताशय Gall bladder.
१० यकृत् Liver.
११ आमाशय Stomach.
१२ प्लीहा Splean.
१३ अग्न्याशय Pancreas.
१४ ग्रहणी Duodenum.
१५ मध्यान्त्रक Jejunum.
१६ अनुप्रस्थ अन्त्र Transvers Colon.
१७ आरोही अन्त्र Ascending Colon.
१८ उण्डुक Coecum
१९ अन्त्र पुच्छ Appendix.
२० शेषान्त्रक Ileum.
२१ गुदनलिका Rectum
२२ कुण्डलिका प्रदेश Sigmoid Colon.
२३ लघु अन्त्र Small Intestine.
२४ अवरोही अन्त्र Descending Colon



चित्र नं० ४ अ—आमाशय की बाह्य आकृति



चित्र नं० ५ आ—आमाशय के अन्तर का देखाव

A. आमाशय

आमाशय के उपलब्ध लक्षण चिह्नों के अनुरूप निम्नानुसार प्रश्न पूछना चाहिये।

आमाशयिक पीड़ा—अनेक रोगों में आमाशय के भीतर वेदना उपस्थित होती है। इस वेदना के निर्णयार्थ अनेक प्रश्न निम्नानुसार किए जाते हैं।

भोजन करने पर पीड़ा बढ़ती है या शान्त होती है? भोजन के कितनी देर के पश्चात् पीड़ा प्रारम्भ हुई? भोजन करने के पहले पीड़ा थी? किस प्रकार के (अम्ल, क्षारीय, मधुर, शीतल, उष्ण) या कैसे भोजन से पीड़ा बढ़ती है? पीड़ा का मुख्य स्थान कौनसा है? चित्र (नं० ५३) पीड़ा एक स्थान में सीमित रहती है या उदर में फैलती है? पीड़ा कितनी दूर तक प्रसरित होती है? पीड़ा कब से है? कितने कितने समय तक रहती है? पीड़ा किस प्रकार की है अर्थात् उदर में तनाव, शूल सदृश या काटने के सदृश है? दबाने पर पीड़ा बढ़ती है या घटती है? पीड़ा रात्रि में अकस्मात् उत्पन्न होती है, तो कब और कैसी स्थिति में होती है?

आमाशय विकार से होने वाली पीड़ा कोंड प्रदेश या पीठ की ओर दोनों स्कंधों के कुछ नीचे में अनुभव में आती है चिरकारी आमाशय प्रदाह, अग्निमांद्य और आमाशय के पित्त में अम्लता बढ़ गई हो, तब भोजन कर लेने पर थोड़े ही समय में आमाशय में तनाव सा प्रतीत होता है। तीव्र आमाशय प्रदाह, आमाशय की शिथिलताजन्य अपचन और आमाशयिक व्रण में भोजन कर लेने के पश्चात् पीड़ा प्रारम्भ होकर कुछ काल तक रहती है। सामान्यतः आमाशय के व्रण में भोजन के पश्चात् पीड़ा प्रारम्भ होती है और वमन हो जाने पर शमन होती है। एवं उदर पर दबाने से व्रणवत् पीड़ा का अनुभव होता है। यदि लघुअंत्र के ग्रहणी भाग में व्रण हो, तो भोजन के ३ घन्टे बाद आमाशय में वेदना होती है और दीर्घकाल तक या दूसरे भोजन काल तक बनी रहती है।

आमाशय में भोजन सड़ना, विषप्रकोप या अन्य कारणों से आमाशय रस में अम्लता और उग्रता की वृद्धि होने पर भोजन के १–१॥ घण्टे के पश्चात् वेदना और व्याकुलता उपस्थित होती है। अम्लपित्तप्रधान अन्नद्रव शूल में दही, चावल आदि खट्टे विपाक वाला भोजन करने पर वेदना बढ़ती है तथा क्षारीय द्रव्य का सेवन करने पर वेदना का ह्रास होता है।

भोजन के साथ जिस पीडा का कोई सम्बन्ध न हो, वह सदैव वात नाड़ियो की विकृति से उत्पन्न हुई जाने। यदि पीड़ा शूल चुभोने के सदृश तीव्र हो और सतत बनी रहती हो, तो आमशय के कर्कस्फोट की सूचक है। आमाशय के वातिक शूल मे खेचने सदृश वेदना होती है। इसी तरह आमाशय के अधोद्वार के संकोचन से भी वैसी ही तीव्र वेदना होती है। किन्तु याद रखना चाहिये कि, जो बलपूर्वक दबाने पर पीडा कम हो या शान्त हो वह सदैव व्यापारिक होती है, अर्थात् वह आमशय के रोग जनित नहीं हैं, अपितु वात नाड़ियों की विकृति के कारण आमशय मे उपस्थित हुई है।

आमाशय प्रदाहज पीडा हो तो क्षार सेवन से शमन हो जाती है; तथा आमाशय के व्रण जनित पीडा वमन होने पर निवृत्त हो जाती है।

पाण्डु रोगी और चंचल मन वाली स्त्रियो को संवेदक वात नाडियो की विकृति से आमाशय शूल (Gastralgia) उपस्थित होता है। उससे कौडी प्रदेश में तीव्र वेदना होती है। इसकी गति पीठ की ओर होती है। इस रोग में वमन हो जाय तो पीडा शान्त हो जाती है। इस रोग में कभी वेदना एक स्थान पर रहती है, कभी चारो ओर फैलती है। यह रोग बहुधा प्रातःकाल प्रकाशित होता है। कभी भोजन करने पर वेदना बढती है।

अधिक आमाशय रस-स्राव मे खासी उदर होने पर रात्रि के समय आवेग उत्पन्न होता है। इस रोग में तीव्र शूल चलता है; और फिर अम्ल-वान्ति होती है। आमाशयिक रस-स्राव अधिक होने से पीडा होती हो, वह कुछ खा लेने पर दूर होती है; किन्तु आमाशय रस का फेनी भवन (Fermantation) या अपचनजनित पीड़ा हो, वह तो खा लेने पर और अधिक बढ़ जाती है।

वक्तव्य–आमाशय प्रदेश में पीड़ा सदा आमाशय विकार से ही नहीं होतो, अपितु इसका हेतु अन्य इन्द्रियों का विकार भी हो सकता है। उदा० पिताशय शूल, पिताशय प्रदाह, यकृद् वेदना, कशेरुका क्षय, हृदय शूल, अन्यशूल, अग्न्याशय प्रदाह आदि से भी आमाशय प्रदेश में वेदना होती है। (चित्र नं० ५३)।

कभी कभी हृदय शूल (Angina Pectoris), अन्यशूल और वामपार्श्व में अवस्थित अग्न्याशय के हिस्से का प्रदाह, इन तीनो रोगो की पीड़ा आमाशय शूल होने का भ्रम उत्पन्न कराती हैं।

पित्ताश्मरी जन्य शूल (Biliary colic) यथार्थ मे दक्षिण मे उपपर्शु का ओर दक्षिण स्कंध की ओर गमन करता है। यकृत् की वेदना दक्षिण अनुपार्श्विक प्रदेश मे होती है पर्शु कान्तर (Intercostal) प्रदेश में

वातनाडी शूल होने पर शूल का भास पीठ और कशेरुका के समीप तथा बाजू में पशुका के भीतर होता है। इस तरह से सबका आमाशय शूल से भेद हो जाता है। एवं पृष्ठ वंश के कशेरुका का क्षय होने पर वह भी अन्य लक्षणों के हेतु से पृथक् हो जाता है।

क्षुधा—अनेक रोगों में क्षुधा न्यूनाधिक हो जाती है। अतः उसके निर्णयार्थ पूछना चाहिये कि भूख कैसी लगती है? अधिक, अत्यधिक, न्यून वा साधारण? जीर्ण अजीर्णरोग, चिरकारी, आमाशय विस्तृति में क्षुधा मंद हो जाती है। आमाशयिक कर्कस्फोट में भी क्षुधामंद हो जाती है। रोगशमन के पश्चात् होने वाली निर्बलता में अग्निमान्द्य होने से क्षुधामंद रहती है। किन्तु इस अवस्था में कभी कभी दो चार ग्रास खाने पर क्षुधा चमक उठती है। कभी कभी हिस्टीरिया रोग में वास्तविक किसी भी प्रकार की आमाशयिक विकृति न होने पर भी क्षुधा नष्ट हो जाती है। कतिपय प्रकार के उन्माद रोग में भी भोजन की इच्छा नष्ट हो जाती है। क्षुधा पर मानसिक स्थिति का बहुत प्रभाव पड़ता है; यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिये। ज्वर आदि कायिक रोगों में बहुधा क्षुधा का अभाव हो जाता है।

अत्यधिक क्षुधा भस्मक, मधुमेह, तीव्र आमाशयप्रदाह के शमन के पश्चात् तथा उदर कृमि और तुंगाक्ष गलगण्ड में प्रायः पायी जाता है। एवं भाँग आदि मादक पदार्थों के सेवन से भी क्षुधा अति प्रदीप्त हो जाती है।

चिरकारी आमाशयप्रदाह और विदग्धाजीर्ण में मिथ्या क्षुधा प्रतीत होती है; अर्थात् क्षुधा न होते हुए भी भोजन करने की इच्छा होती है। किन्तु दो चार ग्रास खाने पर ही इच्छा निवृत हो जाती है। गर्भावस्था, हिस्टीरिया और हलीमक रोग में मिट्टी, राख और अभक्ष्य पदार्थ खाने की वासना उत्पन्न होती है।

पिपासाः—तृषा अधिक है या न्यून? मधुमेह, अपचन, विशूचिका, आमशाय विस्तृती, आमाशय प्रदाह, तथा वमनाधिक्य में यह बढ़ जाती है। क्षुधामान्द्य, और रोग में प्यास बहुत कम हो जाती है।

इनके अतिरिक्त पित्त प्रकोप, शुष्क और तले हुये पदार्थों का सेवन, मत्स्यभक्षण, सूर्य के ताप में भ्रमण, अग्नि सेवन और अति रक्तस्राव होने पर बार बार जलपान करने का इच्छा होती है। इसके विपरीत शीतकाल, शीतल स्थान में निवास और कफवृद्धि होने पर तृषा कम लगती है।

आहार सिषयक प्रश्न—भोजन का सम्बन्ध स्वास्थ्य के साथ अति-घनिष्ट है। भोजन में प्राकृतिक वैगुण्य आने पर विविध रोग उपस्थित होते हैं। अतः इसका विशेष रूप से निर्णय करना चाहिये। रोज भोजन क्या लेते हैं?

किस किस समय पर भोजन करते हैं ? दो समय भोजन के अलावा और समय कुछ लेते हैं ? भोजन में किसी प्रकार की विशेषता है ? जैसे कोई मनुष्य अत्यधिक नमक, मिर्च आदि मसाले लेते हैं। किसी को अधिक मिठाई चाहिये। किसी को बिना शराब भोजन नहीं चल सकता। भोजन अति गरम लेते हैं ?

किसी प्रकार के भोजन से रोग में शान्ति और किसी प्रकार के भोजन से रोग में वृद्धि होती है, ऐसा अनुभव किया है ? भोजन के कितने समय के पश्चात् रोगोत्पत्ति या पीडा उपस्थित होती है ? क्षुधा लगने पर भोजन तुरन्त न मिलने से क्या कष्ट होता है ?

शुष्क भोजन का अभ्यास न होने पर भी उसका सेवन करते रहने पर मुख मण्डल पर शुष्कता आ जाती है, मलावरोध रहता है। उत्साह नष्ट हो जाता है तथा निर्बलता बढ़ती जाती है। अधिक घृत आदि का सेवन करने पर मेद वृद्धि होती है। देह में भारीपन आता है। अनियमित समय पर भोजन करते रहने से पचन क्रिया विकृत होती है। आमाशय आदि का पित्त उग्र बनता है। बार बार खाते रहने का स्वभाव होने पर कभी आमाशय की पित्तोत्पत्ति ही रुक जाती है। परिणाम में अपचन हो जाता है, भोजन पचन होने के पहले भोजन करते रहने पर अपचन, मलावरोध, अतिसार, ज्वर, आमप्रकोप आदि की संप्राप्ति होती है।

तेज मिर्च, चटपटे भोजन, बार बार भोजन और अति गरम भोजन करते रहने से अग्निमांद्य, अजीर्ण, अतिसार, पित्तप्रकोप आदि होजाते हैं। चाय-काफी के अति सेवन से निद्रानाश, अग्निमांद्य, बद्धकोष्ठ धातुक्षीणता और कृशता आ जाती है। मिलों के पालिश किये हुये चावल का अधिक सेवन करने वालों को बेरीबेरी (Beri Beri) रोग की प्राप्ति हो जाती है। अधिक बर्फ और आइसक्रीम के सेवन करने वालों को वातवहा नाडियों में विकृति और अग्निमांद्य आदि हो जाती है।

कच्चा गोदुग्ध अर्श, प्रवाहिका और अतिसार में वृद्धि कराता है। नूतन ज्वरावस्था में भोजन करना, यह ज्वर को प्रकुपित करता है। शुष्क कास में सोंठ मिर्च, पीपल, आदि उत्तेजक औषधियों का सेवन करने पर रात्रि को अधिक कष्ट पहुँचता है। आमाशयप्रदाह और अम्लपित्त के रोगी दही, कुल्थी, चावल आदि अम्ल विपाक वाले पदार्थों का सेवन करते हैं, तो उदर में तनाव अधिक आता है।

मांसाहारी को कितनेक खास रोग होते हैं जैसा कि कद्दूदाना कृमि। मांसाहार, पक्का भोजन, द्विदल धान्य का अधिक सेवन, कठोर भोजन, देर से पचने वाला भोजन, ये सब अग्निमांद्य, उदरशूल, अतिसार, प्रवाहिका और

अपचन में हानि पहुँचाते हैं। एवं चिरकारी मलावरोध, कफप्रकोप, यकृद् वृद्धि उदर कृमि, कुष्ठ, वातरक्त, संधिप्रदाह आदि रोगों में भी मांसाहार करते रहने पर वे रोग सरलता से दूर नहीं हो सकते हैं। बल्कि दृढ़ बनते जाते हैं।

अधिक शक्कर वाले पदार्थों का सेवन करते रहने से उदरकृमि, मधुमेह कण्डू, मेदवृद्धि, कफवृद्धि, आमप्रकोप आदि रोग उपस्थित होते हैं। अधिक क्षार सेवन से पित्त प्रकोप होता है। एवं गुदारक्त श्राव (Melaena)। दाह तृषा, संधिस्थान की शिथिलता आदि विकार उपस्थित होते हैं।

वासी, दुर्गन्धयुक्त भोजन और उतरे हुये फल आदि का सेवन करने पर अपचन, विशूचिका, अतिसार, प्रवाहिका आदि रोगों की संप्राप्ति होती है।

इसके विपरीत शाकभाजी, शुद्धवायु और सूर्य प्रकाश का सेवन इनमें न्यूनता या अभाव होने पर शारीरिक निर्बलता आकर अनेक रोगों की प्राप्ति हो जाती है।

सगर्भामाता के स्तनपान करते रहने से बालक को पारिगर्भिक रोग हो जाता है। जिस बालक को मधुर पदार्थों का अधिक सेवन कराया जाता है उसे उदर कृमि रोग की प्राप्ति होती है। एवं माता के अपथ्य आहार–विहार से शिशु को स्तनपान द्वारा अनेक रोग हो जाते हैं।

विषम ज्वर शमन हो जाने पर जब तक शरीर में निर्बलता हो और प्लीहा बढ़ी हुई हो, तब तक गुड शक्कर वाला पदार्थ खाने से कितने को पुनः ज्वर आ जाता है। कण्डू रोग में वृन्ताक, गोभी, मलावरोध करने वाले पदार्थ, अधिक नमक और अधिक शक्कर खाने पर रात्रि को कष्ट बढ़ता है।

कितनेक देशों में श्वास पीड़ित रोगी वर्षा ऋतु में रात्रि को चावल खाता है, तो श्वास का दौरा हो जाता है।

कफ कास पीड़ित मनुष्य केला, उड़द की दाल, मैदे का पदार्थ आइस-क्रीम और पक्के भोजन का अधिक सेवन करता है, तो शीतल जल-पान अधिक करता है तो कफ बढ़ जाता है।

व्यसन विषयक प्रश्न—शराब, तम्बाकू, अफीम भांग, गांजा या अन्य मादक द्रव्यों का व्यसन हो, तो उसका निर्णय करना चाहिये। इन व्यसनों के हेतु से विविध रोगों की संप्राप्ति होती है। अतः रोग निर्णयार्थ निम्नानुसार प्रश्न करना चाहिये।

शराब, तम्बाकू, अफीम, भाँग गाँजा, चरस, या और क्या क्या आपके व्यसन है? रोज शराब कितनी पीते हैं? सिगरेट रोज कितनी चाहिये? कितने वर्षों से व्यसन है?

शराब के अति सेवन क वालो को मदात्यय, वातरक्त, यकृद्विकार, निद्रानाश, दाह, उन्माद, आदि . हो जाते हैं।

तमाखू और गॉजा के व्यसनी को श्वास, पित्तप्रकोप, अम्लपित्त, वृक्कविकार, मस्तिष्क मे उष्णता, निद्रानाश और बद्धकोष्ठ आदि व्याधियॉ हो जाने की संभावना रहती है।

शराब और तम्बाकू के व्यसन से वृक्क योग्य कार्य नहीं करते। जिससे मूत्रविष रक्त में संग्रहीत होता है। परिणाम में रक्त वाहिनियो की दीवार की कठिनता, रक्त दबाव वृद्धि, कॉच विन्दु आदि रोग उपस्थित होते हैं।

अफीम के अति सेवन से नपुंसकता, मलावरोध, कृशता, तन्द्रा निस्तेजता आदि विकार सहज हो जाते हैं।

भॉग के व्यसनी आलसी, स्थूल उदर वाले और पित्त प्रकृति के बन जाते हैं।

गॉजा और चरस के व्यसनी क्रोधी भी बन जाते है। स्मरण शक्ति नष्ट होती है। विचार शक्ति का ह्रास होता है। दृष्टि मन्द होती है; तथा वात वाहिनियॉ और वातकेन्द्र उत्तेजित बन जाते हैं।

वमन—अनेक रोगो में वमन मुख्य लक्षण रूप प्रकाशित होती है; अतः ऐसी शंका होने पर वमन दिन में या रात्रि मे, सुबह अथवा संध्याकाल में कब कब हुई? कितने समय हुई? वमन में कफ, पित्त, अन्न, रक्त क्या क्या पदार्थ निकलते हैं? दुर्गन्धि कैसी आती है? उबाक और बेचैनी बनी रहती है या नही? वमन आने के पश्चात् पीडा शमन हो जाती है या नही? भोजन के साथ क्या सम्बन्ध है?

दूषित आहार से होने वाली वमन में भोजन के पदार्थ बाहर निकल जाते हैं। अपचन जनित वमन मे पहले उबाक आती है फिर वान्ति होती है। आमाशय-विस्तार होने पर आहार आमाशय में सडता है, फिर किसी किसी दिन दुर्गन्ध युक्त वमन होती है। कभी दो दिन पहले किया हुआ आहार वमन मे निकलता है।

तीव्र आमाशयप्रदाह और आमाशयिकव्रण होने पर, भोजन कर लेने पर थोडे ही हमय में वमन हो जाती है; और वमन होने पर व्रणजनित वेदना शमन हो जाती है।

चिरकारी आमाशयप्रदाह से होने वाली वमन विशेषतः प्रातःकाल होती है; और उसमे (Mucous) श्लेष्मा निकलता है। आमाशयगत वात नाडियो की क्रिया विकृति (Neurosis) में उदर में गुडगुड़ाहट होकर विना उत्क्लेश वमन हो जाती है। यह विकार स्त्रियो को अधिक होता है।

दाहक विष—आमाशयिक व्रण और कर्कस्फोट (Cancer) से होने वाली वमन में बहुधा रक्त आजाता है। इनमें दाहक विष जन्य वान्ति में केवल रक्त; आमाशयिक व्रण में हाइड्रोक्लेरिक एसिड बार बार निकलना और क्वचित् रक्त अधिक परिमाण में आ जाना; तथा कर्कस्फोट की वमन में हाइ-ड्रोक्लेरिक एसिड न होना या कम होना, वमन कम समय होना, विशेषतः वमन पिसी हुई काफी-सदृश्य (Coffee grounds) होना और रक्त कम होना, ये भेद रहते है। इनके अतिरिक्त, यकृद्विकार, महाधमनी विस्तार, ऊर्ध्वरक्तपित्त, रक्त विकार, रक्त में श्वेताणु वृद्धि प्रतिहारिणी शिराका अवरोध, स्त्रियो के मासिकधर्म मे विकृति, चिरकारी वृक्कदाह, इन रोगो के हेतु से कभी कभी रक्त की वान्ति हो जाती है।

आमाशयिक व्रण, शिरशूल, अर्धावभेदक और आमाशय विस्तृति इन रोग जनित पीडा वमन होने पर शाति हो जाती है।

मक्षिका भक्षण तथा विकृत या दूषित आहार के सेवन से वमन होती है। उसमें प्रायः खाई हुई वस्तु ही बाहर निकलती है। फिर बेचैनी और उबाक दूर हो जाती है।

आमाशय विकार न होने पर भी कतिपय रोगो में वमन हो जाती है। पित्तप्रधान ज्वर, सगर्भावस्था, हिस्टीरिया, वातवहा नाड़ियो की विकृतिजनित कितनेक रोग, शीर्षावरण प्रदाह, मस्तिष्क मे अर्बुद, मस्तिष्क में विद्रधि, मस्तिष्कप्रदाह, प्रबल आघात, चाक्षुषी नाडीप्रदाह, अधिमन्थ (glaucoma) (नेत्र पटलो मे तरलाधिक्य से दबाव वृद्धि) तुण्डान्त्र गलगण्ड, उदर्य्याकला अग्न्याशय या वृक्कस्थान मे शोथ हो जाना, विशूचिका, अन्य प्रदाह, तीव्रकास काली खाँसी, तीव्र शिर दर्द, अर्धविभेदक, उदर रोग, रक्त में मूत्रविषवृद्धि, कामला, उपवृक्क दाहशोथ तथा उदर, पित्ताशय और वृक्क स्थान में तीव्र शूल आदि रोगो में विना उत्क्लेश वमन होती रहती हैं। इनका विशेष विचार यथा स्थान किया जायगा।

आमाशय व्रण, आमाशय प्रदाह, आमाशय रस की उग्रता और अम्लपित्त मे वामकद्रव्य अम्लीय और झाग युक्त होते हैं। कर्कस्फोट, आमाशय-व्रण ऊर्ध्व रक्तपित्त यकृद्दाल्युदर, प्रतिहारिणी शिराका अवरोध, महाधमनी का विस्तार तथा स्त्रियो के मासिक धर्म की विकृति से उत्पन्न वमन मे रक्त भी प्रतीत होता है। चिरकारी आमाशयप्रदाह मे केवल श्लेष्म या श्लेष्म की अधिकता होती है। आमाशय विस्तृत मे सडा हुआ अन्न होता है। कभी कभी चिरकारी वृक्क प्रदाह, राजयक्ष्मा और आगन्तुक व्यथा के हेतु से भी रक्त वमन होती है।

उद्गार—अनेक रोगो मे बार-बार डकार (**Eructations**) आती रहती है अतः रोगी को पूछना चाहिये कि डकार जलती हुई निकलती है? डकार खट्टी है? खाया हुआ अन्न दूषित होकर दुर्गन्धमय डकार तो नहीं आती? डकार की आवृत्ति दीर्घकाल पर्यन्त होती रहती है?

आमाशय के विस्तार और अम्लपित्त मे कड़वी और खट्टी डकार आती है। अपचन होने पर दुर्गन्धयुक्त भोजन की ही डकार आती है। वातपित्त प्रकोप होने पर बार-बार दुर्गन्धरहित डकार आती रहती है। आमाशय शिथिल हो जाने से भोजन का परिपाक न हो, तब तक दुर्गन्धयुक्त, फिर दुर्गन्ध रहित डकार आती है।

आध्मान—(Flatulence-Tympanites) आमाशय, अंत्र उदर्या-कला (Peritoneal Cavity) में वायु भर जाने से अफरा आजाता है। वायु ढोल के सदृश उदर को फुला देती है, तब टिम्पनाइटिस कहलाता है।

कितनेक रोगो में आमाशय मे आफरा आ जाता है। अतः इस सम्बन्ध का निर्णय करने के लिये निम्नानुसार प्रश्न पूछना चाहिये।

भोजन के पहले आमाशय फूल जाता है? भोजन करने के कितने समय बाद आफरा आता है? किसी विशेष प्रकार के भोजन से आफरा आता है? आफरा कितने दिनो से आता है? रोज कितने समय तक टिकता है? आफरा के साथ किसी प्रकार की पीडा होती है अथवा अन्य किसी प्रकार की अस्वाभिकता भासती है?

अगर आमाशय और अन्त्र शिथिल होने पर वात प्रकोपक आहार का अधिक सेवन किया जाय, तो सरलता से आध्मान की संप्राप्ति हो जाती है। मूली, क्षारप्रधान जल आदि कितनेक पदार्थ आमाशय में तथा द्विदल धान्य, हिंगु आदि अन्त्र मे वातोत्पत्ति कराते है। आमाशय में संगृहीत वायु डकार आकर तथा अन्त्र मे गृहीत वायु अधोद्वार से निकल जाती है। यदि आमाशय और अन्त्र निर्बल होने या प्रतिबन्ध होने पर वायु नही निकल सकती; तब बढ़ती जाती है और फैलती जाती है। आमाशय मे उत्पन्न वायु अन्त्र में और अन्त्र में उत्पन्न आमाशय में भर जाती है।

उदरगुहा (Peritoneal Cavity) में वायु भर जाना—अन्त्र के आफरा के समान अन्त्र भेद या अन्त्रक्षत होने पर उदरगुहा में वायु भर जाती है, तथा आमाशय व्रण, आन्त्रिक ज्वर और आघातज सद्योव्रण से भी क्वचित् आफरा आजाता है।

जीर्ण अजीर्ण, अन्त्र शक्ति का ह्रास (Atony), चिरकारी आमाशय

प्रदाह, आमाशय विस्तार (आमाशय का अधः पतन), मलनिग्रहज उदावर्त हिस्टीरिया, उदर्य्याकला का दैयजं दाह, मिथ्या अर्बुद -(Phantom Tumour) बद्ध गुदोदर, अन्त्रभेद और वात प्रकोप आदि कारणो से आमाशय या अन्त्र में वायु भरकर आफरा है।

इनमें से जीर्ण अजीर्ण रोग, चिरकारी आमाशय प्रदाह, और आमाशय विस्तार मे पहले आमाशय मे आफरा उपस्थित होता है। अजीर्ण अन्त्र शक्ति का ह्रास, अन्त्र भेद, मलनिग्रहज उदावर्त्त और बद्धगुदोदर, इनमें पहले अन्त्र के भीतर आफरा आता है। उदर्य्याकला के विकार मे पहले उदर्य्याकला मे वायु संगृहीत होती है। फिर वात संग्रह बढ जाने पर आमाशय, अन्त्र और उदर्य्याकला तीनों भर जाते हैं। इनके अतिरिक्त गर्भ धारण की इच्छा जिसकी निष्फल गई हो, ऐसी स्त्री को भी कभी आफरा आजाता है।

लालास्राव वृद्धि—कभी लार (Saliva) का आधिक्य मालूम पड़ता है? डकार के साथ आमाशय मे से स्वच्छ या स्वाद रहित तरल मुँह में आ जाता है? रस कपूर आदि औषधियो का सेवन किया है? तमाखू का व्यसन है? पान अधिक खाते हो?

रसकपूर प्रधान औषध सेवन करने पर या हिंगुल का धूम्र लेने पर लाला स्राव बढ़ जाता है। उबाक लाने वाली वामक औषधि या बेचैनी उत्पन्न करने वाली औषधि-एरण्डतेल आदि का सेवन करने पर लाला स्राव बढ़ता है। तथा उबाक और बेचैनी रहती है। मुँह में अम्ल वस्तु या सुपारी, तमाखू, पान आदि पदार्थ रखने या चबाने पर थूक अधिक आता है। किसी किसी को अम्ल स्वाद वाले फल आदि देखने मात्र से ही मुँह मे थूक भर जाता है।

इनके अतिरिक्त अजीर्ण (Dyspesia), मुखक्षत, अन्त्र मे व्रण आदि विकार होने पर मुँह पर लालास्राव बढ़ जाता है। अजीर्ण होने और अत्यधिक भोजन करने पर डकार आती है और उसके साथ कभी कभी आमाशय में से निकलकर तरल मुँह मे भर जाता है। अन्न नलिका स्फीत होजाय या किसी भी हेतु से आमाशय और अन्ननलिका की श्लैष्मिक कला उत्तेजित हो जाय और फिर आमाशय मे रस संग्रह हो जाय तो लालास्राव बढ़ जाता है।

छाती में जलन—आमाशय विकृति से उत्पन्न कितनेक रोगो में छाती मे जलन होती है। यह अवसर बहुधा उरःफलक के नीचे होता है। अतः प्रश्न पूछकर इसका निर्णय करना चाहिये।

जलन कितने समय से होती है? रोज कितने समय तक रहती है? भोजन के बाद होती है या भोजन के पहले भी? भोजन करने पर जलन शान्त होती

है ? क्षारीय द्रव्य, अम्ल पदार्थ या घृत दुग्धादि या किसी अन्य द्रव्य के सेवन से जलन शांत होती है, ऐसा अनुभव किया है ? जलन के साथ मुखपाक, ज्वर, अपचन, वमन, रक्तवमन या क्या क्या मुख्य लक्षण प्रतीत होते हैं ?

अधिक मिर्च आदि दाहक पदार्थों का सेवन करने पर आमाशय की श्लैष्मिक कला में प्रदाह उत्पन्न होता है। वह नीबू जैसे अम्लद्रव्य या घृत दुग्ध आदि सेवन करने पर शान्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त आमाशय रस में उग्रता उपस्थित होने पर छाती में जलन होती है। अम्लपित्त, विदग्धाजीर्ण, आशुकारी आमाशय प्रदाह, इन रोगों में दाह भोजन के पहले भी होता है। दही चावल आदि अम्ल विपाकी भोजन लेने पर दाह अधिक होता है तथा क्षारीय पदार्थ का सेवन करने पर कम होता है। पित्त ज्वर और रक्तपित्त में भी छाती में जलन होती है।

अम्लपित्त और आमाशय रस की अति उग्रता होने पर छाती में दाह होने के साथ में क्षत भी हो जाता है। आमाशय रसस्राव अधिक हो और उग्र भी हो तो भोजन के बाद २–३ घण्टे तक अधिक जलन रहती है। इस प्रकार में सामान्यतः जलन अनियमित रहती है।

अन्न नलिका पर विद्रधि या व्रण होने पर छाती में दाह होता है, उस स्थान पर दबाने पर पीड़ा बढ़ती है।

कई विष भक्षण करने पर अन्ननलिका, आमाशय और अन्त्र आदि स्थानों की श्लैष्मिककला जल जाती है। फिर भयंकर दाह और अन्य लक्षण उपस्थित होते हैं। मदात्यरोग में छाती में जलन बनी रहती है। साथ-साथ स्मरण शक्ति में विकृति, अधिक प्रस्वेद आना प्रस्वेद में शराब की दुर्गन्ध आना आदि लक्षण भी होते हैं। विषज और मद्यजदाह, ये केवल आमाशय नहीं होते, अपितु सार्वाङ्गिक है। विष भक्षणज दाह में घृत, दुग्ध, मक्खन, अण्डे के रस आदि पदार्थों का सेवन करने पर लाभ होता है।

गाजा अधिक पीने पर छाती में जलन होती है, किन्तु वह आमाशय की अपेक्षा कण्ठ, फुफ्फुस और मस्तिष्क की श्लैष्मिक कला को अधिक जलाती है।

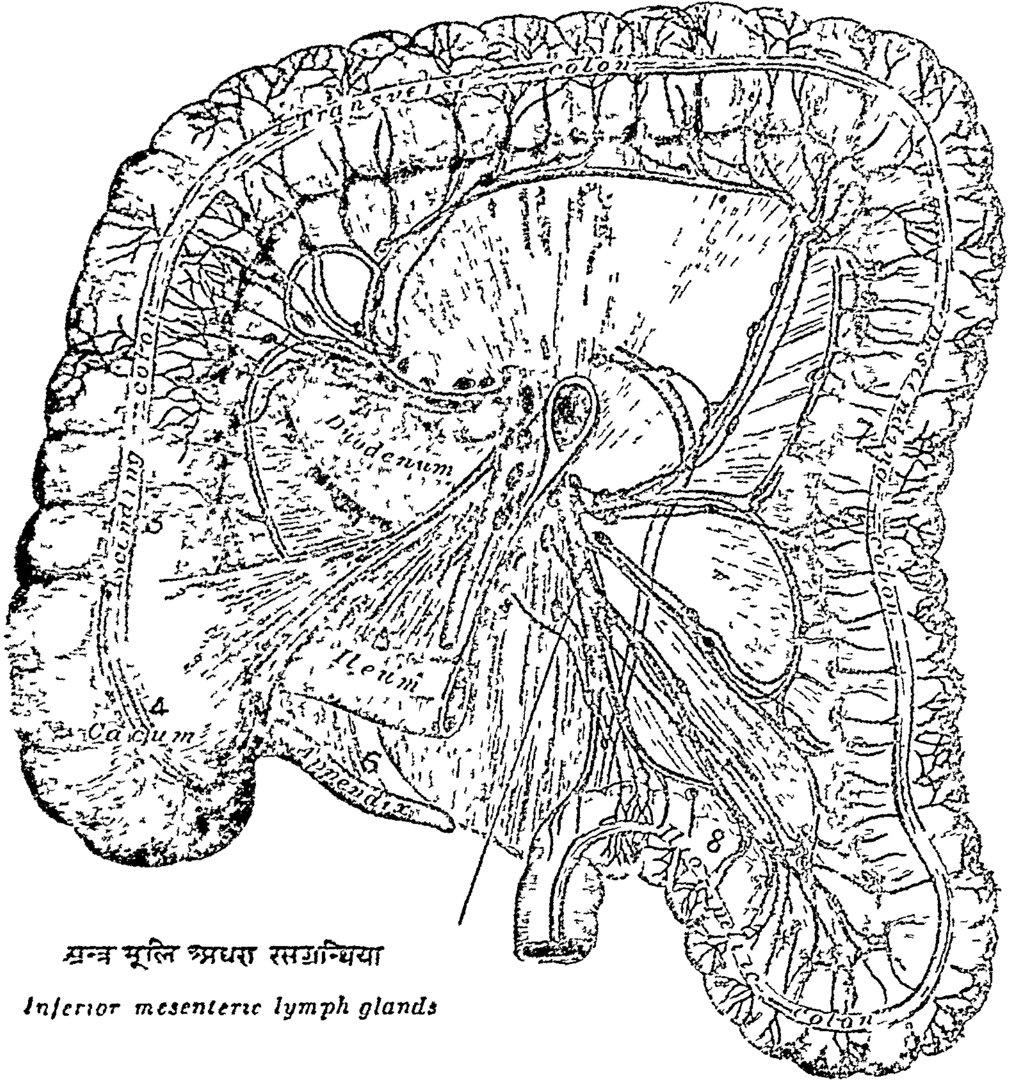
शौचशुद्धि—इसका आमाशय के साथ घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है; परन्तु कभी-कभी आमाशयिक रोगों का इस पर प्रभाव पड़ता देखा गया है। अतः कोष्ठ बद्धता या अतिसार हो, तो निर्णय कर लेना चाहिये।

शौच दिन में कितनी बार और कब आता है ? मल का रंग कैसा है ? शौच के साथ आम आता है ? मलावरोध कितने समय से रहता है ?

आमाशयिक व्रण, कर्क स्फोट, चिरकारी आमाशय प्रदाह में उत्पन्न

चित्र नं० ५

बृहदन्त्र (रसायनियाँ सह)



अन्त्र मूलि अधरा रसग्रन्थियाँ

Inferior mesenteric lymph glands

१ अनुप्रस्थ अन्त्र Transverse Colon

२ ग्रहणी Duodenum

३ आरोही अंत्र Ascending colon

४ उण्डुक Coecum

५ शेषान्त्रक (क्षुद्रान्त्र का सिरा) Ileum

६ अन्त्रपुच्छ Appendix

७ अवरोही अन्त्र Descending Colon

८ अवरोही अन्त्र का अन्त भाग और कुण्डलिका भाग Ileo pelvic Colon

आमाशयिक शिथिलता, कफाजीर्ण और वातनाड़ियो की विकृति से अजीर्ण (Dyspepsia) में प्रायः कब्ज हो जाता है। तथा आशुकारी आमाशय-प्रदाह (Acute Gastritis) में अतिसार हो जाता है।

आमाशयकी पचन क्रिया योग्य न हो, ऐसे रोग आमातिसार, ग्रहणी आदि में दस्त मे आम मिली हुई रहती है। आमाशय के प्रदाह का असर अन्त्र पर होजाने पर थोड़ा थोड़ा दस्त दिनमे ३–४ या अधिक बार होता है।

B. अन्त्र के विकृत चिह्न।

अन्त्रके विविध लक्षण अनुसार रोग निर्णय के लिये निम्नानुसार प्रश्न पूछना चाहिये :—

अतिसार—अन्त्रस्रावकी अधिकता या अन्त्रकी मल प्रेरक शक्तिमें तीव्रता उत्पन्न होने पर अतिसार होता है। अतिसार का बोध होने पर फिर निम्नानुसार प्रश्न करना चाहिये।

प्रतिदिन कौनसे समय और कितने वेग होते हैं? उनका भोजनसे या किसी खास प्रकारके भोजनसे क्या सम्बन्ध है? मल का रंग पीला। सफेद या हरा पीला, कैसा है? मल कठोर है या पानी के समान पतला? मलमें दुर्गन्ध कैसी आती है? मलके साथ रक्त या आम या झाग निकलता है? मल को बाहर फेकनेमें किसी प्रकार का प्रयत्न तो नही करना पडता? उदर मे पीडा होती है। पेचिशके समान पीड़ा है? मल एक बार में कितना गिरता है। वेग के समय अंन्त्र मे या गुद-द्वारमे किसी प्रकार का दर्द या जलन तो नही होती? मलके अंदर कोई-विशेषता तो नहीं है?

मलमे श्वेतरंग के झाग होने पर संग्रहणी (Shrue) होने का अनुमान होता है। मल कच्चा होने पर जलमें डूब जाता है (कच्चामल हो, तब तक मल को रोकने वाली अफीम आदि औषधि नही देनी चाहिये)

प्रवाहिका मे शौच होने से पहले उदरमे पीडा होती है; तथा मल त्याग होने पर शमन हो जाती है। किन्तु आमातिसार मे. उदरपीडा शौच होजाने पर भी बनी रहती है।

बालको के दाँत आने के दस्त में दस्त का रङ्ग हरा पीला होजाता है। गुद स्थान में क्षत हो जाने या रक्तार्श होने पर कभी-कभी रक्त गिरता है। अन्त्र मे विद्रधि या व्रण फूट जाने पर रक्त और पूय मलके साथ निकलता है।

यकृत् पित्तका स्राव कम होने पर, मलका रङ्ग श्वेत होता है और दुर्गन्ध आती है। पित्तस्रवा अत्यधिक होने पर अति पीलापन होता है और मल गरम एवं पतला होजाता है।

सोमल आदि विषके सेवनसे पहले विशूचिका के सदृश पतले दस्त और फिर दस्त कम होजाने के पश्चात् रक्त गिरता है। विशूचिका में चावल के धोवन के सदृश दस्त होते हैं।

तीव्र आमाशय प्रदाह होने पर ठीक पचन न हुआ हो; ऐसे आहार का दुर्गन्ध मय पतला दस्त होता है। अन्त्रमे प्रदाह और शिथिलता होने पर मल संगृहीत होता है। फिर पतले दस्त लगते हैं।

इनके अतिरिक्त काला आजार, पित्त प्रकोपज ज्वर, मधुरा, रोमान्तिका और अन्त्रक्षय आदि रोगो मे मल पतला होजाता है। एवं गरीबो को होने वाला त्वंग्वात प्रकोप (Pellagra), जिसमे सुषुम्णाकाण्ड और महास्रोत की विकृति होती है, इस विकार में भी अतिसार लक्षण रूप उपस्थित होती है।

कोष्ठ बद्धता—देहमें जितने रोग उत्पन्न होते हैं, उनमें करीब आधे रोगो में मलावरोध रहता है। एवं मलावरोध से अनेक रोगो की सृष्टि निर्माण होती है। अतः इसके सम्बन्ध मे अनेक प्रश्न निम्मनुसार पूछने चाहिये :—

शौच जाने की आदत सदाकेलिये क्या है? प्रतिदिन वेग नियमित होते हैं? अगर होते है तो कब और कितने समय? सामान्यतः पूर्ण शुद्धि होती रहती है या मलाशय भारी रहता है? आज कल उस मे क्या अन्तर हुआ है? अन्तिम वेग कब हुआ था। अधोवायु सरती है? मल वर्तलाकार बंधा हुआ उतरता है अथवा चपटा गहरीधारीदार या कैसा? मलके साथ रक्त, आम या कफ मिकलता है? मलका रङ्ग कैसा है? मलशुष्क है या रसमय गाढ़ा? मलमें दुर्गन्ध आती है? अधोवायुमें दुर्गन्ध आती है? अतिसार और कोष्ठ बद्धता क्रमशः बारी-बारी से होते हैं? अन्तमे कभी मरोड़े उत्पन्न होते है? मलके साथ कृमि निकले है? गुदभ्रंश या अर्श रोग है? गुदा मे दाह होता है? गुदद्वारपर कण्डू आती है? मलत्याग के लिये बलपूर्वक प्रवाहण करना पड़ता है?

कितनेक मनुष्यो में, विशेषतः स्त्री समाज में वंशागत या जन्म लब्ध स्वभाव से मलावरोध रहता है। एवं गद्दी या कुर्सी पर अधिक समय तक बैठे ही रहते हैं, वे भी इस विकार को प्राप्त कर लेते है। वृद्धावस्था, अफ़ीम आदि का व्यसन, विविध प्रकार के ज्वर, पाण्डु, वातनाडियो के बल का ह्रास, चिन्ता, शोक आदि से भी मलावरोध हो जाता है।

कब्ज होने पर बडी सबसे नीचे की आतो में मल संग्रह होता है। उसे आगे चलाने के लिये अन्त्रस्थ वातनाडिया सतत प्रयत्न करती रहती हैं। परिणाम मे वे निर्बल हो जाती हैं, तब रोग दृढ होजाता है।

आवतयकश से जलपान कम करने, अन्त्र के भीतर द्रवशोषण क्रिया

अत्यधिक होने या गुदनलिका में प्रदाह होने पर मल शुष्क बन जाता है। अर्श और गुदभेद होने पर मलत्याग करने के समय पीडा होती है। एवं मल भीतर शेष रह जाता है। कभी शुष्क मल बलपूर्वक निकलने पर श्लेष्मल त्वचाको तोड देता है, जिससे मल मे रक्त आजाता है। इसके अतिरिक्त अर्श, अन्त्र व्रण, अन्त्र या आमाशय पर चोट लगना, विष सेवन, अधो रक्त पित्त गुद नलिका मे विद्रधि, पेचिश आदि रोगों मे मल के साथ रक्त भी गिरता है। उसका विशेष वर्णन आगे मल परीक्षा में किया जायगा। आमाशय या अन्त्रगत पक्वव्रण होने पर मल में पूय भी निकलता है। मलाशय का स्रोत संकोच होने पर मल चिपटा निकलता है।

गुदा पर व्युची, कण्डू, गुदभेद, गुदनलिका विकृति, गर्भाशय मे रक्ताधिक्य, अष्ठीला वृद्धि, वस्ति वृद्धि, वस्तिस्थ अर्बुद, अश्मरी, भगन्दर, विद्रधि, मस्तिष्कस्थ अर्बुद, दुर्बलता, भय और शोक आदि हेतु से रोगी को जोर से प्रवाहण करना पडता है।

आमाशयप्रदाह, अपचन, यकृत्प्रदाह, यकृत् पित्तका स्राव कम होना, आध्मानसह अन्त्रप्रदाह, उपदंश कर्कस्फोट, प्रवाहिका, आन्त्रिक ज्वर; आन्त्रिक क्षय, इन रोगो से अन्त्र मे शोथ होकर मल मे दुर्गन्ध आने लगती है। मासभक्षण, अधिक दाल खाना, आदि से उदर में वायु और दुर्गन्ध उत्पन्न हो जाती है।

पाचक रस योग्य परिमाण मे न मिलने पर मल में सूक्ष्म कृमि की उत्पत्ति होती है; तथा भोजन में पित्त कम परिमाण में मिलने से कोष्ठ मे दुर्गन्ध उत्पन्न होती है। फिर अधोवायु दुर्गन्ध मय सरती है। एवं मल में भी दुर्गंध आती है।

बडी आँत मे शोषण क्रिया सम्यक् न होने से पित्त अत्यधिक मिलने से मल पीला और पतला होजाता है, कम पित्त मिलने से मल का रंग सफेद होता है; तथा मलका अवरोध होने पर रंग काला-सा होजाता है।

अन्त्रगत पीड़ा—लघु अन्त्र और बृहदन्त्र में वेदना यह अन्त्रगत विकृति और अन्य इन्द्रियो की विकृति से उपस्थित होती है। यह वेदना अनेक रोगों में लक्षण रूप से प्रकाशित होती है अतः इसके निर्णयार्थ निम्नानुसार प्रश्न पूछने चाहिये। (चित्र न० ५३)

पीडा किस स्थान पर होती है? सबसे अधिक कहाँ प्रतीत होती है? पीडा किस ओर गमन करती है? पीडा मंद मंद शूल सदृश, काटने योग्य, दाहवत् या भार रूप? अथवा कैसी है? तीव्र है या मंद? वेदना कब से हुई? अकस्मात् तीव्रभाव से उत्पन्न हुई है? या शनैः शनैः बढ़ी है? निरन्तर

बनी रहती है या सविराम होती रहती है ? किस हेतु से वेग बढ़ता है या घटता है ? इसके पहले कब कब पीड़ा हुई थी ? पीड़ा दबाने पर बढ़ती है या घटती है ? अन्त्र पीड़ा के साथ ज्वर भी रहता है ? पीड़ा का वेग उत्पन्न होने के बाद वान्ति होती है ?

पित्ताशय, अन्त्र वृक्क और उपान्त्र इनके शूल अकस्मात् चलने लग जाते है; इन रोगो में वेदना तीव्र होती है; और बार-बार कुछ दिनो के पश्चात् वेग उत्पन्न होता रहता है।

उपान्त्र शोथ (Appendicitis) अनित पीड़ा दक्षिण श्रेणि प्रदेश में होती है। (चित्र न० ५३)

इसका प्रारम्भ अकस्मात् होकर आमाशय से दक्षिण श्रेणि भाग तक गति करके, वहाँ स्थिर हो जाता है। इस पीड़ा से जब उसमें पूय पड़ने लगता है तब ज्वर भी आजाता है; और वमन भी हो जानी है।

चलवृक्क (Floating kidney) वृक्क के मरोड़े खाने (Twisting) और उदरस्थ वातवहा नाड़ियों में विकृति होने पर कभी कभी अकस्मात् तीव्र पीड़ा होने लगती है।

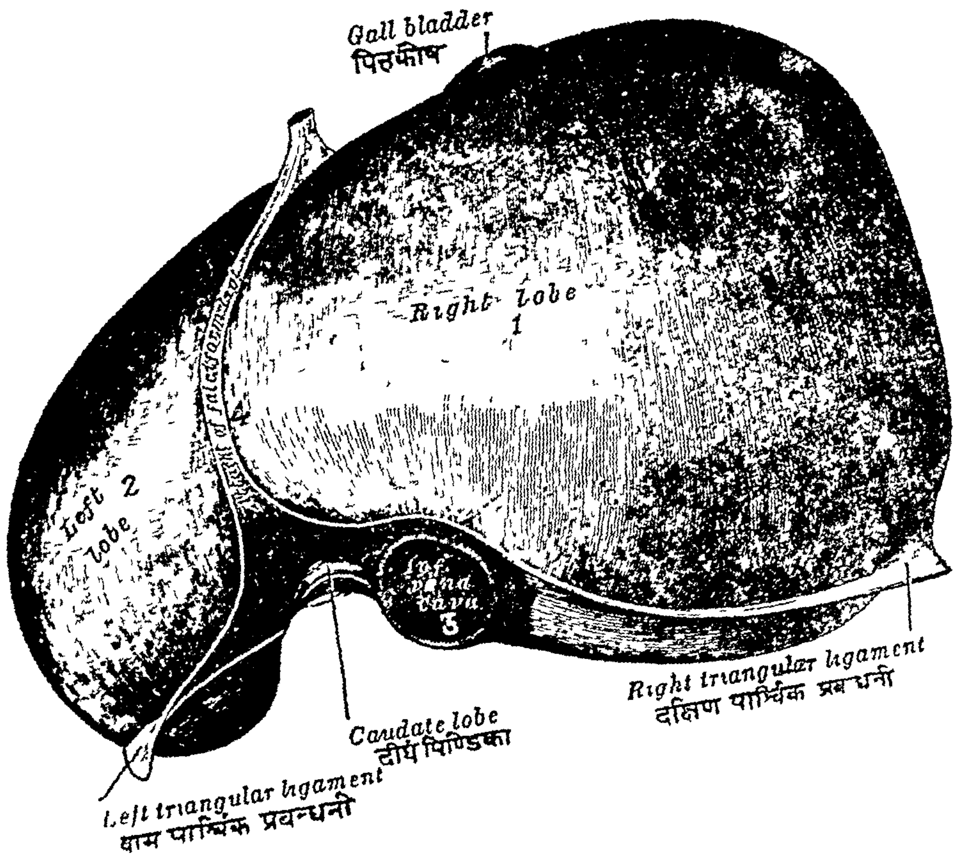
उदरस्थ अंगो का फट जाना, तीव्र उदर्य्याकला का व्यापक प्रदाह (Acute General Peritonitis), बद्ध गुदोदर, गर्भपात होने के पहिले या अर्बुदादि कारण से गर्भाशय स्थानभ्रष्ट हो जाना, उदर्य्याकला की धमनी में अवरोध, आशुकारी अग्न्याशय का दाह-शोथ, उपवृक्क शोथ, इन कारणों से उदर पीड़ा अकस्मात् होजाती है।

यदि पीड़ा का दौरा बार-बार होता है, तो वह पिताशय शूल, वृक्क-शूल, उपान्त्र शूल या अन्त्रगत शूल में से किसी एक हेतु से बहुधा होना चाहिये। अन्त्रव्रण, अन्त्र विद्रधि और प्रदाह से प्राप्त अपचन, इन रोगों मे ज्वर भी कभी-कभी उपस्थित होता है। एवं इन रोगो मे दौरे के कुछ समय के बाद प्रायः वमन भी होने लगती है।

मासिक धर्म की प्रवृत्ति—यद्यपि मासिक धर्म का सम्बन्ध सामान्यत सीधा अंत्र के साथ नही है, तथापि मासिक धर्म की प्रवृत्ति अनियमित या सदोष बनने पर अन्त्र की पचन क्रिया मंद हो जाती है। अतः इसका अत्र विचार किया है। युवा स्त्रियो को मासिक धर्म नियमित और योग्यपरिमाण मे आता है या नहीं, यह निर्णय कर लेनो चाहिये। मासिक धर्म की प्रवृत्ति प्राकृतिक नियम अनुसार बहुधा २८ दिन के पश्चात् होती है। किन्तु स्वस्थावस्था में ही शारीरिक रचना और स्वभाव के अनुरूप इसमे थोड़ा बहुत अन्तर हो सकता है। यह प्रवृत्ति सामान्यतः ४५ वर्ष की आयु या इससे भी अधिक उम्र

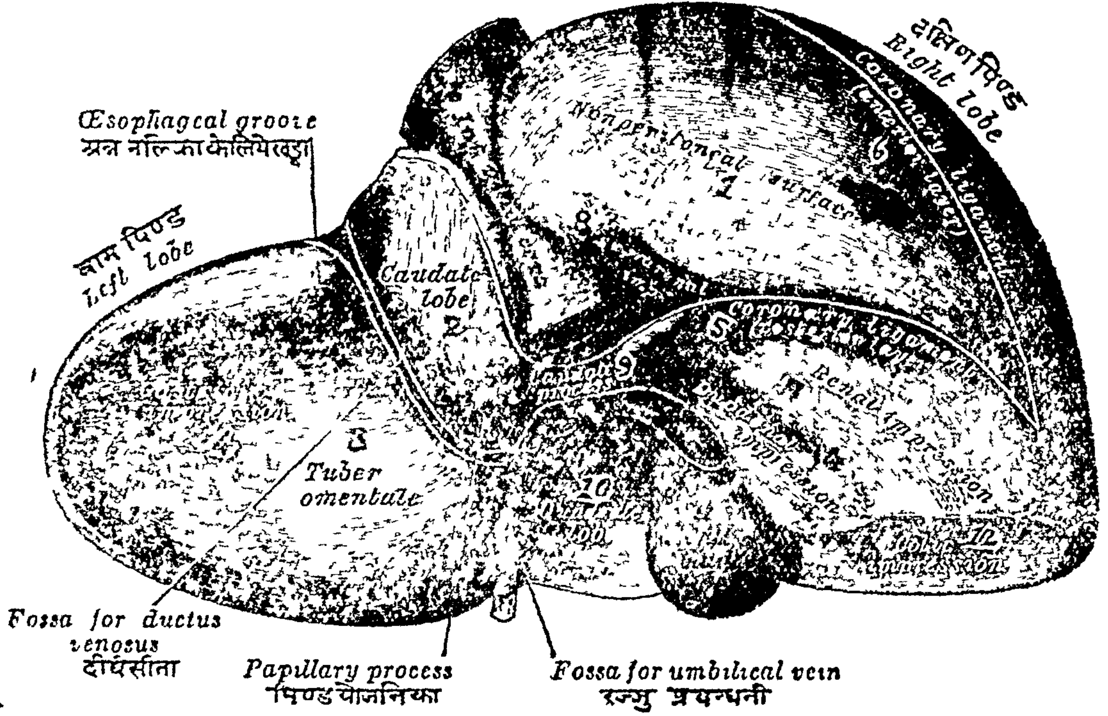
चित्र नं० ६

यकृत् का ऊर्ध्व प्रवेश



चित्र नं० ७

यकृत् का निम्नतल



१ ऊर्ध्वकला रहित प्रदेश Nonperitoneal surface	८ अधिवृक्क ग्रन्थि का खड्डा Suprarenal impressiou
२ दीर्घ पिण्डिका Caudate lobe	९ दीर्घ पिण्डिका शीर्ष Candate process
३ पिण्ड कूट Tuber omentale	१० चतुरस्र पिण्डिका Quadrate lobe
४ आमाशय के लिये खड्डा Gastric impression	११ पित्ताशय Gall Bladder
५ पश्चिम प्रबन्धनी (पश्चिमा Coronray Ligament (Posterion layar)	१२ बृहदन्त्र के कोने का खड्डा colic impression
६ पश्चिम प्रबिन्धनी (अग्रिमा) Coronary Ligament (anterior layar)	१३ अधरा महासिरा Inferior Vena Cava
७ मूत्रपिण्ड का खड्डा Renal impression	१४ ग्रहणी का खड्डा Doudenal impression

तक रहती है। देह बल के अनुसार किसी किसी को ५०–५५ वर्ष की आयु तक भी मासिक धर्म आता है। यह क्रिया नियमित है या नहीं यह निश्चय करने के लिये निम्न प्रश्न करना चाहिये :—

मासिक धर्म कितने समय के पश्चात् आता रहता है। मासिक धर्म के समय कितना रजः स्राव होता है? उस रक्त का रंग कैसा है? रजः प्रवृत्ति के समय कष्ट होता है? रजः प्रवाह कितने दिन तक रहता है?

रजः स्राव सामान्यतः रुधिर के समान होता है। कपड़े पर जो दाग लगे हों उसे धोने पर साफ होजाता है। पीडितार्त्तव होने पर कष्ट से थोड़ा थोड़ा स्राव होता है और कभी-कभी रक्त के रंग में श्यामता आ जाती है। अत्यार्त्तव मे अधिक स्राव होता है; और दिनो तक होता रहता है। पाण्डु और शारीरिक निर्बलता होने पर मासिक धर्म अधिक समय के बाद आता है और रक्त मे लाली कम होती है। बीजाशय या उसकी नलिका जो गर्भाशय में प्रवेश करती है, उसमे प्रदाह, अवरोध या संकोच होने पर मासिक धर्म कष्ट से आता है।

मासिक धर्म असमय पर बन्द होजाता है, तो अग्निमान्द्य, रक्तदबाव वृद्धि, नेत्र में निर्बलता, शिरदर्द, कटि वेदना आदि विविध वेदना उपस्थित होती हैं। प्रदर, गर्भाशय अथवा बीजाशय का प्रदाह, उन पर व्रण, कर्कस्फोट, विद्रधि आदि होने पर भी अग्निमान्द्य और अन्य विविध लक्षण उपस्थित होते हैं।

C. यकृत् और पित्ताशय

रोगी को कामला हो, यकृत् प्रदेश में अन्य विकार हो, तो निम्नानुसार लक्षणों के लिये आवश्यक प्रश्न करना चाहिये।

पीड़ा—इसका ठीक स्थान कौनसा है? (चित्र नं० ५३) इससे पूर्व भी इस प्रकार की पीड़ा का वेग उत्पन्न हुआ था? क्या आक्रमण अकस्मात् आरंभ होकर कितने समय तक रहता है। क्या पीडा प्रसारित होती है? किस दिशा में और कितनी दूर तक? क्या पीडा के साथ वमन होती है? पीड़ा के समय ही या पीड़ा नष्ट हो जाने पर रोगी की आँख का रङ्ग पीला हो जाता है? क्या उसने स्कंधो के ऊपरी भाग मे कभी दर्द होता? मल और मूत्र का रङ्ग परिवर्त्तित हुआ है? कामला है; तो उसकी त्वचा मे खुजली चलती है? वह अर्श से पीड़ित है? कभी रक्त युक्त वमन होती है?

पित्ताश्मरी (पित्ताशय शूल) तथा पित्ताशय प्रदाह प्रायः इकट्ठे ही पाये जाते हैं। जब पित्ताश्मरी पित्त के साथ सरकती है, तब शूल उत्पन्न करती है। यह शूल पित्ताशय में अश्मरी होने पर मंद और पित्ताशय नलिका

मेंह ोने पर भयंकर होता है। अश्मरी के स्थान भेद से शूल स्थान में भी भेद होता है (चित्र न० ५३) पित्ताशय में से पित्त नलिका में अश्मरी सरकने पर शूल कॉडी प्रदेश मे होता है। फिर दक्षिण अनुपार्श्विक प्रदेश में होकर उरः फलक के दक्षिण भाग की ९ वीं उपपर्शुका के नीचे से पीठ मे जाकर दहिने कंधे की ओर ऊपर तथा पीछे की ओर जाता है। यकृत् पर दबाने पर पीड़ा बढ़ती है। वमन अति बेचैनी, कपाल पर शीतल स्वेद आदि लक्षण भी होते हैं।

पित्ताशय प्रदाह अश्मरी के अतिरिक्त कीटाणुओं के प्रवेश से भी होता है। ज्वर, उबाक, वमन आदि लक्षणों के साथ पित्ताशय पर दबाने पर अधिक पीडा होना आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं। इस प्रदाह की वेदना चिरकाल तक बनी रहती है।

पित्ताशय नलिका मे अवरोध होने पर कामला होता है। रोगारम्भ में किसी भी प्रकार की वेदना नहीं होती। नेत्र की श्लेष्मिक कला और मूत्र का रङ्ग पीला और मल का रङ्ग प्रायः सफेद होता जाता है।

मधुरा, विषम ज्वर, अत्याधिक शराब सेवन आदि कारणो से यकृत्प्रदाह उत्पन्न होता है। उस समय यकृत् के भीतर रक्त की वृद्धि हो जाती है। जिससे यकृत् फूल जाता है। शीत लगना, व्याकुलता, उबाक वमन ये सार्वदैहिक लक्षण तथा यकृत् में भारीपन और वेदना, ये स्थानिक लक्षण उपस्थित होते हैं।

रक्तार्श विकार विशेषतः यकृद् विकार या प्रतिहारिणी शिरा के मार्ग में प्रतिबन्ध होने पर होता है। इनके अतिरिक्त प्रवाहिका, आमातिसार आदि कारणों से भी होजाता है।

अर्श होने पर कभी कभी यकृत् रोगी बन जाता है—कामला और यकृत् का आशुकारी शोष होने पर रोगी को वमन होती है।

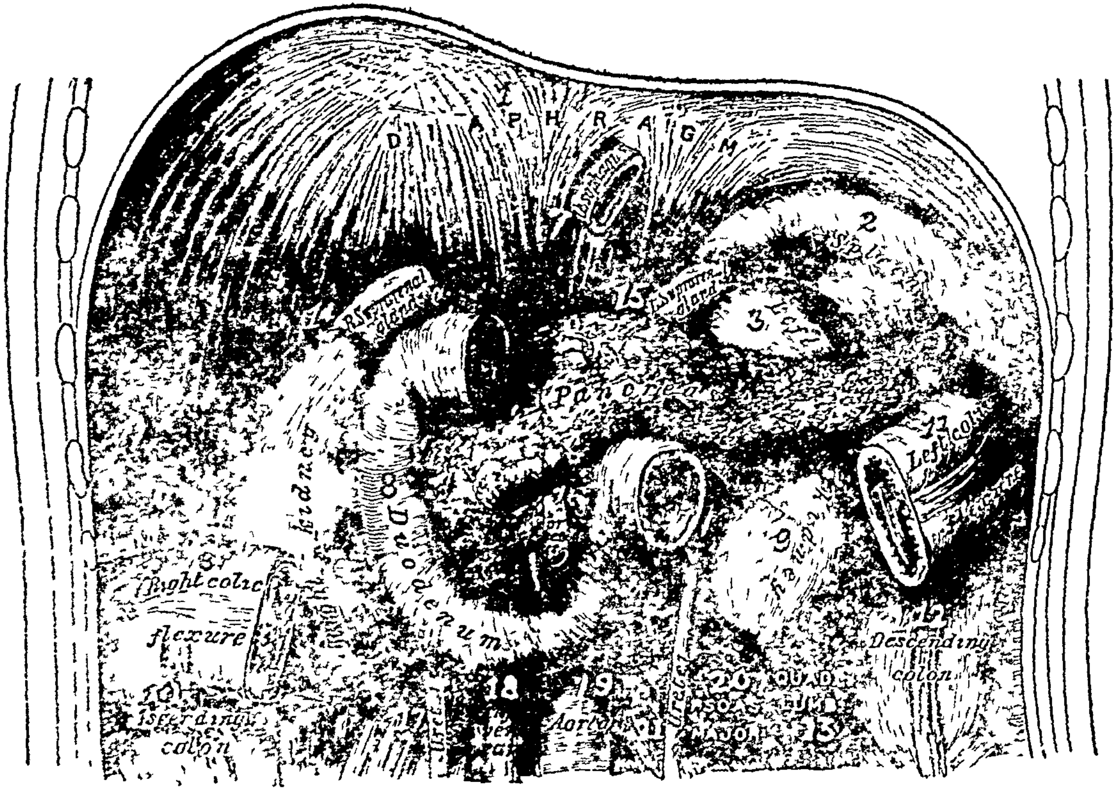
प्रति हारिणी शिरा पर दबाव आने पर अथवा उसमें अवरोध होने पर एवं यकृद्दाल्युदर होने पर भी रक्तवमन होती है। यकृत्प्लीहा में रक्ताधिक्य हो जाने पर भी रक्त की वमन हो जाती है।

बालको का कामला रोग (Icterus Neonatorum) यकृत् के प्रदाह के हेतु से होता है। एवं त्वचा पर कण्डू आती है। बालको को वंशागत उपदंश के उपद्रव रूप कामला होने पर यकृत् प्रदाह माना जाता है। उसमें यकृद् और प्लीहा की वृद्धि होती है। एवं अन्य कामलाओं मे भी कभी-कभी यकृत् का पित्तस्राव अत्यधिक होने पर कण्डू उत्पन्न हो जाती है।

यकृत् का शोष होने पर आशुकारी घातक कामला उपस्थित होता है,

चित्र नं० ८

ग्रहणी, महा प्राचीरा पेशी और अग्न्याशय आदि



१ महा प्राचीरा पेशी Diaphragma

८ प्लीहा Spleen

३,६ मूत्र पिण्ड-वृक्क (वाम) Left kidney

४ अग्न्याशय Pancreas

५-५ मूत्र पिण्ड-वृक्क (दक्षिण) Right kidney

६ बृहदन्त्र का याकृत्कोण (दक्षिण) Right colic flexure

७ अन्न नलिका Oesophagus

८ ग्रहणी Duodenum

१० बृहदन्त्र का आरोही भाग Ascending Colon

११ बृहदन्त्र का याकृत्कोण (वाम) Left colic flexure

१२ बृहदन्त्र का अवरोही भाग Descending colon

१३ कटि चतुरस्रा पेशी Quadratus Lumborum

१४ अधिवृक्क ग्रन्थी (दक्षिण) Right Suprarenal gland

१५ अधिवृक्क (वाम) Left Suprarenal gland

१६ उत्तरा आन्त्रिकी नाली Superior mesenteric Vessel

१७ (दक्षिण गवीनी) Right Ureter

१८ अधरा महासिरा Inferior Vena Cava

१९ महाधमनी Aorta

२० कटि लम्बिनी दीर्घा पेशी Psoas major muscle

२१ वाम गवीनी Left Ureter

इसमें यकृत् संकोच, को दबाने पर वेदना की वृद्धि और ज्वर आदि लक्षण भी होते हैं। इसमें नाक और अन्त्र में से रक्तस्राव होता है।

आशुकारी संक्रामक कामला मे प्लीहावृद्धि होती है। वमन, अतिसार, शिरदर्द, पीलीत्वचा कभी ज्वर आदि लक्षण भी होते हैं

यकृत् पर कर्कस्फोट होने पर कामला होता है। यकृत् और दाहिने कंधे पर पीड़ा होती है। यकृत् बढ़ जाता है। कभी यकृत् आकुंचित होने पर भी कर्कस्फोट हो जाता है।

यकृत् के रोगों में आमाशय विकार के प्रश्न भी पूंछने चाहिये।

D. प्लीहा।

प्लीहा उदर प्रदेश में अवस्थित है उसकी वृद्धि होने पर वह कितनेक रोगियों में प्रतीत होती है। उसकी रुग्णावस्था के निर्णयार्थ निम्न प्रश्न पूछने चाहिये। (चित्र नं० ५१) प्लीहा स्थान मे दबाने पर कठोरता भासती है? कुछ सयम पहले विषम ज्वर आया था? अग्नि मंद हो गई है? मंद मंद ज्वर रहता है? उदर में पीडा होती है? शारीरिक निर्बलता प्रतीत होती है?

प्लीहावृद्धि विशेषतः विषम ज्वर, काला आजार आदि तीव्र संक्रामक ज्वर हृदय कपाट की विकृति, यकृद्‌विकार तथा देह मे पूयोत्पत्ति आदि कारणों से होती है। प्लीहावृद्धि के साथ कभी-कभी वृद्धि भी होती है। प्लीहा वृद्धि होने पर प्रायः मंद ज्वर और शारीरिक निर्बलता रहती है।

प्लीहा मे अर्बुद या विद्रधि होने पर दबाने पर वेदना होती है।

कभी प्लीहोदर होने पर प्लीहा नाभि तक बढ़ जाती है। प्लीहा मे वेदना नहीं होती। इस रोग ने पाण्डुता, यकृद्‌वृद्धि, पैरो पर सूजन, कभी-कभी रक्तवमन, ये लक्षण भी कुछ काल के बाद उपस्थित होते हैं।

E. अग्न्याशय।

अग्नाशय में कितनेक प्रकार के रोग होते है। मधुमेह इसके चिरकारी प्रदाह से उत्पन्न होता है। एवं विद्रधि, कोथ आदि भी हो जाने की संभावना है। अपचन अग्निमान्द्य, मूत्र में शर्करा जाना शारीरिक निर्बलता आना, ये इसके चिरकारी प्रदाह मे भासते हैं। पूय प्रदाह हो तो ज्वर, तीव्र शूल, वमन, आध्मान और मलावरोध भासते हैं। इसका प्रश्न परीक्षा द्वारा पूरा निर्णय नही होता, फिर भी आवश्यकता अनुसार प्रश्न करना चाहिये।

F. उदर्य्याकला

उदर गुहाके समय अवयव उदर्य्याकला से आच्छादित हैं। इस कला में कभी-कभी उपद्रव रूप से प्रदाह हो जाता है। तब विविध लक्षण उपस्थित होते हैं। यह बाह्य आघात से जब पीडित होती है, तब अनेक चिह्न प्रतीत होते है। इसके लिये निम्नानुसार प्रश्न पूछने चाहिये।

आमाशय, अन्त्र, यकृत्, प्लीहा, मूत्राशय, गर्भाशय, इनमें से किसी स्थान पर विद्रधि या प्रदाह है? उदर पर दबाने पर अधिक पीड़ा होती है? आध्मान, शूल, उदर का कडापन, तृषावृद्धि, ज्वर, वमन, इनमें से क्या लक्षण हैं? उदर पर चोट लगी है? उदर मे जल भर गया? यकृत् प्लीहा बढ़े हुए हैं?

आशुकारी उदर्य्याकला प्रदाह मे ज्वर, शूल, हिक्का, शीतल स्वेद आना, उदर की कठिनता आदि लक्षण होते हैं। यदि आमवातज प्रकोप हो तो शीत, कम्प सह तीव्र ज्वर होता है। क्षत जन्य हो तो सत्वर शक्तिपात होता है। रोग प्रबल होने पर वायु भरकर यकृत् और हृदय ऊँचे उठ आते हैं। व्यापक पूय प्रदाह में कितनेक अवयव परस्पर चिपक जाते हैं। अभिघातज मे प्रारम्भ से ही तीव्र उदर पीडा होती है।

चिरकारी उदर्य्याकला प्रदाह यकृद्दाल्युदर, कर्क स्फोट, कण्ठमाल आदि रोगों मे उपद्रव रूप से भी उपस्थित होता है। इसमे शीत, कम्प सह ज्वर, मलावरोध या अतिसार, क्रमशः कृशता वृद्धि आदि लक्षण होते हैं।

कर्क स्फोटज उदर्य्याकला विकृत होने पर तीव्र जलोदर होता है। एवं उदर्य्याकला प्रदाह, प्रतिहारिणी शिरा के रक्त संचार में प्रतिबन्ध, हृदय रोग, वृक्क रोग आदि के हेतु से भी जलोदर हो जाता है। यकृद् विकार से जलोदर होने पर महाप्राचीरा पेशी के निम्न भाग मे अवरोध होता है। हृदय निर्बल होने पर प्रति हारिणी शिरा मे प्रतिबन्ध होकर जलोदर होता है। फिर अग्निमाद्य और कभी-कभी वमन होती है। यकृद्विकारज जलोदर मे यकृद्वृद्धि और उस पर दबाने पर वेदना होती है। वृक्क विकार से जलोदर होने पर आदि मे मुख पर शोथ होता है। रोग बढ़ने पर गुल्फ और वृषण पर भी शोथ आ जाता है।

२. रक्तवाहक संस्था विषयक प्रश्न।

रक्तवाहक संस्था मे हृदय, धमनी और शिरा का समावेश होता है। इनकी विकृति होने पर निम्नानुसार प्रश्न पूछना चाहिये।

उसके माता पिता को आमवात, वातरक्त, हृदय शूल, संन्यास (Apoplexy) या हृद्रोग, इनमे से कोई रोग हुआ था? उसे पहले आम-

वातिक ज्वर, लोहित ज्वर, नृत्य वात (Chorea) कण्ठ रोहिणी, ज्वर सह पाण्डु रोग या अन्य कोई रोग हुआ था ? रोगी बालक हो, तो कण्ठक्षत या आमवातिक वेदना हुई है ?

हृदय पीड़ा—हृदय प्रदेश में पीड़ा होती है ? अगर होती तो किस प्रकार की, और किस तरफ प्रसारित होती है ? हृदयावपीडन में पीडा हृदय प्रदेश में अकस्मात् आरम्भ होकर बॉए स्कंध और बॉई बाहु की ओर जाती है ?

धड़कन—(Palpitation) स्वस्थावस्था में हृदय प्रदेश में किसी प्रकार की धडकन अनुभव नहीं होती है। हृद्रोगो मे आमाशय पूर्ण होने तथा किञ्चित् श्रम से धड़कन प्रतीत होने लग जाती है। अगर धडकन प्रतीत होती है तो मालूम करनी चाहिये।

भोजन अथवा परिश्रम से धडकन का सम्बन्ध है ? हृदय में कभी अकस्मात् धक्का लगाता है ? हाथ पैरो पर शोथ आता है । स्त्री रोगिणी हो, तो मासिक धर्म में रक्त कितना, कैसा और कब जाता है ?

निद्रा—निद्रा किस प्रकार की आती है ? वह भयंकर स्वप्नो के कारण निद्रा में विचलित तो नही हो जाता ?

चक्कर—अगर शिरोभ्रम होता है तो कब और कैसे होता है ? थोडे से मानसिक और शारीरिक परिश्रम से अधिक थकावट मालूम होती है ? अगर ऐसा होता है तो इसे हृदय के रोग का साक्षी समझें।

शिराओं की संकोचक शक्ति—उसकी शिराएं फूली हुई हैं ? क्या उसके हाथ पैरों में शोथ आ जाता है ? पैर ठण्डे रहते हैं ? मुख और नासिका से रक्तस्राव हुआ है ? कास उत्पन्न होती है ? पाचन क्रिया कैसी है ?

आमवात, वातरक्त, हृदयशूल, मूर्च्छा, हृद्रोग, इनमें से किसी भी रोग से पीड़ित माता-पिता की संतानो मे रक्तवाहक संस्था विकृत हो जाती है। एवं आमवातिक ज्वर, लोहित ज्वर, नृत्य वात, कण्ठरोहिणी एवं दीर्घकाल स्थायी ज्वर सह पाण्डु हो जाने पर भी रक्तवाहक संस्था को आघात पहुँच जाता है। बालको को कण्ठक्षत या आमवातिक ज्वर होने पर हृदय क्रिया मे शिथिलता आ जाती है।

शीशे का विष, विषम ज्वर और उदर कृमि से मारक पाण्डु रोग (Pernicious Anaemia) होता है। उसमे हृदय को हानि पहुँचती है

हृदय विकार से पीड़ित व्यक्तियो को थोडा सा शारीरिक परिश्रम या मानसिक श्रम पहुँचने पर बहुधा श्वासावरोध होता है। या चक्कर आना,

शुष्ककास आदि लक्षण उपस्थित होते हे। एवं हृदयगति शिथिल हो जाने पर पैरों पर शोथ आने लगता है।

हृत्स्पंदन की अनियमित वृद्धि और रक्त मे उष्णता बढने पर निद्रा शान्त नही आती। कभी अकस्मात् निद्रा भंग होती है। किसी-किसी को भय प्रद स्वप्न भी आते है।

हृदय शूल तमाखू, शराब आदि के विष रक्त मे फैल जाने से भी किसी-किसी को स्थितिस्थापक हो जाता है। हृदय शूल होने पर हृदय-गति विकृत हो जाती है। एवं हृदय शूल वालो की रक्तवाहिनयो की दीवारो का गुण भी कम हो जाता है। जिससे फिर रक्तवहन कार्य अच्छी तरह नहीं हो सकता।

उपदंश विष से भी धमनी कोष काठिन्य हो जाता है। फिर रक्त संचालन क्रिया योग्य नही होती।

आमवात में आघात पहुँचने पर हृत्स्पंद वर्धन (Tachycardia) या हृदय का अतिरिक्त आकुंचन (Extrasystole), अलिन्द गत्याधिक्य (Auricular Flutter), अलिंद रज्जुकम्पन (Auricular Fibrillation) और हृदयावरोध (Heart-block) आदि रोगो की संप्राप्ति हो सकती है।

मूर्च्छा, संक्रामक ज्वर, रक्त में मूत्र विषवृद्धि (Uraemia), कामला, वातनाडी विकार, डिजिटेलिस आदि का विष, पाण्डु, सगर्भावस्था और वृद्धावस्था के हेतु से एवं मस्तिष्कगत अर्बुद आदि से कभी-कभी हृत्स्पन्दह्रास (Brady Cardia) रोग की प्राप्ति हो जाती है।

श्वासावरोध के सम्बन्ध में प्रश्न—रक्तवाहक संस्था का घनिष्ठ सम्बन्ध फुफ्फुसो की श्वासोच्छ्वास क्रिया के साथ रहता है। अतः श्वासावरोध के सम्बन्ध मे भी निम्नानुसार प्रश्न पूछ लेना चाहिये।

श्वासावरोध होता है? उसका आरम्भ कब होता है? दौरे के समय बैठने से आराम का अनुभव होता है? कष्ट के समय आराम से लेट सकते हो?

श्वासावरोध यह लक्षण श्वासरोग के दौरे के अतिरिक्त विविध हृदय विकार, वक्षस्थ धमनी अर्बुद (Aneurism of Thoracic Aorta) फुफ्फुस का कर्कस्फोट, हृदयावरोध, मूत्र विष वृद्धि, फुफ्फुस कोष प्रसारण, न्युमोनिया, क्षय, फुफ्फुसावरण मे द्रव संग्रह, तुंगाक्ष गलगण्ड आदि रोगों मे उपस्थित होता है। किसी संक्रामक रोगका प्रचण्ड आक्रमण, धुएँ और

धूलीमय वातावरण में रहना, हृदय या फुफ्फुस पर आघात होना आदि कारणो से भी उपस्थित हो जाता है।

श्वासावरोध काल में रोगी बैठ सके, तो रोग बल कम माना जाता है। हृदय क्रिया मे विकृति कम मानी जाती है। यदि शूल साथ में चलता है, और रोगी को पहले उपदंश रोग हो गया है, या तमाखू का अधिक सेवन करता है तो रक्तवाहक संस्था मे अधिक विकृति मानी जाती है। इस शूल या वेदना का आरम्भ हृदय के ऊपर से होकर विशेषतः, आमाशय, बाईं हँसली, बॉये हाथ, **बॉये हाथ की दो बीच की अंगुली** आदि भाग में फैलता है। दाहिने हाथ की ओर गति क्वचित् ही होती है।

जब हृदय गति शिथिल हो जाती है, तब प्रारम्भ मे हाथ और पैरो के निम्नाश में से रक्त को वापस पहुँचने का कार्य शिरा व्यवस्थित रूप से नही कर सकती फिर वे फूलकर निर्बल होती जाती हैं। हृदय क्रिया अयोग्य होने पर पाचन क्रिया भी मन्द हो जाती है। कफ उत्पन्न होता है, तो कफकास भी प्रतीत होती है।

धमनी की आकुंचन शक्ति—स्वस्थावस्था मे धमनी की दीवार स्थिति स्थापक गुण युक्त होने से आकुंचित और प्रसारित होती रहती है। वृद्धावस्था, संक्रामक ज्वर, वृक्क प्रदाह, उपदंश, सुजाक आदि रोग तथा शराव, रक्तस्राव वृद्धि और अन्य विष सेवन आदि से उसकी स्थिति स्थापकता और क्रिया मे अन्तर हो जाता है। आमवात और वातरक्त से भी इसे हानि पहुँचती है।

धमनी कोप काठिन्य होने पर चक्कर आना, वृक्क प्रदाह, नेत्रदर्पणकी धमनियो का मोटापन, रक्त दबाव वृद्धि तथा धमनी डोरी के समान कठोर होने आदि लक्षण उपस्थि होते हैं।

तमाखू, चाय, शराब या आशुकारी ज्वर, हिस्टीरिया, ओजक्षय (Neurasthenia) वात नाडी क्रिया विकार (Neurosis), निर्बलता, अपचन आदि अनेक कारणो से धड़कन होजाती है; अर्थात् हृदय गति अनियमितरूप से बढ़ती घटती रहती है। इसमे मनुष्य डरपोक बनजाता है और मस्तिष्क शक्ति का ह्रास होजाता है।

शोथ—वातज, पित्तज और कफज शोथ होने का हेतु प्रायः क्रमशः हृदय, यकृत् और वृक्क स्थानकी विकृति होती है। यकृत् और वृक्कविकार होने पर हृदय को भी प्रायः दूषित बना देते हैं। इस तरह परंपरा गत रक्त वाहक संस्थामें विकृति आजाती है अतः इस विषय में अवश्य निम्न प्रश्न पूछने चाहिये।

रोगी को पहले पाण्डुसहज्वर, उपदंश शीशा विषप्रकोप, चिरकाल तक पूयोपस्थिति या वृक्क स्थान मे अश्मरी रोग तो नही हुए? शिरदर्द, वमन, तन्द्रा, संन्यास, पक्षाघात, वात-प्रकोप, दृष्टि मान्द्य और श्वासादि विकारों मे से कोई है या नही? शोथ होने पर पहले अन्तर्त्वचाके तन्तुओ (Subcutaneous tissue) मे, और फिर रक्त रसमय श्लैष्मिक कला (Serous membranes) मे द्रव संचय होता है। इस हेतुसे सर्वाङ्ग शोथ उपस्थित होता है।

हृदय विकार से होने वाला शोथ पैरो से ऊपर चढ़ता है; दिनमे अधिक रहता है और रात्रिको आराम मिल जाने से कम होजाता है। इस तरह प्रारम्भ मे वृद्धि ह्रास होते रहते हैं। हृदय विकृति से अन्न-रस-वाहिनी का निरोध होकर (शोथ के पश्चात्) जलोदर भी हो जाता है।

यकृद् विकारज शोथ मे पहले जलोदर होता है, फिर शिश्न और वृषण पर शोथ आता है, तथा फिर पैरो मे शनैः-शनैः विस्तृत होता है।

वृक्क प्रदाह होने पर मूत्रमार्ग से विषसह द्रवांश उचित परिमाण मे बाहर नहीं निकल सकता। इस शोथमे मूत्र का परिमाण न्यून हो जाता है। वृक्कप्रदाहज शोथ पहले मुँहपर और फिर थोडे ही समय मे हाथ-पैरो पर आने लगता है। चावल और अम्ल पदार्थ खाने से शोथ जल्दी बढ़ता है।

पाण्डु रोग होने पर भी वृक्क विकार सदृश सर्वाङ्ग शोथ आजाता है, किन्तु इसमे शोथ कम आता है।

३ रक्तरचना विकृति विषयक प्रश्न।

क्या परिवार मे ऐसा इतिहास मिलता है, जिसपर से यह अवगत हो कि, परिवार के व्यक्तियो मे एक बार रक्तस्राव होने पर वह कठिनता से रुकता हो? उसे रक्तार्श है? अगर रोगी स्त्री है तो मालूम करना चाहिये कि मासिक स्राव कितने कितने दिन पर आता है? अगर अनियमित है तो कम या ज्यादा? अन्त्रकी दशा कैसी है? मलावरोध या अतिसार है? शीशा (नाग) के विष या विषमज्वर से पीड़ित होने की सम्भावना है? उदर कृमि है? गुदा और नाक मे कण्डू आती है? पचन क्रिया कैसी है? वमन, उबाक, उदरमे भारीपन, अरुचि आदि लक्षण हैं? हाथ पैरो के तल शीतल रहते हैं?

प्राणिमात्र के जीवन का आधार रक्त है। इस रक्त की रचना मे विकृति होने पर विविध व्याधियाँ उपस्थित होती है। कभी रक्त मे स्राव-निरोधक शक्ति कम होती है। ऐसे मनुष्यो को थोड़ी सी चोट लगने पर या छोटी सी शस्त्र क्रिया करने पर अत्यधिक परिमाण में रुधिर चला जाता है।

यह रक्त स्रावीय प्रकृति (Haemophilia) वंशागत है। यह कुटुम्ब के अनेक पुरुषों में होती है। कन्या में बहुत कम होती, किन्तु कन्या के पुत्र को फिर हो जाती है।

विष भक्षण, संक्रामक ज्वर, दूषित वायु या दूषित आहार का सेवन आदि कारणो से रक्त से रक्ताणु की कमी होकर या श्वेताणुओं की वृद्धि होकर विविध प्रकार के पाण्डु रोग की सम्प्राप्ति होती है। श्वास कृच्छ्रता, अति निस्तेजता, वमन, भयंकर अतिसार आदि, सह घातक पाण्डु मे रक्त के रक्ताणुओं का अति नाश माना जाता है।

स्त्रियों के हलीमक पाण्डु (Chlorosis) में हृत्स्पंदन वृद्धि, शिरः शूल, कभी श्वासावरोध, हरी-पीली त्वचा और बलक्षय आदि लक्षण होते है। रक्त में रक्त रञ्जक द्रव्य कम होता है। रक्ताणु और श्वेताणु योग्य अनुपात मे होते हैं।

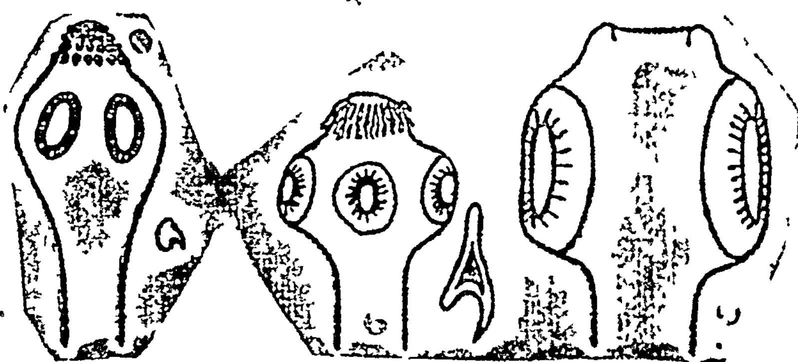
कृमिज पाण्डु-हलीमक (Tropical Chlorosis) मे रक्त रोधक शक्ति का ह्रास और रक्ताणुओं की न्यूनता होती है। हृदय कोमल और पीताभ तथा हृदय की दीवार मेदोप क्रान्ति से ग्रस्त होती है।

श्वेताणु वृद्धिमय पाण्डु (Leucaemia) होने पर रक्त में श्वेताणु की वृद्धि हो जाती है। श्वास कृच्छ्रता, अतिसार रक्तस्राव आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। कितनेको की यकृत्प्लीहा बढ़ जाती है। किसी की लसीका ग्रन्थिया बढ़ जाती हैं। किसी को बाल ग्रैवेयक ग्रन्थि (Thymus gland) की वृद्धि हो जाती है।

आयुर्वेदीय रक्त-पित्तमे अनेक रोगो का अन्तर्भाव होता है। ये रोग रक्त रचना की विकृति होने पर होते है। धमनी कोष का विस्फारण (धमनी आर्बुद) (Aneurysm), स्त्रियो मे मासिक धर्म की विकृति, वातरक्त, संधिप्रदाह (Arthritis), हृदय विकार, प्रबल संक्रामक ज्वर, दूषित वायु और दूषित आहार का सेवन, पाण्डु रोग आदि कारणो से रक्तरचना विकृत होकर रक्त पित्तकी संप्राप्ति होती है। आहार योग्य तथा पोषक न होनेसे कफज रक्त-पित्त (Scurvy) की प्राप्ति होती है। उसमें हृदय मे विकृति, मसूडे में से रक्त निकलना, मूत्र का ह्रास आदि लक्षण उपस्थित होते है।

त्रिदोषज रक्तपित्त (Purpura), यह विशेषतः दूषित आहार और सेन्द्रिय विषसे उत्पन्न होता है। एवं सर्पविष, क्विनाइन, ताम्रविष, पारद विष, वात विकृति आदि अनेक हेतुसे उत्पन्न होता है। इससे भी रक्त रचना विकृत होती है। स्थान स्थान पर शीत पित्त जेसे ददोरे, तीव्र ज्वर प्लीहा वृद्धि, चक्कर आना और बलक्षय आदि लक्षण होते हैं।

उदरावेष्टा (कद्दूदाना) कृमिसे प्राप्त रोग (Taeniasis) में रक्त





चित्र नं० ९ B कुत्ते में प्राप्त होने वाले कृमि टिनिया एकिनोकोकस।

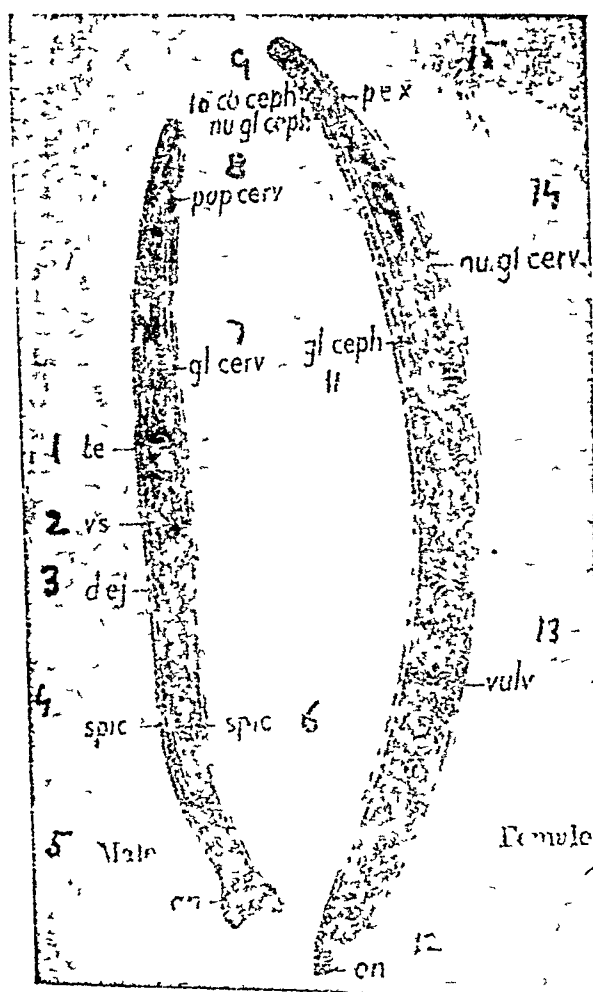
चित्र नं० ९ A तीन प्रकारके कद्दूदाने के शिर

१. डिबोथ्रियो सिफेलस ।

२. टिनिया सोलियम ।

३. टिनिया सैजिनेटा ।

रचना विकृति होकर और, नाक गुदामे खुजली चलना, उदर शूल, वमन अति क्षुधा, पाण्डु आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।



चित्र नं० १० अन्त्रदा कृमि नर-मादा (Hook worm)

गण्डूपदोपमा (गोल कृमि Round worm) के रोग से रक्त रचना विकृति होने पर शीत पित्त, कण्डू, श्वासकष्ट, उदर मे मरोड़ा आना, ज्वर और वातविकार के लक्षण प्रकाशित होते हैं।

अन्त्रदा कृमि (Hook worm) के रोग से रक्तरचना विकृति तथा श्वासविकार, हृत्स्पंद-वृद्धि और निर्बलता आदि लक्षण उत्पन्न होते है।

वालको की देहसे कभी कभी चूरव कृमि (Thred worm) का प्रवेश होजाता है। इससे नाक और गुद द्वार में खुजली चलना, रक्तके

भीतर अम्ल रंगेच्छु लसीकाणुकी वृद्धि आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं।

ड्रेकन कुलस कृमि, जो स्नायु (नारू) रोगकी सम्प्राप्ति कराता है। उसके विषसे रक्त रचना विकृत होने पर शीतपित्त, ज्वर और स्नायु रोग की उत्पत्ति होती है।

बिल होर्जिया कृमिके विषसे रक्तमेह (Schistosomiasis) की सम्प्राप्ति होती है। एवं शीतपित्त, ज्वर, अतिसार और रक्त मे अमल रंगेच्छु की वृद्धि होती है।

रक्तार्श होनेपर किसी सिकी रोगी को अति रक्तस्राव होकर हृदय की विकृति और रक्त रचना मे भी विकृति होजाती है।

मासिक धर्म का रोध होता हो, तो रक्त रचना विकृति होती है। फिर शिरदर्द, दृष्टिमाद्य, रक्तवमन, हृदय पर भारीपन, व्याकुलता आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

४ श्वास संस्था विषयक प्रश्न।

श्वास संस्था के रुग्ण होने पर निम्न लक्षणों के विषय में प्रश्न करना चाहिये।

रोगीके परिवार में कास तमक श्वास, और राजयक्ष्माका इतिहास मिलता है? उसके व्यवसाय के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त करनी चाहिये। क्या उसका व्यवसाय ऐसा है कि उसके श्वासके साथ धूल, रेत, मिट्टी, आटे के अणु, कपास के परमाणु आदि श्वास मार्ग को हानि पहुँचाने वाले पदार्थ निरन्तर अन्दर जाते रहते हैं? ये शुष्क कासके कारण हैं? गलग्रन्थि बार-बार शोथ-युक्त होजाती है? क्या रातको उसे स्वेद आता है? क्या दिन प्रति दिन वह क्षीण होता जारहा है?

कास—किस प्रकार की है शुष्क अथवा श्लेष्मा युक्त? सबसे अधिक किस समय चलती है दिनमें या रात्रिको? दिन या रात्रि मे सोने पर ज्यादा चलती है? (जैसे गलग्रन्थि शोथमे)। इसके आक्रमणके समय क्या वमन होजाती है? कासके साथ पीडा होती है? रात्रिको शीतल स्वेद आता है?

श्लेष्मा—कफ निकलता है तो कितनी मात्रा मे? इसकी विशेषताएं क्या है? पतला है या गाढ़ा? किस वर्ण का है। सफेद, पीला अथवा हरा पीला और बतासे के समान गोल बंधा हुआ है? कफ में दुर्गन्ध आती है? क्या यह रक्त मिश्रित है? रक्त चमकदार और झाग युक्त है या गहरे रङ्ग का है?

कास, तमक श्वास और राजयक्ष्मा, ये रोग वंशागत नहीं माने गये

फिर भी इन रोगो से पीड़ित माता-पिता के संतानो की श्वास संस्था इन रोगो की संप्राप्ति के अधिक अनुकूल होती है। इन रोगो के विपरीत अपनी रोग निरोधक शक्ति का अधिक उपयोग नहीं कर सकती। एवं आटे की मिल, रुई के जिन-प्रेस कोयले की खान में कार्य करने वाले को एवं अनाज किराणे आदि के व्यापार करने वालो के श्वासोच्छ्वास क्रिया मे आटा, रुई, धूल आदि के परमाणु जाते है। परिणाम में श्वास, कास आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

राजयक्ष्मा में कफ बतासे सदृश गोल, पीला या हरा दुर्गन्ध युक्त होता है।

शुष्क वातिक कास से कण्ठ में रही हुई कागलिया दूषित हो जाती है। इससे कास रात्रि को सोने के समय अधिक त्रास देती है।

काली खासी मे कॉस का वेग होने पर बहुधा वमन भी हो जाती है।

सामान्य नयी कास मे श्वेत कफ, जीर्णकास होने मे पीला कफ और न्यूमोनिया मे रक्त मिश्रित कफ गिरता है।

राजयक्ष्मा, हृदय के द्विपत्र कपाट द्वार का आकुंचन (Mitral stenosis) फुफ्फुस विद्रधि श्वास नलिका विस्तार, कृमि प्रकोप, स्वर यन्त्र मे व्रण या अर्बुद फट जाना, मसूढ़े पक जाना, ऊर्ध्व रक्तपित्त, रक्तविकार स्त्रियो के मासिक धर्म मे विकृति तथा फुफ्फुसो की रक्त वाहिनियो का अवरोध आदि कारणों से थूक में रक्त आने लगता है।

फुफ्फुसावरण प्रदाह होने पर वक्ष मे तोड़ने के समान तीव्र पीड़ा होती है; किन्तु न्यूमोनिया मे फुफ्फुस जकड़ने के सदृश वेदना होती है। फुफ्फुसस्थ धमनियों का अवरोध होने पर अकस्मात् सुई चुभाने के समान पीड़ा होने लगती है; और रक्तवमन भी हो जाती है। वक्ष स्थान मे अर्बुद होने पर वेदना कुछ अंश मे निरन्तर बनी रहती है। (चित्र नं० १२)

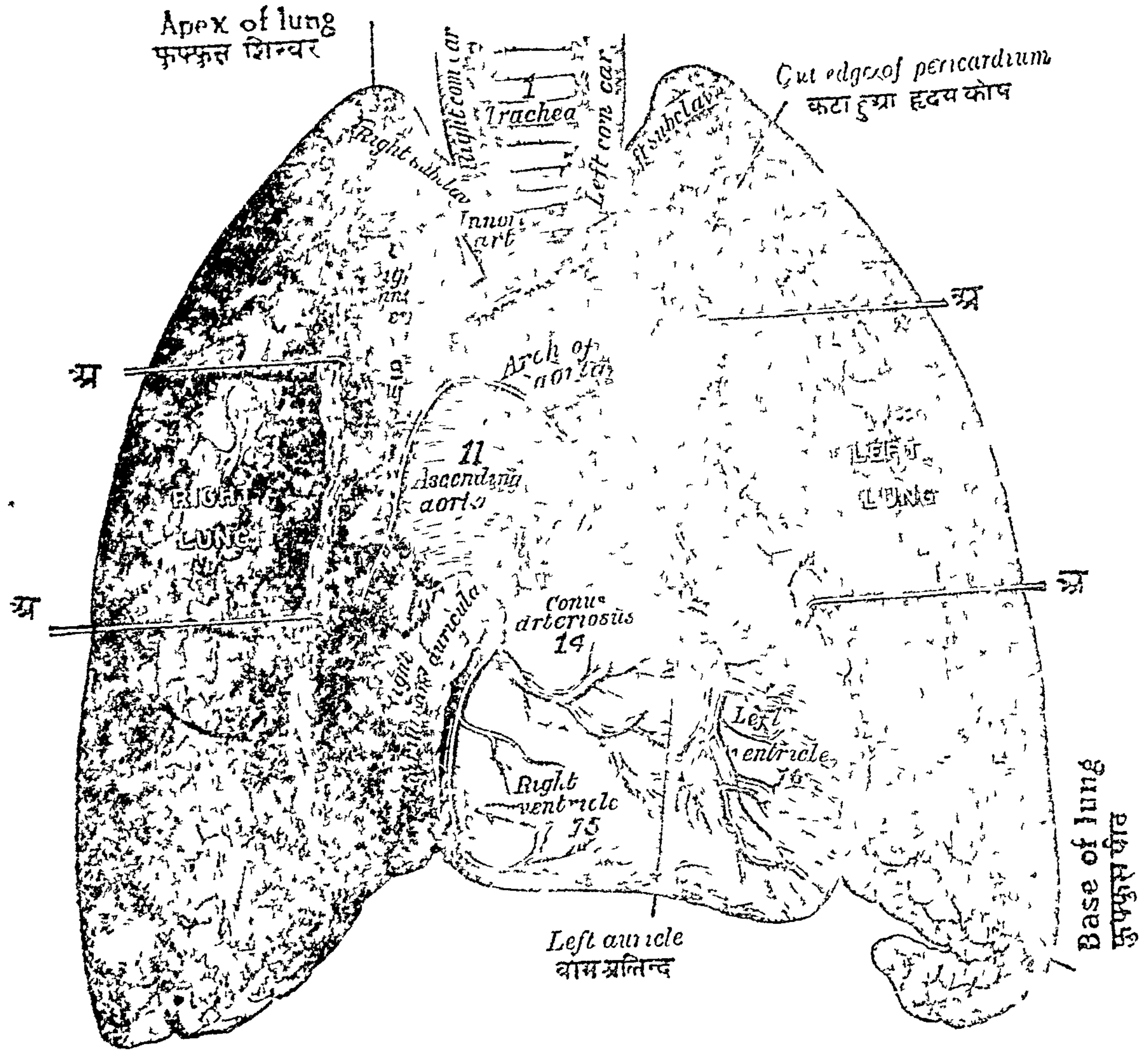
राजयक्ष्मा मे रात्रि को शीतल स्वेद आता है, और दिन-प्रतिदिन निर्बलता बढ़ती जाती है।

स्वरयन्त्र प्रदाह जनित शुष्क कास होने पर उसका आवेग बहुधा चलता ही रहता है। आवाज कॉसी के बरतन की आवाज जैसी होती। बोलने, तरल द्रव्य निगलने और दीर्घश्वास लेने पर कास बढ़ जाती है।

स्वर यंत्र की श्लैष्मिक कला शुष्क होने पर तथा वात वाहिनियो मे उत्तेजना आने पर शुष्क प्रति फलित कास चलती है। इसका वेग कभी सहसा हो जाता है, फिर घण्टो तक शान्ती रहती है। किसी को अविराम चलती रहती है। वह भोजन और वार्त्तालाप मे अधिक होती है और निद्रावस्था मे बिल्कुल शान्त रहती है।

चित्र नं० ११

फुफ्फुस और हृदय



१ श्वास नलिका Trachea

२ दक्षिण महामातृका धमनी Right Common Caroted artery

३ वाम महामातृका धमनी Left Common Caroted artery

४ दक्षिण अक्षाधरा धमनी Right Subclavian artery

५ वाम अक्षाधरा धमनी Left Subclavian artery

६ गल मूलिका धमनी Innominate artery

७ वाम गलमूलिका सिरा Left Innominate artery

८ दक्षिण गलमूलिका सिरा Right Innominate artery

९ उत्तरा महा सरा Superior Vena Cava

१० तोरणी महाधमनी Arch of Aorta

११ आरोहिणी ,, Ascending ,,

१२ फुफ्फुसाभिगा धमनी Pulmonary artery

१३ दक्षिण अलिन्द और उसका शीर्ष Right Atrium and Auricila

१४ दक्षिण निलय शीर्षक Infundibulun (Conus arteriosus)

१५ दक्षिण निलय Right Ventricle

१६ वाम निलय Left Ventricle

१७ दक्षिण फुफ्फुस Right Lung

१८ वाम फुफ्फुस Left Lung

अ—इन चार स्थानों से फुफ्फुसमूल खिचता रहता है।

अज्ञात कीटाणुओं का स्वर यंत्र पर आक्रमण होने पर बालकों को काली खासी होती है, यह तीव्र वेग से चलती है। वेग बहुधा वमन होने पर शान्त हो जाता है।

फुफ्फुस विकृति जन्य शुष्क कास बहुधा राजयक्ष्मा की प्रथमावस्था में होती है। यह ठहर-ठहर कर चलती है। कभी ज्वर भी साथ मे होता है। हृदयावरण प्रदाह, उदर्य्याकला-प्रदाह, पर्शुका मे वातशूल और फुफ्फुस प्रदाह में, कभी-कभी सूखी खासी हो जाती है।

आवेग युक्त कफ कास, यह श्वास नलिका प्रदाह, श्वास नलिका विस्तार, राजयक्ष्मा की दूसरी और तीसरी अवस्था, फुफ्फुसावरण मे विद्रधि और यकृद् विद्रधि मे उपस्थित होती है।

आशुकारी फुफ्फुस प्रदाह (न्युमोनिया) में रक्त मिश्रित चिपचिपा कफ गिरता है। फुफ्फुस मे कार्क स्फोट होने पर रक्त मिश्रित कफ निकलता है। इस रोग में कफ तारदार और चिपचिपा होता है। फुफ्फुस मे पूय हो जाने पर कफ दुर्गन्ध युक्त हरा-पीला बन जाता है।

उदर्य्याकला प्रदाह, उदरस्थ विद्रधि, गर्भधारण, आध्मान, यकृद्वृद्धि, महा-प्राचीरा पेशी संचालन मे प्रतिबन्ध, उरः पञ्जर के संचालन मे प्रतिबन्ध, इन हेतुओं से श्वासोच्छ्वास की गति बढ़ जाती है।

आशुकारी स्वरयन्त्र प्रदाह, बृहत् श्वास नालिका का अवरोध, स्वरयन्त्र या श्वास नलिका मे किसी वस्तु का प्रवेश तथा स्वरयन्त्र द्वार का आक्षेप होने पर श्वासोच्छ्वास कष्ट से होता है।

वृक्क सन्यास (Uraemia) और हृदय की मेदोपक्रांति होने पर श्वास ताल मे अन्तर हो जाता है। कभी छिन्न श्वास भी उपस्थित होता है। श्वास अगंभीर और ऊपर ऊपर चलता रहता है।

कभी श्वास यंत्र के अतिरिक्त यन्त्रो की विकृति से भी श्वासोच्छ्वास गति मंद हो जाती है। हिस्टीरिया में कभी श्वासगति तेज हो जाती है।

कफ नूतन अवस्था मे पतला चिपचिपा सफेद होता है। फिर पकने पर पीला बनता है। श्लैष्मिक कला मे अधिक उग्रता हो, तब तक कफ पतला रहता है। उत्तेजना कम होने पर गाढ़ा बनता है। क्षत होने या रक्त वाहिनी फटने पर कफ के साथ रक्त आता है। भीतर पूय होने पर कफ हरा-पीला दुर्गन्धमय बन जाता है। जो जल मे डालने पर डूब जाता है।

कफ में रक्त आने के कारण :—

(१) राजयक्ष्मा।

(२) हृदय के वाम मध्यस्थ कपाट (द्विपत्र कपाट) द्वार का आकुंचन।
(३) फुफ्फुस स्थित कर्क स्फोट, विद्रधि, कोथ आदि।
(४) सूक्ष्म वायु प्रणाली विस्तृति।
(५) यकृत् पर कृमिज रसार्बुद (Hydatid Cyst), तथा कृमि डिस्टोमा वेस्टर मनि (Distoma westermanii) जनित फुफ्फुस में रसार्बुद।
(६) श्वास नलिका मे धमन्यर्बुद (Aneurysm) के विदीर्ण होने पर।
(७) मासिक धर्म की विकृति।
(८) रक्त-रोग रक्त मे श्वेताणु वृद्धि, रक्त स्रावीय प्रकृति, विविध प्रकार के रक्तपित्त (Purpura and Scurvy) तथा पित्त-ज्वर (Yellow fever)
(९) फुफ्फुसो की रक्तवाहिनियो का अवरोध या फुफ्फुस संन्यास।

वक्ष में पीड़ा—छाती मे पीड़ा विद्यमान है तो, क्या यह श्वास लेने के साथ बढ़ती है? पीड़ा निरन्तर बनी रहती या कभी-कभी ही उत्पन्न होती है? मुख्य स्थान कौनसा है? पीड़ा शूल रूप है या भाररूप या मंद है? बुखार है? निद्रा शान्त आती है?

हृदयशूल होने पर हृदय मे प्रबल शूल की तरह वेदना निरन्तर बनी रहती है। बारम्बार वह भिन्न भिन्न दिशा मे फैलती है। इस शूल के साथ महाधमनी या हार्दिकी धमनियों (Coronary Art) की स्थिति मे परिवर्त्तन हो जाता है।

आशुकारी उरस्तोयमें फुफ्फुसावरण के भीतर गम्भीर शूल उत्पन्न होता है। तरलोत्पत्ति होने पर वेदना मंद या बंद हो जाती है।

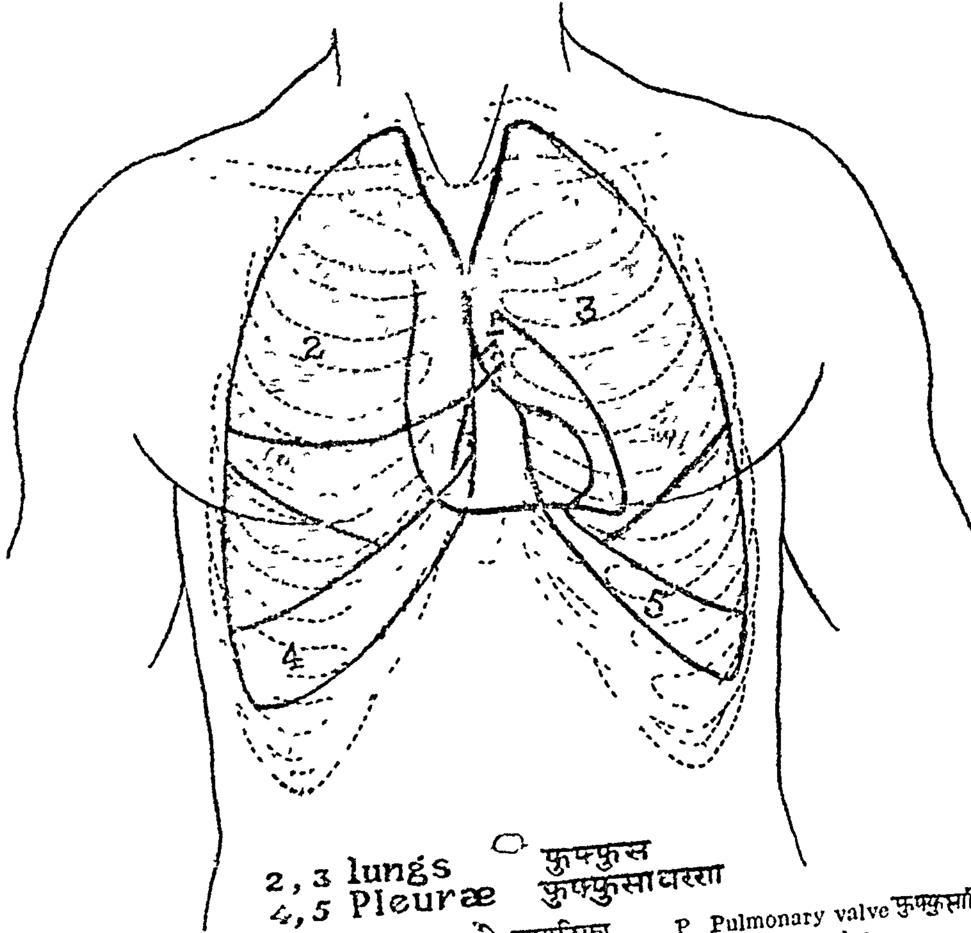
पर्शुकान्तर वात शूल (Intercostal Neuralgia) और पर्शुकाओं की मास पेशियो के शूल (Pleurodynia) मे भी वेदना एक प्रधान लक्षण होता है। फुफ्फुसावरण मे अर्बुद या कर्कस्फोट होने पर काटने के समान तीव्र वेदना होती है। इसका सम्बन्ध श्वास क्रिया से नही होता है।

तीव्र श्वास नलिका प्रदाह मे मंद वेदना होती है।

प्रबल कास चलने पर निम्न वक्षप्रदेश मे खिचाव के सदृश मंद वेदना की अनुभूति होती है।

चित्र नं० १२

फुफ्फुस और फुफ्फुसावरण ।



A Aortic valve धमनी कपाटिका
B Bicuspid or mitral valve द्विपत्र कपाट
P Pulmonary valve फुफ्फुसाभिगा धमनी की कपाटिका
T Tricuspid valve त्रिपत्र कपाट

धमनी विस्तार होने पर वक्षःप्राचीर पर बिंधने के सदृश किन्तु मंद वेदना होती है।

न्युमोनिया होने पर फुफ्फुसके भीतर मृदु वेदना होती है।

हृदय की मासपेशी के निम्न भाग में चिरकारी प्रदाह होने पर कौडी प्रदेश में वेदना बनी रहती है। आशुकारी हृदयावरण प्रदाह होने पर कभी हृदय पर तीव्र वेदना होती है; सामान्यतः खिचाव सदृश पीडा होती है।

राजयक्ष्मा मे फुफ्फुसो के भीतर बडे बडे गह्वर बन जाने पर प्रायः मंद-मंद वेदना होती रहती है।

हृदय की वात नाडियो की विकृति होने पर गम्भीर शूल उपस्थित होता है।

श्वासावरोध—अगर उसे श्वास का दौरा होता है तो कब होता है? ऋतु विशेषका क्या प्रभाव होता है? दिन के कौनसे समय में पैदा होता है? यह आक्षेप युक्त हो तो रोगी के एक आक्रमण का सम्पूर्ण वर्णन मालूम करना चाहिये।

श्वास के आक्रमण के हेतु—

(१) हृद्रोग।

(२) तमक श्वास।

(३) कंठ और नासिकामें अवरोध और फुफ्फुसमें संन्यास।

(४) वायु कोष विस्तृति।

(५) अत्यन्त दुर्बलता और हिस्टीरिया।

(६) धमनी कोष्ठ काठिन्य (Arterial-Sclerosis)

(७) रक्तमें मूत्रविष वृद्धि (Uraemia वृक्क सन्यास) और वृक्क प्रदाह।

(८) महाधमनी विस्तृति या वक्षोस्थि पर उत्पन्न अर्बुदों का दबाव।

(९) राजयक्ष्मा।

तमक श्वास मे श्वास का दौरा होने पर रोगी को अत्यन्त कष्ट होता है। इस दौरे का आराम विशेषतः रात्रिका होता है। वर्षा ऋतु और शीतकाल में आकाश मेघाच्छन्न हो जाने पर दौरा किसी भी समय होजाता है। किसी-किसी को गर्मी के दिनो मे भी दौरा होता है। किसी को ४-८ दिन पर, किसी को एकाध मास बाद और किसी को वर्षो के बाद होता है।

फुफ्फुस संन्यास मे श्वासावरोध के साथ भयंकर वेदना होती है और कुछ मिनिटो मे ही प्राणमुक्त होजाता है।

सूचना:—श्वासावरोध का विशेष विचार रक्तवाहक संस्था के प्रश्नों के विवेचन में भी किया है।

५. मूत्रसंस्थाके विकारों में प्रश्न।

वृक्क, मूत्राशय और मूत्रमार्ग के विविध रोगों में निम्न लक्षणों के विषय में प्रश्न करना चाहिये।

वृक्क विकार—उसके परिवार मे किसी को वृक्कप्रदाह (Bright's disease) या वृक्क संन्यास है? उसे स्वतः को इससे पूर्व लोहित ज्वर, नाग विपज व्याधि, पूयमय रोग, उपदंश, सुजाक, वातरक्त और मूत्र संस्थाका कोई रोग हुआ था? शराब, तमाखू या अन्य कोई व्यसन है? किस ओर के वृक्क मे पीडा होती है? कटि प्रदेश में दर्द होकर वह विटप प्रदेश की तरफ प्रसारित होता है? क्या इसका आक्रमण पहले भी कभी हुआ था? अगर हुआ हो तो कब और कितने समय तक रहा था?

मूत्र विकृति—पेशाब साफ होता है? पेशाब का रङ्ग कैसा है? पेशाब में गंदलापना है? क्या वेग के पश्चात् मूत्र के साथ किसी प्रकार का रेतकण निकलता है? मूत्र मे रक्त आता है? मूत्र में सफेद क्षार चिपचिपा द्रव्य या पूय निकलता है? मूत्र मे दुर्गन्ध आती है या नही? शूल के समय वान्ति होती है? शिरःशूल, श्वासावरोध, वेहोशी और दृष्टिमान्द्य, ये लक्षण उपस्थित हैं? प्रातःकाल मुखमण्डल फूला हुआ या स्फीत भासता है? मूत्र परिमाण बढ़ गया है या घट गया? मूत्र बार-बार होता है? मूत्र त्याग के लिये रात्रि को अधिक बार उठना पड़ता है?

क्या मूत्र त्याग के समय किसी प्रकार का दर्द होता है? पीडा पूर्व, मध्य या अन्त कौनसे समय मे होती है? पीडा किस तरह की है? तथा कौन से स्थान पर अनुभव होती है? क्या यह हिलने-चलने से बढ़ जाती है?

वृक्क प्रदाह (Bright's disease) **रक्त रचना में विकृति होने पर होता है। कभी कभी यह विकृति वशागत होती है,** यह विकृति कुटुम्ब में एकाधिक मनुष्यों को प्राप्त होती है। इस तरह मधुमेह और वृक्क संन्यास भी वंशागत प्रतीत होते हैं।

शोणित ज्वर, शीशाविप, रक्त के भीतर पूय कीटाणुओं का प्रवेश, उपदंश, सुजाक, चिरकारी जीर्णत्वक् रोग, कण्ठ रोहिणी, मस्तिष्कावरण प्रदाह, मधुरा, रोमान्तिका, मसूरिका और विशूचिका आदि रोगो से कभी-कभी रक्त में विकृति होकर मूत्र संस्था को हानि पहुँचती है। सगर्भावस्था तथा

शराब, विविध विष का सेवन और तमाखू का व्यसन, इनसे भी रक्त में विष वृद्धि होकर वृक्क और मूत्राशय को हानि पहुँचती है।

रक्त में मूत्र विष वृद्धि (Urasamia) होने पर अपस्मार के समान आक्षेप होता रहता है। अधिकाश स्थलों में मूर्च्छा आ जाती है। इस रोग मे शिर दर्द, वमन, ये लक्षण उपस्थित होते हैं।

दाहिने या बांये वृक्क के भीतर कभी-कभी भयंकर शूल उपस्थित होता है। यह शूल रेती के कण आजाने पर या अश्मरी निर्माण होकर गवीनी की ओर गति करने या गवीनी मे प्रवेश करने पर होता है। जब कंकड़ी मूत्राशय मे चली जाती है, तब शूल शमन होता है। शूल रहे, तब तक बार-बार वान्ति होती रहती है। ये वान्ति प्रायः खट्टी होती है। इस शूल की पीड़ा बहुधा कुक्षि में, पीठ पर पसलियों के नीचे और कभी आगे नाभि के पास भी होती है। यह वेदना फैलकर अण्डकोष की ओर गति करती है।

वृक्क शूल के साथ श्वास कृच्छ्रता, शीत लगना, हृदयगति की शिथिलता और मलावरोध आदि उपस्थित होते हैं। इसका आक्रमण सहसा होता है। एवं उपशम भी सहसा होता है। यह कष्ट कुछ घण्टो से कुछ दिनों तक रहता है।

वृक्क शूल में पेशाब स्वल्प, कभी-कभी रक्त, पूय और श्लेष्मा-मिश्रित होता है। वृक्काश्मरी के अतिरिक्त वृक्क विद्रधि मूत्राशय में व्रण और सुजाक होने पर भी मूत्र में पूय आता है।

साधारणतया अस्थिर वृक्क (Mobile Kidney) में किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती। इस मे पीडा उसी समय होती है जब कि, वृक्क स्थान की च्युति के कारण गवीनी में बल पड जाय और मूत्र बन्द हो जाय।

वृक्क के समान मूत्राशय मे भी अश्मरी का निर्माण हो जाता है। एवं मूत्राशय मे से मूत्र प्रसेक नलिका में जाने पर वेदना होती है। कंकडी बाहर निकल जाने पर वेदना शमन हो जाती है। मूत्राशय मे अश्मरी होने पर मूत्र त्याग के पश्चात् और अकस्मात् शरीर ऊँचा नीचा या टेढ़ा हो जाने पर मूत्रेन्द्रिय के अग्रभाग मे वेदना होती है। पौरुष ग्रन्थि के विकार मे भी लिङ्ग मे वेदना होती है।

मूत्राशय मे पेशाब संगृहीत होने पर तनाव और वेदना होती है। मूत्र त्याग होने पर कष्ट का निवारण होता है। इसके अतिरिक्त मूत्राशय के समीपस्थ लघु अंत्र आदि प्रदेश के भीतर पीड़ा होने पर भी मूत्र मार्ग मे वेदना होती है।

मूत्र नलिका का संकोच होने पर पेशाब करने में दर्द होता है, तथा पेशाब बहुत थोड़ा और गाढ़ा होता है।

मधुमेह कितनेक प्रकार के अपक्रान्ति सह वृक्क प्रदाह (Bright's disease) वृक्क की अपक्रान्ति तथा बहुमूत्र (Diabetes Insipidus) होने पर बारम्बार अधिक परिमाण मे पेशाब उतरता है। मूत्राशय प्रदाह, पौरुष ग्रन्थि प्रदाह, वृक्कालिंद प्रदाह (Pyelitis), वृक्क प्रदाह (Nephritis) तथा वृक्क या मूत्राशय मे अश्मरी आदि रोग में बारम्बार पेशाब करना पड़ता है। वृक्क वृद्धि या ह्रास-सह वृक्क प्रदाह और पौरुष ग्रन्थि की वृद्धि में विशेषतः रात्रि को बारम्बार पेशाब उतरता है।

शोथ होने पर प्रश्न :—

क्या प्रातःकाल रोगी की आँख के आसपास शोथ प्रतीत होता है? क्या यह शोथ संध्या तक दूर हो जाती है? मलावरोध रहता है?

वृक्क रोगों से उत्पन्न शोथ—आँखो की पलकों और आँखो के नीचे सर्वतः प्रथम आरम्भ होती है। प्रातःकाल ज्यादा होती है और श्रम करने पर पसीना आने तथा रक्त संचार के बढ़ने से संध्या तक स्वयमेव कम हो जाती है या नष्ट हो जाती है। इस शोथ के साथ बहुधा शौच शुद्धि नहीं होती।

६. चर्मरोग के लिये प्रश्न।

रोगी के भोजन, वस्त्र, और स्नान करने के सम्बन्ध में व्यक्तिगत स्वभाव और व्यवहार के लिये निम्नानुसार प्रश्न पूछना चाहिये।

त्वचा का रंग बदल गया है? उसका व्यवसाय क्या है। क्या वह रासायनिक या अन्य उत्तेजक पदार्थों से कार्य करता है? वर्त्तमान समय मे रसकपूर, दाल चिकना आदि कोई औषधि सेवन की है? क्या उसे उपदंश हुआ था? भोजन में अधिक नमक, अधिक शक्कर, अधिक मिर्च या अधिक कब्ज करने वाला पदार्थ लेता है? कब्ज बना रहता है? क्या फोड़ा, फुन्सियो में खाज चलती है? अगर चलती है तो कौन से समय में सब से अधिक? (पामा में रात्रि को ठंड के समय ज्यादा खाज चलती है) फोड़ा फुन्सी कौन-कौन से स्थान पर हैं? फोड़ा-फुन्सी क्या एकदम पैदा हो जाते हैं? सूर्य के ताप से अग्निके पास अधिक कार्य करता है।

त्वचाका प्रदाह होने पर रसग्रन्थि उपस्थित होती है। कभी बड़ी बड़ी ग्रन्थि भी होती हैं। ये ग्रन्थि, शीतला, कक्षा सदृश ग्रन्थि (Herps) और फिरंग रोगमें प्रतीत होती हैं। ब्युची और कक्षा में कभी कभी एक ही

स्थान पर अनेक पिटिकाओं का समूह उत्पन्न होता है। ग्रीष्म काल में कभी स्वेद की अधिकता के हेतुसे स्वेद ग्रन्थियों के मुखपर कठिन ग्रन्थियाँ उपस्थित होती हैं। कभी दुर्बल मनुष्यों को बड़ी-बड़ी ग्रन्थि (Blebs) फाले जैसी उत्पन्न होती हैं। पहले ये श्वेत या पीताभ वर्णकी होती हैं। फिर रक्तमिश्रित होने पर रक्ताभ या कृष्णाभ हो जाती है। सामान्यतः रसग्रन्थि के उत्पन्न होने के पहले त्वचा पर लाल दाग प्रतीत होता है।

रस ग्रन्थि की अपक्रान्ति होने पर घनपिटिका उत्पन्न होती है। ये बहुधा प्रौढ़ व्यक्ति को अण्डकोष पर, बालकों को कण्ठ पर तथा किसी-किसी में पलक पर होती है।

कीटाणु या कृमि दंश और अन्य हेतुसे त्वचा पर शोथमय स्फीति आती है। उस स्फीति पर दबाने पर खड्डा नहीं होता। यह सहसा उत्पन्न होती है और सहसा अदृश्य ही हो जाती है। कभी-कभी विस्तृत स्थान व्यापी होती है, तब कुछ घण्टो से कुछ दिनों तक स्फीति रह जाती है।

शीतपित्त रोगमे त्वचा पर ददौरे उत्पन्न होते हैं और कुछ समय में नष्ट हो जाते हैं। उपदंश रोग में उपद्रव रूप से त्वचा के नीचे से या गम्भीर श्लैष्मिक कला में से रक्ताभ पिटिका (या ददौरे) उत्पन्न होती हैं। एवं सात्रिक तन्तुओंमें कभी सवृन्तग्रन्थि (Fibroma Pendulum) की प्राप्ति होती है।

सामान्य बल वाले चिरकारी व्युचीरोग में त्वचा परसे पतला छिल्टा (Crusts) निकलता है। एवं कभी-कभी रक्तस्राव होता है। व्युची सदृश रक्तरसमय पिटिका (Rupia) पर शुण्डाकर त्वचा निर्मित होती है। एवं तैल ग्रन्थि विकार (Seborrhoea) में पिटिका परसे त्वचा निकल जाती है।

परोपजीवीकीटाणु फंगाई के विष प्रकोप, चिरकारी प्रदाह और रक्तसंग्रहके हेतु से उपस्त्वक्का पोषण नहीं होता। तब त्वचापर से तुषके समान भूसी निकलती रहती है। संक्रामक चिरकारी ज्वर, लगना और विविध रासायनिक द्रव्यों के स्पर्श से त्वचा फट जाती है।

व्युची; अलसक (Lichen) आदि रोगोमे त्वचाके ऊपर अन्त-भरण (Infiltration) होता है।

कच्छा रोग उत्पन्न होनेके पहले रसग्रन्थि बनने पर या क्षत शुष्क होने पर अत्यन्त वेदना होती है। इसी तरह उग्रता युक्त क्षत और गलगण्डज क्षत और क्षयकीटाणुजन्य चर्म में भी अति वेदना होती है।

पूय मय ग्रन्थि होने पर दबाने पर वेदना होती है।

प्रदाहमय पीडा, आशुकारी व्युची, रक्त संग्रह युक्त त्वचा और त्वचा जल जाने पर जलन होती है। त्वचा शुष्क करने वाले और दद्रु आदि कीटाणु जन्य चर्म रोगो में कण्डू उपस्थित होती है। निर्बलता और विविध वात नाडी विकार में त्वचा पर पिपीलका के चलने सदृश भास (त्वचाहर्ष-(Formication) होता है।

भोजन में अत्यधिक नमक, अत्यधिक शक्कर या अत्यधिक मिर्च लेने से जब त्वचा की स्निग्धिता नष्ट हो जाती है, तब कण्डू उपस्थित होती है। एवं कब्ज बना रहता हो, तो कण्डू की वृद्धि होती है। शीतकाल में रजाई, कम्बल आदि मोटे कपड़े ओढ़ते हैं। उन कपडो में कीटाणु होने पर उनको प्रारम्भ में सूर्य के ताप मे डाल कर कीटाणु रहित बना देना चाहिये। अन्यथा उन में से कीटाणु शरीर पर लग जाते हैं, जिसके परिणाम स्वरूप कण्डू उत्पन्न हो जाती है। यह कण्डू दिनकी अपेक्षा रात्रि को अधिक तासती है। कडूपीडित मनुष्य के बिछौने पर रात्रि को लेटने वाले नीरोगी मनुष्य को भी कण्डू हो जाता है।

रसकपूर, दालचिकना आदि अशुद्ध ओषधियों का सेवन करने पर या पथ्य का योग्य पालन न करने पर विविध प्रकार के रक्त विकार और त्वचा रोग उत्पन्न होते हैं।

सुजाक रोग होने पर यदि योग्य स्वच्छता न रक्खी जाय, तो पूयविष वृषण, जाघ आदि भागो को या योनि के चारों ओर लगनेसे छोटी-छोटी फुन्सियाँ हो जाती हैं। यदि उस पूय को या प्रदर के स्राव को गंदे कपड़े से पोंछते हैं, तो कण्डू उत्पन्न होती है। फिर वह दिन-रात चलती ही रहती है।

सूर्य के तापमें या अग्नि के पास अधिक कार्य करने पर निर्बल व्यक्तियो की त्वचा शुष्क होजाती है।

दाद, व्युची आदि त्वचा रोग होने पर विशेष न सम्हाला जाय; उनको अच्छी तरह साफ न किया जाय, या उन पर खाज चलने पर नाखूनों से खुजा-कर फिर अच्छी तरह न धो लिया जाय, तो नाखूनों द्वारा कीटाणु देहके अन्य भाग मे लग जाते हैं।

इस तरह फोड़ा फुन्सी आदिका पूय देह के दूसरे भागमें लग जाने पर वहाँ वही रोग पैदा हो जाता है।

वात नाडी विकृति एवं मस्तिष्क या सुषुम्णा रोगो के हेतुसे स्थानिक त्वचा की चेतना का ह्रास होता है। वात नाड़ी प्रदाह, वात नाड़ी पर अर्बुद,

वात नाड़ी को ठण्डी लग जाना और कोकैन आदि ओषधि सेवन करने पर वात नाड़ी क्रिया-विकृति होती है । फिर इसी हेतुसे स्थानिक त्वचाकी चेतना कम हो जाती है ।

अपस्मार, हिस्टीरिया और अमिल नाइट्रास जैसी ओषधियोंका श्वास के साथ ग्रहण आदि हेतुसे त्वचा पर मलिनता और लाली आजाती है । ज्वर रोगमें वात नाड़ियों की उत्तेजना के हेतुसे केशिकादि सर्व रक्त प्रणालियों में रक्ताभिसरण क्रिया प्रबल होती है, जिससे त्वचापर तेजी आजाती है ।

हिस्टीरिया, मृगी और तुंगाक्ष गलगण्ड आदि रोगोंमें कभी-कभी आधे अंगमें प्रस्वेद आता है ।

७. वातसंस्था विकार-विषयक प्रश्न ।

वात संस्थामें ज्ञाव नाडी और संचालक नाडी, ऐसे दो मुख्य विभाग हैं ।

ये वातनाड़ियाँ सम्पूर्ण देहमें व्याप्त हैं । इनका केन्द्रस्थान मस्तिष्क और सुषुम्णा में है । अतः वात संस्था के साथ मस्तिष्क, सुषुम्णा, नेत्र, नासा, कर्ण, रसना, इन सबके लक्षणो के अनुसार विचार किया जाता है ।

वात प्रकोप—उसके परिवार में किसी को मानसिक रोग उन्माद, अपस्मार, पक्षाघात, मूकत्व, (Global Aphasia) वाग्वध, सर्वाङ्गवात, ओजक्षय (मस्तिक दौर्बल्य –Neurasthenia). या वात संस्थाके इतर रोग हुए हैं ? रोगीने शीशा, रस कपूर, संखिया आदि विषका सेवन किया है ? रोगीका व्यवसाय ऐसा तो नहीं है कि वह नाग, पारद, संखिया, कार्बन-डाइ-आक्साइड या अन्य विषमय और हानिप्रद द्रव्योंके संसर्ग में आता रहता हो ? उसे कभी उपदंश तो नहीं हुआ है ? वह मद्यपान करता है ? तमाखू, गाजा, चरस आदिका व्यसन है ? तीव्र पीडा होती है ? पीडा शूलसदृश, निचोडने के सदृश या काटने के सदृश है ? किसी अंगका पक्षवध हुआ है ? नाक मुँहसे रक्तस्राव हुआ है ?

बोलने की शक्ति—नष्ट हुई हो तो मस्तिष्क में कोई पीडा हुई थी या है ? बोलने के साथ धारण शक्ति में भेद होगया है ? रोगी लिखकर भाव-दर्शा सकता है ?

बेरी बेरी—रोग हुआ हो तो भोजन कैसा मिलता रहा है ? आक्रमण होने के पहले थकावट और निस्तेजता रही थी ? शिरदर्द, शीतलगना,

मुँहपर सूजन आदि पूर्व रूप प्रतीत होते थे? कौडी प्रदेश में खिंचाव होता है? चलने के समय भयंकर पीडा होती है?

मस्तिष्क में पीड़ा—शिर पर दबाने से वेदना होती हो, तो पूछे—आमवात, उपदंश, नाक, कान, दांत, नेत्र इनका कोई पूयमय रोग हुआ था या है?

अतिशय अविराम पीड़ा—रहती हो तो प्रदाहज पीडा मानकर पूछे कि, बीच-बीच में पीड़ा बढ़ती है? ज्वर, वमन, प्रलाप उत्पन्न होते हैं?

मंद मंद पीड़ा—शूल सदृश दीर्घ काल स्थायी हो तो मस्तिष्क विद्रधिमानकर पूछे कि शिरमे भारीपन रहता है? शिर नीचा करने, सोने या परिश्रम करने पर वेदना वृद्धि होती है? ज्वर रहता है?

अर्बुद—का अनुमान हो तो पूछे कि शूल सदृश तीव्र पीडा होती है? पीडा बीच-बीच में अधिक बढ़ जाती है?

प्रति फलित क्रिया रूप शिर दर्द का अनुमान हो तो पूछे कि **ज्वर रहता है**? मलावरोध होने पर शिर दर्द अधिक रहता है?

शुक्रक्षीणता की शंका होने पर निम्नानुसार प्रश्न करना चाहिये। रोगी ने अति स्त्री सेवन या हस्त मैथुन किया है? रोगी को स्वप्नदोष होता रहता है? रोगी प्रमेह से पीडित है? तीव्र संक्रामक ज्वर या अन्य रोग हुआ था? किसी भी प्रकार का विष सेवन किया है? मानसिक चिन्ता रहती है? रोगी की आहार-विहार की व्यवस्था क्या है।

मूर्च्छा—मूर्च्छा में बेहोशी और संन्यास का अन्तर्भाव होता है। क्षणिक मूर्च्छा (Syncope) तथा श्वासावरोधज बेहोशी (Asphyxia) की प्राप्ति वातनाडी विकृति जनित है। फिर भी क्षणिक मूर्च्छा का आरम्भ हृदय से तथा बेहोशी का आरम्भ फुफ्फुस से होता है। बेहोशी विशेषतः रक्त में प्राणवायु की न्यूनता और आंगारिक वायु की प्रधानता होने पर होती है।

चेतना नाश या मूढता सह मूर्च्छा हो तो संन्यास (Coma) कहलाता है। रक्तस्राव के हेतु से संन्यास हो तो रक्त संन्यास (Apoplexy) कहलाता है। संन्यास (कोमा) होने पर अत्यन्त उत्तेजक औषधि भी जाग्रत नहीं कर सकती।

कोई रोगी मूर्च्छित हुआ है और वैद्य को बुलाने के लिये आवे, तब पहले कारण निर्णित करने के लिये पूछना चाहिये। कारण-भेद से उपचार

भेद होता है। जैसे मस्तिष्क की रक्त प्रणाली में रक्त जमाव (Thrombosis) होने पर हृदय क्रिया उत्तेजित करने के लिये चिकित्सा की जाती है। मुँह पर जल छिड़कना, शीतल वायु डालना, विश्रान्ति देना, शर्बत पिलाना, तथा रक्त दबाव शामक ओषध सर्पगन्धा, डिजिटलिस आदि से उपचार किया जाता है। सर्प काटने या अफीम खाने से बेहोशी आई हो, तो विष प्रतिकारार्थ चिकित्सा करनी चाहिये। कृत्रिम श्वासोच्छ्वास चालू करना चाहिये। बेहोशी न आई हो तो निद्रा न आने के लिये उपचार भी करना चाहिये।

नेत्र में लाली है? शराब, अफीम या मूत्र या फलों की वास श्वास या स्वेद से आती है? नाक से रक्त आता है? शारीरिक उत्ताप अधिक है या कम? पहले कभी मूर्च्छा आई थी? पहले कब मूर्च्छा आई थी?

अपस्मार, हिस्टीरिया—अपस्मार या हिस्टीरिया जनित मूर्च्छा हो तो रोगी की आयु क्या है? दौरा पहले कभी हुआ था? पहले दौरा कब हुआ था? पहले दौरे का वर्णन करो। निद्रा में कभी दौरा आता है। आक्षेप होने के कुछ समय पहले चेतावनी मिलती है? ज्ञान शक्ति कायम रहती है या लोप हो जाती है या इसका आंशिक लोप होता है? गिरते समय चोट तो नहीं लगती? जिह्वा दाँतों के बीच जाकर कट गई थी? वेग काल में मलमूत्र त्याग होता है? वेग काल में मुँह का वर्ण कैसा होता है? वेग की शमनावस्था में पक्षाघात, निद्रा, शिरःशूल या क्या लक्षण रह जाते हैं?

त्वचा की चेतना में विकृति हो, तो कारण निर्णयार्थ पूछे। हिस्टीरिया, अथवा मास्तिष्क या सुषुम्णा का कोई रोग है? शरीर में किसी स्थान पर अर्बुद है? अर्बुद हो तो सुई चुभाने सदृश वेदना होती है? मुसाफिरी में या रात्रि को निद्रा में शीत लग गई थी?

पक्षवध—पक्षवध हो तो पूछना चाहिये उपदंश हुआ था? शराब का व्यसन है? प्रबल संक्रामक ज्वर आया था? दूषित सोमल, शीशा, अशुद्ध पारद आदि का सेवन किया है? वात प्रकोप हुआ है?

हृदय विकार या चिरकारी वृक्क विकार है? आक्रमण होने के पहले पूर्व रूप में कौन-कौन लक्षण प्रतीत होते थे? शिर दर्द या वमन होते थे? शिर दर्द मस्तिष्क के किस स्थान में होता था? चक्कर आना या चलने में कष्ट का अनुभव होता था?

वाचाह्रास—वाचा शक्ति का ह्रास हुआ हो तो पूछकर निर्णित करे कि केवल वाचा में हानि पहुँचती है या धारणा शक्ति में भी। धारणा शक्ति में बाधा पहुँची होगी तो प्रश्नों का उत्तर ठीक नहीं मिल सकेगा।

कुछ-कुछ बात भूल जायगा। लिखने की शक्ति है या वह भी मारी गई, यह पूछकर निर्णित करे।

नेत्रविकृति—नेत्र में विकृति हुई हो, तो पूछे कि, प्रकाश सहन होता है ? दृष्टि मंद हो गई है ? दृष्टि क्षेत्र में कमी आगई है ?

नेत्र की पेशी का वध हो गया हो तो पूछे, पलक की शिथिलता या द्विदृष्टि दोष है ? दृष्टि टेढ़ी हुई है ? शिर दर्द या वमन होता है ? शीतला, उपदंश, शकुन्तगति रोग, अर्धाङ्गवात या कण्ठ रोहिणी में से कोई रोग हुआ था ? आम वात या शीतला हुआ था ?

कनीनिका विकृति हो तो पूछे अफीम का व्यसन है ? आँख में एट्रोपिन जैसी कोई औषधि डालते हैं ? मस्तिष्क में तीव्र वेदना होती है ?

चक्षु नाडी शोषज दृष्टि माद्य होने की कल्पना हो तो पूछे ! उपदंश, मधुरा लू लगना, शीर्षोदर या मस्तिष्क का कोई रोग हुआ था या है ? तमाखू या शराब का व्यसन है ?

श्रवणेन्द्रिय विकार—मास्तिष्क में कोई रोग हुआ था ? हिस्टीरिया, मधुरा, रोमान्तिका रोग पहले हुए थे ? विषम ज्वर शमन के लिये अथवा और हेतु से क्विनाईन अधिक लिया ? मानसिक विकृति या आर्दित रोग का आक्रमण हुआ था ?

कर्णपीड़ा—कानकी पीड़ा हो तो हिस्टीरिया, मधुरा, रोमान्तिका आदि रोग हुआ था ? क्विनाइन अधिक खाया है ? मस्तिष्क मे पीड़ा होती है ?

वर्षा ऋतु मे जल आने पर नदी या तालाब में स्नान किया है ? शक्कर अधिक खाई है ? कान को ठण्डी वायु अथवा ठण्डा जल लगता रहता है ?

स्वादेन्द्रियविकार—स्वादेन्द्रिय विकार हो तो पूछना चाहिये कि हिस्टीरिया, या उन्माद रोग है ? स्वाद शक्ति तेज हुई है ? स्वाद शक्तिका ह्रास हुआ है ? क्षुधा कैसी लगती है ?

घ्राणेन्द्रिय विकार—घ्राणेन्द्रिय विकार होने पर पूछे कि, हिस्टीरिया या पक्षा घात हुआ था ? मस्तिष्क पर चोट लगी थी ? शकुन्त गति रोग हुआ है ?

आक्षेप आते हों तो पूछना चाहिये कि, जिह्वा या ओष्ठका कम्प होता है ? मृगी या हिस्टीरिया है ? स्वेद और श्वास में पेशाब की वास आती है ?

मस्तिष्क और सुषुम्णा के रोग—में निम्न प्रश्नों में से आवश्यक प्रश्न पूछना चाहिये।

वार-वार पेशाब के लिये उठना पड़ता है ? पेशाब की परीक्षा कराई

है ? पेशाब में शक्कर जाती है ? (शक्कर जाने पर पेशाब पर चिऊंटी लग जाती है), पेशाब मे शुभ्र प्रथिन जाती है ? शराब, भाग, गाजा आदिका व्यसन है ? रोगीको विपरीत ज्ञान होता है ? रोगी मन गढंत कल्पना करता रहता है। रोगी की स्मरण शक्ति अच्छी है या कम हुई है ? रोगी की समझ शक्ति पूरी है या कम होगई है ? रोगी को निद्रा कैसी मिलती है ? निद्रा स्वाभाविक है या अस्वाभाविक ? निद्रा बार-बार टूट तो नही जाती ?

विद्रधि या अर्बुद का सशय होने पर पूछे कि, मस्तिष्क में भारीपन, या वेदना रहती है ? वेदना कितनेक समय तक रहती है ? वेदना किस प्रकार की है अर्थात् काटने सदृश, शूल चुभाने सदृश, खुजाने के समान या खिंचाव के समान है ? शरीर के किसी भी भागमे से पूय निकलता है, ज्वर आता है ? कब्ज बना रहता है ?

अनेक वातिक और मानसिक रोग कुल-परम्परा से प्राप्त होते हैं। विष व्यवसाय वालों को कुछ-न-कुछ विषका असर होता है। उपदंश और अधिक शराब सेवनसे वातवहा नाड़ियो मे विकृति हो जाती है। इस तरह गाजा या चरस का अधिक सेवन करते रहने से उन्माद रोग होजाता है।

वातनाड़ी शूल—(Neuralgia)—शरीर के किसी भी भाग मे चलने पर अतिशय सविराम वेदना होती है। यह वेदना अकस्मात् आरम्भ होती है। एवं नाडी गति के अनुसार अनुभव मे आती है।

नेत्रगुहकी रचना के भीतर शूल विशेषतः पाचवी नाडी की शाखा के विकृति के साथ प्रकाशित होती है।

दात या डाढ़ मे शूल दंत क्षत (Caries), शीत लगना तथा दात शिथिल बनने पर मधुर पदार्थका अधिक सेवन आदि कारणो से अथवा दातो को स्वच्छ नहीं रखने पर उपस्थित होता है।

वेष्टनवेदना—(Girdle pain) होने पर कपड़े को निचोड़ने के सदृश वेदना होती है। वह वेदना वक्ष, उदर, जानु, पैर, आदि स्थानो पर होती है।

चमक वत्—(Fulgurant pain)—यह वेदना ठहर-ठहर कर उत्पन्न होती है। यह तक्षण काटने के समान होती है। शकुन्तगति रोगमे भी प्रतीत होती है।

शिरोवेदना—(Head ache)—यह वेदना अनेक हेतुओं से उत्पन्न होती है। वात नाड़ी विकार, मस्तिष्क के अस्थिकी पीडा, मस्तिष्क की अस्थिकी आमवातज वेदना, मस्तिष्कास्थि के आवरणका उपदंश या अन्य

हेतुओं से प्रदाह, नेत्र, कान, दाँत और नाक के रोग आदि कारणों से भी यह वेदना उपस्थित होती है।

मस्तिष्क प्रदाह हो तो अतिशय अविराम शिर दर्द होता है। बीच-बीच में वेदना बढ़ती है। ज्वर, वमन, प्रलाप आदि लक्षण भी होते हैं।

मस्तिष्क विद्रधि होने पर मंद-मंद पीड़ा दीर्घकाल स्थायी होती है। मस्तिष्क मे रक्त संग्रह या रक्त दबाव वृद्धि होने पर शिर में भारीपन या मंद-मंद वेदना होती है। शिर नीचा करने, सोने या परिश्रम करने पर वेदना बढ़ती है।

मस्तिष्क में अर्बुद होने पर तीव्र पीडा होती है और बीच-बीच मे बढ़ती है। मस्तिष्कावरण में प्रदाह प्रबल शिर दर्द बना रहता है।

अनेक यन्त्रो की नाड़ियो मे विकृति होने पर भी सामान्यतः प्रति फलित रूप से शिर दर्द होता है। ज्वर, मलावरोध आदि रोगो में इसी तरह प्रति फलित शिर दर्द होता है।

शुक्रक्षीणता—शुक्रक्षीणता होने पर निद्रावृद्धि, तन्द्रा, अग्निमान्द्य, हतोत्साह, व्याकुलता, निस्तेजता, दृष्टिमान्द्य, स्मरण शक्ति की न्यूनता और मानसिक अस्थिरता आदि लक्षण हो जाते हैं। अति स्त्री-सहवास, प्रमेह, हस्तमैथुन, स्वप्नदोष, तीव्र संक्रामक ज्वर, विष प्रकोप, शराब, सिगरेट, गरम-गरम चाय, तमाखू, गांजा, ज्वरस आदि का व्यसन, अम्ल और उष्ण पदार्थों का अति सेवन, प्रतिकूल आहार-विहार, मानसिक चिन्ता आदि से शुक्रक्षय होता है।

मूर्च्छा-बेहोशी—मस्तिष्क में रक्तसंग्रह, मस्तिष्क में रक्तस्राव, मस्तिष्कावरण मे रक्तस्राव, मस्तिष्क को रक्त वाहिनी में अवरोध, मस्तिष्क प्रदाह, हिस्टीरिया, मस्तिष्क पर चोट लगना, रक्त मे मूत्रविष वृद्धि, मधुमेहज विष प्रकोप, अफीमविष, शराब का नशा, अपस्मार, क्षणिक बेहोशी (Syncope), लू लगना, श्वासावरोध, ग्रहावेश तथा मानसिक आघात पहुँचने पर मनुष्य बेहोश हो जाता है। इसके अतिरिक्त विविध औषधियो की क्रिया द्वारा भी बेहोशी और मूर्च्छा होती है।

पूर्णज्ञान लोप (Stuper) अफीम का नशा, वृक्कसंन्यास, मधुमेहज संन्यास, अपस्मार तथा तीव्र मानस आघात या मस्तिष्क पर प्रबल चोट (Concussion) में ज्ञान का नाश हो जाता है। इसमे ज्ञानावस्था मे ही मलमूत्र त्याग भी हो जाता है।

हिस्टीरिया में चेतना ज्ञान मंद होता है। वृक्क संन्यास, अफीम विष, क्षणिक बेहोशी, लू लगना, श्वासावरोध और ग्रहावेशज बेहोसी में सावेदिक ज्ञान में विकृति आ जाती है।

मस्तिष्क या मस्तिष्कावरण का प्रदाह होने पर सांवेदिक ज्ञान तीव्र हो जाता है।

पूर्ण बेहोशी (Coma) दीर्घ काल तक शीत लगना, विविध विष सेवन, मस्तिष्क और मुखमण्डल का विसर्प, रक्तस्राव में अनेक शल्य आजाना, मस्तिष्क मे रक्तस्राव तथा अत्यन्त ज्वराधिक्य, आदि रोग में चेतना शक्ति का पूर्णांश मे लोप हो जाता है। एवं मधुमेह आदि रोगो से उत्पन्न विष मस्तिष्क में पहुँचने पर भी पूर्ण बेहोशी आ जाती है।

मस्तिष्क में रक्तसंग्रह, मस्तिष्क में रक्तस्राव, मस्तिष्क पर प्रबल आघात, वृक्क संन्यास, अफीम विष, शराब का अत्यधिक नशा और अपस्मार जनित मूर्च्छा मे चेतना शक्ति (संवेदना ज्ञान) का पूर्ण लोप होता है या स्थगित होती है।

मस्तिष्क की रक्तप्रणालियों मे अवरोधज मूर्च्छा होने पर चेतना शक्ति का आंशिक लोप होता है।

मूर्च्छा में उत्तापविकृति—मस्तिष्क में रक्तसंग्रह, मस्तिष्क मे रक्तस्राव की अन्तिमावस्था, मस्तिष्क प्रदाह, अपस्मार और लू लगने से उत्पन्न मूर्च्छा में शारीरिक उत्ताप बढ़ जाता है।

मस्तिष्क रक्तस्रावक प्रथमावस्था, मस्तिष्कगत रक्त वाहिनी का अवरोध, मस्तिष्क पर चोट लगना, अफीम विष, शराबाधिक्य, क्षणिक बेहोशी और श्वासावरोधज मूर्च्छा आनेपर शारीरिक उत्ताप घट जाता है।

वृक्क सन्यास मे क्रमशः उत्ताप कम होता है। अफीम विषमे स्वल्प ह्रास होता है। हिस्टीरिया और ग्रहावेशमे उत्ताप स्वाभाविक रहता है।

अपस्मार—(Epilepsy) का आरम्भ कितनेक विद्वानों की मान्यता अनुसार अन्त्र में कृमि, अधिक स्त्री-सहवास, हस्त मैथुन, दन्तोद्गम, उपदंशज विष आदि हेतु से होता है। इनमे अनेकों को अन्त्रस्थ कृमि के विष से छोटी आयु में आरम्भ होता है। ३०-३५ वर्ष के पश्चात् आक्रमण बहुत कम होता है।

अपस्मार का वेग कभी-कभी निद्रामे भी आता है। वेग उत्पन्न होने के पहले सूचना मिलती है। तथापि इतने कम समय पहले कि, कई दफा रोगी सम्हल नहीं सकता। सहसा गिर जाता है। कभी गिरने मे चोट भी लग जाती है। सम्हाला न जाय, तो जिह्वा भी कट जाती है। मुँह मे झाग आते हैं। अपस्मार मे वेगशमन होने पर निद्रा आती है या पक्ष वध, शिरःशूल या भ्रम, प्रलाप, उत्पन्न होता है। पक्षाघात तो मस्तिष्क की रक्तप्रणाली फटजाय या उसका अवरोध होजाय, तो ही होता।

अपस्मारमें ऐच्छिक पेशियो का पहले दृढ़ आकुंचन होता है। फिर द्रुताक्षेप होता है। पेशियो का सत्वर आकुंचन-प्रसारण होता है। स्वर यंत्र में आक्षेप हो तो श्वास क्रिया कष्ट से होती है। हृदय पर आक्षेप हो तो हृदय क्रिया विकृति होती है।

हिस्टीरिया—(Hysteria) का आरंभ विशेषतः युवतियो को होता है। आधीसे अधिक स्त्रियो को एक संतान होने पर रोग शमन होजाता है। इसका प्रारंभ मानसिक उद्वेग से होता है। इसके वेगकाल में कुछ संज्ञा रहती है; कण्ठमें वायु गोला आने से रोगिणी अचेत-सी होजाती है; तथा वेग शमन होने पर हँसना, रोना या उन्मत्त-सा बर्त्ताव प्रतीत होता है।

हिस्टीरियाके आक्रमण मे चोट लगना, जलना, जिह्वा कट जाना आदि का भय नहीं है। इसमे मानसिक वृत्ति उत्तेजित होती है। इसी हेतुसे हास्य, रुदन आदि होते हैं। इस रोग में भी आक्षेप आते हैं।

अपस्मारमें चेतनाका पूर्ण लोप और हिस्टीरिया में आंशिक लोप होता है। इसमे मुख मण्डल लाल (अपस्मार मे नीला) होता है। झाग नही आते। मुखका भाव विकृत नही होता। अपस्मार का वेग स्वल्प स्थायी होता है। हिस्टीरिया का वेग दीर्घ स्थायी होता है। हिस्टीरिया का सम्बन्ध गर्भाशय के साथ रहा है।

चेतना विकार—हिस्टीरिया रोगमें भिन्न-भिन्न स्थानो की त्वचा की चेतना शक्तिका ह्रास होता है। इस रोग मे कभी स्थानिक या प्रान्तिक या सार्वाङ्गिक चेतना का लोप होता है। यह चेतना लोप कभी पूर्ण और कभी अपूर्ण होता है। दहिनी ओर की अपेक्षा बायी ओर आक्रमण अधिक होता है।

वात नाडी विकृति तथा मस्तिष्क और सुषुम्णा के रोग के हेतुसे स्थानिक त्वचाकी चेतना शक्ति का ह्रास होता है। वात नाडी प्रदाह, वात-नाड़ी पर अर्बुद, वातनाडी कट जाना या शीत लगजाना आदि कारणो से त्वचाकी चेतना मंद होजाती है।

हिस्टीरिया और शकुन्तगति रोग मे मास पेशियो की चेतना का ह्रास या लोप होता है।

पक्षवध—वातनाड़ी संस्था मे विकृति, वात नाडी के अन्त भाग मे पीडा, रक्त संचालन मे विलक्षणता, मास पेशियो की विकृति; सोमल, शीशा पारद, शराब आदि का विष, प्रबल संक्रामक ज्वरमे विष प्रकोप तथा क्विनाइन आदि औषधियो का अति योग होने पर पक्षाघात होता है।

ऐच्छिक पेशियों की क्रिया और क्षमता का लोप तथा सार्वाङ्गिक या स्थानिक चेतना लोप या ह्रास को पक्षाघात कहते हैं। दोनों का लोप होने पर पूर्ण पक्षाघात, एक का होने पर आंशिक पक्षाघात कहलाता है।

वाचाशक्ति ह्रास (Aphasia)—अर्थात् मन का भाव वाणी द्वारा दर्शाने में अक्षमता। यह विकृति मस्तिष्क की पीड़ितावस्था से उत्पन्न होती है। किसी को वाचा और धारण शक्ति, दोनों का ह्रास (**Amnesic aphasia**) कहते हैं। यदि लिख कर भाव न दर्शा सके तो लेखन और वाचा शक्ति नाश (**Graphomotor aphasia**) कहलाता है।

बेरी-बेरी (Beri-Beri) — रोग के २ प्रकार हैं—क्षीणता-सह और शोथ सह। इस रोग की सम्प्राप्ति अयोग्य आहार से होती है। रोगारम्भ के पहले रोगी दिनों तक या सप्ताहों तक निस्तेज और अति थका हुआ भासता है। किसी-किसी के शिर दर्द, शीत लगना, मुखमण्डल स्फीत आदि लक्षण भी होते हैं। रोग उत्पन्न होने पर दोनों पैरों के आगे के हिस्से में शोथ-ग्रस्त, चलने में असमर्थता, चलने से जाँघ में अति वेदना होना, कभी-कभी वेदना युक्त आक्षेप आना कोई प्रदेश मे खिंचाव आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

प्रकाश की असहन शीलता—पागल कुत्ता काटने पर वात नाड़ी में विकृति हो जाती है। जिससे नेत्र से प्रकाश सहन नहीं होता; दृष्टिमान्द्य होता है। नेत्र की एक या अधिक पेशियों का वध होता है। एवं आशुकारी मस्तिष्कावरण प्रदाह की प्रथमावस्था मे मास्तिष्क की सर्व धमनियाँ रक्त पूर्ण हो जाती हैं; जिससे प्रकाश सहन नहीं होता।

दूर-दृष्टिमान्द्य—विविध मस्तिष्क पीड़ा, विशेषतः मस्तिष्क के अर्बुद तथा मस्तिष्कावरण प्रदाह की तृतीयावस्था मे उधिता (**Amaurosis**) उपस्थित होती है। इस तरह सुषुम्णा के विकार में भी कभी-कभी दृष्टि विकृत हो जाती है। आमाशय, गर्भाशय, वृक्कस्थान आदि के रोग तथा तमाखू और शराब के अति सेवन से वात नाड़ी विकृत हो कर दृष्टिमान्द्य हो जाता है।

दृष्टि क्षेत्र विकृति—अर्धावभेदक, तमाखू विष प्रकोप, दर्शन नाड़ी शोष, दर्शन नाड़ी प्रदाह आदि रोगो में दृष्टिक्षेत्र का ह्रास होता है। दर्शन क्षेत्र के भीतर काला दाग हो जाता है। नेत्र में कनीनिका के ऊपर फूला पड़ने पर उस भाग की दृष्टि नष्ट हो जाती है। कभी-कभी दृष्टि मणि के एक पार्श्व में अर्ध दृष्टि क्षेत्र का नाश (**Hemiopia**) होता है। इसके अतिरिक्त दृष्टि नाड़ी मूलिका (**Optic tract**), आज्ञा कन्द (**Thalmus**), अधि पीठिका (**Corpora Geniculate**) मस्तिष्क का पश्चिम पिण्ड, दृष्टि नाड़ी योजनिका

(Optic commissure) आदि में वात **नाड़ी** पीड़ा होने पर अर्धदृष्टि नेत्र नाश पैदा होता है।

तृतीया नाडी नेत्र की कितनीक पेशियों का सञ्चालन करती है। उसका वध होने पर किसी के ऊर्ध्व पलक का वध, किसी के नेत्र गोलक का स्थान भ्रष्ट हो कर द्विदृष्टि हो जाता है, तथा किसी को समीप की दृष्टि का नाश होता है।

चोथी नाडी का वध होने पर पलक की शिथिलता, कनीनिका का प्रसारण, द्विदृष्टि तथा समीप की दृष्टि का नाश आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

छठवी नाडी का वध होने पर दृष्टि तिर्यक् हो जाती है। एवं शिर दर्द, उबाक और वमन उपस्थित होते हैं।

नेत्र नाड़ी का वध—शकुन्तगति रोग, उपदंश, अर्धाङ्गवात और कण्ठरोहिणी मे कभी-कभी नेत्र की वात नाडी का वध हो जाता है।

नेत्र पेशी वध—आमवात, शीतला, आगन्तुक व्यथा, स्थानिक उग्रता तथा पाँचवी नाडी के तन्तुओं की उग्रता होने पर तथा मस्तिष्क, सुषुम्णा, वातनाड़ी कंद आदि के विकार से कभी-कभी नेत्र की माँस पेशियों का वध होता है।

कनीनिका विकृति—दृष्टि विकार, नेत्र दर्पण उत्तेजना, तृतीया नाडी या मस्तिष्क, सुषुम्णा आदि से उग्रता, सञ्ज्ञावहा नाडियो की उत्तेजना और कितनीक ओषधियो के प्रयोग से कनीनिका प्रसारित होती है।

शकुन्त गति रोग में प्रकाश डालने पर भी कनीनिका आकुंचित नही होती; किन्तु समीप की या दूर की वस्तु देखने के समय कनीनिका के आकुंचन और प्रसारण प्रतीत होते हैं।

चक्षुनाड़ी शोषज दृष्टिमान्द्य—मस्तिष्कार्बुद, मस्तिष्कावरण प्रदाह, शीर्षोदर, उपदंश, मधुरा, लू लग जाना तथा नेत्र नाड़ी प्रदाह होने पर चक्षुनाड़ी का शोष होता है। एवं नेत्रगोलक श्वेताभ और हरिद्राभ होता है। एवं तमाखू, शराब आदि के विष, शकुन्त गति रोग, उन्मादसह पक्षाघात और अधिक रक्तस्राव होने पर भी नेत्रनाडी का शोष होता है।

नेत्रदर्पण (Retina) में पीड़ा—दर्शन नाडी प्रदाह का विस्तार होने पर नेत्रदर्पण का प्रदाह होता है। फिर नेत्र की शिराओ मे से स्थान-स्थान पर रक्तस्राव होता है तथा उसके वात नाडी तन्तुओ की अपक्रान्ति होती है। वृक्क प्रदाह होने पर नेत्रदर्पण प्रदाह एवं नेत्र मे अधिक रक्तस्राव हो—

फिर मेदापक्रान्ति होती है । इस तरह मधुमेह से भी नेत्रदर्पणप्रदाह हो जाता है।

श्रवणेन्द्रिय विकृति—मस्तिष्क का पश्चिम खण्ड, अनुमस्तिष्क, मस्तिष्कावरण प्रदाह, हिस्टीरिया, मधुरा, रोमान्तिका आदि रोग एवं क्विनाइन का अत्यधिक सेवन होने पर सुनने की शक्ति का ह्रास होता है। हिस्टीरिया में सामान्यतः जोर से आवाज देने पर असह्य मालूम होती है। आशुकारी रोग; उन्माद और अर्दित रोग में कान की चेतना शक्ति उत्तेजित होती है।

कर्ण पीड़ा—वर्षाऋतु में जल आने पर नदी या तालाव मे स्नान करने से कान मे शूल चलने लगता है। कान मे पीडा होने पर भी शक्कर अधिक खाने अथवा कान को ठंडी वायु या ठंडा जल लगने से रोग बढ़ जाता है।

स्वादेन्द्रिय क्रियाविकृति—हिस्टीरिया और उन्माद रोग मे स्वादशक्ति तेज होती है। जिह्वा मलावृत या अति शुष्क हो, तो स्वादशक्ति का ह्रास होता है। एवं जिन रोगों में क्षुधा का नाश होता है, उन रोगों मे स्वादेन्द्रिय की क्रिया का लोप होता है।

घ्राणेन्द्रिय क्रिया विकृति—हिस्टीरिया सर्वाङ्गवध रोग मे घ्राणशक्ति उत्तेजित होती है। स्थान विशेष मे श्लेष्मावरण के मस्से (Polypus) उत्पन्न होने, प्रतिश्याय तथा श्लैष्मिक कला की शुष्कता होने पर घ्राणेन्द्रिय की क्रियाशक्ति में विकृति होती है। एवं मस्तिष्क अर्बुद, मस्तिष्क पर चोट लगना तथा शकुन्त गति से रोग में घ्राणेन्द्रिय की वात नाडियो की चेतना का ह्रास होता है।

आक्षेप (Spasm)—जराजन्य कम्प (Parkinson's disease) होने पर सामान्यतः जिह्वा और ओष्ठ का कम्प उत्पन्न होता है। मृगी, वृक्कसंन्यास, हिस्टीरिया आदि रोगो मे सविराम द्रुताक्षेप तथा विविध वातनाडी पीडा से प्रबल आक्षेप उपस्थित होता है।

रक्तप्रणालियों के सञ्चालन और पोषणक्रिया में विकृति—मृगी, हिस्टीरिया अमिल नाइट्रास का नस्य तथा कितनीक औषधियों का सेवन करने पर त्वचा से सम्बन्ध वाली वात नाडियाँ उत्तेजित होती हैं। जिससे त्वचा पर लाली आ जाती है। इसी तरह ज्वर रोग मे वात नाडियाँ उत्तेजित होकर रक्तसंचालन संस्था मे उग्रता लाती हैं। इन रक्तवाहिनियो के आकुंचन शिथिलता के ऊपर कितनेक ज्वरो की शीतावस्था, उष्णावस्था और घर्मावस्था अवलम्बित है।

वातनाडी केन्द्र की विविध व्याधियों में त्वचा की केशिकाओं की क्रिया में अन्तर हो जाता है। हिस्टीरिया, मृगी और तुंगाक्ष गलगण्ड में एक ओर स्वेद आता है और दूसरी ओर त्वचा शुष्क रहती है।

वात नाड़ियों की विकृति के हेतु से अर्धाङ्ग वात में विविध अवयवो में रक्तसंग्रह, मानसिक उत्तेजना वशतः मासिकधर्म के स्राव में वृद्धि आदि व्यतिक्रम प्रतीत होता है।

प्राणगुहा (Forth ventricle), सुषुम्णा और सुषुम्णाकाण्ड में विकृति होने पर बहुमूत्र (Diabetes Insipidus) मूत्र मे शुभ्र प्रथिन जाना और मधुमेह की संप्राप्ति होती है। शुभ्रप्रथिन जाने पर मुख पर कुछ सूजन भी आती है।

ज्ञानप्रकाशाधिक्य—मानसिक उत्तेजना होने पर बुद्धिवृत्ति मे स्फूर्ति आती है। शराब, अफीम, गाँजा आदि मादक द्रव्यो के सेवन, उन्माद और प्रलाप आदि में पहले मानस वृद्धि उत्तेजित होती है। धारणाशक्ति स्मरणशक्ति, विवेकशक्ति, विचारशक्ति ये सब इस वृत्तिका विकास है। शराब, आदि मे स्फुरण की अति वृद्धि होने पर फिर विकृतावस्था आ जाती है।

उन्मत्तावस्था—क्षय, वातरक्त और आमवात—इन तीनो में शारीरिक अत्यधिक उत्ताप होना, सूतिका रोग, हिस्टीरिया, विषमज्वर, पाण्डु, सर्वाङ्गिक घनशोथ (Myxedema) और उपदंश आदि रोगो में रक्त मे विषवृद्धि होकर उन्मत्तावस्था उपस्थित होती है। स्त्रियो को संकटकाल में मानस आयातज उन्माद (Climacteric Insanity) हो जाता है। युवा व्यक्तियो को कामोत्तेजना होने पर कामोन्माद उत्पन्न होता है।

विपरीत ज्ञान (Illusion)—त्रिदोषज तीव्रप्रलाप (Delirium) न्यूमोनिया, इन्फ्लूएन्ज़ा, मधुरा आदि ज्वर, शारीरिक निर्बलता, अति भय लगना, मस्तिष्क और मस्तिष्कावरण का प्रदाह, मादक उग्र विष सेवन तथा अपस्मार आदि आक्षेप की निवृत्तावस्था मे किसी-किसी को विपरीत ज्ञान हो जाता है। फिर रोगी हितचिन्तक को शत्रु, सम्बन्धी को अपरिचित और अपरिचित को स्नेही मान लेता है।

संशयोन्माद (Douting Insanity)—में विविध संशय उत्पन्न होते हैं। फिर उसी आधार पर रोगी विपरीत धारणा कर लेता है।

कल्पना ज्ञान (Delusion)—जीर्ण उन्माद के कतिपय रोगी तथा मस्तिष्क की कठोरता या कोमलताप्रद रोग में रोगी कल्पित भावना करके उसके अधार पर हवाई किला बनाता है।

आंशिक ज्ञान लोप—मूढ़ता (Idiocy)—रोग, मन की संयम शक्ति

और इन्द्रिय की दमन शक्ति की क्षीणता, विचार शक्ति और धारण शक्ति की न्यूनता, शोकोन्माद (Melancholia), निन्द्राउन्माद (Somnabulism), ग्रहावेश (Catalepsy) तथा अर्ध मूर्च्छा (Coma vigil) आदि रोगों में ज्ञान का आंशिक लोप होता है।

स्मृति नाश (Dementia)—मस्तिष्क पर आघात, मस्तिष्कगत व्याधि तथा मृगी रोग में न्यूनाधिक स्मृति का नाश होता है। इस प्रकार में निद्रा या तन्द्रा अधिक उत्पन्न होती है। इन कारणों से तथा उन्माद विकृति से कभी-कभी विपरीत स्मृति ज्ञान (Hallucination) भी हो जाता है।

निन्द्राधिक्य—वृद्धावस्था मे हृदय की क्षीणता, धमनी पीड़ा और मस्तिष्क के पोषण मे न्यूनता होने पर, उन्माद विकृति, विषमज्वर, रक्त में मूत्र विष वृद्धि, उपदंश, अपचन, मधुमेह, मेदोरोग, लू लगना, मस्तिष्क में रक्त संग्रह, मस्तिष्क मे से रक्त ह्रास, देह-शोषक व्याधिया तथा मस्तिष्क पर तीव्र अघात होना आदि कारणों से निद्रा में अस्वाभाविक वृद्धि होती है। इस तरह यकृत् पित्त प्रकोप तथा यकृत् क्रिया विकृति से अपचन होने पर भी निद्रा की वृद्धि होती है।

कभी-कभी पाण्डु रोग मे दिन मे निद्रा आती है और रात्रि को अनिद्रा हो जाती है। उपदंश रोग में पहले निद्रानाश रहता है, किन्तु तृतीयावस्था मे निद्रा की वृद्धि हो जाती है। वातनाडियाँ निर्बल होने पर रेलगाड़ी, मोटर, बैलगाडी आदि मे मुसाफरी करने पर निद्रा आने लगती है। एवं ग्रन्थ पठन या मनन और ध्यान करने पर निन्द्रा उपस्थित होती है। किसी किसी को शान्त बैठे रहने पर निद्रा सताती है। अफीम का व्यसन जीर्ण हो जाने पर यह स्थिति प्रायः उत्पन्न हो जाती है।

किसी किसी को वातनाडी विकृति होने पर अस्वाभाविक निद्रा आती है। इस अवस्था मे सुषुम्णा केन्द्र में अस्वाभाविक उत्तेजना वृद्धि तथा मस्तिष्क के **दमनकारी** नाडियों के केन्द्र मे उत्तेजना का ह्रास होता है। इस हेतु से गाढ़ निद्रा मे मूत्र-त्याग या **रेतः** पात हो जाता है।

अपस्मार रोगी को आक्षेप के अतिरिक्त काल मे वातनाड़ी विकृति के हेतु से निद्रा के भीतर आक्षेप उत्पन्न होता है। फिर निद्रा के दमन मे असमर्थ होता है।

अस्वाभाविक निद्रा (Trance)—हिस्टीरिया और उन्माद रोग में किसी-किसी को कितनेक दिनों तक निद्रा आती रहती है। रोगी सुनता है तथा आदेश (Suggestion) का पालन करता है। किन्तु वेदना का

अनुभव, स्वाद, गंध आदि इन्द्रिय ज्ञान नहीं रहता। श्वास क्रिया, हृदय क्रिया, अन्त्र क्रिया तथा शारीरिक उत्ताप, ये सब कम हो जाते हैं।

मस्तिष्कोपदंश, मस्तिष्क में अर्बुद तथा वृद्धावस्था या उन्माद रोग में अपक्रान्ति होने से निद्रा अत्यधिक आती है। मस्तिष्क के उपदंश निद्राधिक्य में रोगी अर्ध निद्रितावस्था में सोता या बैठा रहता है। कलायिका-चतुष्टय (Corpora quadrigemina) या पार्श्विक खण्ड (Perietal lobe) में अर्बुद उत्पन्न होने पर निद्रातुरता और बेहोशी, दोनो प्रतीत होते हैं।

निद्रानाश—(Insomnia)—सामान्यतः वातविकार, रक्तसंचालन यन्त्र में विकृति, वातरक्त आदि रोगो का पूर्व रूप, विविध रोगो को विप-प्रकोप तथा तमाखू आदि का विप, इन कारणो से निद्रानाश होता है, विविध वेदनामय व्याधि, वात नाड़ी केन्द्र की उत्तेजना होने पर निद्रा नही आती। तेज चाय आदि गरम पेय, क्रोध, तीव्र ज्वर और कितनेक प्रकार के उन्माद रोग में वात नाड्यिो मे उत्तेजना आने से निद्रा दूर हो जाती है। वातरक्त, **रक्त में वृद्धि** (Lithemia) रक्त में मूत्र लवण वृद्धि, रुधिर में मूत्रलवण (Urates) बढ़ जाने पर सिकतामेय (Lithuria) की संप्राप्ति होती है। गौण उपदंश आदि रोग में कष्ट से निद्रा आती है। वृक्कप्रदाह, हृद्रोग तथा धमनी विकार होने पर निद्रा देर से आती है। बहूमूत्र और आमाशय विकार में निद्रा बीच में टूट जाती है।

हृदय पीड़ा में मृत्यु होने का स्वप्न आता है। मस्तिष्क की रक्त प्रणाली का भेदन होकर रक्तस्राव होने के पहले भयप्रद स्वप्न आता है। कितनेक तीव्र ज्वरो मे कभी-कभी ज्वर बढ़ने के पहले भयानक स्वप्न उपस्थित होता है। प्रादाहिक पीडा, राजयक्ष्मा, रक्तपित्त मे स्वप्न के भीतर **अग्नि दर्शन** होता है। देह मे उग्रता होने पर वेदना होनेका स्वप्न आता है। बालक के रक्त मे कृमि, विप, मूत्र विप या अन्य विप की वृद्धि होने पर वह अकस्मात् डर कर जाग जाता है।

वक्तव्य—वात संस्थान के अन्य रोगों के विशेष लक्षण मालूम करने की विधि ६ वे प्रकरण में लिखी जायगी।

८—अस्थि और संधिस्थान के लिये प्रश्न

रोगी के परिवार में से किसी को क्षय, उपदंश, आमवात अथवा वातरक्त हुआ था? उसे स्वयं को क्षय, वातरक्त, आमवात, उपदंश या सुजाक पहले कभी हुआ था? उसे कभी चोट तो नही लगी? स्त्री रुग्णा हो तो वह

प्रदर से पीडित रहती है। अगर उसकी अस्थि में पीडा होती है तो वह रात्रि या दिन मे कब ज्यादा होती है? अगर पीडा संधि में है, तो वह निरन्तर होती रहती है या संधि मे गति उत्पन्न होने पर ही होती है? पीडा पर ऋतु विशेष का क्या प्रभाव है? क्या पीडा एक सन्धि से दूसरी सन्धि को स्थानान्तरित होती रहती है?

उपदंश, क्षय, आमवात और वातरक्त माता-पिता को होने पर संतान की अस्थि और संधियाँ रोगी होती हैं। उपदंश के विष से अस्थि-दोष के अतिरिक्त विविध प्रकार के विकार संतान को मिलते हैं। दाँतो की रचना विकृति, गुदशूक, नाड़ीव्रण, ओष्ठ और नासिका में चीरे, कण्ठ देश में छिद्र, त्वचा या श्लैष्मिककला मे मृदु लसदार अर्बुद (Gumma), त्वचा पर सिलवट हो जाना, नासिका से श्लेष्मस्राव होता रहना, रक्त-संचालन मे विकृति, शिरदर्द, यकृत्, फुफ्फुस आदि अवयवो की क्रिया विकृति, नेत्र प्रदाह, नेत्र के शुक्ल मण्डल का प्रदाह आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। एवं अनेक बच्चे छोटी आयु में ही चले जाते हैं।

माता को क्षय हो या शारीरिक निर्बलता हो, तो बच्चो की अस्थियाँ निर्बल होती हैं। फिर कितनेक बालको को अस्थिवक्रता (Rickets) आदि रोग हो जाते हैं।

आमवात और वातरक्त का विष माता-पिता की देह में उपस्थित होने पर बच्चे की हड्डियाँ कमजोर होती है तथा रोगानुसार अन्य उपद्रव भी होते हैं। आमवात का विष हेतु हो तो बच्चे को हृदय की निर्बलता और कभी अकस्मात् तीव्र संधि-शूल होता है।

आमवातज संधि पीडा है तो अनेक बार अकस्मात् उपस्थित होती है। शीतल वायु लगने पर दिन मे और बहुधा रात्रि को इसका आक्रमण होता है। शक्कर वाले पदार्थ खाने पर और वर्षाऋतु में इसका भय अधिक रहता है। आमवातज पीड़ा एक संधि मे से दूसरी संधि मे चली जाती है।

वातरक्त वशवर्ती बालक को अस्थियो की निर्बलता के अतिरिक्त रोग होने के पहले अत्यन्त क्षुधा लगना, भोजन कर लेने पर भी तृप्ति न होना, मलावरोध तथा प्रबल चर्मरोग होते हैं। इस रोग में वृक्क भी विकृत हो जाता है।

इस रोग का आक्रमण कुछ घण्टे निद्रा लेने के बाद पैरो के अँगूठे में अत्यन्त वेदनासह होता है।

रोगी को ही उपदंश सुजाक आदि रोग हुए हो और उनका विष शरीर

में रहा है, तो अस्थि-प्रदाह, संधि-प्रदाह (Arthritis) और अन्य अनेक रोग उत्पन्न कर देते हैं।

जीर्ण प्रदर रोग होने पर देह अति निर्बल बन जाती है। तथा हड्डियाँ भी कमजोर हो जाती है। साथ में प्रदर के अन्य लक्षण—किसी-किसी को वेदना, किसी को मासिक धर्म मे विकृति, किसी को योनि कण्डू, अति निस्तेजता, शिर दर्द, क्षुधामान्द्य, हृत्स्पन्दनवृद्धि आदि उपस्थित होते हैं। मासिक धर्म मे अति पीड़ा होकर स्राव होता है। फिर उसके संगृहीत विष प्रकोप से अनेक बार अस्थियो मे शूल भी उत्पन्न हो जाता है।

६—बालरोग परीक्षा

अगर रोगी बालक है, तो उसकी माता या संरक्षक को आवश्यकतानुसार निम्न प्रश्न पूछने चाहिये।

बच्चे के भाई बहन कितने हैं? कितने मर गये तथा कितने जीवित हैं? मरने वाले अक्सर किस रोग से मरे हैं? माता-पिता और उनके माता-पिता आदि का स्वास्थ्य कैसा है? सगर्भावस्था मे माता का स्वास्थ्य कैसा था? क्या बच्चा गर्भाशय में पूर्ण समय (२८० दिन) रहने के पश्चात् ही जन्मा है? प्रसवकाल मे कष्ट ज्यादा तो नही हुआ? कभी माता को गर्भस्राव या गर्भपात हुआ है? क्या माता बच्चे को स्तन-पान कराती रही है? अगर स्तन-पान पर पाला है तो कितने समय तक? अगर स्तन-पान न कराया हो तो उसका पोषण किस प्रकार किया गया? धाय रखकर, गो दुग्ध, बकरी का दूध या डिब्बे का दूध पिला कर? पैदा होनेके बाद उसके शरीर पर पिडिकाये तो नही निकली? नासास्राव होता रहता था? इस समय उसे क्या भोजन दिया जा रहा है? दाँत निकलने का आरम्भ कब से हुआ था? उसका कान तो नही बहता रहा है? उसे काली खाँसी, अतिसार या अजीर्ण तो नही है? वह चलना, फिरना, और बोलना कब सीखा है?

उसकी पाचन शक्ति और अन्त्रकी दशा कैसी है? दस्त का रंग कैसा है? दस्त पतले होते है? कब्ज रहता है? यकृत बढ़ा हुआ है? उदर मे पीड़ा होती है?

इससे पूर्व उसे कौन से रोग हुए हैं? विशेषकर सक्रामक रोग—जैसे शीतला, रोमान्तिका, आमवातिक ज्वर, विजोहित ज्वर और काली खाँसी तो नही हुई है? अगर हुए हैं तो कितने वर्ष की अवस्था में? उसे किसी प्रकार की मूर्छा आती है? वेग आक्षेप (धनुर्वात), अतिसार, वमन, गल विद्रधि या और कोई रोग हुए थे? आक्षेप आये हो तो कितनी बार और कब? कास

तो बार-बार नहीं होती है ? अगर बच्चे को कास है तो वह शुष्क है ? कौन से समय पर अधिक चलती है, एवं चलते-चलते वमन हो जाती है ?

बाल्यावस्था में देह सबल रहे, तो वृद्धावस्था तक अधिक रोग नहीं आ सकते। इसके विपरीत जो बालक छोटी आयु में कमजोर रहते हैं वे बारबार युवावस्था में भी रोगी बन जाते हैं।

माता रोगिणी होनेसे स्तनपान द्वारा बालक को वही रोग हो जाता है। संक्रामक ज्वर या अन्य हेतु से माता निर्बल होने पर बालको की अस्थि निर्बल रहती है और बालक बलवान नहीं बन सकता।

अपूर्ण काल में प्रसव हो जाने से बच्चे रोगी, निर्बल और बहुधा कम आयु वाले होते हैं। उपदंश रोगिणी माता की सन्तान बहुधा १-२ वर्ष के भीतर मर जाती है, अनेक बार गर्भस्राव या गर्भपात भी हो जाता है।

माता के शरीर में अधिक उष्णता, रक्त-विकार, सूतिका रोग या हृद्रोग आदि व्याधि हो, तो बालक कमजोर रहते हैं, और अनेक छोटी आयु में मर जाते हैं। पिता रोगी होने से अनेक रोग संतानों को हो जाते हैं। वंशागत रोग में इस विषय का विशेष वर्णन लिखा है।

पामा, खुजली, दद्रु, कुष्ठ, व्युची आदि रोग केवल स्पर्श द्वारा बालकों को हो जाते हैं। यदि बालग्रह, उपदंश या इतर व्याधियो से अति निर्बलता रहती हो तो दाँत देर से निकलते हैं।

आमाशय और अन्त्रकी शक्ति बढ़े बिना अन्न खिलाने का प्रारम्भ करने से पेट बडा बन जाता है और स्वास्थ्य खराब हो जाता है। एवं युवावस्था में मलावरोध के रोगी बन जाते हैं।

माता के गर्भाशय में से विष संतान की देह मे आया हो या पूय-कीटाणु का प्रवेश हुआ हो अथवा तीव्र संक्रामक ज्वर उपस्थित हुआ हो, तो बालक को आक्षेप उपस्थित होता है।

शुष्क कास की उत्पत्ति तब होती है, जब माता ने उष्ण द्रव्य-सोंठ, मिर्च, पीपल आदि पदार्थों का अति सेवन किया हो, या उत्तेजक औषध दीर्घकाल तक बालक को दी जाती है।

दाँत आने पर अतिसार होता है, वह हरा-पीला होता है। इसके अतिरिक्त विविध कीटाणुओं का रक्त में प्रवेश होने पर भी हरे-पीले दस्त लग जाते हैं। माता को संग्रहणी, प्रवाहिका, अतिसार, ज्वर आदि रोग हो, तो स्तन-पान करने वाले शिशु को भी उसी रोग की सम्प्राप्ति हो जाती है।

औषध-सेवन

रोग-परीक्षा (निदान) हो जाने पर और औषध योजना करने के पहले पूछना चाहिए कि अन्य चिकित्सक ने कौनसा रोग मानकर औषध दी है। अभी तक किस-किस औषध का किस-किस प्रकार सेवन किया गया? पहले सेवन की हुई औषधियो का क्या असर हुआ? औषध और पथ्य का श्रद्धासह दृढ़ पालन हुआ, है या नही?

जो औषध पहले दी गई हो, इनमें से जो अनुकूल न रही हो, उसके हेतु का विचार द्वारा अनुमान कर औषध देनी चाहिए। पहले वाली औषध का विष प्रभाव देह मे रहा हो, तो विष को निर्मूल करने के साथ रोग को शमन करे, ऐसी औषध देनी चाहिए। पहले दी हुई औषध से लड़ाई कर, देह को हानि पहुँचाने वाली औषध न दी जाय, इस बात का लक्ष्य रखना चाहिए। क्वचित् औषध रोग में लाभदायक होने पर भी पहले वाली औषध के विष प्रभाव, तीव्र रोग बल, या अधिक मात्रा के हेतु से विशुद्ध असर पहुँचा कर रोगी को व्याकुल कर देती है। ऐसे समय सत्य कारण जानकर अनुकूल प्रयत्न करना चाहिए।

२—शारीरिक परीक्षा

(Physical Examination)

सामान्य और विशेष प्रश्नों द्वारा वैद्य बहुत कुछ निश्चय कर लेता है कि, रोगी की अमुक संस्था ही रुग्ण है। इसके पश्चात् उसकी शारीरिक परीक्षा की जाती है।

शारीरिक परीक्षा प्रारम्भ करने के पहले वैद्य को रोगी की सामान्य स्थिति जान लेनी चाहिए; अर्थात् उसके पोषण की सामान्य अवस्था तथा प्रतीयमान अवस्था की आकृति को समझ लेना चाहिए। इस बहिरंग परीक्षा के लक्षण-चिह्नो का विशेष विचार आगे द्वितीय प्रकरण मे किया जायगा। फिर क्रमानुसार प्रत्येक संस्था की विकृति, दर्शक-चिह्नो का अनुसंधान किया जायगा। वैद्य को चाहिए कि उस अनुसंधान के अनुसार प्रत्येक संस्था की दर्शन, स्पर्शन, ठेपन और श्रवण परीक्षा से प्राप्त सूचनाओ को यथानिर्णय लिखते जायँ। बालको के लिए तो इस विधि का अनुसरण दृढ़ता पूर्वक करना चाहिए।

अगर रोगी की सम्पूर्ण संस्थाओ की परीक्षा करनी हो, तो उसे पाचन संस्था से आरम्भ होने वाले पूर्व दर्शित क्रम का अनुसरण करना, यह विशेष सुविधाप्रद रहेगा; किन्तु चिकित्सक को सबसे अधिक प्रभावित संस्था से ही

परीक्षा आरम्भ करना, यह श्रेष्ठ माना जायगा। क्योंकि ऐसा करने पर सबसे अधिक प्रभावित संस्था की परीक्षा को ही अधिक महत्त्व मिलेगा।

शारीरिक परीक्षा के साधन

१–दर्शन—इन्सपेक्शन (Inspection)
२–स्पर्शन—पल्पेशन (Palpation)
३–ठेपन—पर्कशन (Percussion)
४–श्रवण—अस्कलटेशन (Auscultation)

इन चारों साधनों का उपयोग प्रत्येक संस्था की परीक्षा के लिए किया जाता है। परन्तु प्रत्येक परीक्षा का महत्त्व सर्व संस्थाओं की परीक्षा में समान नहीं है। श्रवण परीक्षा का महत्त्व सबसे अधिक रक्तवाहक संस्था और श्वसन संस्था के लिए है। ठेपन और स्पर्शन परीक्षा का महत्त्व पचनेन्द्रिय संस्था के लिए है। दर्शन का प्रयोग सर्व संस्थाओं के रोगों में न्यूनाधिक सहायता पहुंचाता है। इन चार परीक्षाओं के अतिरिक्त छाती के मापन (Mensuration) और शरीर की ऊँचाई के नाप पर से शारीरिक वजन के साथ तुलना की जाती है। वह भी रोग के परिणाम और चिकित्सा-फल के जानने में उपयोगी होता है। परीक्षा के मुख्य चार साधनों का अत्र संक्षिप्त परिचय देते हैं। नाप, मापन और वजन का विचार द्वितीय अध्याय में यथा-स्थान किया जायगा।

१–दर्शन-परीक्षा

अनुभवी वैद्य की आँखे रोगी को देखने के साथ ही दर्शनक्रिया आरंभ कर देती हैं और उसके आयु, शारीरिक दैर्घ्य, स्थूलता-कृशता, शारीरिक गठन (रचना), मुखमण्डल की आकृति, शारीरिक शीर्णता-क्षीणता और वेशभूषा वगैरह से रोग के विषय की सहायक बातें जान लेती हैं। एवं रोगी के स्वभाव, व्यसन, आर्थिक स्थिति, रोग के बाह्य-चिह्नों पर से पाण्डुता, कामला, शोथ, अरिष्टरूप नीलता (Cyanosis), श्वास विकृति, अन्तर्वेदना, आगन्तुक व्यथा आदि का भी अनेक बार सामान्य अनुमान हो जाता है। रोग नूतन है या जीर्ण, आशुकारी है या चिरकारी, पहले उपचार योग्य हुआ है या नहीं, ऐसी बातों की भी कुछ कल्पना हो जाती है।

कितनेक रोगपीडित व्यक्ति को देखने मात्र से रोग निर्णीत हो जाता है। यथा नृत्यवात (Chorea), कर्णमूलिक शोथ (Mumps), गलगण्ड, असत्य पेशीशीर्णताजन्य वध (Pseudo-hypertrophic Paralysis) अस्थिवक्रता (Rickets) विविध चर्मरोग—यौवन पिडिका, श्लीपद, वृषण-

वृद्धि, विसर्प, पामा, दद्रु, व्युची, श्वेतकुष्ठ, बढ़ा हुआ गलित कुष्ठ, मण्डल का कुष्ठ (Lupus), शुष्क आवरणमय स्रावयुक्त क्षत (Rupia) आदि।

कभी-कभी वाह्य चिह्न आदि देखने मात्र से रोग निदान हो जाता है। यथा—ग्रीवा देश पर अस्त्र चिकित्सा देखकर कण्ठमाल या गलगण्ड का निर्णय होता है। एवं बैठी हुई नाक और दन्त-विकृति द्वारा जन्मलब्ध उपदंश का बोध हो जाता है।

इनके अतिरिक्त रोगी को प्रश्न करते समय उसके बोलने के ढंग, चेहरे के भाव, नेत्रो की स्थिति, त्वचा के वर्ण और आकृति से भी वैद्य को रोग की कल्पना हो जाती है। इस दर्शन-परीक्षा का विस्तार पूर्वक वर्णन द्वितीय अध्याय में किया जायगा। एवं स्थान विशेष के दर्शन का वर्णन स्व-स्व स्थान पर रोगो के साथ-साथ अथवा भिन्न-भिन्न संस्था के प्रकरणो मे किया जायगा। शरीर के अंग विशेष का निरीक्षण करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि, उस पर प्राकृतिक प्रकाश पूर्णतया पड़े। कृत्रिम प्रकाश से त्वचा का रंग सम्यक्तया मालूम नहीं पडता ; एवं बहुत सी बारीकी छिप जाती है। एवं चिकित्सक ऐसे स्थान पर बैठे या खड़ा रहे कि रोगी का दूसरा पार्श्व भी पूर्णतया दिखलाई देवे, ताकि तुलनात्मक दृष्टि से निरीक्षण किया जा सके। इससे मालूम हो जायगा कि अस्वस्थ पार्श्व मे स्वस्थ-पार्श्व की अपेक्षा कितना अन्तर है और अस्वस्थ ओर की क्या-क्या और कितनी विकृतियाँ हैं।

२—स्पर्शन-परीक्षा

रोग विनिर्णय में यह परीक्षा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। दर्शन परीक्षा के पश्चात् स्पर्शन परीक्षा करनी चाहिये। पहले की हुई परीक्षा से जो ज्ञान प्राप्त हुआ हो उसको स्पर्शन-परीक्षा द्वारा पुष्ट करना चाहिये। सामान्यतः स्पर्शन एक हाथ से ही किया जाता है परन्तु कभी-कभी दोनो हाथो से स्पर्शन की आवश्यकता पड़ जाती है। जैसे जलोदर मे जल की और पक्व विद्रधि में पूय की उपस्थिति मालूम करने के लिये दोनो हाथो की सहायता से तरंग उत्पन्न की जाती है। स्पर्शन में चिकित्सक को इस बात का पूर्ण ख्याल रखना चाहिये कि, उसका हाथ न अधिक उष्ण हो न अधिक ठण्डा। हाथ के अधिक ठण्ठा या गरम होने पर त्वचा सिकुड या फैल जायगी और अङ्ग की कठोरता या मृदुता का ज्ञान नही हो सकेगा। ग्रीष्म ऋतु मे साधारणतया हाथ समशीतोष्ण ही रहता है, परन्तु शीतकाल में हाथ को अवश्य गरम

कर लेना चाहिये बार-बार अग्नि पर गरम करना कठिन है, इसलिये स्पर्शन से पूर्व दोनों हाथों को जेब में रखकर गरम रखना चाहिये।

स्पर्श कोमलता से करे। अंगुलियो के अग्रभाग को अधिक दबाने से रोगी को कष्ट होता है। इसलिए सम्पूर्ण हथेली पर समान दबाव रखना चाहिये। सर्वप्रथम रुग्ण स्थान को ही दबाकर परीक्षा करना अनुचित है। रुग्ण स्थान के दूसरे पार्श्व से स्पर्शन परीक्षा का आरम्भ करना चाहिये। अगर अंग को दबाने की आवश्यकता हो तो मृदुता से दबावे। स्पर्श से अंग की मृदुता-कठोरता, शीतलता, स्थूलता-कृशता, शोथ और पीड़ादि स्थिति को जान लेना चाहिये।

३—ठेपन-परीक्षा

रोग निर्णयार्थ देह के कितनेक स्थानो पर ठेपन द्वारा आवाज का उत्पादन करके परीक्षा की जाय, उसे ठेपन परीक्षा कहते हैं। इस परीक्षा का प्रयोग स्पर्शन के पश्चात् होता है। इसका प्रयोग विशेषतः अन्त्र और फुफ्फुस की परीक्षा में है।

ठेपन ध्वनि दो रीतियों से उत्पन्न कराई जाती है। अव्यवहित अर्थात् साक्षात् ठेपन (Direct percussion) २ व्यवहित ठेपन (Bimanual percussion) कोमल अंगों की परीक्षा करने के लिये व्यवहित ठेपन क्रिया का उपयोग होता है। ऐसे अंगो पर साक्षात् ठेपन किया जायगा, तो रोगी को कष्ट होगा। एवं अंग के ऊपर की त्वचा मे प्रतिफलित क्रिया उत्पन्न होकर वह सिकुड़ जायगी। फिर अंग की सही हालत मालूम नहीं पड़ेगी।

ठेपन-विधि—इसमें चिकित्सक को दोनों हाथ प्रयुक्त करने पड़ते हैं। वाम हस्त की मध्यमाङ्गुली को परीक्षा अंग पर सपाट रख कर दाये हाथ की मध्यमागुली के सिरे से हथोडी की भाति आघात किया जाता है। इस क्रिया के करने में काफी चतुराई और अभ्यास की आवश्यकता है। इसमे आघात इस प्रकार करना चाहिये कि, कोहनी समकोण पर हो और केवल अंगुली और हाथ ही मणिबंध की संधि पर से कार्य करता रहे, अग्रबाहु कभी नहीं हिलाना चाहिये। कितनेक चिकित्सक वामहस्त की मध्यमा अंगुली के स्थान पर हाथी दांत का फलक रखते हैं और दक्षिण हस्त की अंगुली के बदले में परीक्षामुद्गर (Resonator) से ठेपन करते हैं।

ठेपनप्रकार—आघात के बलके अनुसार ठेपन के निम्न २ प्रकार होते हैं।

१. मृदु (Weak)—इस प्रकार में ठेपक (प्रहारांगुलि) इतनी कम शक्ति से प्रहार करती है, कि प्रहार शब्द भी कठिनता से सुनाई देता है।

२. मध्यम (Mediate)—केवल प्रहाराङ्गुलि हिले और हाथ (कलाई) न हिले एवं प्रहार वेग से किया जाय, वह मध्यम ठेपण कहलाता है।

३. कठोर (Strong)—हाथ को मणिबंध संधि पर से उठाकर जोर से प्रहार किया जाय, उसे कठोर ठेपन कहते हैं।

ठेपन जन्य ध्वनि—सामान्यतः ठेपन क्रिया द्वारा उत्पादित आवाज से निम्न ३ चिह्न प्रकाशित होते हैं।

१. रिक्त ध्वनि (Tympanic resonance)—अर्थात् वायुपूर्ण स्थान पर ठेपन करने से 'रिक्त' अर्थात् ढोलवत् शब्द सुनाई देता है। यथा आमाशय और अन्त्र के ऊपर।

२. घन ध्वनि (Dull resonance)—अर्थात् कठोर स्थान पर ठेपन से 'ठोस' शब्द निकलता है। जैसे कि, किसी शिला या लकड़ी पर प्रहार करने से घन शब्द सुनाई देता है। ऐसी ध्वनि स्वस्थावस्था मे यकृत्, प्लीहा आदि के ऊपर आती है। एवं इससे कुछ अंश मे मिलती ध्वनि यक्ष्मा, फुफ्फुस-प्रदाह, फुफ्फुस कोषो का आकुंचन, उरस्तोय आदि मे फुफ्फुस की वायु के परिमाण ह्रास होने पर उत्पन्न होती है।

३. सौषिर ध्वनि (Tympanitic resonance) अर्थात् जहाँ कुछ स्थान ठोस एवं कुछ स्थान रिक्त हो वहाँ पर गूँजता हुआ शब्द सुनाई देता है। जैसा कि स्वस्थावस्था मे फुफ्फुस पर आवाज आती है। एवं वायुपूर्ण फुफ्फुसावरण (Pneumothorax) आदि रोगो में लक्षित होती है।

४. विदीर्ण पात्रवत् ध्वनि (Cracked-pot resonance)—यह ध्वनि फुफ्फुसो के जिस विवर का सम्बन्ध वृहद् श्वास नलिका के साथ होता हो, उस विवर पर आती है। यह ध्वनि सौषिर ध्वनि का विकृत परिवर्तित रूप ही है।

५. कोथक ध्वनि (Amphoric resonance)—राजयक्ष्मा आदि में फुफ्फुसों के भीतर बड़ा विवर बनता है, तब बोतल के मुँह पर मुख से फूँक मारने पर जैसी आवाज निकले वैसी आवाज निकलती है। यह ध्वनि भी सौषिर ध्वनि के परिवर्त्तन से ही उत्पन्न होती है।

कृत्रिम ठेपनशिक्षा विधि—एक उत्तम डबल रोटी को दोलड़ या चौलड़ कपड़े से आच्छादित करके उस पर ठेपन करें। अनेक स्थानो पर स्वस्थ वक्ष पर किये हुए ठेपन के समान मन्द आवाज युक्त सौषिर ध्वनि उत्पन्न

होती है। उस डबल रोटी के कुछ भाग को जल में डुबोकर निकाल ले। फिर उस आर्द्र भाग पर ठेपन करने पर मन्द घन ध्वनि (Flattness) का अनुभव होता है। फिर आगे जहाँ पर रोटी आर्द्र न हुई हो वहाँ पर आवाज **घन ध्वनि के सदृश** उत्पन्न होती है। यदि रोटी को जल में डुबोने के स्थान मे सरेस (जिलेटिन) के द्रव मे वह अच्छी तरह लग जाय, उतने समय तक भिगो देवे और फिर निकालकर ठेपन करे, तो उक्त ध्वनि अति स्पष्ट होती है। डबल रोटी के ऊपर की दृढ़ छाल के नीचे रहे हुए गर्भ भाग में से थोडा निकाल कर फिर उस पर ठेपन करे तो सौषिर ध्वनि स्पष्ट निकलती है। एवं दूसरे अंश पर आवाज सामान्य वायुकोषीय (Vosicular sound) निकलती है।

यदि रोटी के भीतर भिन्न-भिन्न स्थान पर अर्ध इञ्च व्यास की काँच नली को रोटी के कितनेक अंश मे डालकर बाहर निकाल ले। फिर ठेपन करे तो उस स्थान पर विविध आवाज उपस्थित होगी।

विविध आकार के गह्वर वाले रबर की गेंद पर ठेपन करने से भिन्न-भिन्न मन्द, मध्यम और उत्तम आवाज की सौषिर ध्वनि उद्भूत होती है। एक चमडे लगी हुए बडे फुटबाल मे अच्छी तरह वायु पूरित करे। फिर उस पर ठेपन करे, तो उच्च आवाज वाली सौषिर ध्वनि उत्पन्न होती है। यदि एक रबर की थैली मे वायु रहे उतनी भरकर ठेपन करे, तो कोष्यक ध्वनि (Amphoric) उत्पन्न होती है, तथा छोटे छेद वाली, छोटे आकार की और गह्वर युक्त गेंद पर ठेपन करने पर विदीर्ण पात्रवत् ध्वनि उपस्थित होती है। इन सब ध्वनियों को स्पष्ट सुनने के लिए कान को संलग्न करके ठेपन करना चाहिये।

अभ्यास से अनुभवी चिकित्सक का हाथ इतना अभ्यस्त हो जाता है कि बिना ठेपन के ही वह स्थान के शुद्ध रिक्त, ठोस, सौषिर, मिश्र या परिवर्तित होने का पता चला लेता है।

४. श्रवण-परीक्षा

यह शारीरिक परीक्षा का अन्तिम लेकिन आवश्यक अङ्ग है। जहाँ पर शब्द हो या ठेपन से शब्द पैदा किया जा सके, वहाँ पर श्रवण-परीक्षा की आवश्यकता है। शरीर में फुफ्फुस और हृदय, ऐसे स्थान है जहाँ निरन्तर शब्द होता ही रहता है। इनकी श्रवण-परीक्षा अवश्य करनी चाहिये। इनके अतिरिक्त कभी अन्त्र और शिराओं मे (ग्रैविक शिराविस्तृति होने पर) भी शब्द पैदा हो जाता है, उसको भी अवश्य सुनना चाहिये।

इसमें सफलता पाने के लिए स्वस्थ फुफ्फुस और हृदय के कौन से अंग मे किस प्रकार की आवाज होती है, इस बात का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। यह अभ्यास से ही प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए विद्यार्थियो को स्वस्थ फुफ्फुस और हृदय के शब्द बार-बार सुन कर अभ्यास करना चाहिये।

श्रवण-परीक्षा करते समय जहाँ तक हो सके वक्ष पर से वस्त्र हटा लेना चाहिये। वस्त्र न हटाने से शब्द साफ सुनाई नही पडता एवं वक्ष व वस्त्र की रगड़ से नया शब्द भी उत्पन्न हो जाता है।

पर्शु का और पर्शु कान्तरीय भाग पर ध्वनि-वाहक यन्त्र का वक्ष भाग रख कर सुनने से अलग-अलग ध्वनि सुनाई पड़ती है। दोनो पार्श्वों के शब्द साथ-साथ सुनते जाना चाहिये, ताकि तुलना की जा सके। रोगी जिस स्थिति मे आराम अनुभव करे, उसी स्थिति मे उसे बैठा कर या लिटा कर परीक्षा करनी चाहिये। रोगी बैठा होने लायक न हो तो जबर्दस्ती से बैठा करना उचित नही है। ऐसा करने से विपरीत परिणाम निकलता हुआ देखा गया है। आवश्यक हो तो पीठ की श्रवण-परीक्षा की जा सकती है।

श्रवण-परीक्षा परीक्ष्य स्थान पर कान लगा कर भी की जा सकती है। परन्तु रोगी के शरीर पर कान लगाना, यह घृणित, हानिप्रद और कठिन भी है। संक्रामक रोगो में कान लगाने से संक्रामण का भय रहता है। अतः वाहक यन्त्र (Stethoscope) का प्रयोग उचित माना जाता है।

ध्वनि-वाहक यन्त्र

ध्वनि वाहक—इसके मुख्य दो प्रकार हैं। एक कर्णिक और द्विकर्णिक।

एक कर्णिक यन्त्र—इसमें एक ही नलिका होती है और सिर्फ एक ही कान से सुना जा सकता है। इससे मन्द ध्वनि तो भली प्रकार सुनाई पडती है। परन्तु तीव्र और उच्च ध्वनि अपेक्षाकृत अस्पष्ट सुनाई देती है। इसमे त्रुटि यह है कि, इसके प्रयोग में एक ही कान काम मे आता है और दूसरा कान मुक्त रहता है। इसलिए हर प्रकार की वाह्य ध्वनि कान में पडती रहने से ठीक आवाज मालूम नही पडती। विद्यार्थी और नव चिकित्सक इससे अभ्यास नही कर सकते एवं पूर्ण लाभ भी नही उठा सकते है। यह यन्त्र सिर्फ एक कान से ही सुनने वालो को उपयोगी है।

द्विकर्णिकः—साधारणतया चिकित्सक इसी का प्रयोग करता है।

इसके तीन भाग होते हैं। १—वक्ष भाग (Chest piece); २—मध्य भाग; ३—कर्णभाग।

१. वक्षभाग—यह वक्ष पर रक्खा जाता है। इसे इस प्रकार रखना चाहिये कि वाह्य शब्द उससे प्रवेश न कर सके। पर्शु कान्तरीय स्थान पर रख कर सुनने से वाह्य ध्वनि प्रवेश नही कर सकती। वक्ष भाग धातु की अपेक्षा वल्कनाइट (Vulconite) का उत्तम होता है। धातु शीतकाल मे अधिक शीत और उष्णकाल में उष्ण हो जाता है। शीतकाल (धातु का होने पर) उसे हाथ पर रगड कर गरम कर लेना चाहिये। यह भाग दो प्रकार के होते हैं। **१. घण्टीकार** (Bell size); और **२. गोलाकार** (Drum size)। गोल आकार मे एक विशेष प्रकार का पर्दा लगा रहता है। दोनो प्रकार समान लाभप्रद है; परन्तु **घन्टीकार** मे ज्यादा आसानी रहती है क्योकि वक्ष पर रखने के बाद उसमे वाह्य शब्द प्रवेश करने का भय नही रहता।

२. मध्य भाग—वक्ष और कर्ण, इन दोनो भागो को मिलाने वाली नलिका है। अक्सर यह रबर का होता है, कभी-कभी धातु निर्मित भी होता है। परन्तु रबर का ही ज्यादा लाभप्रद व सुखदायक माना जाता है। नलिका ज्यादा लम्बी नहीं होनी चाहिये।

इसके दो प्रकार हैं। पहले प्रकार में दोनो नली ही सीधी वक्ष भाग के दोनो हिस्सो से जा मिलती है और द्वितीय प्रकार मे दोनो नली प्रथम तीन मुख वाली एक धातु निर्मित त्रिकोण प्रान्त मे मिल जाती है और पश्चात् वहाँ से एक नली द्वारा वक्षीय भाग से सम्बन्ध हो जाता है।

३. कर्ण भाग—यह अक्सर धातु निर्मित होता है उसके सिरों पर वल्कनाइट की गुंडी लगी रहती है। अगर सम्पूर्ण वल्कनाइट का ही बना हो तो उत्तम है। कारण वह सब ऋतुओ में समशीतोष्ण रहता है। **ये गुंडी दोनों** नलियो को कान में लगाये जाने वाले सिरे के पास कुछ मुडी हुई होती है। इस मोड के कारण कान में लगाने मे आसानी रहती है। और देर तक लगाये रहने पर भी कष्ट मालूम नही पडता। कान मे लगाते समय मोड का नतोदर भाग आगे और उन्नतोदर भाग पीछे रखना चाहिये।

कर्ण भाग की दोनो नलियो का सम्बन्ध एक धातु की पत्ती द्वारा होता है, जिससे दोनो नलो जुडी रहती है। कभी-कभी इस पत्ती के मध्य मे जोड़ होता है। इससे दोनो नली घुमा कर सम्मिलित की जा सकती है।

ध्वनि वर्द्धक यन्त्र—फोनेण्डोस्कोप (Phonendoscope) यह यन्त्र ध्वनि वाहक यन्त्र का ही एक प्रकार है। इससे धीमा शब्द उच्च प्रतीत

होता है। अतः मंद, मृदु और धीमे शब्द को स्पष्ट और उच्च करके सुनने के लिये इसे प्रयुक्त करते हैं। जो चिकित्सक कान से कम सुन सकते हैं, उनके लिये यह उपयोगी है।

इस यन्त्र में यह विशेषता होती है कि, इसके मध्यभाग में दो फलक (Plates) होते हैं। वे ऊपर नीचे रहते हैं। वे वल्कनाइट से निर्मित हैं। इनके अतिरिक्त इसमें एक वक्षभाग तथा कर्णभाग रूप से रबड की दो नलिकायें रहती है। इसका वक्षभाग अन्य ध्वनिवाहक यन्त्र की अपेक्षा लम्बा होता है। परीक्षाकाल मे यन्त्र के वक्षभाग द्वारा निम्न फल का सम्बन्ध हृदय फुफ्फुस आदि स्थानो से होता है। फिर यन्त्र में प्रवेशित ध्वनि फलकों में प्रवर्द्धित होकर दोनो नासिकाओ द्वारा परीक्षक के कानो तक पहुँचती है।

प्रभेद दर्शक ध्वनिवाहक यन्त्र—(Differential stethoscope)—इस प्रकार के यन्त्र के भीतर वक्षभाग के छिद्र को छोटा बडा करने की योजना होती है। एव कर्णभाग में भी पेच लगे रहते है इससे आवाज को बन्द भी कर सकते हैं अथवा सुविधानुसार अधिक या थोडा खोल सकते है। इस क्रिया से दोनो पार्श्वों के भिन्न-भिन्न आवाजो की तुलना करके भेद या उत्कर्प-अपकर्प का निर्णय कर सकते है।

सामान्यतः द्विकर्णीय ध्वनिवाहक यन्त्र प्रयोग मे लाया जाता है। उसमें भी मध्यभाग रबर की नलियो का ही होना चाहिए। क्योकि धातु की नलियो से ध्वनि परिवर्तित हो जाती है। इससे उचित ध्वनि का ज्ञान नही होता। रबर नलिकाएँ न ज्यादा लम्बी और न छोटी रखनी चाहिए। छोटी रखने से वैद्य का मुँह रोगी के पास चला जाता है। इससे संक्रमण होने का भय रहता है और ज्यादा बडी रखने से शब्द स्पष्ट नही सुनाई पड़ता। एक फुट नलिकाएँ उचित रहती हैं। चाहे मध्य मे जोड हो तो भी सम्पूर्ण मध्यभाग एक फुट से अधिक लम्बा न होना चाहिए। यह यन्त्र जहाँ तक हो अपना ही होना चाहिए। ताकि उससे उसका अभ्यास हो जाय। दूसरे का यन्त्र लेकर परीक्षा करने पर उतना ज्ञान प्राप्त नही हो सकता।

अब रोग-निर्णय-पद्धति की एक बात का ही उल्लेख करना अवशेष रह गया है। वह यह है कि, रोगो की विविध अवस्थाओ मे किसी महत्त्वपूर्ण लक्षण की अनुपस्थिति का विचार। चिकित्सक को चाहिए कि इस पर अवश्य लक्ष्य देवें।

मुख्य लक्षण की अनुपस्थिति—जिस प्रकार किसी लक्षण की उपस्थिति महत्त्वपूर्ण है उसी प्रकार विभिन्न अवस्थाओ मे उसकी अनुपस्थिति

को भी समझनी चाहिए। उदा०—त्रिदोष के कतिपय प्रकारों की वृद्धि होने पर श्वासावरोध उपस्थित होता है। उन प्रकारों में रोग की वृद्धि होने पर भी श्वासावरोध अनुपस्थित होना, यह भी महत्त्वपूर्ण लक्षण है। यह बात अनुभवी चिकित्सक के लक्ष्य में तत्काल आ जाती है। जिससे वह रोगी के कुटुम्बियों को आशा दे सकता है। विद्यार्थियों को भी चाहिए कि इस बात पर भी लक्ष्य देते रहें।

अन्त में यह लिख देना भी जरूरी है कि चिकित्सक को सर्वदा शारीरिक-परीक्षा सादर-सप्रेम और रोगी को कष्ट न हो उस तरह करनी चाहिए। जहाँ तक हो सके रोगी के वस्त्रों को उस भाग से हटाना चाहिए जिस भाग की परीक्षा करनी हो।

उसे उपरामता न आ जाय, यह सम्हाले तथा शीत और श्रम से बचावे। अगर रोगी तीव्र अथवा गम्भीर व्याधि से पीडित है तो निदानार्थ अत्यावश्यक शारीरिक परीक्षा ही करनी चाहिए। वैद्य को यह भी याद रखना चाहिए कि जब रोगी अधिक शिथिल-कृश हो गया हो, या वक्षगत पीड़ा, फुफ्फुस या हृदय की प्रबल व्याधि से पीडित हो, तब परीक्षा के लिए उसे श्रम पहुँचाना आपत्तिजनक है और उससे कभी-कभी गम्भीर परिणाम उपस्थित होता है, ऐसे समय पर परीक्षा लेटे हुए या बैठे हुए की कर लेनी चाहिए।

संक्षिप्त परीक्षा निरूपण।

१–प्रश्न

नाम, आयु, व्यवसाय, विवाहित-अविवाहित, पता।
चिकित्सार्थ आने की मिति।

शिकायत—

रोग की अवस्थिति—

कौटुम्बिक इतिहास—माता-पिता, भाई-बहन, धर्मपत्नी या पति, रोगी के सन्तान आदि की शारीरिक अवस्था, जिनकी मृत्यु हुई हो, उनकी मृत्यु के कारण, मृत्यु समय की आयु आदि।

व्यक्तिगत इतिहास—

(अ) पारिपार्श्विक परिस्थिति (Environment)—कार्य का स्वास्थ्य पर प्रभाव, घर की स्वास्थ्यवृत्त के नियम पालन के सम्बन्ध में स्थिति, व्यायाम या परिश्रम मिलने योग्य आदत, खान, पान, व्यसन आदि का परिचय।

(आ) रोगोत्पत्ति से पहिले का इतिहास—पहिले रोग हुए होवें, उस समय का व्यवसाय, रोग रहने की अवधि और परिणाम आदि।

(इ) वर्त्तमान रोग—रोग अकस्मात् या शनैः शनैः हुआ, समय, रोग का स्वरूप, लक्षणों की प्रकाशन पद्धति, वर्त्तमान मुख्य दुःखदायी लक्षण, अभी तक की हुई चिकित्सा आदि का परिचय।

प्राथमिक विवरण।

नाम—रोगी का नाम लिखने का प्रयोजन यह है कि, पुनः रोगी आने पर पहले के रोग-निर्णय और चिकित्सा आदि का अनुसंधान हो सके। किसी-किसी समय अदालत में रोगी के सम्बन्ध में चिकित्सक को साक्षी देनी पडती है।

आयु—रोगी की आयु जानना नितान्त प्रयोजनीय है। क्योंकि, जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्था में, विशेषतः परिवर्तन काल में, प्रौढ़ावस्था और जरावस्था में जब शरीर की अवनति और शोष होने पर हो, उस समय भिन्न-भिन्न शरीर-तन्तु और यन्त्रों (इन्द्रियों) के शारीरिक घटक आक्रमित हो जाते हैं। एवं शारीरिक रचना की (Anatomical) अवनति, शारीरिक क्रिया (Physiological) अवनति तथा रोग संप्राप्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। इस हेतु से जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्था में देह कल्पित रोगों की वशवर्त्ति होती है। इसके अतिरिक्त जीवन की अवस्था के भेद से व्यावहारिक स्थिति, व्यसन, अभ्यास, जवाबदारी आदि में भिन्नता होती है। इस हेतु से भी पृथक्-पृथक् रोगों से पीडित होने की संभावना होती है। कितनेक रोगों का स्वभाव ही ऐसा है कि वे निश्चित आयु में ही आक्रमण करते हैं।

बाल्यावस्था में वशवर्त्तिता—इस आयु में शीतला, रोमान्तिका, अतिसार आदि-आदि रोग सरलता पूर्वक आक्रमण कर देते हैं। क्षय-कीटाणु-जन्य मस्तिष्का-वरण प्रदाह, अन्त्रबंधनी के ग्रन्थियों का शोष (Tobes Mesenterica) अस्थिवक्रता, सुषुम्णा काण्ड में स्थान-स्थान पर सुषुम्णा का प्रदाह (Polio myelitis), मत्स्य चर्मरोग (Ichthyosis), पेशी शीर्णता जन्य वध, रतवा (विसर्प) नृत्य वात आदि पीडा विशेषतर बाल्यावस्था में हो जाती है। १ वर्ष से ८ वर्ष की आयु तक प्रादाहिक व्याधि, ज्वर और स्फोटक आदि रोगों की संप्राप्ति सहज हो जाती है। कण्ठ रोहिणी, काली खाँसी, झिल्लीमय स्वरयंत्र प्रदाह (Croup) आदि रोग बाल्यावस्था में अत्यधिक होते हैं। दन्तोद्गम से लेकर युवावस्था की प्राप्ति होने तक उग्रता वश ज्वर आदि रोग हो जाने की अधिक संभावना है।

तरुणावस्था में वशवर्त्तिता—युवावस्था की प्राप्ति होने पर दुष्टो के सहवास से उपदंश और सुजाक हो जाने की भीति अधिक रहती है। स्त्रियो को इस अवस्था मे हिस्टीरिया और अन्य आक्षेपज व्याधियाँ हो जाती हैं। एवं स्त्रियो को आमाशय प्रदेश में क्षत भी हो जाता है। आशुकारी आमवात का आक्रमण होने की भीति इस आयु मे अधिक रहती है। २० से ३० वर्ष तक राजयक्ष्मा, कण्ठमाल, रक्तस्राव तथा पचनेन्द्रिय संस्था के अपचन, ग्रहणी आदि विविधि रोग हो जाते हैं। आयुर्वेद कथित २० प्रमेह और स्त्रियो का प्रदर रोग वर्त्तमान मे इस आयु मे ही उत्पन्न होता है।

रोगी विवाहित है या नहीं? इस बात को जान लेने पर शुक्र-क्षय के सम्बन्ध मे विशेष विचार हो सकता है। विवाहितो की मानसिक क्रिया मे परिवर्त्तन हो जाता है। विवाहित स्त्री हो और छोटी आयु मे संतान हो तो वह अधिक निर्बल हो जाती है। विवाहित स्त्री को अधिक संतान हुई हो, तो वह रोगो के अधिक वशवर्त्ति बन जाती है। अविवाहित होने पर रोगनिरोधक शक्ति सामान्यतः अपेक्षाकृत सबल रहती है।

प्रौढ़ावस्था में वशवर्त्तिता—इस अवस्था में इन्द्रियाँ, वात नाड़ियाँ, माँस पेशी, अस्थि आदि का बल घटने लगता है। उनमे जो स्थिति-स्थापकता गुण बाल्यावस्था मे था, वह अति कम हो जाता है, या नष्ट हो जाता है। इस आयु मे धमन्यर्बुद, रक्त द्बाव वृद्धि, निकट-दृष्टि मान्द्य, शकुन्तगतिरोग एवं पक्षाघात, कर्कस्फोट आदि उपस्थित होते हैं। स्त्रियो का मासिक धर्म ४५ से ५० वर्ष की आयु मे प्रायः बन्द हो जाता है। फिर प्रजनन यन्त्र की विविध व्याधियाँ इन्द्रियों की क्रिया-विकृति जन्य व्याधियाँ, स्तन पर कर्कस्फोट, गर्भाशय का कर्कस्फोट, तथा गर्भाशय की यान्त्रिक व्यथा भी हो जाती हैं। आयु थोडी अधिक बढ़ने पर तथा शारीरिक शक्ति कम होने पर वातनाड़ियों के तन्तु और सौत्रिक तन्तुओ की अवनति होती है तथा मस्तिष्क, हृदय, प्रजनन यन्त्र और मूत्र संस्था में विविध रोग पैदा हो जाते है।

वृद्धावस्था में वशवर्त्तिता—इस आयु में शारीरिक संस्थाओ की शीर्णता और वार्धक्यजन्य अपक्रान्ति हो जाती है। जिससे सन्यास, पक्षाघात, मस्तिष्क की क्रिया विकृति, मस्तिष्क की कोमलता, हृदय की मेदोपक्रान्ति, हृदय शूल, मास पेशियो का शोष और शारीरिक बलह्रास आदि विकारो की उत्पत्ति होने की सम्भावना रहती है।

रोगी की आयु जानने मे दूसरा प्रयोजन यह है कि रोग के भाविफल का निर्णय करने में सहायता मिलती है। आयु भेद से कोई-कोई व्याधि

प्रचण्ड रूप धारण करती है। अत्यन्त शैशवावस्था और अत्यन्त वृद्धावस्था में श्वास प्रणालिका प्रदाह अधिक घातक वन जाता है। यही वालकों का डब्बा रोग है। वृद्धावस्था मे प्राप्त अशुकारी फुफ्फुस खण्डीय प्रदाह (Lobar Pneumonia) घातक हो जाता है। शैशवावस्था मे अपस्मार का द्रुत आक्षेप किसी प्रकार के भय का हेतु नहीं है। एवं उस आयु मे सामान्यतः संक्रामक पिटिकामय ज्वरों मे अकस्मात् शारीरिक उत्ताप वढ़ जाता है और रोगारम्भ मे ही द्रुताक्षेप उपस्थित होते हैं।

आयु जानने का तृतीय उद्देश्य यह है कि, कोई-कोई वंशागत रोग, निर्दिष्ट आयु में प्रकाशित होता है। उदा०—राजयक्ष्मा, वृक्कप्रदाह, मधुमेह आदि। किसी-किसी वंश मे मधुमेह होने पर भी प्रायः पहले प्रतीत नहीं होता और ३०-३५ वर्ष की आयु होने पर त्रास देने लगता है। इस तरह शैशवावस्था होने वाले वंशागत रोग उन्माद, चक्षुविद्रधि आदि छोटी आयु मे विशेष आक्रमण करते हैं। इनके लिये चिकित्सक समय रहते हुए पहले से ही सावधान हो कर चिकित्सा का अवलम्बन ले सकता है। निर्दिष्ट आयु व्यतीत हो जाने पर चिकित्सा की प्रायः आवश्यकता नहीं रहती।

आयु के साथ शारीरिक स्थिति का सामञ्जस्य है या नहीं अर्थात् रोगी देखने मे उतनी आयु वाला प्रतीत होता है या नहीं, आयु की अपेक्षा कम आयु वाले या वडी आयु वाले प्रतीत होते है, यह विदित हो जाता है। फिर उस पर से रोग प्रतिरोधक शक्ति कितना कार्य कर सकेगी, इसकी कल्पना हो सकती है।

इनके अतिरिक्त चिकित्सार्थ औषध और औषध-मात्रा आदि का निर्णय करने मे सहायता मिल जाती है।

स्त्री या पुरुष—लिङ्ग भेद से रोग विशेष की सम्प्राप्ति की कल्पना हो सकती है। कतिपय रोग पुरुषों को अधिक होते हैं और कतिपय स्त्रियों को। लिङ्ग भेद होने पर ऐसे रोगो की वशवर्त्तिता विविध कारणों से कम हो जाती है। यथा-शरीर यन्त्र की रचना मे विभिन्नता, व्यावहारिक, आर्थिक और कौटुम्बिक स्थिति, व्यसन, आहार-विहार मे नियमितता-अनियमितता, देश-विदेश आदि। स्त्री जाति सुकुमार होने से थोड़े से रोग में अतिशय दुर्बलता आ जाती है। पुरुष वर्ग की शरीर रचना अपेक्षाकृत दृढ़ होने के हेतु से कितनेक दुर्बलों को रक्तस्राव और प्रदाह सम्प्राप्ति अधिक होते हैं। उभय जाति के भीतर जननेन्द्रिय क्रिया और रचना-भेद से कितनीक भिन्न-भिन्न व्याधियाँ होती हैं। मासिक धर्म का प्रारम्भ होने के पश्चात् कतिपय स्त्रियों को

हिस्टीरिया, नत्पञ्जत और हलीमक (Chlorosis) आदि रोग हो जाते हैं। स्वाभाविक मासिकधर्म की विकृति के समय स्तन और गर्भाशय आदि में कर्कस्फोट आदि रोग हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त स्त्रियाँ अपचन, हृत्स्पंदन वर्धन, चलवृक्क, पित्ताश्मरी, गलगण्ड (Goitre), तुंगाद्द गलगण्ड, सार्वाङ्गिक घनशोथ (Myxaedema) तथा देह प्रगतिरोध (Cretinism), आदि से पीडित हो जाती हैं। इसके विपरीत पुरुष वर्ग मधुमेह, झिल्लीमय स्वरयन्त्र प्रदाह, वातनाडी प्रदाहसह गृध्रसी (Sciatic Neuritis), सुषुम्णा काण्ड में से रक्त निःसरण (Haematomyella) मूत्राशय क्षय, वर्धनशील मांस शोथ, शकुन्तगति रोग, बुद्धिलोपसह सर्वाङ्ग वध (Dementia Paralytica), रक्तस्राव सन्यास तथा उद्वेगज वात क्रिया विकृति (Anxiety Neurosis) आदि रोगो से अधिक वशवर्त्ति होते है।

व्यवसाय जानने का हेतु—व्यवसाय जानने की भी आवश्यकता रहती है। आलसी और गद्दी पर बैठे रहने वाले धनिको की अपेक्षा परिश्रम वालों का स्वास्थ्य अधिक अच्छा रह सकता है। जो स्त्रियाँ पर्दे मे रहती हैं, तथा आलसी धनिक वर्ग हिस्टीरिया, अपचन, कण्ठमाल, राजयक्ष्मा, वातरक्त, प्रमेह, प्रदर, विविध वात विकार तथा सार्वाङ्गिक निर्बलता आदि के अधिक वशवर्त्ति होते हैं। एवं स्वच्छन्द युवक वर्ग उपदंश, सुजाक, शुक्रक्षीणता, अपचन, सग्रहणी आदि के रोगो के भोगी बन जाते हैं।

श्रमजीवी जनता वर्षा, गर्मी, ठण्डी आदि सहन करते हैं और अधिक कष्ट सहन करते हैं। उनको आगन्तुक व्यथा अधिक होती है। चिकित्सक, आयुर्वेद के विद्यार्थी वर्ग, परिचारिका आदि हृदय और फुफ्फुसो की कितनीक काल्पनिक व्याधियो के वशवर्त्ति हो जाते हैं एवं वे अनेक बार विविध संक्रामक और ससर्गज व्यधियो से पीडित हो जाते हैं।

छापाखाने मे कार्य करने वाले शीशा विप से पीडित होते हैं। दरजी, खाती, जूते तैयार करने वाले चर्मकार और लेखक वर्ग मस्तिष्क और छाती को झुकाकर बैठे रहते हैं। उनको कुब्ज हो जाती है; एवं शिर दर्द और अन्त्र रोग से पीडित होते है। घडीसाज, कसीदा निकालने वाले, माला मोती पोने वाले नेत्रों को अधिक कष्ट देते हैं। अतः वे मंद दृष्टि वाले हो जाते हैं। अफीम, गाजा वेचने वाले उनके विप से पीडित होते हैं। ताम्र, पीतल और शीशा धातु आदि के वर्त्तन वाले उनके विप से आक्रान्त होते हैं। कोयले आदि की खानो में कार्य करने वाले दुर्गन्धित वायु और कोयले के सूक्ष्म रजकणों को श्वास में लेते रहते हैं, जिससे वे फुफ्फुस रोग और मस्तिष्क

विकार से व्यथित हो जाते हैं। एवं उनको कभी-कभी आगन्तुक व्यथा भी हो जाती है।

वर्तमान पीड़ा का इतिहास—कब किस प्रकार से रोगारम्भ हुआ है, यह जानना आवश्यक है। कितने दिन हुए हैं, यह जानने से रोग आशुकारी है या चिरकारी, यह निर्णय हो सकेगा। आशुकारी व्याधि सामान्यतः अकस्मात् आरम्भ होती है, क्रम अल्पस्थायी होता है; परिणाम पूर्ण आरोग्य या मृत्यु। यथा—फुफ्फुस-खण्डप्रदाह, मस्तिष्कावरण, प्रदाहज ज्वर, विसूचिका, इन्फ्लुएञ्जा आदि प्रबल संक्रामक ज्वर आदि। चिरकारी रोग का बहुधा आरम्भ होने के पहले पूर्वरूप विदित होता है, वह फिर धीरे-धीरे बढ़ता है, तथा परिणाम सदोष आरोग्य, रोगबीज शेष रहना या चिरकाल तक कष्ट पहुँचा कर मृत्यु होना।

व्याधि आशुकारी है या चिरकारी, इस बात का निर्णय करने के लिए यह स्मरण मे रखना चाहिए कि, कितनेक स्थानो पर रोग आशुकारी सदृश भासता है। वह किसी पूर्ववर्ति व्याधि का उपद्रव रूप होता है। **उदाहरण—चिरकारी आमाशय विदारण के हेतु से उदर्य्याकला का प्रदाह हो जाता है। फिर कितनेक रोगियो में संगृहीत होता है।** इनके अतिरिक्त कितनेक उपद्रव ऐसा तीव्र रूप धारण कर लेते हैं कि मूलरोग अस्पष्ट और अन्धकार मे एक ओर ही दब जाता है। इस तरह भ्रमात्मक रोग निर्णय होने पर रोग का भाविक्रम और भावी परिणाम के सम्बन्ध का मत भी बदल जाता है।

अतः कब रोग आरम्भ हुआ है, यह जानकर फिर अन्य लक्षणो के ऊपर दृष्टि डालना विशेष सुविधा वाला है। उपद्रवरहित ज्वर आदि रोग होने पर प्रथम सप्ताह में शारीरिक उत्ताप १०३ फार्नहीट से अधिक न हो, तो वह प्रलापक ज्वर नही हो सकता। इसके विपरीत उत्ताप प्रारम्भ में कुछ दिनो तक १०५° तापीहा से अधिक रहा हो, तो संभवतः मधुरा नही हो सकता।

व्याधि की आक्रमण शैली, लक्षण आदि के स्वभाव और उसके वृद्धिक्रम को जान लेना चाहिए। क्योंकि कितनेक रोग अकस्मात् आक्रमण कर देते हैं और कितनेक क्रमशः आरम्भ होते हैं। जैसे आशुकारी आस्तोय (फुफ्फुसावरण प्रदाह) की अपेक्षा आशुकारी फुफ्फुस खण्डीय प्रदाहज ज्वर अधिक वेपनसह उपस्थित होता है। शनैः शनैः और क्रमशः वर्द्धनशील अर्धाङ्ग पक्षाघात, यह मस्तिष्क वल्कल त्वचा (Cortex) के किसी विकार-वश या संचालन नाडी मार्ग (Motor tract) मे नूतन अर्बुद आदि के

दबाव के हेतु से उत्पन्न होता है, किन्तु आशुकारी अर्धाङ्ग पक्षाघात की संप्राप्ति मस्तिष्क में रक्तस्राव, चलशल्यज निरोध या स्थानिक रक्तजमावजन्य अन्तराय से होती है और वह जल्दी पैदा हो जाता है। रोगी यदि बेहोश न हो जाय और अर्धाङ्ग पक्षवध हो जाय, तो सम्भवतः चलशल्य या स्थानिक शल्यज प्रतिबन्धजनित होता है। शोथ रोग की संप्राप्ति जाननी पड़ती है। क्योंकि हृदय, यकृत् और वृक्क, इन तीनों के विकार से शोथ हो जाता है। हृदयजन्य शोथ का आरम्भ हाथ-पैर से, यकृत् का उदर पर से और वृक्कजन्य शोथ का आरम्भ मुख पर से होता है।

२–शारीरिक परीक्षा

साधारण अवस्था–शारीरिक परीक्षा आरम्भ करने से पूर्व रोगी की भावना और ज्ञान की सामान्य स्थिति, शय्यावश हो तो शय्यावृत, चलता-फिरता हो तो शारीरिक स्थिति और बर्ताव। चेहरे के भाव और विवर्णता, कामला, अरिष्टदर्शक नीलता, शोथ, पोषण में परिवर्तन, हाथ, अँगुलियाँ, और नाखून आदि पर विशेष चिह्नों का सद्भाव या अभाव, ग्रन्थियों की वृद्धि, श्वासोच्छ्वास की अवस्था व कास की उपस्थिति या अनुपस्थिति और शारीरिक उत्ताप आदि का परिचय प्राप्त करना चाहिए। इस अवस्था का विशेष विचार द्वितीय अध्याय में किया जायगा।

१–पचन संस्था—

अ—भावना (आन्तर लक्षण) के अनुकूल स्थिति की परीक्षा।

आ—मुख (दाँत, दंतमूल, जिह्वा), स्वर-यन्त्र, कंठ और अन्ननलिका की दर्शन परीक्षा (विशेष विवरण तृतीय अध्याय के प्रथम खण्ड में किया जायगा)।

इ—उदर प्रदेश का व्यापक दर्शन, स्पर्शन और ठेपन (विस्तार तृतीय अध्याय के द्वितीय खण्ड में) आमाशय के स्पर्शन तथा ठेपन (वर्णन तृतीय अध्याय के तीसरे खण्ड में) पेय, भोजन और वामक द्रव्य की परीक्षा (विस्तार–तृतीय अध्याय के चौथे और पाँचवें खण्ड में)।

ई—अंत्र—अंत्र का अनुसंधान (वर्णन तृतीय अध्याय के तीसरे खण्ड में) आवश्यकता हो तो गुदा-परीक्षा। मल-परीक्षा (वर्णन तृतीय अध्याय के छठवें खण्ड में)।

उ—यकृत् और पित्ताशय—स्पर्शन और ठेपन परीक्षा (वर्णन तृतीय अध्याय के तीसरे खण्ड मे)।

ऊ—प्लीहा—स्पर्शन और ठेपन परीक्षा (वर्णन तृतीय अध्याय के तीसरे खण्ड में)।

२-रक्तवाहक संस्था—

क—हृदय—रोगी को स्वय अनुभव होने वाले लक्षणो के अनुकूल परीक्षा।

ख—नाडी—इसकी गति, स्पन्दन, ताल आदि। क्रमानुसार होने वाले स्पन्दनो के बल की तुलना, रक्तवाहिनियो की दीवार की अवस्था। धमनी में रक्त डालने के समय और मध्यकाल में रक्तद्बाव। नाड़ी के तरंगो का विस्तार, नाडी-स्पन्दन का पूर्ण विवेचन—द्बाव के उदय, स्थिरता और पतन सम्बन्धी, एवं गौण तरग की उत्पत्ति-अनुत्पत्ति का निश्चय। यदि अस्वाभाविक नाडी हो तो उसकी आकृति लेवें।

ग—दर्शन-स्पर्शन—हृदय के ऊर्ध्व सिरे के स्पन्दन की स्थिति और स्वभाव का ज्ञान, कौडी प्रदेश मे स्पदन और हृदय के ऊपर कम्पन की उपस्थिति या अनुपस्थिति। ग्रीवा और हृदय तल मे धमनी स्पंदन के सद्भाव या अभाव की परीक्षा।

घ—हृदय-ठेपन—(वर्णन तुर्थ अध्याय के चतुर्थ खण्ड मे) ऊर्ध्वसीमा, दक्षिण सीमा, वाम सीमा के उत्तान और गम्भीर स्थिति की परीक्षा।

ङ—हृदय-श्रवण—(वर्णन चतुर्थ अध्याय के पचम खण्ड मे) १–हृदय शिखर प्रदेश और उससे कुछ भीतर की तरफ; २–वक्षोस्थिति के अधोशिरे पर त्रिपत्र कपाट-प्रदेश की परीक्षा, ३–महाधमनी क्षेत्र; ४–फुफ्फुसाभिगा धमनी क्षेत्र और इससे कुछे बाहर की तरफ; ५–हृदय शिखर और तल के मध्य मे (तीसरी और चौथी बीमी उपपशुका के मध्य मे), ६–ग्रीवा की शिरा और धमनियॉ, इन सब की परीक्षा।

च—अगर मर्मर ध्वनि सुनाई देवे तो—१–उसका समय, २–उसका स्वभाव (मृदु या कठोर), ३–सबसे अधिक प्रखरता का स्थान, ४–उसके फैलने की दिशा आदि की परीक्षा।

३-रक्त—

रक्ताणुओ और श्वेताणुओ की सख्या (वर्णन पचम अध्याय मे) रक्तरंजन द्रव्य के परिमाण की कल्पना। अगर आवश्यक हो तो रक्त तख्ती पर फैलाकर अणुवीक्षण यत्र से भी परीक्षा करे।

४–श्वास संस्था—

अ—स्वय रोगी को अनुभव होने वाले लक्षणों के अनुरूप परीक्षा। श्वासोच्छ्वास की संख्या और स्वभाव।

आ—वक्षदर्शन—आकृति और विस्तृत होने की शक्ति का ध्यान रखते हुए परीक्षा (वर्णन षष्ठ अध्याय के द्वितीय खण्ड मे)।

इ—वक्ष के दोनों पाखों का नाप।

ई—वक्ष-स्पर्शनः—फुफ्फुसों की विस्तृति और शब्द-स्पर्श मालूम करना (वर्णन षष्ठ अध्याय के तृतीय खण्ड मे)।

उ—फुफ्फुस ठेपन—ठेपन परीक्षा अग्र, पार्श्व और पश्चिम भाग मे (वर्णन षष्ठ अध्याय के चतुर्थ खण्ड मे)।

ऊ—फुफ्फुसो का श्रवण—निम्न बाते ज्ञात करते हुए अग्र, पार्श्व और पश्चिम भाग में क्रमानुसार—१–श्वासोच्छ्वास से उत्पन्न ध्वनि की जाति; २–शब्द प्रतिध्वनि का स्वभाव; ३–आनुषगिक अन्य ध्वनि का सद्भाव या अभाव, (विवेचन षष्टम अध्याय के पंचम खण्ड मे)

ए—कफ की साधारण नेत्र और सूक्ष्म दर्शक यंत्र से परीक्षा (वर्णन षष्ठ अध्याय के सप्तम खण्ड मे)।

५–मूत्र संस्था—

अ—वृक्कों का स्पर्शन—सीमा और स्थान निर्णयादि विवेचन (तृतीय अध्याय मे)।

आ—मूत्र-परीक्षा (वर्णन सप्तम अध्याय मे) शारीरिक, रासायनिक और सूक्ष्म दर्शक यंत्र, तीनों प्रकार से चौबीस घण्टो के मूत्र का परिमाण रंग, आपेक्षिक गुरुत्व, गंध, प्रतिक्रिया और अधःपतित द्रव्य (Deposits) का सामान्यतः परिचय।

शुभ्रप्रथिन (श्वेतसार–Albumen), रक्त, शर्करा (Sugar) और पित्त की उपस्थिति या अनुपस्थिति का ज्ञान। अणुवीक्षण यंत्र द्वारा अधःपतित द्रव्य की परीक्षा।

६–त्वचा—

अ—साधारण वर्ण, स्फीति या चोटजनित त्वचा भेदन या अस्वाभाविक रंग उत्पत्ति या अनुत्पत्ति। त्वचा भेदन से प्राथमिक क्षत हुआ हो उसका या गौणक्षत हो तो उसका स्वभाव।

आ—त्वचा की स्पर्श परीक्षा करे। ताकि उसकी शुष्कता, मृदुता, मोटापन

तथा स्थितिस्थापकता विदित हो सके। अन्तर त्वचा का स्वभाव भी प्रतीत करे।

७-वातनाड़ी संस्था—

अ—प्रथम स्वयं रोगी को अनुभव होने वाले लक्षणो के अनुरूप परीक्षा करे। (विशेष प्रश्न परीक्षा में विवेचन किया है वह देखे)।

आ—इन्द्रिय ज्ञानशक्ति (विचारशक्ति, स्मरणशक्ति) निद्रा, बेहोशी, प्रलाप, मूर्च्छा और संभाषण आदि। (वर्णन नवम अध्याय के द्वितीय खण्ड में देखे)।

इ—शीर्षण्या नाडियो (Cranial Nerves) की क्रिया की क्रमशः परीक्षा (वर्णन नवम अध्याय के तृतीय खण्ड मे किया जायगा)।

ई—संचालक नाड़ियाँ (Motor Nerves) की क्रिया-परीक्षा (पक्षाघात की उपस्थिति या अनुपस्थिति, मासपेशियो की अस्वाभाविक क्रियाये और मासपेशियो के पोषण की अवस्था, प्रतीत करते हुए) अगर आवश्यक हो तो मासपेशियो और वातनाड़ियो की विद्युतात्मक प्रतिक्रिया भी प्रतीत करे (विवेचन नवम अध्याय के सप्तम खण्ड में)

उ—सावेदनिक क्रिया (Sensory Function) की परीक्षा—इसमें स्पर्श, भार, उत्ताप, पीड़ा और मासपेशियो की संवेदना शक्ति की प्रतीति तथा अस्वाभाविक संवेदना की उपस्थिति या अनुपस्थिति प्रतीत करे। (विवरण नवम अध्याय के पंचम खण्ड में देखे)

ए—प्रतिफलित क्रिया विवरण नवम अध्याय के षष्ठ खण्ड में किया जायगा।

१–उत्तान परावर्त्तित क्रिया।

२–गम्भीर या कण्डराओ की परावर्त्तित क्रिया।

३–यान्त्रिक परिवर्त्तित क्रिया और संकोचनी पेशी की क्रिया।

ऐ—रक्तनलिकाओ की संचालक वातनाड़ियो और पोषण में परिवर्तन—किसी स्थान पर सफेद धब्बे या अस्वाभाविक लाली आ जाना। स्थानिक निस्तेजता या नीलापन। प्रान्त मे स्वेद की उपस्थिति या अनुपस्थिति। संधियो मे परिवर्त्तन। नख, बाल, त्वचा में परिवर्तन (अस्वाभाविक वर्णविकृति, क्षत, शोष आदि की उत्पत्ति)।

ओ—नेत्र—वर्णन दशम अध्याय के प्रथम खण्ड में।

१–सामान्य दर्शन द्वारा नेत्रच्छद, नेत्रश्लैष्मिक कला, कृष्ण-मण्डल तारा-मण्डल आदि की स्थिति का परिचय।

२—तिर्यक् प्रकाश और नेत्रदर्शक यन्त्र द्वारा नेत्र की परीक्षा। उसके मध्य प्रान्त की अवस्था, प्रकाश का वक्रीभवन और पश्चात् भाग की स्थिति का परिचय।

वक्तव्य—उक्त सम्पूर्ण वात व्याधियो के निदानार्थ नेत्र के पश्चात् भाग की आकृति अवश्य निरीक्षण करना चाहिए।

ओ—कर्ण—कर्ण शुष्कली (Pinna), कर्णकुहर या कर्णाञ्जली (Meatus) और कर्ण की श्लैष्मिक कला की परीक्षा करे। कर्ण-दर्शक यन्त्र और आवश्यक हो तो कर्ण के अन्तर भाग को चौडा करने के लिए वायु आदि की सहायता लेवे। (वर्णन दशम अध्याय के द्वितीय खण्ड मे)

क—कण्ठ, नासिका और स्वरयन्त्र—स्वरयन्त्र की स्वरयन्त्र-दर्शक यन्त्र से परीक्षा करे और अग्र तथा पश्चिम नासिका की नासिका-दर्शन यन्त्र से परीक्षा करके अस्वाभाविक स्थिति की याद्दी करे। (वर्णन दशम अध्याय के तृतीय खण्ड मे)

ख—संचालक संस्था (वर्णन एकादश अध्याय में)।

इसमे मासपेशियाँ, अस्थियाँ और संधियाँ सम्मिलित की जाती हैं। यही अंग शारीरिक गति उत्पन्न करते हैं। अगर अस्थियो और संधियो मे किसी प्रकार का परिवर्त्तन हो तो उसे मालूम करना चाहिए।

क—रोग-निर्णय और साध्यासाध्यता-निर्णय।

(Diagnosis and Prognosis)

रोग का निर्णय हो जाने के पश्चात् रोग के लक्षण, रोगी का वलाबल आयु, काल आदि का ध्यान रखते हुए रोग के सम्भावित परिणाम की भी भविष्य वाणी की जा सकती है। परन्तु इसके लिये विशेष अनुभव और चतुराई की आवश्यकता पडती है। क्योंकि थोडी-सी असावधानी करने पर रोगी उत्साहभंग और निराश हो जाता है। फिर साध्य रोग का कभी असाध्य बन जाता है। अतः रोगी को विपरीत-परिणाम कभी नही सुनाना चाहिये। अगर वैद्य जरूरी ही समझे तो उसके सम्बन्धियो को असाध्यता तथा कष्टसाध्यता की सूचना देवे। जिससे उसका उत्तरदायित्व कम हो जाता है। रोग असाध्य होने पर भी वैद्य को चाहिये कि रोगी को धैर्य देवे। हताश न होने देवे। मरणोन्मुखी रोगी के लक्षण रुग्ण परिचर्या के पृष्ठ ४६३। ४६४ मे विस्तार से समझाये है।

चिकित्सा-द्वारा उसके स्वास्थ्य मे जो निरन्तर वृद्धि हो रही हो उसे

भी लिखते जाना चाहिये। आशुकारी तथा तीव्र रोग मे उत्पन्न परिवर्तनों की यादी प्रतिदिन करे और चिरकारी जीर्ण रोगो में प्रति तीसरे दिन यादी करे।

ख—रोगी की विदाय की यादी।

चिकित्सा पूर्ण हो जाने पर अन्तिम अवस्था लिखी जाती है। ऐसा करने से भविष्य में जब कभी आवश्यकता हो तो आसानी से मालूम किया जा सकता है कि किस अवस्था मे रोगी हमारे यहाँ से विदाय हुआ है। पूर्ण स्वास्थ्य लाभ करके या अन्य अवस्था मे।

ग—शव-परीक्षा की यादी।

अगर रोगी मर गया हो और उसकी शव-परीक्षा की गई हो तो उससे प्राप्त शारीरिक परिचय भी लिख लेना चाहिये।

यहाँ पर विवरण-पत्र का एक उदाहरण लिख देना उपयुक्त मालूम पड़ता है। निम्नोक्त प्रकार से विवरण-पत्र लिखकर या छपा कर तैयार करवा लेने चाहिये। इससे रोगी का विवरण ज्ञात करके रोग-निदान करने मे बहुत सुविधा मिलती है। इसमे सन्देह नहीं कि, निम्नोक्त पत्र पूर्णतया तब ही भरा जा सकता है जब कि रोगी आतुरालय के रक्षा-विभाग (Wards) मे रह कर चिकित्सा करा रहा हो। फिर भी वह प्रत्येक रोगी के लिए कुछ-न-कुछ अंश मे उपयोगी ही होता है।

रक्षाविभाग का विवरण-पत्र।

नाम.......................... जाति (पुरुष या स्त्री).................. आयु..........

निवास-स्थान.......................... पूरा पता..........................।

चिकित्सा-आरम्भ-तिथि.................. चिकित्सा-त्याग-तिथि..................।

रोग-निर्णय.......................... परिणाम..........................।

वर्तमान कष्ट..........................

कितने समय से है..........................

रोग का वृत्तान्त..........................

पारिवारिक इतिहास..........................

व्यक्तिगत इतिहास..........................

शारीरिक परीक्षा :—

साधारण अवस्था (General condition)..........................

भिन्न-भिन्न संस्थाओं की शारीरिक परीक्षा..........................

चिकित्सा और स्वास्थ्य मे हुए परिवर्तन.................................

अगर मृत्यु हो गई हो तो शव-परीक्षा के परिणाम...........................

मस्तिष्क-विकृति का विवरण ।

रक्षा-विभाग के रोगियो की मस्तिष्कि विकृति के लक्षण विद्यमान होने पर निम्न विशेष प्रकार का विवरण-पत्र भी उपयोगी होता है ।

१—साधारण स्थितिः—

अ. मस्तिष्क-विकृति से प्रभावित स्थिति में रोगी की भावना और आचरण । उसकी साधारण स्थिति और बर्त्ताव ।

आ. कपडे पहनने मे कोई विशेषता है ? नंगा होने का प्रयत्न या असभ्यतापूर्ण व्यवहार करता है ? स्वयं कपडे पहन लेता है ? वह भोजन किस प्रकार करता है ?

इ. विचारशक्ति का साधारण मापदण्ड-क्या वह पढ़ सकता है ? क्या वह लिख सकता है ? क्या वह चित्रों को देख-देखकर अपने आप ही प्रसन्न होता रहता है ?

ई. मस्तिष्क-विकृति होने पर बोलने में परिवर्तन :—

उ—क्या वह वस्तुओ को नष्ट करता है ?

ऊ—क्या उसकी आदत मलिन है ? अगर ऐसा है तो क्या प्रमाद के हेतु से ऐसा करता है ?

ए—हस्त मैथुन करता है ? मदात्यय आदि से पीडित है ?

ऐ—क्या उसकी ऐच्छिक पेशियो की क्रिया और ज्ञानशक्ति नष्ट हो गई है ? या वह अकड गया है ? क्या वह तालबद्ध गति या ध्वनि करता है ? क्या उसके हाथ चंचल और इच्छा न होते हुए भी कम्पायमान (घूमते) होते हैं ? क्या मुँह की पेशियों की अस्वाभाविक अधिक गति होती रहती है ?

ओ—क्या वह निद्रा लेता है ?

औ—क्या वह रात्रि में कमरे मे या घर के चारों ओर घूमता रहता है ?

२-सांवेदनिक स्थितिः—

अ—दर्शन, श्रवण, गंध और स्वर में भ्रम होता है ? स्पर्शज्ञान जो किसी ठीक सवेदना की मिथ्या व्याख्या पर निर्भर हो, ऐसा भ्रम होता है ?

आ—विपरीत स्मृति-ज्ञान (Hallucination) अर्थात् विषयाश्रित वास्तविकता पर निर्भर न हो ऐसे ज्ञान की बातें करता है ?

३-चित्त-वृत्तिः—

अ—उग्रता (Exaltation)—क्या रोगी बक-बक करता ही रहता है ? शोर मचाता है ? या गाता है ? क्या वह अपने आपको है जिससे अधिक सम्मानित समझता है ? क्या वह व्याकुलता या अत्याचार-वृत्ति दर्शाता है ?

आ—अवसादकता (Depression)—रोग का आक्रमण होने पर या रोग के वर्त्तमान होने से क्या वह कष्ट के मारे चिल्लाता है ? कराहता है ? विलाप करता है या शोक करता है ?

इ—भयभीत विचार—आक्रमण के समय या सर्वदा ही ? क्या वह डरता है ? क्या रोगी आत्मघाती है ?

ई—स्नेहमय विचार—क्या रोगी का वृतान्त प्रेमपूर्ण है ? कृति का उदाहरण देवे।

उ—धार्मिक—क्या रोगी की मानसिक अवस्था अत्यधिक धार्मिक विचारो से परिपूर्ण है ?

४-स्मरण शक्तिः—

अ—अभिप्राय का विस्मरण—जैसे-रोगी इस क्षण कुछ कहता या करता है और दूसरे ही क्षण अपनी आकाक्षा को भूल जाता है ? क्या रोगी वस्तुओ को गलत स्थानो पर रखता है ?

अ—वर्त्तमान की घटनाओ का स्मरण ठीक रहता है ?

इ—भूतकाल की घटनाओ का स्मरण—(जैसे-बालपन की घटनाये) (अगर वर्त्तमान के कर्त्तव्यो की स्मरण-शक्ति ही सिर्फ नष्ट हुई है, तो मालूम करने का प्रयत्न करना चाहिये कि स्मरण-शक्ति मे विकृति कब से हुई है ?)

५-विचार शक्तिः—

अ—सीमा-निर्णय—समय और अन्तर का ज्ञान ठीक रहा है ?

आ—अभिन्नता की कल्पना—मनुष्यो को पहचानने की शक्ति नष्ट होना (जैसे रोगी आतुरालय के कर्मचारी को उसके मित्र या सम्बन्धी समझने की भूल करता है ? अथवा क्या वह उनको प्रसिद्ध या झूठा आदमी समझता है ?) क्या वह जिस परिस्थिति मे है उसकी सराहना करता है ? क्या वह जिस स्थान पर है अपने आपको कही अन्यत्र समझता है ? क्या वह अपने आस-पास के मनुष्यो के कार्यो को गौण या साकेतिक चिह्नो से अभिव्यक्त करता है ? क्या वह भूतकाल मे

ऐसे-ऐसे कार्य किये जाने का दावा करता है, जो अशक्य हो या जिनकी सम्भावना ही न हो ? या जो वास्तव मे उसने न किये हो। जैसे कोई रोगी (शराब के नशे से शय्यावश हो गया हो, तब) कहता है कि मै प्रातःकाल को घूमा था और उन-उन व्यक्तियो से मिला था।)

इ—विचारधारा नियमबद्ध है या असलग्न ?

ई—सशयान्वित कल्पना—निरन्तर करता रहता है या आक्रमण के समय ही ?

उ—कष्ट की कल्पना—अदृश्य शक्तियो से पीड़ित किये जाने का विश्वास (विशेषतः रात्रि को) करता रहता है ?

ऊ—वैभव की कल्पना—धन, अधिकार और शारीरिक शक्ति के सम्बन्ध में करता है ? स्वास्थ्य या शारीरिक अवस्था के विषय में कल्पना करता है ?

ए—भय (अभाव) ओजक्षय (Neurasthenia)।

द्वितीय अध्याय

रोगी की सामान्य दशा और आकृति।

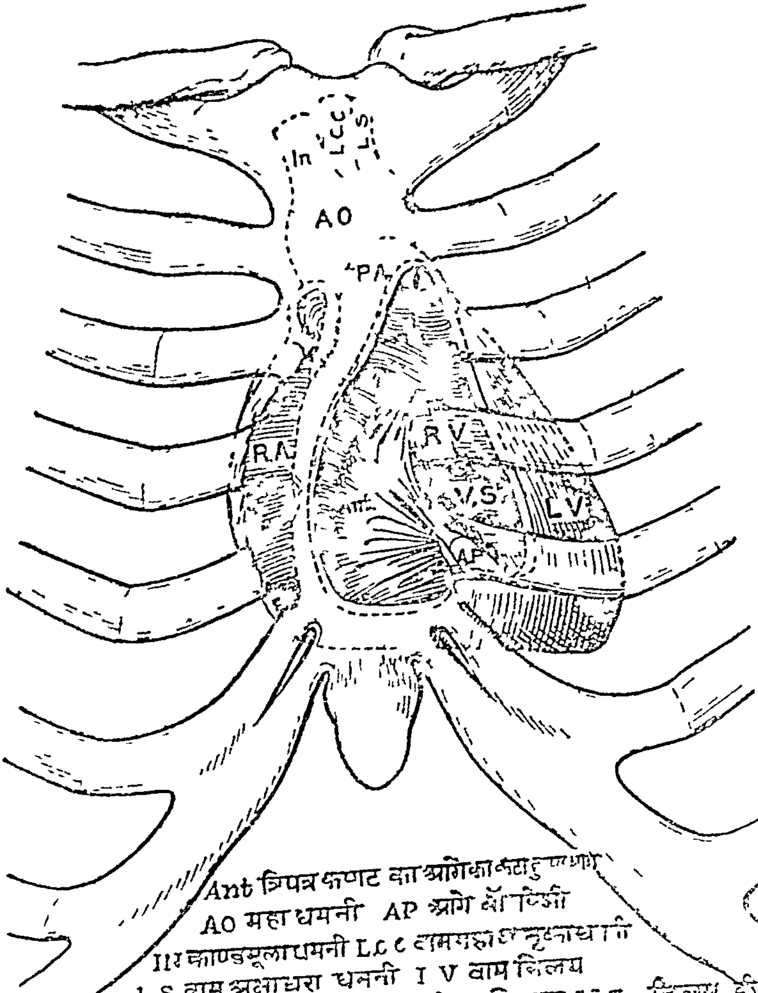
शारीरिक शिक्षा आरम्भ करने से पूर्व वैद्य रोगी के साधारण निरीक्षण मात्र से ही रोग की अमूल्य सूचनाएँ प्राप्त कर सकता है। प्रश्न करते समय और इससे भी पूर्व चतुर वैद्य की आँखे रोग से सम्बन्ध रखने वाली महत्त्वपूर्ण बातें जान लेती हैं। ये सब बातें अभ्यास और अनुभवसाध्य हैं, केवल ग्रन्थों का अध्ययन कर लेने से या किसी के सिखलाने से प्राप्त नहीं हो सकतीं। इस अध्याय में अभ्यास कराने के लिए एवं पथ-प्रदर्शनार्थ एक स्थूल मार्ग का दिग्दर्शन करा देना उचित है।

अङ्ग विन्यास—सर्व प्रथम रोगी अगर स्वयं चिकित्सक के पास आया हो तो उस कमरे मे प्रवेश करने से लेकर स्थान-ग्रहण करने के समय तक अनुभवी वैद्य उसकी शारीरिक स्थिति, चाल, श्वास की गति और वस्त्रादि से बहुत-सी बातें मालूम कर लेता है। रोगी के स्थान पर बैठ जाने पर भी उससे प्रश्न करते समय वैद्य को ध्यान से उसकी अंगभगि और बोलने का ढंग देखते रहना चाहिए, इससे भी कुछ बातें मालूम पड़ जाती हैं। वैद्य का आसन कमरे मे कुछ अँधेरे भाग मे होना चाहिए, जिससे कि रोगी वैद्य के चेहरे पर उत्पन्न होने वाला भाव न समझ सके। इसके अतिरिक्त वैद्य को कभी किसी तरह का भाव अपने चेहरे से रोगी के हृदय मे उत्पन्न न होने देना चाहिए।

अगर वैद्य रोगी के घर पर ही उसे देखने के लिए जाय तो सर्वप्रथम उसके लेटने की शैली को ध्यानपूर्वक देखना चाहिए। स्वस्थावस्था मे मनुष्य सर्वदा आराम देने वाली स्थिति मे ही सोता है। वह समय-समय पर इच्छा-नुसार स्थिति बदलता रहता है। वह सिरहाने के सरक जाने पर अथवा एक पार्श्व पर ही लेटे-लेटे थक जाने पर सिरहाने को ठीक कर लेता है एवं करवट बदल लेता है। इसके विपरीत रुग्णावस्था मे उसकी हलचल सीमाबद्ध हो जाती है या नष्ट ही हो जाती है। उदाहरणार्थ—तीव्र ज्वर या अन्य निर्बलता लाने वाले रोग मे तथा ज्ञान-शक्ति का ह्रास हो जाने पर वह आरामप्रद स्थिति मे अपने आपको परिवर्तित करने मे असमर्थ हो जाता है, और सिरहाने से नीचे की तरफ ही, आकर्षणशक्ति के नियमानुसार सरकता जाता है। यहाँ तक कि

चित्र न० १७

उरः पञ्जर



Ant त्रिपत्र कपाट का अग्रिम
AO महाधमनी AP
In काण्डमूला धमनी LCC
LS वाम अक्षाधरा धमनी LV वाम निलय
PA फुफ्फुसाभिगा धमनी RA दक्षिण अलिन्द RV. दक्षिण निलय VS निलय

उसकी स्थिति श्वासोच्छ्वास में व्याकुलता उत्पन्न कर देती है फिर भी वह असावधान, निर्जीव और चुपचाप पड़ा रहता है।

पार्श्विक शयन (प्रथम प्रकार)—उरोगुहा के कुछ रोगों में, मुख्यतया फुफ्फुस और फुफ्फुसावरण के रोगों में रोगी पार्श्वस्थ ही लेटना ज्यादा पसन्द करता है। पार्श्वस्थ लेटने के लिए उसे दो बातें मजबूर करती हैं—एक यह कि, एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व पर सोने से रोगी श्वास आसानी से ले सकता है, और दूसरी यह कि, उसी पार्श्व से लेटे रहने पर पीड़ा शमन होती है। इसके विपरीत दूसरा पार्श्व बदलने पर पीड़ा तीव्र हो जाती है; जैसे—तरलमय फुफ्फुसावरण प्रदाह में जब तरल अधिक बढ़ जाता है, तब रोगी को रुग्ण पार्श्व के बल सोने में आराम प्रतीत होता है। क्योंकि, इस प्रकार सोने से तरल का दबाव उस पार्श्व के ऊपर नहीं पड़ता। एवं स्वस्थ पार्श्व ऊपर की ओर रह जाता है। इससे श्वास लेने में सुविधा रहती है। फुफ्फुसावरण प्रदाह की प्रथमावस्था में जब कि पीड़ा ही मुख्य लक्षण होता है, तब रोगी जिस तरह पीड़ा कम हो और श्वसन क्रिया में कष्ट कम हो उस स्थिति में लेटता है।

शुष्क फुफ्फुसावरण प्रदाह में यह कहना कठिन होता है कि, रोगी को किस स्थिति में पीड़ा की शान्ति होती है। कारण इसमें पीड़ा के दो कारण हैं। १—फुफ्फुसावरण कला में से पीड़ित सतह पर दूसरों का दबाव और इसी हेतु से परस्पर घर्षण। फुफ्फुस संचलन क्रिया में न्यूनाधिकता। स्वस्थावस्था में बाह्य-कला में गति सदा अधिक होती है और वक्ष की दीवार पर उसका दबाव बहुत कम होता है। अन्तर कला फुफ्फुसों से चिपटी हुई है। जिससे उसमें गति और दबाव अधिक कम रहता है। यदि बाह्यावरण में प्रदाह है और श्वास की गति (घर्षण) के कारण पीड़ा होती है, तो रोगी पीड़ित पार्श्व के बल आराम से लेट सकता है, परन्तु यदि पीड़ा दबाव के कारण होती हो तो रुग्ण पार्श्व को ऊपर की ओर रखने में शान्ति मिलती है। इसी प्रकार अन्तस्थावरण के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है। फुफ्फुसावरण प्रदाह में रोगी को एक पार्श्व के बल सोया हुआ देख कर परीक्षा करने के बाद यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पीड़ा किस कारण से होती है। उदाहरणार्थ यदि रुग्ण पार्श्व नीचे की ओर हो तो दबाव से पीड़ा है, घर्षण से नहीं। इसी प्रकार विपरीतावस्था की कल्पना की जा सकती है। दोनों ही हालतों में रोगी निर्धारित पार्श्व के बल ही लेटता है, और उसमें परिवर्त्तन होता है, तब वह रोग की अवस्था का परिवर्त्तन सूचित करता है।

पार्श्विक शयन (द्वितीय प्रकार)—पार्श्व के बल सोने वाले रोगियों मे से दूसरा प्रकार उनका होता है, जिनके फुफ्फुस में गह्वर (Cavity-कोटर) हो गया हो। जब गह्वर का मुख नीचे की तरफ होता है, तो उसका स्राव स्वस्थ श्वास-प्रणालियो मे निरन्तर प्रवेश करता रहता है और वहाँ पर क्षोभ उत्पन्न करता है। फिर सतत दुष्ट कास की उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत गह्वर का मुख ऊपर की तरफ हो अथवा रोगी के स्थिति बदलने पर मुख ऊपर को हो जाय तो गह्वर स्राव से भरता रहता है। फिर जब वह पूर्णतया भर जाता है; तब तत्काल कास उत्पन्न होती है और सम्पूर्ण संचित स्राव को बाहर निकाल देती है। इसके पश्चात् गह्वर पुनः न भर जाय, तब तक कास उत्पन्न नहीं होती। परन्तु जब स्राव दृढ़, चिपचिपा और परिमाण में कम होता है, जैसा कि राजयक्ष्मा में, तब यह लक्षण प्रकाशित नही होता।

पार्श्विक शयन का अभ्यास—साधारणतया बहुत आदमियों के लिए स्वस्थावस्था मे भी किसी एक पार्श्व पर लेटने से दूसरे की अपेक्षा अधिक सुविधाप्रद होता है, और जब रुग्ण हो जाते हैं तब भी अभ्यासानुसार अक्सर उसी पार्श्व पर लेटते हैं, इसीलिए वैद्य ऐसे रोगी को एक ही पार्श्व पर लेटे देखते हैं। इसलिए इस बात का सर्वदा ख्याल रखना चाहिए कि, एक पार्श्व पर ही रोगी को बार-बार सोते देख कर रोग की कल्पना कभी न कर लें।

श्वासकृच्छ्रता (Orthopnoea)—ऐसे रोगो मे जिनमें श्वास संस्था को अधिक कार्य करना पडता है और लेटने पर श्वास लेने मे कष्ट प्रतीत हो, हर समय सीधा सरहाने का सहारा लेकर बैठा रहना पडता है अक्सर हृदय, फुफ्फुस और वृक्क के बढ़े हुये रोगो से रोगी श्वासकृच्छ्रता के कारण बैठा रहता है। इस स्थिति मे बैठा रहने के कारण श्वास संस्था की सहायक मॉस पेशियाँ आसानी से गति कर सकती हैं एवं उदर गुहा के अंगों का दबाव कम हो जाने से महा प्राचीरा पेशी (Diaphragm)* के कार्य

---

*महा प्राचीरा पेशी (Diaphragm)—चित्र नं० ८ देखे। यह पेशी सीप के कण जैसी दीखती है। शरीर के भीतरी मास पेशियों मे सब मे बडी है। यह उरो गुहा और उदर गुहा, दोनों के बीच अवस्थित है। इस पेशी का आगे का हिस्सा उरः फलकास्थि के निम्न भाग में रहे हुए अग्रपत्र नाम की तरुणास्थि (Xiphoid process) को लगा है। दोनों ओर का हिस्सा ६-७ पर्शुकाओं एवं उपपर्शुकाओं को लगा है। इस पेशी के मूल के

में बाधा कम हो जाती है, जिससे यह अपना कार्य स्वतंत्रता से कर सकती है। इस स्थिति के परिणाम स्वरूप करोटिगत सिरासरिताओं० (Intracranial venous) के दबाव पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है। उदर अति-विस्तृति में रोगी पैरों को उदर दबाव बढ़ जाने के भय से ऊपर की ओर सिकोड नहीं सकता। ऐसा रोगी लेटने के बनिस्बत बैठा रहना ज्यादा पसन्द करता है। क्योंकि बैठा रहने से तरल का दबाव महा प्राचीरा (उदर मध्यस्था) पेशी पर

दोनों ओर दो-दो तोरण (महराब–Arches) रहे हैं। इस पेशी के भीतर उरोगुहा और उदरगुहा के सम्बन्ध को स्थिर रखने के लिये कितनेक छिद्र हैं। इनमें ३ मुख्य हैं। एक छिद्र, जो सब के ऊपर और कुछ दाहिनी ओर है, उसे महाशिरा छिद्र कहते हैं। उसमें से अधरा महासिरा छाती में प्रवेश करती है। दूसरा छिद्र मध्य रेखा में कुछ ऊँचा, अन्न नलिका छिद्र है। उसमें से अन्न नलिका उदर गुहा में आकर आमाशय में मिल जाती है। तीसरा छिद्र इस पेशी के दोनों मूलों के बीच सब से नीचे और पिछली ओर रहा है। उसे महा धमनी कहते हैं। उसमें से महा धमनी उदर गुहा में प्रवेश करती है। इनके अतिरिक्त कितनेक छोटे-छोटे छिद्र भी हैं।

इस पेशी के ऊर्ध्व बहिर्गोल भाग पर मध्य रेखा की दोनों ओर फुफ्फुस धरा कलाकोष के सिरे, मध्य रेखा में हृदय धरा कलाकोष, निम्न अन्तर्गोल बाजू के नीचे दाहिनी ओर यकृत् का दक्षिण पिण्ड, दक्षिण वृक्क अधिक वृक्क, एवं बाईं ओर यकृत् का वाम पिण्ड, आमाशय का ऊर्ध्व भाग, प्लीहा, वामवृक्क का ऊर्ध्वभाग तथा वाम अधिवृक्क अवस्थित हैं।

महा प्राचीरा पेशी श्वास वायु को भीतर खींचने का कार्य करती है। गहरा श्वास लेने में इस पेशी को वक्षः प्रदेश की अन्य पेशियाँ भी सहायता पहुँचाती हैं। इनके अतिरिक्त हिक्का, जम्भाई, हसना, रोना, वमन करना, पेशाब करना, मल-त्याग करना आदि कार्यों में भी यह पेशी सहायक होती है। क्योंकि ये सब क्रिया निःश्वास के पश्चात् ही होती हैं और निःश्वास क्रिया इस पेशी के सकोच बिना नहीं होती।

०**सिरा सरिताएँ**—खोपरी के भीतर मस्तिष्क को आच्छादन करने वाली कला, जो दो पर्त्तों में स्पष्टरूप से विभाजित हो गई है, उसके भीतर वहन करने वाली शिराओं को सिरा सरिता कहते हैं। ये मस्तिष्क के रक्त का वहन करती हैं। एवं परस्पर मिल कर अनुपार्श्विका नामक सिरा सरिताएं कहलाती हैं, वे मन्याविवर में बाहर निकलने पर अनुमन्या शिरा बन जाती हैं। फिर वे गले में आगे बढ़ती हैं।

नहीं पडता। बैठा रहने पर भी वह पैर नहीं सिकोडता, अपने सिर को आगे की तरफ वक्ष पर झुका लेता है और अगर सामने टेबल रक्खी हो, तो उस पर रख देता है। ऐसी अवस्था में उदरस्थ तरल को निकाल देने से रोगी आराम महसूस करता है।

उदर रोगों में अंग विन्यास—उदर के रोगों में, मुख्यतया उन रोगों में जिनमें उदर्य्याकला भी प्रभावित हो गई हो, रोगी पीठ के बल और जानुओं के पास से पैरों को खडा रख कर लेटता है। उसकी मुखाकृति उस पीडितावस्था को प्रकट करती है। श्वास मंद होता है। वह संकेत करता है कि उसे किसी भी प्रकार का हलन-चलन करने पर पीडा होती है। रोगी अपने दोनों या एक पैर टकने पर से सिकोडे रहता है। अगर प्रदाह एक तरफ है, तो एक पैर और सारे उदर में फैल गया है, तो दोनों पैर मोड लेता है।

सामान्यतः किसी घोर व्याधि से पीडित अथवा अति दुर्बल रोगी भी सदैव पीठ के बल (चित्त) ही लेटता है। आन्त्रिक ज्वर की दुर्बलता, मूर्च्छित, अर्द्ध मूर्च्छित और मन्द-मन्द प्रलापावस्था मे भी रोगी चित्त एक ही स्थिति में सोता है और अपने कपड़े या बिस्तरे को चुनता रहता है या अन्य चेष्टाये करता रहता है।

उदर-शूल में अङ्ग विन्यास—उदरशूल (अन्त्रशूल, वृक्कशूल और यकृत्शूल) और रजः कृच्छता से पीडित रोगी या रुग्णा बारम्बार अति बेचैन प्रतीत होते हैं, और बिस्तरे पर लोट-पोट होते रहते हैं। उसका अङ्ग-विन्यास प्रदाहकी गम्भीरता पर निर्भर है। वृक्क-शूल का रोगी बार-बार उठ कर बैठा होता है और पीडा शमन करने वाली स्थिति की खोज में अलग-अलग स्थिति में लेटता है।

आशुकारी आमवात में अङ्गविन्यास—जिस रोगी पर तीव्र आमवात का आक्रमण हुआ हो उसकी स्थिति एक अजीब असहायावस्था प्रकट करती है, उसके हाथ-पॉव गतिशून्य होते हैं; तथा सन्धिस्थान स्फीत, कठोर और पीडा जनक हो जाते हैं।

जब करोटि के भीतर अवस्थित सरिताओं मे रक्त दबाव बढ़ता है, तब सूक्ष्म परिवाहिका शिराओं (Emissary veins) द्वारा रक्त बाहर निकलने लगता है। फिर रक्त करोटि के बाहर की ओर से वहन कर कण्ठगत शिराओं मे चला जाता है। उक्त रक्त दबाव पर बैठे रहने से अच्छा प्रभाव पड़ता है।

वात रोग में अङ्ग-विन्यास—वातसंस्था के अनेक रोगों में रोगी की स्थिति अनोखी ही होती है, मुख्यतया मस्तिष्कावरण प्रदाह में, जब कि वह चत ही लेटता है और उसकी ग्रीवा पिछली ओर मुड़ जाती है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि उसका सिर पीछे की ओर तकियो में घुसा जा रहा है।

जब वातप्रकोपज पीडा तीव्र हो, परन्तु एक ही ओर तथा एक ही स्थान पर हो, तब रोगी घुटने सिकोड कर पार्श्व के बल ही सोता रहता है। ऐसा रोगी चाहे चुप पडा हो, फिर भी उसकी मुखाकृति तीव्र पीडा का परिचय देती है। वयोवृद्ध रोगी प्रायः सीधा नही बैठ सकता। एवं वातव्याधि के भिन्न-भिन्न प्रकारो मे बैठने या सोने की अवस्था भी भिन्न-भिन्न होती है। अर्धाङ्ग वध में रोगी का एक पार्श्व काठ के समान निश्चेष्ट पडा रहता है। अधोशाखा का वध होने पर रोगी के ऊर्ध्व भाग में गति होती है; परन्तु टागें मुर्दा-सी हो जाती हैं। ऐसा रोगी तकिये के सहारे बैठ सकता है। परन्तु टागों को विना दूसरे की सहायता हिला डुला नही सकता। इस प्रकार के रोग वैद्य को दृष्टि डालने पर तुरन्त विदित हो जाते हैं।

सम्भव हो तो रोगी को सिर्फ शय्या पर ही लेटे निरीक्षण न करके उसको खडा करके अथवा चलाकर भी देखना चाहिये। क्योंकि निदान करने में स्वाभाविक अङ्ग-विन्यास आदि बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें रोगी के खड़ा होने पर ही मालूम हो सकती हैं। जैसे वक्ष की ओर का झुकाव, ग्रीवा का कड़ापन, कम्पकम्पी ओर अंगुलियो का सधियो से मुडना और अंगूठे के साथ कार्य करना (जैसे सिगरेट वग़ैरह बनाने मे), ये सब वेपनसह पक्षाघात (Paralysis agitans) मे इतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितनी कि अग्र गमन में विचित्रता। इस वेपन सह पक्षाघात में कष्टप्रद संचलन, हाथो मे वेपन, मास पेशियो का तनाव, विशृंखल अंगविन्यास, निष्पीड़न और अग्र गमन मे विचित्रता (Festinant gait) आदि लक्षण होते हैं। रोगी छोटे-छोटे कदम से जल्दी चलने की कोशिश करता है। एवं पैरो के अंगुष्ठ के बल पर चलता है।

खड़ा रहने पर परीक्षा—(१) शिरकी स्थिति; (२) स्कंधों की स्थिति; (३) शरीर के मध्य भाग का श्रोणी पर झुकाव, जैसे—मास पेशियों का वृद्धि सह पक्षाघात, गर्भावस्था तथा उदरगुहा मे वृहदर्बुद होने पर रोगी पीछे की ओर झुक जाता है, तथा जब वेदना होती हो, तब रोगी आगे की

ओर झुक जाता है; (४) भुज दण्ड और हाथों की स्थिति, (५) निम्न शाखा (पैरों) का ढाचा।

रोगी को खडा करते समय उसका शय्या पर से उठने का ढंग देखना चाहिये। एवं यह विना आश्रय के खडा भी हो सकता है या नहीं ? आश्रय लेने का कारण शारीरिक निर्बलता तो नही है ? शारीरिक निर्बलता होने पर रोगी अपने शिर को देर तक सीधा नहीं रख सकता। और शिर को आश्रय देने के लिए किसी वस्तु को ढूंढता है।

अनुमस्तिष्क पीडित होने पर रोगी आँख बंद करके खडा नहीं रह सकता। वार्धक्यजन्य शोष का रोगी किञ्चिन्मात्र आगे की ओर झुका रहता है तथा हाथो को कूर्पर संधि से मोड लेता है। उसकी अंगुलियाँ सम्मिलित होकर अंगूठे से मिली रहती है। मानो वह किसी वस्तु को पकडे हुए हो।

पार्श्वशूल का रोगी पीडामय पार्श्व पर झुक कर तथा प्रदाहजन्य उदर पीडा का रोगी आगे की ओर मुड कर चलता है।

बालग्रह, अस्थिवक्रता आदि रोगो से पीडित बालकों की जघास्थियाँ धनुष के समान मुड़ी रहती हैं, वक्ष सिकुडा हुआ, पृष्ठ वंश आगे, पीछे या पार्श्व की ओर मुडा हुआ होता है। बालग्रह के रोगी का कद कभी-कभी आजीवन छोटा रह जाता है। अस्थिवक्रता आदि देह-शोषक रोगो मे इस बात का पूर्णतया ध्यान रखना रखना चाहिये कि, उपर्युक्त परिवर्त्तन, रोग निवृत्त हो जाने के पश्चात् भी विद्यमान रह गया है या नही।

चलने पर परीक्षा—जब रोगी चले तब उसकी चाल में कोई अनोखापन हो तो उस पर आवश्यक ध्यान देना चाहिये। चलन विकृति (Gait) का सम्बन्ध अक्सर वात और मास संस्था की व्याधियो से ही होता है। इसका विस्तृत वर्णन ११ वें अध्याय में किया जायगा, परन्तु विद्यार्थियो को यह बात अवश्य स्मरण रखनी चाहिये कि, चाल मे विकृति जिस तरह मास सस्था और वात सस्था की व्याधियो के कारण हो सकती है, ठीक उसी तरह, वात रक्त की पीडा से आक्रमित अंगुष्ठ, छाले युक्त ऐड़ी और गुल्फ-सधि, जानु-सधि, उरु-सधि की अस्त्र चिकित्सा वाली स्थिति मे चलन क्रिया रोगानुरूप परिवर्त्तित हो जाती है।

चाल पर सामान्य दृष्टि अवश्य डाल लेनी चाहिये। प्रायः कपडे पहने ही चाल मालूम पड जाती है। परन्तु कभी-कभी कपडे के हेतु से विशृङ्खल और हास्यजनक चाल होती है, तथा कपड़े के ही हेतु से किस

स्थान में विशेष या मुख्य विकृति आई है, इस बात को जानने के लिये टांगो को पूर्णतया नग्न करके चाल को देखने की आवश्यकता होती है। उत्तम तो यह है कि रोगी को केवल कमीज पहना कर नंगे पॉव और नंगी टॉग ही चलावें। रोगी को कुछ दूर जा कर वापस लौट कर आने को कहे। इससे उसकी चाल और लौटने की पद्धति दोनों ही मालूम पड जायेगी।

सर्वप्रथम यह देखना चाहिये कि, वह बिना किसी आश्रय के चल सकता है अथवा नहीं ? अथवा आश्रय पर कितना निर्भर है । यदि सिर्फ़ दौर्बल्य के कारण ही रोगी चलने से असमर्थ हो तो यह बात उसके चलन और शारीरिक दशा से साफ़ प्रकट हो जाती है । किसी एक पैर पर चोट लगने या प्रदाह और विद्रधि होने के कारण चलते समय रोगी का यह यत्न होता है कि, पीडित पैर पर शरीर का भार बिल्कुल न पडे।

वंक्षण सधि के रोगो मे और अधोशाखाओ के मास शोष में रोगी एक ओर से दूसरी ओर झूम-झूम कर हाथी की तरह चलता है, अर्थात् जिस ओर का पैर उठाता है, उसके दूसरी ओर के पैर पर अपना सारा भार डाल देता है।

मन्यास्तम्भ मे ग्रीवा सीधी और अकडी हुई प्रतीत होती है, शिर को इतस्ततः फेरने मे कष्ट होता है। उदर पीडा का रोगी आगे झुक कर और पेट को हाथ से दबा कर चलता है। वृक्कशूल मे रोगी पीडित पार्श्व के स्कंध को नीचे झुका कर चलता है। कटिशूल का रोगी अपने हाथ को कटि पर रख कर सीधा लकडी के समान चलता है।

अनुमस्तिष्क (Cerebellum) के रोगो से पीडित तथा मद्यपी लड-खडा कर चलते हैं, मानो वे गिर जायेंगे। अनुमस्तिष्क के रोगी के लिये ऑखे मींच कर खडा रहना कठिन होता है। आखें बंद करने पर वह गिर पडता है। कारण यह है कि, समातोलपने को सम्हालना यह अनुस्तिष्क पर निर्भर है और इसकी विकृति मे यह जवाबदारी नेत्रो पर रहती है। इसलिये नेत्रों के बंद हो जाने पर गिर पडना स्वाभाविक है।

रोगी पक्षाघात के पश्चात् पक्षदौर्बल्य तथा कलायखञ्ज (Loco-motor ataxia) आदि रोगो मे टॉग घसीटता लङ्गडा कर चलता है; और पाद पतन(Foot drop) एवं सीमागत वात नाडी प्रदाह (Peripheral Neuritis) आदि वात रोगो मे रोगी ऊॅचे-ऊॅचे कदम उठा कर चलता है। पार्श्वकाठिन्य और अधोशाखाघात के बाद एवं निम्न शाखाओ की अति शिथिलता होने पर रोगी दोनो पैर पृथ्वी पर घसीट कर चलता है, मानो

उसके पॉव पृथ्वी पर चिपटे हो। सुषुम्णा अर्बुद का रोगी चलते समय पैर उठाकर एक दम आगे मार देता है।

जरा शो का रोगी चलता है तब ऐसा भास होता है कि, वह उत्सुकता से जल्दी-जल्दी आगे कदम रखता है। जैसे उसके सामने कोई वस्तु रक्खी हो और उसको उठाने के लिये प्रतियोगिता हो रही हो। वह चलते समय अपने बाहु भी नहीं हिलाता। अगर मुडने का काम पड जाय तो एक दम मुड भी नही सकता। वह लकडी के समान एक साथ सारा शरीर मोड़ता है।

मेरुदण्ड की वातवाहिनियो के रोगों में रोगी सीधा अकड कर चलता है। जब किसी को मूत्राशय के रोग (पथरी वगैरह) या मूत्रनलिका के रोग (उपदंश, पूयमेहादि) हो जायँ तो रोगी टॉगे चौडाये हुए चलता है। एव कपडे को मूत्रेन्द्रिय से दूर रखने का प्रयत्न करता है।

वेषभूषा—इसके पश्चात् रोगी की वेषभूषा पर भी सरसरी दृष्टि डाल लेना जरूरी हैं। क्योकि इससे बहुधा उसके स्वभाव, सभ्यता, निवास-स्थान, व्यवसाय, योग्यता और विद्वत्ता आदि के विषय में बहुत कुछ कल्पना हो जाती है। यदि वस्त्र ढीले हो तो यह आसानी से अनुमान लग जाता है कि रोगी कितना कृश हो चुका है। वस्त्रों से उसकी मानसिक स्थिति का भी ज्ञान हो जाता है। उसके जूतो को देख कर उसकी चाल मे उत्पन्न विकृति भी मालूम की जा सकती है। उदाहरणार्थ—पार्श्वकाठिन्य मे रोगी पीडित पार्श्व की ओर का पैर घसीट कर चलता है। इससे उस ओर का जूता ज्यादा घिसता है।

वक्तव्य—इसमें सन्देह नहीं कि रोगी को खडा करने एवं चलाने से बहुत महत्त्वपूर्ण बाते मालूम होती है परन्तु रोगी की स्थिति न हो तो इस पर जोर नही देना चाहिए।

शरीर का साधारण सम्बर्द्धन और पोषण—रोगी की इन बातो की परीक्षा भी ध्यानपूर्वक करनी चाहिए। भिन्न-भिन्न मनुष्यो के भीतर इसमें बहुत अन्तर पाया जाता है और वक्ष की चौडाई भिन्न-भिन्न जाति के मनुष्यो मे न्यूनाधिक पाई जाती है। मनुष्य के संवर्द्धन और पोषण की परीक्षा करने के समय उसकी आयु का भी ख्याल रखना चाहिए। कद, तौल तथा आयु की गणना और अनुपात २०-२५ वर्ष की आयु तक विविधभेदयुक्त होने से सामान्यतः अस्वाभाविक माना जायगा; किन्त परिपक्व ('५० वर्ष) होने पर स्वाभाविक ही रहेगा। ऊंचाई, वज़न, छाती की परिधि और आयु का

अनुपात व्यक्ति भेद से बदलता रहता है। फिर भी हज़ारो मनुष्यो की परीक्षा द्वारा निष्कर्ष निकाल कर एक औसत माप दण्ड निश्चित कर लिया गया है। जिससे तुलनात्मक पोषण और सवर्धन की न्यूनाधिकता का ज्ञान हो जाता है। आगे दर्शित माप दण्ड से सर्वोच्च जीवन व्यतीत करने वाले में भी २० प्रतिशत न्यूनाधिकता हो सकती है।

जब कि कद और वक्ष का नाप मालूम हो, तो भार मालूम कर लेने की विधि ज्ञात करने के लिये विविध उपायों से प्रयत्न किये गये हैं। उसमे आंशिक सफलता भी मिली है। उन विधियो मे से एक 'एच वैरोर्डट (H. Vierordt) द्वारा निश्चित की गई है:— $\frac{\text{ऊँचाई} \times \text{वक्ष परिधि}}{२४०}$ = भार किलोग्राम में। जब ऊँचाई और वक्षकी परिधि सेण्टीमीटर्स में हो तो उनको गुणा कर उसमे से २४० का भाग देने से शरीर का भार किलोग्राम मे ज्ञात हो जाता है। परन्तु शरीर का भार पौण्डो में ज्ञात करना हो तो शरीर की ऊँचाई और वक्ष की परिधि के इंच बना कर परस्पर गुणा करके १७ से विभाजित करने पर शरीर का भार पौंड मे आ जाता है। उदाहरणार्थ एक मनुष्य की ऊँचाई १७२$\frac{३}{४}$ सेण्टीमीटर या ६८ इञ्च है। छाती की परिधि ८६$\frac{३}{२}$ सेण्टीमीटर या ३४ इञ्च है, तो $\frac{१७२\frac{३}{४} \times ८६\frac{३}{२}}{२४०}$ = ६२ किलोग्राम अथवा $\frac{६८ \times ३४}{१७}$ = १३६ पौण्ड वजन प्राप्त होता है। इतनी ऊँचाई तथा वक्ष की परिधि वाले व्यक्ति का भार १२५ से कम या १५० पौण्ड से अधिक प्रतीत हो, तो समझा जायगा कि वह रुग्ण है।

रोगी की ऊँचाई के साथ वजन का सामञ्जस्य है या नही ; देह का वजन क्रमशः ह्रास होता है या नही, इस विषय को जानना भी नितान्त आवश्यक है। कतिपय रोगो मे शरीर का वजन अति कम हो जाता है। यथा राजयक्ष्मा, मधुमेह, कर्कस्फोट आदि रोग। इसके विपरीत मेदोवृद्धि मे वजन बढ़ भी जाता है। अतः देह की वजन-परीक्षा रोग निर्णय और चिकित्सा के परिणाम के निर्णयार्थ विशेष सहायक होती है।

किसी-किसी रोग मे एक-एक सप्ताह होने पर तथा किसी रोग में एक एक मास के बाद वजन किया जाता है। वजन होने पर रोगी का पोषण कैसा होता है और औषधि कार्य करती है या नही, यह सामान्यतः विदित हो जाता है। अतः शोष प्रधान रोगो मे रोगी चिकित्सार्थ पहली बार आवे, तब उसका वजन कर लेना चाहिए, और फिर बार-बार वजन का निर्णय कर लेना चाहिए।

अत्र आयु और लम्बाई के अनुपात से वजन का मापदण्ड दो विद्वानो के निर्णय अनुसार दर्शाते हैं। उन पर से सामान्य अनुमान हो सकेगा। यद्यपि दोनो के वजन के भीतर कुछ अन्तर रहता है। वह देश-भेद, समाज-भेद और अनुभव-भेद से मानना चाहिए।

ऊँचाई अनुसार भार का मापदण्ड

ऊँचाई	पुरुष की आयु वर्ष				स्त्री का आयु वर्ष			
	२०	३०	४०	५५	२०	३०	४०	५५
फीट इंच	पौण्ड	पौण्ड	पौण्ड	पौण्ड	पौण्ड	पौण्ड	पौण्ड	पोण्ड
५—०	११४	१२१	१२५	१२८	११०	११५	१२०	१२८
५—१	११७	१२४	१२८	१३२	११३	११८	१२४	१३२
५—२	१२१	१२८	१३३	१३६	११६	१२२	१२८	१३६
५—३	१२५	१३२	१३७	१४१	११९	१२६	१३२	१४०
५—४	१२८	१३६	१४१	१४५	१२३	१३०	१३६	१४४
५—५	१३२	१४०	१४५	१४९	१२७	१३४	१४०	१४८
५—६	१३६	१४४	१४९	१५४	१३१	१३८	१४४	१५३
५—७	१४०	१४८	१५४	१५८	१३५	१४२	१४८	१५८
५—८	१४४	१५३	१५८	१६३	१३९	१४६	१५२	१६३
५—९	१४८	१५८	१६३	१६८	१४३	१५०	१५७	१६८
५-१०	१५३	१६३	१६८	१७३	१४७	१५४	१६२	१७३
५-११	१५८	१६८	१७३	१७८	१५१	१५९	१६७	१७८
६—०	१६३	१७२	१७८	१८३	१५६	१६४	१७२	१८३
६—१	१६८	१७७	१८४	१८८	१६१	१६९	१७८	१८८
६—२	१७३	१८२	१८९	१९४	—	—	—	—
६—३	१७८	१८८	१९५	२००	—	—	—	—

श्वास लेने पर १॥ से २ इञ्च बढ़ जाता है। यह नाप स्तनो की आडी रेखा से लिया जाता है।

स्वस्थावस्था में पुरुष के छाती से पीठ पर्यन्त अनुलम्ब (Antero posterior) व्यास अर्थात् सम्मुख-पश्चात् मोटाई सामान्यतः ऊपर के हिस्से से कण्ठ प्रदेश के पास ६ इञ्च और ७ इञ्च होता है। स्त्रियो का व्यास अपेक्षाकृत कम होता है। स्तनो के समतल पुरुषो के वक्ष का अनुप्रस्थ (Horizontol) व्यास १० इञ्च, वक्ष की परिधि गम्भीर श्वास-त्याग करने के पश्चात् ३२–३३ इञ्च तथा दीर्घ श्वास ग्रहण करने के पश्चात् ३४ से ३६ इञ्च होती है। जिनका दहिना हाथ बाये हाथ की अपेक्षा अधिक सबल हो और अधिक कार्य करता हो, उसके वक्ष के आधे दाहिने भाग की परिधि वाम की अपेक्षा ½ से १ इञ्च अधिक होती है। वाम हस्त बलवान होने पर वक्ष के वामार्ध प्रदेश की परिधि अधिक होती है।

अगर स्त्री रुग्ण है तो, उसके स्तनो के स्तर से लिये हुए नाप की तुलना उदर की परिधि के नाप के साथ करनी चाहिये। अगर मर्द जिसकी उम्र मध्यमावस्था से कम है और उसके चूचुक से लिये हुए नाप की अपेक्षा उदर की परिधि ज्यादा है तो वह नाप वसाधिक्य (Obesity) की सूचना देता है; और भविष्य मे वह वसावृद्धि उसकी क्षमता को कम कर सकती है, या उदर परिधि का वक्ष परिधि से बढ़ जाना उदर के आन्तरिक अंगो के रुग्ण होने की सूचना देता है।

पीड़ा के हेतु से उभय दिशा के वक्षः दीवार के नाप मे न्यूनाधिकता हो जाती है। वात भृत, फुफ्फुसावरण (Pneumothorax), फुफ्फुसावरण में रस सग्रह, फुफ्फुस प्रदाह, वायु कोष प्रसारण (Emphysema) और फुफ्फुसान्तराल मे अर्बुद (Mediastinum Tumour) मे वक्ष की एक या उभय पार्श्व में वृद्धि हो जाती है। वायु-कोष का प्रसारण प्रबल होने पर वक्ष गोल नलाकार हो जाता है। समग्र व्यास, विशेषतः समुख पश्चात् व्यास बढ़ जाता है। अन्त्रावरण (उदर्य्याकला) मे रसोत्सजन अर्थात् जलोदर होने पर एवं उस भाग मे अर्बुद होने पर वक्ष का निम्न देश विवर्द्धित होता है।

किसी-किसी की छाती जन्म से पतली होती है। उसका वक्ष स्थान लम्बा, दबा हुआ और अगम्भीर होता है। पञ्जर का मध्य स्थान प्रशस्त तथा समुख पश्चात् व्यास (मोटाई) स्वाभाविक की अपेक्षा न्यून होता है। ऐसी वक्षाकृति वाले यक्ष्मा रोग से सरलतापूर्वक पीड़ित हो जाते है।

फुफ्फुसावरण में उत्सृष्ट रस जब पुनः शोषित हो जाता है, तब फुफ्फुसावरण आकुंचित हो जाता है। फिर से छाती का व्यास कम हो जाता है और वक्ष ऊँचा हो जाता है। राज यक्ष्मा और फुफ्फुस विशीर्णता (Pulmonary cirrhosis) आदि रोगो मे ऐसा होता है।

देहपोषण— उपर्युक्त विधि से माप और भार मालूम कर लेने के पश्चात् रोगी का पोषण कैसे हुआ है, यह बात देखनी चाहिए। रोगी हृष्ट-पुष्ट है और उसे उचित पोषण प्राप्त हुआ है या दुबला-पतला। स्वस्थावस्था में अन्तर त्वचा के तन्तुओं के भीतर वसा उचित परिणाम मे होती है, मास पेशियाँ योग्य आकार की होती हैं, एवं उनमे स्वाभाविक कठोरता होती है। उन मनुष्यों में, जिनको अपने प्रति-दिन के व्यवसाय के कारण किसी अंग विशेष से ज्यादा काम लेना पडता है, उस अंग की मास पेशियो के आकार और कठोरता मे वृद्धि हो जाती है। स्वस्थावस्था मे त्वचा नमनशील, न ज्यादा गीली और न ज्यादा सूखी होती है, परन्तु अगर पोषण उचित न मिला हो, तो मास पेशियाँ पिलपिली हो जाती हैं, अन्तर त्वचीय वसा इतनी बढ़ जाती है कि उसको भारस्वरूप मालूम पडने लगती है। पोषण की आमद से खर्च की वृद्धि हो जाने पर रोगी दुर्बल हो जाता है, इसलिए दुर्बलता रुग्णावस्था का ज्वलन्त प्रतीक होती है; मुख्यतया उन रोगों मे, जिनमे ज्वर बना रहता है।

चिकित्सक को चाहिए कि रोगी के पोषण की कल्पना करते हुए उस के शरीर के साधारण विकास पर भी दृष्टि डाले। कुछ मनुष्य स्वाभाविक ही छोटे और निर्बल होते हैं, जब कि कुछ लम्बे और हृष्ट-पुष्ट होते हैं। चिकित्सक को ऐसे भी आदमी मिलेंगे जिनमे, अन्तरत्वचीय वसा तो बहुत कम होती है, परन्तु उनकी मास पेशियों का पोषण उचित हुआ होता है; इसके विरुद्ध ऐसे भी मनुष्य देखने मे आवेंगे जिनकी मास पेशियाँ निर्बल हैं और अन्तर त्वचीय वसा अधिक बढ़ी हुई हो।

चिकित्सक को यह पूर्ण तया ख्याल रखना चाहिए कि बाल्यावस्था के बहुत से ऐसे रोग हैं, जिनमे शरीर का कद बहुत छोटा रह जाता है, अथवा बहुत बढ़ जाता है। जिन मनुष्यो का शरीर पूर्णतया विकास और वृद्धि को प्राप्त न हुआ हो, उनके लिये यह अनुमान लगाया जा सकता है कि, उनमे बाल्यावस्था में ही कोई देह-शोषण व्याधि हुई है। इसके विपरीत शरीर ज्यादा लम्बा या मोटा होने पर भी बाल्यावस्था के रोग का अनुमान लगाया जा सकता है। इस बात की कल्पना करते हुए सर्वदा यह ख्याल रखना चाहिए कि, यह मनुष्य किस जाति, किस देश और किस आयु का है। सीमा प्रान्त निवासी

को ज्यादा लम्बा देखकर उसकी लम्बाई का कारण किसी रोग को मान लेना कभी उचित नही है। कारण वे स्वाभाविकतया ही अन्य प्रान्तो के निवासियो से लम्बे होते हैं। इसके विपरीत नेपाल के आदमी स्वाभाविक ही छोटे कद के और बहुधा बलवान् होते है।

ऊँचाई न्यून रह जाने के कारण—१. बालग्रह, २. जन्मजात उपदंश, ३. सुषुम्णा काण्ड का क्षय (इसमें पृष्ठ वंश आगे की ओर, पार्श्व की ओर या पीछे झुक जाता है,) ४. गुप्त राजयक्ष्मा; ५. बाल्यावस्था मे चिरकाल तक अजीर्ण, अतिसारादिका रहना, ६. ग्रैवेयक ग्रन्थि (Thyroid gland) के रस का अभाव, ७. अग्न्याशयपोषणिका ग्रन्थि (Pituitary body) आदि आन्तरिक ग्रन्थियों के स्राव का अभाव, ८. अनेक सन्तानो की उत्पत्ति, अनेक सन्तानो का जन्म होने के बाद जो सबसे अन्तिम सन्तान होती है वह, छोटे कद की ही होती है, परन्तु वह सुन्दराकृति और रूपवती होती है। उसकी आँख बहुधा वक्राकृति होती हैं) ९. अस्थिमार्दव (Osteomaliciea), १० वशागत प्रकृति। इन सब कारणो से ऊँचाई कम रह जाती है।

देहके अधिक मोटा बन जाने के हेतु—१. देवकाय (Acromegaly) इसकी उत्पत्ति पोषणिका ग्रन्थि के कार्याधिक्य से होती है, २. सार्वाङ्गिक घन शोथ (Myxoedema), इसकी उपत्ति ग्रैवेयक ग्रन्थि की विकृति से होती है, ३. स्थूल काय—अध्यशन से, अथवा अनेक आन्तरिक ग्रन्थियों-पोषणिका, ग्रैवेयका, बीजाशय, उपवृक्क, दृक्कन्द (Pinal body) इनके स्राव की विकृति से। स्त्रियो के भीतर सामान्यतः देखा गया है कि, रजोनिवृत्ति के पश्चात् कभी-कभी वह स्थूल हो जाती है। इसमे भी बीजाशयो के स्रावकी विकृत्ति ही कारण है। इसी प्रकार पुरुष भी वृषण ग्रन्थियो के विकार के कारण बेडौल मोटा और पुरुषत्वहीन हो जाता है।

मुखमण्डल पर भावना (Expression)—रोगी की आकृति रोग-निदान मे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सहायक सिद्ध हुई है। अनुभवी चिकित्सक इससे रोग और रोगी, दोनो के विषय मे बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेता है। रोगी का मानसिक भाव इससे आसानी से जाना जा सकता है।

नेत्र का भाव—रोगी की आकृति निश्चित करने में नेत्र महत्त्वपूर्ण भाग अदा करता है। अनेक रोगी चिकित्सक के सम्मुख नही देख सकते है। इसका कारण यह है कि, वह चिकित्सक से अपनी असली स्थिति छिपाना चाहता है, या किसी बहाने गुप्त रोग की बात को दबा लेना चाहता है, या

उसने कुछ लज्जास्पद कार्य किया है। गुप्त रोग का रोगी ही अक्सर वैद्य से नेत्र नही मिला सकता। चिकित्सक को भी पूर्ण विश्वास कर लेना चाहिये कि, इस प्रकार का रोगी उसकी आज्ञा का पालन भी शायद ही करेगा। इसके विपरीत जो रोगी चिकित्सक पर पूर्ण विश्वास रख, उसे ही अपना प्राण-रक्षक समझ-कर उसके पास आता है, उसकी आँखो मे दीनता की झलक होती है। कभी-कभी यक्ष्मा के रोगी के नेत्र चिकित्सक की प्रत्येक चेष्टा को जानने के लिये बेचैन रहते हैं। एवं ऐसी व्याधियो में, जिनमे बुद्धिवृत्ति मंद होती है, रोगी उसके आस-पास की परिस्थितियो और चहल-पहल को परवाह न करते हुए विचार में निमग्न-सा बन जाता है या लगातार शून्य की तरफ देखता रहता है। लघुदृष्टि (Myopia) अत्यधिक बढ़ जाने पर तथा तुंगाक्ष गलगण्ड (Exophthalmos goitre) मे नेत्र गोलक बाहर निकला हुआ मालूम पड़ता है। एक दम शक्तिपात कर देने वाले एव भयानक रोग, जैसे विसूचिकादि मे अन्दर धंसे हुए और अपूर्ण खुले हुए नेत्र स्वाभाविकतया चिकित्सक का ध्यान आकर्षित कर लेते है। नेत्रो की स्थापना और दृष्टि की वक्रता में अन्तर होना यह मनुष्य के वंशागत स्वभाव पर निर्भर है, उन पर दृष्टि पात करने से उसके कुटुम्ब और उत्तरधिकारी के रोग की कल्पना चिकित्सक कर सकता है।

नेत्र की विकृतियो का विस्तृत विवरण आगे दशम अध्याय मे किया जायगा। एवं नेत्र के प्रत्येक अंग की विकृतियाँ भी दर्शायी जायंगी। किस प्रकार नेत्र गोलक का बाह्य पटल और नेत्र श्लेष्मावरण (Conjunctiva) वृक्क प्रदाह (Bright's Disease), रक्त न्यूनता, आमवात, कामला और असयम को प्रकट करते हैं, तथा शुक्ल मण्डल (Cornea) के चारो तरफ एक श्वेत पंक्ति उत्पन्न हो जाने से शरीर के अन्य अंगो की वृद्धावस्था प्रकट कर देता है, या यह मण्डल उपदंश को प्रत्यक्ष कर देता है, किस प्रकार कनीनिका (Pupil) का आकार और गति वात सस्था की व्याधियो और धमनी विस्तृति को प्रकट करते है, या यह जीर्ण तारामण्डल प्रदाह (Chronic Iritis) के फलस्वरूप शुक्ल मण्डल या दृष्टिमणि (Lens) के साथ तारामण्डल के सलग्नता को प्रकट करते हैं, तथा तारामण्डल मे यक्ष्माग्रन्थि का होना बतलाते है या तारामण्डल के प्रदाह के कारण वह मैला और वर्णहीन हो जाता है, ये सब विस्तार से दशम अध्याय मे समझाया जायगा।

निम्न अक्षिपुट—प्रातः काल जब मनुष्य शय्या-त्याग करता है, उस समय अगर उनके नेत्र की अधः पलक शोथमय हो तो समझना चाहिये कि,

वह वृक्कप्रदाह से पीड़ित है। इस प्रकार का शोथ बारंबार कास के भयंकर आक्रमण से पीडितो को भी हो सकता है। काली खासी (Whooping Cough) से पीडित बच्चो मे यह चिह्न स्पष्ट प्रतीत होता है। खटमल के काटने से भी नेत्र पक्षो की स्फीति और प्रदाह हो सकते है।

नेत्रों के नीचे कालापन—मनुष्य, जिनकी पाचन-क्रिया विकृत है या जो थका हुआ है (मुख्यतया निद्रा की कमी से), उनके नेत्रो के नीचे किंचित् कालापन आ जाता है। स्त्रियो मे तो यह कालापन मासिक धर्म के दिनो में अन्य समय की अपेक्षा गहरा मालूम पडता है।

श्वसनक आदि सन्निपातो की अरिष्टावस्था मे नेत्र लाल-लाल और फटे से भासते है। कनीनिका ऊपर को चढ़ जाती है, और श्वास वृषभवत् जोर-जोर से आता है।

नासाः—जन्म लब्ध उपदंश में नासा-सेतु बैठा होता है। कुष्ठ और नासा कृमियो मे भी नासा बैठ जाती है। हार्दिक वाम मध्यस्थ कपाट द्वारा आकुंचन (Mitral stenosis), मद्यपी और स्त्रियो की जीर्ण आजीर्ण मे नासाग्र रक्त वर्ण का होता है, नासाग्र की लालिमा कभी-कभी स्थानिक क्षोभ के कारण भी हो जाती है, जैसे जुखाम में। साधारणतया नथने की तरुणास्थि नासा पालि के (Alae nasi) श्वास-प्रश्वास के समय स्थिर रहती हैं, कोई गति नही करती; परन्तु व-क्रिया-विकृति (Neurosis), श्वसन सस्था की वातनाडी-विकृति, ज्वर (न्युमोनिया) अर श्वासावरोध मे श्वास लेते समय ये गति करने लगती हैं। रोगी बालक होने पर यह चिह्न अधिक महत्त्व रखता है। युवा व्यक्तियो मे जो विशेषतया नासा पश्चिम ग्रन्थि (Adenoids) की वृद्धि और साधारणतया जो जीर्ण कास और ग्रसनिका ग्रंथि वृद्धि से पीडित होते है, उनका नाक चिपका हुआ तथा मुख मत्स्य के सदृश खुला हुआ रहता है। इसका कारण नासापालिके को नासानिथ के सहारे की कमी है। शुद्ध वायु बराबर फुफ्फुसो मे पहुँचती रहे इसके लिये उनको मुँह खुला रखना ही पडता है।

सार्वाङ्गिक घन शोथ (मिक्सीडीमा) में जब कि सम्पूर्ण शरीर स्थूल हो जाता है, तब भी नाक इतना नही बढता है। जीर्ण विषमज्वर, जीर्ण अर्श या अन्य रक्त को अशुद्ध बनाने वाले रोगो मे नासा पर या उसके आसपास काले-काले दाग हो जाते हैं।

ओष्ठ—रोग की साध्या साध्य और अरिष्ठावस्था प्रगट करने में ओष्ठ एक महत्व पूर्ण थान रखते है। रोगो की बढ़ी हुई अवस्था मे चिकित्सक

को अवश्य रोगी के ओष्ठ देखना चाहिये। ओष्ठ का वर्ण, रूक्षता, स्निग्धता और गति पर से अरिष्ठावस्था की कल्पना करके अनेक समय वैद्य अपयश से बच जाता है।

निम्नोष्ठ का मोटा, छोटा या लाल होना, यह रोग की प्रवृत्ति दर्शाता है। उसका छोटा पतला तथा कम्पायमान होना व्यक्ति के मृदु स्वभाव और विक्षिप्त वात प्रकृति (Neurotic temperament) का चिह्न है। जिन स्त्रियों का स्वास्थ्य बहुत बिगड जाय एवं पुनः ठीक होने की सम्भावना न हो, उनमें भी ओष्ठ इस प्रकार परिवर्त्तित हो जाता है।

ओष्ठ रक्त की न्यूनता मै निस्तेज (श्वेत पीत) हो जाते हैं । एवं हलीमक जन्य, वृक्क प्रदाहज या रक्तस्रावजनित निर्बलता मे निस्तेज बन जाते हैं। रक्त मे ओक्सीजन कम हो जानेवाले रोग, न्युमोनिया आदि श्वास-कृच्छ्रता के रोग तथा हृदय रोग में ओष्ठ नीलाभ हो जाते हैं। गात्र नीलिमा उत्पन्न करनेवाले रोग, हृदय विस्तार और अति बढ़ी हुई कास मे ओष्ठ नीले हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त कभी बद्धकोष्ठ युक्त अजीर्ण मे भी ओष्ठ नीले-काले बन जाते हैं।

शीत प्रधान विषम ज्वर में ओष्ठ पर से त्वचा निकलती रहती है, तथा ज्वर के अन्त में ओष्ठ पर छोटी-छोटी पिटिकाएं हो जाती हैं।

कक्षा (Herps) को पिडिकाये ओष्ठ पर हो जॉय तो इस बात का पूर्ण खयाल रखना चाहिये कि, इनका श्वास प्रणाली प्रदाह के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है और उनके उपस्थित होने पर रोगी को न्युमोनिया तो नहीं हुआ है? इसका पूर्णतया निदान कर लेना चाहिये। ज्वरमुक्ति के अनन्तर भी यह पीडिकायें निकल सकती है।

उपदंश की द्वितीयावस्था मे ओष्ठो पर ओर मुंह के कोनो पर व्रण हो हो जाते है, तथा ओष्ठ का किनारा स्थान-स्थान पर फट जाता है। उपदंश के व्रण एक मुख्य प्रकार के होते है, जिससे दूसरे प्रकार के व्रणो से आसानी से भेद किया जा सकता है। इस रोग मे ओष्ठ पर की दरारें (Fissures) अच्छी हो जाने पर भी उन स्थानो मे सफेद दाग (Scars क्षतचिह्न) रह जाते हैं।

शीत अधिक लगने पर ओष्ठ फट जाते हैं तथा उष्णता अधिक लगने और अपचन होने पर ओष्ठ सूख जाते है।

कितनेक प्रकारों के ज्वरो मे रोगी मुँह से श्वास लेता है। जिससे

मुँह मे से लालाका जलीयांश निः श्वास के साथ ओष्ठ और दाँतो को लगता रहता है। फ़िर वह मल रूप से जम जाता है।

धनुर्वात, हिस्टीरिया आदि वातनाडियों के विकारों मे ओष्ठों के संचलन और भाव में विकृति आ जाती है। कुचिला से विषाक्त रोगी के ओष्ठ भी धनुर्वात पीड़ित के समान विकृतिवाले वन जाते हैं।

फिरंग रोगी के जूठे-अन्न-जल के सेवन या उसको चुम्बन करने पर उपदंश रोग के लक्षण के समान ओष्ठ पर स्फोटक बन जाता है। एवं वह दूर होने पर कुष्ठ के समान श्वेत दाग तो रह ही जाता है।

नासा पश्चिम ग्रन्थि की वृद्धि, बुद्धिमान्द्य और पक्षाघात से पीडितों के ओष्ठ सम अवस्था में नही रहते तथा मुँह भी खुला रहता है।

कर्णः—मूढ़ मनुष्यो के कान अक्सर छोटे होते हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी बुद्धिमान्द्य सह कर्णास्थि के आवरण के अर्बुद (Hematoma auris) की वृद्धि होने पर भी ऐसा ही होता है। प्रसव के समय विकृति होने से उत्पन्न कर्णप्रदाह तथा मस्तिष्क को संचालित करनेवाली वातनाडियो की विकृति से भी कान छोटे रह सकते हैं। वार-वार वातरक्त से पीडित होने वाले रोगियो के कानो मे कठोर गाँठे (Tophi) वन जाती हे यह गाँठे संधियो के भीतर मासपेशियो के अन्तिम भाग मे उत्पन्न हो जाती है। प्रथम यह नरम होती है, बाद मे कठोर हो जाती है।

कपोलः—रोगी के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में गाल महत्व पूर्ण सूचनाये प्रदान करते हैं। रक्त न्यूनता एवं वृहद् धमनी के रोगो में ये श्वेत पीत हो जाते हैं, प्रलेपक ज्वर (Hectic fever) में गण्डास्थियो पर चमकता हुआ लाल घेरा बन जाता है, खुली हवा मे रहने वाले मनुष्यो के कपोल सुन्दर, तेजस्वी और रक्ताभ होते है। कार्य भार के आधिक्य से उत्पन्न हार्दिक शैथिल्य में कपोल रक्तवर्ण के हो सकते हैं, किन्तु इसका रक्तवर्ण नीली आभा लिये होता है। ऋतु के परिवर्त्तन के कारण उत्पन्न रग जो कि चमकदार और लाल होता है, उसकी आसानी से पृथकता की जा सकती है। वक्ष के किसी प्रकार के प्रदाह, मुख्यतया न्युमोनिया मे प्रभावित फुफ्फुस की ही ओर का कपोल रक्तवर्ण का तेजस्वी हो जाता है, अगर दोनो ओर के फुफ्फुस प्रभावित हो, तो दोनो ही गाल रक्तवर्ण के हो जाते हैं। इसमे वैद्य को इस बात का पूर्णतया ख्याल रखना चाहिए कि अगर मनुष्य कुछ समय एक ही पार्श्व पर लेटा रहे, तो तकिये पर दबाव के कारण भी उस ओर का

गाल लाल हो जाता है; इस अवस्था मे रोग की कल्पना कर लेना अनुचित सिद्ध होगा।

शिरसंपुट—(Cranium) कपालास्थि के आकार को देखने से कुछ मुख्य बातें ज्ञात हो सकती है। इसका विस्तृत वर्णन ११ वे अध्याय मे किया जायगा।

केश—बालो के लिये कुछ जानकारी प्राप्त कर लेना, यह रोग निर्णय और चिकित्सा मे सहायक होता है। बाल यह बाह्य त्वचा का रूपान्तरित स्वरूप है। इसके ३ प्रकार हैं। काले, पिङ्गल और श्वेत। सामान्यतः काले केश अधिक प्रतीत होते हैं। पिङ्गल केश श्वेतत्वचावाले लोगो के होते हैं और श्वेतकेश त्वचा को पोषण कम मिलने पर बनते है।

केश विकृति जन्म-लग्न भी होती है। उपदंश रोगी सतानो के बालो मे विकृति होती हैं। नीरक्तावस्था सार्वाङ्गिक दौर्बल्य और चर्म रोगो के हेतु से बाल पतले होते हैं और झडने लगते है।

केशों से मनुष्य की सभ्यता, व्यक्तित्व और आयु का भी पता लग सकता है। बिना सवारे केशों को देख कर विदित हो जाता है कि, यह व्यक्ति कितने ही दिनों से रुग्ण है। विक्षिप्तावस्था को भी केश प्रकाशित कर देता है। दीर्घकाल के पश्चात् व्याधि से मुक्ति पानेवाले मनुष्य के बाल भूरे और रुक्ष हो जाते है और झडने लग जाते है। ग्रैवेयक ग्रन्थि के रोगो मे भी बाल खर और कम हो जाते हैं।

चर्म रोग होने और योग्य स्वच्छता न रहने पर बालो की जड में जूएँ होती है। फिर उनके अण्डे बालो को लगते हैं। कितनेक जाति के कीटाणु बालो को विकृत बना देते है, और गिराते रहते हैं। राजयक्ष्मा मे भी बाल झडते रहते हैं और खर होते हैं। ये सब दर्शन परीक्षा से विदित हो जाते हैं।

इन्द्रलुप्त (Crusted Ringworm or Scald head) होने पर बालों की जड में सूक्ष्म रसमय पिटिकाएं होती हैं। अरुंषिका (Scurf) होने पर मस्तिष्क पर से त्वचा के सूक्ष्म छिल्टे निकलते रहते है।

खालित्य रोग (**टाट**–Alopecia) होने पर शिर के कुछ भाग के सब बाल निकल कर त्वचा बिल्कुल साफ हो जाती है। इसकी संप्राप्ति जन्म सिद्ध होती है। कितनेक कुटुम्बो मे पूर्ण युवावस्था प्राप्त होने पर धीरे-धीरे बाल दूर हो कर **टाट** बन जाती है। इन्द्रलुप्त, कृमि विकार तथा विद्धि आदि की शस्त्रक्रिया से भी **टाल** हो जाती है। मस्तिष्क में विविध विष से

उष्णता पहुँचना, रक्त में से रञ्जक द्रव्य कम होना, अति दौर्बल्यता आ जाना, उपदंश आदि रोगो से रक्त विकृति होना, रक्त मे से रक्तवारि कम हो जाना और त्वचा की विकृति हो जाना, इन कारणों से भी बाल झड़ने लगते हैं और किसी-किसी को **टाल** भी हो जाती है। इनके अतिरिक्त वृद्धावस्था में टाट (Alopecia seniles), अकालजनित टाट (Alopecia pre-seniles), वातनाडी विकृतिजन्य टाट (Alopecia Neurotica), अन्य रोगो में लक्षण रूप से उत्पन्न टाट (Alopecia symptomation) आदि प्रकार भी प्रतीत होते हैं।

पलित (Canities) अर्थात् सफेद बाल होना, इसकी सम्प्राप्ति वृद्धावस्था मे और दौर्बल्य होने पर अकाल मे होती है। ये सब वालो को देखने पर विदित हो जाते है।

मुखाकृति—नेत्र, कर्ण, नासिका, कपोल आदि का पृथक् पृथक् निरीक्षण करने के अलावा मुखाकृति को भी अवश्य देखना चाहिये। इन सब का एकत्र निरीक्षण करने से अनेक बातो का ज्ञान हो जाता है। मुखाकृति से मानसिक भाव आसानी से जाना जा सकता है। मानसिक भाव जानने की विधि बतलाना कलम के लिये कठिन समस्या है। यह कुछ अंश मे या पूर्णाश में अनुभव से ही प्राप्त होता है। नेत्र मालूम कर लेते हैं कि, रोगी के मुख पर उत्तेजना, अवसादकता और उपेक्षा मे से कौन सा भाव उपस्थित हुआ है? वह उन्मत्त, सचेत या मूर्च्छित है। मुख के ऊपर झुर्रियां है या नही। झुर्रिया स्वाभाविकतया हर एक मनुष्य के मुख पर होती है। अगर एक तरफ झुर्रियो का अभाव हो और दूसरी ओर किसी प्रकार की झुर्रिया हो तो समझना चाहिये कि, वह अर्दित (जो सातवी वात नाडी के एक ओर के भाग के वध से उत्पन्न होता है) से पीडित है। अर्दित से पीड़ित होने पर रुग्ण पार्श्व के ओर की न आँख मिचती है और न फूंक मार सकता है। क्या मुख एक ओर को खिंच गया है? दोनो पार्श्व मे समानता है या अन्य किसी प्रकार की विपमता विद्यमान है? यह भी विदित हो जाता है।

मुखाकृति शरीर के किसी अंग की पीडा पर भी बहुत कुछ निर्भर करती है; या मुख पर गम्भीरता के भाव हो सकते हैं जो रोगी के निश्चय को प्रगट करते हैं कि, उसका दुःख बहुत गम्भीर है। स्थिति की गम्भीरता को प्रगट करनेवाले भावो के उत्पन्न होने के पूर्व रोगी के मुख पर चिन्ता एवं व्यग्रता के भाव विद्यमान हो सकते हैं, जो कि उस समय की गम्भीर व्याधि को प्रगट करते हैं। झटके के साथ एक दम मुख का सिकुड़ जाना, वात

नाड़ियों के अभ्यास के कारण हो सकता है, परन्तु इसके विपरीत इस प्रकार झटके निश्चित रोगों के मुख्य लक्षण भी हो सकते हैं उदा० नृत्यवात (Chorea) ।

यह पूर्व ही लिखा जा चुका है कि, मुखाकृति रोग के स्थान और गम्भीरता पर बहुत कुछ निर्भर है । जब रोगी के किसी अंग विशेष मे पीड़ा हो तो उसकी स्थिति के अनुसार पृथक् पृथक् मुखाकृतिया उपस्थित होती हैं । मस्तिष्क मे वेदना चाहे वह साधारण हो, या अन्य इन्द्रियो के रोग के लक्षण रूप हो, रोगी तेवरी चढ़ा लेता है, जैसे कि उसको अत्यन्त क्रोध आ रहा हो, वक्ष और उदर की पीडा युक्त रोगों मे मुख के अधोभाग की आकृति परिवर्त्तित होती है । मुखाकृति से ज्ञात होने वाले चिह्न रोगी बालक होने पर विशेष महत्त्व रखते हैं । क्योंकि, वह बोल कर अपनी पीडा और अवस्था को वैद्य के सामने प्रगट करने मे असमर्थ होता है ।

रोगी बालक होने पर निदान के लिये मानस विज्ञान (Physiognomy) का ज्ञान पूर्णांश में होना, एक महत्त्व पूर्ण है, परन्तु यह विषय विस्तृत और इस पुस्तक से बाहर का है । इसलिये जिज्ञासु पाठको को अन्य पुस्तको से देखना चाहिये । बालको के गम्भीर रोगो मे और अरिष्ट अवस्था मे नाक चिपका हुआ, नेत्र अन्दर धसे हुए और निस्तेज तथा चिबुक और गण्डास्थि मास क्षीणता के कारण बाहर निकले हुए होते हैं ।

अरिष्ट दर्शक मुखाकृति—मुखाकृतियाँ मुख्य-मुख्य नामो से सम्बोधित की गई हैं । उनमे से निम्न आन्त्रिक ज्वर मुखाकृति (Typhoid facies) और हिपोक्रेटिक मुखाकृति (Hippocratica facies), ये दो मुख्य हैं ।

हिपोक्रेटिक मुखाकृति—इसमें त्वचा का रंग नीला, बदरंग, श्वेत पीत और अस्वच्छ होता है, नेत्र तेज रहित, अन्दर धंसे हुए और खुले रहते हैं; नासिका तीखी हो जाती है, कनपटी (Temples) खोखली हो जाती है, ठोडी तीखी होती है, अधोहनु की संधि शिथिल हो जाने के कारण मुख खुला रहता है, कर्ण ठडे और सिकुड़े हुए हो जाते हैं तथा कपोल बैठ जाते हैं । जब यह मुखाकृति किसी उदर-व्याधि के कारण उत्पन्न हुई हो, तब नेत्र के चारो तरफ लाल-नीला घेरा बन जाता है । इस मुखाकृति का उत्पन्न होना मृत्यु की सूचना है इसलिये इसे अरिष्ट मुखाकृति भी कह सकते हैं ।

आन्त्रिक ज्वर मुखाकृति—इसमे नेत्र निस्तेज, ओष्ठ कंपकंपी युक्त (घुनघुनाहट के साथ), चेहरे पर शून्यता और नीलता होती है। जिह्वा भूरी और सूखी; होठ पर मैल की तह आ जाना, अति व्याकुलता, नाडी तेज और अनियमित, अपने आपको शय्या मे घुसा देने की प्रवृत्ति, मल मूत्र के त्याग पर अधिकार न रहना, पेशियो के अन्तिम भागो मे झटके अनुभव होना, प्रलाप और बिना मतलब के शय्या के कपडे उठाना आदि लक्षण भी होते हैं।

त्वचा की स्थिति–रोगी की त्वचा की अवस्था भी जहॉ वह खुली हो, कपडे से ढकी न हो, वहॉ देख कर अवश्य जाननी चाहिये। चेहरे का निरीक्षण करते हुए हमे सिर्फ वर्ण मालूम करना चाहिये। त्वचा का वर्ण दो बातो पर निर्भर है। प्रथम रंग और द्वितीय त्वचा की पारदर्शकता पर।

वर्ण का निरीक्षण मुखमण्डल और हाथ पैरो के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर से भी किया जा सकता है। १. निम्न अक्षिपुट के भीतर; २. मुख के भीतर की तथा ३ नख पर। अतः इन तीनो का निरीक्षण अवश्य करना चाहिये।

मुख्य अस्वाभाविकता—पीलापन (Yellowness), वैवर्ण्य (Pallor), पिङ्गल (Bronzing), मलिननीलाभरक्त (Dusky Bluish red) तथा मिटिया (Earthy tint) रंग की त्वचा हो जाना।

वैवर्ण्य (निस्तेजता) की प्राप्ति पाण्डु (रक्त न्यूनता) की अनेक अवस्थाओ में तथा जब हृदय अत्यन्त शिथिल हो गया हो ऐसी मूर्छितावस्था और वमन की पूर्वावस्था में होती है।

पीलापन, यह रक्ताणुओ के नाशसह कामला के कारण हो सकता है। उसमें त्वचा हल्की पीली नीबू के समान रंग की हो जाती है। अवरोधक कामला मे पित्त का अवरोध होता है। इसमे त्वचा नारंगी रंग जैसी पीली हो जाती है। इसमे पित्ताम्ल रक्त मे लीन होकर भयंकर खुजली पैदा कर देता है। अवरोधक कामला मे खुजाने के फलस्वरूप शरीर पर नाखूनो से अनेक खरोच पैदा हो जाते हैं। पिङ्गलता, यह उपवृक्क के अपक्षय में पाई जाती है। (Addision's disease)* जिसमे कि त्वचा तथा मसूडे के निम्न भागकी

---

* उपवृक्कापक्षय—(Addisio's disease)– इस रोग का शोध डा० एडिसन ने १८५५ ई० मे किया है। यह रोग क्षय कीटाणुओ से क्षयात्मक अन्तर्भरण होने पर या शोप से सौत्रिक तन्तु बनने पर उत्पन्न होता है। इस रोग मे पिङ्गल त्वचा, वर्द्धनशील निर्बलता, न्यून रक्त दबाव, आमाशय अन्त्र-

श्लैष्मिक कला (Buccal Mucosa) प्रभावित हो जाती है। हल्का मिटिया रंग साधारण तथा गम्भीर रोगो में पाया जाता है। कभी-कभी यह जीर्ण विषम ज्वर से भी उत्पन्न हो सकता है। उपदंश और कर्कस्फोट (Cancer)* के फलस्वरूप भी यह उपस्थित होता है। नीला-लालरंग श्वासकृच्छ्रता और हृदयावसाद की अवस्था मे पैदा होता है।

शरीर के वर्णों में रोगानुसार भेद हो जाता है। क्षुद्र भेदों को लिख कर समझाना असम्भव है। कभी अनेक रंग एक साथ ही प्रकट हो जाते हैं। कुछ समय अभ्यास करने से उनका परिचय मिल सकता है।

पिटिका—(Eruptions)—त्वचा का निरीक्षण करते समय उस पर अगर किसी प्रकार की पिटिकाये हो, तो उनकी भी अवश्य परीक्षा करनी चाहिए। ये पिटिकाये कतिपय संक्रामक ज्वरो में प्रकाशित होती हैं। इन पिटिकाओ का उत्पत्तिकाल और लक्षण प्रकाशन काल भिन्न-भिन्न रोगो में भिन्न-भिन्न होता है।

शीतला, रोमान्तिका, लघुमसूरिका, शोणितज्वर इनमे प्रच्छन्नरूप से विष संग्रह होता रहता है और फिर लक्षण उत्पन्न कर देते है। शीतला में, शाखाद्वय में, विशेषतः पृष्ठ भाग में वेदना, अकस्मात् वेपन और शीत का आक्रमण होना, ये पूर्वरूप होते हैं। रोमान्तिका मे पहले जुखाम रहता है। लघुमसूरिका में मन्द-मन्द ज्वर रहता है। शोणित ज्वर में वेपन, शीत, कण्ठ-नलिका प्रदाह तथा त्वचा की अत्यन्त उष्णता, ये प्रतीत होते हैं।

विष संग्रह के लिए सामान्यतः शीतला में ६ से १५ दिन, रोमान्तिका में ६ दिन से १७ दिन, नूर बीबी (जर्मन रोमान्तिका) मे २१ दिन, लघु-बसन्त (लघुमसूरिका) ११ दिन तथा शोणित ज्वर मे २ से ४ दिन लगते हैं। पिटिकाये शीतला मे ज्वराक्रमण के तीसरे दिन, रोमान्तिका मे चौथे दिन, लघुवसन्त मे दूसरे या तीसरे दिन और शोणित ज्वर मे दूसरे दिन निकलती

की क्रिया विकृति, क्वचित् लसीकाणु वृद्धिसह विलोहितता, शरीरिक उत्ताप का ह्रास आदि लक्षण-चिह्न उपस्थित होते हैं। इस रोग में त्वचा पर खरोंचने से सफ़ेद पंक्तियाँ हो जाती हैं।

* कर्कस्फोट (Cancer)—यह अति घातक रोग हैं। उत्पन्न होने के कुछ समय के बाद यह (आलू और अदरख आदि कंद जिस तरह जमीन मे चारों तरफ गाँठे फैलजाते हैं, उस तरह) एक स्थान से दूसरे स्थान पर दूर-दूर गाँठे फैलाता जाता है। फिर अन्त में रोगी को मार डालता है। यह एक प्रकार का घातक अर्बुद (Malignant Tumour) ही है।

हैं। शीतला में पिटिका मसूर जितनी बडी होती है, रसपूर्ण और पूयपूर्ण बनती है। रोमान्तिका में अत्यन्त क्षुद्र दलबद्ध निकलती है। लघुवसन्त मे रसमय मटर समान निकलती है। इसका रस गाढ़ा नहीं होता। शोणित ज्वर में पिटिका क्षुद्र ऊँचे चिह्न के समान लाल रंग की होती है।

मधुरा, प्रलापक ज्वर, क्रकच सन्निपात (Cerebro-Spinal fever), दिनों तक रहनेवाला संतत ज्वर (Remittant fever), दण्डक ज्वर (Dengue fever), विसर्प, मूषक विषजन्य ज्वर तथा उपदंश आदि में भी पिटिकाये उपस्थित होती हैं। आशुकारी कक्षारोग (Acute Herps Zoster), में तीसरे दिन कण्ठ आदि प्रदेश पर पिटिका निकलती है। कीटाणुजन्य आशुकारी हृदयान्तरकला प्रदाह (Acute bacterial Endo-carditis), में धब्बे हो जाते हैं। बहुधा ये अंगुलियों के अग्रभाग या अंगुष्ठ पर होते हैं।

औषध के बाह्य प्रयोग से पिटिकाएं—सुरमा (एण्टिमनि) को वसा में मिलाकर त्वचा पर घिसने पर मसूर के सदृश गुटिकाएं हो जाती है। कभी-कभी ग्रन्थि विसर्प के सदृश हो जाती हैं। आयोडीन से त्वचा प्रदाह होकर क्षुद्र-क्षुद्र व्रण या रसमय पिटिकाएं उत्पन्न होती हैं। कण्डू उत्पादक कौंच, बिछुआ, आर्निका (Arnica Montana) से त्वचा पर लाली आती है। फिर ग्रन्थि-विसर्प सदृश या शीत पित्त के [धब्बे सदृश स्फीति होती है। सूचो बूटी (वेलाडोना) से शीतपित्त सदृश धब्बे] क्रोटन ऑइल और जमालगोटा से जलमय फाले, कार्बोलिक एसिड से [स्थानिक उग्रता क्राइसोफेनिक ऐसिड से] व्युची सदृश विकृति बच्छनाग से ग्रन्थि विसर्प(Erythema)सदृश पिटिकाएं, एमोनिया और मक्षिका विष (केन्था राइडिज) द्वारा फाला, क्लोरल द्वारा चर्मप्रदाह, रस कपूर और दाल चिकना से दाह तथा कोलटार, गधा बिरोजा, आदि से पिटिका या व्युची सदृश विकृति, एव गन्धक द्वारा व्युची के समान पिटिकाएं होती हैं।

औषध विष से पिटिकाएं—मल्ल के विष प्रकोप से त्वचा पर रक्त संग्रह होता है तथा बैंजनी या लाल रंग की कक्षा के सदृश गुटिका निकलती है। आयोडीन के विष से शीत पित्त या ग्रन्थिविसर्प सदृश पिटिका, पोटास आयोडाइड द्वारा त्वचा पर क्षुद्र दाग, पोटास ब्रोमाइड से मुख और नासिका पर यौवन पिडिका सदृश पिटिका (कभी-कभी पूयमय पिटिका या ग्रन्थि रूप), सूची बूटी सेवन से शोणित ज्वर सदृश पिटिकाएं, ताम्र सेवन से कृष्णाभ रक्त वर्ण के शीत पित्त सदृश धब्बे या रोमान्तिका सदृश पिटि-काएं, गन्धक द्वारा मुख मण्डल पर व्युची सदृश दाग, जमालगोटा से

ग्रन्थिविसर्प सदृश मुँह पर ग्रन्थियाँ, हाइड्रोसेनिक एसिड से शीत पित्त के समान धब्बे, सेलीसिलेट से कण्डू और त्वचा में रक्तस्राव, क्लोरल हाइड्रेट से चेहरे और गले पर गुटिका और धब्बे, सिल्वर नाइट्रेट से त्वचा की विवर्णता, क्विनाइन से ग्रन्थिविसर्प के समान पिटिका, अफीम से शीत पित्त समान धब्बे और कण्डू या ग्रन्थिया होती है। रसकपूर से व्युची सदृश पिटिकाएं, विशेषतः उदर और वृषण प्रदेश पर होती हैं, कभी-कभी ये पिटिकाएं पूयमय बन जाती है। आधुनिक सलफोनेमाइड वर्ग की औषधियो के सेवन से भी पिटिकाएं उपस्थित होती है।

उक्त रोगो मे से कइयो मे पिटिकाएं पहले बालो की जड मे होती हैं और कितनेको मे अन्य स्थानो पर। उक्त पिटिकाओ के समान विकृति परान्नभोजी कीटाणुओ से भी निम्नानुसार प्रतीत होती है।

परान्नभोजी कीटाणु प्रकोपज त्वचा विकृति—उदरावेष्टा कृमि की जाति मे से टिनिया फेवोसा (Tinea Favosa) से त्वचा पर शहद के छाते सदृश उज्वल, हरी, कण्डूमय स्फीति उपस्थित होती है। इस रोग मे पीडित त्वचा चूहे जैसी वासवाली हो जाती है। टिनिया ट्राइकोफाइटिना (Tinea Trycho-phytina) आदि के प्रकोप से दद्रु उपस्थित होती है। कितनेक कीटाणु खालित्य (टाट–Alopecia), इन्द्रलुप्त, अरुंषिका आदि रोगो को उत्पन्न करते है। इनका विशेष वर्णन अध्याय ११ वे में चर्म परीक्षा तथा अध्याय १४ वे मे कीटाणु जन्य विकृति के भीतर किया जायगा।

अति बलपूर्वक तेल आदि की मालिश करना भारी हाथ से या बार-बार उस्तरे आदि से बाल निकालने के लिए घर्षण करना, ज्यादा समय तक सेक करना, उग्र लेप आदि ओषधि को अधिक समय बाँधना, पत्थर आदि की सामान्य चोट लगना, इन कारणो से त्वचा लाल हो जाती है। पत्थर आदि के घर्षण से त्वचा छिल जाती है। बलपूर्वक चोट लगने पर रक्त जम कर गाँठ हो जाती है।

दाग—(Spots) कितनेक रोगो पर त्वचा पर वर्ण विकृति होकर दाग उपस्थित होते है। श्वेत कुष्ठ (Leucoderma) मे सफेद दाग होते हैं। रक्तविकार से उत्पन्न कितनेक रोगो में काले दाग होते हैं। उपदंश विष से लाल या लाल-काले धब्बे होते है। व्रण पर आई हुई नई चमडी से सफेद दाग (Scar) प्रतीत होता है। चर्म के अन्दर रक्तस्राव जनित दाग होता है, वह दबाने पर दूर नही होता, किन्तु रक्तसंग्रहजनित दाग हो गया हो, उस पर दबाने से वह अदृश्य हो जाता है।

व्रण या क्षत चिह्न—(Cicatrix)—व्रण या क्षतचिह्न मौजूद हो, तो उसे अच्छी तरह देख लेना चाहिए। एवं त्वचा की आर्द्रता और शुष्कता को भी जान लेना चाहिए। स्वेद आता है, तो उसकी स्थिति और परिमाण भी निश्चित कर लेना चाहिए।

घर्माधिक्य—(Hyperidrosis) कितनेक रोगो मे स्वेद अत्यधिक आता है। उदाहरण—सन्निपात में लम्बे समय तक अति स्वेद आने पर शरीर ठण्डा होकर मृत्यु हो जाती है। क्षय रोग में रात्रि को अधिक स्वेद आता है। उससे रोगी को निर्बलता बढ़ती है। विषम ज्वर मे स्वेद आजाने पर ज्वर उतर जाता है; शरीर हल्का होजाता है और मानसिक प्रसन्नता उत्पन्न होती है।

आमवातिक आशुकारी ज्वर, **अस्थिवक्रता** (Rickets) राजयक्ष्मा पूय प्रकोपज ज्वर (Pyaemia), विषम ज्वर, मधुरा आदि मे लाक्षणिक घर्मातिशय उपस्थित होता है। इनमें अस्थिवक्रता मे घर्म केवल मस्तिष्क पर आता है। इनमे से कितनेको में पिटिकाये (अलाई-Sudamina) भी निकल आती है।

कफज रक्त पित्त (Scurvy) उपदश, जीर्ण मधुमेह, आमवातिक ज्वर और मूत्र विषज ज्वर (Uraemia) आदि से स्वेद मे अति दुर्गंध होती है। जीर्ण रोगो मे मास गलने के बाद स्वेद आता है, वह भी दुर्गन्धयुक्त होता है। शराबी के स्वेद मे शराब की वास आती है। मेद रोगी के स्वेद मे भी कुछ दुर्गन्ध रहती है।

अस्थिवक्रता मे कपाल पर स्वेद आता है, यह अति विशेष लक्षण माना जाता है। मधुरा मे करतल मे स्वेद आता है, उसकी वास रोग प्रकृति निर्देशक होती है। ग्रीष्मकाल में और अग्नि के पास बैठकर कार्य करनेवालो को स्वेद अधिक आता है।

घर्मकृच्छ्रता—(Disidrosis)—कितनेक रोगो मे स्वेद आने में प्रतिबन्ध होता है। त्वचा का प्रादाहिक परिवर्त्तन गम्भीर सूक्ष्म रसमय पिटिका सह होने पर स्वेद बाहर नही आसकता। करतल, पादतल आदि स्थान से त्वचा अति शुष्क, कठोर बन जाने पर वहाँ से स्वेद नहीं निकल सकता। रबर के कपडे अति तंग पहन लेने पर स्वेद आने मे प्रतिबन्ध हो जाता है। स्वेद बन्द होने से रक्त मे विष बढ़ता है और फिर उसे बाहर निकालने के लिये वृक्कों को अधिक श्रम करना पड़ता है।

शीतकाल मे स्वाभाविक स्वेदस्राव कम हो जाता है।

वसामय उत्तानकला कोष (Paniculus Adiposis) में वसा वृद्धि विषय का वर्णन देह पोषण के विवेचन (पृष्ठ १३५ में) के भीतर लिखा गया है। किन्तु कोषवृद्धि मे वसा होने या न होने के अतिरिक्त भी रुग्णावस्था अस्वाभाविक काष्ठवत् ततु उत्पन्न कर सकती है । इनमे से मुख्य विकृति तरल या वायु की विद्यमानता है। इनमें भी साधारणतया तरल ही अधिक पाया जाता है।

तरलमय शोथ (Dropsy)—* जब तरल त्वचा मे या त्वचा के नीचे विद्यमान होने के कारण त्वचा ऊपर उठी हुई हो तो उसे शोथ कहते हैं। इसके दो प्रकार है। १—जलाधिक्यज शोथ (Hydraemic); २—क्रियामान्द्यज शोथ (Passive) ।

१—जलाधिक्यज शोथ का लाक्षणिक उदाहरण वृक्कप्रदाहज शोथ है। इस प्रकार के शोथ में तरल श्लैष्मिक कला मे से छन कर प्रारम्भ में देह के अति सहायक भागो में प्रवेश नहीं करता, किन्तु उन स्थानो मे उत्पन्न होता है, जिनमे तन्तु नमनशील होने के कारण या गह्वर होने के कारण तरल को एकत्रित होने मे आसानी पड़ती है । चिरकारी वृक्कप्रदाह मे मुख पर, उसमे भी मुख्यतया नेत्र के निम्न पुट के नीचे शोथ आता है, यह उस रोग का प्राथमिक लक्षण माना गया है, इस रोग का शोथ रुग्ण मनुष्य के शय्या त्याग के समय नेत्र के अधः पुट पर होता है और फिर दिन मे धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है।

२-क्रिया मान्द्यज शोथः—हृदय वायुावरोध से उत्पन्न शोथ इसका अच्छा उदाहरण है। इसमे शोथ सब से पूर्व पैर के निम्न भाग और एडी की सधि पर आता है। फिर धीरे-धीरे पिंडली, जघा और शरीर पर चढ़ता है।

---

*तरलमय शोथ एक साधारण शब्द है यह हर प्रकार और हर अंग के शोथ के लिये प्रयुक्त हो सकता है। परन्तु अलग-अलग अवस्थाओं मे उसे अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है। एक सीमा मे सीमित होने पर उसे स्थानिक शोथ (Oedema), व्यापक होने पर सर्वाङ्ग शोथ (Anasarca), उदर में तरल सग्रह होने पर जलोदर (Ascites), वक्ष में होने पर रसभृत फुफ्फुसावरण (वक्षोदर–Hydrothorax), शिर में हो तो शीर्षोदर (Hydrocephalus), हृदयावरण मे होने पर हृदयोदर (Hydro-pericardium), तथा अण्डकोष मे तरल सग्रह होने पर वृषण वृद्धि (Hydrocele) कहलाता है।

स्थानिक शिरावरोध के उत्पन्न शोथ जहाँ से रक्त अवरोध हो कर वापस लौटने लगता है, वहाँ तक सीमित रहता है। यह बात जान जाने पर आसानी से कल्पना की जा सकती है कि, जलोदर यकृद्दाली (Cirrhosis of the liver) * के फल स्वरूप उत्पन्न होता है।

इस तरह कक्षाधरा शिराओं का अवरोध, जो वहाँ की ग्रन्थियों के कर्कस्फोट (Cancer) के कारण होता है। इससे जब बाहु में अवरोध होता है, तब उस भाग में शोथ आता है, एवं सम्पूर्ण ऊर्ध्व शरीर का शोथ वक्षीय अर्बुद के उपस्थित होने पर होता है। अतिक्वचित् उत्तरा महासिरा के आकुंचन के कारण भी उत्पन्न हो सकता है।

शोथ—शोथ युक्त स्थान के ऊपर की त्वचा के फीकापन, और चमकीलापन से यह पहचाना जा सकता है। शोथ को छूने पर उसके पिलपिलेपन से तथा दबाव डालने पर गढ़ा पड़ता है या नहीं, इससे भी शोथ के प्रकार को जानने में काफी सहायता मिलती है।

हृदय के द्विपत्रकपाट की विकृति से उत्पन्न शोथ में त्वचा मैले रंग की एवं यकृत् विकारज शोथ में पाण्डुवर्ण की होती है। यकृद्दाली के लिये सर्वत्र यह नियम नहीं है। वृक्कप्रदाहज शोथ में त्वचा का रंग मलिन हो जाता है; किन्तु वृक्कप्रदाह के हेतु से फुफ्फुस के या सर्वाङ्ग के रक्त संचालन में अवरोध होकर परम्परागत हृदय क्षीणता से उत्पन्न शोथ में चर्म की विवर्णता लक्षितनहीं होती।

सामान्यतः सर्वाङ्ग शोथ शरीर के दोनों ओर समभाव से उपस्थित होता है, जब कि स्थानिक शोथ शरीर के एक ओर। क्वचित् विकृति दोनों ओर फैलने पर स्थानिक शोथ दोनों ओर भी हो जाता है।

सब धमनियों की दीवार स्थूल होती है और उसमें रक्त दबाव अधिक होता है; किन्तु शिराओं की दीवार अपेक्षाकृत पतली और नमनीय होती है। इस हेतु से उसके भीतर में से रक्त के प्रत्यावर्त्तन का अवरोध हो जाता है।

---

* यकृद्दाली एक प्रकार का यकृत् रोग है, जिसमें यकृत् के चिरकारी प्रदाह के कारण उसके वास्तविक कोषाणु नष्ट हो जाते हैं और उनके स्थान पर सौत्रिक तन्तु उत्पन्न हो जाते हैं। इस हेतु से यकृत् सिकुड़ कर अपने स्वाभाविक आकार से छोटा होजाता है। फिर यकृत की शिरा पर दबाव पड़ने से जलोदर उत्पन्न होता है। इसका विशेष वर्णन चिकित्सातत्त्वप्रदीप द्वितीय खण्ड में किया है।

संभवतः लसीका वाहिनियो पर दबाव आने पर भी शोथ उपस्थित होता है; किन्तु यह शोथ का प्रधान कारण नही है। उदा० हाथ पैर की शिरा बॉध दी जाय, तो जब तक रसवाहिनियो में से रसप्रवाह होता रहेगा, और वे संग्रहीत रस को स्थानान्तरित कर सकेंगी, तब तक शोथ उपस्थित नही होगा। कितनेक स्थानो मे शिरा अवरोध होने के साथ रसवाहिनियो की रस शोषण क्रिया मे भी प्रतिबन्ध आजाता है।

स्थानिक शोथ स्थानिक कैशिकाओ के रक्तवारि ग्रहण करने के अन्दर कमी होने पर भी उत्पन्न हो सकता है जैसा कि स्थानिक वातनाड़ी प्रदाह (Angeo–Neurotic oedema) * प्रबल शीत पित्त (Giant Urticaria), में होता है। अन्तर त्वाचीय तन्तु स्थान का प्रसारण (Subcutaneous emphysema) साधारणतया बहुत कम देखा जाता है। परन्तु जब उपस्थित हो, तब उसे अंगुली से दबाने पर चिटकने की आवाज उत्पन्न होती है। जो कि वायु वहॉ से निकल कर दूस स्थान पर जोरी से घुसने के कारण पैदा होती है। इस आवाज से इस विकार का निदान आसानी से किया जा सकता है।

हाथ—रोग निदान मे हाथ और हाथो की आकृति तथा त्वचा को देखने की परीक्षा भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। वैद्य को रोगी से हाथ मिलाते समय उसके पकड़ की शक्ति को जान लेना चाहिए, इससे उसकी वृद्धि या ह्रास की आसानी से कल्पना की जा सकती है। इसके पश्चात् हाथो की आकृति देखनी चाहिए। वैद्य को इसके साथ ही अंगुलियो की और मणिबंध की सधियो तथा नाखूनो की दशा भी अवश्य देख लेनी चाहिए। अंगुलियो के शिरोभाग के मोटापन की विद्यमानता (Clubbing) या अनुपस्थिति का भी ख्याल कर लेना चाहिये। जिस तरह आमवात, वातरक्त, उपदंश, आदि रोगो में संधि स्थानो मे विकृति होती है; उस तरह अस्थिसधिप्रदाह (Ostoo-arthritis) मे भी होती है। इस रोग मे अंगुलियो के सधि स्थान पर गाठे हो जाती हैं। जिनको हर्बर्डन की गॉठे (Herberden's nodes) कहते हैं। वात सस्था के रोगो मे हाथ पर वातनाड़ी केन्द्र की विकृति के चिह्न उत्पन्न हो जाते है। जो विकृति पोषण के ह्रास से उपस्थित होती है। इस विकार मे त्वचा पतली हो जाती है और रग बदल जाता है; मास पेशियॉ शिथिल हो जाती हैं और व्रण बन जाने की ज्यादा सम्भावना रहती है। रक्त

* न्यूराइटिज (वातनाड़ी प्रदाह) एक वात सस्था का रोग है जिसमें स्थानिक वातनाड़ी या नाडियो का प्रदाह होता है, जैसा कि गृध्रसी मे।

प्रणाली से सबन्ध वाली वातसंचालक नाडियो के प्रभावित होने से हाथो की अंगुलियाँ रक्ताभ या वैवर्ण्य और मृतवत् भासने लगती हैं ।

वातसंस्था की व्याधियाँ हाथो की विचित्र गतियाँ या दशाएं भी पैदा कर सकती है। जैसा कि अंगुलियो का कम्प (Athetosis) शाखा की मासपेशियो का आक्षेपक वात (Tetany) और नागविषज वध (Lead palsy) मे देखा जाता है।

हाथो की कंपकपी (Tremor) बारंबार वातरोग की निदर्शक होती है। उस हेतु से उत्पन्न अवस्थाओ मे सकम्प पक्षाघात, मस्तिष्क-सुषुम्णा मे वृद्धि जन्य विकीर्ण ग्रन्थियाँ (Disseminated sclerosis) कतिपय अभिघातज वातनाडी क्रिया विकृति, तुंगाक्ष गलगण्ड, वृक्क सन्यास, निद्रानाश, पारदविषप्रकोप, मदात्यय, तमाखु का अनुचित उपयोग तथा वृद्धावस्था मे अपक्रातिजन्य परिवर्त्तन आदि मुख्य हैं। इसका विशेष विवेचन अध्याय ६ के भीतर कम्प वर्णन मे किया जायगा।

अन्तः प्रकोष्ठिका नाड़ी (Ulner nerve) के पक्षाघात मे अँगुलियों के प्रथम पौरवे अस्थिभाग अतिशय पीछे मुड़ जाते हैं और बाकी पौरवे के अस्थिभाग अतिशय आगे की तरफ मुड़ जाते है। जिससे सिंह के पंजे के समान मुडा हुआ आकार दीखने लग जाता है। उसे डाक्टरी मे पंजेवाला हाथ (Main-en-griffie) सज्ञा दी है । जब हथेली के ऊर्ध्व किनारो की मासपेशियो के पोषण मे कमी आजाती है; तब हाथ चिपटा हो जाता है और लगभग बन्दर के समान भासने लग जाता है। अस्थिवृद्धि रोग* मे हाथ भारी और मोटे होजाते है, अँगुलियाँ मलहम मिलाने की छुरी के समान चपटी और उनका सिरा चौरस हो जाता है, पौरवे बड़े हो जाते हैं और त्वचा कठोर, मोटी हो जाती है।

कतिपय फुफ्फुसगत व्याधियो मे अँगुलियो के अन्तिम पर्व का मोटापन (Clubbing of the fingers) होता है उससे अन्तिम पर्व मोटे और

* अस्थिवृद्ध—(Acromegaly, देवकाय) यह एक जीर्ण व्याधि है। यह पोषणिका ग्रन्थियो के अत्यधिक रसस्राव से होती है। इसमे अस्थियो की भारवृद्धि होना, मुख्य लक्षण है। यह वृद्धि साधारणतया ठोडी, हाथ और पैरो की अस्थियो मे होती है। इसमे वक्ष वगैरह की अस्थियाँ भी लम्बी और भारी हो जाती हैं, इससे सारे शरीर का भार बढ़ जाता है। यह सबसे पूर्व सन् १८८६ मे वर्णित हुई थी।

चौड़े हो जाते हैं ; नख विकृत होजाते हैं। नख के निम्न आधार प्रदेश के तन्तु मोटे होजाते हैं; नख की लम्बी रीडे (Longitudinal ridges) नष्ट हो जाती है और नख पार्श्व भाग में बहिर्गोल (Convex) होजाते हैं। बहुत ज्यादा बढ़ी हुई अवस्था में अँगुलियो के अन्तिम भाग ढोल बजाने के डंडे के अन्तिम भाग के समान या बल्ब की तरह गोल हो जाते हैं। यह चिह्न राजयक्ष्मा, श्वासप्रणाली प्रसारण, रक्त पूयभृत उरस्तोप (Empyema) महाप्राचीरा पेशी के निम्नतल को विद्रधि, हृदयान्तर कला का संक्रामक प्रदाह और जन्मजात हृद्रोग के भीतर उत्पन्न होता है। फुफ्फुस के कार्यभार में वृद्धि होने के फलस्वरूप उत्पन्न अस्थिसंधि प्रदाह (Hypertrophic pulmonary osteo arthropathy) में अँगुलियों के अन्तिम पर्व के मोटापन के अतिरिक्त बहिः प्रकोष्ठास्थि (Radius bone) अन्तः प्रकोष्ठास्थि (Ulna) जंघास्थि (Tibia) तथा अनुजंघास्थियो (Fibula) का बाह्यावरण भी गाढ़ा होजाता है ; एवं इसके फलस्वरूप पहोंचे (मणिबन्ध) और गुल्फ पर शोथ हो जाता है। कुछ अवस्थाओं में यह संधियाँ अपने आप भी शोथयुक्त हो सकती हैं। नख के ऊपर तिर्यक् पंक्तियो का होना इस बात का उदाहरण है कि, उस नख के पोषण में पहले कुछ बाधा पहुँची है। अगर कोई स्थानिक कारण विद्यमान न हो, तो यह नख की लकीर इस बात का चिह्न है कि रोगी को निकट भूतकाल मे कोई भयंकर व्याधि हुई थी।

चम्मच के समान नतोदर नख (Koilonychia) युवतियो को प्राप्त होनेवाला रुधिर मे लोहद्रव्य की न्यूनतायुक्त पाण्डु (Idiopathic hypochromic anaemia) की बढ़ी हुई अवस्था में होजाते हैं। इसमे नख मुलायम, पतले और भंगुर होजाते हैं, नख की साधारण उन्नतोदर स्थिति नष्ट होजाती है और वे इतने नतोदर होजाते हैं या उनमे गढ़े हो जाते हैं जिनमें आठ-आठ बूँद पानी आसानी से समा सकता है। रोगी बाल्यावस्थावाला होने पर हाथो और अँगुलियो की गति और स्थिति अक्सर अनुभवी चिकित्सक को रुग्ण अंग का ज्ञान प्राप्त करा देती है ; और उसे बतला देती है कि उसका अमुक अंग रुग्ण है।

ग्रीवा—वैद्य को रोगी की ग्रीवा अवश्य देखनी चाहिए और आगे दर्शायी हुई ग्रन्थियो की अवस्था आदि का खास तौर से निरीक्षण करना चाहिए।

(१) लसीका ग्रन्थियों की अवस्था—उपदंश के रोगो में पृष्ठ-

च्छादा पेशी (Trapezius muscle) के ऊर्ध्व भाग के नीचे अवस्थित लसीका ग्रन्थियाँ प्रायः स्पर्श योग बन जाती है। (वे स्वस्थावस्था मे कदापि प्रतीत नही होती) ग्रसनिका ग्रन्थियाँ संक्रमण से पीडित होने पर अधो हन्वस्थि के कोण पर अवस्थित ग्रन्थियाँ वृद्धि को प्राप्त हो जाती हैं। एवं हन्वस्थि के निम्न भाग की ग्रन्थियाँ मुख के फर्क स्फोट आदि घातक रोग के होने पर बढ़ जाती है। रसग्रन्थियो का क्षय रोग होने पर ग्रन्थियाँ उरः कर्ण मूलिका पेशी (Sterno-mastoid muscle) के पीछे झुण्ड या जंजीर के समान एक के बाद एक वृद्धि को प्राप्त होती हैं। इन ग्रन्थियों में अगर पूयोत्पत्ति हो गई हो, तो फिर उन स्थानो का रोपण हो जाने पार **सफेद दाग** (Scars) शेष रह जाते हैं। **लसीका ग्रन्थियो में अर्बुद** (Lymphadenoma) होने पर ग्रन्थियाँ बडी हो जाती हैं एवं पृथक् हो जाती हैं। ग्रन्थियाँ बढ़ी हुई हो वे चाहे ग्रीवा मे हो या अन्य किसी अंग में हो, यह बात अवश्य देखनी चाहिए कि, वह एक स्थान मे ही दृढ़ और पृथक् रहती है या एक दूसरे से जुडी हुई हैं। दबा कर यह भी अवश्य देखना चाहिए कि उनमे तरंग (Fluctuation) * विद्यमान है या नही।

(२) ग्रैवेयक ग्रन्थि (Thyroidgland) इस ग्रन्थिका किसी भी प्रकार का शोथ हो, वह रोग परीक्षा मे बहुत महत्त्व रखता है। यह बात देखना चाहिए कि, यह वृद्धि समतल है या गाँठ युक्त एव कठोर है या नरम। कभी-कभी इसकी वृद्धि के कारण बृहद् श्वास नलिका पर भी दबाव पड सकता है। इसके अतिरिक्त अगर यह वृद्धि घातक है तो स्वरयन्त्र की वातनाडियो पर प्रभाव डाल सकती है। ग्रैवेयक ग्रन्थि के साथ किसी अर्बुद का संबन्ध है या नहीं, इस बात का निदान करने के लिए अति उत्तम रीति है कि भोजन निगलते समय स्वरयंत्र के साथ वह ग्रन्थि और अर्बुद ऊपर नीचे एक साथ गति करते है या नहीं ?

---

* **तरंग**—यह एक ऐसा लक्षण है जिससे आसानी से द्रव की उपस्थिति या अनुपस्थिति जानी जासकती हैं। इसे मालूम करने के लिए दोनो हाथ प्रयुक्त करने पडते हैं। संभवित स्थान पर एक तरफ एक हाथ की अंगुली और दूसरी तरफ दूसरे हाथ की अंगुली रक्खी जाती है, और एक तरफ की अंगुली से दबाव डाला जाता है। अगर उस स्थान पर द्रव विद्यमान हो, तो दूसरी तरफ की अंगुली मे एक लहर सी अनुभव में आती है। इसे ही द्रव तरंग कहा जाता है।

३—ग्रीवागत रक्तवाहिनी में स्पन्दन—महाधमनी की असमर्थता में महामातृका (Carotid Arteries) जोरो के साथ स्पन्दन करती हुई मालूम पडती है। अस्वाभाविक रक्तभार वृद्धि (Hyperpiesia) से पीडित स्त्री रुग्णा मे दक्षिण महामातृ का धमनी में स्थली सा अर्बुद बन जाता है, जिससे मिथ्या धमन्यर्बुद (Aneurysm) का भास होता है । उपदंश मे भी क्वचित् महामातृका धमनि या काण्डमूला धमनी मे (Innominate Art.) में ऐसी ही स्थिति हो जाती है।

तुंगाक्ष गलगण्ड मे उत्तराग्रीविकी धमनियों के भीतर प्रायः अत्यधिक स्पन्दन प्रतीत होता है। रक्तसंग्रहमय हृदय का अवरोध होने पर अनुमन्या शिरा (Jugular vein) प्रसारित हो जाती है । उरःफलक के पिछली ओर गलगण्ड (Retro-Sternal goitre) तथा फुफ्फुसान्तराल प्रदेश में घातक नूतन अर्बुद (Neoplasm) उपस्थित होने पर तमाम गले के ऊपर शिराएं प्रसारित प्रतीत होती हैं । गात्र नीलिमा (Cyanosis) और शोथ भी उस चिह्न के साथ प्रकाशित होते हैं।

४—मांस पेशियों की असाधारण स्फीति—ग्रीवा की परीक्षा करते समय उसकी किसी मास पेशी या मास पेशियों के समूह में किसी प्रकार स्फीति हो, तो उस पर भी ध्यान देना चाहिये। यह पेशियों की स्फीति दोनो पार्श्व मे समान हो सकती है। जैसे कि वायु कोष प्रसारण मे दोनों उरः कर्णिका पेशियों की होती है। इस तरह एक पार्श्व मे भी हो सकती है। जैसा कि ग्रीवा की सामान्य वक्रता (Tonic wry neck) होने पर दूसरी ओर की पेशी तन कर ऊपर दिखने लग जाती है । अगर जन्मजात उरःकर्णिक पेशी पर अर्बुद विद्यमान हो और उसके निदान मे सदेह रहता हो, तो वैद्य को वह परेशानी में डाल सकता है। उस स्थान पर विविधि जाति के रसार्बुद, विद्धियाँ अस्वाभाविक उभाड़ भी हो जाते हैं। यथार्थ मे उसका निदान शल्य शास्त्र का विषय है।

५—ग्रीवा की कठोरता—(Rigidity) यह अस्वाभाविक सफेद सौत्रिक तन्तुओं की प्रदाहज वृद्धि से हो सकती है। यह स्थिति आमवात मेरुदण्ड के और वात संस्था के अनेक रोगो के कारण हो सकती है। ग्रीवा का आक्षेपक सकोच ग्रीवा के किसी कारण से एक तरफ मुड जाने पर* हो सकता है।

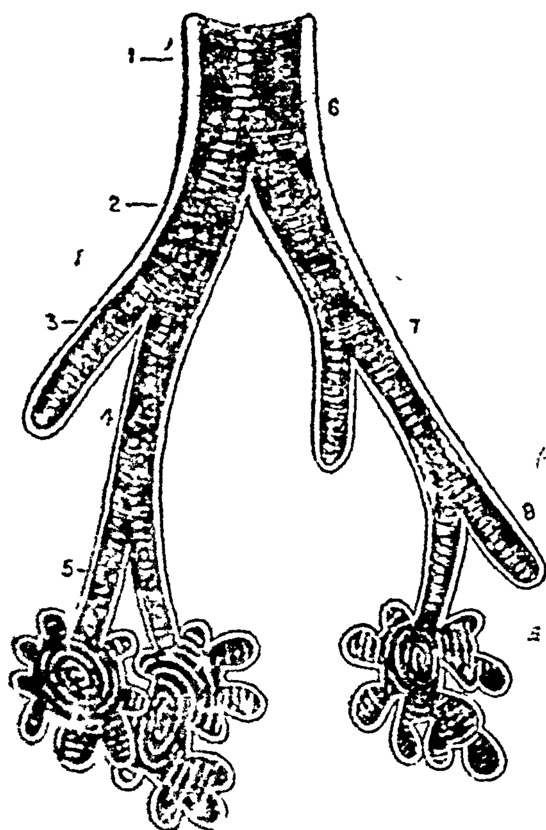
---

* ग्रीवा बहुत से कारणों से मुड जाती है। अग्निदग्ध के पश्चात् रोपण तन्तु के सिकुड़ना, एक तरफ का पेशीय पक्षाघात, एवं किसी खास पेशी

६—**फुफ्फुसशिखर पर विकृति**—कासके दौड़ेके समय फुफ्फुसों के शिखरों का फुलाव है या नही ? इस पर भी अवश्य ध्यान देना चाहिए। एवं रक्तवाहिनियो का स्पंदन भी दिखाई देता हो तो वह भी एक महत्त्व का लक्षण हैं जैसा कि बच्चों की काली खासी मे मालूम पडता है।

७—**छाला और प्रमेह-पीड़िका**—ये विकार रोगी की ग्रीवा पर तो नहीं हैं ? इसका भी निर्णय कर लेना चाहिए। ये अक्सर ग्रीवा के पश्चिम भाग में होते हैं। परन्तु वैद्य को ध्यान में रखना चाहिए कि इनकी उत्पत्ति मधुमेह की जीर्णावस्था मे होती है। इनका निदान करने के लिए मूत्र परीक्षा अवश्य करनी चाहिए।

श्वासोच्छ्वास (Respiration)—रोग का निदान और उसका कारण मालूम करने के लिये श्वासोच्छ्वास की मात्रा और स्वभाव मालूम करना भी एक महत्त्व पूर्ण बात है। विशेष श्रवण (Extra auscultation) के शीर्षक के नीचे श्वासोच्छ्वास से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक दृश्य ध्वनि विशेष संमिलित किये जा सकते हैं। जिनको चिकित्सक रोगी की शय्या के पास ही खड़ा हो कर श्रवण करता है।



चित्र नं० १८ आगन्तुक ध्वनि (Rales)

दृश्यध्वनि विशेष का वर्गीकरण

(चित्र नं० १८ देखे)

A. श्वास मार्गावरोधक ध्वनि की परीक्षा।

१—नासिका मे अवरोध होने पर बुद बुदेसी या तमाखू सूँघने जैसी आवाज (Bellows murmur)।

(अ) कठिन या तरल श्लेष्म संचय या श्लेष्मिक कला मोटी होना।

(आ) नासा पालिका (Alae nasi) का वध।

के नाश सकुचित होने का स्वभाव, इन कारणों से आक्षेप आने पर ग्रीवा एक तरफ मुड जाती है।

२–ग्रीवा के पश्चात् भाग मे अवरोध होने पर निःश्वास में खर्राटे युक्त या घुर-घुर आवाज (Snore)।

(अ) नासिका में घुर-घुर (Stertor)–मृदुतालु जब ग्रसनिसका के पिछले भाग मे टकराती है तब (निद्रा और मूर्च्छा के सदृश आवाज)।

(आ) मुख मे घुर-घुर (Oral stertor)—मृदु तालु जिह्वा से टकराता है, जब वह पीछे की ओर मुड गई हो।

३–स्वरयन्त्र में अवरोध होने पर श्वास ग्रहण मे कर्कश ध्वनि (Stertor)।

(अ) स्वरतंत्री (Vocal cord) का शोथ।

(आ) स्वरयंत्र द्वार का बध या आक्षेप।

४–बृहत् श्वास नलिका मे अवरोध होने पर श्वास और निःश्वास, दोनो समय मे गम्भीर आवाज।

(अ) गम्भीर आवाज (Tracheal sound)—इसे अंग्रेजी मे चित्र व्याघ्र की गर्जना (Leopard growl) कहते हैं। इसकी उत्पत्ति धमनी विस्तार आदि से बृहत् श्वास नलिका के दब जाने पर होती है।

(आ) मृत्यु की घड घड (Tracheal rattle) इसकी उत्पत्ति आसन्न मृत्यु काल मे होती है।

५–श्वास नलिका मे अवरोध होने पर सूं सूं आवाज।

(अ) मधुर ध्वनि (Musical sound-wheezing)—कफ या तरल प्रवेश होने पर।

(आ) केशमर्दनवत् चट् चट् ध्वनि (Crepitant sound) इसकी उत्पत्ति फुफ्फुस पीठ के समीप वायु कोष आकुंचित होने के बाद उन मे वायु प्रवेश होने पर।

A. ध्वनि के स्थान निर्णय करने के पश्चात् ध्वनि की आकृति (Volume) तथा जाति (Quality) का विचार करना चाहिये।

B. कासजन्य ध्वनि की परीक्षा—

१—अवधि, पृथक् पृथक् कास, ऊपर ऊपर कास, कास का दौरा, इन बातो का विचार।

२—जाति—आवाज युक्त या आवाज रहित, आर्द्र या शुष्क, दबी हुई या मुक्त, इनका निर्णय।

C. हिक्काजन्य ध्वनि की परीक्षा।

D. ध्वनि परीक्षा—१. आकृति (Volume); २. जाति (Quality)

जब श्वास मार्ग में किसी प्रकार का अवरोध उत्पन्न हो जाता है, तब स्वाभाविक श्वासोच्छ्वास ज्यादा या कम आगन्तुकध्वनिमय हो जाता है। अवरोध नाक मे या नासासुरङ्ग (Meatus) मे संगृहीत श्लेष्मा से हो ; या श्लैष्मिक कला, जो शुक्तिकास्थि (Turbinated bones) को आच्छादित करती है, यह मोटी हो जाने से हो , अथवा नासापालिका के पक्षाघात से हो, इन सब में श्वास-प्रश्वास की आवाज तमाखू सूंघने की आवाज सदृश (Sniffing) या बुद्बुदे जैसी (Bubbling) होती है।

कोमल तालु जब शिथिल हो जाता है या उसका पक्षाघात हो जाता है तब वह मुंह और स्वरयंत्र में वायु के मुक्त आदान-प्रदान को रोक देता है और आवाज को खर्राटे युक्त बना देता है।

जब स्वरयन्त्रद्वार मे किसी कारणवश अवरोध होता हो, चाहे स्वर-तन्त्री के आक्षेप से या पक्षाघात से अथवा स्वरयन्त्र के शोथ से हो, तब परिणाम में कर्कश ध्वनि उपस्थित होती है।

स्वरयन्त्र के तन्त्री के मध्य मे कोमल मस्से या अर्बुद उत्पन्न हो जाने पर श्वासध्वनि कर्कश या नाक के गुनगुनाहट सदृश हो जाती है।

धमनी स्फीति या किसी भी प्रकार के अर्बुद का वृहत् श्वास नालिका पर दबाव पड़ने के कारण श्वास मार्ग तंग हो जाता है, तब श्वास ध्वनि चीते की गर्जना के समान हो जाती है। जब कफ को बाहर निकालने के सब प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं, तब कण्ठ में घरघराहट की आवाज उत्पन्न हो जाती है। जब अति निर्बलता और धारण शक्ति का क्षय होता है, तब बाहर निकालने का कफ कण्ठमार्ग को रोक देता है उस समय घड़घड़ आवाज उत्पन्न होती है। इस स्थिति का आदर्श उदाहरण मृत्यु की घड़घड़ है।

श्वास नलिकाओ (Bronchii) में अवरोध होने पर वीणावादनवत् मधुरध्वनि या केशमर्दनवत् चिरचिराहट उत्पन्न होती है। श्वासकृच्छ्रता का विभाजन रोगी के श्वास लेने या निकालने के समय के कष्ट की मात्रा पर किया जा सकता है। श्वास मार्ग के अवरोध अक्सर श्वास लेने की क्रिया में कष्ट पहुँचाते हैं। इसके विपरीत कोई फुफ्फुसीय कारण उपस्थित होने पर श्वास निकालने (निःश्वास) की क्रिया मे कष्ट होता है, जैसा कि फुफ्फुस कोषों के प्रसारण के साथ कास उत्पन्न होने पर श्वास लम्बे-लम्बे निकालने पड़ते हैं। कभी-कभी श्वास क्रिया पर श्वास संस्था के अतिरिक्त अन्य अंगो के रोगों का भी प्रभाव हो सकता है। उदाहरणार्थ—सन्यास (Apoplexy) में घुरघुर आवाज तथा मूत्रविषमय रक्त (Uraemia) मे हिसहिस जैसी ध्वनि सह

निःश्वास निकलता है। एवं मधुमेहज मूढ़तामय संन्यास (Diabetic Coma) का आरम्भ होने पर श्वासकृच्छ्रता या वायु की कमी (Air hunger) उत्पन्न होती है। यह श्वास ग्रहण और त्याग, दोनों समय में होती है। जिससे रोगी को श्वासोच्छ्वास क्रिया जल्दी-जल्दी ऊपर-ऊपर से करनी पड़ती है।

कासः—अगर रोगी को कास हो तो उसके प्रकार को भी ध्यान से देखना चाहिए। सर्व प्रथम यह देखना चाहिए कि, कासते समय निःश्वास एकदम स्वतन्त्ररूप से झटके के साथ निकल जाता है, या उसका दौडा वार-बार होता है। प्रथम प्रकार की कास राजयक्ष्मा की प्रथमावस्था अंकुरमय ग्रसनिकाप्रदाह (Granular pharyngitis) और वातनाडियो की उग्रता (Nervous irritation) की कुछ अवस्थाओ में होती है। दूसरे प्रकार की कास तीव्र श्वास प्रणाली प्रदाह मे और काली खासी में तो आदर्श स्वरूप पाई जाती है।

चिकित्सक को यह बात भी मालूम कर लेनी चाहिए कि कासने से किसी प्रकार पीडा और उबकाई तो नही हो जाती? एवं उसकी कासने से उत्पन्न आवाज, गूंजनेवाली, दबी हुई या कठोर तो नही है?

साधारण शीत लग जाने पर आरम्भ में कास छोटी (थोडे समय तक चलनेवाली) और शुष्क होती है, परन्तु ज्यो ज्यो श्वास प्रणाली में स्राव (कफ) की वृद्धि होती है, त्यो-त्यो रह-रह कर दौड़ा होनेवाली कास बन जाती है। यह दौडा जब तक कफ बाहर न निकल जाय तबतक रहता है। इस अन्तिम अवस्था से मिलती जुलती अवस्था श्वास प्रणालिकाप्रदाह में भी प्रतीत होती है। परन्तु इसमे दौडे अधिक कष्टप्रद होते हैं, और काफी समय तक गले में सू सूं आवाज आती रहती है। इससे रोगी की ग्रीवा की शिरायें फूल जाती हैं. मुंह लाल-लाल हो जाता है, श्वासावरोध होता है और अन्त में उसे वमन हो जाती है।

राजयक्ष्मा की प्रथमावस्था मे कास बार-बार आनेवाली लेकिन छोटी और तेज होती है, और शुष्क कहलाती है। क्योकि इसके साथ किसी प्रकार का स्राव या कफ नही निकलता। फिर द्वितीयावस्था मे जब कि फुफ्फुस के रुग्णभाग की अपक्रान्ति होकर द्रवीभवन (Caseation) होता है, तब अधिक स्राव होने लगता है। इस तरह कफ स्राव का आरम्भ होने पर कास आर्द्र बनती है तथा रह-रह कर दौडा होनेवाली हो जाती है। इस कास के कितनेक गम्भीर रोगियों को वमन भी हो जाती है।

वात नाडियों की विकृति से उत्पन्न कास पृथक्, लघु वेगयुक्त, शुष्क और बुद बुदे के फूटने के सदृश होती है। यह ठहर-ठहर कर आती है; और इसी प्रकार की कास सीमागत वातनाडियों की उग्रता से उत्पन्न हो सकती है। इस वातनाडी उग्रता की उत्पत्ति आमाशयस्थ क्रिया की व्यवस्था, गुद नलिका में चूर व कृमि (Thread worms) अथवा कर्ण रोग, दाँतों की पीडा, बच्चों के दाँत आने के कारण से या गर्भावस्था के कारण से हो सकती है।

कण्ठ की स्थानिक विकृत्ति भी कष्टमय और चिरस्थायी दृढ़ काम उत्पन्न कर सकती है, इसलिए चिकित्सक को कास रोगी के गले का निरीक्षण अवश्य करना चाहिये। जब रोगी शिकायत करे कि, बार-बार खखारना पडता है, तो चिकित्सक को उसका कण्ठ देखने पर अंकुरमय ग्रसनिकाप्रदाह मालूम पडेगा। अगर रोगी को सोते ही खासी आने लग जाय, तो समझना चाहिए कि, उसका काकलक (कागलिया Uvula) शिथिल हो गया है।

फुफ्फुसावरणप्रदाह और श्वसनक ज्वर (न्युमोनिया), जैसा कि ये दोनो अक्सर साथ उत्पन्न हो जाते है, उनमे कास एक एक और शुष्क होती है। सहन हो सके, तब तक रोगी उसे दबाता है क्योंकि खासी चलने से पीडा होती है। यह खासी ठहर-ठहर कर आती है। स्वरयंत्र के प्रदाह और झिल्ली मय स्वर यंत्र प्रदाह (Croup) में कास सिर्फ आवाज युक्त होती है; परन्तु अक्सर यह नीरस या भूसी भरी हुई आवाज के समान होती है। इस प्रकार की कास इतनी विचित्र होती है कि, एक बार सुन लेने पर चिकित्सक उसके बिना दूसरी परीक्षा किये ही निदान कर लेता है।

अपतन्त्रक— (Hysteria) में अक्सर कास लम्बा और कुत्ते के भोंकने के समान होती है। एवं ऐसा मालूम पडता है कि, रोगी दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिये खास रहा है। इसमे खासी के साथ अक्सर गले में आवाज बैठ जाती है। उसे पुरोहित का कण्ठक्षत (Aphonia clericorum) ऐसी उपमा दी है।

काली खासी जब पूर्ण विकास को प्राप्त हो जाती है तब एक विशेष प्रकार की आवाज से सरलतापूर्वक पहिचानी जाती है। इसमें जब कास का दौडा होनेवाला होता है, तब रोगी प्रथम एक लम्बा श्वास लेता है। पश्चात् छोटी, तेज, झटके के साथ निःश्वाससह खासी की पंक्ति चलती है; जिसमे कि प्रत्येक बाद मे आयी हुई कास अपने पूर्व की कास से तेज होती है। रोगी (बालक) का चेहरा लाल हो जाता है, मुंह व गले की शिरायें फूल जाती हैं, एवं बच्चा जो भी सहायता मिल सके उसका सहारा ले लेता है, क्योंकि

श्वास क्रिया में सहायक पेशियों को अपना कार्य करने में अधिक से अधिक सुविधा मिल सके। अन्त में जब कास का दौडा समाप्त हो जाता है, तब रोगी एक लम्बी श्वास लेता है। अगर इसका दौडा भयंकर हो तो उससे वमन हो जाती है, एवं कभी-कभी मल-मूत्र का त्याग भी हो जाता है।

हिक्का—(Hiccough) जब महा प्राचीरापेशी के आकुंचन सह स्वरयन्त्र का मुख बन्द हो जाता है, तब बहुधा प्राण वायु आमाशय मे से कुपित होकर अन्न नलिका और ग्रसनिका मार्ग से बाहर निकलती है, उस समय हिक्क् हिक्क् आवाजें उत्पन्न होती हैं। आमाशयप्रदाह, उदर्य्याकला-प्रदाह, अन्त्रावरोध, उपान्त्रप्रदाह, मधुरा आदि ज्वर, इनमे प्रदाहज हिक्का होती है। अन्न नलिका की स्थानिक पीडा, महाप्राचीरापेशी (Diaphragm) की उत्तेजना और आध्मानजनित उग्रता होने पर हिक्का आती है। मृगी, हिस्टीरिया, मस्तिष्क, अर्बुद, मानसिक आघात और रक्त मे विष वृद्धि होने पर वातनाडियों की क्रिया विकृत होती है। जिसके परिणाम स्वरूप हिक्का उपस्थित होती है। कभी मधुमेह, वातरक्त, चिरकारी वृक्कप्रदाह आदि में भी हिक्का उपद्रव रूप से प्रतीत होती है। इनके अतिरिक्त भोजन का कुछ अंश श्वास मार्ग में लग जाने पर हिक्का आने लगती है।

कभी-कभी उग्र मारक रोगों के साथ यह हिक्का खतरनाक बन जाती है। औषध प्रयोग से शमन नहीं होती। इसका विशेष विचार चिकित्सा तत्त्व प्रदीप द्वितीय खण्ड मे किया है।

स्वर—कास के साथ ही साथ रोगी के स्वर पर भी अवश्य ध्यान देना चाहिये। इसमें ध्यान देने योग्य मुख्य बातें यह हैं कि, आवाज की शक्ति कैसी है? यह शुद्ध है या इसमें किसी प्रकार की अशुद्धता विद्यमान है। कण्ठ में क्षत तो नही है? स्वर आनुनासिक हो तो मालूम करना चाहिये कि, ऐसा स्वभाव (आदत) के कारण है या ऊर्ध्व वायु मार्ग में किसी प्रकार का अवरोध है। चिकित्सक को स्वाभाविक और अवरोधक आनुनासिक स्वर मे अवश्य भेद करना चाहिये। स्वाभाविक आनुनासिक स्वर मुँह बन्द करके शब्द उच्चारण करने पर जिस प्रकार का स्वर उत्पन्न होता है, उससे मिलता जुलता होता है और अवरोधक स्वर नाक बन्द करके बोलने से उत्पन्न स्वर के समान होता है।

उत्ताप—Temperature शारीरिक उत्ताप के परिमाण को रोगी के शरीर पर हाथ रखने से कुछ हद तक जाना जा सकता है। खास तौर से

उत्ताप की ठीक-ठीक मात्रा जानने के लिये जब कि त्वचा पर पसीना न हो तब उष्णतामापक नली (Thermometer) से सहायता ली जा सकती है। इसका प्रयोग चिकित्सक को कभी नहीं भूलना चाहिये। परन्तु इसके साथ ही यह भी बात कभी नहीं भूलना चाहिये कि; हाथ से त्वचा की आर्द्रता और उत्ताप, कोमलता या कठोरता तथा अन्य अनेक महत्त्व पूर्ण सूचनायें मिल जाती है, जो कि उष्णतामापक नली से मिलना असम्भव है। उदाहरणार्थ—न्युमोनिया की प्रथमावस्था का तीक्ष्ण शुष्क उत्ताप यह प्रकृति परिचयदर्शक मुख्य लक्षण है। उष्णतामापक नली से उत्ताप मालूम करने मे निम्न व्यवहारिक बातो का खयाल रखना चाहिये।

१—यह नली उत्तम प्रकार की और सही परिमाण दर्शानेवाली होनी चाहिये। इसकी यथार्थता का विश्वास प्राप्त करने के लिये नियमित यन्त्र से तुलना की जाती है। इङ्गलैण्ड के अन्दर यह तुलना कीव (Kew) नामक स्थान पर की जाती है। वह प्रत्येक थर्मामीटर की तुलना करके प्रमाणपत्र निकालती है। समय परिवर्तन और मुख्यतक्षा थर्मामीटर कुछ समय पूर्व ही बनाया गया हो, उस अवस्था में किसी किसी कॉच में आणविक परिवर्त्तन हो जाता है। जिनके परिणाम स्वरूप उत्तापाश बहुत ऊँचा दर्शाता है। उस प्रकार का आणविक परिवर्त्तन बहुत कम होता है; किन्तु ऐसा हो जाने पर रोग निदान मे उसका कुछ भी मूल्य नही है। इसलिये शुद्ध उत्तापाश मालूम करने के लिये चिकित्सक को प्रत्येक दूसरे या तीसरे वर्ष अपने उष्णतामापक नली की नियमितता दर्शक यन्त्र से तुलना करवा लेना चाहिये। यदि उसका गोल शिरा बहुत पतला बनाया गया हो, तो उस पर रोगी के दबाव से उत्ताप प्रभावित हो सकता है। परिणाम यह होता है कि, रोगी के ज्ञात या अज्ञातावस्था मे उस पर दबाव आने पर पारा विद्यमान उत्तापाश से चार या छै अश ऊपर चढ़ जाता है।

२—उत्तापाश मालूम करने के लिये उष्णतामापक नली लम्बावस्था में सीधी रखनी चाहिये। ताकि पारा आसानी से ऊपर चढ़ सके और शरीर का उचित उत्ताप बतला सके। उत्ताप मालूम करने के लिये नली कितने समय तक लगाये रखनी चाहिये, इसका ज्ञान भी वैद्य को अवश्य होना चाहिये। सही तापाश मालूम करने के लिए जितने समय के लिये लिखा हो उससे अधिक समय ही लगा रखना चाहिये, इसी नियमानुसार साधारण आधा-मिनिट वाली नली को सीधी अवस्था में २ से ३ मिनिट तक लगा रखनी चाहिये। ताकि सही तापाश ज्ञात हो सके।

३—युवावस्था के रोगी का उत्ताप, उष्णतामापक नली मुँह में या कुक्षी में लगा कर आसानी से मालूम किया जा सकता है, बाल्यावस्था के रोगी का ताप मालूम करने के लिये नली को ऊरुसंधि-रॉग (Groin) की सलवट में लगा उसकी ऊरु (साथल) को उदर पर मोड कर पकड रखना चाहिये, या गुदा मे लगाना चाहिये। वैद्य को यह बातें सर्वदा याद रखनी चाहिये कि; मुँह और गुदा का ताप कक्षा और रॉग के उत्तापाश से कम से कम आधा अंश ज्यादा होता है। परन्तु वृद्धावस्था में मुँह का उत्ताप अक्सर बहुत कम होता है। एवं कक्षा के ताप की तुलना में कम विश्वसनीय होता है। जब उत्ताप कक्षा से लिया जाय तब प्रथम ही देख लेना चाहिये कि, वहाँ पसीना तो नहीं है? क्योंकि नापने के समय एव उससे कुछ मिनिट पूर्व भी कक्षा मे किसी प्रकार का पसीना न होना चाहिये। इसके अतिरिक्त नली के लगाने के ठीक कुछ सनय पूर्व ही थोडे समय के लिये भुजा को धड से लगी हुई रखनी चाहिये ताकि रोगी का कक्षा की त्वचा वायु लग जाने के कारण ठडी न हो जाय। ज्यादा समय तक भुजा प्रसारित रखने से कक्षा मे हवा लग जाने से तापांश असली तापाश से कम आयेगा। उत्ताप जब मुँह का लिया जाय तब थर्मामीटर को रोगी की जिह्वा के नीचे एक ओर लगावे तथा रोगी को कह दे कि वह उसे ओष्ठो से दबाये रहे, किन्तु दाँत न लगा देवे। इसके साथ ही रोगी को हिदायत कर दे कि थर्मामीटर जब तक उसके मुँह मे हो तब तक मुँह बिलकुल बन्द रखे और नाक से ही श्वास ले।

४—उष्णतामापक नली के लगाने से पूर्व चाहे वे मुँह, कक्षा, रॉग या गुदा में से किसी स्थान पर लगाया जाय, उसे ठडे पानी या कीटाणु नाशक धावन से धोलेना चाहिये। एवं उसे ध्यान पूर्वक देख ले कि पूर्णतया उतर गया है या नहीं? ताप देख लेने के पश्चात् थर्मामीटर को कोष मे रखने से पूर्व भी अवश्य धो लेना चाहिये।

सूचनाः—

१—गुदाशय मे नापने के लिये नली विशिष्ट प्रकार की और पारा का भाग न फूटने वाली आती है। गुदाशय मे अन्य नली का उपयोग न करे। एवं गुदाशय की नली को कदापि मुँह के लिए उपयोग मे न लेवे।

२—गुदाशय मल पूर्ण हो या वहाँ पर रोग हो, तो वहाँ से नाप नहीं लेना चाहिये।

३—मुँह में क्षत हो, तुरन्त जलपान किया हो या मुँह खुला रहता हो, तो मुँह से तापमान नहीं लेना चाहिए।

४—उष्णस्थान में जहाँ उष्णता १००°से अधिक बढ़ी हो, वहाँ पर तापमान लेने के पश्चात् नली को तत्काल शीतल जल में डुबोकर निकाल लेना चाहिए ।

ताप को नापने के लिए दो प्रकार के नाप काम में लाए जाते हैं। एक को फहरनहीट और दूसरे को सेण्टीग्रेड कहते हैं। मनुष्य का ताप मालूम करने के लिए भारत मे ग्रेट ब्रिटेन के अनुरूप फहरनहीट का प्रयोग किया जाता है। तथा दुनियाँ के कितनेक हिस्सो मे सेण्टीग्रेड का भी प्रयोग होता है। इन दोनों पद्धतियो की तुलना रुग्ण परिचर्या पृष्ठ ८२ मे की है।

सामायन्तः रोगी का ताप दिन में दो समय जब भी सुविधा हो नाप लेना चाहिए; परन्तु हमेशा एक ही निश्चित समय पर नापे। इसके अतिरिक्त ताप बढ़ने के समय एवं तीव्र ज्वर में थोडी-थोडी सी देर के पश्चात् कई बार नाप करना चाहिए। एवं जीर्ण बढ़े हुए रोगो मे दिन मे ३-४ समय या २-२ घण्टे पर निर्णय करना चाहिए। (रक्तस्राव, उपवास, जीर्णरोग, मस्तिष्क आदि मृदु भाग मे चोट लगना, हृदय, फुफ्फुस आदि महत्व के अङ्गो के जीर्ण रोग, क्षय और मधुरा आदि रोगो मे उष्णता बारंबार न्यूनाधिक होती रहती है।

साधारणतया सुविधाजनक और रोगी की प्रति दिन की अवस्था प्रकट करने वाला समय प्रातः ८ बजे और सायं काल को ७ बजे का होता है। स्वस्थावस्था मे साधारणतया प्रातः और सायं समय के ताप में एक से दो तापाश (डिग्री) का अन्तर रहता है। मनुष्य का सबसे कम उत्ताप प्रातः काल के प्रारम्भिक घंटो में होता है, फिर दिन चढ़ने के साथ ही साथ उत्ताप बढ़ जाता है और शाम को ५-६ बजे के करीब सबसे ज्यादा हो जाता है। इस उत्ताप पर मनुष्य की उम्र का भी बहुत असर पडता है।

बच्चो के उत्ताप मे जीवन के समयानुसार अन्तर होता है, एवं छोटे छोटे कारण भी उस पर असर डाल देते हैं। साधारणतया यह नियम है कि, बच्चो का ताप युवा पुरुषो की तुलना में आध अंश ज्यादा होता है। वृद्धावस्था में भी युवा अवस्था की अपेक्षा ताप कुछ ऊंचा ही रहता है। परन्तु वृद्धावस्था में अगर रक्त परिभ्रमण निर्बल हो गया तो ताप ज्यादा होने के स्थान पर कम हो जाता है।

अस्वस्थावस्था में ताप अक्सर स्वाभाविक ताप से कम या ज्यादा होता है। शारीरिक उष्णता का विवाजन निम्नानुसार किया जा सकता है।

बलक्षय (Collapse) ९२° से ९६° फ० या ३३° से ३५.५° से०

*स्वाभाविक (Normal) ९८° से ९९° फ० या ३६.६° से ३७.२° से०।

उष्णता न्यूनत्व (Subnormal) ९८° फ० कम या ३६.६° से० कम।
मन्दज्वर (Febrile)—९९° फ० से अधिक ३७.२° से० से अधिक।
तीव्रतर ज्वर (Hyperpyrexia)—१०७° फ० या ४१.६° से० से अधिक।

उष्णता का ह्रास—उष्णता न्यून होने में अनेक कारण हैं। वृद्धावस्था या इतर हेतु से बलक्षय, क्षय की प्रथमावस्था में (क्षय में भी विशेषतः मस्तिष्क क्षय में) सुबह, मोतीझरा या आपरेशन से अन्त्र में से रक्तस्राव होना (Internal Haemorrhage) तथा आमाशय आदि पचनेन्द्रिय का तीव्रतम-प्रदाह इन सब रोगों में उष्णता न्यून हो जाना, यह निदानार्थकर लक्षण है।

इनके अतिरिक्त उपवास करना, शीतल स्थान में बैठना, अतिसार के हेतु से जल द्रव्य अधिक निकल जाना, कर्क स्फोट आदि रोगों में शक्तिक्षय (ककेक्सिया Cachexia) होने पर तथा वृक्कप्रदाह, मधुमेह और जीर्ण-मानस व्याधियों में भी उष्णता घट जाती है। जन्मार्जित हृद्विकार, हृत्साद (Failure of Heart) मदात्यय, कामला, रक्त में मूत्र-विषवृद्धि (Uraemia), इन रोगों में तथा फॉस्फरस, ॲट्रोपिया, मोर्फिया, अफीम, कार्बोलिक एसिड और इतर तीक्ष्णदाहक विष उदर में जाने पर भी उष्णता कम हो जाती है।

लगातार कुछ समय सुविधानुसार कुछ अन्तर पर उत्ताप देखते रहने पर यह आसानी से मालूम किया जा सकता है कि, रोगी की अस्वाभाविक उत्तापवृद्धि सारे समय एकसी रहती है या कुछ समय तक विद्यमान होती है। जब कि ताप शीघ्रता के साथ बढ़ता है, तो रोगी वेपन और शीत लगकर ठिठुरता तो नहीं है? क्योंकि गति सञ्चालक वातनाडीयंत्र इस उत्पन्न नई अस्वाभाविक अवस्था का बराबर साथ नहीं देता है, एवं बहुत सी अवस्थाओं

---

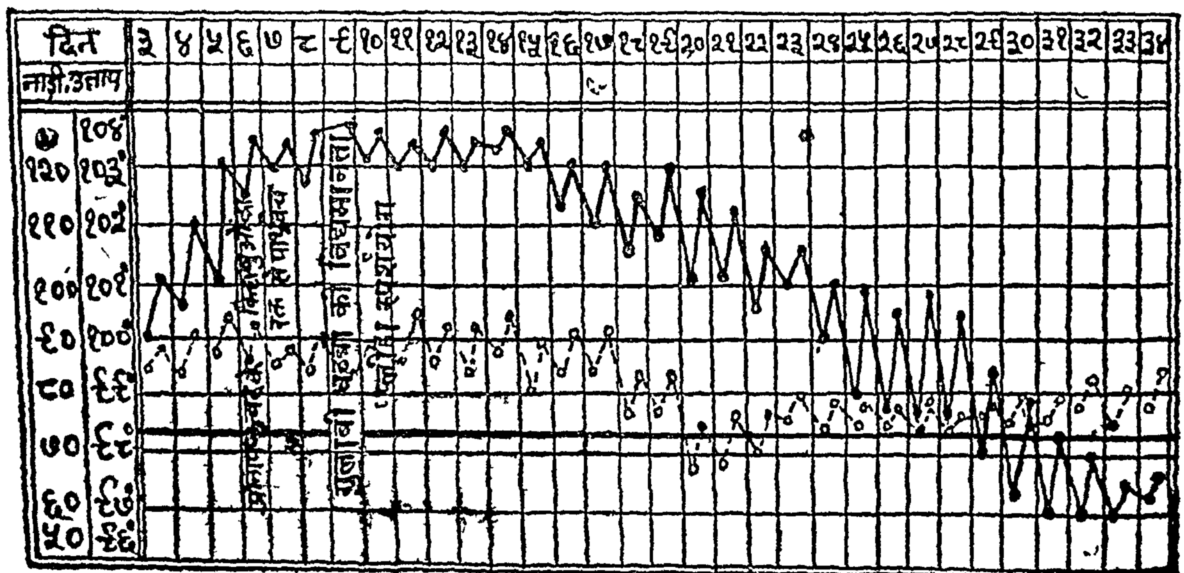
* **डा० लायन और वालैस** (D. M. Lyon and A. L. Wallace) आदि का मत है कि, मनुष्य का स्वाभाविक ताप कार्य करते हुए व्यक्ति का ९८.४° होता है, परन्तु शय्या पर आराम करते हुए रोगी (व्यक्ति) का ताप (जो ज्वर से पीडित न हो) एक अंश कम होता है। ब्रिटानिका (मेडिकल जर्नल १९३२-१-९८०)

में कपकपी (Rigor)* उत्पन्न होती है। इसके पश्चात् अगर ताप कुछ समय तक तीव्र ही बना रहे तो कपकपी के स्थान पर रोगी ताप अनुभव करने लग जाता है। एवं उस ताप की अनुभूति के साथ ही तृषा, शिरःशूल और नाडी की तीव्रता मालूम होने लगती है। इस अवस्था को ज्वरावस्था कहते हैं।

अगर ज्वरके पश्चात् उत्ताप सत्वर अधिक कम हो जाय, या ज्वरावस्था में ही उसकी अधोः और ऊर्ध्व शाखाओं में शीतलता उत्पन्न हो जाय तो समझना चाहिए कि रोगी बलक्षय (Collapse) से पीड़ित है। बलक्षय में रोगी की नाडी लघु, आकृति क्लेशयुक्त, त्वचा आर्द्र और चिपचिपे स्वेदयुक्त होती है। एवं रोगी दिलगीरी और उबकाई से पीडित होता है।

ज्वर प्रकार—इसके मुख्य तीन प्रकार हैं — १-समप्रकोपी (Continuous) ; २-विषम प्रकोपी (Remittent) ; ३-प्रविराम (Intermittent)।

समप्रकोपी ज्वर उसे कहते हैं, जिसमें ताप अनेक दिनों तक रहने पर भी उष्णता मान का अन्तर प्रातःकाल और सायंकाल के बीच में निरोगावस्था के समान एक या डेढ डिग्री ही रहता है, प्रातः सायं की उष्णता में जितना अन्तर स्वस्थावस्था में रहता था उतना ही अन्तर ज्वर होने पर भी रहता हो और चौबीस घण्टों के अन्दर कभी स्वाभाविक ताप न हो। चित्र नं० १६ जैसा: आन्त्रिक ज्वर और श्वसनकज्वर आदि में।

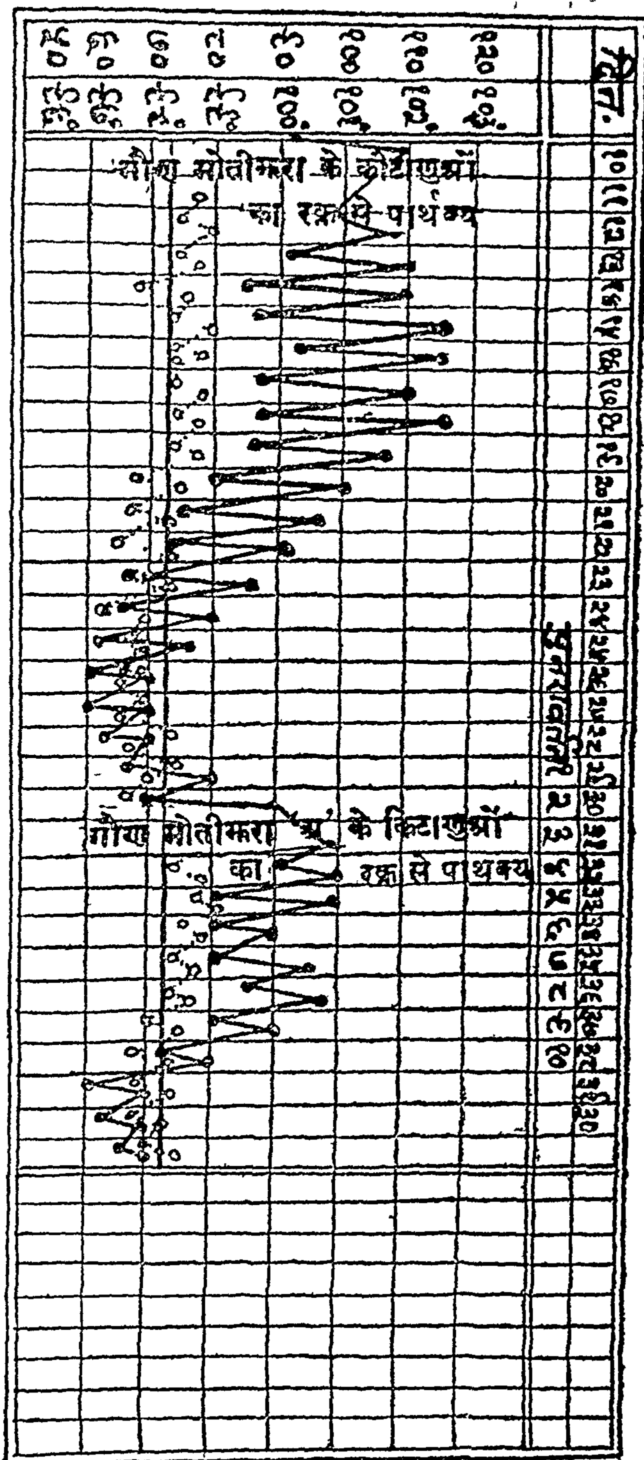


चित्र नं० १६—समप्रकोपी मोतीझरा में उत्ताप और नाडीगति दर्शक रेखाचित्र।

कॅपकॅपी—इसका तात्पर्य है कॉपना। अगर कपकपी ज्यादा समय तक रहे तो उसके उत्ताप की वृद्धि अवश्य हो जाती है, एवं यह विशेषतः

विषम प्रकोपी ज्वर उसे कहते हैं जो एकसा रहता हो, एवं निरोगावस्था के प्रातः-सायं के उष्णतामान के अन्तर की अपेक्षा जिसमें अन्तर २ डिग्री से अधिक रहता हो। (चित्र नं० २०) जैसाकि विषम आन्त्रिक ज्वर और प्रलेपक ज्वर आदि में होता है।

सविराम ज्वर उसे कहते हैं जिसमें ताप २४ घण्टों के अन्दर एक बार अवश्य स्वाभाविक तापांश पर आ जाता हो। इसमें सतत, अन्येद्यु आदि का अन्तर्भाव होता है। शीतज्वर और शरीर मे किसी भी स्थान मे पूय होने पर इस प्रकार का ज्वर आता है।

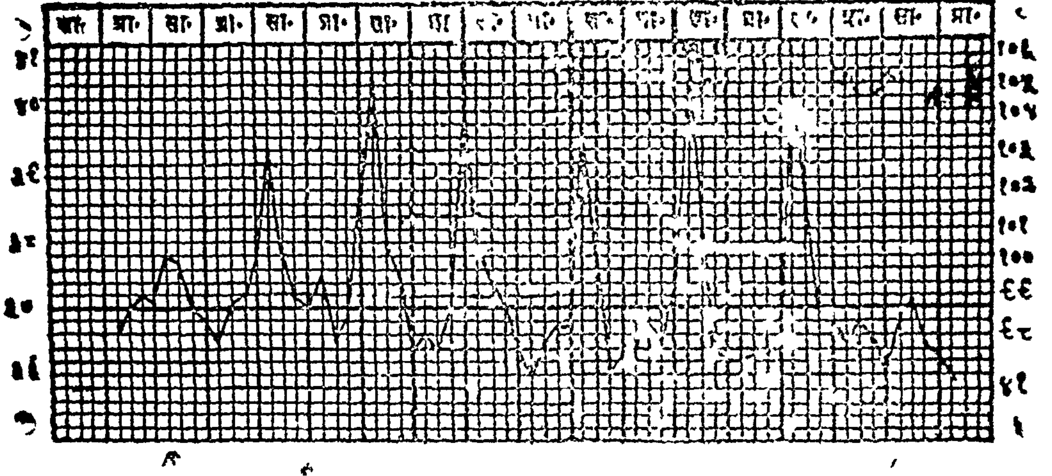


चित्र नं० २०—विषम प्रकोपी गौण मोतीझरा में उत्ताप।

विषमप्रकोपी ज्वर में ताप साधारणतया प्रातःकाल की अपेक्षा सायंकाल ज्यादा रहता है। परन्तु अक्सर राजयक्ष्मा मे और कितनेक दूसरे रोगो मे यह प्रकार बिल्कुल विपरीत भी होता है; तब ज्वर का उपशम अर्थात् सबसे कम ताप प्रातःकाल के स्थान पर सायंकाल को होता है और सब से अधिक ताप सायंकाल के स्थान पर प्रातःकाल को होता है।

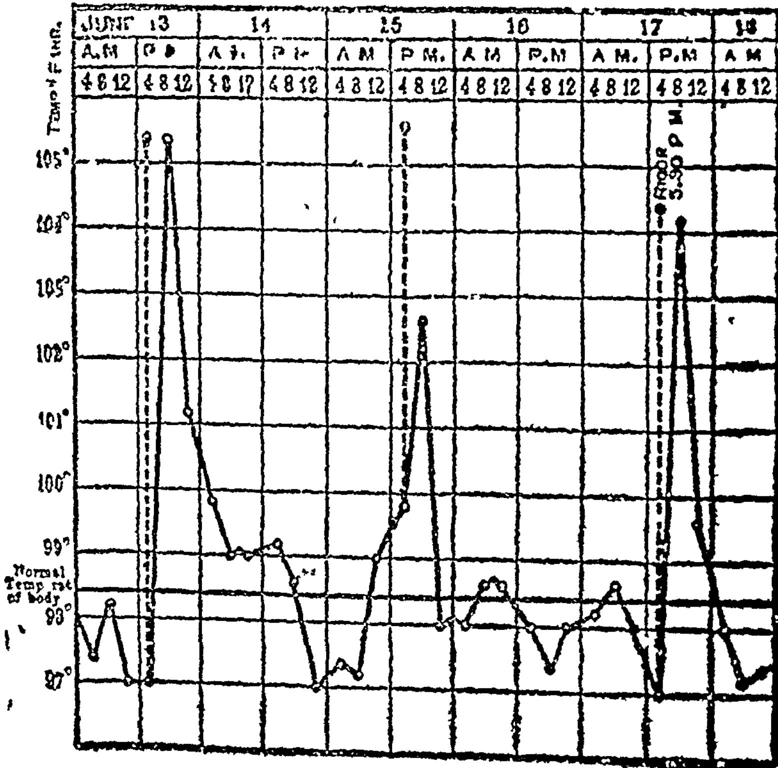
संक्रामक व्याधियो के चिह्नरूप होती है। विषम ज्वर, वात श्लैष्मिक ज्वर, श्वसनकज्वर पूयमय ज्वर आदि मे यह उपस्थित होती है।

जब सविराम ज्वर में विराम २४ घण्टे में एक बार अवश्य होता है, तब उसे एकाहिक (Quotidian) भेद कहते हैं। (चित्र नं० २१) जब



चित्र नं० २१—एकाहिक ज्वर में उत्ताप।

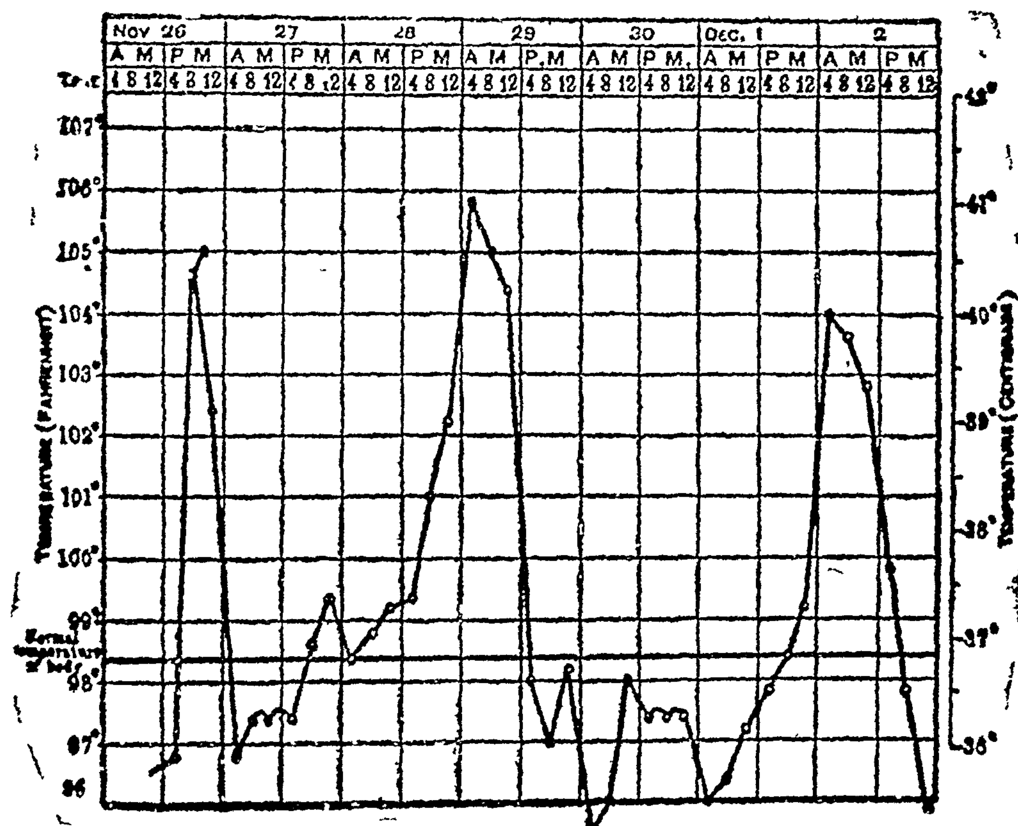
विराम एक दिन छोडकर होता है तब उसे तृतीयक (Tertian) कहते हैं।



चित्र नं० २२—सौम्य तृतीयक ज्वर में उत्ताप।

(चित्र नं० २२) जब दो आक्रमण के मध्य में दो दिनो का अन्तर होता है तब उसे चातुर्थिक (Quartan) कहते हैं। (चित्र नं० २३)।

यदि एक दिन मे (२४ घण्टे के भीतर) ज्वर दो बार आता है, तो वह सतत (Double Quotidian) कहलाता है। इस तरह तृतीयक ज्वर



चित्र नं० २३—चातुर्थक ज्वर में उत्ताप।

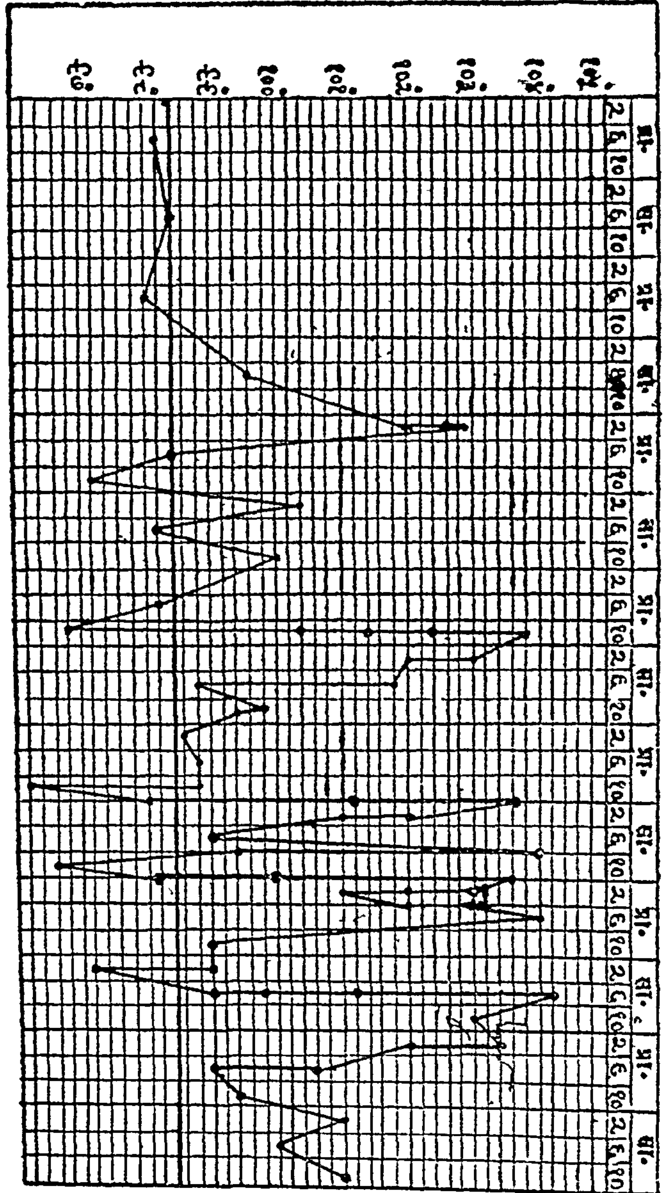
में एक उपप्रकार विषम तृतीयक (Double Tertian) है। उसमे आक्रमण तो १, ३, ५, आदि दिनो मे ही होता है, किन्तु उपशम मे भेद होता है। २, ४, ६ इन दिनो मे भी ज्वर कुछ अंश मे आ जाता है। सामान्यतः १, ३, ५ आदि दिनो (आकृति दूसरी) मे ज्वर ६, ८ घण्टे रहे, और २–४–६ आदि दिनो मे उससे भी कम समय रहे तथा शीतावस्था उपस्थित न हो तो वह सौम्य माना जायगा। अत्यधिक समय रहता हो और गम्भीर लक्षण उपस्थित हुए हो तो वह गम्भीर कहलायगा।

ज्वरावस्था—ज्वरावस्था तीन भागो मे विभाजित की गयी है। (१) प्रारम्भावस्था, (२) पूर्णावस्था; पतनावस्था। ज्वर प्रारम्भ होकर बढ़ने लगता है, वह प्रथमावस्था है। बढ़ी हुई स्थिति रहे, वह द्वितीयावस्था (पूर्णावस्था) कहलाती है। फिर कम हो कर निवृत्त हो जाता है, वह तृतीयावस्था (पतनावस्था) मानी जाती है।

ज्वर निवृत्ति प्रकार—ज्वर की निवृत्ति एक दम हो जाती है तो उसे आकस्मिक उपशम (Crises) और निवृत्ति धीरे-धीरे क्रमशः होती है,

तो उसे अनुक्रम उपशम (Lysis) कहते हैं । ज्वर की अकस्मात् निवृत्ति के पूर्व अक्सर अस्थायी परन्तु थोडी उत्ताप की वृद्धि होती है । फिर उसके साथ बहुत सी अवस्थाओ मे प्रलाप उपस्थित होता है। कभी-कभी ज्वर की अकस्मात् निवृत्ति के पश्चात् बलक्षय भी हो जाता है। किसी-किसी ज्वर मे द्विगुण आकस्मिक उपशम भी होता है । उदा० काल ज्वर । चित्र नं० २४ देखें ।

ज्वर की ३ अवस्था और दो प्रकार के उपशम आदि का विशेष स्पष्टीकरण रुग्ण परिचर्या पृष्ठ ४३९ से ४४३ तक किया गया है । अतः अत्र विस्तार नही किया।



(चित्र नं० २४) काल ज्वर मे द्विगुण आकस्मिक उपशमसह उत्ताप

ज्वर निदान में महत्त्व के लक्षण—रोगी ज्वर के विषय में क्या वेपरवाह है ? अर्थात् ज्वर इतना कम है कि वह उसे आसानी से सहन कर सकता है ? वह ज्वर के कारण अशान्त और और घबराया हुआ है ? ज्वर का उसकी ज्ञान शक्ति पर किसी प्रकार का प्रभाव हुआ है या नही ? अगर हुआ है तो किस सीमा तक ? सब से अधिक तापांश कितना होता है ? ज्वर कितने समय से है ? नाडी की गति और स्वभाव क्या है ? त्वचा शुष्क है या आर्द्र ? उस पर किसी प्रकार की पिडिकाये, लाली या स्फीति तो नही है ? और कौन-कौन

सी गुहाओं और शरीर के विभिन्न साधो में से कौन कौन से स्राव प्रभावित हुए हैं ? इनकी विस्तृत व्याख्या यद्यपि रोग विज्ञान और औषध उपयोग के ग्रन्थों से प्राप्त हो सकती है, तथापि लक्षणों को पहचानने की शक्ति केवल रोगियों की शय्या के पास बैठ करके (सेवा करके) ही प्राप्त हो सकती है ।

अध्याय तीसरा

पचनेन्द्रिय संस्था और उदर प्रदेश

प्रथम खण्ड—मुख, कण्ठ और अन्न प्रणाली।

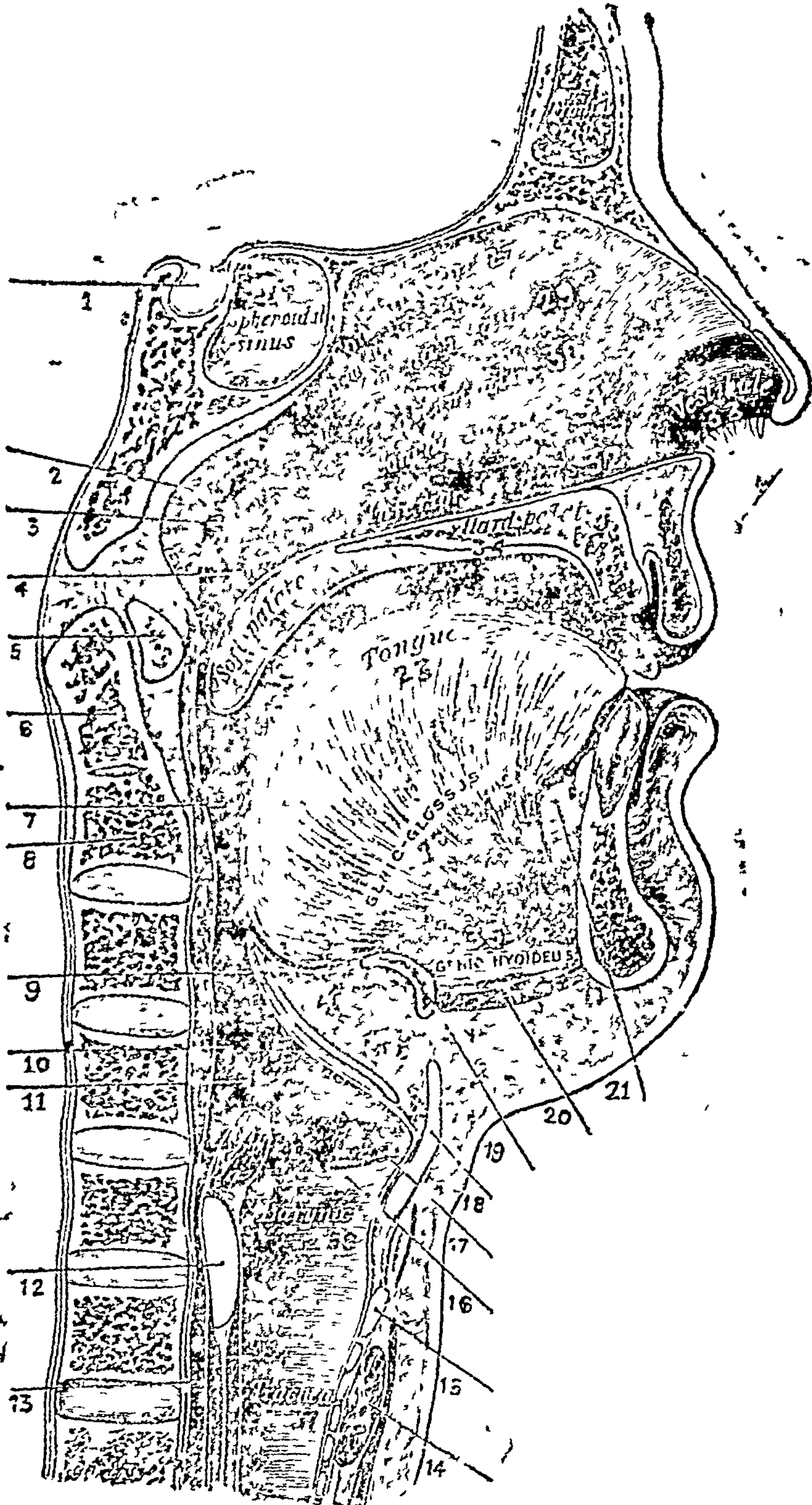
मुख—इसकी परीक्षा करने के लिए रोगी को जिधर से ज्यादा प्रकाश आ रहा हो, उधर मुख करके बैठाना चाहिए। अगर इसमें अप्राकृतिक प्रकाश का प्रयोग किया जावे तो उसे प्रतिबिम्बित करके ही प्रयोग मे लाना चाहिए या छोटी टार्च का प्रयोग करना चाहिए।

ओष्ठ—सर्व प्रथम इनका रंग देखना चाहिए। फुफ्फुस मे रक्त-संचालन में प्रतिबन्ध होने पर या फुफ्फुस के वायुकोषो मे से वायु के निर्गमन और वायु के प्रवेश में अन्तराय होने पर श्वासकृच्छ्रता उपस्थित होती है; रक्त में प्राणवायु की कमी हो जाती है इस हेतु से ओष्ठ नीले हो जाते हैं। पाण्डु रोग (रक्त न्यूनता) में ओष्ठ निस्तेज पीले हो जाते हैं। इस तरह हलीमक (Chlorosis) और वृक्कप्रदाह मे कभी-कभी तथा अति रक्तस्राव हो जाने पर ओष्ठ निस्तेज मैले सफेद हो जाते हैं। ओष्ठों को पलट करके भी देखना चाए ताकि उनके अन्तःपृष्ठ की भी परीक्षा हो सके। ज्वर से उत्पन्न ओष्ठ पीडिकाये (कक्षाएं) अक्सर वायुमार्ग के प्रदाह की अवस्था में और मुख्यतया खण्डीय श्वसनक ज्वर में होती है। उपदंश रोग में ओष्ठ पर गम्भीर वेदनायुक्त चीरा हो जाता है।

कितनेक रोगो मे ओष्ठ के आकार मे परिवर्तन हो जाता है। जैसे मधुमक्षिका आदि काटने पर ओष्ठ सूजकर मोटे हो जाते हैं।

ज्वर पीडित रोगी कभी-कभी मुँह से श्वास लेता रहता है। फिर मुँह से लालाका जलीय अंश निःश्वास द्वारा बाहर गति करता है तथा ओष्ठ और दांतों को भी लगता रहता है, इस हेतु से दांत और ओष्ठ पर मल जम जाता है। कुचिला का विष प्रकोप होने पर आक्षेपवात के समान ओष्ठ की गति हो जाती है।

दाँत—पचनेन्द्रिय संस्था की विकृतिदर्शक कितनेक चिह्न दाँतों पर से विदित होते हैं। एवं दाँत की परीक्षा करने पर विविध दंत रोग तथा उपदंशज उपद्रव आदि का परिचय भी मिलता है।



चित्र नं० २५

नाक, मुख, कण्ठ और स्वरयन्त्र के भीतर की रचना।

चित्र नं० २५ लेख पृष्ठ १३८

नाक, मुख, कण्ठ और स्वरयन्त्र के भीतर की रचना।

१ पोषणिका ग्रन्थिखात—Hypoqhysis (Pituitary Fossa).
२ ग्रसनिका ग्रन्थि—Pharyngeal tonsil (Adenoids).
३ श्रुति सुरङ्ग द्वार— Orifice of auditory tube.
४ ग्रसनिका नासागुहा पश्चिम—Nasal part of Pharynx.
५ प्रथम-ग्रीवा कशेरुका—Anterior arch of atlas.
६ द्वितीय ग्रीवा कशेरुका—Dens of axis.
७ ग्रसनिका (गलद्वार पश्चिम)— Oral part of Pharynx.
८ ग्रीवा कशेरुका पिण्ड—Body of axis.
९ अधिजिह्विका—Epiglottis.
१० ग्रसनिका स्वरयन्त्र पश्चिम—Laryngeal part of Pharynx.
११ गोजिह्वा घाटिका पेशी की पर्त—Aryepiglottic fold.
१२ कृकाटक का पिछला हिस्सा—Cricoid cartilage.
१३ अन्ननलिका—Oesophagus.
१४ ग्रैवेयक ग्रन्थि सन्धानक—Isthmus of thyreoid gland.
१५ कृकाटक तरुणास्थि—Cricoid cartilage.
१६ स्वरतन्त्री—Vocal fold.
१७ स्वरयन्त्र द्वार—Venticular fold.
१८ अवटुक तरुणास्थि—Thyreoid cartilage.
१९ कण्ठिकास्थि—Hyoid bone.
२० मुखभूमि कण्ठिका पेशी—Mylohyoid muscle.
२१ जिह्वा की कलामय सेवनी—Frenulum linguae.
२२ जिह्वा चिबुक कण्ठिका पेशी—Genio-Glossus muscle.
२३ जिह्वा—Tongue.
२४ कोमल तालु—Soft palate.
२५ जतूक कोटर—Sphenoidal sinus.
२६ ललाट कोटर—Frontal sinus.
२७ ऊर्ध्व शुक्तिका—Concha supr.
२८ ऊर्ध्व सुरङ्ग—Supr Meatus.
२९ मध्य शुक्तिका—Concha media.
३० मध्य सुरङ्ग—Midle meatus.

३१ शुक्तिकास्थि—Concha inferior.

३२ अधः सुरङ्ग—Inferior meatus.

३३ नासालिंद—Vestibule.

३४ कठोर तालु—Hard palate.

३५ चिबुक कण्ठिका पेशी—Genio Hyoideus.

३६ स्वरयन्त्र—Larxny

३७ बृहच्छ्वास नलिका—Trachea.

दाँतो की परीक्षा के समय दन्तोद्गम को भी जान लेना चाहिए। कारण, अस्थिवक्रता, बालशोष आदि रोगो मे दाँत देर से निकलते हैं। सबल बालक का दाँत सामान्यतः सत्वर निकलता है। निर्बलो को देर लगती है। देशभेद से भी दाँत निकलने के समय मे भी भेद हो जाता है। यूरोप मे फ्रांस देश के बालको के दाँत सामान्यतः जिस समय निकलते हैं, उसकी अपेक्षा जर्मनी और इटली मे एकाध मास देर होती है। इङ्गलैण्ड में इससे भी अधिक देर होती है। भारत के लिए प्रायः इससे भी अधिक देर होती है। यद्यपि भारत देश उष्ण है, इस दृष्टि से सत्वर दन्तोद्गम होना चाहिए; तथापि शारीरिक कृशता के हेतु से देर ही होती है। भारत के लिए सामान्यतः समय निम्नानुसार है।

अस्थायी दाँत—अस्थायी या दुग्धदन्तो की उत्पत्ति निम्न क्रमानुसार होती है :—

१—दो अधोमध्य कर्त्तनक (Central incisors) ७ से ६ मास तक।

२—चारो ऊर्ध्व कर्त्तनक (Upper incisors) दोमध्य और दो बाह्य दाँत ६ से १२ मास तक।

३.—दो अधो बाह्यकर्त्तनक (Lateral incisors) और चारो अग्रचर्वणक (Front molars) १२ से १४ मास तक।

४—रदनक (भेदक Canines) दाँत (दो ऊर्ध्व और दो अधो जिनमेसे ऊर्ध्व भेदक दाँत प्रथम आते हैं)—१८ से २४ मास तक।

५.—बाहर पश्चिम चर्वणक (Posterior molars) छै ऊर्ध्व और छै अधो चर्वणक २ से २॥ वर्ष तक।

स्थायी दाँत—स्थायी दाँत निम्न क्रमसे उत्पन्न होते हैं :—

१ प्रथम पश्चिम चर्वणक—६ वर्ष की आयुमे।

२. मध्यकर्त्तनक—७ वर्ष की आयु मे।

३. पार्श्विक कर्त्तनक—८ वर्ष की आयु मे।

४ बाह्य अग्र चर्वणक (Bicuspid) ६ वर्ष की आयु मे (दोजड़ वाले दाँत)।

५ अन्तः अग्रचर्वणक—१० वर्ष वर्ष की आयु मे।

६. भेदकदंत (Canines)—११ से १२ की उम्र मे।

७. द्वितीय पश्चिम चर्वणक—१२ से १३ वर्ष की आयु में।

८. तृतीय पश्चिम चर्वणक—१७ वे से २५ वे वर्ष की आयु में। इसे अकल डाढ या बुद्धि दाँत भी कहते हैं।

अस्थायी-स्थायी दाँतों का सम्बन्धः—चित्र नं० २६ देखे।

		चर्वणक	भेदक	कर्त्तनक	कर्त्तनक	भेदक	चर्वणक	
अस्थायी	ऊर्ध्व	२	१	२	२	१	२	२०
	अधो	२	१	२	२	१	२	

		पश्चिम चर्वणक	अग्रचर्वणक	भेदक	कर्त्तनक	कर्त्तनक	भेदक	अग्रचर्वणक	पश्चिमचर्वणक	
स्थायी	ऊर्ध्व	३	२	१	२	२	१	२	३	३२
	अधोः	३	२	१	२	२	१	२	३	

दाँतो मे अगर किसी प्रकार की अनियमिता अस्वाभाविक उत्पत्ति, कमी या पोलापन अथवा दंतक्षय (Dental caries) विद्यमान हो, तो उसे ध्यान से देखना चाहिये। यह भी देखना चाहिये कि कोई दंतमूल बाहर तो नहीं दिखलायी पडती है ? एवं उन पर मल की तह तो नही चढ़ गयी है ? दाँतो के पीसने (आपस में रगडने) से उनके किनारे मोटे हो जाते हैं। यह विशेषतः छोटे बच्चो मे देखा जाता है।

दंतक्षय के हेतु से अनेक रोगियों को मसूढ़े मे शूल चलना, अपचन, शिर दर्द आदि उत्पन्न होते हैं। एवं तमाखू और अधिक पान का व्यसन, गरम चाय आदि पीकर जल्दी ठण्डे जल से कुल्ले करना, गरम गरम पेय और गरम गरम भोजन का सेवन, हिंगुल का धुआँ लेना, रसकपूरवाली औषधि का सेवन आदि कारणो से दाँतो की जड शिथिल हो जाती है। कितनेक ज्वरो मे दाँत हिलने लग जाते हैं।

हचिन्सन्स दंत (Hutchinsons Teeth) की विद्यमानता जन्मलब्ध उपदंश का चिह्न है। इस अवस्था में दोनो स्थायी ऊर्ध्व मध्यकर्त्तनक आस पास के दाँतों की अपेक्षा ऊँचाई पर होते हैं। उनकी आकृति गोल सी होती है नीचे के भाग अन्दर की तरफ मुड़े हुए हो जाते हैं; यह मसूढ़ों के पास शिखर की तुलना मे ज्यादा चौडे हो जाते हैं। इसलिये वह खूंटा के समान दिखते हैं, एवं उनके शिरे पर अर्द्धचन्द्राकार खात होता है। साधारणतया यह विवर्ण भी हो जाते है। इसी प्रकार चर्वणक भी गुम्मट (Dome) के समान हो जाते हैं। चित्र नं० ३२ देखे।

दंतक्षय होने (दंतकृमि लगने) पर दाँत काले काले हो जाते हैं,

और उनमें शूल हुआ करती है। दंतपूय बहुधा अजीर्ण, दाँतो पर मैलजमना तथा आमवात आदि विविध ज्वरो की निर्बलता, उपदंश, पारदविष, कर्ण, नासा आदि से पूय कीटाणुओ के आक्रमण आदि कारणो से उत्पन्न होता है।

दन्तवेष्टः—सर्व प्रथम मसूढे का रग देखना चाहिये। सीसा विष से पीडित रोगी के दन्तवेष्ट के किनारे पर नीली रेखाएँ हो जाती हैं। यह मुख्यतया दतपूय (Pyorrhoea) के पीडित दाँतो के सामने देखी जाती है। दन्तवेष्ट की साधारण विवर्णता होने पर एक सरीखी नीली रेखा दिखाई देगी। जब कि उपर्युक्त रोग होने पर नीली रेखा धब्बो से बनी हुई नजर आयगी तब वह लेन्स (Lens) से देखी जायगी। इस तरह मास पेशियों के भीतर बिस्मथ का अन्तः क्षेपण करते रहने पर या शीशे का सेवन करते रहने पर भी मसूढे पर काली नीली धारियाँ हो जाती हैं। कफज रक्त पित्त, (Scurvy) रोग और पारद विष के कारण मसूढे शोथमय और स्पंज के समान कोमल हो जाते हैं। आशुकारी श्वेताणु वृद्धि (Acute Leukaemia) और रक्त चक्रिका (Blood platelets) के ह्रासमय त्रिदोषज रक्तपित्त(Purpura) मे मसूढो के भीतर से रक्तस्राव हो सकता। है (रक्त रचना, रक्तपित्त और श्वेताणु वृद्धि का वर्णन चिकित्सातत्त्वप्रदीप द्वितीय खण्ड के रक्त रचना विकृति प्रकरण मे किया गया है) दतपूय होने पर मसूढे दबाये जाने पर रक्त स्रवित होता हुआ एवं दन्त और मसूढे की सधि से पूय बाहर निकलता हुआ दिखलाई देता है।

अर्दित वात होने पर मसूढ़े और गाल के भीतर आहार द्रव्य रह जाता है जिससे मसूढे रोगी बन जाते है।

जिह्वाः—जिह्वा को पचन संस्था के ऊर्ध्व भाग का दर्पण कहा है। पचन सस्था (कण्ठ, आमाशय और अन्त्र) के विकारों से इसकी आकृति और वर्णादि मे अन्तर पड जाता है। इसलिए पचन संस्था के रोगो में इसकी परीक्षा अवश्य करनी चाहिए। जिह्वा परीक्षा से व्याधि निर्णय और साध्यासाध्यता का निर्णय भी हो जाता है।

इसकी परीक्षा के लिए रोगी को जिह्वा बाहर निकालने के लिए कहें; एव इस बात का लक्ष्य दे कि वह बिल्कुल सीधी है या नही? इसकी आकृति परिमाण और सचालन शक्ति देखनी चाहिए। जिह्वा का आधा पार्श्व संकुचित या शोष पीड़ित तो नहीं है? जिह्वा मे यदि किसी प्रकार की कपकपी या सौत्रिक तन्तुओ के कारण से उत्पन्न झटका विद्यमान हो तो, उसे भी अवश्य देखना चाहिए।

जिह्वा के उपरितल के परीक्षण चिह्न :—

१—इसका रंग—क्या यह पीली, लाल या विवर्ण है ?
२—यह आर्द्र है या शुष्क ?
३—इस पर किसी प्रकार का आवरण है या नहीं, अगर है तो उसका रंग और स्थिति मालूम करे।
४—स्वाद अंकुरो की अवस्था ; क्या ये शोथमय, चिकने या शीर्षहीन हैं ? जैसा कि कितनेक प्रकार के पाण्डुओ मे होते है।

जिह्वा के निम्नतल की परीक्षा—जिह्वा के नीचे सेवनी (Fraenum) पर स्पष्ट रूप से छोटा क्षत काली खाँसी के अन्तिम दिनो मे तथा कितनीक बार दृढ मूलवाली खाँसी मे भी हो जाता है।

जिह्वा के किनारे की परीक्षा—अन्त मे जिह्वा के किनारे का परीक्षण करे। उसका निरीक्षण करते समय किसी भी प्रकार के व्रण, दाँतो के चिह्न, श्लैष्मिक कला पर सफेद दागो की रचना (Leukoplakia) तथा घिसे हुए अंकुर (Blood patches) आदि का निर्णय कर लेना चाहिए।

उपर्युक्त संक्षेप मे दर्शाये हुए जिह्वा के आकार, संचालन और बाल्यावस्था को कुछ अधिक विस्तार से वर्णन करते हैं।

१—जिह्वा का आकार—स्वस्थावस्था मे जिह्वा का आकार भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। कितनेकों की जिह्वा स्थूल, किसी की पतली और किसी की लम्बी होती है। प्रदाह, मसूरिका, शोणित ज्वर, पारद आदि औषधो का दुरुपयोग, कर्कस्फोट और फिरंगज विकार आदि मे जिह्वा स्फीति हो जाती है। अजीर्ण रोग मे सामान्यतः कुछ स्फीत। अत्यधिक उष्ण चाय आदि से तथा मिर्च, राई आदि उग्रता साधक पदार्थो के सेवन से जिह्वा दाहग्रस्त हो जाती है।

२-जिह्वा संचालन—नृत्यवात (Chorea) हिस्टीरिया, परिधि प्रान्त की वात नाड़ियो के रोगो का आक्रमण (Eclampsia) आदि रोगो में जिह्वा आक्षिप्त हो जाती है। नृत्यवात मे रोगी जिह्वाको तुरन्त बाहर निकालता है और तुरन्त खींच लेता है। मदात्ययज प्रलाप, अति बढ़े हुए मास शोष पक्षाघात और योनि स्थान के पक्षाघात मे जिह्वा कम्पायमान होती है।

विविध मस्तिष्क पीड़ा—मस्तिष्क मे रक्तस्राव, या रक्ताभिसरण सस्था में प्रवेशित शल्य (Embolus) जनित अर्द्धाङ्ग पक्षवध, सार्वाङ्गिक पक्षवध, शकुन्त गतिरोग (Locomtor ataxia) की बढ़ती हुई अवस्था आदि मे जिह्वा का पक्षाघात हो जाता है।

वृक्कसंन्यास या मूत्रमय रक्त बन जाने पर रोगी अति धीरे-धीरे जीभ बाहर निकाल सकता है। थोड़ी निकालने पर फिर भीतर खेंच लेता है।

३. जिह्वा की बाह्यावस्था—मुँह से श्वासोच्छ्वास क्रिया करने पर जिह्वा शुष्क हो जाती है। ज्वर रोग में जिह्वा शुष्क होने पर उसपर चीरा हो जाता है। मधुमेह और एट्रोपिन आदि औषध सेवन से भी जिह्वा शुष्क हो जाती है। इस बाह्यावस्था के अनेक प्रकार निम्नानुसार प्रतीत होते हैं:—

मैली जिह्वा (Coated tongue श्वेत, पीत या कृष्ण मलयुक्त)—कोष्ठबद्धता, अपचन, आमाशयप्रदाह, यकृतप्रदाह, मस्तिष्कावरणप्रदाह, सब प्रकार के ज्वर, क्षय, आमवात, मसूरिका, यकृद्विद्रधि, विसर्प, अभिष्यन्द, रक्तजमूर्च्छा, कण्ठग्रन्थि विकार, शिरदर्द, वातरक्त (Gout.), मूत्राघात (Suppression of urine), मधुमेह और प्रमेह (Chylnria etc), आदि रोगों में जिह्वा मल से लिप्त प्रतीत होती है। रोग कम होने पर मैल कम होने लगता है।

तीव्र अजीर्ण, तीव्र आमाशयप्रदाह, पचनक्रिया विकृति, ज्वर, मलावरोध, पाण्डु और मस्तिष्क बलक्षय (वातवहा नाड़ियों की निर्बलता—**Nervous depression**) में जिह्वा पर पतला सफेद मैल जम जाता है। उपान्त्रप्रदाह, गलग्रन्थिप्रदाह और मानसिक चिन्ता से भी जीभ पर सफेद मल लग जाता है। सविराम ज्वर में सामान्यतः खड़िया मिट्टी लगाने के समान जीभ पर सफेद मल की तह छा जाती है।

तीव्र ज्वरयुक्त रोगों में कभी-कभी जिह्वा पर से आवरण निकल जाता है (यह शुभ लक्षण है) और फिर नया आ जाता है। आवरण निकल जाने पर जीभ अत्यन्त लाल भासती है। फिर वहाँ पर मल की तह आने लगती है। यह मल पार्श्व और आगे के भाग से आरम्भ होकर क्रमशः निकल जाता है।

मदात्यय रोग और आँत में सड़ाँद या जख्म होने से जीभ पर चीरे पड़ जाते हैं। विशेषतः जिह्वा सफेद, मलयुक्त, निस्तेज, मोटी और पिलपिली (Flabby) रहती है।

आमाशय या आंतों में दाह—शोथ होने पर जिह्वा खूब लाल बन जाती है।

असाध्य पाण्डुरोग (Pornicious anaemia) में जिह्वा फिकी, स्थान-स्थान पर से श्लेष्मल त्वचा निकलती हुई और पिलपिली-सी प्रतीत होती है।

उदर प्रदाह, सोमल का विष, मुखपाक और शीतला मे सम्पूर्ण जीभ लाल रहती है। यदि शीतला मे जिह्वा काली हो जाय तो भयप्रद लक्षण माना जाता है।

मूर्च्छा (सन्यास), आमाशय मे कर्कस्फोट (Cancer), अति बढ़ा हुआ क्षय, तीव्र पाण्डु रोग, इनमे जिह्वा श्वेत और लाल अंकुरवाली हो जाती है। इन रोगो में जीभ पर मैल बढ़ना, काली और शुष्क बनना, ये जितना बढ़ता जाय उतना अरिष्ट माना जाता है। फिर इन रोगो मे ऊपर की तह निकल जाती है और नीचे का मास दीखने लगता है। उस समय जीभ मुलायम, लाल रंग की और फटी हुई (Denuded red tongue) भासती है।

भोजन अच्छी तरह न चबाने से ज्वर मे और प्रस्वेद अधिक आने पर लालास्राव कम होता है, तब जीभ के ऊपर गाढ़ामैल (Plastered) जमता है। इनके अतिरिक्त कितनेक आलसी लोग दतौन अच्छी तरह नही करते, कितनेक निरन्तर पान खाते रहते हैं; और कितनेक मधुर पदार्थ अधिक खाते रहते हैं, जिससे उनकी जिह्वा पर मल जम जाता है नाप। इनमे खाने वालो की जीभ पर लालमल जम जाता है।

मुख के भीतर गाल की श्लैष्मिक कला की सतह पर उत्पन्न कृत्रिम शुष्कधूसर कला (Thrush) प्रतीत होती है, यह मुख्यतया बच्चो मे होती है। इसमे छोटे छोटे सफेद बिन्दु या अंकुर आस पास की सतह से ऊपर उठे हुए दिखलाई देते हैं, जो कि कभी कभी साधारण अवस्था से ज्यादा रक्तवर्ण के होते हैं। परान्न भोजी कीटाणु जन्य आमाशयप्रदाह के फलस्वरूप जिह्वा पर उत्पन्न आवरण का निदान करने मे बोतल से दूध पीनेवाले छोटे बच्चो मे अस्वच्छता के फलस्वरूप अवस्थित दूध जैसी सफेद तहसे धोखा हो सकता है। परन्तु इनका विभेद इससे किया जा सकता है कि, बोतल की अस्वच्छता के फलस्वरूप उत्पन्न तह को आसानी से हटा सकते हैं, जब कि कृत्रिम कलामय आवरण को बहुत कठनाई से दूर कर सकते है। एवं उसे हटाने के पश्चात् वह स्थान कच्चा या क्षत मय भासता है। चित्र न० ३५ देखो,

मल का वर्ण यदि श्वेत है, जिह्वा के मध्य भाग मे मल है तथा किनारी लाल है, तो आमाशय आदि पचनेन्द्रिय सस्था की श्लैष्मल त्वचा में विकृति होने का बोध होता है। यदि जिह्वा पर के मल का वर्ण पीत है, तो यकृत् को अपराधी माना जाता है। मोतीझरा और प्रलापक ज्वर (Typ-

hus) में कभी कभी जिह्वा पर काला मल छा जाता है। आमाशय आदि में पूयोत्पत्ति से पूय प्रवेश होने पर धूसर मल बन जाता है।

संग्रहणी (Sprue) और दुष्ट पाण्डु मे जिह्वा छोटी, चमकदार और पीताभ प्रतीत होती है। कभी-कभी एक ही रोग मे जिह्वा का रूप और रग भिन्न-भिन्न यहाँ तक कि बिल्कुल विपरीत भी देखा जाता है। इसलिए जिह्वा सम्बन्धी अनुभव-ज्ञान पुस्तको से प्राप्त करना कठिन है। उसे तो रोगियो की सेवा करके ही प्राप्त करना चाहिए।

शुष्क मलयुक्त जिह्वा (Dry tongue)—विषम ज्वर, संतत ज्वर, त्रिदोषज ज्वर, वात ज्वर, जीर्ण ज्वर, अजीर्ण, आमाशय विकार, अन्त्र विकृति, विष प्रकोप, दाह, विसर्प, मसूरिका, रोमान्तिका, इतर संक्रामक ज्वर (जिनमें रोगी मुँह से श्वास लेता रहता है) निद्रानाश, कामला, फुफ्फुसप्रदाह और अन्त्रावरणप्रदाह आदि रोगो मे जिह्वा शुष्क मैली हो जाती है।

जब ज्वर, वृक्क सन्यास या इतर कारणो से मस्तिष्क की शक्ति न्यून हो जाती है, तब जिह्वा शुष्क हो जाती है। इनके अतिरिक्त मद्यपान, अफीम, चरस, गांजा आदि के सेवन से भी जीभ सूखी रहती है।

कांटेदार जिह्वा—(Furred tongue) अग्निमान्द्य, अन्त्रक्षत, क्षय, उदरस्थ दुष्टार्बुद (Malignant Tumour) आदि कृशता लाने वाले रोगो में जिह्वा पाण्डु वर्ण की हो जाती है; तथा रक्तवर्ण के या श्वेताभ बाल जैसे अंकुर आ जाते हैं। एवं शराब के व्यसन और विस्फोटक मे भी जिह्वा काटेदार बन जाती है।

तीव्र ज्वर में जिह्वा के आगे के हिस्से और बाजू की दोनो किनारी पर अंकुर (Papillae) वाली लाली दीखती है ; और पतला मैल रहता है ऐसी जिह्वा को डाक्टरी में स्ट्रावेरी टंग (Strowerry tongue) कहते हैं।

शुष्क तेजस्वी जिह्वा (Glazed tongue)—जीर्ण प्रवाहिका, मधुमेह, आमाशय का तीव्र प्रदाह, अन्त्रका तीव्र प्रदाह, आन्त्रिक ज्वर, अन्त्रावरण प्रदाह, राजयक्ष्माकी तृतीयावस्था, तथा उत्तान जिह्वा प्रदाह (Moeller's glossites), इन रोगो में जीभ नीरस और तेजस्वी प्रतीत होती है।

नीली-काली जिह्वा (Black tongue)—चिरकारी आमाशय प्रदाह, सन्निपात, सततज्वर, राजयक्ष्मा, आन्त्रिक ज्वर की भयप्रद अवस्था, विसूचिकाकी अन्तिमावस्था; फुफ्फुसक्रिया विकृति, हृद्विकार, धमनीकोष-

काठिन्य, कामला, कफरक्तज रक्त पित्त (Scurvy) और विसर्प आदि रोगो में भी जीभ का रंग मैला काला या नीला-सा हो जाता है। जिह्वा शुष्क और अधिक काली हो जाना, यह लक्षण त्रिदोषज ज्वर मे अशुभ माना जाता है। एवं यदि राजयक्ष्मा उदरस्थ दुष्टार्बुद आदि घातक रोगो मे जिह्वा शुष्क, खुरदरी, धूसर वर्ण की हो जाय और उस पर मल की तह जम जाय, तो वह भी अरिष्टावस्था मानी जाती है।

विसूचिका, मूर्च्छा और श्वासावरोध होने पर जिह्वा शीतल स्पर्श वाली होती है। विसूचिका मे जिह्वा काली हो जाना, यह अशुभ लक्षण है।

अरुचि और अतिसार मे सामान्यतः जीभ सफेद होती है, किन्तु आमातिसार और रक्तातिसार मे जिह्वा काली हो जाना, यह लक्षण भयप्रद माना जाता है।

कामला, होने से जिह्वा की त्वचा पीली हो जाती है। किन्तु कामला मे यकृत् अधिक विकृत हो जाने पर जिह्वा काली हो जाती है।

स्थूल जिह्वा—रक्त भार की न्यूनता, अग्नि मान्द्य, अजीर्ण, चिरकारी आमाशय प्रदाह, शोथ ज्वर, मस्तिष्क विकार और वातवहा नाड़ियों की विकृति आदि हेतुओ से जिह्वा श्वेत मल लगी हुई और शोथ युक्त मोटी भासती है। जिह्वा की श्लैष्मिक कला वृद्धि (Leukoplakia) तथा जिह्वा प्रदाह (Glossites) होने पर जिह्वा कणो की वृद्धि हो कर ऊपर दानेदार सफेद मल लगता है। डाक्टरी मे उसे स्थूल मल जिह्वा (Cobblestone) मे संज्ञा दी है।

संकुचित जिह्वा (Wrinkled tongue)—लाल पिण्ड (Salivary glands) की विकृति, जिह्वा की वातवहानाड़ियो का विकार, पक्षाघात या क्षीणता, अतिरिक्त स्राव और कण्ठस्थ व्याधियो के हेतु से जिह्वा सूख जाती है और उस पर सिलवट पड़ जाती है। मस्तिष्क मे दाह-शोथ होने पर जिह्वा पतली और नोकीली हो जाती है।

जिह्वा-कम्प—तीव्र ज्वर, अन्त्रक्षत, सर्वाङ्ग वात, मद्य-सेवन और अनेक संक्रामक रोगो में जिह्वाकम्प रूप उपद्रव हो जाता है। एवं देह अति निर्दल हो जाने के पश्चात् थोड़ी सी ठण्डी लगने पर, बोलने के समय जिह्वा कम्पती हुई भासती है। नृत्यवात (Chorea) मे रोगी सर्प के समान जिह्वा को बाहर निकालकर तुरन्त वापस खेंच लेता है। डाक्टरी मे उसे नृत्यवातिक जिह्वा (Choreic tongue) संज्ञा दी है।

जिह्वाक्षत, स्फोट और भेद—पित्तप्रकोप, शुष्ककास, मदात्यय, अन्त्रभेद, मधुमेह, जीर्ण प्रवाहिका, उपदंश, मुखपाक, विसर्प, अम्लपित्त, क्षार या तीक्ष्ण पदार्थो का सेवन या इतर हेतु से आमाशयरस अधिक तीव्र हो जाने पर जिह्वा फट जाती है वा जिह्वा पर झाले हो जाते हैं।

वातिक कास और बालको की काली खासी मे जिह्वा के नीचे क्वचित् छाले हो जाते हैं तथा बालको को बोतल से दूध पिलाने मे स्वच्छता न रहने पर मुँह मे चारो ओर श्वेत वर्ण के छाले पड जाते है।

मधुमेह मे पहले मुँह मे से मीठी वास आती है। फिर रोग बढ़ने पर मधुमेह मे और अन्य जीर्ण रोगो में जब जिह्वा बहुत फट जाती है, शोथ आ जाता है तथा कोथमय मुखपाक (Aphthosa stomatitis) होकर दुर्गन्ध आने लगती है, इस अवस्था को अरिष्ट चिह्न माना है।

असाध्य क्षय, यकृत और प्लीहा विकृति आदि रोगो की अन्तिमावस्था मे जिह्वा पर घाव हो जाते है।

बहुधा अपचन से जिह्वा पर क्षत हो जाते हैं चित्र नं० ३७ देखे। क्वचित् दाँतो में पूय या कृमि होने पर और उपदंश रोग मे भी व्रण हो जाते है। किन्तु वे चीरे सदृश या गोल खड्डे समान और प्रायः किनारे पर होते हैं।

जिह्वा पर श्वेत कोथमय क्षत होना, यह भयानक रोग है। अक्सर यह बालको मे प्रतीत होता है। जिह्वा पर कभी कभी दुष्ट व्रण भी होता है। इसके निदान का विवेचन शल्य शास्त्र का विषय है।

ग्रन्थियुक्त जिह्वा—कृमि विकार और रक्त विकार के हेतु से जीभ पर छोटी छोटी गाँठ हो जाती है। चित्र नं० ३८ देखें।

जिह्वावरोध—स्वरयन्त्र विकृति, लालापिण्ड विकार, जिह्वागत रोग, जिह्वा की वातवहानाड़ियो का घात और कण्ठरोहिणी आदि कारणो से बोलने में जिह्वा रुकती है।

जिह्वान्त में मलभेद—आन्त्रिक आदि ज्वरो की भयप्रद अवस्था में जब रोग बल न्यून हो जाता है, प्रकृति सुधरने लगती है, तब जिह्वा पर लगी हुए मल मे भेद हो जाता है, और जिह्वा के पीछे के हिस्से में मल से भीतर सूक्ष्म-सूक्ष्म छिद्र प्रतीत होते है।

दाह और रक्त प्रकोप मे जिह्वा उष्ण स्पर्श और लाल होती है।

कठिन जिह्वा—सहसा जीभ कठोर, मोटी, सफेद, शुष्क, गुरु, श्याम

रँग वाली मैल से पूर्ण, अचेतन (रस-ज्ञान को न जाननेवाली) हो जाय, तो वह अरिष्ट चिह्न माना जाता है। चित्र नं० ३९ देखे।

जिह्वा कठिन लकडी जैसी जड, भाग युक्त और मोटी हो जाना यह मृत्यु कालका बोध कराती है।

पालतू पशुओ के रोगो का मनुष्यो पर आक्रमण होने पर श्नुशोथ (Actinomyeosis) उत्पन्न होता है। इस विकार मे जिह्वा कठोर बन जाती है। उसे काष्ठ जिह्वा (Wooden Tongue) संज्ञा दी है।

तालु, गलतोरणिका और ग्रसनिका (Polate, fauces and pharynx) की परीक्षा—जिह्वा स्थापक (Tongue depressor)* यन्त्र को मुँह मे चलाकर प्रथम जिह्वा को दबावे ताकि तालु और कण्ठ आसानी से देखे जा सके। सर्व प्रथम इनका वर्ण देखे और मालूम करे कि उनमे किसी प्रकार का अस्वाभाविक पीलापन या लाली तो नहीं है? वैद्य को यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि अपतन्त्रक (Hystoria) पीड़ित रुग्णा का कण्ठ और तालु साधारणतया अचेतन होता है। कामला का पीलापन कोमल तालु पर दीर्घस्थायी होता है और ठीक उसी स्थान पर रोमान्तिका के आक्रमण के प्रारम्भ मे दागनुमा रक्तवर्ण आसानी से देखा जा सकता है।

अगर तालु, गलतोरणिका, ग्रसनिका-ग्रन्थिया, कागलिया (उपजिह्विका) पर किसी प्रकार का क्षत या वहा की वसा मे किसी प्रकार का दाग हो तो उसे भी ध्यान से देखना चाहिये। कण्ठादि अवयवो की प्रतीति साफ हो सके इसलिये रोगी को लगातार "आह-आह" शब्द उत्पन्न करने को कहें। क्योकि इस शब्द के उच्चारण से कोमल तालु ऊपर उठ जाता है और कण्ठ आसानी से दिखने लग जाता है। रोगी से यह शब्द उच्चारण करा करवे सर्व प्रथम उसकी ग्रसनिका ग्रन्थियों में निम्न बाते देखे। वे वृद्धियुक्त (फूली हुई) तो नही हैं? उन पर पीत या धूसर रंग के चिह्न या अंकुर तो नही हैं? अगर विद्यमान हैं तो इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि ये चिह्न या अकुर इनकी सतह पर से हटाये जा सकते है या नहीं? और उनके हटाने का क्या परिणाम होता है? उनके हटानें से बिल्कुल स्वस्थ जगह रह जाती है? जैसा कि पिटिकास्राव के जमा हो जाने के कारण उत्पन्न होने पर तथा उनके हटाने के पश्चात् अस्वस्थ

---

* **जिह्वा स्थापक**—यह एक प्रकार का यन्त्र है। इसका आगे का हिस्सा चौडा होता है। उसे मुँह मे चला कर जिह्वा को दबाया जाता है। इसके अभाव मे चम्मच की डॉडी से काम लिया जा सकता है।

या कच्चा क्षतमय स्थान रह जाता है, जैसाकि कण्ठरोहिणी (Diphtheria)* मे मिथ्या कला को दूर करने पर होता है। फिर कोमल तालु और उपजिह्विका का भी निरीक्षण करना चाहिए और देखना चाहिए कि; इन पर किसी प्रकार के चिह्न या अंकुर तो नही है ? इसके पश्चात् कण्ठ की परीक्षा करनी चाहिए। कण्ठ में शोथमय अनेक कणिकाएँ (सूक्ष्म-सूक्ष्म दाने) की विद्यमानता, जो कि साबूदाने जैसे होते है, साधारणतया सर्व मनुष्यो मे पायी जाती है : किन्तु ये कणिकाये दानेदार ग्रसनिका प्रदाह मे ज्यादा फूल जाती हैं। कभी-कभी छोटी शिराएँ भी प्रसारित हुई देखी जाती हैं। अगर पूय श्लेष्माधिक्य या वसा की विद्यमानता अथवा व्रण हो तो उसे भी ध्यान से देखना चाहिए। कण्ठ के पीछे की तरफ विद्रधि (Abscess) होने पर कण्ठ की पिछली दीवार अन्दर की तरफ फूल जाती है ; यह स्पर्श परीक्षा द्वारा अच्छी तरह मालूम की जा सकती है।

श्वास गंध—श्वास की विस्तृत परीक्षाविधि का वर्णन श्वास संस्था मे किया जायगा , परन्तु इसकी गंध मुख के रोगो के साथ घनिष्ट संबंध रखती हैं। इसलिये इसकी गंध का वर्णन मुखपरीक्षा के साथ ही कर देना उचित है। प्रथम यह देखना चाहिए कि, दुर्गन्ध प्रबल दुःखदायी आ रही है या साधारण है ? मुख से आ रही या नासिका से ? एतदर्थ प्रथम रोगी को मुख बंद रखते हुए सिर्फ नासिका से श्वासोच्छ्वास क्रिया कराने को कहे। फिर मुख से श्वास लेने को कहे ; दोनो समय पृथक्-पृथक् गंध को देखे, इससे मालूम हो जायगा कि गंध दोनो अवस्थाओ मे विद्यमान है या एक ही अवस्था मे। अगर नासिका में गंध का कारण विद्यमान होगा तो सिर्फ प्रथमावस्था मे और अगर मुख मे होगा तो दोनो अवस्थाओ मे अर्थात् नाक और मुख दोनो से ही श्वास लेने पर दुर्गन्ध मालूम पड़ेगी।

अगर दुर्गन्ध नासिका से आ रही हो तो नासिका दर्शक यन्त्र (Rhinoscope) से परीक्षा करनी चाहिए (इसकी परीक्षा विधि दशम अध्याय के चतुर्थ खण्ड मे लिखी जायगी) और मुख्यतमया मालूम करना चाहिये कि, नासिका मे शुष्क कफ, अन्नकण, काष्ठ या अन्य कोई बाह्यशल्प

---

* **कण्ठरोहिणी**—यह एक प्रकार का संक्रामक गल रोग है जिसमें गल ग्रन्थियाँ और कण्ठ के पश्चात् भाग की वसाकला पर एक झिल्ली उत्पन्न हो जाती है। यह रोग अक्सर बच्चो मे होता है। यह सर्व प्रथम १६वी शताब्दी मे यूरोप के अनेक हिस्सो मे देशव्यापी रूप से फैला था। इसके लक्षण आयुर्वेद के क्षुद्र रोगो मे वर्णित कण्ठ रोहिणी से मिलते-जुलते है।

तो नहीं है? एवं नासिका की श्लैष्मिक कला का शोषमय प्रवाह आदि स्थानिक रोग तो नहीं है? अगर गंध मुख से आ रही हो तो उसके निम्न कारण हो सकते हैं। मैले दाँत, दन्तवेष्ट और वसामय कला के व्रण, मसनिका ग्रन्थि की वृद्धि और उसके साथ उसके कणिकाओं के स्राव का अवरोध और सड़न ये मुख में गंध उत्पादक अत्यन्त सामान्य कारण हैं।

फेफड़ों में कोथ (Gangrine)* होने पर श्वास में सड़ी हुई गंध आने लग जाती है; जो दुर्गन्धमय कफ के समान होती है। श्वास प्रणाली विस्तृत हो जाने पर भी श्वास में एक अनोखी गंध आने लग जाती है। जिसका कलम से लिख सकना कठिन है, वह केवल अनुभव से ही जानी जा सकती है। अगर दुर्गन्ध फुफ्फुस में विद्यमान हो तो रोगी को खाँसने के लिये कहने पर, वायु के एकदम बाहर निकलने से, आसानी से जानी जा सकती है।

श्वास में मंद दुर्गन्ध हो तो वह अग्निमान्द्य और बद्धकोष्ठ के कारण उत्पन्न हो सकती है।

रक्त में मूत्र विष वृद्धि होने पर श्वास के अन्दर मूत्रीया (Urea) या नौसादर के समान गंध आ सकती है। मधुमेहज मूर्च्छा के आने के पहले रोगी के श्वास में फलों की सुगन्ध के समान एसीटोन (Acetone) की वास आने लगती है। बहुत सी ओषधिया-तार्पिन तैल, पैराल्डी हाइड आदि के प्रयोग से श्वास में प्रकृति निर्देशक गंध आती है। अगर बिस्मथ (Bismuth) का प्रयोग हो रहा हो, तो किसी किसी के श्वास में लहसुन के सदृश गंध आने लगती है। आयोडाइड का प्रयोग करने पर श्वास में अनोखी गंध उपस्थित होती है।

अन्न नलिका की रचना

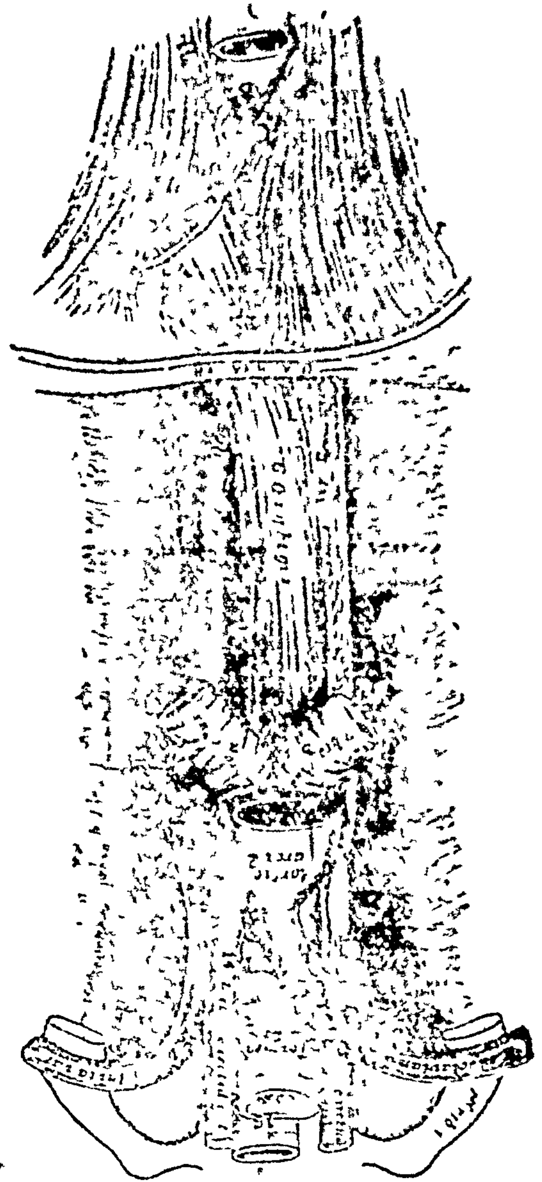
अन्न नलिका (Oesophagus), यह साधारणतया ९ से १० इञ्च

---

* **कोथ**—शरीर के किसी हिस्से की मृत्यु को कोथ कहते हैं। जब तन्तुओं की मृत्यु धीरे-धीरे हो, सिर्फ उपरि तन्तु ही नष्ट हो और अणुवीक्षणीय तन्तु ही प्रभावित हो तो उसे व्रण संज्ञा दी है। जब कि आन्तरिक तन्तुओं के और मुख्य अस्थि के विनाश का नेक्रोसिस (Necrosis) कहा गया है। यह कोथ मुख्यतया दो प्रकार का है—शुष्क और आर्द्र। शुष्क कोथ में रक्त संचार का अवरोध होकर पीडित अंग मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। जब कि आर्द्र कोथ में मृत्यु के साथ-साथ उस स्थान पर शोथ भी आ जाता है।

लम्बी होती है। यह स्वरयंत्र की कृकाटक तरुणास्थि (Cricoid cartilage) से आरम्भ होकर ६ वे वक्ष कशेरुका (Thoracic vertibra) के सामने तक गई है। वहाँ पर आमाशय मे मिल जाती है। वाम श्वास प्रणाली चौथे और पाँचवे वक्ष कशेरुका के मध्य मे इसको पार करती है। यह नलिका अन्न जल को आमाशय मे ले जाती है। इसके उर्ध्व भाग (कण्ठ मे रहे हुए भाग) को ग्रसनिका (Pharynx) संज्ञा दी है।

इसका कोई भाग दृष्टिगोचर नही होता है। परन्तु विशेष यंत्रो की सहायता से इसका कुछ ऊर्ध्व भाग (मुँह मे से) देखा जा सकता है। नीचे के भाग की विकृति-शोथ व्रण, अर्बुद आदि एक्सरे से ही मालूम की जासकती है।



(चित्र नं० ४८)
अन्न नालिका और महाप्राचीरापेशी

द्वितीय खण्ड

उदर रचना

देह में अवस्थित सर्व गुहाओं की अपेक्षा उदर गुहा बड़ी है। ऊपर के बड़े भाग को उदर गुहा (Abdomen) और निम्न छोटे भाग को श्रोणिगुहा (Pelvic cavity) कहते हैं। इस उदर गुहा में गुल्म, अर्बुद, अन्त्र विद्रधि, अवयव वृद्धि, क्रिया विकृति और शोथ आदि विकार होने पर परीक्षा और निदान में सहायक बनें इसलिए चिकित्सक को पूर्णतया उदर के अंगों की स्थिति सीमा आदि तथा उसकी बाह्य सीमा उदर पर किस प्रकार निर्धारित की जा सकती है, आदि का पूर्ण परिचय होना आवश्यक है।

उदर रेखाएं—उदर पर तीन प्राकृतिक रेखा हैं। १–खड़ी श्वेत रेखा (Linea alba); २–अर्द्ध चन्द्राकार खड़ी रेखाएं (Linea semilunaris), ३–अनुप्रस्थ रेखाएं (Linea Transversae)।

१–खड़ी श्वेत रेखा या उदर सीवनी—(Linea alba) इसका ऊर्ध्व सिरा असिपत्र (Ensiform cartilage) को तथा निम्न सिरा भगास्थि संधान (Symphysis pubis) को लगा है। शल्य क्रिया में इस रेखा पर उदर छेदन किया जाता है। इसके पीछे ऊपर से नीचे क्रमानुसार निम्न अंग अवस्थित हैं। १. यकृत् का वाम खण्ड; २ आमाशय का कुछ भाग, ३ अनुप्रस्थ बृहदन्त्र, (नाभि तक) ४ वपासे आच्छादित लघुअन्त्र के मोड़, ५. मूत्राशय (विस्तृत होने पर) तथा गर्भावस्था में गर्भाशय।

२–खड़ी अर्द्ध चन्द्राकार रेखाएं—ये २ रेखाएं हैं। दोनों पार्श्वों में १–१ अवस्थित हैं। दहिनी ओर की रेखा ७ वीं पर्शुका के अधोभाग से अर्थात् यकृत् के दक्षिण पिण्ड के पिछली ओर में सबसे नीचे की ओर रही हुई अधरा अर्द्धचन्द्र पिण्डिका (Semilunar lobe) में से निकलती है तथा नीचे भगास्थि कण्टक (Spine of pubes) तक अर्द्धचन्द्राकार सी जाती है। यह नाभि से ३ इञ्च दूरी पर से नीचे उतरती हैं। किन्तु उदर के फूल जाने पर अन्तर बढ़ जाता है। पित्ताशय इस दॉयी ओर की रेखा से बाहर की ओर रह जाता है।

३–अनुप्रस्थ रेखा—ये ३ रेखा हैं। एक नाभि के सामने, दूसरी

उरः फलक के अन्त में तलवार के समान मुड़े हुए अग्रपत्र (Xiphoid process) के पास और तीसरी इन दोनो रेखाओ के मध्य मे ।

इस प्रकार ये तो प्राकृतिक रेखाएं है; जिनसे उदरस्थ अंगो का पूर्ण ज्ञान होना कठिन है । इसलिए उदरस्थ अंगो की सीमा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए चार कल्पित रेखाओ द्वारा उदर को ९ भागो में विभक्त किया है।

उदर गुहा स्थित अवयव—१. आमाशय; २. लघु अन्त्र, ३. बृहदन्त्र; ४. यकृत् (पित्ताशय और पित्तस्रोतसह), ५. प्लीहा ; ६. अग्न्याशय ; ७. दो वृक्क (मूत्रपिण्ड) , ८. दो गवीनी (Ureters) , ९. दो उपवृक्क (Suprarenal glands) ; १०. मूत्रपूर्ण वस्ति (वस्ति खाली होने पर श्रोणिगुहा में रह जाती है), ११. अवरोहिणी धमनी (Descending aorta) ; १२. अधरा महाशिरा ; १३. रसप्रपा (Cisternachyli); १४. रसकुल्या (Thoracic duct) के प्रारम्भ का भाग ; १५. मणिपुर चक्र (Solar-plexus) ये सब अवयव उदरगुहा मे रहते हैं तथा उदर्य्याकला से आच्छादित हैं ।

इस उदरगुहा और उरो गुहा के मध्य मे महाप्राचीरा पेशी है । उदरगुहा की पिछली ओर कटिलम्बिनी दीर्घा और ह्रस्वा (Psoas magnus and minor) नामक ४ मास पेशियाँ, कटि चतुरस्रा (Quadratus-lumborum) नामक २ पेशियाँ तथा कटिवंश रहे है । आगे की ओर दोनों पार्श्व में थोडी पर्शुकाएँ, उपपर्शुकाएँ और दोनो श्रोणि कपाल हैं ।

इस उदरगुहा के अवयवों के स्थान का बोध कराने के लिये ४ काल्पनिक रेखाएँ (२ खडी २ आड़ी) खीच कर ९ काल्पनिक विभाग किये हैं । इनमे २ खडी रेखाओ को स्तनातरिका अनुलम्ब रेखा (Lateral line of abdomen) सज्ञा दी है । ये रेखा वंक्षण रज्जु के मध्यबिन्दु से प्रारम्भ होकर ऊपर जाने पर स्तन चूचुक (Nipples) और आठवीं उपपर्शुका के मध्य भाग मे से निकलती है, और आडी रेखाओ को उत्तरनाभिका (Transpyloric plane) और अधरनाभिका (Transtubercular plane) सज्ञा दी है । उत्तरनाभिका नाभि से ऊपर रही है और अधरनाभिका नाभि के नीचे श्रोणिफलक के जघनकपाल नामक ऊपर के हिस्से के शिर को छेद कर निकलती है । इन ४ रेखाओ के निम्नानुसार ९ उदर प्रदेश हो जाते हैं । चित्र न० ४२ देखे ।

दक्षिण अनुपार्श्विक देश	हृदयाधरिक देश	वाम अनुपार्श्विक देश
दक्षिण कुक्षि देश	परिनाभिक प्रदेश	वाम कुक्षि देश
दक्षिण वंक्षणोत्तरिक देश	अधिवस्तिक प्रदेश	वाम वंक्षणोत्तरिक देश

इस उदरगुहा के चित्र में शारीरिक आशयो के चित्रों के साथ दिये हैं। उनको देखने से पाठको को उदरगुहा मे रहे हुए अवयवो के स्थान का सम्यक् प्रकार से बोध हो सकेगा। चित्र नं० ४३ देखे।

उदरगुहास्थित अवयव।

दक्षिण अनुपार्श्विक देश	हृदयाधरिक देश	वाम अनुपार्श्विक देश
(१) यकृत् का दक्षिण खण्ड (२) अग्नयाशय का थोड़ा अग्र भाग (३) स्थूलान्त्र का वक्र भाग (यकृत् कोण) (४) दक्षिण वृक्क का ऊपर का भाग ८ वीं उपपर्शुका के मध्य भाग से रेखा	(१) यकृत् का वामखण्ड तथा दक्षिण खण्ड का थोड़ा भाग (२) पित्तकोष (३) ग्रहणी (४) अग्न्याशय (दक्षिण अर्द्ध भाग) (५) अधिवृक्क (६) अधरा महाशिरा (७) प्रतिहारिणीशिरा (८) अवरोहिणीमहाधमनी (६) मणिपुरचक्र (१०) रसकुल्या	८ वीं उपपर्शुका के मध्य भाग से रेखा (१) वामआमाशय स्कन्ध (२) प्लीहा (३) अग्न्याशय पुच्छ (४) स्थूलांत्र का प्लैहिक कोण (प्लीहागत वक्रभाग) (५) वाम मूत्रपिण्ड क भाग

चित्र न० ४२

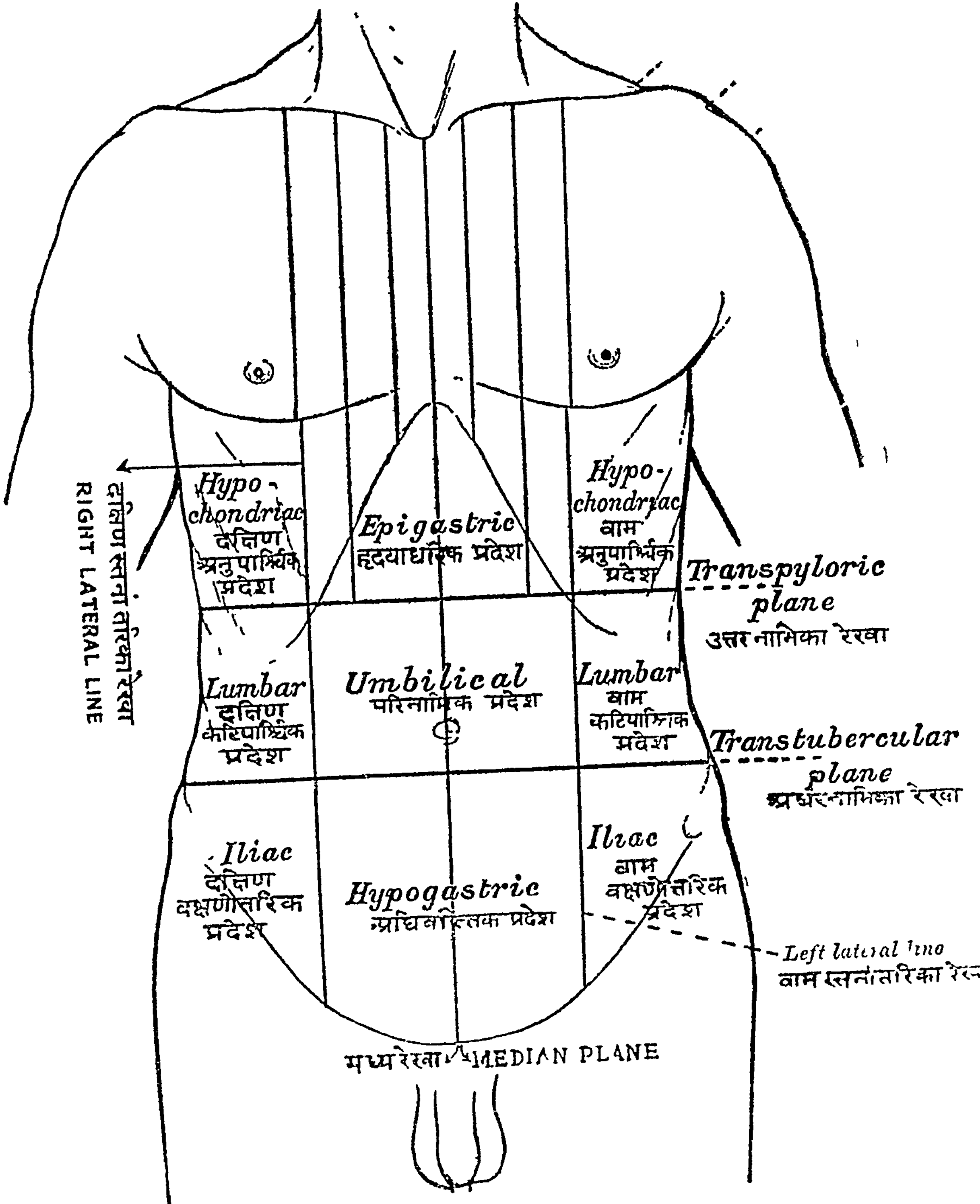
उरोगुहा और उदरगुहा ।

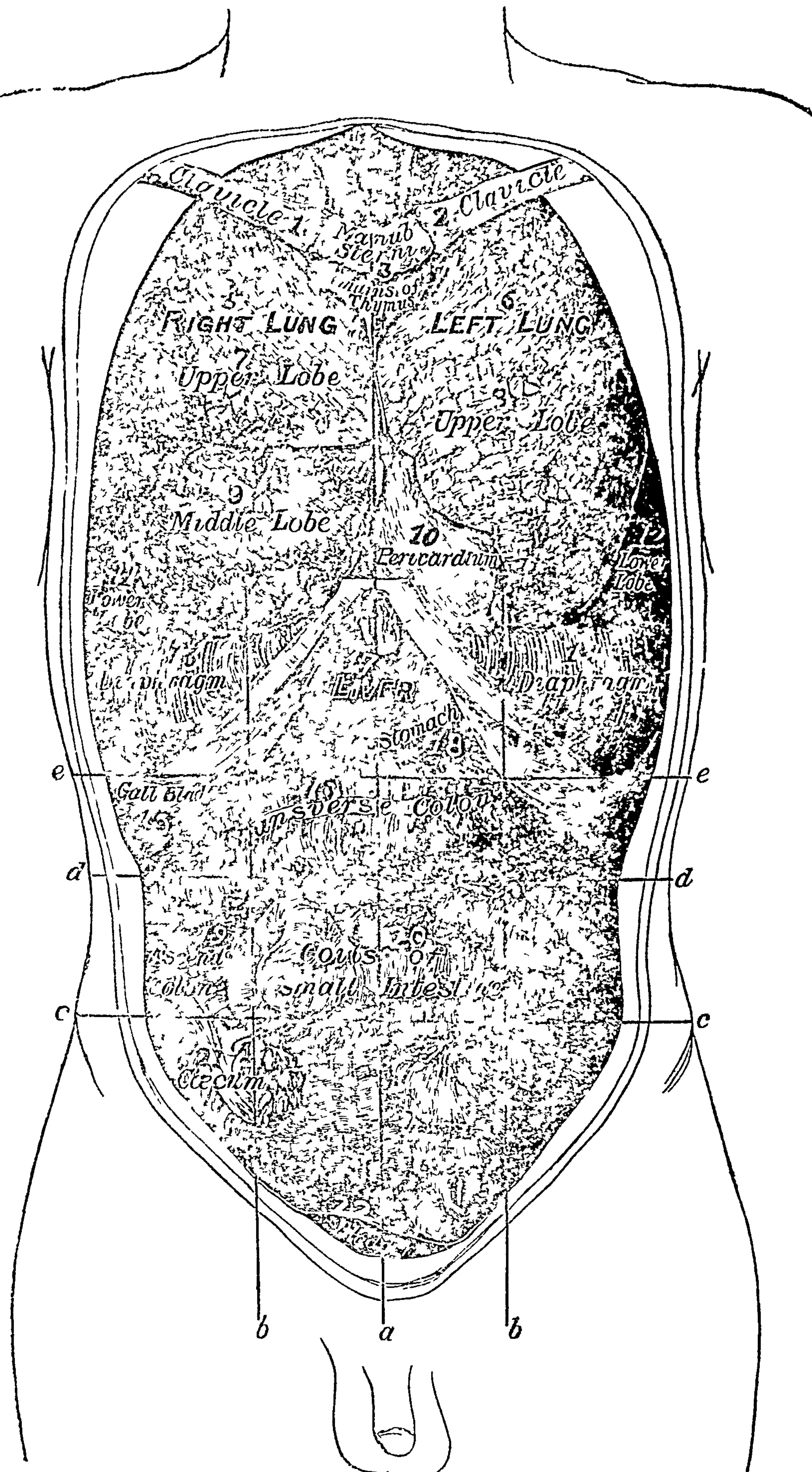
१–२ अक्षकास्थि Clavicle
३ ग्रैवेयक उरःफलक का ऊर्ध्वभाग) Manubrium of the sternum
४ बाल ग्रैवेयक ग्रन्थि का अवशेष भाग Remains of the Thymius Gland
६ दक्षिण फुफ्फुस Right Lung
६ वाम फुफ्फुस Left Lung
७,८ ऊर्ध्व फुफ्फुस पिण्ड Upper Lobe
६ मध्य फुफ्फुस पिण्ड Middle Lobe
१० हृदयधर कला कोष Peri Cardium
११,१२ अधः फुफ्फुस पिण्ड Lower Lobe
१३,१४महाप्राचीरापेशीDiaphragm
१५ पित्त कोष Gall Bladder
१६ अनुप्रस्थ अन्त्र Transverse Colon
१७ यकृत् Liver
१८ आमाशय Sromach
१६ आरोही Ascending Colon
२० लघुअन्त्र की गेडुली Coils of Small intestines
२१ उण्डुक Coecum
२२ बस्ति Bladder
a मध्य अनुलम्ब रेखा Median plane
b-b स्तनातरिका रेखा Laternal planes
c c अधर नाभिका रेखा Inter-tudercular plane
d-d मध्य नाभिका रेखा Sub-costal plane
e-e उत्तर नाभिका रेखा Trans-pyloric plane

मध्य नाभिका रेखा और मध्य अनुलम्ब रेखा मध्य भाग से अन्तर दर्शाने के लिये खिंची है। उदर गुहा के ऊपर के प्रदेशों का आरम्भ उत्तर नाभिका रेखा के ऊपर के प्रदेशों से होता है। इन गुहाओं के शेष अवयव ऊपर के अवयवों के नीचे ढके रहने से आगे की ओर से नहीं दीख सकते।

चित्र नं० ४२

उदर गुहा के ६ भाग




Clavicle 1
2 Clavicle
Manub Sternum
3
Thymus
5
6
RIGHT LUNG
LEFT LUNG
7
Upper Lobe
8
Upper Lobe
9
Middle Lobe
10
Pericardium
Lower Lobe
Diaphragm
Diaphragm
LIVER
Stomach
18
e
e
Gall Blad
15
16
Transverse Colon
d
d
Coils of Small Intestine
c
c
Cæcum
b
a
b

नवमी पशु का को लगी हुई रेखा		
दक्षिण कुक्षि देश	परिनाभिक देश	वाम कुक्षि देश
(१) वृहदन्त्रका आरोही भाग (२) दक्षिण मूत्रपिण्ड के नीचे का आधा भाग (३) लघु अन्त्र की थोड़ी वलय	(१) वृहदन्त्र का आडा हिस्सा (२) ग्रहणी (अन्त्रारम्भ) (३ वपा का मध्यप्रदेश (४) अन्त्रबन्धनी (५) लघु अन्त्रका हिस्सा	(१) वृहदन्त्रका अवरोही भाग (२) वाम मूत्रपिण्ड के नीचे का आधा हिस्सा ३) लघु अन्त्र का थोड़ा हिस्सा
जघन कपाल के दोनो शिखरोंको लगी हुई रेखा		
दक्षिण वंक्षणोत्तरिक प्रदेश	अधिवस्तिक प्रदेश	वाम वंक्षणोत्तरिक प्रदेश
(१) दक्षिण गवीनी (२) उण्डुक (वृहदन्त्र का प्रारम्भिक भाग) (३) उण्डुक पुच्छ-आन्त्र पुच्छ (४) अनुवृष्णिका धमनी (स्त्री शरीर में अनुबीज कोशिका)	(१ लघु अन्त्रकी वलय (२) बालक की देह मे वस्ति-(युवावस्था बाद मूत्र पूर्ण वस्ति) (३) गर्भाशय (स्त्री सगर्भा हो, तब)	(१) वाम गवीनी (२) वृहदन्त्र का कुण्डलिका भाग (कटिगल वक्र भाग) (३) अनुवृष्णिका या अनुबीजकोषिका धमनी

नाभि:—यह अधो अनुप्रस्थ रेखा के १। या १॥ इञ्च ऊपर होती है तथा चतुर्थ कटि कसेरुका के ऊपरी भाग के ठीक समानान्तर रहती है। परन्तु वैद्य को यह स्मरण रखना चाहिये कि, इसकी स्थिति सर्वथा परिवर्तन शील है। अतः उदर पर स्थान अंकित करने के लिये उसे आधार नहीं माना जा सकता।

महाधमनी—यह नाभि की समान स्थिति से ¾ इञ्च नीचे कुछ बाईं ओर दो भागो मे विभक्ति हो जाती है। ये दोनों अन्तरा और बाह्य अधिश्रोणिका धमनियों के नाम से पुकारी जाती हैं। एवं लम्ब रेखाओं के समानान्तर वे ऊर्ध्वतन पूरः कूट तथा भगास्थि संधान (Symphysis Pubes) के बीच मे से निकलती हैं।

उदर का अक्ष (Coeliac axis)—महा धमनी की उदरस्थ बृहत् शाखा जिस स्थान से निकलती है, वहा पर यह अक्ष है। नाभि से ४॥ से ५ इञ्च ऊपर है तथा वृक्क की धमनियों से लगभग ६ इञ्च ऊपर है।

उत्तरनाभिकारेखा (Transpyloric plane)—उदर परीक्षार्थ इसकी पुनः पुनः परीक्षा की जाती है। यह उरः फलक के ऊर्ध्वखात और भगास्थि सधान की ऊर्ध्वधारा के बीच के मार्ग मे अवस्थित है। समान्यतः यह अग्रपत्र (Xiphisternal Junction) या उरःफलक के निम्न खात के शिखर और नाभि के बीच मे अर्द्ध पथ पर रही है, तथा यह पहली कटि कशेरुका की निम्नधारा के साथ पश्चाद्वर्ती भाग मे सम्बन्ध स्थापित करती है।

उदर की साधारण परीक्षा

उदर की परीक्षा करने के लिए रोगी को अच्छे प्रकाशयुक्त स्थान पर चित्त लिटाना चाहिए। उदर को नंगा करने के लिये सर्व प्रथम रोगी के ओढ़े हुए वस्त्रों को (एक पतली चादर को छोड कर शेष सर्व को) नीचे की तरफ मोड दें। रोगी के पहने हुए वस्त्रों को ऊपर की तरफ वक्ष के अधोभाग तक मोड़ दें। फिर उस पतली चादर को भी नीचे की तरफ भगास्थि के ऊर्ध्व शिरे तक मोड़ दें। उदर को नंगा करने की विधि रोगी स्त्री होने पर ज्यादा महत्त्व रखती है। क्योंकि इस अवस्था में सावधानी रखनी पडती है। इसके साथ ह यह बात भी वैद्य को याद रखनी चाहिए कि, एकान्त मे और अकेली स्त्री की परीक्षा कभी न करे। उसके सम्बन्धी या मित्र, जो अक्सर उसके साथ रहता है उसकी उपस्थिति में ही परीक्षा करे। अगर उसका सम्बन्धी या मित्र भी स्त्री ही हो तो परीक्षा में ज्यादा सुविधा रहेगी।

उदर की परीक्षा प्रारम्भ करने से पूर्व वैद्य को विश्वास प्राप्त कर लेना चाहिए कि रोगी या रुग्णा का मूत्राशय रिक्त है। वक्षण सधि या पैरो को मुडाने से उदर परीक्षा में किसी प्रकार की आसानी नही होती। कभी-कभी कुछ अवस्थाओ मे पैरों की जानु सधि से मोडकर खडे रखने से उदर की बाह्य दीवार अधिक शिथिल हो जाती है, इससे उदर परीक्षा मे आसानी हो सकती है। अतिरिक्त सर्व स्थानों मे उदर परीक्षा में पैरो को सीधा रखने से ही परीक्षा पूर्णतया और आसानी से हो सकती है।

उदर की दर्शन परीक्षा—सर्व प्रथम उदर की आकृति देखना चाहिए यह साधारण भरा हुआ है, शोथयुक्त है, उभरा हुआ है, अन्दर घुसा हुआ और संकुचित है ? अगर इसमें किसी प्रकार का उभार है तो देखना चाहिए

कि यह स्थानिक है या व्यापक ? समस्त उदर में उभार है तो यह वसा, जल, वायु या मल के हेतु से तो नहीं है ? स्त्री का उदर गर्भावस्था में भी आगे की ओर उभरा हुआ होता है। यह भी वैद्य को याद रखना चाहिए कि अर्बुदादि की उत्पत्ति से भी कभी-कभी उदर आगे की ओर फैल जाता है। इनकी परस्पर पहचान का वर्णन जलोदर की परीक्षा विधि के साथ किया जायगा, जब कि प्रत्येक मे भेद करनेवाले लक्षण और चिह्न बतलाये जायँगे।

अगर शोथ या उभार पूर्ण उदर मे हो तो यह भी देखना चाहिए कि शोथ ज्यादा अन्दर से बाहर की तरफ है (यथा जलोदर में) अथवा सम्मुखीन (मध्य का) भाग (यथा आध्मान, गर्भादि मे) इस शोथ मे वैद्य को उदर की परिधि का नाप या अनुप्रस्थ व्यास फीते या धागे से लेना कभी नही भूलना चाहिए। क्योंकि चिकित्सा करने पर इससे मालूम हो जाता है कि, रोगी का शोथ कम हो रहा है या नहीं। यह नाप नाभि की सतह पर लिया जा सकता है, या ऊपर के किसी भी स्थान से, जिसमे शोथ सबसे अधिक हो। परन्तु जिस स्थान से एक समय नाप लिया हो, उसे याद रखना चाहिए। ताकि भविष्य मे तुलना करने के लिए उसी स्थान पर नापा जा सके।

यदि उभार स्थानिक है, तो देखे कि उभार उदर के कौन से भाग में है ? नाभि से नीचे या ऊपर ? तथा उदर के नौ प्रदेशो मे से कौन से प्रदेश मे है ? अन्त मे यह भी देखे कि; शोथ के अन्दर किसी प्रकार की तरंग या गति होती है या नही ? तथा यह गति श्वास प्रश्वास के साथ होती है या उसके साथ इसका कोई सम्बन्ध नही ?

साधारणतया स्वस्थावस्था मे कौडी प्रदेश मे किसी प्रकार की धड़कन नही दिखलाई पड़ती। परन्त रोगी के उदर की परीक्षा करते समय कई बार यहाँ स्पन्दन प्रतीत होता है।

हृदयाधरिक प्रदेश में स्पन्दन—इस स्थान में स्पन्दन उपस्थित होने मे प्रत्यक्ष निम्न हेतु हैं—

१—धमनी स्पन्दन—किसी भी कमजोर आदमी में उदर की बाह्य दीवार पतली होने पर अधोगा महाधमनी मे स्पन्दन प्रतीत होने लग जाता है। इसका पहचान यह है कि मध्य रेखा से बाई ओर नीचे की तरफ बह जाता हुआ दिखलाई देता है।

२—सम्प्रेषण स्पन्दन—यह अर्बुद, आमाशय के कर्कस्फोट आदि से महाधमनी का अतिक्रमण होने से प्रतीत होता है।

उदर का अक्ष (Coeliac axis)—महा धमनी की उदरस्थ बृहत् शाखा जिस स्थान से निकलती है, वहा पर यह अक्ष है। नाभि से ४॥ से ५ इञ्च ऊपर है तथा वृक्क की धमनियो से लगभग १ इञ्च ऊपर है।

उत्तरनाभिकारेखा (Transpyloric plane)—उदर परीक्षार्थ इसकी पुनः पुनः परीक्षा की जाती है। यह उरः फलक के ऊर्ध्वखात और भगास्थि सधान की ऊर्ध्वधारा के बीच के मार्ग मे अवस्थित है। समान्यतः यह अग्रपत्र (Xiphisternal Junction) या उरःफलक के निम्न खात के शिखर और नाभि के बीच में अर्द्ध पथ पर रही है, तथा यह पहली कटि कशेरुका की निम्नधारा के साथ पश्चाद्वर्ती भाग मे सम्बन्ध स्थापित करती है।

उदर की साधारण परीक्षा

उदर की परीक्षा करने के लिए रोगी को अच्छे प्रकाशयुक्त स्थान पर चित्त लिटाना चाहिए। उदर को नंगा करने के लिये सर्व प्रथम रोगी के ओढ़े हुए वस्त्रो को (एक पतली चादर को छोड कर शेष सर्व को) नीचे की तरफ मोड दें। रोगी के पहने हुए वस्त्रो को ऊपर की तरफ वक्ष के अधोभाग तक मोड़ दें। फिर उस पतली चाद्दर को भी नीचे की तरफ भगास्थि के ऊर्ध्व शिरे तक मोड़ दे। उदर को नंगा करने की विधि रोगी स्त्री होने पर ज्यादा महत्त्व रखती है। क्योकि इस अवस्था में सावधानी रखनी पडती है। इसके साथ ह यह बात भी वैद्य को याद रखनी चाहिए कि, एकान्त मे और अकेली स्त्री की परीक्षा कभी न करे। उसके सम्बन्धी या मित्र, जो अक्सर उसके साथ रहता है उसकी उपस्थिति मे ही परीक्षा करे। अगर उसका सम्बन्धी या मित्र भी स्त्री ही हो तो परीक्षा में ज्यादा सुविधा रहेगी।

उदर की परीक्षा प्रारम्भ करने से पूर्व वैद्य को विश्वास प्राप्त कर लेना चाहिए कि रोगी या रुग्णा का मूत्राशय रिक्त है। वक्षण सधि या पैरो को मुडाने से उदर परीक्षा मे किसी प्रकार की आसानी नही होती। कभी-कभी कुछ अवस्थाओ मे पैरों की जानु संधि से मोडकर खडे रखने से उदर की बाह्य दीवार अधिक शिथिल हो जाती है, इससे उदर परीक्षा में आसानी हो सकती है। अतिरिक्त सर्व स्थानों मे उदर परीक्षा में पैरो को सीधा रखने से ही परीक्षा पूर्णतया और आसानी से हो सकती है।

उदर की दर्शन परीक्षा—सर्व प्रथम उदर की आकृति देखना चाहिए यह साधारण भरा हुआ है, शोथयुक्त है, उभरा हुआ है, अन्दर घुसा हुआ और संकुचित है? अगर इसमें किसी प्रकार का उभार है तो देखना चाहिए

कि यह स्थानिक है या व्यापक ? समस्त उदर में उभार है तो यह वसा, जल, वायु या मल के हेतु से तो नहीं है ? स्त्री का उदर गर्भावस्था मे भी आगे की ओर उभरा हुआ होता है। यह भी वैद्य को याद रखना चाहिए कि अर्बुदादि की उत्पत्ति से भी कभी-कभी उदर आगे की ओर फैल जाता है। इनकी परस्पर पहचान का वर्णन जलोदर की परीक्षा विधि के साथ किया जायगा, जब कि प्रत्येक मे भेद करनेवाले लक्षण और चिह्न बतलाये जायंगे।

अगर शोथ या उभार पूर्ण उदर मे हो तो यह भी देखना चाहिए कि शोथ ज्यादा अन्दर से बाहर की तरफ है (यथा जलोदर मे) अथवा सम्मुखीन (मध्य का) भाग (यथा आध्मान, गर्भादि मे) इस शोथ मे वैद्य को उदर की परिधि का नाप या अनुप्रस्थ व्यास फीते या धागे से लेना कभी नही भूलना चाहिए। क्योंकि चिकित्सा करने पर इससे मालूम हो जाता है कि, रोगी का शोथ कम हो रहा है या नहीं। यह नाप नाभि की सतह पर लिया जा सकता है, या ऊपर के किसी भी स्थान से, जिसमे शोथ सबसे अधिक हो। परन्तु जिस स्थान से एक समय नाप लिया हो, उसे याद रखना चाहिए। ताकि भविष्य मे तुलना करने के लिए उसी स्थान पर नापा जा सके।

यदि उभार स्थानिक है, तो देखे कि उभार उदर के कौन से भाग मे है ? नाभि से नीचे या ऊपर ? तथा उदर के नौ प्रदेशो मे से कौन से प्रदेश में है ? अन्त मे यह भी देखे कि; शोथ के अन्दर किसी प्रकार की तरंग या गति होती है या नही ? तथा यह गति श्वास प्रश्वास के साथ होती है या उसके साथ इसका कोई सम्बन्ध नही ?

साधारणतया स्वस्थावस्था मे कौड़ी प्रदेश में किसी प्रकार की धड़कन नही दिखलाई पड़ती। परन्त रोगी के उदर की परीक्षा करते समय कई बार यहाँ स्पन्दन प्रतीत होता है।

हृदयाधरिक प्रदेश में स्पन्दन—इस स्थान में स्पन्दन उपस्थित होने में प्रत्यक्ष निम्न हेतु हैं—

१—धमनी स्पन्दन—किसी भी कमजोर आदमी मे उदर की वाह्य दीवार पतली होने पर अधोगा महाधमनी मे स्पन्दन प्रतीत होने लग जाता है। इसकी पहचान यह है कि मध्य रेखा से बाई ओर नीचे की तरफ बह जाता हुआ दिखलाई देता है।

२—सप्रेषण स्पन्दन—यह अर्बुद, आमाशय के कर्कस्फोट आदि से महाधमनी का अतिक्रमण होने से प्रतीत होता है।

३—हृदय के दक्षिण निलय कोष्ठ का प्रसारण होने पर।
४—यकृत् की शिरा सरिता मे स्पन्दन होने पर।
५—धमनी प्रसारण—महाधमनी का प्रसारण होने पर कभी-कभी यह चिह्न मालूम पड़ने लगता है। इस प्रकार का स्पन्दन चारो तरफ फैलता है।

उदर का संचलन—स्वस्थावस्था में श्वास की गति के साथ उदर की दीवार उठती तथा नीचे बैठती है। श्वास लेने पर उदर आगे की ओर फूल जाता है और निःश्वास मे नीचे बैठ जाता है। परन्तु उदर मध्यस्था पेशी के पक्षाघात में यह स्थिति विपरीत हो जाती है अर्थात् निःश्वास के साथ उदर आगे की ओर फूलने लग जाता है और श्वास-ग्रहण के समय नीचे बैठने लग जाता है ; परन्तु कभी-कभी जब पक्षाघात महाप्रचीरा पेशी के एक पार्श्व को ही पीडित करता है, तब पीडित भाग के उदर की गति तो विपरीत हो जाती है और स्वस्थ भाग के ओर का उदर स्वस्थावस्था के समान ही गति करता है। तीव्र उदर शूल और मुख्यतया उदर्य्याकला प्रदाह में उदर की दीवार की गति लुप्त हो जाती है।

किसी-किसी रोगी में उदर के बाहर से ही अन्त्र की पुरःसरण क्रिया* दिखलाई देती है। ऐसा अक्सर चिरकारी बद्धोदर (Intestinal obstruction) मे होता है, जब कि अवरुद्ध स्थान से ऊपर के अन्त्रवलय स्पष्ट बाहर दिखलाई देने लग जाते हैं। इस अवरोध के परिणाम स्वरूप अवरोध से ऊपर स्थित अन्त्र में उदर के उभार का एक आदर्श उदाहरण (Pattern) उत्पन्न होता है।

अगर अवरोध क्षुद्रान्त्र के अन्तिम भाग—सन्दंश कपाटिका (Ileocaecal valve) में हो, तो क्षुद्रांत्र के वलय उदर में एक के ऊपर एक सीढ़ी के समान (Ladder pattern प्रतीत होते हैं; यदि अवरोध नीचे की ओर बृहदन्त्र के मोड—बृहदन्त्र कुण्डलिका (Sigmoid flexure) में हो तो उदर के परिधि भाग मे मुख्यतः स्फीति होती है। जिससे वाम पार्श्व फूला हुआ दृष्टिगोचर होता है। आमाशय विस्तृति मे सुस्पष्ट अर्बुद के समान

---

* **पुरःसरण क्रिया**—(Peristaltic waves)—अन्त्र की गति से उत्पन्न लहर को पुरःसरण क्रिया कहते हैं। सर्प या केंचुआ जिस प्रकार चलता है, ठीक उसी प्रकार की गति अन्त्र के भीतर होती रहती है, इससे उसमें रहा हुआ द्रव्य आगे खिसकता रहता है। इस प्रकार की गति अन्य नलियो में भी जिनमें लम्बाई और गोलाई, दोनों रुखों के मास सूत्र हों, पाई जाती है।

स्फीति उदर की दीवार में दिखलाई देती है एवं अन्त्र की पुरःसरणगति भी प्रतीत होती है। इन अवस्थाओं में यह भी देखना चाहिये कि यह गति किस ओर से किस ओर जारही है। अगर उस समय गति अनुपस्थित हो तो उदर को गीले कपड़े से ढकने या अंगुली से तीव्र किन्तु धीरे-धीरे प्रहार करने से उत्पन्न हो जाती है। आमाशय मे गति बाईं से दाहिनी ओर जाती है, जबकि स्फीति अनुप्रस्थ बृहदन्त्र की गति दाहिनी ओर से बाईं ओर होती है। कभी-कभी निदान करने मे यह गति बहुत सहायक सिद्ध होती है। अन्त्र गतियो को हाथ लगाकर स्पर्शन परीक्षा द्वारा भी मालूम करना चाहिये कि क्या वे हाथ को कठोर मालूम होती हैं ?

दूर से ही स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाने वाली अन्त्रगति रोग-निदान के लिये एक महत्त्व का चिह्न है। साधारण दृष्टि में उदर की दर्शनपरीक्षा करने पर ये गतिया मालूम होना असम्भव है। इसलिये वैद्य के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि वह कुछ समय (मिनटो तक) धैर्य के साथ बैठ कर सूक्ष्म दृष्टि से सावधान होकर अन्त्र की गतियो का निरीक्षण करे।

जन्मजात आमाशय के मुद्रिका द्वार का सकोच (Congenital pyloric, stenosis) होने पर इस चिह्न द्वारा रोग-निर्णय हो जाता है। अतः अन्त्र की पुरःसरणगति को देखने मे प्रदान किया हुआ समय कभी बेकार नहीं जाता।

उदरतल का दर्शन—इसके पश्चात् उदरतल को ध्यान से देखना चाहिये। अति फुलाव हो जाने पर यह चिकना और चमकदार होता है। उसकी त्वचा में किसी प्रकार की सफेद आदि रंग की रेखाएं हो तो उसका निरीक्षण करे। इनकी उपस्थिति भूतकाल की उदरवृद्धि का चिह्न है। उदरतल की शिराओ की विस्तृति भी ध्यान से देखनी चाहिये एवं इस बात का पूर्ण परिचय प्राप्त कर लेना चाहिये कि इनमे रक्त किस ओर बह रहा है। अधरा महाशिरा मे अवरोध होने पर कौडी प्रदेश की शिराओ मे आस-पास रक्ताभिसरण स्थापित होकर वे पूर्ण भरकर फूल जाती हैं। इस अवस्था में दीर्घ पार्श्विक शिरा भी मध्य कक्षा रेखा (Midaxillary line) के आस-पास फूली हुई देखी जा सकती है और इस प्रकार इसका सम्बन्ध ऊर्ध्व महाशिरा की शाखाओ से भी हो जाता है। प्रतिहारिणी महाशिरा (Portal vein) मे अवरोध होने पर बहुतसी शिरायें फूली हुई नाभि के चारो तरफ दिखाई देती हैं, वे केवल खाँसने पर ही स्पष्ट दिखलाई पड सकती हैं। इसकी संप्राप्ति प्रतिहारिणी शिरा और उदरगुहा की दीवार की शिराओ के बीच यकृत

रज्जुबन्धनिका (Round ligament) द्वारा सम्बन्ध स्थापित होने पर होती है। इस देखाव को डाक्टरी में कापुट मिड्यूसा (Kaput medusae) संज्ञा दी है।

उदर पर धब्बे—उदर पर किसी प्रकार के धब्बे हो, तो उनका भी निरीक्षण कर लेना चाहिये। गर्भावस्था में उदर की मध्य रेखा में काली-काली पंक्तियां हो जाती हैं। यह भी गर्भधारण के चिह्नों में से एक है।

नाभि दर्शन—नाभि की आकृति भी अवश्य देख लेवें। यह दबी हुई, बाहर निकली हुई या उदरतल के बराबर है। इसके चारो तरफ त्वचा निकल कर घाव तो नही हो गये ?

अन्त्रवृद्धि स्थान—अन्त में अन्त्रवृद्धि (Hernia) होने के स्थान का भी निरीक्षण कर विश्वास प्राप्त करले कि, रोगी को अन्त्रवृद्धि तो नही है ?

वंक्षण सुरंग (Inguinal canal), यह उदर गुहा से बाहर आने का मार्ग है। इस मार्ग से अन्त्र का अवतरण (Hernia) हो जाता है। इसमे अन्त्रवलय मुड़कर नीचे उतर कर अण्डकोष की ओर चला जाता है। सामान्यतः बहिर्वंक्षणीय छिद्र (Subeutanoua Inguinal Ring) में से अधिक अवतरण होता है। चित्र नं० ४४ देखें।

Femoral canals :—यह टेढ़ा मार्ग भगास्थि मुण्ड के पास से बहिर्वंक्षणीय छिद्र से प्रारम्भ होकर समान्तर पंक्ति में ऊपर जाकर अन्तर्वंक्षणीय छिद्र में (Abdominal inguinal Ring) में समाप्त होता है। चित्र नं० ४४ देखें।

उक्त दो वंक्षणीय छिद्र, दो वंक्षणदरी (Femoral canals) तथा एक नाभि, इन पॉच स्थानों का निरीक्षण कर लेना चाहिए। क्योकि इन सब में से अवयव बाहर निकल सकता है।

उदर की स्पर्शन परीक्षा

परीक्षा विधि—रोगी को चित लिटाकर उसके दोनो स्कन्ध कुछ उन्नत रखते हुए स्पर्शन परीक्षा प्रारम्भ करें। इस स्थिति मे रखने से उदर की मांस-पेशियॉ शिथिल हो जाती हैं, जिससे स्पर्शन आसानी से हो सकता है। रोगी को मुख खुला रखने को, एवं श्वास धीरे-धीरे लेने को कहें ; अथवा उसका ध्यान बातो मे लगाये रक्खें, ताकि वह उदर को कड़ा न करले। परीक्षा करते समय वैद्य के हाथ अति शीतल न होने चाहिए। रोगी पलंग पर लेटा हो, तब कुर्सी आदि उच्च आसन पर बैठ कर या घुटनो के बल रोगी के उदर पर

झुक कर परीक्षा करें। ताकि परीक्षक के हाथ उदर की समान सतह पर आ जायें। साधारणतया परीक्षा केवल एक हाथ से की जाती है। रोगी का विश्वास प्राप्त करने के लिए एक क्षण के लिए वैद्य को अपना हाथ रोगी के उदर पर शान्ति के साथ रक्खा रहना चाहिए और इसके पश्चात् स्पर्श परीक्षा आरम्भ करनी चाहिए। उदर के प्रत्येक प्रदेश की नियमानुसार क्रमशः परीक्षा करनी चाहिए। अंगुलियों के आगे के हिस्से को दबा-दबा करके कभी परीक्षा न करें। सम्पूर्ण हथेलीको उदर पर सीधा रख के समान दबाव डाल करके परीक्षा करें। वैद्य को आरम्भ में ही रुग्ण प्रदेश पर हाथ न रख देना चाहिए। निःस्वास के समय जब उदर नीचे बैठता है, उस समय वैद्य अपने हाथ को भी नीचे दबावे और अंगुलियो से वारी-वारी से गति करें। इस प्रकार की गति से उदरस्थ गम्भीर अंगो का स्पर्शन सिर्फ दबाव डाल कर परीक्षा करने की तुलना में ज्यादा आसानी से हो सकता है। उदर के पार्श्विक प्रदेशों की परीक्षा करने के लिए दोनो हाथो से स्पर्श करना ज्यादा लाभदायक सिद्ध हुआ है। इसके लिए वैद्य को उच्च आसन पर बैठ जाना चाहिए या घुटनो के बल झुक जाना चाहिए। इसमें एक हाथ उदर के पश्चात् की ओर अन्तिम पशुका और नितम्बास्थि के ऊर्ध्व किनारे के मध्य में रक्खा जाता है। दूसरा हाथ सामने की तरफ उदर की दीवार पर। इस प्रकार हाथ रखने के बाद उदर के पश्चात् पृष्ठ पर रक्खे हुए हाथ से पश्चिम दीवार आगे की ओर दबाई जाती है। इससे दोनो हाथो के मध्य में स्थित उदरस्थ अंग आसानी से स्पर्श किया जा सकता है। इस क्रिया की महत्ता इसी मे है कि वैद्य को अपना आगे का हाथ जितना सम्भव हो उतना गतिहीन रखना चाहिए। इस प्रकार की क्रिया वृक्क परीक्षा में ज्यादा महत्त्व रखती है।

परीक्षा फल—उदर की स्पर्श परीक्षा करने पर उदर में शोथ, शोथ-जनित प्रतिबन्ध, असह्य व्यथा का कारण आंत मे जल या वायु भर जाना, आध्मान (आफरा), आनाह (मल या आम की गांठ बंधना), आटोप वायु की गुड्गुड़ाहट–Borborigmi), द्रवयुक्त तरंग (फ्लक्च्युएशन–Fluctuation) उदर्य्याकला में जल भर जाना, उदर्य्याकला के दोनो स्तरो का घर्षण (Friction) होना तथा अर्बुद आदि का बोध हो जाता है। एवं उदरप्राचीर की स्पर्श परीक्षा से त्वचा का उत्ताप, मेदसंचय तथा त्वचा के नीचे रहे हुए घटकगत तन्तुओ (Cellular tissue) की जलज शोथमय (Oedematous) या वातज शोथीय (Emphys-ematous) स्फीति का बोध हो जाता है। एवं उदरगत अर्बुद, दीवार की दृढ़ता और शिथिलता

दोनो वंक्षणीय छिद्रो (Inguinal rings) की अवस्था, विविध स्थान में प्रतिबंध और संचलनशीलता का अनुभव हो जाता है।

समग्र अन्त्रावरण के आशुकारी प्रदाह होने पर समस्त उदर प्रदेश में कष्ट और दबाने पर पीडनाक्षमता (Tenderness) का अनुभव होता है, रोगी उदर की पेशियों को शिथिल रखने और उदरस्थित अवयवो पर दबाव न आने के लिये चित होकर और पैरो को खडा रख घुटने को मोड कर सोता है। जीर्ण प्रदाह में आक्रान्त स्थान मे स्पर्श करने पर मुलायमपन और दबाने पर कुछ वेदना का भास होता है। तनाव और प्रतिरोधक शक्ति (Tension and Resistance) सर्व प्रथम स्पर्शन परीक्षा से उदरतल का तनाव और प्रतिरोधक शक्ति मालूम करनी चाहिए। स्पर्श परीक्षा नियमानुसार सम्पूर्ण उदर की हलके हाथ से करे। उसकी स्थानिक या सर्व उदर की कठोरता (प्रतिरोधक शक्ति Resistance) तथा कोमलता, (पीडनाक्षमता—Tenderness) मालूम करे। इस प्रकार परीक्षा आरम्भ करने से वैद्य रोगी का विश्वास प्राप्त कर लेता है। इससे उसे गम्भीर उदरस्थ अगो का स्पर्श करनें में सुविधा हो जाती है। साधारणतया स्वस्थावस्था मे उदर कोमल और लचकदार (स्थिति स्थापक गुणयुक्त) होता है। इसकी ठीक-ठीक अनुभूति लिखकर समझाना कठिन ही नही असम्भव है। यह तो सिर्फ अनुभवगम्य है। रुग्णास्था में उदर की कठोरता बढ़ जाती है। इस हालत में मालूम करें कि यह कठोरता स्थानिक है या व्यापक। सम्पूर्ण उदर्य्याकला प्रदाह होने पर उदर की मास-पेशियाँ प्रतिफलित क्रिया के कारण संकुचित हो जाती है। इसलिए सम्पूर्ण उदर की कठोरता (प्रतिरोधक शक्ति) बढ़ जाती है। स्थानिक उदर की कठोरता स्थानिक उदर्य्याकला प्रदाह (Localized Peritonites) के होने पर उत्पन्न होती है ; और इस रोग का निदान करने के लिये यह एक महत्त्व का चिह्न है। उदर्य्याकला के प्रदाह का वर्णन चिकित्सातत्त्वप्रदीप द्वितीय खण्ड मे विस्तार पूर्वक किया गया है। कोष्ठबद्धता और उदरशूल मे भी कठोरता बढ़ जाती है।

पीडनाक्षमता—(Tenderness) स्वस्थावस्था में साधारणतया उदर को स्पर्श करने पर किसी प्रकार की पीडा नही होती। अगर दबाने पर पीडा बढ़ती हो तो उसकी सीमा और सबसे अधिक पीडायुक्त स्थान को मालूम करना चाहिए। अगर अर्बुद के समान कोई उभार मालूम पडता हो, तो उस पर सम्हालपूर्वक स्पर्श करे।

उदरदण्डिका पेशी (Rectus-abdominis-muscle), यह इस

प्रकार का भ्रम पैदा कर सकती है। क्योकि नव्य कोई भाग मोटा हो जाने पर अर्बुद के समान प्रतीत होने लग जाता है। अगर इस प्रकार का भ्रम होने की शंका हो तो चिकित्सक अपनी अंगुलियाँ मासपेशी के किनारे के नीचे चलाने का प्रयत्न करें। और ज्ञात करे कि रोगी ज्योंही शय्या पर ऊपर उठता है यह मोटी होती है या नहीं ?

अर्बुद स्थान—जब यह निश्चय हो जाय कि वास्तव में अर्बुद ही है तो सबसे पूर्व यह मालूम करे कि यह उदर की भित्ति मे है या उसके आभ्यन्तरस्थ किसी अंग मे ? इसका निर्णय करने के लिए उदर की भित्ति को पकड़ कर अर्बुद के एक तरफ से दूसरी तरफ को हिलावे। ऐसा करने से अगर अर्बुद उदर के आभ्यन्तरस्थ अंग मे है तो यह आसानी से हिल जायगी, परन्तु इसके साथ ही वैद्य को यह स्मरण रहे कि, अगर आभ्यान्तरस्थ अंग में विद्यमान अर्बुद उदरगुहा की परिवेष्ठित कला से संलग्न हो गया होगा तो उदर भित्ति नहीं हिल सकेगी। इसके विपरीत अर्बुद अगर उदरभित्ति में होगा तो भित्ति ऊपर से हिलाई नहीं जा सकेगी, एवं अंगुलियाँ उसके नीचे चलाकर अर्बुद को पकडने का और अंगुलियाँ मिलाने का प्रयत्न किया जाय तो सफलता मिल सकती है।

अर्बुदाकृति—अगर अर्बुद ग्रन्थि आदि उदरस्थ अंग मे है तो यह देखे कि उसका आकार एवं परिमाण क्या है, और वह किस अंग में है ? एवं मुख्यतया यह देखे कि वास्तव मे यह उदरस्थ है या श्रोणि (Pelvis) से ऊपर की ओर उठ रहा है ? इस बात का निर्णय करने के लिये वैद्य अपने एक हाथ का बाह्य किनारा नाभि के एक इंच नीचे रखकर पीछे त्रिकास्थि (Sacrum) की तरफ दबावें। इस प्रकार चिकित्सक आसानी से ज्ञात कर सकता है कि अर्बुद श्रोणि मे जा रहा है या नहीं ? इसके पश्चात् अर्बुद का आकार और परिमाण मालूम करे ; एवं उसकी सतह को देखे कि, वह कोमल है या ग्रन्थियुक्त ? इसके पश्चात् द्रव तरंग (Fluctuation) की अनुपस्थिति मालूम करे।

अर्बुद की गतिशीलता (Mobility)—अर्बुद के चलपने और अचलपने का निर्णय करना भी बहुत महत्त्व रखता है। वह किस तरफ गति कर सकता है, यह भी मालूम करना चाहिये, एवं इसकी गति पर श्वास क्रिया का क्या प्रभाव पडता है, यह भी निश्चित करे। श्वास क्रिया के साथ इसकी गति का सम्बन्ध जानना अति आवश्यक है, क्योकि अर्बुद आमाशय यकृत् और प्लीहा में होने पर श्वास के साथ अवश्य गति करेगा, वृक्क का

अर्बुद कम गति करेगा। इनके अतिरिक्त उदरस्थ अंगो में स्थित अर्बुद, जब तक कि उसकी निकट के अन्य अंगो से संलग्नता न हो जाय, तब तक श्वास क्रिया के साथ किसी प्रकार की गति नही करता है।

बस्ति ध्वनि या द्रव ध्वनि (Splashing or gurgling)— यह प्रतीत होती है या नही ? आमाशय विस्तृति मे अक्सर बस्ति मे जल छलकने के समान ध्वनि प्रतीत होती है। परन्तु यह चिह्न अगर भोजन कर लेने के कुछ घंटों बाद भी विद्यमान हो तो ही आमाशय विस्तृति की शंका की जा सकती है। क्योकि भोजन के तत्काल पश्चात् तो उस समय प्रयुक्त किया हुआ पेय पदार्थ भी छलकता हुआ प्रतीत हो सकता है।

उदर्याकला में (जलोदर) जल सगृहीत हो गया हो तो वैद्य अपने एक हाथ को रोगी के एक पार्श्व में सीधा रक्खे, फिर किसी को एक हाथ खडा उदर के बीच मे दबाये हुए रखने को कहे, इसके पश्चात् वैद्य अपने दूसरे हाथ से दूसरे पार्श्व को धीरे धीरे दबावे या ठेपन करे ऐसा करने से उदरकला मे सचित जल के भीतर तरंग उत्पन्न होकर दूसरे हाथ को लगती हैं। यदि जल का सचय थोड़ा हुआ हो, तो चित लेटाने पर दोनो पार्श्वो में भर जाता है; जिसमे दोनो पार्श्व उभरे हुए प्रतीत होते है। यदि जल बहुत थोड़ा हो, तो रोगी को औंधा टखनो के बल लेटने को कहे; ताकि चारो ओर फैला हुआ जल नाभि के पास आ जाय। फिर परीक्षा करने पर तरंग की प्रतीति हो जाती है। इसका विशेष विचार आगे जलोदर परीक्षा मे किया जायगा।

उदर में गुड़गड़ाहट (Borborigmi)—संकुचित मार्ग से वायु वा तरल गुजरने पर गुडागडाहट पैदा होती है। इसलिये इसका स्पर्शन अन्त्र के संकुचित भाग जैसे मुद्रिका द्वार (Pyloric Orifice) मुख्यतया जब सकुचित अवस्था मे हो या अन्त्र मे अवरोध उपस्थित हो तब आसानी से किया जा सकता है।

सूचना—उदर की परीक्षा नीचे से आरम्भ करके ऊपर की ओर जाना चाहिये। नाभि की परीक्षा भी अवश्य करे। क्योकि, यकृत् के दुष्टार्बुदो में नाभि पर अनेक बार गौण अर्बुद उत्पन्न हो जाता हे। वाम श्रोणि प्रदेश में अवरोही दृहदन्त्र को देखे कि उसमे मल शेष तो नहीं है ? फिर अवरोही बृहदन्त्र के मार्ग से ऊपर चढ़े। अनुप्रस्थ बृहदन्त्र, आरोही बृहदन्त्र, अन्त्र-पुच्छ और नाभि के चारो ओर लघु अन्त्र की परीक्षा करें। इस तरह उदर की लसिका ग्रन्थियाँ बढ़ी हुई हैं या नही ? यह भी देख लेना चाहिये।

उदर की ठेपन परीक्षा

उदर की ठेपन परीक्षा वक्ष की परीक्षा मे वर्णित विधि अनुसार ही करनी चाहिये; परन्तु इस बात का पूर्ण ख्याल रखना चाहिये कि, ठेपन मृदु ही किया जाता है, यह बात विद्यार्थियो के लिये मुख्य तौर से ध्यान देने योग्य है। क्योकि, अक्सर वे बहुत कठोर ठेपन करते हैं। स्वस्थावस्था मे यकृत्, प्लीहा और परिपूर्ण मूत्राशय, जहाँ कि ठोस शब्द होता है, उन स्थानो को छोड़ कर सम्पूर्ण उदर मे ढोल के समान रिक्त ध्वनि सुनाई पड़ती है। यह रिक्त आवाज कहीं ज्यादा और कहीं कम सुनाई पड़ती है। रिक्त आवाज दो बातो पर निर्भर है। (१) उदरस्थ अंग में वायु का परिमाण तथा गहराई; (२) उस अंग की भित्ति का तनाव। प्रथम कारण से अर्थात् वायु की अधिकता से रिक्तता बढ़ती है और द्वितीय कारण से रिक्तता घटती है।

ये दोनो बातें ठेपन शब्द उत्पत्ति से समान महत्त्व रखती है और, एक ही अङ्ग मे समयानुसार इनके परिमाण में अन्तर हो जाता है; इसलिये पाठक आसानी से समझ सकते हैं कि ठेपन ध्वनि सदा एकसी नहीं रहती। इसलिये केवल ठेपन ध्वनि से उदरस्थ अंगो का परिमाण आदि जानना अति दुष्कर है। एव तुलनात्मक ठेपन ध्वनि से किसी परिमाण पर पहुँचना चिकित्सक के लिए त्रुटि है। उदर्य्याकला की गुहा मे मुक्त वायु की विद्यमानता से यकृत् और प्लीहा की ठोस ध्वनि भी रिक्त ध्वनि मे परिवर्तित हो जाती है।

उदर में शोथ, ग्रन्थि और विद्रधि आदि की उपस्थिति से ठोस ध्वनि उत्पन्न हो जाती है। उदर में कही ठोस ध्वनि प्रतीत होती है, तो यह देखना चाहिये कि, वह किस स्थान पर है तथा उसका परिमाण क्या है? यह भी देखना चाहिये कि ठोस आवाज रोगी के सोने की अवस्था के परिवर्तन के साथ परिवर्तित हो जाती है या सब अवस्थाओ मे एकसी ही रहती है। इसका विस्तृत वर्णन आगे जलोदर के साथ किया जायगा। कृमिज रसार्बुद (Hydated cysts)* के पीडित ५० प्रतिशत रोगियो की ठेपन-परीक्षा करने पर एक अनोखी लहर मालूम पड़ती है, जिसे रसार्बुद तरंग (Hydated thrile)

* इस रोग का वर्णन चिकित्सातत्त्वप्रदीप द्वितीय खण्ड में गुल्म रोग के भीतर किया गया है। यह रोग प्रायः कुत्ते के अन्त्र मे रहे हुए कृमि द्वारा प्राप्त होता है। यह रोग भारत में बहुत कम होता है।

करते हैं। उसे मालूम करने के लिये एक विशेष प्रकार का तरीका प्रयुक्त किया जाता है। रसाबुंद पर बायें हाथ की तीन अंगुलियाँ रक्खे और बाईं मध्यमांगुली पर दाहिनी मध्यमा अंगुलि से ठेपन करे। ठेपक अर्थात् दाहिने हाथ की मध्य अंगुली को प्रत्येक ठेपन (प्रहार) के पश्चात् कुछ क्षण तक ठेप्य (बाईं मध्यमा अंगुलि) पर रक्खी रहने दे। ठेपन के दूसरे ही क्षण बायें हाथ की शेष दो अंगुलियों को तरंग सी प्रतीत होती है। यह तरंग कृमिज रसाबुंद का निश्चयात्मक चिह्न है। परन्तु चिकित्सक को सर्वदा यह याद रखना चाहिये कि इसका अभाव रसाबुंद के अभाव को नहीं दर्शाता; अर्थात् यह चिह्न न होने पर भी कृमिज रसाबुंद हो सकता है।

जलोदर—रोगी की उदर परिवेष्ठित कला की स्थली में तरल संचित होने की शङ्का होने पर उसकी परीक्षा मुख्यतया ध्यान से करनी चाहिये। प्रायः उदर जलोदर के अतिरिक्त कारणों से भी बढ़ता है। अन्त्र अथवा उदर्याकला में वायु संगृहीत होने अथवा अर्बुद या ग्रन्थियों की उत्पत्ति होने पर भी उदर बढ़ता है। गर्भावस्था में निम्न प्रदेश बढ़ता है और प्लीहोदर और यकृतोदर में पार्श्वभाग विशेष बढ़ा हुआ होता है। स्पर्शन तथा ठेपन परीक्षा से प्लीहा एवं यकृत की वृद्धि का ज्ञान सुगमतया हो जाता है। जल उदर्य्यकला की गुहा में सञ्चित हो जाने पर उसका निदान करने में मेदोवृद्धि, आध्मान और अर्बुद क्वचित् भ्रम उत्पन्न करा सकते हैं।

इसका परस्पर भेद करने के लिये ठेपन करके देखना चाहिये कि ध्वनि कैसी है? उदर के वायुपूर्ण होने पर शब्द रिक्त (ढोलवत्) होता है। शेष सब में न्यूनाधिक ठोस। जलोदर की परीक्षा करने के लिये ठेपन मध्य प्रहार से करना चाहिये। क्योंकि कठोर ठेपन किया जायगा, तो उदरस्थ अंगों का रिक्त शब्द उत्पन्न होकर भ्रम पैदा कर देगा। जलोदर में ठेपन शब्द ठोस सुनाई पड़ता है। परन्तु यह शब्द बिल्कुल ठोस भी नहीं होता है, क्योंकि नीचे वायुपूर्ण आँतें रहती हैं।

उदर में सचित जल रोगी की स्थिति परिवर्तन के साथ अपनी स्थिति भी बदलता रहता है। जब वह एक पार्श्व पर सो जाता है, तो सम्पूर्ण संचित जल उदर के उसी पार्श्व में इकट्ठा हो जाता है, इससे ऊपर के भाग की ठेपन ध्वनि रिक्त हो जाती है, (चित्र नं० ४५, ४६ देखें) क्योंकि वहाँ की आँतें मुक्त हो जाती हैं, और ठोस ध्वनि नीचे की तरफ आ जाती है। अगर जल बहुत कम मात्रा में सचित हुआ है तो चित्त लेटने पर वह पार्श्व में भर जाता है; इसलिये ऐसी अवस्था में रोगी को हाथों और घुटनों के बल पशुओं

के समान रखकर परीक्षा करना ज्यादा अच्छा है। इस स्थिति में रखने से सम्पूर्ण सञ्चित तरल नाभि के चारो ओर इकट्ठा हो जाता है, इससे मन्द ठोस ध्वनि नाभि के आसपास आसानी से सुनी जा सकती है।

सम्प्रेषित तरंग (Transmitted thrill)—उदर में तरल के संचित होने पर मशकवत् तरङ्ग प्रतीत होती है। यह जलोदर का द्वितीय मुख्य चिह्न है। यह निम्नानुसार उत्पन्न कराई जाती है। रोगी को चित्त लेटा दे और वैद्य अपना एक हाथ रोगी के कटिप्रदेश के ऊपर एक ओर रखें और दूसरे हाथ की अंगुलियों को मिलाये रखकर रोगी के उदर पर सामने की ओर तेजी से हलके हाथ से प्रहार करे। तरल की उपस्थिति में दूसरी ओर सपाट रक्खे हुए हाथ को तरङ्ग मालूम होगी। (चित्र नं० ४७ देखें) यह तरङ्ग मेदोवृद्धि में भी ठीक इसी प्रकार मालूम हो सकती है। इससे शका उत्पन्न हो सकती है कि रोगी जलोदर से पीडित है या वसोदर से। इस शङ्का का निवारण करने के लिये वैद्य सहायक को कहे कि वह अपना हाथ रोगी के उदर के मध्य मे आडी स्थिति मे रखकर दबावे और आप पूर्ववत् ठेपन करे। अगर जलोदर होगा तो मशकवत् तरङ्ग पूर्ववत् मालूम हो जायगी और अगर वसोदर होगा तो तरङ्ग नष्ट हो जायगी। जल जब बहुत ज्यादा हो जाता है, तब तरङ्ग अंगुलियों को लगने के समान नेत्रों से भी विदित हो जाती है। उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात हो गया होगा कि साधारण ठेपन परीक्षा से चिकित्सक को जलोदर का निदान करने के लिये विश्वसनीय चिह्न मालूम हो जाते हैं। किन्तु तरङ्ग की यह उत्पत्ति ज्यादा तरल संचित होने और कम तनाव होने पर ही सम्भव है।

उदर में वसा और वायु—वसोदर का निदान उदरभित्ति को दोनों हाथों में पकड कर ऊपर की तरफ खींचने से भी हो सकता है। अगर वसा उपस्थित होगी तो वह ऊपर न उठ सकेगी एव मोटी प्रतीत होगी। इसी प्रकार आध्मान (वातोदर) भी ठेपन परीक्षा से मालूम किया जा सकता है।

डिम्बोदर-जलोदर का प्रभेद—डिम्बोदर अर्थात् बीजाशय का रसार्बुद (Ovarian cyst) कभी कभी जलोदर का भ्रम कराता है। बीजाशय का अर्बुद (Tumour) या रसार्बुद (Cyst) मे उदर का पूर्व-पश्चिम (पीठ की ओर से नाभि की ओर—Anteroposterior) भाग स्फीत होता है, जब कि जलोदर मे मुख्यतः पार्श्व भाग उभड़ा हुआ प्रतीत होता है। एवं रोगी की स्थिति के परिवर्तन के साथ डिम्बोदर में

अन्तर नहीं पड़ता । जलोदर में मुख्यतः पार्श्वभाग में ठोस ध्वनि (Dulness) होती है, वह रोगी की स्थिति के परिवर्तन के साथ परिवर्तित हो जाती है। डिम्बोदर में नाभि आमाशय की ओर खिंच जाती है, जब कि जलोदर में समतल होती है या आगे की ओर उठ आती है।

उदर की श्रवण परीक्षा--स्वस्थावस्था में उदर की श्रवण परीक्षा करने पर एक अजीब प्रकार की आवाज सुनाई पड़ती है, जो उसकी कृमिवत् गति (Peristalsis) से उत्पन्न होती है। उदर मे वायु की गुड्गुड़ाहट या जल का छलकना कभी कभी स्पष्ट सुनाई पडता है । कभी उदर्य्याकला प्रदाह या अन्त्रावरोध होने पर यह शब्द लुप्त हो जाता है, इसलिये शात उदर (Silent abdomen), एक महत्व का शारीरिक चिह्न माना जाता है। कभी कभी हृदय के विकृत शब्द भी कौड़ी प्रदेश में सुनाई देने लगते हैं। गर्भावस्था में यह मालूम करने के लिये कि गर्भ जीवित है या मर गया है, उदर की श्रवण परीक्षा की जाती है। इसके लिये नाभि और जघनपक्ष के पुरःकूट ऊर्ध्वतन (Anterior Superior iliac spine) के मध्य में श्रवण परीक्षा करनी चाहिये। क्योंकि उस स्थान पर गर्भ का हृदय रहता है।

तृतीय खण्ड

उदर गुहा

उदरगुहा में अनेक इन्द्रियाँ (आमाशय, यकृत्, प्लीहा, वृक्क, अन्त्र) अवस्थित हैं। इन सब की परीक्षा आमाशय से प्रारम्भ करके निम्न क्रम से करनी चाहिए।

आमाशय

आमाशय शारीर—कोमल मास तन्तुओं से बनी हुई यह एक थैली है। इसकी लम्बाई लगभग १२ इञ्च और चौड़ाई ४ इञ्च है, इसका आकार अंग्रेजी भाषा के J अक्षर से मिलता जुलता या मसक के समान है इसका परिमाण और स्थिति, स्वस्थावस्था में सर्वथा नियत नहीं है। रिक्तावस्था में इसका अधिक भाग उदर की बायी तरफ वामानुपार्श्विक (आमाशयिक) प्रदेश में और कुछ भाग हृदयाधरिक (कौडी) प्रदेश मे रहता है। इसके दो द्वार हैं। ऊपर का द्वार हृदय के पास है, इसलिये उसे "हार्दिक द्वार" और दूसरा, जो नीचे की ओर रहा है, उसके मुख पर मुद्रिका के समान कपाटिका लगी होने से उसे "मुद्रिका द्वार" कहते हैं। एवं यह दूसरा द्वार पक्वाशय में प्रवेश का द्वार होने से पक्वाशयिक द्वार भी कहलाता है। (चित्र नं० २)

हार्दिक द्वार (Cardiac orifice)—अन्न प्रणाली के साथ इसी द्वार द्वारा आमाशय का सम्बन्ध होता है। यह पीछे की ओर ११वी (पृष्ठ) कशेरुका के समानान्तर मध्यरेखा से कुछ बायी ओर बायी ७वीं उपपर्शुका के ४ इञ्च पिछली ओर तथा उरःफलक से १ इञ्च दूर स्थित है। इसकी स्थिति सदा नियत रहती है।

पक्वाशयिक द्वार—(Pyloric end)—आमाशय का पक्वाशय के साथ सम्बन्ध इसी द्वार द्वारा होता है। इसकी स्थिति अवस्थानुसार बदलती रहती है। रिक्तावस्था मे यह कुछ ऊपर मध्य पंक्ति से दाहिनी तरफ रहता है; परन्तु परिपूर्णावस्था में यह कुछ नीचे की तरफ झुक जाता है। फिर भी कभी नाभि से नीचे नहीं उतरता। यह उरःफलक के अधोशिरे से लगभग ४ इञ्च नीचे मध्यरेखा से किञ्चित् दाहिनी तरफ स्थित है। अतः उरःफलक से नाभि तक एक रेखा खींची जाय, तो उसके मध्य में कुछ दाहिनी

ओर को प्रतीत किया जा सकता है। पीछे की तरफ प्रथम कटि कशेरुका के कुछ दाहिनी ओर स्थित है। सामान्यतः यह द्वार यकृत् प्रदेश से आच्छादित होता है।

आमाशय स्कन्ध अक्षकास्थि के मध्य बिन्दु से खींची जाने वाली रेखा में ऊपर उठा हुआ होता है; और यह पाचवें पर्शुकान्तर भाग (पाचवीं और छठी पर्शुका के मध्य भाग) एवं हृदय के शिखर स्पन्दन से कुछ पीछे और ऊपर प्रतीत किया जा सकता है। आमाशय के मध्य भाग के कुछ अंश को तथा पक्वाशयिक द्वार का उदर की आगे की दीवार के साथ सम्बन्ध रहता है। आमाशय की अधःतलिकाधारा (Greater curvature) की स्थिति आमाशय के फुलाव और रोगी की संस्थिति (Posture) के अनुसार बदलती रहती है।

दर्शन परीक्षा—आमाशय की दर्शन परीक्षा इसी अध्याय मे उदर की साधारण परीक्षा के साथ दी गई है।

स्पर्शन परीक्षा—सर्व प्रथम यह देखें कि दबाने से किसी प्रकार की पीडा तो नही होती? अगर होती है तो सबसे अधिक पीडा वाले स्थान को मालूम करे। इसके पश्चात् अर्बुद के लिए परीक्षा करे। इसमे पक्वाशयिक द्वार पर कर्कस्फोट होना, अति सामान्य है अर्थात् सरलता से हो जाता है। आमाशय का अर्बुद गतिशील होता है इसलिए दूसरे अङ्गो के अर्बुदो से आसानी से भेद किया जा सकता है।

आमाशय में पीडा साधारणतया उसके क्षोभ से पैदा होती है। परन्तु पीडा अधिक हो और स्थायी हो तो आमाशयिक व्रण की शंका की जानी चाहिए।

सबसे अन्त मे आमाशय में अगर बस्तिध्वनि विद्यमान हो तो प्रतीत करनी चाहिए। इसको मालूम करने के लिए चिकित्सक को रोगी की बायी तरफ बैठ कर अपना एक हाथ उसी पीठ की अन्तिम पर्शुकाओं पर और दूसरा हाथ सामने आमाशय पर रखना चाहिए। फिर पर्शुका पर रहे हुए हाथ से धीरे-धीरे ठहर-ठहर कर आघात करना चाहिए। अगर आमाशय में तरल विद्यमान होगा तो छलकन का स्पर्श हो जायगा और साथ-साथ आवाज भी सुनाई देगी।

यह छलकन स्पष्ट रूप से तो भोजन के तीन-चार घण्टो बाद मालूम की जा सकेगी और अगर यह छलकन नाभि के नीचे है तो अवश्य आमाशय

विस्तृत है। वैद्य को सर्वदा स्मरण रखना चाहिए कि स्वस्थावस्था में भी अगर भोजन में पेय पदार्थों की मात्रा ज्यादा हो तो भोजन के कुछ समय पश्चात् तक यह छलकन प्रतीत की जा सकती है, और मुख्यतया जब कि उदर भित्ति पतली हो।

सूचना—बृहदन्त्र के अनुप्रस्थ भाग की छलकन को कभी आमाशय की छलकन समझ लेने की भूल नहीं करनी चाहिए।

यकृच्छारीर—यकृत् मुख्यतः दक्षिण अनुपार्श्विक प्रदेश में एवं महा प्राचीरा पेशी के नीचे पशुकाओं की आड में रहता है। इसके दो खण्ड माने जाते हैं; जो एक बन्धन द्वारा पृथक् होते हैं। दाहिना खण्ड दक्षिण अनुपार्श्विक प्रदेश मे और इसका कुछ भाग एवं वामखण्ड कौडी प्रदेश में रहता है, किन्तु यह वामखण्ड कौड़ी प्रदेश में उरःफलक से बायी ओर २ इञ्च से अधिक आगे नहीं जाता। उसमे यकृत् ऊपर चूचुक तक पहुँच जाता है तथा नीचे उपपशुका तक फैल जाता है। गर्भस्थ जीव में हृदय का कार्य यकृत् करता है इसलिए बालकों का यकृत् बडों की अपेक्षा अधिक बडा होता है, यहाँ तक कि दाये नाभि प्रदेश तक फैला हुआ होता है। स्वस्थावस्था में इसका वामखण्ड कौडी प्रदेश को पार करता है; परन्तु वक्षोस्थि के बायीं तरफ २ इञ्च से ज्यादा नहीं जाता है।

ऊर्ध्वधारा—मध्य रेखा से ३ इञ्च बायी ओर तथा पाँचवी पशुकान्तर से आरम्भ होकर उरःफलक के निम्न कोण से ½ इञ्च ऊपर होती हुई शरीर के दाहिनी ओर प्रवेश करती है और दाहिनी चूचुकरेखा* से ५वी पशुका के ऊपर के किनारे, पार्श्व भाग मे दाहिनी कक्षारेखा× में ७वी पशुका के पीछे तथा पिछली ओर स्कन्धास्थि रेखा+ मे ६वीं पशुका के पीछे गुजरती हुई पीठ की ओर पृष्ठवंश के ६वें कशेरुका के समानान्तर चली जाती है।

---

* **चूचुकरेखा**—(Mammary-line)—यह लम्बरेखा चूचुक के मध्य मे से गुजरती है।

× **कक्षारेखा**—(Midaxillary line) यह लम्बरेखा पार्श्व भाग में कक्षादरि (बगल) के मध्य से निकल कुक्षि के मध्यप्रदेश मे से खिंची जाती है।

+ **स्कन्धास्थि रेखा** (Scapular line)—यह लम्बरेखा पीठ की ओर अंसफलक के निम्न कोण से कुक्षि की पिछली ओर से किनारे पर होती हुई नीचे उतरती है।

अधोधारा—यह नीचे की ओर पार्श्व में पसलियो की आड में रहती है। इसके पश्चात् दाहिनी ६वीं पर्शुका से बायी आठवी पर्शुका तक वक्राकार रूप से जाती है। दाहिनी चूचुकरेखा मे यह ठीक पर्शुकाओ के निम्न किनारे तक पहुँच जाती है और फिर बाहर निकल कर बायी ओर यह धारा अग्रान्त्र के निम्नतल और नाभि के बीच मध्य विन्दु के ऊपर मे कुछ मध्यरेखा का उल्लंघन करती है। फिर ऊर्ध्वधारा मे बायें सिरे से जा मिलती है।

पित्ताशय—इसका स्थान ६वीं पर्शुका पर ठीक पर्शुका के पीछे है। स्थूलदृष्टि से यह कहा जा सकता है कि, वह उदर दण्डिका दक्षिण पेशी की बाहर की ओर है। एवं दक्षिण चूचुक रेखा के समानान्तर पर्शुकाओ के आड तक जाता है। अगर पित्ताशय को किंचित् भी वृद्धि होकर शोथ आजाय तो इस स्थान पर उसे स्पर्श किया जा सकता है।

दर्शन परीक्षा—यकृत् की दर्शन परीक्षा बहुत कम महत्त्व रखती है। क्योंकि इससे कोई मुख्य बात ज्ञात नही होती है। फिर भी यकृत् प्रदेश में किसी प्रकार का शोथ, उभार तथा स्पन्दन आदि हो तो उसे अवश्य ध्यान से देखना चाहिए। कभी-कभी उदर मे यकृत् की अधोधारा दिखलाई देने लग जाती है, विशेषतः यकृत् वृद्धि में जबकि उसकी कठोर धारा दूर से ही श्वास क्रिया के साथ नीचे ऊपर होती हुई आसानी से देखी जा सकती है।

स्पर्श परीक्षा—यकृत् के अधोकिनारे को सबसे पूर्व स्पर्श करे। इसके लिए अपने करतल को उसके बाह्य किनारे पर पर्शुकाओ की तरफ उदर-दण्डिका पेशी के कुछ बाहर की तरफ समतल रक्खे। वैद्य इसका सर्वदा ध्यान रक्खे कि उसका हाथ उदरदण्डिका पेशी के बाहर की तरफ ही रक्खा जाय। अन्यथा उस पेशी के आवरण का पर्दा यकृत् वृद्धि की भ्राति पैदा कर देगा। इस प्रकार हाथ रखने के पश्चात् हाथ के किनारे को अन्दर की तरफ दबावे, एवं रोगी को लम्बा श्वास लेने के लिए कहे। यह क्रिया करने से अगर यकृत् स्पर्शनीय अर्थात् वृद्धियुक्त है तो हाथ के किनारे को चुभता हुआ प्रतीत हो जायगा। चित्र नं० ४६ देखे। यकृत् की वृद्धि का निर्णय कर लेने से पूर्व इस प्रकार की परीक्षा यकृत् के दो चार स्थानों पर कर लेनी चाहिए। स्वस्थावस्था में यकृत् सर्वथा और सर्वदा अस्पर्शनीय या बहुत ही कम मनुष्यो मे स्पर्शनीय होता है। अगर यकृत् श्वास लेने के साथ $\frac{1}{2}$ से $\frac{3}{4}$ इञ्च तक नीचे की तरफ खिसक जाता है। बढ़ा हुआ या स्पर्शनीय है तो यह भी मालूम करना चाहिए कि यह मृदु अथवा कठोर एवं सम या विषम गॉठदार है। यकृत् के स्थान पर किसी कठोर वस्तु का स्पर्श होने पर यदि शंका हो कि यह यकृत् है या नही

तो चूचुक रेखा मे ६वीं पर्शुका के नीचे पित्ताशय की दरार का स्पर्श करे, एवं उसके बायीं तरफ मध्य रेखा की ओर यकृत् के गोलबंधन से उत्पन्न दरार को देखे। अगर ये दोनों दरारें मालूम पड़ जायँ तो यकृत्वृद्धि ही है, ऐसा विश्वास कर लेना चाहिए।

इसके पश्चात् यकृत् तल को कौडी प्रदेश में स्पर्श करे। उस स्थान पर किसी प्रकार की पीडा है या नहीं? अगर पीडा है तो वह कुछ स्थान मे सीमित है या सारे यकृत् मे फैली हुई है? यकृत् तल किस प्रकार का है? यह चिकना और सम है, जैसा कि यकृत् की सिक्थापक्रान्ति (Waxy liver or Amyloid disease)* मे या उभार युक्त है जैसा कि कर्कस्फोट होने पर? कर्कस्फोट की अवस्था मे उभार नाभि सदृश छिद्रयुक्त हो सकता है। यकृत् तल की विषमता के साथ ही साथ अगर उदर दण्डिका पेशी का ऊर्ध्वभाग भी उभार युक्त हो गया हो, तो उसे भी ध्यान से देखना चाहिए? यकृत् को आच्छादित करनेवाली उदर कला मे प्रदाह होने पर परीक्षा द्वारा यकृत् में घर्षण का भी अनुभव किया जा सकता है। यह घर्षण कशेरुका और मध्य कक्षा रेखा के मध्य मे अर्थात् पार्श्व भाग मे आसानी से स्पर्श किया जा सकता है।

यकृत् की स्पर्श परीक्षा—सर्वोत्तम उसे ही मानी जाती है जिसमे चिकित्सक एक हाथ दाहिनी तरफ की अन्तिम पर्शुकाओं पर और दूसरा हाथ यकृत् पर रख स्पर्श करे।

सूचना—यह बात सर्वदा याद रखनी चाहिये कि, बालकों का यकृत् स्वभावतया ही बढ़ा होता है। यहां तक कि, नवजात शिशुओं में तो नाभि तक पहुँचा हुआ होता है। परन्तु जैसे जैसे उसकी आयु बढ़ती है, वैसे वैसे यह घटता जाता है।

---

* **यकृत् की सिक्थापक्रान्ति**—यह एक यकृत् की रुग्णावस्था है। जिसमें यकृत् के सौत्रिक तंतुओं का अपक्षय हो कर उसके स्थान पर मोम के समान पदार्थ उत्पन्न हो जाता है। यह उत्पन्न पदार्थ रासायनिक क्रिया मे भी बहुत कुछ मोम से मिलता है। यह तीनों कारणों से उत्पन्न होता है। (१) राजयक्ष्मा के कृमि (२) उपदंश (३) जीर्ण पूयस्राव। इस विकृति से यकृत् वृद्धियुक्त, कठोर, भारी और मोटा हो जाता है। इस रोग का विष रक्त में सम्मिलित हो कर रक्तवाहिनियों और ग्रन्थियों में प्रवेश कर जाता है। फिर उनकी रचना में परिवर्त्तन करा देता है। इस रोग का विशेष वर्णन चिकित्सातत्त्वप्रदीप द्वितीय खण्ड में किया गया है।

टेपन परीक्षा:—यकृत् के पूर्व पृष्ठ और पार्श्व पृष्ठ का ठेपन करने के लिये रोगी को सीधा ही लिटा कर रखना चाहिए। प्रारम्भ दूसरी पर्शु का से ही करे। ताकि फुफ्फुसो का ठेपन शब्द जो कि रिक्त होगा स्पष्ट सुनाई दे जाय। इसके पश्चात् प्रत्येक पर्शु का पर क्रमानुसार ठेपन करते हुये नीचे उतरते जायँ, जब तक कि ठोस शब्द श्रवण न होने लगे। जहाँ से ठोस शब्द मालूम होने लगे वही पर चिह्न लगादे। इन दोनों चिह्नों मे से जो ऊपर हो वही यकृत् की उर्ध्वधारा को दर्शाता है। इसी प्रकार ऊपर से नीचे चूचुक रेखा, कक्षा रेखा और स्कन्धास्थि रेखा पर ठेपन करना चाहिये।

वक्ष की मध्य रेखा यकृत् की उर्ध्वधारा मालूम करना कठिन है। क्योकि, वह भाग हृदय से आच्छादित है। इसलिये हृदय का ठोस शब्द सुनाई देने लग जाता है। इसे मालूम करने के लिये, हृदय स्पन्दन से हृदय के दाहिने किनारे (जहाँ तक कि यकृत् का गम्भीर ठोस शब्द सुनाई पड़े) तक एक रेखा खीचे। यह रेखा वक्ष की मध्य रेखा मे यकृत् की उर्ध्वधारा दर्शाती है। इस प्रकार स्कधास्थिरेखा, कक्षारेखा, चूचुकरेखा में ठेपन करने में ज्ञात चिह्नो को मिलाया जाय, तो वह रेखा यकृत् की ऊर्ध्वधारा दर्शायगी। यह रेखा वक्ष के चारो तरफ क्षैतिज होती है।

यकृत् की अधोधारा मालूम करने के लिए मृदु ठेपन कटिप्रदेश से ही आरम्भ करके ऊपर चढ़ना चाहिए। यकृत् की अधोधारा की स्थिति सर्वथा परिवर्तनशील है। साधारणतया यह दाहिनी चूचुक रेखा मे पर्शु काओ के पीछे छिपा रहता है, परन्तु साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि यकृत् बिना रोग संप्राप्ति के इससे काफी नीचे या ऊपर खिसक सकता है। वक्ष की मध्य रेखा मे भी अधोधारा की स्थिति बहुत परिवर्तन शील है। परन्तु साधारणतया यह तलवार के समान मुड़े हुए भाग के तल से लगभग ४-५ अंगुल नीचे होती है। पार्श्वस्थ दाईं कक्षा रेखा तथा पीठ में रही हुई दाईं स्कन्धास्थि रेखा मे वृक्को से सम्बन्ध होने के कारण यकृत् की अधोधारा मालूम नही की जा सकती है।

वामान्त (हृदय कोण के बिल्कुल निकटतम पहुँचता है) को मालूम करने के लिये मध्य-ठेपन द्वारा बाईं कक्षा रेखा से ठेपते हुए मध्य रेखा की ओर आये। जहाँ शब्द गुञ्जन से किञ्चित् ठोस हो जाय, वहीं चिह्न लगा दे। इस प्रकार बाईं चूचुक रेखा में तथा इससे किंचित् अन्दर की ओर पर्याप्त नीचे से ऊपर की ओर ठेपन द्वारा ठेपते जायं। प्रथम पर्शु कान्तर में ठेपे, पुनः पर्शु काओ पर। जहाँ शब्द परिवर्तित हो जाय, वहीं चिह्न लगा दे।

पुनः इन चिह्नों के एक स्थान पर कोण बना कर केन्द्रित करे। जहाँ यह केन्द्रित हो, वहीं यकृत् का वामान्त होता है। यहाँ पर आमाशय यकृत् के निकटतम होता है तथा कभी-कभी उसके कुछ-भाग को आवृत भी करता है। इससे वामान्त ठेपन द्वारा मालूम करना कठिन है। फिर भी अभ्यास से कुछ परिचय मिल जाता है।

इस प्रकार ठेपन से ऊर्ध्वधारा, अधोधारा एवं वामान्त ज्ञात कर लेने से यकृत्-वृद्धि एवं सकोच आसानी से ज्ञात हो जाता है। कभी कभी इसकी स्थान च्युति भी हो सकती है। इसके पश्चात् सम्पूर्ण यकृत् तल पर ठेपन करने की आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु विद्यार्थियों को ज्ञानवृद्धि के लिये सम्पूर्ण तल का ठेपन अवश्य करना चाहिये।

यकृत् वृद्धि—यह विकार तीव्र यकृत् प्रदाह, उपदंश, बालकामला, यकृद् विद्रधि, हृदय रोग, यकृद्दाल्युदर (Cirrhosis of the liver) यकृत् की अपकान्ति, कृमिजन्य रसार्बुद, यकृत् मे अर्बुद, जीर्ण पित्ताश्मरी, जीर्ण कामला, आशुकारी संक्रामक ज्वर, अगचन जनित अन्तर्विष और कभी कभी अग्निमान्द्य से उत्पन्न हो जाता है। इनके अतिरिक्त उदर रोगों में भी कभी कभी यकृत् बढ़ जाता है। शराब और तमाखू के अति सेवन से भी इसकी सम्प्राप्ति हो जाती है।

यकृत् के नीचे के भाग पर जो कि फुफ्फुस से आवृत नहीं है; ठेपन करने से हाथ को कुछ सीमा तक प्रतिरोधक और स्थिति स्थापक शक्ति प्रतीत होती है। इस शक्ति का प्रकार और परिमाण लिख कर समझाना असम्भव है। यह तो सिर्फ अनुभव साध्य है। यकृद् वृद्धि मे ठेपन के लिये उसकी अवरोधक शक्ति बढ़ जाती है, क्योंकि वक्ष की दीवार के साथ इसका सम्बन्ध ज्यादा दबाव वाला हो जाता है।

स्थानच्युति—यकृत् की स्थानच्युति ऊपर और नीचे, दोनों तरफ हो सकती है। उदर के अर्बुदादि यकृत् को ऊपर की तरफ धक्का देने पर ऊपर की ओर स्थानच्युति होती है। नीचे की तरफ स्थानच्युति के अनेक कारण हो सकते हैं। उदा० दाहिने फुफ्फुसावरण मे तरल उत्पत्ति, फुफ्फुस के वायुकोष प्रसारण, और अति क्वचित् महा-प्राचीरा पेशी के नीचे तरल उत्पत्ति, महाप्राचीरापेशी के निम्नतल में उत्पन्न विद्रधि (Subphrenic abscess)-होने पर तरल सगृहीत हो सकता है। यकृत् की स्थानच्युति नीचे की तरफ होने पर उसका वाम गोल तल दक्षिण खण्ड का कुछ भाग आसानी से कौड़ी प्रदेश मे प्रतीत किया जा सकता है।

यकृत् वृद्धि और यकृत् स्थानच्युति प्रभेदक लक्षण—इन दोनों का भेद इस बात से किया जा सकता है कि, स्थानच्युत यकृत् श्वास क्रिया के साथ मुक्त रूप से नही चल सकता। जबकि यकृत् वृद्धि में गति होती है।

वैद्य को यकृत् की वास्तविक वृद्धि एवं संकोच से असत्य वृद्धि और असत्य संकोच का भेद भी अवश्य करना चाहिये।

दाहिने फुफ्फुस तल की कठोरता या दाहिने फुफ्फुसावरण में तरल संगृहीत होने पर यकृत् ऊपर की तरफ वृद्धि युक्त प्रतीत होने लग जाता है। अनुप्रस्थ वृहदन्त्र में भोजन मे प्रयुक्त कठोर पदार्थ संचित होने या अपचनावस्था मे या मल एकत्रित होने पर भी यकृत् नीचे की ओर बढ़ा हुआ प्रतीत होने लग जाता है।

यकृत् में कृमि जन्य रसार्बुद होने पर यह यकृत् को अक्सर ऊपर बढ़ाता है। बहुत कम रोगी देखे गये हैं, जिनमे इस रसार्बुद के कारण यकृत् नीचे बढ़ा हुआ हो।

यकृत् ह्रास—दाहिने फुफ्फुस तल वायु कोषो का प्रसारण होने पर यकृत् संकोच की भाति हो सकती है। इसी प्रकार की भाति, वास्तविक यकृत् संकोच न होने पर भी, उदर्य्याकला की गुहा में स्वतंत्र वायु के एकत्रित होने या अन्त्रपुच्छ से गुदा तक जाने वाले वृहदन्त्र का भाग उदरभित्ति और यकृत् के मध्य में आ जाने से भी उत्पन्न हो जाती है। वृहदन्त्र के भी भाग का यकृत् और उदरभित्ति के मध्य में आ जाना बहुत कम देखा गया है। इसकी शंका तब ही करनी चाहिए, जब कि यकृत् की अधोधारा का कठोर शब्द अलग अलग स्थानो पर अलग अलग प्रकार का सुनाई दे।

पित्ताशय—इसका बाह्य दर्शन यकृत् के साथ वर्णित कर दिया गया है। साधारणतया यह जान लेना चाहिए कि यह यकृत् की अधोधारा में ९वीं उपपर्शुका के नीचे दाहिनी चूचुक रेखा में अवस्थित है। स्वस्थावस्था में यह प्रतीत नहीं किया जा सकता। परन्तु किसी कारण से नीचे उतर जाय, तो स्पर्श और ठेपन परीक्षा द्वारा जाना जाता है। जब यह नीचे उतर जाता है, तब दक्षिण उदरदण्डिका पेशी की बाह्यधारा पर उदर में सम और चिकने नाशपाती के समान शोथमय बन जाता है। फिर ९वीं उपपर्शुका के समानान्तर एक विन्दु के चारो तरफ एक ओर से दूसरी ओर घुमाया जा सकता है। एवं यह श्वास क्रिया के साथ भी गति करता है।

पीड़नाक्षमता—पित्ताशय के शोथयुक्त होने पर भी यह मालूम करना

चाहिए कि उसको स्पर्श करने से पीडा होती है या नहीं ? इस बात को प्रतीत करने के लिए एक मुख्य विधि प्रयुक्त की जाती है। इसमें रोगी को बैठा करके आगे की तरफ झुक जाने को कहे और स्वयं वैद्य रोगी के दाहिनी तरफ पीछे की ओर खड़ा हो जाय। इसके पश्चात् चिकित्सक अपनी अंगुलियाँ पशु`काओं के नीचे, उदरदण्डिका पेशी के बाह्य किनारे के पास रखकर दबावे। एवं रोगी को लम्बा श्वास लेने को कहे। इससे महाप्राचीरा पेशी ज्योंही नीचे की तरफ खिसकेगी; त्योंही अंगुलियों को पित्ताशय का स्पर्श हो जायगा। अगर उसमें स्पर्श से पीडा उत्पन्न होती होगी तो अंगुलियों के स्पर्श होने के साथ ही रोगी श्वास लेना बन्द कर देगा। इस चिह्न को मर्फी का चिह्न (Murphy's sign) कहते हैं।

ठेपन—ठेपन करने पर नीचे खिसका हुआ पित्ताशय ठोस ध्वनि को उत्पन्न करता है। यकृत् की ठोस ध्वनि नाभि की ओर जाती हुई मा'लूम पडती है; परन्तु साधारणतया इससे सलग्न ही रहती है। कभी-कभी अनुप्रस्थ बृहदन्त्र पित्ताशय की ग्रीवा को आरपार करती हुई स्थित हो जाती है। जिससे वह यकृत् से पृथक कर देती है। इस प्रकार की अवस्था में अर्बुदका निदान करने में कठिनाई उपस्थित हो जाती है। इस बात का विशद वर्णन आगे पृष्ठ १८८ से १९० तक दाहिने वृक्क के साथ किया जायगा।

प्लीहा

प्लीहा शारीर—यह आमाशयिक (वाम अनुपार्श्विक) प्रदेश में स्थित है। ऊपर की तरफ इसका सम्बन्ध वाम फुफ्फुस से एव दूसरे स्थान पर आमाशय और अन्त्र से है। इसका अधो किनारा पशु`काओं के साथ बृहदन्त्र का सम्बन्ध करनेवाली उदर्य्याकला के झोल पर टिका रहता है। प्लीहा ९, १० और ११वीं वाम पशु`काओं के पीछे रहती है; एवं महाप्राचीरा पेशी और वाम फुफ्फुस का अधोकिनारा इसको इन पशु`काओं से कुछ पृथक् करता है। इसका ऊपरी सिरा पिछली ओर ९वे वक्ष कसेरुका के समानान्तर रहता है और मध्यरेखा से १॥ इञ्च बाईं तरफ रहता है। इसका अधोसिरा पार्श्व भाग में हो सके उतना आगे वाम कुक्षिरेखा तक जाता है।

दर्शन परीक्षा—प्लीहा की साधारण वृद्धि होने पर वह उदर में दिखलाई नहीं देती। क्योंकि पसलियों की सीमा के भीतर ही रह जाती है। इसकी वृद्धि प्रायः आगे की ओर तथा नाभि की ओर होती है। जब इसकी

ज़्यादा वृद्धि हो जाती है, तब उदर के वाम पार्श्व में एक उभार सा प्रतीत होने लग जाता है वह श्वास क्रिया के साथ गतिशील होता है।

स्पर्शन परीक्षा—प्लीहा की परीक्षा मे इसका बहुत महत्त्व है। प्लीहा की स्थान च्युति नही है, ऐसा निर्णय कर लेने के पश्चात् स्पर्शयुक्त प्लीहा को वैद्य विश्वास एवं निर्भय के साथ वृद्धियुक्त प्लीहा कह सकता है। इसके विपरीत स्पर्श के अयोग्य प्लीहा को वृद्धियुक्त प्लीहा कह देना, सर्वदा भययुक्त है। एवं ऐसी भूल चिकित्सक को कभी नहीं करनी चाहिए।

स्पर्श परीक्षा विधि—वैद्य रोगी के दाईं तरफ बैठे या खडा रहे और अपने एक हाथ की अंगुलियाँ पीछे की तरफ पीठ पर १०वीं और ११वीं पर्शुकाओं के किनारों के मध्य रक्खे। एवं दूसरा हाथ वाम अनुपार्श्विक प्रदेश पर इस प्रकार रक्खे कि, उसकी अंगुलियाँ पर्शुकाओं के महराब के नीचे जाती हुई प्रतीत हो। फिर ज्योंही रोगी श्वास ले, वैद्य को पीठ पर रक्खे हुए हाथ से प्लीहा को धक्का देना चाहिए। चित्र नं० ५२ देखें। इस प्रकार की क्रिया से आगे रक्खे हुए हाथ को प्लीहा का किनारा स्पर्श हो जायगा। इस प्रकार नीचे दाहिनी श्रोणि गुहा से ऊपर की तरफ बढ़ते आवे और मालूम करले कि, प्लीहा कहाँ तक बढ़ी हुई है। वैद्य को प्लीहा की स्पर्श परीक्षा करते हुए यह भी याद रखना चाहिए कि पर्शुकाओं के महराब से बिल्कुल पास से परीक्षा करने पर बहुत ज्यादा प्लीहा वृद्धि होने पर भी न होने का भ्रम हो जाता है। प्लीहा की वृद्धि किञ्चित् मात्र होने पर उसका स्पर्श रोगी के दाहिनी पार्श्व के बल वैद्य की तरफ मुँह करके लेट जाने पर आसानी से किया जा सकता है।

साधारणतया प्लीहा का किनारा तेज और बिल्कुल सम होता है। इसमें अक्सर खात प्रतीत किया जा सकता है, परन्तु सर्वदा नहीं। चिकित्सक के लिए स्मरण रखने योग्य महत्त्व की बात ये हैं—(१) वृद्धियुक्त प्लीहा का आगे का किनारा नीचे और अन्दर की तरफ निकला रहता है तथा (२) पिछले किनारे और पृष्ठवंश के मध्य में रिक्त स्थान होता है, जिसमे अंगुली चलाई जा सकती है। कभी-कभी प्लीहा सिर्फ ऊपर की तरफ ही बढ़ती है। यह प्लीहा पर अवस्थित दोहरी उदर्य्याकला (Cost colicfold) के झोल की विकृति वृद्धि होने पर हो सकती है। इस अवस्था को पृथक् करने के लिए वैद्य को फिर से ठेपन परीक्षा की सहायता लेनी चाहिए। कभी कभी जब कि प्लीहा वृद्धि बहुत हो जाती है, तब यह प्लीहागत द्विगुण उदर्य्याकला के झोल को नीचे की तरफ धक्का दे देती है और स्वय उससे नीचे गिर जाती है,

कभी-कभी प्लीहा वृद्धि मध्यरेखा को पार कर जाती है और फिर उस उदर्य्याकला के झोल को धक्का लगा कर नीचे गिर जाती है ; इसलिए प्लीहा की वृद्धि होते रहने पर भी प्रतीत नहीं की जा सकती है।

ठेपनपरीक्षा—तिल्ली की स्पर्शन परीक्षा कर लेने के पश्चात् ठेपन परीक्षा करने की रोगनिदान के लिए कोई आवश्यकता नही रहती। विद्यार्थी चाहे तो उसकी सीमा ज्ञात करने के लिए ठेपन परीक्षा कर सकते हैं। साधारणतया इसकी आगे की धारा ११वी पशुका के साथ ऊपर कक्षारेखा तक जाती है। अधोधारा कक्षा रेखा में वाम वृक्क से सलग्न रहती है और ११वी पशुका से कभी नीचे नहीं जाती। ऊर्ध्व धारा और सम्मुख सीमा मालूम करने के लिए पाँचवीं पशुका से ठेपन करे, प्रथम पशुकाओं पर और फिर पशुकान्तरो मे। ऊर्ध्व धारा साधारणतया ६वीं पशुका के पीछे रहती है। पिछली ऊर्ध्व सीमा १०वीं पृष्ठ वंश कशेरुका के समुख स्थित होती है। महा प्राचीरा पेशी और कुछ वाम फुफ्फुस से आच्छादित रहती है। वहाँ से प्लीहा आगे की ओर तथा नीचे की ओर उतरती है और ११वी पशुका के पीछे तक जाती है। ये भाग आच्छादित रहने से वहाँ पर ठेपन नही हो सकता।

प्लीहा वृद्धि के हेतु—विषम ज्वर, काला आजार, तीव्र संक्रामक ज्वर, रक्तमें श्वेताणु वृद्धि, प्लीहोदर (Splenic anaemia), यकृत् के विविध रोग; उत्तरा महाशिरावरोध, हृदय कपाट की विकृति, अस्थिवक्रता (Rickets), देह में पूयोत्पत्ति, प्लीहा पर अर्बुद तथा विद्रधि के कारण एवं अधिक काल तक अधिक मात्रा में मद्यपान करते रहने से प्लीहा वृद्धि हो जाती है। इसका विशेष विचार चिकित्सातत्त्वप्रदीप द्वितीय खण्ड मे किया गया है।

श्रवण परीक्षा—साधारणतया प्लीहा पर श्रवण करने से किसी प्रकार की आवाज नहीं सुनाई देती। परन्तु अगर प्लीहा को आवृत करनेवाली कला में प्रदाह हो या प्लीहा मे (रक्त जम कर उत्पन्न) कोथ (Splenic infarectus) हुआ हो तो उस सीमा पर एक प्रकार की ध्वनि उपस्थित होती है।

वृक्क Kidneys

वृक्क शारीर—वृक्को का आकार लगभग लोभियाँ के बड़े दाने के समान है। दोनो पार्श्व भाग मे एक-एक वृक्क रहता है। दाहिने वृक्क का कुछ भाग दक्षिण अनुपार्श्विक प्रदेश और कुछ कौडी प्रदेश मे, एवं बाएँ वृक्क का कुछ भाग वाम अनुपार्श्विक प्रदेश और कुछ भाग कौड़ी प्रदेश में रहता है। एवं दोनो ओर के उपवृक्क कौड़ी प्रदेश मे ही रहते हैं।

दाहिना वृक्क बाएँ की अपेक्षा कुछ आध इञ्च नीचे स्थित है, क्योंकि उसके ऊपर में यकृत् अवस्थित है। उस वृक्क का कुछ भाग कटि प्रदेश में भी आ जाता है।

सामान्यतः वृक्क पीठ की भित्ति से लगे हुए स्थित हैं। उनका $\frac{1}{3}$ भाग पसलियो की आड में और $\frac{1}{3}$ इनसे नीचा रहता है। ये तिरछे पड़े रहते हैं; ऊपर का किनारा अन्दर की ओर मध्य रेखा से दो इञ्च अन्तर पर और निचला किनारा मध्यरेखा से ३ इञ्च के अन्तर पर रहता है।

वाम वृक्क का निचला किनारा नाभि रेखा से १$\frac{1}{2}$ इञ्च ऊपर और दक्षिण वृक्क का निचला किनारा १ इञ्च ऊपर रहता है। वृक्क एक सिरे से दूसरे सिरे तक ४ इञ्च लम्बा रहता है। पीठ मे इसका $\frac{1}{3}$ भाग अन्तिम पर्शुका के ऊपर की तरफ स्थित है। दाहिने वृक्क का ऊर्ध्व सिरा ११वें कटि कशेरुका के समानान्तर रहता है और अधोकिनारा जघनकूट से १ इञ्च के लगभग ऊपर रहता है। वाम वृक्क दक्षिण वृक्क की अपेक्षा आध इञ्च ऊपर स्थित है।

उपवृक्क (Suprarensals)—ये दो प्रणाली विहीन ग्रन्थियाँ हैं, जो प्रत्येक वृक्क के ऊपर के सिरे पर स्थित है। इनकी एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व तक की लम्बाई लगभग २ इञ्च है और ऊपर से नीचे की लम्बाई तो इससे भी कम है; एवं चौडाई $\frac{1}{4}$ इञ्च के लगभग है। दोनो को मिला कर तोला जाय तो $\frac{3}{4}$ तोला के लगभग होते है। इसकी बनावट दो प्रकार के तंतुओ से बनी है। सब से अन्दर के तन्तु नरम और गहरे भूरे तथा ऊपर के गहरे पीले और सख्त होते है। सब से ऊपर एक सौत्रिक तन्तुओं की झिल्ली चढ़ी रहता है। इसमे से एड्रनलीन (Adrenaline) नामक द्रव्य का आन्तरिक स्राव होता है। इस स्राव का शरीर पर बहुत महत्त्व पूर्ण प्रभाव है। इसका स्राव अधिक होने पर कनीनिका विस्तृत हो जाती है। रोगटे खडे हो जाते है, हृदय स्पंदन शीघ्र और शक्ति शाली हो जाता है। रक्त वाहिनियाँ सकुचित हो जाती है। यकृत् से शक्कर ज्यादा परिमाण में निकल कर रक्त मे मिलने लग जाती है। इन उपवृक्को के वल्क (Cortex) मे से कोर्टिन (Cartin) नामक तत्त्व भी निकलता है, जो सोडियम और क्लोराइडस को हजम करता है।

स्पर्श परीक्षा—इसके लिये रोगी को पलंग पर कुछ घुटने सिकुड़वा कर सीधा चित लिटावे। उसके स्कन्ध तकिया वगैरा: लगा कर कुछ ऊपर कर ले। इस बात का पूर्णतया ख्याल रखे कि, रोगी का कटि तक प्रदेश समतल हो, न कि ऊपर उठा हुआ। इसके पश्चात् चिकित्सक को जिस पार्श्व

के वृक्क की परीक्षा करना हो, उसी पार्श्व मे बैठ या घुटनो के बल झुक जाना चाहिए। एक हाथ पृष्ठ पर अन्तिम पर्शुका के नीचे और कुछ उसके ऊपर भी रक्खे, एवं दूसरा हाथ सामने पर्शुकाओ के नीचे उदर पर। पीछे के हाथ से श्रोणि भाग को आगे की तरफ दबावें, एवं आगे के हाथ से उदर-भित्ति को पीछे, ऊपर और बाहर की तरफ क्रमशः दबावे। इस प्रकार क्रिया करने से अगर वृक्क बढा हुआ है या स्थानच्युत है, तो दोनो हाथो के मध्य में स्पर्श हो जायगा। स्वस्थावस्था मे भी उदरभित्ति ज्यादा वसामय न होने पर वृक्क का अधोभाग स्पर्श किया जा सकता है।

अगर वसा के ज्यादा होने से या अन्य कारणों से उदरभित्ति कठोर हो जाने से उपर्युक्त क्रिया द्वारा वृक्क स्पर्श न हो सके तो रोगी को लम्बा श्वास लेने को कहे। एवं निःश्वास के समय जब उदरभित्ति नीचे की तरफ जाती है, उस समय उदर पर रक्खे हुए हाथ को भी उसके साथ ही नीचे दबाते जायँ। इस प्रकार की क्रिया से आसानी से दोनो हाथो के मध्य में वृक्क का स्पर्श हो जायगा।

श्वास क्रिया के साथ वृक्क बहुत कम गति करता है। इस स्वाभाविक गति में वृद्धि हो जाय ताकि वृक्क, जिस प्रकार मटर फली मे गति करता है, उसी प्रकार उदर मे ऊपर नीचे गति करने लग जाय तो उसे गति शील (Movable) वृक्क कहते हैं। गति शील वृक्क को प्लवमान वृक्क (तैरने वाले वृक्क–Floating kidney) से भेद अवश्य करना चाहिए। दूसरी अर्थात् तैरनेवाली अवस्था में वृक्क ऊपर नीचे गति करने के अतिरिक्त एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व को एवं सामने उदरभित्ति की तरफ स्वतन्त्रता से गति करता है। जैसा कि पूर्व लिखा जा चुका है कि, वृक्को का स्पर्श रोगी के शरीर की बनावट पर बहुत कुछ निर्भर है। स्वस्थावस्था में दुर्बल मनुष्यो का दाहिना वृक्क कुछ अंश में स्पर्श किया जा सकता है जब कि वाम वृक्क बिल्कुल नही।

दाईं ओर प्लवमान वृक्क (Floating kidney) और प्रसारित पित्ताशय से परस्पर भेद करना कठिन पड़ता है। इसी प्रकार इस स्थान के अर्बुद की आकृति; परिमाण और कठोरता में भी दोनो की समानता हो सकती है। इनका निम्न बातों से भेद किया जा सकता हो।

(१) प्रसारित पित्ताशय को पीछे की ओर धक्का लगने से वह पीछे की तरफ हट कर पुनः उदरभित्ति की ओर निकल आता है, इस प्रकार सर्वदा दृश्यमान रहता है, जब कि तैरता हुआ वृक्क अक्सर अदृश्य हो जाता है और फिर कठिनाई से प्रयत्न करके ही दृश्य बनाया जा सकता है।

(२) तैरते हुए वृक्क को आसानीसे नीचे की तरफ श्रोणिगुहा में धक्का लगाया जा सकता है एवं वहाँ पर उसे पकड़ कर गहरे से गहरे निःश्वास के समय भी स्थिर रक्खा जा सकता है। जब कि प्रसारित पित्ताशय निःश्वास के समय अवश्य ऊपर की तरफ गति करता है। इस तरह पित्ताशय एव प्लवमान वृक्क मे भेद करने के लिये उन दोनों का बृहदन्त्र के साथ क्या क्या सम्बन्ध है यह भी अच्छी तरह जान लेना चाहिये।

बाईं तरफ प्लीहा वृद्धि का वृक्क वृद्धि से भेद करना कठिन पड़ता है। इनके भेदक चिह्न निम्न हैं :—

१. प्लीहा का किनारा तेज अर्थात् तीखा होता है और उसमें एक खात स्पर्श किया जा सकता है। जबकि वृक्क का अधोकिनारा गोल होता है और कोई खात प्रतीत नहीं किया जा सकता।

२. वृक्क के पिछले किनारे और पृष्ठ कशेरुका के उन्नत भाग के मध्य मे कोई रिक्त स्थान नहीं होता। जब कि प्लीहा और पृष्ठ कशेरुका के मध्य मे कुछ रिक्त स्थान होता है जिसमे अंगुलिया चलाकर देखा जा सकता है।

३. वृक्क की उर्ध्वधारा पर अर्बुद होने पर उसके और पर्शुकाओं के मध्य मे अंगुलियाँ चलाई जा सकती है, जबकि प्लीहा, अर्बुद और पर्शुकाओं के मध्य में नहीं।

४. वृक्क और पूर्व उदरभित्ति के मध्य मे बृहदन्त्र स्थित है जबकि प्लीहा के उपरांत बृहदन्त्र का कोई भाग नहीं है।

वृद्धियुक्त वृक्क अक्सर आगे की ओर उभरता है, एवं वृक्कावरण की विद्रधि आदि मे उभार पीछे की तरफ होता है।

अन्त्र

Intestines.

अन्त्र शारीर—अन्त्र के २ भाग है। १. अन्त्र और २. बृहदन्त्र। इनमे क्षुद्रान्त्रकी लम्बाई सामान्यतः २२ फुट तथा बृहदन्त्रकी लम्बाई ५ फुट है। क्षुद्रान्त्र प्रारम्भमे लगभग १॥ इञ्च चौड़ी और अन्तमे १ इञ्च चौड़ी है। क्षुद्रान्त्र अधिकतर नाभि और अनुपार्श्विक प्रदेशमे स्थित है। बृहदन्त्र उदर मे चारो ओर सीमापर अवस्थित है। क्षुद्रान्त्रका अन्त भाग (शेषान्त्रक) बृहदन्त्रमे दक्षिण पुरःकूट ऊर्ध्वतनसे दो इञ्च अन्दर की तरफ किञ्चित् ऊपर मिल जाता है। बृहदन्त्र के उण्डुक भाग का शिखर भाग वंक्षणिका स्नायुके मध्यकी अन्दर की बाजूमे कुछ अंशमे रहता है। उपान्त्र के तल भागको

दर्शाने के लिये नाभिसे दायीं ओर के ऊर्ध्व पुर:कूट तक एक पंक्ति खींचें। फिर कूटसे १॥-२ इञ्च दूर उस पंक्ति पर चिह्न लगावे। यह चिह्न इस रेखाके मध्य तिहाई और वाह्य तिहाई की सधि पर स्थित होता है। इसी को मैकबर्नी का चिह्न (Mc. Burney's point) कहते हैं। क्योंकि उन्होंने उपान्त्रप्रदाह के अनेक रोगियो में सबसे अधिक स्पर्श-पीड़ा इसी स्थान पर दिखलाई है।

बृहदन्त्र का प्लैहिक कोण उदर की बाईं तरफ आमाशय के वामाश के नीचे और यकृत कोण दाहिनी तरफ, यकृत के नीचे ढका रहता है। प्लैहिक कोण यकृत् कोण की तुलना मे ऊँची सतह पर अवस्थित है। अनुप्रस्थ बृहदन्त्र उदर मे एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व तक आमाशय के नीचे कुछ घुमाव के साथ जाती है। इस घुमाव का सबसे नीचे का भाग नाभि के लगभग पहुच जाता है। अवरोही भाग वाम पर्शुका की अधोरेखा (आमाशय के वाम अंश के कोण के नीचे) से आरम्भ होकर बाईं लम्ब रेखा के साथ साथ कुछ बाहर की तरफ वाम वड्क्षणोतरिक प्रदेश मे उतरती है। इसका सिरा मुड कर वस्तिगुहा के भीतर अवस्थित लुप्त अकार 'S' के समान आकार वाले कुण्डलिका भाग (Sigmoid colon) मे मिल जाता है, यह भाग १० इंच लम्बा है, फिर वह पृष्ठ वश की तरफ धनुप के समान मुडकर मध्यरेखा में गुदनलिका (मलाशय) बन जाता है। पुरुप देह मे गुदनलिका की अगली ओर वस्ति रही है, तब स्त्री-देह मे गर्भाशय अवस्थित है। यह नलिका लगभग ६-८ इंच लम्बी होती है। इसके नीचे गुदद्वार है।

उण्डुक—(Coecum) यह बृहदन्त्र का ही भाग है। यह दक्षिण वड्क्षणोत्तरिक प्रदेश मे रहा है। इसका देखाव तश्तरी के सदृश है। लगभग ३॥ अगुल चौडा है। छोटी आत का सिरा बाईं ओर से इसमे प्रवेश करता है। उस स्थान पर छोटी आँत के प्रवेशद्वार पर चिमटे के आकार की दो सदृश कपाटिका (Lips of the colic valve) लगी हैं।

उपान्त्र—(Appendix) जहाँ क्षुद्रांत्र बृहदन्त्र मे खुलती है, उससे जरा नीचे २-३ इंच लम्बी अगुली के समान एक नली लगी रहती हैं उसे ही उपांत्र और उण्डुकपुच्छ कहते हैं। इसकी बनावट क्षुद्रान्त्र के समान होती है। अन्दर की ओर श्लैष्मिक कला बाहर सौत्रिक ततु और सबसे बाहर मास की तह होती है। श्लैष्मिक कला मे पाचक रस बनाने वाली ग्रंथियाँ नहीं होती है और न ग्राहकाकुर। सौत्रिक तंतुओं मे लसिका ग्रथियाँ बहुत होती हैं। इस उपान्त्र का कार्य अभी तक विद्वानो को ज्ञात नहीं हुआ।

इसकी स्थिति और लम्बाई सब मनुष्यो में एक सी नहीं होती। किसी में आध इंच और किस में आठ इंच तक देखी गई है। यह कभी बृहदंत्र के साथ लगी हुई ऊपर की तरफ, कभी क्षुद्रांत्र के नीचे, ऊपर और अंदर की ओर, कभी नीचे और अन्दर की ओर बस्ति गह्वर मे, कभी-कभी नीचे की ओर और कभी-कभी बृहदन्त्र के प्रारम्भिक भाग के इतस्ततः लिपटी रहती है। इसी नली के प्रदाह को उपात्र प्रदाह (Appendicitis) कहते है।

दर्शन और स्पर्शन परीक्षा—अन्त्र की ये दोनो परीक्षाएं पहले उदर की दर्शन और स्पर्शन परीक्षा के भीतर लिखी गई हैं।

ठेपन परीक्षा—यह अवश्य करनी चाहिये। क्योंकि इससे ग्रन्थि, अर्बुदादि ज्ञात हो जाते है। परन्तु क्षुद्रान्त्र और बृहदन्त्र के ठेपन शब्दों में अन्तर करना असम्भव है।

गुदा परीक्षा—इसके लिये रोगी को आधी औंधी (Semiprone) स्थिति में प्रकाशयुक्त स्थान पर रखा जाता है। आधी औंधी स्थिति के लिये रोगी को बाई करवट लिटावे, दाहिने साँथल को जानुसन्धि तक उदर के पास मोड ले और बिछौने पर से आगे रक्खे। दाहिना हाथ बिछौने पर सिराने की बाजू में छाती के पास तथा बायाँ हाथ बिछौने पर सरल पीछे की ओर रखें। (रुग्ण परिचर्या के चौथे प्रकरण के अन्त मे विविध स्थितियो के भीतर यह स्थिति भी दर्शायी है) फिर गुदाद्वार एव उसके आसपास के स्थान की परीक्षा करें। अथवा रोगी को "उकडू" स्थिति मे भी रक्खा जा सकता है। इसमे रोगी को उलटा लेटा कर, पैरो को जानुसंधि से सिकुड़वाकर इस प्रकार लेटाते हैं कि उसके जानु और वक्ष बिछौने पर लगे रहते हैं और दोनो नितम्ब ऊपर उठे हुए रहते है।

इस स्थिति मे रोगी को रखने के पश्चात् चिकित्सक अपने दोनो हाथों की अंगुलियो से नितम्बो को पृथक् करके गुदा को देखे कि, वहा पर पीडिका, स्फोट, नाडीव्रण, लाली, शोथ, विद्रधि या वाह्यरक्तस्रावी अर्श तो नही है? फिर वैद्य को दाहिने हाथ में रबर का मौजा या दाहिनी तर्जनी अंगुली मे फिंगरस्टाल* पहन कर उसपर बैसलीन या तैल लगाकर अपनी अंगुली को भी स्निग्ध करले। फिर अपनी अंगुली को गुदाद्वार मे प्रवेश करावे। प्रथम अंगुली

---

* शस्त्रक्रिया मे सक्रमण से बचने के लिये रबर के दस्ताने हाथों में पहन लिये जाते हैं। इसी प्रकार अंगुलियो से किसी अन्दर के भाग की परीक्षा करनी हो तो उसके लिये भी अलग-अलग कोमल रबर की बनी हुई उसी आकार की नलिकाये आती हैं। उनको फिंगरस्टॉल कहते हैं।

के आगे का थोडा सा भाग ही प्रविष्ट कराके गुदाद्वार की संकोचनी मास पेशी की अवरोधक शक्ति मालूम करे। इससे ज्ञात हो जायगा कि वह स्वाभाविक या संकुचित अथवा शिथिल है।

गुदनलिका में अगुली को चलाने के पश्चात् इसे कुछ पीछे और ऊपर की तरफ चलानी चाहिए। एवं उसी समय रोगी को काजने की कहना चाहिए। फिर अगुली को घुमाने से पुरुषो में पौरुषग्रन्थि* गुदा में उभरी हुई प्रतीत की जा सकती है। इसके ऊपर मूत्राशय का त्रिकोण भाग है। इसके दोनो ओर शुक्र प्रणाली है; नीचे कलामय मूत्र प्रसेक नलिका ÷ है। स्त्रियों में गर्भाशय ग्रीवा (Cervin of the uterus) पीछे की तरफ उभरी हुई गोल शोथ के समान प्रतीत होगी गुदा की श्लैष्मिक कला को ध्यान से देखना चाहिए कि गुदा भ्रंश, व्रण, अर्श, घातक अर्बुदादि तो नहीं है।

***पौरुष ग्रन्थि** (Prostate gland)—यह एक ग्रन्थि है जो पुरुषों मे मूत्राशय की ग्रीवा के चारो ओर स्थित है, और श्रोणिगत मूत्रमार्ग को चारो तरफ से घेरे है। वृद्धावस्था मे यह वृद्धि को प्राप्त होकर मूत्र का अवरोध करने लग जाती है। इसके फल स्वरूप मूत्र त्याग मे अत्यन्त कष्ट होता है और अक्सर कैथेटर का प्रयोग करना पडता है। इसमे मूत्राशय प्रदाह होने का भय रहता है। वृद्धि युक्त ग्रन्थि शस्त्रक्रिया से हटाई जा सकती है। सुजाक की अणुवीक्षण यन्त्र से परीक्षा करने के लिये गुदा मे अंगुली डाल कर इसी ग्रन्थि को रगडने से इन्द्री मे से एक स्राव निकलता है, उसे तख्ती पर लगा कर परीक्षा की जाती है।

÷ मूत्रप्रसेक नलिका (Urethra)—यह प्रणाली मूत्राशय से मूत्रवहिर्द्वार तक जाती है। यह पुरुषो मे ७ से ८ इञ्च लम्बी होती है। इसको तीन भागो में विभक्त किया गया है। प्रथम मूत्राशय से १ या १। इञ्च लम्बा भाग, वस्तिद्वारिक (Prostatic) भाग, दूसरा मूलाधारिक (Membranous) भाग १। इञ्च लम्बा होता है और सब से संकुचित होता है। अन्तिम भाग शैश्निक भाग (Cavernous portion) कहलाता है। वह लगभग ६ इञ्च लम्बा होता है; इसी का अन्तिम सिरा मूत्र वहिर्द्वार कहलाता है। स्त्रियो में मूत्र मार्ग १॥ इञ्च के लगभग ही लम्बा होता है। यह गर्भाशय के ऊपर के किनारे के साथ आता हुआ त्रिकोण बंधन को पुरुषो के समान ही पार करता है।

यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि, रक्तार्श स्पर्शन शील नहीं होते। मल की कठोर गाठ या कठोर बाह्य वस्तु विदित की जा सकती है। अगर त्रिकास्थि के गह्वर में स्थित लसिका ग्रन्थियाँ बढ़ी हुई हों, तो वे भी स्पर्श की जा सकती हैं। उदर्य्याकला के गर्भाशय के पश्चात् पृष्ठ बनने वाले झोल (योनि गुदान्तरीय स्थाली पुट–Douglas pouch) में घातक गौण पूय-रक्त आदि या व्रणक्षत अथवा ग्रन्थि होने पर उसे भी गुदा की दीवार में से स्पर्श किया जा सकता है। इतनी परीक्षा कर लेने के पश्चात् वैद्य अपनी अंगुली को गुदा से बाहर निकाल ले और देखे कि फिंगरस्टाल पर वसा रक्त या काला मल तो नही लगा।

गुदनलिका और कुण्डलिका भाग की दर्शन परीक्षा (Proctoscopy and sigmoidoscopy)

अगर उपर्युक्त वर्णित गुदा परीक्षा नकारात्मक सिद्ध हो तथा चिकित्सक को संदेह भी हो, कि रोगी के गुदा अनुत्रिकास्थि मार्ग (Anal canal) या गुदनलिका के नीचे के ३ इञ्च के भाग में किसी प्रकार की अस्वाभाविकता विद्यमान है, उस अवस्था में गुदादर्शक यन्त्र (Proctoscope) से अवश्य परीक्षा करनी चाहिये। इस यन्त्र से परीक्षा करने के लिये रोगी को पूर्व वर्णित स्थिति मे ही लिटाये रक्खे; तथा गुदा दर्शक यन्त्र को गरम पानी मे रख कर गरम करे और उस पर वैसलिन लगा कर स्निग्ध करके सम्हाल पूर्वक सम्पूर्ण यन्त्र को गुदा में प्रवेश करा दे। इसके पश्चात् यन्त्र का ढक्कन (Obturator) हटा ले। अब यन्त्र को धीरे धीरे बाहर निकालते जायँ और वहाँ श्लैष्मिक का निरीक्षण करते जायँ। इस प्रकार रक्तार्श और संदिग्ध स्पर्श शील अस्वाभाविकता स्पष्ट मालूम पड जाती है।

अनेक अवस्थाओ में गुदादर्शक यन्त्र से देखने के अतिरिक्त गुदनलिका और बृहदन्त्र को ज्यादा स्पष्ट देखने की आवश्यकता रहती है। ऐसी अवस्था में बृहदन्त्र के कुण्डलिका परीक्षण यन्त्र (Sigmoidoscope) प्रयुक्त किया जाता है। इस यन्त्र का प्रयोग करने के लिये अत्यन्त चतुराई की आवश्यकता पड़ती है, तथा उसे जानने के लिये अभ्यास करना ही एक मात्र साधन है। इसलिये उसका वर्णन यहाँ करना व्यर्थ है। यह स्मरण रखना लाभदायक है कि इसको चतुर चिकित्सक १६ सेन्टीमीटर तक गुदा में चला सकता है तथा उससे ४ सेन्टीमीटर ऊपर तक देख सकता है। इस प्रकार २० सेन्टीमीटर (८ इञ्च) तक चिकित्सक आसानी से देख सकता है। इस यन्त्र का प्रयोग करने से रोगी को बहुत कम कष्ट होता है, इस लिये संमोहक क्रिया (Anaesthesia) करने की आवश्यकता नहीं है।

मुख्य तौर से यह यन्त्र अतिसार का कारण बृहदन्त्र में होने पर उसका भेदक निदान करने में लाभदायक है। इस यन्त्र से बृहदन्त के दुष्टार्बुद और क्षतमय बृहदन्त्र से दाह के हेतु से क्षत में से पूय और रक्त निकल रहा हो वे गुदा की श्लैष्मिक कला के अंकुर आदि की आसानी से पहचान हो जाती है।

सूचना—गुदादर्शक यन्त्र और कुण्डलिका दर्शक यन्त्र, इन दोनो से परीक्षा विशेषतः अस्त्रचिकित्सा दालान में की जाती हैं। इसके लिये ३६ घण्टे पहले सौम्य विरेचन देकर उदर को खाली करते हैं। १२ घण्टे पहले साबुन जल की बस्ति गुदनलिका, कुण्डलिका भाग और उसके ऊपर रहे हुए बृहदन्त्र को विशेष साफ करते हैं। फिर अफीम के अर्क की शामक बस्ति या गुदाशयवर्ति (Suppository) का प्रयोग करते हैं। फिर उन भागों में यन्त्र चढ़ा कर परीक्षा की जाती है।

चतुर्थ खण्ड

आमाशयिक क्रिया का परीक्षण

इस खण्ड में आमाशय की पचनशक्ति और संचालनशक्ति का परीक्षण दर्शाया जायगा।

साधारणतया भोजन आमाशय में ४ घंटे ठहरता है और अधिक से अधिक ६–७ घंटे भी रह सकता है। इससे अधिक समय भोज्य पदार्थ का आमाशय में रहना उसकी विकृति दर्शाता है। इसे ज्ञात करने के लिये रात्रि को हल्के भोजन के साथ रोगी को एक चम्मच लकड़ी के कोयलों का बारीक चूर्ण या कोयले की बिस्कीट (Charcoal biscuit) खिला दे। दूसरे दिन प्रातःकाल नलिका चलाकर या वमन करवाकर आमाशय बिल्कुल रिक्त कर ले। इस प्रकार प्राप्त किया हुआ द्रव्य महत्त्व पूर्ण सूचनायें देता है। उसमे भोज्य पदार्थ या कोयलों के अंश की विद्यमानता कुछ अंश तक पक्वाशयिक द्वार के अवरोध को प्रगट करती है; अगर उसमे भोज्य पदार्थ का कोई अंश नही है, सिर्फ ५ औंस से ज्यादा आमाशयिक रस ही विद्यमान है, तो समझना चाहिये कि स्राव की अधिकता है। आमाशय प्रक्षलन किया जाय और उस धोये हुए पानी के नीचे पैंदे से श्लेष्मा के छिछड़े हों तो उसे आमाशयिक प्रदाह समझना चाहिये। उसमे दुर्गन्ध आती हो तो पक्वाशयिक द्वार का अति अवरोध या दुष्ट अर्बुद की कल्पना करनी चाहिये। अगर उसमे रक्त मिश्रित हो तो दुष्ट अर्बुद की ज्यादा सम्भावना है।

आमाशयिक रस और पचन शक्ति की परीक्षा करने में पूर्व यह आवश्यक ज्ञात होता है कि आमाशयिक रसका संगठन और उसकी क्रिया संक्षेप में वर्णित कर दी जाय। आमाशय का स्थान, परिमाण आदि पूर्व ही बतला दिये गये हैं।

आमाशय मशक के समान एक थैली है। रिक्तावस्था से इसमें किसी प्रकार की गति नही [illegible] वांश और मध्याश में इकट्ठा हो जाता है। आमाशय के बायें भाग में गतिया बहुत कम होती हैं; यह भाग भंडार का काम देता है। उसमे भोजन जमा रहता है। मध्याश में धीरे धीरे लवणाम्ल रस और प्रथिन विभाजक रस (पैप्सिन) बनने लगते हैं।

इस अम्ल रस का अधिकाश मध्याश में ही बनता है; ऊर्ध्वांश और दक्षिणाश में अम्ल रस बनानेवाली ग्रन्थिया कम होती हैं, तथा पक्वाशयिक द्वार के पास तो क्षारीय रस उत्पादक ग्रन्थिया ही रहती है, आमाशयिक रस सब भोजन में एक दम नहीं मिल जाता। इस कारण भोजन के जिस भाग मे लवणाम्ल रस न मिला हो, उस भाग मे लाला (Saliva) अपनी पाचन क्रिया करता रहता है। इसके पश्चात् मध्याश मे गतिया होने लगती है इससे भोजन पर दबाव पड़ता है। इसके फल स्वरूप उसमे से कुछ अंश दक्षिणाश मे चला जाता है। दक्षिणाश मे सब से अधिक क्रिया होती है। यह क्रिया उस समय तक होती रहती है जब तक की भोजन का खूब मथन न हो जाय। एवं तब तक पक्वाशयिक द्वार भी बंद रहता है। आमाशय मे कृमि के रेंगने के समान लहर युक्त गति होती है। एक लहर मध्याश से पक्वाशयिक द्वार तक २० सैकंड मे पहुँच जाती है। इस प्रकार एक के पश्चात् एक लहर चलती रहती है।

जब दक्षिणाश मे आया हुआ भोजन अम्ल रस खूब मिल कर पतला हो जाता है; तब पक्वाशयिक द्वार की कपाटिका खुल जाती है और दक्षिणाश इसे वेग के साथ पक्वाशय में ढकेलता है। इस प्रकार धीरे धीरे सम्पूर्ण भोजन ऊर्ध्वांश से मध्याश मे और फिर दक्षिणाश मे पहुच कर पक्वाशय मे ढकेल दिया जाता है। साधारणतः ४ से ५ और अधिक से अधिक ६-७ घंटे मे आमाशय रिक्त हो जाता है। अमाशय जहाँ तक हो सके किसी भी कठोर वस्तु को अन्त्र मे नही जाने देता। इसलिये भोजन को खूब चबा कर खाना चाहिये। दाँतो का काम आमाशय जैसे कोमल अंग से लेना उचित नहीं है।

आमाशयिक रस का संगठन—यह संगठन १००० भाग के हिसाब से दर्शाते हैं।

जल	९९४'४
प्रथिन विभाजक मण्ड (पेप्सिन रुञ्जीम)	३ २
लवणाम्ल (हाइड्रोक्लोरिक एसिड)	०'२ से २
सयुक्त लवण (क्लोराइड)	०३ से ३'

आमाशयिक रस आहार आमाशय मे जाने पर अथवा भोजन का विचार करते ही या स्वादिष्ट भोजन को देखते ही बनने लग जाता है। रस तैयार होने मे कोई आध घण्टा लगता है। इस समय मे लाला, श्वेतसार पर अपना असर करती रहती है। आमाशयिक रस मिल जाने पर भोजन की प्रतिक्रिया अम्लीय हो जाती है, त्योंही लाला का असर बन्द हो जाता है।

आमाशय रस की (१) कीटाणु नाशक; (२) प्रथिन पचन; (३) दधिकरण; (४) इक्षुशर्करा का रूपान्तर; (५) वसा वेष्टन दूरीकरण; (६) रक्ताणु सर्जन; (७) श्लेष्मत्वचा की रक्षा, ये ७ क्रिया मुख्य होती हैं।

१—कीटाणु नाशक क्रिया, यह लवणाम्ल द्वारा होती है।

२—प्रथिन पचन भोजन में रहे हुए प्रथिन (Protein) पर प्रथिन विभाजक मण्ड और लवणाम्ल से क्रिया होती है। जिससे वह पचनयोग्य बन जाता है।

३—दधिकरण, यह क्रिया रेनिन (Rennin) द्रव्य द्वारा होती है। दूध में रहे हुए केजिनोजेन में रेनिन मिल जाने पर केभीन हो जाता है। फिर केभीन का पचन प्रथिन विभाजक मण्ड और लवणाम्ल की क्रिया से होता है।

४—इक्षु शर्करा का परिवर्तन (Inversion) लवणाम्ल मिल जाने पर इस शक्कर मे से द्राक्षशर्करा और फलशर्करा में परिवर्तन होता है। यद्यपि आमाशय में इस लवणाम्ल की क्रिया श्वेतसार पर कुछ भी प्रतीत नही होती। तथापि लवणाम्ल मिश्रित श्वेतसार अन्त्र मे जानेपर शर्करा में परिवर्तित हो जाता है।

५—वसावेष्टन दूरीकरण—भोजन में अवस्थित घृत, तैल आदि के वसाघटकों के चारो ओर एक प्रकार की प्रथिन का आवरण रहता है, वह पचन होकर वसा मुक्त होती है। फिर शारीरिक उष्णता द्वारा द्रव रूप हो जाती है। फिर अन्त्र में जानेपर उसपर अन्य पचन क्रिया होती है।

६—रक्ताणुसर्जन—आमाशय रस में रहे हुए आभ्यन्तरिक प्रतिनिधि अंश (Intrinsic factor) और भोजन में रहे हुए बाह्य प्रतिनिधि अंश (Extrinsic factor), इन दोनो के सयोग से रक्तोत्पादक द्रव्य (Blood for-ming matter) बनता है। फिर परिपक्व होकर रक्ताणु बनता है। (रक्तोत्पादक द्रव्य का संग्रह यकृत् में होता है।)

७—श्लेष्मकला का रक्षण, आहार द्रव्य में से श्लेष्मा की पतली तह आमाशय की श्लैष्मिककला को लग जाती है। जिससे वह दृढ़ बनती है।

आमाशय में से अर्द्ध पाचित अन्न रस (Chyme) अन्त्र में ढकेला जाता है। उसका विश्लेषण करनेपर निम्न ५ प्रकार के द्रव्य मिलते हैं:—

१—लाला, अर्द्धपाचित श्वेतसार, धान्यशर्करा, द्राक्षशर्करा, फलशर्करा।

२—आमाशय रस, अर्द्धपाचित प्रथिन तथा प्रथिन पेप्टोन तक के अणु।

३—अपाचित किन्तु सूक्ष्म कणरूप वसाद्रव्य।
४—अपचनीय द्रव्य—काष्ठौज आदि।

अ. इवाल्ड का परीक्ष्य आहार।

(The Ewald test meal)

इवाल्ड एक जर्मन चिकित्सक हुए हैं। इन्होने आहार की परीक्षाविधि बतलाई है। परीक्ष्य आहार उसे कहते हैं, जो पचनशक्ति की परीक्षा करने के लिये रोगी को खिलाया जाता है।

प्रथम परीक्षा विधि, जिसमें प्रातःकाल रिक्त आमाशय में से प्राप्त किये हुए द्रव्य के परीक्षण और विश्लेषण किये जाते हैं। वे ऊपर दर्शा दी हैं। इसके पश्चात् प्रातःकाल रोगी को हल्का नास्ता (प्रातराश) दिया जाता है; और उसके एक घण्टे बाद आमाशय द्रव्य को बाहर निकालकर परीक्षा की जाती है।

आमाशय द्रव्य बाहर निकालने की विधि—रोगी को सीधा वाटर-प्रुफ का कपड़ा रक्खी हुई कुर्सी पर बैठावे, उसके पैर और सामने का हिस्सा बरसाती से ढक दे; उसके पैर एक दूसरे से दूर रक्खे ताकि बरसाती पर गिरने वाला द्रव्य बहकर दोनो पैरो के मध्य मे रक्खे हुए पात्र मे जा पड़े। इसके पश्चात् आमाशयिक नलिका प्रवेश करावें। आमाशयिक नली सावधानी से धीरे-धीरे चलानी चाहिए। मुँह मे गले के पास चलाकर रोगी को उसे निगलने को कहे और स्वयं धीरे नली को धकेलें। उसे श्वास लेने का बीच-बीच में समय देवे और प्रत्येक निगलाव के पूर्व लम्बा श्वास लेने को कहें। ओष्ठ से आमाशय के ऊर्ध्वांश तक १६ इंच होता है। नली १८ इंच तक चलावे। छोटे बच्चों मे १० इंच नली डाले।

जब नली आमाशय मे पहुँच जाय तब रोगी को कासने या वमन करने के लिये कहें, ठीक उसी समय नलिका का अन्तिम भाग बाहर की तरफ नीचे झुका दिया जाता है। आमाशयिक-नलिका के मुँह का सम्बन्ध पहले से ही काँच नलिका से कर लेना चाहिये, ताकि उपर्युक्त क्रिया से आमाशयिक द्रव्य का नमूना उसमे से साफ वर्तन मे ग्रहण किया जा सके। इसमें कठिनाई उपस्थित होने पर सेनोरन का आमाशयिक रस आकर्षक यन्त्र (Senoran's Stomach aspirator) की सहायता लेना चाहिये; जिससे आसानी से आमाशय मे से आहार निकाला जा सकता है।

इस प्रकार आमाशयिक द्रव्य प्राप्त करके काँच की लम्बी बोतल

(Tall jar) में स्थिर होने के लिये उसे रख देवें। फिर उसकी परीक्षा आरम्भ करें। अगर आवश्यकता हो तो उसे जान्तविक कोयलो के चूर्ण से मिश्रित करके विवर्ण किया जा सकता है।

इस प्रकार से प्राप्त द्रव्य में निम्न तीन बातो की परीक्षा की जाती है:—

(१) भौतिक गुण। (भौतिक परीक्षा)
(२) अम्लता। (रासायनिक परीक्षा)
(३) अणुवीक्षणीय गुण। (अणुवीक्षणिक परीक्षा)

(१) भौतिक गुण—अगर इस प्रकार प्राप्त किये हुए आहार द्रव्य में तरल कम मात्रा में और अपूर्णता से मिला हुआ भोजन हो तो आमाशयिक रस के स्राव मे न्यूनता या आमाशयिक गति में अधिकता समझनी चाहिए। अगर तरल की अधिकता हो तो रसस्राव बढ़ा हुआ या गति ह्रास या ये दोनो समझना चाहिए। जब उसमे हरा वर्ण युक्त ज्यादा तरल हो और बर्तन के तल मे श्वेत सारीय द्रव्य जम गया हो तो रसस्राव की अधिकता समझनी चाहिए। तरल के ऊपर झाग होने एवं किण्वमय दुर्गन्ध आने पर आमाशय मे पक्वाशयिक द्वार के सकोच के कारण सडन उत्पन्न हुई समझें। तीक्ष्ण, खट्टी, दुर्गन्ध ऐंद्रिक अम्लो (Organic acids) की विद्यमानता दर्शाती है। अगर द्रव्य चिकना और गाढ़ा है और छनता देर से है तो श्लेष्मा की विद्यमानता समझें। (यह आमाशयिक प्रदाह मे होता है)

इसके पश्चात् उसको दोहरे फिल्टर-पेपर से छानना चाहिये और छने हुए तरल की निम्न परीक्षा करनी चाहिए।

(२) अम्लता—(अ) क्या द्रव्य अम्ल है? इस बात की परीक्षा लाल और नीले लिटमास (Litmus) कागज से की जाती है। इसकी प्रतिक्रिया अम्लीय होने पर उसमे नीला कागज डालनेसे लाल होजाता है।

(आ) क्या मुक्त लवणाम्ल विद्यमान है? इसकी विद्यमानता कोंगो रक्तपत्र (Congo rid paper) से की जाती है। (इसके बनाने की विधि परिशिष्ट न० ८ में लिखी जायगी) उस तरलमे इसे डुबाने से कागज नीला होजाता है। अम्ल के परिमाण का कुछ अंश तक ज्ञान कागज के उत्पन्न रंगकी गहराई से किया जा सकता है। आमाशयिक रसकी प्राकृतिक अवस्था में यह कागज आसमानी (Sky blue) रंगका होजाता है।

जिएट्ज़्बुर्ग की परीक्षा (Giinzburg's test) मुक्त आमाशयिक द्रवके १० बूँद चीनी मिट्टी के कैपसूल में डाले। उसमें १० बूँद ही फ्लोरोग्लूसीन और वनीलीन (Phloroglucin and vanillin) का घोल मिलावे (इसके बनाने की विधि परिशिष्ठ नं० ५ में दी है)। यह घोल प्रयोग करने के कुछ समय पूर्व ही बनवाना चाहिए। इसके पश्चात् उसे धीरे-धीरे गरम करे और जल न जायँ इसका पूर्ण ख्याल रक्खे। जब द्रव लगभग सूख जाय और उसकी सब वाष्प दूर हो जाय, तब परीक्षा करे। अगर आमाशयिक रस में मुक्त लवणाम्ल विद्यमान है तो शुष्क किये हुए द्रव के चारो तरफ गुलाबी रंग उत्पन्न हो जायगा ; अन्यथा पिंगलाभरक्त (Brownish red) या पिंगल हो जायगा।

इसकी परीक्षा सिर्फ कुछ वनीलीन (Veniilin) और रेजोर्सिन(Resorcin) के कुछ कण छने हुए द्रव की एक बूँद मे मिला गरम कर वाष्प उड़ाने से भी की जा सकती है। इस प्रकार की क्रिया करने से मुक्त लवणाम्ल की विद्यमानता होने पर ही उसमें प्रतिक्रिया होती है। मिश्रित लवणाम्ल और ऐंद्रिक अम्लो का इस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

इसी प्रकार वोअसका रेजोर्सिन रिएजेंट भी प्रयुक्त किया जा सकता है। (इसके बनाने की विधि परिशिष्ठ ६ में दी है) इसमें बैजनी आभावाला रंग प्रतीत होता है। इस विधि से बहुत कम ज्ञान प्राप्त होता है परन्तु उपर्युक्त जिएट्ज़्बुर्ग की विधि से इसमे कम खर्च होता है।

(ग) क्या ऐंद्रिक अम्ल आमाशयिक रस मे उपस्थित है ? जब उपर्युक्त परीक्षा से लवणाम्ल की अनुपस्थिति प्रतीत हो जाय, तब ही इसके लिये परीक्षा करनी चाहिए। अगर आमाशयिक रस मे किसी प्रकार की जमी हुई वस्तु होने से उसमें स्थिरता हो तो भी इसके लिये परीक्षा करनी चाहिए। यह विषय सजीव रसायन विद्या (Biochemistry) का है। अतः उन ग्रन्थों मे देख लेना चाहिए।

अम्लता की परिमाण-परीक्षा—इसके लिये १० सी० सी० छने हुए आमाशयिक द्रव्य को एक बीकर (Beaker) मे ले। उसमे कुछ बूँदे "टोफर्स के प्रतिकारक (Toppers' Reagent)" की डाले। और उसमे सावधानी से कास्टिक सोडा का दशांश साधारण विलियन (Decinormal caustic Soda Solution) उस समय तक डाले जब तक कि उसका गुलाबी रंग उड़ न जाय। जिस अंक पर यह रंग अदृश्य हो उसको बीकर पर

पढ़ कर नोट कर लें, इसे प्रथम अंक कहते हैं। अब पुनः इसमें फेनोल्फ्थेलीन (Phenolphthalein) का मद्यसारीय विलयन की कुछ बूंदें डालें और पूर्ववत् सोडा का विलयन उस समय तक डालें कि गुलाबी रंग का अन्तिम चिह्न स्पष्टतया प्रकट हो जाय। रंग के अन्तिम चिह्न के प्रगट होने की प्रतीति अगर बीकर को सफेद तल के विरुद्ध रखकर, देखा जाय, तो आसानी से हो जाती है। अन्त मे बीकर के अंक पढ़लें। इनको द्वितीय अंक (Second reading) कहते हैं। इस प्रकार प्राप्त प्रथम अंक "मुक्त अम्लता" को प्रदर्शित करते हैं; और द्वितीय अंक "सम्पूर्ण अम्लता" (Total) और "मिश्रित अम्लता" (Combined) दोनों को। सम्पूर्णअम्लता की प्रतीति तो विलय-मापन (Titration) क्रिया के आरम्भ से जितने घन सेण्टीमीटर मिलाया गया है, उससे होती है। और मिश्रित अम्लता की प्रतीति द्रव के उस परिमाण द्वारा, जोकि प्रथम अंक पढ़ लेने के पश्चात् मिलाया गया है। "मिश्रित" शब्द से यहाँ प्रथिनों (प्रोटीनों), मण्ड (Enzemes); या खनिज पदार्थ, इनमें से किसी के साथ अम्लीय लवणों के रूप में मिश्रित रहने वाले सम्पूर्ण अम्ल अभिप्रेत हैं। द्वितीय अंक द्वारा इसमें उपस्थित मुक्त ऐन्द्रिक-अम्लों का परिमाण भी प्रतीत हो जायगा। अगर आमाशयिक-द्रव मे मुक्त लवणाम्ल अनुपस्थित हो तो इसकी न्यूनोत्पत्ति (deficit) निम्नविधि द्वारा प्रतीत की जा सकती है।

$\frac{\text{नत्रजन}}{१०}$ लवणाम्ल ($\frac{N}{10}$ H C L) छने हुए १० सी० सी० आमाशयिक द्रव में उस समय तक डाला जाता है, जब तक कि उसमें लवणाम्ल मुक्त न हो जायँ। इसके पश्चात् फैनोलथैलीन मिलाकर $\frac{\text{नत्रजन}}{१०}$ सोडियम हाइड्रोक्साइड ($\frac{N}{10}$ No OH) द्वारा अम्लता निश्चित की जाती है। इस अवस्था में सम्पूर्ण अम्लता क्षार (Alkali) के उन घन सेण्टीमीटर की संख्या के बराबर होती है, जो प्रयुक्त क्षार के घनमीटरों में से $\frac{\text{नत्रजन}}{१०}$ अम्ल के घन सेण्टीमीटर, जो कि पूर्व ही से मिला दिये गये हैं, उसे बाकी निकाल देने पर शेष रह जाते हैं।

परिणाम साधक विधि—इस विलय मापन-क्रिया द्वारा प्राप्त परिणाम की सिद्धि निम्न दो विधियो में से किसी एक द्वारा प्राप्त की जा सकती है—

(१) प्रत्यक्ष—इसमें १०० सी०सी० आमाशयिक द्रव्य को उदासीन करने के लिये जितने घन सेण्टीमीटर $\frac{\text{नत्रजन}}{१०}$ सोडियम हाइड्रोक्साइड की आवश्यकता पड़ती है। उस पर से परिणाम निकाले जाते हैं। जैसे—अगर १० सी० सी० आमाशयिक द्रव्य को उदासीन करने के लिये ५ सी० सी० $\frac{\text{नत्रजन}}{१०}$ सोडियम हाइड्रोक्साइड की आवश्यकता हुई है, तो १०० सी० सी० आमाशयिक द्रव्य को उदासीन करने के लिये ५० सी० सी० सोडा चाहिए; अर्थात् सम्पूर्ण अम्लता ५० हुई। अगर इस ५ सी० सी० सोडा में से ३ सी० सी० मुक्त अम्ल को उदासीन करने के लिये व्यय हुआ और २ सी० सी० मिश्रित अम्ल को, तो मुक्त अम्ल ३० और मिश्रित अम्ल २० हुआ। स्वस्थावस्था मे इसकी अम्लता भिन्न भिन्न ४० से ७० तक देखी गई है।

(२) परोक्ष—इसमे लवणाम्ल की परिभाषा में परिणाम प्राप्त किया जाता है। यह प्रयोग सिद्ध है कि २·६५ ग्राम लवणाम्ल को उदासीन करने के लिये १ लीटर सोडा का दशाश साधारण विलयन आवश्यकीय है। इसलिए अगर १०० सी० सी० आमाशयिक द्रव को उदासीन करने के लिये ५० सी० सी० सोडा की जरूरत पडी है, तो १०० सी० सी० आमाशयिक द्रव की अम्लता ०.१८ ग्राम लवणाम्ल के बराबर हुई; अर्थात यो कहा जा सकता है कि अम्लता ०·१८ प्रतिशत है। स्वस्थावस्था मे लवणाम्ल की परिभाषा में आमाशयिक द्रव की अम्लता लगभग ०·२ प्रतिशत होती है। परीक्षक को इस बात की गणना करने की भी आवश्यकता नही रहती, क्योकि उसे यह मालूम है कि परीक्षा के लिये १० सी० सी० आमाशयिक द्रव लिया गया है और विलय मापन क्रिया के लिये दशाश साधारण सोडा का विलयन प्रयुक्त किया गया है। इसलिए प्रयुक्त किये गये सोडा की सी०सी० × ०३६५ = लवणाम्ल प्रति १००० भाग में। इसके साथ ही लवणाम्ल की प्रतिशत मात्रा प्रतीत करने के लिये परीक्षक को सिर्फ दशाश (decimal) का चिह्न एक अङ्क पीछे हटा देना पडता है। उदाहरणार्थ १० सी० सी० सोडा का दशाश साधारण विलयन १० सी० सी० आमाशयिक द्रव को उदासीन करने के लिये प्रयुक्त हुआ है तो विद्यमान लवणाम्ल परिमाण ३६५ सहस्र अर्थात् ०·३६५ प्रतिशत हुआ।

अणुवीक्षण यन्त्र (Microscope)—अणुवीक्षण यन्त्र के गुण-धर्म का विवेचन करने के पहले अणुवीक्षण यन्त्र के अवयव, उसके उपयोग

की विधि कीटाणु सृष्टि का वर्णन कर देना उपयुक्त मालूम पड़ता है। अणुवीक्षण यन्त्र की रचना अनेक प्रकार की हो गई है। इनमें से जो अधिक प्रचलित है जिसे मिश्र अणुवीक्षण यन्त्र (Compound Microscope) कहते हैं। उसके अंग यहाँ दर्शाते हैं। चित्र नं० ५६ देखें।

यन्त्र के अवयव—इस यन्त्र के भीतर निम्न मुख्य ८ अवयव होते हैं।

१—नेत्र भाग (Eye piece)—यन्त्र में वह सबके ऊपर प्रतीत होता है यह एक नलिका है। इसके ऊपर के सिरे पर काँच लगा रहता है, उसे चक्षुताल संज्ञा दी है।

२—नासा भाग (Nose piece)—यह नेत्र भाग नलिका के नीचे लगा रहता है। इसमें न्यूनाधिक बल वाले बृहदाकृतिदर्शक ३ काँच लगे रहते है। इन काँचो को गोलाई में घुमाकर नाली के छिद्र के सामने इच्छा-नुसार काँच लाया जा सकता है।

३-४—आधार भाग और पक्षभाग (Rack and pinion)—इनमें तीन नंबर वाला भाग अणुवीक्षण काँच को आधार देता है तथा नं० ४ नेत्र भाग की नलिका को अधिक परिमाण में नीचे ऊपर करता है।

५—पेच (वलय कीलक; Graduated Head)—यह पेच नेत्र भाग को बहुत कम अंश में नीचे ऊपर करता है।

६—मंच (Stage)—इसके मध्य में एक छिद्र होता है उस पर काँच पट्टी रखकर दोनो ओर कमानी दबा दी जाती है।

७—प्रकाश प्रद दर्पण (Illuminating mirror) इस दर्पण के आधार से प्रकाश का प्रतिबिंब मंच के निम्न भाग में प्रवेश करता है। इस दर्पण को इधर-उधर इच्छानुसार फिरा सकते हैं।

८—प्रकाश संग्राहक अवयव (Condenser) यह मंच के नीचे लगा रहता है। इसको फिराने पर छिद्र छोटा बड़ा होता है, जिससे न्यूना-धिक प्रकाश प्रवेश करके काच पट्टी पर गिरता है।

इस यन्त्र में २ या ३ सूक्ष्म दर्शक काच रहते हैं। ये काच ५० से १०५० गुनी बड़ी आकृति दर्शाते हैं।

उपयोग—कीटाणुओं की परीक्षा करनी हो, तब परीक्ष्य वस्तु को विविध रंगो की सहायता से रंगी जाती है? कितनेक कीटाणु ग्राम के रंग से रंजित होते हैं; और कितनेक नहीं। उनके लिये अन्य प्रकार से रंजित किया जाता है। अतः शास्त्र मर्यादा अनुसार ही रंग लगाया जाता है।

कीटाणु परीक्षा न करनी हो तो परीक्ष्य द्रव्य को काचपट्टिका पर रख कर बिना रंगे ही देखा जाता है। इस काचपट्टिका को मंच पर उसके छिद्र के मध्य में रख कर दोनों ओर की कमानियों से दबा दिया जाता है, जिससे वह कॉच पट्टी स्थिर हो जाती है। अणुवीक्षण यंत्र को जिधर प्रकाश आ रहा हो उधर रख कर उसके पीछे परीक्षक को खड़ा हो कर या बैठ कर परीक्षा करनी चाहिये। काचपट्टिका स्थिर कर देने के पश्चात् परीक्षक चक्षु-ताल में से एक आंख से देखे और अपने दोनों हाथ दोनों ओर के आधार भाग और पेच पर रक्खें। पूर्व से ही जितनी गुणा बड़ी करके वस्तु को देखनी हो उतनी गुणा प्रगट करने वाले बृहदाकृति दर्शक काच को घुमा कर नली के मुख के समाने ले आना चाहिए। इसके पश्चात् नं० ४ को घुमा कर नाली को ऊपर नीचे करें और जहाँ से स्पष्ट दिखलाई दे वहाँ ही उसे स्थिर रहने दें; यदि कुछ अन्तर नलिका और मंच के मध्य में रहता हो तथा धीरे धीरे बढ़ाना या घटाना हो तो पेच नं० ५ से काम लेना चाहिये। नीचे के दर्पण को भी इधर उधर, नीचे ऊपर नतोदर, उन्नतोदर करके ऐसी स्थिति में स्थिर कर दें, जिसमें कि सब से अधिक रोशनी मंच के छिद्र में से होकर कॉच-पट्टिका पर गिरती है, इससे कॉचपट्टिका पर रक्खी हुई वस्तु की परीक्षा हो जाती है।

कॉचपट्टिका किस प्रकार तैयार की जाती है? इसके लिये अलग अलग परीक्षाओं के लिये पृथक् पृथक् विधि है, जिनका यथा स्थान वर्णन किया जायगा।

आमाशयिक रसकी साधारण तौर से कॉचपट्टिका बनायी जाती है और उसको हल्के "नील लोहित अर्थात् जेन्शन वायोलेट" (Gention violet) से रंगा जाता है। इसमें शाक तंतु, मांस तंतु, कभी कभी ल्यूसीन (Lucin), टाइरोसीन (Tyrosin) किण्व (Yeast), आमाशय कर्क स्फोट में से मिलनेवाले दुग्ध कीटाणु (Oppler Boas bacilli) तथा विविध जाति के अष्टक कीटाणु (Sarcinae) साधारणतया देखे जाते हैं। श्लैष्मिक कला के सेल केन्सर में बहुत बढ़ जाते हैं। सारसीन (Sarcinae) और यीस्ट (Yeasts) की उपस्थिति पक्वाशय द्वार के संकोच एवं साधारण अर्बुद की साक्षी देती है।

कीटाणु सृष्टि।

अणुवीक्षण यन्त्रसे अनुसंधान करने पर अनेक प्रकार के कीटाणुओं का पता चला है। इन कीटाणुओं में से अनेक रोगोत्पादक सिद्ध हुए हैं।

यद्यपि १६८७ ई० में ही इन कीटाणुओ का पता लग गया था, तथापि १६वीं शताब्दी पर्यन्त इनका सम्बन्ध किसी रोगसे सिद्ध नहीं हुआ था। इन कीटाणुओं में मुख्य दो जाति हैं।

१—उद्भिद कीटाणु—(Bacteria) और २—प्राणिकीटाणु (Protozoa) पुनः इनकी निम्नानुसार उपजातियोंका परिचय मिला है।

उद्भिद कीटाणु—आकृतिभेद से इसके मुख्य ३ विभाग हैं।

१—सरलकृति—Bacillus ये छड़ी सदृश हैं। इनमें सैकड़ो उपजाति हैं।

२—अण्डाकृति—Coccus इनमें मुख्य ५ प्रकार हैं।

A. युग्मक—Diplococcus दो-दो साथमें रहने वाले।

B. जंजीराकृति—Streptococcus एक पीछे एक इस तरह अनेक चिपककर रहनेवाले।

C. चतुष्क '×' आकार—Tetragenous-४-४ साथ में रहनेवाले।

D. अष्टक—Sarcinal-८-८ साथमें रहनेवाले।

E. समूह बद्ध रहनेवाले—Staphylococcus अनेक अंगूरके गुच्छ सदृश मिलकर रहनेवाले। ये पूयोत्पादक हैं।

इनकोकस जाति में बृहद् और लघुभेद से २ प्रकार। बृहद् जाति समूह (Macro-Coccus) और लघुजाति समूह (Micro coccus) किये हैं।

३—स्पिरिलाय (Spirillae)—ये कीटाणु कुछ मुडे हुए आकार के होते हैं। इस जाति के कितनेक प्रकारो के कीटाणुओं की लम्बाई अधिक प्रतीत हुई है। विसूचिका के कीटाणु जो ',, आकार के हैं, वे इस उपजाति के हैं।

उक्त उद्भिद कीटाणुओ के अतिरिक्त कनिष्ट उद्भिद कीटाणु छत्रक (फंगी) जाति हैं। जिनमें परान्नभोजी सूक्ष्म कीटाणु मोल्ड्स (Moulds) हैं। जो चर्मरोये और प्रत्येक पोषणकारक पदार्थों पर उत्पन्न होजाते हैं। इनके झुंड वातावरण में सर्वत्र विचरते रहते हैं। इन कीटाणुओ से दद्रुआदि रोग हो जाते हैं। इस छत्रकों की दूसरी जाति किण्व (Yeast) है। ये शराब आदि में उत्पन्न होते हैं। इस छत्रक जातिका अन्तर्भाव उद्भिद और जन्तुसृष्टि, इन दोनो के मध्यवर्ती सीमा निर्णायक माइक्रो फाइटा (Microphyta) में होता है।

२—प्राणि कीटाणु—ये सब कीटाणु एक घटक युक्त होते हैं। इनमें मुख्य ४ विभाग हैं।

(१) कृत्रिममूलमय—(Sarcodina) यह मास सदृश वर्ग है। प्राणिकोटि में इसे कनिष्ट माना है। यह जाति एमिबिक प्रवाहिकामें प्रतीत होती है।

(२) चाबुक सदृश—(Mastegophora) १ से ४ उपाङ्गयुक्त। यह जाति अफ्रीकन निद्रा रोगमें प्रतीत होती है।

(३) रोममय(Infusoria) वायुमें खुले रहे हुए फाण्टो में यह जाति प्रतीत होती है। यह प्रवाहिका के मलमें दृष्टिगोचर होते हैं।

(४) संचलन अवयवहीन—(Sporzoa) इसमें कोकीडियम और प्लाज्मोडियम, ये दो भेद हैं। मलेरिया मे ये प्लाज मेण्डियम प्रकार रक्ताणुओं के भीतर मिलते हैं। कोकीडियम में भी दो उपजाति मलेरिया उत्पादक हैं।

उक्त प्राणिवर्गके अतिरिक्त एक अन्य अवयव विशिष्ट जन्तु जाति आर्थ्रोपोडा (Arthropoda) है। उसमें परान्नभोजी रिकेट्सिया (Rickettsia) नामक उपजाति है। उसमें भी विविध आकार वाली उपजातियां हैं। प्रलापक ज्वर, ट्रेंच ज्वर आदिका संक्रमण इस जाति द्वारा होता है।

माइक्रोकोकस आदि जातियोंके कीटाणु, जो अति सूक्ष्म होते हैं। वे सामान्य अणुवीक्षण से नही दीखते। फिल्टरपेपर से छन जाते हैं। ऐसी कल्पना होती है कि इनमें से कितनेक मसूरिका, रोमान्तिका, नृत्यवात, आमवातिक ज्वर, वात श्लैष्मिक ज्वर आदि के उत्पादक हैं।

परीक्ष्य-आहार की व्यख्या—अगर परीक्ष्य-आहार स्वस्थ मनुष्य को खिलाया जाय और एक घण्टे पश्चात् उसे बाहर निकाला जाय तो ज्ञात होगा कि, २० से ४० सी०सी० ⊙ तक तरल प्राप्त किया जासकता है। यह पारदर्शक, सुखा घास के रंग का होता है। इसमें अम्लता ०.२ प्रतिशत होती है (इवॉल्डके परीक्ष्य आहार के परीक्षण अनुसार ४०–७०) तथा मुक्त हाइड्रोक्लोरिक अम्ल होता है।

आमाशयकी कुछ विकृतियों में अम्लता का परिमाण बढ़ जाता है जैसाकि—अम्लपित्त मे। कभी हाइड्रोक्लोरिक अम्ल मुक्त रूपसे अनुपस्थित होता है। जैसाकि आमाशयिक प्रदाह में इसके अतिरिक्त हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की अनुपस्थिति आमाशयिक कर्कस्फोट अर्बुदका निदान करनेके लिये एक अमूल्य चिह्न है। घातक कामला होने पर आमाशय के रसमे लवणाम्ल, पेप्सिन और रेनीन आदि द्रव्यो का भी अभाव (Achylia) प्रतीत होता है।

आ० अंशभग्न-परीक्षा हार (The Fractional test meal) इवोल्ड की विधि के अतिरिक्त इस विधि से आमाशय के विषय में शेष महत्त्व पूर्ण सूचानाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। इस विधि को सरलता पूर्वक प्रयुक्त

किया जा सकता है, तथा तीन घण्टे लगने पर भी रोगी नहीं घबराता और नहीं श्रमित होता है।

आवश्यक यन्त्रादि साधन—इस परीक्षा के लिए तीन साधनो की आवश्यकता है—१–तंग छिद्रयुक्त आमाशयिक नलिका ; २–२० सी० सी० की रेकर्ड सीरिञ्ज , ३–१२ नम्बर लगी हुई परीक्षण नलिकाएँ (कॉच की बनी हुई Test Tubes)।

सबसे उपयोगी आमाशयिक-नलिका राइले (Ryle) है ; जो राइले नामक वैज्ञानिक ने आविष्कृत की है ; और इङ्गलैण्ड की डाउन ब्रादर्स नामक कम्पनी से प्राप्त की जा सकती है। यह पहले रबर की बनी हुई है। जिसकी वाह्य परिधि ८ मि० मी० के लगभग होती है। इस पर ४० से० मी० की लम्बाई पर एक अनुप्रस्थ रेखा रहती है जो ओष्ठ से आमाशय के हार्दिक द्वार की दूरी बतलाती है, एवं ५७ से० मी० पर तीन अनुप्रस्थ रेखाएँ रहती है जो कि पक्वाशयिक द्वार की दूरी बतलाती है। चित्र नं० ५७ देखें।

सूचना—इस नलिका का अग्र सिरा गेंद के समान फूला रहता है और वह धातु से वजनदार किया हुआ होता है। इसके सिरे से २ से० मी० दूरी पर अनेक छोटे छोटे छिद्र बने रहते हैं जिनकी परिधि २ मि० मी० होती है। आमाशय रिक्त होने पर उस पर जोरदार दबाव डाला जाता है, परन्तु इन छिद्रो के लचकदार किनारो के कारण आमाशय की श्लैष्मिक कला को हानि पहुँचाने का कोई भय नहीं रहता है।

परीक्षा आरम्भ करने से पूर्व सध्या को ही रोगी की औषधि वगैरह सब बन्द कर देना चाहिए ; एवं सध्या का भोजन तरल और हल्का ही देवे ताकि मध्य रात्रि तक उसका पचन होकर रोगी बुभुक्षित हो जाय। प्रातःकाल उसे २॥ तोले जौ के आटे को १०० तोले पानी मे मंदाग्नि पर उबालें। ५० तोले रहने पर उतार लें फिर बारीक कपडे से छानकर रख लें। इसके एक घण्टे पश्चात् आमाशयिक-नलिका को उबाल कर गरम पानी में रख लें रोगी को शय्या पर या हत्ते वाली कुर्सी पर बैठा दें और एक तौलिया उसकी छाती पर फैला दें। नलिका के अग्र सिरे को तेल वगैरह लगा कर स्निग्ध न करें, अपितु उसे रोगी की जिह्वा के पीछे के सिरे पर कंठ के पास रखकर, उसका मुख बन्द करवा करके गुटिका के समान निगलने को कहें। जब तक नलिका पर अंकित तीन अनुप्रस्थ रेखा अन्दर पहुँच कर पक्वाशयिक द्वार तक पहुँचने की सूचना न दे, तबतक रोगी को धीरे-धीरे नलिका निगलवाते

ही रहें। इसके साथ ही रोगी को सान्त्वना देनेवाले वाक्य बोलते जायँ। एवं नासिका से धीरे-धीरे श्वास क्रिया करने को कहते जायँ।

इस प्रकार नलिका अन्दर चला देने पर रिक्त आमाशय से आमाशयिक द्रव्य, लगभग १५ सी० सी० के, नमूने के तौर पर सिरिञ्ज से खेंच लेना चाहिए। कभी-कभी यह उपयोगी सिद्ध होता है कि आमाशय के अन्दर का पूरा पूरा द्रव्य निकाल कर नापा जाय। इस विधि मे किसी प्रकार के फनल (**Funnel**) की आवश्यकता नहीं पड़ती। और न रोगी को खाँसने के लिए कहा जाता है। आमाशयिक नलिका को उसी प्रकार आमाशय मे लगी रहने दें और उसे ५० तोला उपर्युक्त विधि से बनायी हुई निवायी पेया पिला दें। रोगी को पेया पीने मे किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती है। इसके पश्चात् प्रत्येक १५ मिनट के अन्तर पर आमाशय से १०-१५ सी० सी० सिरिञ्ज द्वारा तरल निकालते रहे। इस प्रकार तीन घण्टे तक प्रत्येक १५ मिनट के अन्तर पर १०–१५ सी० सी० तरल निकाल कर परीक्षा की जाती है; और सम्पूर्ण समय आमाशयिक नलिका उसी प्रकार लगी रहती है। रोगी का यह तीन घण्टो का समय आसानी से व्यतीत हो जाय इसके लिए उसका ध्यान वार्तालाप, पढ़ने या अन्य गौण कार्य की तरफ लगा करके दूसरी तरफ आकर्षित कराये रखना चाहिए। प्रत्येक समय आमाशयिक द्रव्य निकाल लेने के पश्चात् नलिका मे वायु प्रवेश करा दी जाती है, ताकि उसमे उपस्थित द्रव्य आमाशय मे वापिस चला जाय और नलिका रिक्त हो जाय। इसके पश्चात् उस नलिका का मुँह काँच की शलाका या डॉट लगा कर बन्द कर दिया जाता है; ताकि द्रव बाहर न टपके।

आमाशयिक नलिका मे अवरोध बहुत कम होता है। अगर कभी हो जाय, तो वायु का दबाव डालकर आसानी से दूर किया जा सकता है। अक्सर अधिक रोगियो मे १५–१५ मिनट के अन्तर पर १२ समय १५–१५ सी० सी० प्रत्येक समय तरल निकालने मे किसी प्रकार की कठिनाई नही होती। आमाशयिक रसस्राव की न्यूनता होने पर बहुत कठिनाई होती है, ऐसी अवस्था मे प्रत्येक समय १५–१५ सी० सी० के स्थान पर ३–३ सी०सी० ही द्रव्य निकाला जा सकता है। अगर द्रव्य का नमूना निकालने मे कठिनाई हो तो नलिका को कुछ सेण्टीमीटर बाहर खीच लेना चाहिए या और निगलवा देना चाहिए या रोगी को बाईं तरफ झुका देना चाहिए। तीन घण्टे पश्चात् आमाशयिक नलिका को धीरे-धीरे बाहर निकाल ले; एवं रोगी को कहे कि ज्योंही यह क्रुकाटक उपास्थि की सतह को पार करे वह निगलन क्रिया करले।

परीक्षणशाला (Laboratory) में सर्व प्रथम नेत्र से प्रत्येक नमूने के दृश्य गुण, परिमाण और तलछट एव ऊपरी तल के रंग को देखकर यादी कर लेनी चाहिए। प्रत्येक नमूने के परिमाण की कल्पना करें, एवं उसमे पित्त, रक्त और श्लेष्मा की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति प्रतीत करें। इसके पश्चात् प्रत्येक नमूने की मुक्त लवणाम्ल और सम्पूर्ण अम्लता का परिमाण जानने के लिए पूर्वोक्त विधि से परीक्षा करें। आमाशय कितने समय मे रिक्त हो जाता है इसका अन्दाजा करने के लिए प्रत्येक नमूने युक्त कॉच की परीक्षा-नलिका मे आयोडीन (Iodine) के घोल की कुछ बूंदें डालें क्योंकि इससे यदि उसका रंग गहरा नीला हो जाय तो उसमे श्वेतसार की विद्यमानता मानी जाती है। इसके पश्चात् मुक्त लवणाम्ल और मिश्रित-अम्ल का परिमाण आलेख्यपत्र बना कर अंकित करके यादी कर लेना चाहिए जैसा कि ५८ से ६२ नंबर की आकृतियो में अंकित है। इन पत्रकों में से प्रथम पत्रक में स्वस्थ बुभुक्षित आमाशयिक रस का सगठन अंकित किया गया है। आमाशय के रिक्त होने का समय, पित्त, रक्त और श्लेष्मा की विद्यमानता का परिचय गहरी काली क्षैतिज रेखाओ से अंकित करके दिया जाता है। चित्र नं० ५८ देखें।

जीर्ण पक्वाशयिक द्वार व्रण, जीर्ण आमाशयिक व्रण, आमाशयिक कर्कस्फोट और घातक पाण्डु मे लाक्षणिक परिणाम क्रमशः नंबर ५९ की आकृति से नंबर ६२ तक की आकृति मे अंकित किये गये हैं। प्रथम आकृति आमाशय की स्वस्थावस्था प्रदर्शित करती है। उपर्युक्त प्रत्येक अवस्था में आमाशयिक क्रिया मे उत्पन्न विकृति आसानी से एकदम प्रतीत की जा सकती है।

परीक्षा

इ. हिस्टैमीन परीक्ष्य-आहार—(Histamine Test Meal) जबसे सिद्ध हुआ है कि हिस्टैमिन नामक औषधि आमाशयिक स्रावकी उत्तेजक है, तभी से यह परीक्षा प्रचलित हुई है। इस परीक्षाके करने के लिये कोई निश्चित-विधि नही है, परन्तु बहुत सी बातो मे इसकी उपयुक्तता सिद्ध होजाने के कारण इसे अंशमग्न—परीक्ष्य—आहार मे सम्मिलित कर लेनी चाहिए।

विधिः—पूर्ववर्णित विधिके अनुसार ही रोगीकी परीक्षा के लिये प्रारम्भिक तैयारी करनी चाहिए और दूसरे दिन प्रातःकाल आमाशयिक नलिका आमाशयमे निगलवाकर रोगीको पेया पिलानी चाहिये। प्रथम एक

घण्टे तक उसी प्रकार आमाशयिक द्रव्य के १५-१५ मिनिट पश्चात् नमूने सिरिञ्जकी सहायता से बाहर निकाले। इस प्रकार प्राप्त किये हुए नमूनोंकी "कोन्गोलाल कागज (Congo-red-paper)" से परीक्षा करके मालूम करे कि उनमें मुक्त लवणाम्ल उपस्थित है या नहीं ? अगर लवणाम्ल विद्यमान न हो तो हिस्टेमीन-अम्ल-फास्फेट ०.७५ मि० ग्रामकी मात्रामें त्वचा के अन्दर अन्तःक्षेपण (Injection Sub-cutaneously) क्रिया द्वारा पहुँचादे, और फिर पूर्ववत् १५-१५ मिनिट के पश्चात् आमाशयिक द्रव्य का नमूना पेया पिलाने के तीन घण्टे बाद तक, निकालते रहे। इस प्रकार हिस्टेमीन का अन्तःक्षेपण कर देनेके पश्चात् प्राप्त किये हुए नमूनोंका परीक्षण भी पूर्ववर्णित विधि अनुसार ही करना चाहिए।

हिस्टेमीन के प्रयोगसे अक्सर रोगियोमें हृदय-स्पन्दन, त्वचाका फूलना व लाल होना और शिरदर्द उत्पन्न होजाता है , परन्तु ये लक्षण अस्थाई होते हैं।

हिस्टेमीन परीक्ष्य-आहारका महत्त्व आमाशयरसमे लवणाम्ल आदि द्रव्योका अभाव (Achylia) या सद्भाव को बिना किसी संशयके प्रकट करने की योग्यता में अवस्थिति है। हिस्टेमीन परीक्षा इसे इतना प्रकट कर कर देती है कि इसके पश्चात् उसमें बिल्कुल संदेह नही रहता। इसे केवल "इवाल्ड-परीक्षा" या केवल "अंशभग्न परीक्षा" से निश्चित तौर से प्रकट नहीं किया जा सकता। इसी हेतुसे फिर अनेक रोगियो में संदेह दूरकरनेके लिये "हिस्टेमीन परीक्षा" करनी ही पडती है। "अंशभग्न-परीक्षा" में पेया पिलानेके एक घण्टे पश्चात् तक प्राप्त किये हुए नमूनो "कोगोलाल कागज" से परीक्षा करने पर मुक्त लवणाम्ल की उपस्थिति सिद्ध हो जाय तो लवणाम्लादि के अभाव (Achylia) को अनुपस्थिति स्वाभाविकतया सिद्ध हो जाती है। क्योंकि लवणाम्ल की उपस्थिति होने पर यह अवस्था मानी ही नही जासकती है। अतएव लवणाम्ल की विद्यमानता सिद्ध होजाने पर इस परीक्षा का उपयोग बहुत कम रहता है।

९० आमाशय-दर्शक यंत्रसे परीक्षा।

Gastrascopy

स्कीन्डलर (Schindler) महाशय के नमनशील आमाशय दर्शक यंत्रके शोध के पश्चात् स्वस्थ और संप्राप्तिदर्शक आमाशयके ज्ञानमें अतिवृद्धि हुई है। यह आमाशय की अवस्था मालूम करने का एक पृथक् ही तरीका है।

जिसके लिए काफी अनुभवकी आवश्यकता होती है। इसलिये इसकी प्रयोग विधि का विस्तृत वर्णन करना यहाँ निरर्थक ज्ञात होना है।

प्रत्येक चिकित्सक को इस यंत्र के विषयमें इतना ज्ञान अवश्य प्राप्तकर लेना चाहिए कि इस यंत्र की सहायतासे अक्सर रोगियो का सम्पूर्ण आमाशय हार्दिक द्वार से लेकर पक्वाशयिक द्वार तक, आसानी से देखा जा सकता है। अन्त्र नालिका मे किसी प्रकार की विकृति न होने पर इस यंत्र का प्रयोग भय रहित होता है। रोगी को अधिक बाधा पहुंचाये विना ही उस पर स्थानिक समोहन (Local Anaesthesia) प्रयुक्त करके इस यन्त्र से संज्ञानाश किये विना ही आमाशय का दर्शन किया जा सकता है।

एक्सरे० की किरण से ज्ञात हुई आमाशय की सशंक आकृति का इस यन्त्र से आमाशय देखने पर स्वीकार या निराकरण हो जाता है, एवं इसके प्रयोग से "एक्सरे (X ray)* से दर्शित आमाशयिक व्रण की दुष्टता के विषय मे निश्चित राय जाहिर की जा सकती है। एक्सरे किरणो से आमाशयिक व्रण का रोपण पूर्णतया दर्शित कर देने पर भी आमाशय दर्शकयन्त्र से देखने पर अक्सर देखा गया है कि आमाशय के रोपण के स्थान पर अंकुर सदृश स्फीति उपस्थित है। आमाशय दर्शक यंत्र का विशेष महत्त्व इसलिए है कि इससे अमाशय प्रदाह के भिन्न भिन्न प्रकारो का निदान आसानी से किया जा सकता है, इसके साथ यह भी अच्छी तरह याद रखना चाहिए कि आमाशय प्रदाह का निश्चित निदान इस यन्त्र की सहायता विना कठिन ही नही, बल्कि असंभव है।

०रेडियम यह एक प्रकार का मूल्यवान धातु है। इसके एक मिलिग्राम के एक दशाश भाग का मूल्य लगभग दस हजार रुपया है। इसकी किरण का प्रभाव १८९९ ई० मे सर्व प्रथम ज्ञात हुआ है। इस धातु का अंश कुछ शिलाजीत मे पाया जाता है।

* इस किरण की उत्पत्ति के लिये १००० वाल्ट से अधिक अर्थात् प्रचण्ड तीव्रता की विद्युत शक्ति की आवश्यकता पडती है। इसका शोध ई० सन् १८९५ मे रजन (Rentgen) ने किया है। ये किरणे अनेक धातु के लिये पारदर्शक हैं। बेरियम प्लेलिलो साइनाइड पदार्थ पर ये किरण पडने पर उसे प्रकाशित करते है, तथा पीछे खडे हुए मनुष्य के अस्थि और घनभाग का चित्र दिखाता है। इसी गुण के कारण रोग निदान मे इसका महत्त्व है।

उ–वमन परीक्षा

वान्ति होने के हेतु-वान्ति के संबन्ध मे अन्य परिचय आदि रुग्ण परिचर्या के पृष्ठ १५६।१५७ में विस्तार पूर्वक समझाया है।

चाक्षुषी परीक्षा—इसके साधारण स्वरूप मे समयानुसार अनेक भेद पाये जाते है। एवं इस पर खाये हुए भोजन का गहरा प्रभाव पडता है। इसका परिमाण भी खाये हुए भोजन के समान ही होता है। परन्तु पक्वाशयिक द्वार-सकोच मे इसकी मात्रा बढ़ जाती है। एवं उसमे तीव्र अम्ल गन्ध आने लग जाती है, और उसे स्थिर रख देने पर उसके चौथाई भाग में गाद जम जाती है। यकृत् के पित्तयुक्त वमन पीली वा हरी होती है। मल वमन द्वारा निकलने पर भी वमन इसी प्रकार की मालूम पडती है, परन्तु उसमे मल की दुर्गन्ध भी होती है, एव उसकी क्षारीय मा उदासीन (Alkaline or Neutral) प्रतिक्रिया होने से उससे प्रभेद किया जा सकता है। वमन मे श्लेष्मा उपस्थित होने पर उसमे लेसदार तलछट होता है। रक्तमय वमन मे उसकी आकृति पृथक् ही प्रकार की भासती है। अगर रक्तस्राव की प्रचुरता हो तो वमन मे रक्त स्पष्टतया दिखलाई देता है। एवं उसमे रक्त-थक्का (Blood clot) भी दिखाई दे सकते हैं। इस प्रकार का रक्तस्राव, आमाशयिक व्रण से, या प्रतिहारिणी सिरा मे अवरोध होने पर तथा अन्त्र प्रणाली की शिरा-विस्तृत होने पर हो सकता है। अक्सर आमाशय मे स्रवित रक्त का रग आमाशयिक रस के संयोग के कारण परिवर्तित हो जाता है, तथा यह काला-सा या गहरा भूरा हो सकता है। आमाशयिक रस के संयोग के कारण रक्त-रंजक (Haemoglobin) का परिवर्तन हैमाटिन (Haematin) मे हो जाता है; इसी से वमन का रग पिसी हुई काफी (Coffee ground) के समान या खरगोश के सोरवा के समान हो जाता है। चिकित्सक को यह बात भी स्मरण रखना चाहिए कि, रोगी अगर लोह के प्रयोग सेवन कर रहा है या उसने लाल रंग का शराब पिया है तो इन अवस्थाओं से भी वमन का रंग रक्तयुक्त वमन के समान हो जाता है। गहरे हरे रंग का पित्त वमन मे विद्यमान होने पर भी उसका रंग आमाशय के रक्तस्राव का भ्रम पैदा कर सकता है। वमन द्रव में यदि गहरे हरे रंग का यकृत् पित्त विद्यमान होने पर रक्त मिश्रित वमन के सदृश भासती है, ऐसा सन्देह हो तो इसे पानी मे घोलने से सन्देह दूर हो जाता है क्योकि वमन को पानी मे घोलने पर पित्त के कारण हरा रंग होने पर वह स्पष्ट हो जाता है, जब कि रक्त के कारण उत्पन्न रग उसी प्रकार गहरा बना रहता है।

रासायनिक परीक्षा—वमन को बारीक कपड़े से छानना चाहिए और फिर छने हुए तरल की परीक्षा करनी चाहिए। अगर आवश्यकता समझी जाय तो पूर्व वर्णित आमाशयिक रस की विधि के अनुसार भी इस तरल की चाक्षुषी-परीक्षा की जा सकती है।

यकृत् पित्त की परीक्षा—पित्त की उपस्थिति या अनुपस्थिति ज्ञात करने के लिए मैलिन की परीक्षा (Gmelines test) की जाती है। इसके लिए शुंडाकार-पात्र (Conical glass) में कुछ तरल लें, उसमें पीले शोरे के तेजाब (Yellow Nitric acid)* की कुछ बूँद डाले ताकि उसके पैंदे पर एक सतह उत्पन्न हो जाय। पित्त की उपस्थिति मे इस अम्ल की सतह पर सबसे ऊपर पित्ताभ-रक्त रंग का एक छल्ला सा उत्पन्न हो जायगा, जो पित्त की उपस्थिति का निश्चित प्रतीक है।

रक्तकी परीक्षा—इसके लिए वमन के भूरे रंगका कुछ तलघट काच शलाका की सहायता से चीनी मिट्टीके कैपसूल पर रक्खे, और उसमें "पोटासियम क्लोरेट" का कुछ चूर्ण एवं कुछ बूंदे तेज लवणाम्ल की मिलावे। इसे सब मिलकर एक रस होजाय तब तक गरम करे। इसके पश्चात् उसे ठंडा होने दे। जब ठंडा होजाय उसमे "पोटासियम-फेरोसानाइड (Potassium Ferrocyanide) के घोलकी कुछ बूँदे डाले। अगर उसमे रक्त होगा तो नीला रंग उत्पन्न होजायगा। यह प्रतिक्रिया रक्तरंजक में स्वाभाविकतया लोहकी उपस्थिति के कारण होती है। परन्तु यह परीक्षा लोहके प्रयोग सेवन करने वाले रोगीमे असफल है। ऐसी हालतमें वमनके कुछ तलघट (Deposits) को लेकर "पोटासियम हाइड्रोक्साइड (Potassium Hydroxide)" की सहायता से घोल बनाकर छानना चाहिए और घोलके क्षारीय रञ्जक द्रव्य (Haematin) के प्लेट से रंजितपट्टिका (Spectrum)० पर प्रकाश विश्लेषण करके देखना चाहिए (प्लेट १७–६–२२४ पृष्ठ के सम्मुख) या तलछट की टीक्मैन की परीक्षा (Teichmanns test) करनी चाहिए।

* नाइट्रिक एसिड को कुछ समय प्रकाश मे खुला रख देने से प्राणवायु के सम्मिश्रण (Oxidation) के फलस्वरूप वह पीला हो जाता है। अथवा थोड़ा सोडियम नाइट्रेट मिलाने से भी ऐसा हो जाता है।

०यह विभिन्न प्रकार के रंगोसे रंजितपट्टिकाएं होती हैं, जिनसे प्रकाश का विश्लेषण किया जाता है। विश्लेषण करने के लिये प्रकाश को समपार्श्व काच (Prism) या शीशे के तंग भागमें से होकर रंजितपट्टिकाओ पर डाला जाता है।

टीक्टमैन की परीक्षा—वमनके तलछट को कांच शलाका की सहायता से लेकर एक काच-पट्टिका (Slide) पर साधारण नमक के चूर्णके साथ मिलावे, फिर उसे गरम करके वाष्प उडाकर शुष्क करले । इसके पश्चात् शुष्कपट्टिका पर कुछ "एसिटिक एसिड (Acetic acid)" के कण डालकर तरलता उत्पन्न करले, और उसको "कवर ग्लास (Cover glass)* से ढकले । इसके पश्चात् मंद ज्वाला पर उसे तपावे । तपानेमें इस बातकी सावधानी रक्खें कि ऐसा करते समय तख्ती को स्थिर न रक्खें ताकि उसमें उबाल उत्पन्न न होने पावे । तपाते हुए बीच-बीच में कुछ "ग्लेसियल एसिटिकएसिड" "कवर ग्लास" के पार्श्व मे होकर तख्ती के मध्यभागमें चलाते जायॅ । इसके पश्चात् उसे शीतल होनेके लिये रखदे । फिर उसको अणुवीक्षण यंत्रके सबसे अधिक शक्ति-शाली वस्तुताल से देखें और मालूम करें कि उसमे रक्त रंजक के कण विद्यमान है या नही ? कण मालूम पड जाने पर उसमे रक्तकी विद्यमानता निश्चित होजाती है ।

रक्त परीक्षाकी यथार्थता जानने के लिये "हैमटीन (Haematin) के क्षारीय घोलमे "अमोनियम सल्फाइड" के कुछ बूंद डाले जाते है, जो कि इसे "रक्तरंजक द्रव्य (Haemochromogen)" मे परिवर्तित कर देता है । "रक्तरंजकद्रव्य" की रंगविश्लेषण पट्टिका का भेद इससे जाना जा सकता है कि इसमें दो पट्टियाँ उत्पन्न होती हैं । १ पीले रंगके मध्यमे तग और गहरी D औरE पंक्तिके मध्यमें, २. पीले और हरे रंगके मिलने की सीमापर चौडी और कम गहरी E और B पक्तिके बीचमे । D, E, B ये पंक्तिया रंजकपट्टिकाके मानचित्र मे दी है ।

अणुवीक्षणक परीक्षा—वमनको मलमलके टुकडे से छानते समय जो घन वस्तु कपडे पर रह जाय, उसमे से कुछ तलछट को लेकर काचपट्टिका पर फैलावें । फिर उसे देखें या साधारण नमकके घोलकी बूंद डालकर परीक्षा करें ।

इसमे अणुवीक्षण यंत्र से भोजनके अनेक सूक्ष्म टुकडे देखे जा सकते है । मासतन्तु-यह अनुप्रस्थ रेखामय होते है , श्वेतसार कण—इसमे समकेन्द्राभिमुखी रेखाएं होती है एव यह कण अति हलके आयोडीन-घोल से नीले रंगे जासकते हैं ; स्थिति स्थापक तन्तुओ का आकार दोहरा और इसमें गहरे मोड़ होते है ।

*एक प्रकार की पतले काचकी पट्टिका होती है, जिससे अणुवीक्षण यंत्र से देखते समय स्लाइड को ढक लिया जाता है ।

वसाकणमें प्रकाशकी किरणोंका मार्ग परिवर्तित कर देने की शक्ति होती है।

इसमे अनेक उद्भिद कीटाणु, जो परान्न भोजी है, वे भी देखे जा सकते हैं। उनमें से अष्टक जातिके सारसीना वेण्ट्रीकुलाई (Sarcina-ventriculi) और छत्रक जातिकेकिण्व (yeast) कीटाणु मुख्य हैं। परान्न भोजी उद्भिद कीटाणु सामान्यतः ऊनकी गठडी के सदृश प्रतीत होते हैं। जबकि द्वितीय प्रकार के कीटाण गोल था अण्डाकार घटको के जंजीर या गुच्छरूप भासते है। इसका सामान्यतः कद रक्तके श्वेताणु जितना वडा होता है।

वमन मे कुछ हल्का आयोडीन का घोल मिला देनेसे प्रथम प्रकारके अष्टक कीटाणु आसानी से पृथक् किये जासकते हैं। यह घोल इन्हें गहरा भूरा रंग देता है।

मल परीक्षा।

अंत्ररोग निदान के लिये मल-परीक्षा करना महत्त्वपूर्ण है; परन्तु अक्सर चिकित्सक इसे भूल जाते है। अन्त्र विकृति से पीडित रोगी की पूर्ण और सम्यक् परीक्षा तब ही समझी जायगी, जबकि उसके मल की परीक्षा की हो। मलपात्र (bedpen) का स्वच्छ सफेद आगन मलके रक्त, पूय और श्लेष्मा की परीक्षामे बहुत सहायक सिद्ध होता है।

इसके लिये अक्सर विशेष प्रकारके निश्चित किये हुए भोजन खिलाकर मलकी परीक्षा करना लाभदायक सिद्ध हुआ है। ऐसा करने के लिये रोगीको ०.२ ग्राम लडकी के कोयलोका चूर्ण जिलाटीन के कैपशूल मे भरकर एक निश्चित भोजन के प्रारम्भ में और दूसरा उसके अन्त मे निगलवा देना चाहिए; अथवा कोयले के दो बिस्कीट खिला देना चाहिए। फिर जब शौच हो, तब दोनो काले भागो के मध्यमे जो मल उपस्थित है वही उस निश्चित भोजनका मल है, और परीक्षाके समय उसे ही ग्रहण करना चाहिए।

कोयलो के समान लाल कार्माइन एलम लैक भी खिलाते हैं। इसके सेवनसे मल लाल रंगका होजाता है।

मलके पतलापन, गढापन, वर्ण, आकृति, वास, विकृति, कृमि आदि के सम्बन्धमें कितनाक आवश्यक विवेचन रुग्ण परिचर्या पृष्ठ १५०। १५४ तक किया गया है।

१--चाक्षुषी परीक्षाः—इससे निम्न बातें मालूम करना चाहिए:—

अ—प्रतिदिन के मलका सरिमाण।

आ—वर्ण।

इ—गंध।

ई—स्वरूप और गाढापन।

उ—अप्राकृतिक या बाह्य वस्तुकी विद्यमानता।

(अ) परिमाण—स्वस्थावस्था के मल का निश्चित परिमाण बतलाना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि इस पर भोजन का बहुत प्रभाव पड़ता है। सार रहित भोजन करने पर मल अधिक एवं मास, दूध, घी सेवन करने पर कम होता है। इसलिए परिमाण के विषय में सिर्फ यही जानना चाहिए कि यह योग्य अधिक अथवा न्यून है। साधारणतया प्रतिदिन स्वस्थावस्था मे १०–२० तोले मल निकलता है। (शाकभोजी श्रमजीवियो मे अधिक मल गिरता है)

(आ) वर्ण—साधारणतया मल का रग पित्त के हेतु से स्टेर्को-बिलिन तथा कुछ अंश मे क्लोरोफिल (एक प्रकार का हरा रग जो पेड़ो मे रंग उत्पन्न करता है) और अन्य रंजक द्रव्यो से उत्पन्न होता है। भोजन की भिन्नतानुसार मल का रंग हल्का भूरा और गहरा भूरा होता है। सामान्यतः हल्कापन या गहरापन का विभिन्न परिमाण हो जाता है; जैसा कि भोजन मे मांस की अधिकता होने पर भूरा रंग गहरा और दुग्ध होने पर हल्का होता है। मल मे सर्वदा यकृत् के पित्त-रंजक द्रव्यो की अपरिवर्तित-अवस्था में उपस्थिति होना, यह अस्वाभाविक है, एवं बढ़ी हुई अन्त्रगति का प्रतीक है। मल काला रंग लोह, बिस्मिथ, या मेगनिज के प्रयोग से उत्पन्न हो सकता है। अन्त्र के प्रारम्भिक भाग मे रक्तस्राव होने पर भी मल का रंग कोल्टार के समान काला हो जाता है और अति दुर्गन्ध आने लगजाती है। यदि यह सन्देह हो कि कृष्ण वर्ण रक्त के कारण से है या अन्य औषध आदि के कारण से, तो मल में द्विगुण जल मिला कर कुछ देर रखकर स्थिर होने देवें, अगर मल मे रक्त होगा तो जल लाल वर्णयुक्त हो जायगा और मल का कृष्ण वर्ण लोह आदि के सेवन से या अन्य किसी कारण से है तो वह काली हरी आभा वाला ही बना रहेगा।

मल का वर्ण पाण्डु होने के कारण मुख्य तीन है—१–यकृत् मे से अन्त्र तक पित्त पहुँचने के मार्ग में अवरोध जैसा कि, अवरोधज कामला मे; २–मल तरल होकर अन्त्र से शीघ्र बाहर निकल जाता, जैसा कि अतिसार में; ३–भोजन मे अस्वाभाविक वसा की अधिकता।

गन्ध—मल में एक विशेष प्रकार की गन्ध होती है जो कि उसमें "इण्डॉल" और "स्केटॉल" (Indol and skatol) नामक दो विशेष द्रव्यों के कारण होती है। मांसाहारी मनुष्यों का मल तीव्र गन्धयुक्त होता है। पित्त की अनुपस्थिति के कारण अन्त्र में सडान उत्पन्न होती है; इसलिए कामला में अक्सर मलदुर्गन्धयुक्त होता है। इसके विपरीत विसूचिका में सेन्द्रिय पदार्थ बहुत कम होते हैं, एवं मल शीघ्र अन्त्र से निकल जाने के कारण लगभग वास रहित होता है। अन्त्र में खमीर की उत्पत्ति होने पर मल के अन्दर अम्लगन्ध उत्पन्न हो जाती है।

आकार—मल के आकार पर ध्यान देना भी महत्त्वपूर्ण है। साधारणतया स्वस्थावस्था में यह बँधा हुआ आता है, न अधिक पतला और न अधिक गाढ़ा। जीर्ण जिद्दी कोष्ठबद्धता में मल स्वस्थावस्था की तुलना में शुष्क और कठोर होता है, कभी-कभी तरल की कमी के कारण इतना शुष्क हो जाता है कि वह आसानी से टुकडे-टुकडे किया जा सकता है। अतिसार की अवस्था में इसमें तरल ज्यादा होता है, यहाँ तक कि यह पानी के समान पतला हो जाता है। लसदार और चिपचिपा मल श्लेष्मा की उपस्थिति से होता है।

चिकित्सक को इस पर भी अवश्य ध्यान देना चाहिए कि, मल बँधा हुआ है, या तरलमय। अगर यह बँधा हुआ है तो देखना चाहिए कि, इसके आकार में किसी प्रकार की अस्वाभाविकता तो नहीं है। कोष्ठबद्धता में मल अक्सर गोल गाँठों के आकार में और कभी-कभी श्लेष्मा से आवृत होता है। बृहदन्त्र में किसी प्रकार की रुकावट होने पर मल फीते के समान चपटा आने लग जाता है। गुदा में अंकुर, अर्श आदि उपस्थित होने पर मल पर रेखा उत्पन्न हो सकती है।

अस्वाभाविक पदार्थ—मल में से बाह्य या अस्वाभाविक पदार्थ को पृथक् करने के लिए, मल को तारों की बनी छलनी (Sieve)* पर रखकर उस पर पानी डालना चाहिए। इस प्रकार पानी की सहायता से मल को उस समय तक छानना चाहिए जब तक कि तमाम घुलनशील पदार्थ पानी में घुलकर नीचे न छन जाय। इसके पश्चात् छलनी पर रहे हुए पदार्थ की परीक्षा करनी चाहिए।

---

* यह एक प्रकार की तारों से बालों से या रेशम के धागों से बनाई हुई छलनी होती है।

उपर्युक्त विधि में बारीक पदार्थ छलनी मे से छन जाते हैं। उनमें से अस्वाभाविक द्रव्य को अलग करने के लिये निम्न विधि प्रयुक्त करना चाहिए।

सूक्ष्म अस्वाभाविक द्रव्य—अखरोट के फल जितना मल लेकर उसे कुछ स्रवित जल के साथ चीनी की खरल मे घोट कर एकरस करले। फिर एक शीशे की तस्तरी ले, जिसका पृष्ठ काला रंगा हुआ हो। उसमे खरल के द्रव को भरले। उसका बाह्य पृष्ठ काला रंगा होने के कारण मल में उपस्थित श्लेष्मा एवं भोजन के कण आसानी से दिखाई देवेंगे।

पूय—मल मे पूय की उपस्थिति सदा मलाशय अथवा बृहदन्त्र के व्रण की सूचक है। व्रण की उत्पत्ति कर्कस्फोट, अर्बुद, विद्रधि, उपदंश, क्षय तथा प्रवाहिका, आदि के कारण से होती है। अत्यधिक मात्रा में पूय की उपस्थिति विद्रधि के विदीर्ण होने की सूचना देती है।

पित्ताश्मरी—उपर्युक्त विधियो से यह आसानी से जानी जा सकती है। अगर यह उपस्थित हो तो देखना चाहिए कि किसी बडे टुकड़े मे से टूटने के सदृश उस पर मुँह या दूसरे टुकडे के निशान तो नहीं हैं? ऐसा हो, तो वह वर्द्धनशील पथरी समझी जाती है। इसके साथ ही इसमे अपक्व भोजन के कण, बाह्य पदार्थ, जमे हुए कण (जैसे कि मैग्नीसिया से बनते हैं) और उदरकृमि आदि की उपस्थिति भी मालूम करना चाहिए।

सम्पूर्ण उदर-कृमि की परीक्षा का वर्णन विस्तार पूर्वक आगे किया जायगा। यहाँ तो सिर्फ इतना लिख देना पर्याप्त है कि चिकित्सक को अक्सर "उदरावेष्टा (Tape worm फीता कृमि)" नामक कृमि के सिर को प्रतीत करने के लिये मल की परीक्षा करनी पड़ती है। इसकी परीक्षा विधि निम्न प्रकार से है।

उदरावेष्टाकृमि—मल के साथ काफी परिमाण मे जल मिलावे। जल के अन्दर पूर्व ही से कुछ "कार्बोलिक एसिड (Carbolic acid)" मिला लेना चाहिये। जल मिलाने के पश्चात् मिश्रण को कुछ समय धीरे-धीरे हिलाते रहें, फिर उसे स्थिर होने के लिये १० मिनट के करीब पडा रहने दे। इस प्रकार करने से उदर-कृमि तल में बैठ जायेंगी, फिर ऊपर के तरल को फैलादे तथा उसमें स्वच्छ पानी डाल कर बार-बार फैलाते रहे, जब तक कि वह वर्ण रहित न हो जाय। फिर उदर-कृमि स्पष्ट दिखलाई देंगी। उदरावेष्टा का सिर लगभग बड़ी पिन के सिर समान होता है, एवं उसकी ग्रीवा मोटे धागे के समान।

रोग-विनिर्णय-विज्ञानमें मलके अनेक प्रकारोंके नाम अलग-अलग निश्चित किये गये हैं।

आन्त्रिक ज्वर से पीडित रोगीका मल एक मुख्य प्रकार पित्त मिश्रित होता है। इसके गुण दर्शाने के लिये इसे मटर का सोरवा (Pea Soup) नाम दिया गया है।

जलमय प्रबल अतिसार के पीडित रोगी का मल तथा प्रबल उत्तेजक विरेचन लेने पर मल अत्यन्त तरल युक्त होता है। अतः उसे जलमय मल (Watery Stools) सज्ञा दी है।

विसूचिकामे मल "चावलोंकी माड (rice water)" के समान होता है। एव वह वर्ण और गधरहित, क्षारीय प्रतिक्रिया वाला होता है और उसमे आच्छादन त्वचा (Epithelium) के छोटे-छोटे टुकडे और श्लेष्माके छिछडे होते हैं। यह चावलोकी मांडसे बहुत कुछ समानता रखता है। इसलिये इसे (Rice water stools) नाम दिया गया है।

"पूय युक्त मल" (Purulent) मल गम्भीर प्रवाहिका और अन्त्रव्रण या अन्त्रविद्रधिक्षत से पीडित रोगी मे यह होता है। विद्रधि का मुँह अन्त्र मे खुलजाने पर ही मलमे पूय उपस्थित होरकता है।

"लसदार मल (Slimy stools)" श्लेष्मा की वृद्धि की उपस्थिति दर्शाता है और प्रगट करता है कि बृहदन्त्र मे विकृति है। श्लेष्मा मलके ऊपर आवृत होसकती है और उसमे बिल्कुल मिश्रित भी हो सकती है।

रक्तमय मल (Bloody stools)" की आकृति रक्तस्रावके स्थानानुसार विभिन्न होती है। अगर रक्तस्राव अन्त्रके प्रारम्भिक भागमे है, तो वह कृष्ण वर्णका होगा, जैसाकि पूर्व बतला दिया गया है। अन्त्रका कुछ भाग अन्त्रमे घुस जाने से उत्पन्न अन्त्रावरोध (Intussusception)* होनेपर मल लाल-काला अवलेह के समान होजाता है। अन्त्रावरोध क्षुद्रान्त्रके

*यह अन्त्रावरोध का एक भेद है जिसमे अन्त्र का कुछ भाग उसके नीचेके भागमे घुस जाता है। यह इससे आसानी से समझा जासकता है। जब हाथके मौजे खोले जाते हैं तो उसकी अंगुलिया ठीक इसी प्रकार घुसकर सकुचित होजाती हैं। यह अक्सर बच्चो में होता है। यह उदरमें अभिघात या कठोर वस्तु के खानेसे होता है। यह अक्सर क्षुद्रान्त्र और बृहदन्त्र के सयोगस्थान पर होता है। इसमें लक्षण अन्य अन्त्रावरोध के समान ही होते है।

मध्यभाग (Jejunum) मे होने पर मल स्ट्रावेरी के अर्कके पिगलनेके समान लाल गिरता है । रक्तस्राव बृहदन्त्र में होने पर वह अक्सर मलके साथ मिश्रित नहीं होता, एवं उसका रंग उसी प्रकार बिना किसी परिवर्तनके तेज चमकदार रहता है । मलाशय या मलद्वार से रक्तस्राव होने पर मलमे केवल उसकी रेखा ही बनती है ।

बृहदन्त्रकी श्लैष्मिक-कलामे प्रदाह होने पर मलके अन्दर अन्त्रके छिछडे होते हैं, जो कि मुख्यतया श्लेष्माके ही बने होते हैं । प्रत्येक छिछडा एक दूसरे से परिमाण और आकृति से भिन्न-भिन्न होता है , साधारणतया ये एक इंच से ६ इंच तक लम्बे होते है । क्वचित् ये, १२ इन्च या इससे भी अधिक लम्बे देखे गये है । इनकी चौडाई भी नलिका के अनुरूप एक इंच के व्याससे अधिक भिन्न-भिन्न परिमाणकी होती है । कभी ये साधारण वसा के समान धूसर और सामान्य श्लेष्माके समान पारदर्शक होते है और कभी अस्वच्छ श्लैष्मिक कलामय तथा झिल्लीमय स्वरयन्त्र प्रदाह के भीतर वायुके माग से निकलनी वाले झिल्ली के टुकडे के समान होते हैं । कभी तो ये टुकडे मलके संलग्न होने या मिश्रित हो जानेके कारण भूरे-पीले वर्ण के हो जाते है , क्वचित् रक्तकी उपस्थिति के कारण रक्तकी उपस्थिति रक्तवर्णके प्रतीत होते है । अक्सर ये प्रचुर मात्रामे होते हैं । तथा जलके ऊपर तैराने पर झुंड के झुंड अनियमित देखे जासकते है । ये छिछडे उपादान भूत भागोंमे से पृथक् होकर निकलते हैं । नियमानुसार ये छिछडे नलाकर होते हैं, परन्तु इनकी दीवार की मोटाई, भिन्न भिन्न होती है । अगर इसकी जलमे परीक्षा की जाय तो कभी-कभी इनको कलाके परत (Layer) के रूपमें देखे जा सकते है और उनके भीतर मलके कण होते हैं ।

सूचना—ये छिछडे छोटे होने पर फीताकृमि (उदरावेष्टा Tape worm) का भ्रम हो सकता है । ऐसा भी अनेक समय देखागया है कि, अपक्व भोजनके कुछ अंश या फटे हुए दुग्धके कठोर थक्के की मलमे उपस्थिति भी छिछडे का भ्रम उत्पन्न करा देती है ।

आन्त्रिक बालुका—बहुत कम अवस्थाओं मे मलके अन्दर आन्त्रिकरेत (Intestinal sand) के कण विद्यमान होते हैं । ये कण दो प्रकार के होते हैं । १. खनिज ; २. उद्भिद ।

१. खनिज—इन्हे सच्चे कण (True sand) कहा जाता है । ये मुख्यतया "कैल्सियम फोस्फेट (Calcium phosphate)" से बने होते हैं तथा उसके प्राणिज मूलके सेन्द्रिय केन्द्र स्थान के चारो ओर

कैल्सियम कार्बोनेट है और "सिलिका (Silica)" के परमाणु लगे रहते हैं। जब इसे पानी से धो तथा सुखाकर देखाजाता है तो यह साधारण बारीक रेत कण के समान दिखाई देता है। इनमेसे कुछ कण पीले-भूरे होते हैं जबकि कुछ बिल्कुल वर्ण हीन अणुवीक्षण से परीक्षा करने पर कण भिन्न-भिन्न आकृतिके ज्ञात होते हैं ; कुछ अण्डाकार और चिकने, कुछ विषय और खुरदरे होते हैं। इनकी कलमें बनने की अपेक्षा दाने अधिक बनते हैं।

२. उद्‌भिद बालुका—इन्हे मिथ्या रेत कण भी कहते हैं। नाशपाती, केला आदि फलो का आहार करने पर जब आमाशयमें से अर्द्धपाचित होकर निकलते है, तब उसमें से जो अर्द्ध पाचित कठोर आहार आगे गति करता है, उसमे से यह रेत बनती है। अणुवीक्षणीय-यंत्रसे इन दोनो का स्वभाव या रचना आसानी से प्रतीत हो सकती है; क्योकि इस पर की अनैन्द्रिक वस्तुको किसी अम्लकी सहायता से हटादेने पर इसके घटको की दीवार में अनुप्रस्थ नालिया स्पष्ट दिखलायी दे जाती है।

रासायनिक परीक्षा—इस परीक्षामें प्रतिक्रिया, पित्तरञ्जक द्रव्यकी विद्यमानता और अज्ञात रक्तस्राव, इन तीनोका निर्णय करना चाहिए।

अ. प्रतिक्रिया—इसे जाननेके लिये अगर मल द्रव है तो उसे हिला कर अच्छी प्रकार से मिला लेना चाहिए। अगर घन है तो उसके कुछ भाग को चीनी मिट्टी की खरल मे वाष्प जल मिला सोरवे के समान आकृति ग्रहण कर लेने तक रगड़ लेना चाहिए। इसके पश्चात् नीले या लाल रगके गीले लिटमस (Litmus) पर उपर्युक्त घोलको एक बूंद कॉचशलाकासे डाले। इसकी प्रतिक्रिया लिटमस पेपर के दूसरी तरफ आसानी से दिखलायी दे जायगी। स्वस्थावस्था मे मलकी प्रतिक्रिया लगभग निष्क्रिय (Netural) होती है। प्रतिक्रिया अम्लीय होने पर खमीर, एव क्षारीय होने पर अन्त्र मे सडाद उत्पन्न होरहा है, ऐसा समझना चाहिये।

आ० पितरंजक द्रव्य की परीक्षा—मल के कुछ भाग को "मर्करी परक्लोराइड (Murcury perchloride)" के सतृप्त (Concentrated) घोल मे मिश्रित करे और २४ घटे तक स्थिर होने को रख दे। स्वस्थावस्था का मल "युरोबिलियन (Urobilin)" नामक पिंगलाभ पित्त-रंजक द्रव्य की उपस्थिति के कारण रक्तवर्ण का हो जायगा, यह द्रव्य मुख्यतः मूत्र में निकलता है। यह पित्त के बिलिसबिन (रक्त द्रव्य) का रूपान्तर है। अगर रंग हरा हो जाय, तो समझना चाहिये कि यकृत् पित्त मल मे अपरिवर्तित

अवस्था में ही विद्यमान है। अगर लाल या हरा रंग बिल्कुल ही पैदा न हो तो समझना चाहिये कि मल मे पित्त बिल्कुल नही है।

मल मे पित्त या पित्तरंजक द्रव्य की विद्यमानता जानने के लिये मूत्र परीक्षा मे वर्णित विधि भी अर्द्ध तरलमल और जलमयमल पर भी प्रयुक्त की जा सकती है; वास्तव मे यह विधि ज्यादा उपयुक्त सिद्ध हुई है। पित्त-अम्ल यदि मल में हो तो उसे जानने के लिये—मल को स्पिरिट में मिला अर्क निकालकर छाने। फिर स्पिरिट को वाष्प क्रिया से उडा देवे। शेष शुष्क पदार्थ रहे, उसे किसी हल्के क्षार में घोल ले। गन्ने की शक्कर और "गंधकाम्ल (Sulphuric acid)" के विलियन (Solution) को मिलाकर परीक्षा करे। अगर मल मे बैंजनी रंग उत्पन्न हो जाय तो समझना चाहिये कि इसमे पित्त का "कोलेलिक अम्ल (Cholalic acid) उपस्थित है। यह पेटेन्कोफेरकी परीक्षा विधि है। मूत्र में पित्ताम्ल की उपस्थिति का वर्णन आगे मूत्रपरीक्षा मे दिया जायगा। वह भी समझ लेना चाहिए।

इ—अज्ञात रक्त स्राव के लिये परीक्षा—प्रतिदिन के प्रयोग के लिये निम्न परीक्षा अत्यन्त आसान एवं योग्य है। इसे बैंजीडिन परीक्षा (Benzidin Test) कहते है। इसकी विधि निम्नानुसार है।

बैञ्जीडिन परीक्षा—बेरियम पर ओक्साइड (Barium per oxide) के ०.२ ग्राम और "बैंजीडीन (Pure Benzidin) के ०.०२५ ग्राम को लेकर चूर्ण बना ले। इसको मोमिया कागज मे रख देना चाहिए इस चूर्ण को तत्काल बनाये हुए एसेटिक एसिड के ५० प्रतिशत वाले ५ सी० सी० विलयन में मिला दे। इसके पश्चात् काच की शलाका की सहायता से मल का कुछ अंश लेकर स्वच्छ काचपट्टिका पर फैला देवे। फिर उपर्युक्त चूर्ण के योग से बनाये हुये विलियन की कुछ बूंदे उस पर डाले। विलियन के डालने से अगर मल में रक्त उपस्थित होगा तो एक मिनट के अन्दर नीला या नीला-हरा रंग उत्पन्न हो जायगा और उत्पन्न रगकी गहराई एवं उसकी उत्पत्ति मे जितना समय लगता है, उसके अनुसार प्रतिक्रिया की कल्पना की जाती है। डाक्टर ग्रेगर्सन ने इसकी तीन अवस्थाएं मानी हैं। +१, हल्का नीला या हरा रग ६० सेकिण्ड में उत्पन्न होना; २+, स्पष्ट हल्का नीला रंग १२–१५ सेकिण्ड में उत्पन्न होना; ३+ गहरा नीला तीन सेकिण्ड मे उत्पन्न होना।

सूचना—यह परीक्षा करने के २–३ दिन पहले से ही रोगी का लाल मास और हरे शाक खाना बंद कर देना चाहिये। इसके साथ ही

यह स्मरण रखना चाहिये कि अगर इस परीक्षा में प्रतिक्रिया रूप नीला या नीला-हरा रंग ३० सेकिण्ड के अन्दर ही हो गया हो तो, चाहे कुछ भी खाना खाया गया हो, अज्ञात रक्त की उपस्थिति सिद्ध होती है।

ग्वायेक परीक्षा—(राइफल की) सुपारी जितने मल को ८ से १० सी० सी० तेजसिर्का (Glacial Acetic acid) मे मिला कर एक जीव कर दे। फिर उसमें उससे कुछ अधिक परिमाण मे इथर मिला लेवे। फिर उसमे से लगभग २सी० सी० लेकर ताजे टिञ्चर ग्वायेकम के ५ बूंद मिलावे। फिर धीरे धीरे १० प्रतिशत आर्भोनिक आल्कोहोल + तब तक मिलाते जायँ, जब तक नीला या हरा रंग उपस्थित न हो बशर्ते कि अधिक मात्रा का उपयोग नहीं किया गया हो।

यदि रोगी लोह प्रधान ओषधि का सेवन करता है, तो इस परीक्षा मे उसका कोई असर नहीं होता है।

रक्त की उपस्थिति मल को तरल करके रंग विश्लेषण यन्त्र (Spectroscope) द्वारा परीक्षा करके भी जानी जा सकती है।

अणुवीक्षण परीक्षा—मल की परीक्षा करते समय लगभग १॥ इञ्च से कम शक्ति वाले वस्तुताल का प्रयोग करना ज्यादा लाभदयाक सिद्ध हुआ है। इसके लिये काच पट्टी निम्न विधि से तैयार करेः—काचपट्टिका पर मल का कुछ अश दियासलाई से लेकर दूसरी काचपट्टिका (स्लाइड) लेकर उस पर रख दे और दोनो को दबा दें। अगर मल बहुत कठोर हो तो ग्रहण करने योग्य मल को पहले पानी मे कुछ समय तक रख कर गीला कर लेना चाहिये। अगर मल बहुत पतला हो, तो उसे काच शलाका से ले काच पट्टी पर डाल कर उसे आवरक पत्र (कवर स्लिप) से दबा देवे।

परीक्ष्य घटक—मल परीक्षा मे मुख्य ९ प्रकार के घटक आदि को देखना चाहिये। (१) मास सूत्र, (२) सयोजक तन्तु या स्थिति स्थापक (लचकदार) तन्तु; (३) श्वेतसार के कण, (४) उद्भिद के अपक्व अश; (५) वसा या वसाम्ल के कण और साबुन, (६) त्रिगुणात्मक फोस्फेट, ओक्जेलेट और कोलेस्टेरोल की कलमे, (७) श्लेष्मा, (८) रक्त, (९) किण्व और अन्यछत्रक।

+ आर्भेनिक ऑल्कोहोल तैयार करने के लिये हाइड्रोजन परोक्साइड २० एकार्ड का १० सी० सी० के साथ १०० सी० सी० हो जाय उतना अल्कोहोल मिला लेवे।

मांस सूत्र—इसमें परस्पर काटनेवाली रेखायें दिखलायी देती हैं। इससे आसानी से पहचाने जा सकते हैं। ज्यादा परिमाण में विद्यमान हो, तो क्षुद्रान्त्र की पचन शक्ति में विकृति समझनी चाहिये।

संयोजक तन्तु—श्लेष्मा के साथ बहुत कुछ मिलते हैं, परन्तु इसमें भी रेखायें होती हैं जिनके कारण आसानी से पहचाने जा सकते हैं। ये रेखायें काचपट्टी पर एसेटिक एसिड डालने पर गायब हो जाती हैं। अगर ये ज्यादा परिमाण मे हो, तो आमाशय की पचन शक्ति में विकृति समझनी चाहिए।

लचकदार सूत्र—इनका कोई महत्त्व नही है।

श्वेतसार—"आइडीन (Iodine)" का विलयन डालने पर यह आसानी से देखे जा सकते हैं। मल में इसकी ज्यादा उपस्थिति विकृतावस्था को प्रगट करती है। ये ज्यादा मात्रा में उपस्थित होने पर मल की प्राप्ति क्रिया अम्लीय हो जाती है, एव अन्त्र में "किण्व (yeasts)" कीटाणुओं के कारण खमीर आकर झाग झाग हो जाना, यह इसका चिह्न है। एवं खमीर आने पर ही उदर मे हवा के गोले उत्पन्न होते हैं।

उद्भिद अंश—यह विशेषतः सब्जी या फल से उपस्थित होते है। एवं ये इनके खोखले सूत्र, मुड़ी हुई प्रणालियाँ, रसवहानलियों का झुण्ड और रंजित कणों के कारण आसानी से पहचाने जा सकते हैं।

निष्क्रिय वसा—यह रंग रहित और विलक्षण बूँद-बूँद रूप होती है। या पित्त से रंजित अनियमित पिण्डो से प्रतीत होती है, जो सुदन ३ (Sudan III) से रक्त-रंग मे रंजित हो जाते हैं। एवं यह इथर मे घुल जाती है।

वसाम्ल—यह रंग रहित कणो के चक्कर (पेडे) के रूप में प्रतीत होती है। जो कि गरम करने से घुल जाती है। एव "इथर" मे भी घुल सकती है।

साबुन—(Soaps) यह वैसलीन के समान अनियमित आकार के पिण्ड मे देखा जा सकता है। अथवा इसकी सलाकाएँ होती हैं, जो वसाम्ल की अपेक्षा लम्बाई में छोटी और अधिक चौड़ी होती हैं, गरम करने पर ये पिघल जाती है। परन्तु ये "इथर" मे घुलनशील नही हैं। काँचपट्टिका को गरम करके उस पर "एसटिक एसिड" की बूँद डालने पर इससे वसाम्ल पृथक् होता हुआ आसानी से देखा जा सकता है।

वसा को श्लेष्मा और वानस्पतिक पदार्थो से पृथक् करने का सबसे

आसान तरीका यह है कि, काँचपट्टिका पर रक्खे हुए अंश को आच्छादक तख्ती (कवरस्लिप) से दबाना चाहिये। यदि वसा है, तो आच्छादक तख्ती दबी ही रह जाती है और अगर श्लेष्मा या उद्भिद अंश है तो दबाव हटाने पर तख्ती एकदम ऊपर उठ जायगी और चारों तरफ से वायु अन्दर घुसेगी।

साधारणतया वसामल के अन्दर साबुन के आकारहीन पिण्डो मे पाई जाती है। कभी-कभी कणरूप मे भी पाई जाती है। स्वस्थावस्था में प्राकृतिक वसा मल मे बिल्कुल उपस्थित नही होती।

फास्फेट्स के त्रिगुणात्मक कण—स्वस्थावस्था के मल मे सर्वदा विद्यमान रहते हैं, परन्तु पित्त से कभी रंजित नही होते। साधारणतया "आक्जलेट" के कण भी देखे जाते हैं। और मुख्यतया शाकीय भोजन अधिक सेवन करने पर। कोलैस्टराल के कण भी स्वस्थावस्था के सामान्य मल मे पाये जा सकते हैं।

श्लेष्मा—यह पारदर्शक बिन्दुओ मे या पिण्डरूप प्रतीत किया जा सकता है। कभी-कभी वह पित्त से रंजित होता है। इसमे अनेक रक्त के श्वेताणु या आच्छादक त्वचा के घटक भी उपस्थित हो सकते है।

ए—परोपजीवी अन्त्रकीटाणु और कृमि

परोपजीवी जीवाणु उनको कहते हैं, जो दूसरे जीव के शरीर के ऊपर या अन्दर अतिथि के समान रहता है, और अपना पोषण उसके शरीर से ही प्राप्त करता है। किन्तु उसे कुछ लाभ नही पहुँचाता। कितनेक जाति के कीटाणु दूसरे जीव के शरीर मे बिना किसी हानि पहुँचाये भी दीर्घकाल पर्यन्त रह सकते है, कतिपय केवल उत्तेजना (Irritation) उत्पन्न करते हैं, तथा रोग निरोधक शक्ति मन्द या शिथिल होने पर शरीर क्रिया मे बाधा पहुँचा कर पीड़ा उत्पन्न करने वाले लक्षण पैदा करते है। यहाँ तक कि ये शरीर के अङ्गो को नष्ट कर देते हैं, या विष पैदा करके मार देते है।

परोपजीवियो मे प्राणिज कीटाणु (Protozoa) और कृमि (worms) इन दोनो का अन्तर्भाव अत्र किया है। उन कृमियो मे से निमेटोड और सिस्टोडादि मुख्य कीटाणुवर्ग का अत्र वर्णन करते है। इन निमेटोड, सिस्टोड आदि कृमियो के स्वरूप, लक्षण, प्रकोप आदि का विशेष विचार चिकित्सा तत्त्व-प्रदीप प्रथम खण्ड के अन्त मे कृमि रोग के भीतर किया है।

अ—निमेटोड (Nematode)

इस जाति के कृमि डोरे के समान आकार के होते हैं। इनमें मुख्य चार जाति निम्नानुसार हैं—

१—ओक्जियूरिस वर्मिक्यूलरिज— Oxyuris vermicularis आयुर्वेद ने इसे चूर व कृमि संज्ञा दी है। ये कृमि डोरे के समान होता है। इस हेतु से इसे सूत्रकृमि (Thread worm) भी कहते हैं।

२—एस्केरिस लम्ब्रिकोइडिज—Ascaris Lumbicoides यह कृमि गोल केंचुवे के समान होता है। अतः इसे गोलकृमि (Round worms) भी कहते हैं। आयुर्वेद मे इसे महागुदा संज्ञा दी है।

३—अंका इलोस्टोमा ड्यूआडेनेट—Ankylostoma cluodenate आयुर्वेद ने इसे अन्त्रदा कृमि संज्ञा दी है। ये कृमि हुक के सदृश मुड़े हुए होने से इसे बडिश कृमि (Hook worm) भी कहते हैं।

४—ट्राइकिना स्पारेलिस—Trichina spiralis—ये कृमि सूत के समान होते हैं। ये कृमि मास भेदी होते हैं। माशपेशी मे रसाबुंद बना उसके भीतर सर्प के समान कुण्डलाकार बनकर रहता है।

१. चुरव कृमि—ये अन्त्र कृमियों में मुख्य हैं और अक्सर ये ही पाये जाते हैं। इन्हीं की उपस्थिति होने सर गुदा द्वार पर बार बार खुजली चलती है। यह अक्सर बृहदन्त्र, उण्डुक और उपान्त्र में अड्डा जमाते हैं। ये अक्सर इनसे पीडित रोगियो के सद्य त्यागी हुए मल मे चलते हुए सफेद देखे जा सकते हैं। किसी यंत्र की सहायता बिना ही इन्हे देखने पर यह सफेद पतले धागे के टुकड़े के समान दिखलायी दे जाते हैं। इनकी लम्बाई ०.५ से १ से० मी० तक होती है। अणुवीक्षण यंत्र की सहायता से देखने पर इसकी मादा जाति, उसके अंडों से भरे हुए गर्भाशय के कारण एवं सतानोत्पत्ति के पश्चात् इसके नोकीले पिछले सिरे के कारण, आसानी से पहचानी जा सकती है।

२. महागुदा (Round worm गोलकृमि)—ये केंचुए के समान रूप एव आकृति के होते हैं। इनकी लम्बाई ६ से ८ इञ्च रहती है। इस जाति मे मादा ज्यादा बड़ी १० से १६ इञ्च तक हो सकती है। इनकी उपस्थिति वात सस्था की विकृति से पीडित बालको मे देखी गई है। सचित किये हुए मल में इसके अण्डे कभी कभी देखे जा सकते हैं। इनमे भूरा-पीला कणमय द्रव्य होता है। तथा अनेक रोगियो मे उन अण्डों का आवरण अनियमित ग्रथिन मय कचुक द्वारा घिरा रहता है।

३. अन्त्रदा कृमि (Hook worm)—उपर्युक्त कृमियों की तुलना में इस जाति की विद्यमानता रोगी के लिए ज्यादा भयानक सिद्ध हुई है। यह भयानक पाण्डु उत्पन्न करता है, तथा रोगी के रक्त को उसकी अन्त्र में से चूंस लेता है। वह क्षुदान्त्र के मध्य भाग के ज्यादा हिस्से में पाये जाते हैं। यह बहुत समय तक जाने नही जा सकते, तथा इनकी उपस्थिति की शंका तब होती है जब कि इनसे सक्रमित प्रात के मनुष्य मे भयंकर पाण्डु उत्पन्न हो जाता है। इस जाति के कृमि सख्या मे अत्यधिक होते हैं। परन्तु मल के साथ नही निकलते। पाण्डु उत्पन्न होने पर इनकी शंका उत्पन्न होती है। और मल में इसके अण्डो की परीक्षा करके उस शंका का निराकरण किया जाता है। मल में अण्डे काफी सख्या में होते है, तथा इनकी जर्दी (पीला भाग) पतले आवरण से आकृत रहता है। इसलिये आसानी से पहचाने जा सकते हैं। युवा-कृमि कृमिघ्न ओषधि सेवन करने से पूर्व बहुत कम मल में देखे जाते हैं, ये आध इञ्च के लगभग लम्बे होते है, एवं इनके मुंह मे चार दात बाघ नख के समान मुडे हुए होते है।

(४) मांस भेदक कृमि—इनकी उत्पत्ति सूअरका विकृत मास खाने से होती है। ये जर्मनी के सिवाय यूरोपके दूसरे देशोमें प्रायः नही के बराबर होते है। जब आदमी इससे विकृत सूअर का मास खाता है तब उसके बच्चे क्षुद्रान्त्रमे स्वतन्त्रता से विचरण करने लग जाते है और रोगकी प्रथमावस्था मे उदरशूल, वमन और अतिसार आदि लक्षण उत्पन्न कर देते हैं। इस के युवा मादा कृमि ३ मि० मी० लम्बे होते हैं। जब ये भ्रूण (बच्चा) लसीका स्थान में देती है, तब अन्त्रभित्तिका भेदनकर मासके भीतर चले जाते हैं। इस द्वितीयावस्था मे रोगी को ज्वर रहने लगता है। मास पेशियाँ शोथ युक्त कठोर और फिर नरम होजाती हैं। एव परतन्त्र मासपेशियो के प्रदाह की वृद्धि होने पर मृत्यु तक हो सकती है। अथवा लसिक, स्थानमें उत्पन्न भ्रूणकी वृद्धि रुक जाती है और उसका आवरण खटिकमय (Calcified) होजाना है।

आ—सिस्टोड

Cestoda

ये कृमि फीतेके समान आकार के होते हैं। इनमे मुख्य ४ उपजाति निम्नानुसार हैं।

१. टीनिया सैजिनेटा—(Taenia Seginata or Beef Taenia)
२. टीनिया सोलियम—(Taenia Solium or Pork Taenia)

३. डिफाइलो बोथ्रियम लेटम—(Diphyllobothrium latum or Diabothriocephalus latus of Fish Teania)
४. टीनिया एकिनोकोकस—Taenia Echino coccus or Dog Taenia

पहले दूसरे और तीसरे प्रकार के कृमि बहुत लम्बे और अनेक पर्व वाले होते हैं। उन तीनोको उदरावेष्टा कृमि कहा है। एवं कद्दूदाना भी कहते हैं। चौथी जाति के कृमि बहुत छोटे होते हैं।

युवा उदरावेष्टा कृमिकी उपस्थिति का पता उसके शरीर के कुछ पर्व मलमें गिरते हैं, तब लगता है; और कृमिघ्न औषधि देने पर इसका सिरा मलमे निकल जाता है, जो पूर्वोक्तम विधि से प्रतीत किया जा सकता है। चौथे प्रकार के कृमि हैं, वे विशेषतः यकृत् आदि प्रदेश मे रसाबुर्द बनाकर रहते हैं। इस जाति के कृमि मनुष्य के अन्त्रमें कभी नहीं मिलते।

१. टी. सेजीनेटाः Tecnia Saginata—इङ्गलिस्थान मे इसकी उत्पत्ति उससे संक्रमित गोमास, जो योग्य न पकाया हो, वह खाने से होती है। इसका युवाकृमि १६ गजकी लम्बाई तक हो सकता है, तथा इसमे लगभग २-०० पर्व होते हैं। सिर के पास के पर्व छोटे और ज्यो-ज्यो सिरसे दूर होते जाते हे त्यो-त्यो लम्बे होते हैं। परिपक्व पर्व १५-१६ मि० मी० तक लम्बे और ५ मि० मी० चौडे होते हैं। सिर सम चतुष्कोण आकारका तथा २. मि०मी० व्यास का होता है; इसमे चार चोपक इन्द्रिया होती हैं। सिर हुकलेट से बिल्कुल रहित होता है। इसके गर्भयुक्त पर्व समय-समय पर इसके शरीरसे पृथक् होते रहते हे और मलमे गिरते हैं। फिर वह खानेमे आने से उनके अण्डे बैलो के उदर मे पहुच जाते है। वहा पर उसके मासमे बच्चे उत्पन्न होते है।

बाल कृमि (Larva) बडा होने पर मासपेशी में बस्ति के सदृश रसाबुर्द बनाता है। वह रसाबुर्द १० मि० मी० लम्बा और ६मि० मी० चौड़ा होता है। यह विक्रिया मनुष्य के मास तन्तु और मस्तिष्क मे कभी उपस्थित नही हुई।

२. टी. सोलियम (Tacnia Solium):—यह इससे संक्रमित सूअर का मास कच्चा और अधपका खाने पर उत्पन्न होता है। इसकी लम्बाई २से३ मीटर (६ से १० फुट) तक हो सकती है। इसके परिपक्व पर्व की लम्बाई १० मि० मी० तथा चोडाई ६ मि० मी० होती है। सिरका व्यास १ मि० मी० होता है। जिसमें ४ चोपक इन्द्रियाँ तथा छोटे-छोटे ३२ बडिश

मय हाथ (Rostelum) लगे होते हैं। इसके शरीर में सैंकड़ों पर्व होते हैं। इनमे अन्तिम पव अण्डोंसह मल के साथ गिरता है। वह मल सूअर के खाने में आता है;तब अण्डे उसके उदरमे पहुंचते हैं। फिर बाल कृमि होने पर उसके मास परलसदार स्थली (Cystecerus cellulose)" बनाता है। वह मास जब भोजन के साथ मनुष्य के उदर मे पहुँचता है, तब इन कृमियो से सक्रमित होने पर मनुष्यकी मास पेशी मे स्थली निर्माण होती है। जो स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। वहा पर त्वचा दृढ़ होतीहै और शोथ अण्डेके समान १० मि० मी० ऊँची और ५ मि० मी० चौड़ी आती है। विशेषतः वह भाग तरुणास्थि के समान कठोर होजाता है। ४ वर्ष के पश्चात् मासपेशी खटिक-मय होजाती है, तब यह रैडियम की किरण से प्रतीत की जासकती है। दुर्भाग्यवश इनकी उत्पत्ति सचालक वात केन्द्रके वल्कल (Cortex) मे भी हो सकती है; इस अवस्था में "कृमिज अपस्मार (Cysticercus) का दौरा उपस्थित होजाता है। जो कि अक्सर भयानक सिद्ध होता है।

३. डिफाइलो बोथ्रियम लेटम (Diphyllobothrium latum) यह मछलियो से प्राप्त होनेवाला कृमि है, जो स्वीडन, फिनलैण्ड आदि देशोंमें अधिकतर पाया जाता है। युवाकृमि ३ से १० मीटर (१० फुटसे ३३ फुट) तक या इससे अधिक भी लम्बा हो सकता है और इसमें ३००० पर्व तक होते हैं। इसका शिर छोटा और लेपनीके समान चिपटे आकारका होता है। एवं उसमे चोपक इन्द्रियोको दो गहरी प्रणाली होती है। कच्ची एवं अपक्व मछलिया खानेसे ही यह कृमि मनुष्य शरीरमे सक्रमित होते हैं। इससे पीड़ित अनेक रोगी सिर्फ मलमे पर्वकी विद्यमानता की शिकायत करता है तथा शेष किसी प्रकार का लक्षण प्रगट नही होता। इससे पीडित आध प्रतिशत रोगियो मे पाण्डु होता है। यह पाण्डु यकृत्-सत्व (Liver Extract) का प्रयोग करने पर दूर हो जाता है; अन्यथा घातक पाण्डु रोगकी वृद्धि होती है। यदि कृमि तो दूर न किया जाय, उदरमे ही हो तो इसका प्रयोग काफी समय तक करना पडता है; जबकि इनके शरीरसे बाहर निकाल देने पर पाण्डु स्थाईरूपसे शीघ्र दूर होजाता है।

४. टी ऐकीनोकोकस (Taenia echinococcus):—इसके युवा कृमि मे १ सिर और ३ पर्व होते हैं, एवं इसकी लम्बाई सिर्फ ४ या ५ मि० मी० होती है। इसके विस्तृत वर्णन की आवश्यकता नही है। क्योंकि मनुष्योंमें नही पाया जाता है। इसकी रसार्बुदावस्था (Cystic Stage) बहुत महत्त्वपूर्ण है। क्योकि यह अनेक अंगोंमे भयंकर व्याधिया उत्पन्न

करती है, और मुख्यतया यकृत् में। इनके रसार्बुद साधारण नहीं होते। अपितु इनके आंन्तरिक पृष्ठोंसे उत्पन्न होते हैं। उसके अन्दर एक या दो वाहिनयाँ उत्पन्न होती हैं। एव इनके ऊपर अन्तर श्लैष्मिक कलाका और आवरण आजाता है। इन परिवर्तनो के होने से शनैः-शनैः वाहिनिया फूलकर नारियलके समान होजाती हैं ताकि उनमे उत्पन्न पदार्थ आसानीसे समा सके। वाहिनिया स्वाभाविक दबाव के कारण विदीर्ण भी हो सकती हैं। विदीर्ण होने पर इनका द्रव्य फुप्फुस, अन्त्र, या मूत्रमार्ग से बाहर निकल आता है। तथा इसका नमूना शस्त्र-क्रियाके पश्चात् या द्रव शोषण क्रिया (Aspiration) द्वारा प्राप्त किया जासकता है। इस कृमि से उत्पन्न फालेको रसार्बुद (Hydatid Cyst) कहते हैं। इस फालेसे युक्त किसी व्याधि का संशय होने पर उसका निदान इसके स्रावकी रासायनिक परीक्षा करके, या इस कृमि के छोटे छोटे हुक या शिर आदि प्रतीत करके या रसार्बुद के तरल का कुछ अंश बाहर निकल आने पर जैसा कि इस रसार्बुदके फुप्फुस और श्वास प्रणालीमे विदीर्ण होने पर होता है ; उसे देखकरके किया जाता है।

इनसे स्रावित तरल स्वच्छ, क्षारीय,श्वेत, ग्रथिन रहित होता है और इसमें कुछ अंगूरकी शक्कर तथा साधारण नमक की प्रचुर मात्रा होती है। इसका घनत्व (आपेक्षिक गुरुत्व) कम होता है, जो कि साधारणतया १०१० होता है। इसके शिर (Scolex) जो पूर्णावस्थामे प्रतीत कियेजा सकतेहैं तब इनका व्यास १ से १॥ मि० मी० तक हो सकता है, तथा अक्सर ये ज्यादा सख्या मे फाले (Brood capsub) से बाहर निकले हुए प्रतीत होते हैं। इनके ४ पोपक इन्द्रिये (Sackers) तथा छोटे पिंगल बडिश (Hooklets) होते हे। इसके रसार्बुदका अंश श्वेत-पीत टुकडो मे प्रतीत होता है। अणुवीक्षण यंत्रसे यह अपनी पतली पतली सतह एवं उन पर कंघेके समान चिह्नोंके कारण आसानी से पहचाने जा सकते है।

६—प्राणि कीटाणु

(Protozoa)

परोपजीवी कीटाणुओ मे से अनेक जातिया मल मे पायी जाती हैं। जिनमे से अनेक शरोर को बिना किसी प्रकार की हानि पहुँचाये ही विद्यमान रहते हैं। इनमें से ऐण्ट अमीबा-हिस्टोलीटिका (Entamoeba Histolytica) हानि पहुँचाने वालों मे मुख्य हैं। जो कि "अमीबिक-प्रवाहिका," तथा कभी कभी यकृत् विद्रधि उत्पन्न करता है। ऐण्ट-अमीबा-कोलाई (Entamoeba coli) मनुष्य शरीर को हानि न पहुँचाने वालो में मुख्य है।

जब किसी के "अमीविक-प्रवाहिका" से पीडित होने की शंका हो तो जीवित कृमि को प्रतीत करने के लिये सद्य त्याग किये हुए मल की परीक्षा करनी चाहिए। यह दो अवस्थाओ में पाये जाते है। १—वर्धन शील या गतियुक्त किन्तु ज्ञान रहित अवस्था (Motile Stage*); २—स्थली में आवृतावस्था।

A. C. ऐण्ट अमीवा हिस्टोलिटिका, जो कि प्रवाहिका के कारण हैं। A. सूत्रो पर आक्रमण करता हुआ जिसमें एक केन्द्र विन्दु और ६ लाल रक्त कण हैं, B. छोटा प्रकार जो कि स्थली में आवृत रहता है, C. अमीवा युक्त स्थली, जिसके भीतर अमीवा मे चार केन्द्र विन्दु है।

D. F. हानि न पहुँचाने वाला अमीवा ये अन्त्र की सतह के के ऊपर रहते है। D. ऐण्टब-अमीबा कोली बडी सन्तानोत्पत्ति करने वाला एक केन्द्र विन्दु और अनेक आहार कण युक्त, E. अपक्वलघु स्थली F. स्थली जिसके अमीबा मे आठ केन्द्र विन्दु है।

विरेचक ओषधि देकर अमीबा के लिये मल की परीक्षा बेकार है। क्योकि इससे स्थली से आवृत होने वाले अमीवा अपक्व अवस्था मे बाहिर निकल जाते हैं। इससे अन्तर करने मे कठिनाई होती है। बहुत ही आसानी से मल के साथ आने वाली श्लेष्मा मे अमीबा प्रतीत किये जा सकते है। अगर मल बहुत शुष्क हो तो उसमे साधारण नमक का गरम विलयन मिला लेना चाहिये ताकि इससे काच पट्टी आसानी से तैयार की जासके। काचपट्टी बना कर अगर उसी समय गरम-गरम को ही अणुवीक्षण यंत्र से देखा जायगा तो अमीबा विचरण करते हुए प्रतीत हो जायेंगे।

अमीबा की बनावट अणुवीक्षण यंत्र से आसानी से प्रतीत की जा सकती है। इसके लिये निम्न प्रकार से काचपट्टी तैयार करनी चाहिये। मल में उपस्थित श्लेष्मा का कुछ अंश काचपट्टी पर लेवे। फिर स्कौडिन के सतृप्त विलयन (मर्करी पर क्लोराइड २ भाग और अल्कोहोल १ भाग) मे २ से ५ प्रतिशत तक ग्लेथस्ल एसेटिक-एसिड मिला कर फिक्स करें (Fixing)० फिर हैडन हैनके आइरन हैमाहोक्सलिन (Haiden

*उस अवस्था को कहते हैं जिसमें कृमि चारो तरफ गति तो कर सकता है परन्तु उसमे किसी प्रकार का ज्ञान नही होता। इसकी गति उसकी इच्छा पर ही निर्भर है। उस पर किसी प्रकार की क्रिया का प्रवाह नहीं पड़ता।

०सूत्रो की उस बनावट को कहते हैं, जो उसकी परीक्षा के लिये की

hains iron-Haematoxylin) और इयोसिन (eosin) से रंग कर काचपट्टी तैयार करे।

साधारण परीक्षा के लिये विश्वसनीय विधि यह है कि, मल का कुछ अंश "ग्राम के आयोडिन विलयन" (Grams Iodine Solution) में मिला कर कुछ देर हिलाना चाहिये, ताकि एक रस हो जाये। उद्भिद कीटाणुओं की परीक्षा में आयोडिन विलयन दुगुनी शक्ति वाला प्रयुक्त करना चाहिये। इस विधि से अमीबा के दोनों (वर्धन-शील और स्थलीगत) भेद स्पष्ट प्रतीत हो जाते हैं।

अमीबा के दोनों प्रकारों का भेददर्शक कोष्टक।

	हानि पहुँचाने वाले अमीबा (Entamoeba histolytica)	हानि न पहुँचाने वाले अमीबा (Entamoeba coli)
१. उपस्थिति	प्रचुर मात्रा मे, प्रतीति प्रवाहिका से पीडित रोगी के मल मे।	वहुत कम उपस्थिति प्रवाहिका से पीड़ित मल में कभी कभी।
२. आकार	अनेक प्रकार का होता है। २० से ३० म्यु तक *	आकारो मे कम प्रकार, हिस्टोलिटिका से अधिक बड़े।
३. गति	यह स्फूर्तिमान, एवं सुन्दर मिथ्या पैर जो मृत्यु से पूर्व गति होने मद के साथ ही कुण्ठित हो जाते हैं।	आलसी, मिथ्या पैर सर्वदा कुण्ठित ही होते है।
४ केन्द्रगत रस	समजातीय और कॉच के तल भाग जैसा (आहार कण से पृथक्) जब स्फूर्ति मन्द होती है, तब मिथ्या पैर के मूल की ओर केन्द्रविन्दु के वाह्य प्रदेश (Ectroplasm) और अन्त. प्रदेश (Endoplasm) की पृथकता प्रतीत होती है। अन्य-	चीनी के पात्र के समान आभा वाले, केन्द्रविन्दु का वाह्यप्रदेश कम प्रभेद युक्त। वाह्यप्रदेश और अन्तः प्रदेश के बीच विभाग दर्शक सीमा अस्पष्ट अन्तःप्रदेश दानेदार, अन्तर्भरणसह प्रचुर आहार स्थान। रक्ताणु अथवा

जाती है। इसको तैयार करने मे उसका स्वाभाविक स्वरूप उसी प्रकार बना रहता है।

* माइक्रोन = म्यु = मीटर का एक लाखवॉ हिस्सा। मीटर = ३९·३७ इञ्च।

	था प्रभेद अस्पष्ट होता है। इस रस के भीतर बरंबार रक्ताणु प्रतीत होते है।	तन्तुअ का उपादान' कभी उपस्थित नही होता।
५. जीवकेन्द्र	कोलाई कीटाणु की अपेक्षा दुर्बल, उसके चारो ओर स्पष्ट वर्तुल पक्ति, परिधि रंचित मुद्रिका आकार की पर्त्त द्वारा चिह्नित।	स्पष्ट, सर्वदा मध्य भाग से लगभग दूर, वर्तुलपक्ति अधिक स्पष्ट, दानेदार परिधि की मुद्रिका आकार की पर्त्त अधिक स्पष्ट।
६. स्थली अवस्था	पूर्णावस्था मे लगभग मध्य मे चार केन्द्रयुक्त कोलाई कीटाणु की अपेक्षा अक्सर छोटे १० से २०। माइक्रोन लंब। ग्लाईकोजन (Glycogen) कम मात्रा मे। स्थली की दीवार कोलाई की अपेक्षा पतली। गहरे रंग वाला प्रदेश सामान्य।	पूर्णावस्था मे आठ केन्द्रयुक्त जो मध्य से अक्सर दूर होते हैं। हिस्टोलिका की स्थली की अपेक्षा कुछ बडी। अनेक आकार मे १० से २२ माइक्रोन तक। ग्लाइकोजन ज्यादा मात्रा मे, स्थली की दीवार अपेक्षाकृत मोटी (गहरे रंग वाले प्रदेश का अभाव) सूर्य किरणो के वक्रीकरण करने की शक्ति योग्य मात्रा में।



चित्र नं० ६२

रक्तधानक संस्था



(चित्र नं० ६२)

रक्तवाहक संस्था

(उत्तान और गम्भीर रुधिराभिसरण)

१ हृदय Heart
२ महाधमनी Aorta
३ उत्तरा महासिरा Superior vena cava
४ फुफ्फुसिया सिराएं Pulmonary Veins
४—A फुफ्फुसाभिगा धमनी Pulmonary Arteries
५ वामकाण्डमूला सिरा Left Innominate Vein
६ दक्षिण काण्डमूला सिरा Right Innominate Vein
७ कक्षाधरा सिरा Axillary Vein
८ दक्षिण महामातृकाधमनी Right Common Carotid Artery
९ अनुमन्या सिरा Internal Jugular vein
१० अधिमन्या सिरा External Jugular vein
११ बहिर्हानव्या सिरा External Maxillary vein
१२ अनुशंखा धमनी Superficial Temporal Artery
१३ अनुशंखा शिरा Superficial Temporal Vein
१४ अधिभ्रुवा धमनी Supra-Orbital Artery
१५ बहिर्हानव्या धमनी External Maxillary Artery
१६ अधिभ्रुवा सिरा Supra Orbital Vein
१७ कक्षाधरा धमनी Axillary Artery
१८ बाहवी सिरा Brachial Vein
१९ बाहवी धमनी Brachial Artery
२० औदरोरसी सिरा Thoracic Epigastric Vein
२१ बहिः प्रकोष्ठीया धमनी Radial Artery
२२ अंतः प्रकोष्ठीया धमनी Ulnar Artery
२३ बहिर्बाहुका सिरा Cephalic Vein
२४ अंतर्बाहुका सिरा Basilic Vein
२५ बहिः प्रकोष्ठीया सिरा Radial Vein
२६ पुरोगा अन्तः प्रकोष्ठीया सिरा Anterior Ulnar Vein
२७ उत्ताना करतल धानुषी धमनी Superficial Volar Arch
२८ करतलधानुषी सिरा Palmar Arch
२९ अधरा महासिरा Inferior Vena Cava
३० दक्षिण वृक्क Right Kidney
३१ वाम वृक्क Left Kidney

३२-३३ अनुवृक्का सिराए' और धमनियाँ Renal Veins and Arteries
३४ अधरान्त्रिकी धमनी Inferior Mesenteric Artery
३५ दक्षिण अधिश्रोणिका धमनी और सिरा Right Common Iliac Artery and Vein
३६ वाम अधिश्रोणिका धमनी और सिरा Left common Iliac Artery and Vein
३७ अधिवस्तिक नालियाँ Hypogastric Vessels
३८ अधिश्रोणिका धमनी वाह्या External Iliac Artery
३९ और्वी धमनी Femoral Artery
४० और्वी सिरा Femoral Vein
४१ गभीरा और्वी धमनी Deep Femoral Artery
४२ आरोहिणी ऊरुवेष्ठनी धमनी Ascending Circumflex Femoral Artery
४३ अवरोहिणी ऊरुवेष्ठनी धमनी Descending Circumflex Femoral Artery
४४ पुरोजंघिका धमनी Anterior Tibial Artery
४५-४७ दीर्घोताना सिरा Great Saphenous Vein
४८ पादपृष्ठगा धानुषी सिरा Venous Arch oi Dorsum of foot
४८—A पादपृष्ठगा धानुषी धमनी Arcuate Arch of foot
६३ गवीनी Ureter
B मूत्राशय Bladder
D महाप्राचीरा पेशी Diaphragm

धमनी के रक्तस्राव में दबाव देने के स्थान।

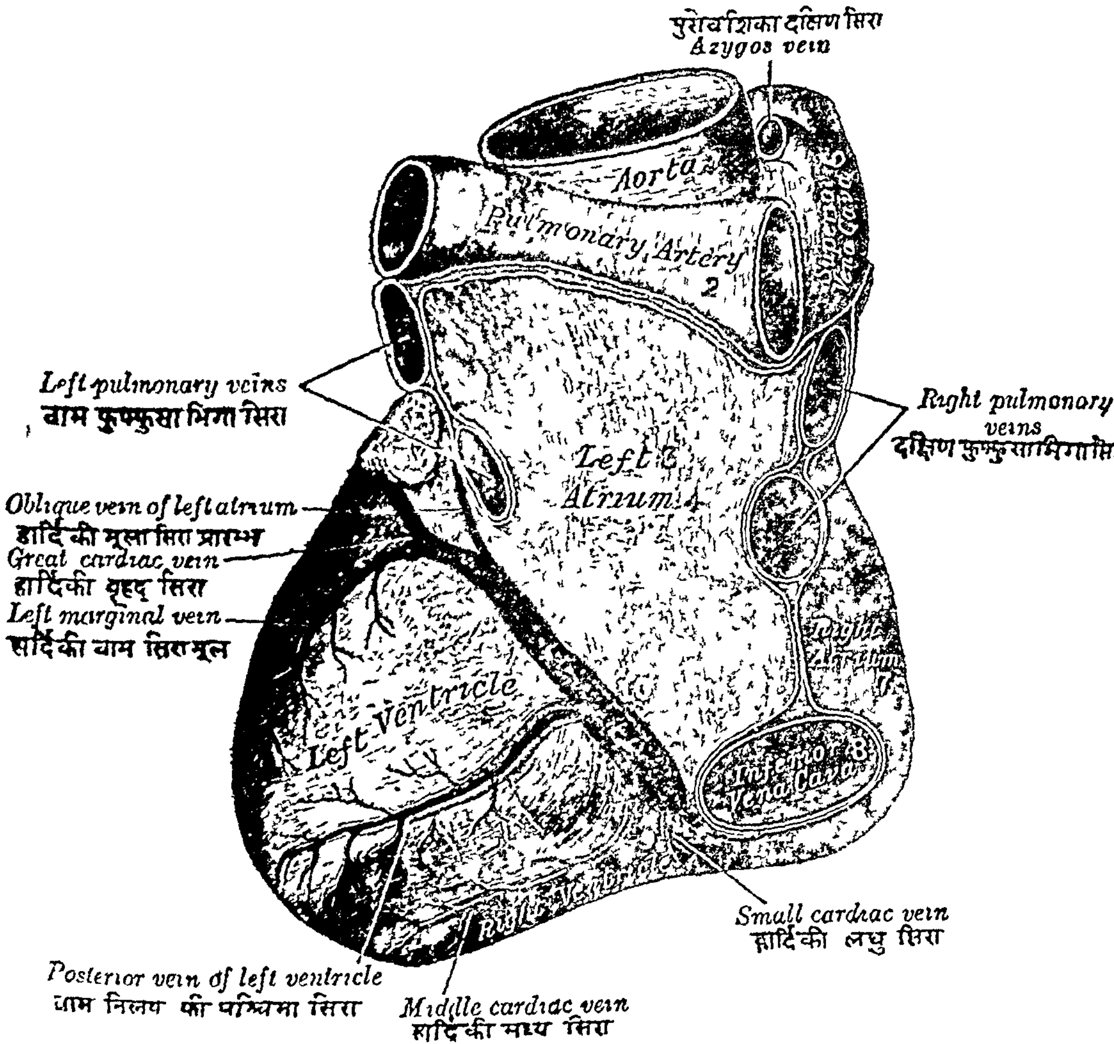
आगन्तुक रक्तस्राव मे हाथ पैर और मध्यकाय मे चिह्न किये हुए स्थान के ऊपर तथा जानु और कण्ठ पर चिह्न के नीचे दबाव देना चाहिये।

४९ कपालमूलिनी Occipital
५० अनुशंखा Temporal
५१ अनुकण्ठिका Facial
५२ मातृका Carotid
५३ अक्षाधरा Subclavian
५४ कक्षाधरा Axillary
५५-५६ बाहवी Brachial
५७-५८ और्वी Femoral
५९ अतः प्रकोष्ठीया Ulnar
६० बहिः प्रकोष्ठीया Radial
६१ उरु जानुपृष्ठिका Popliteal behind the knee
६२ पुरोजंघिका Anterior Tibial

चित्र नं० ६३ अ

हृदय के पीठ और पश्चिमअधस्तल

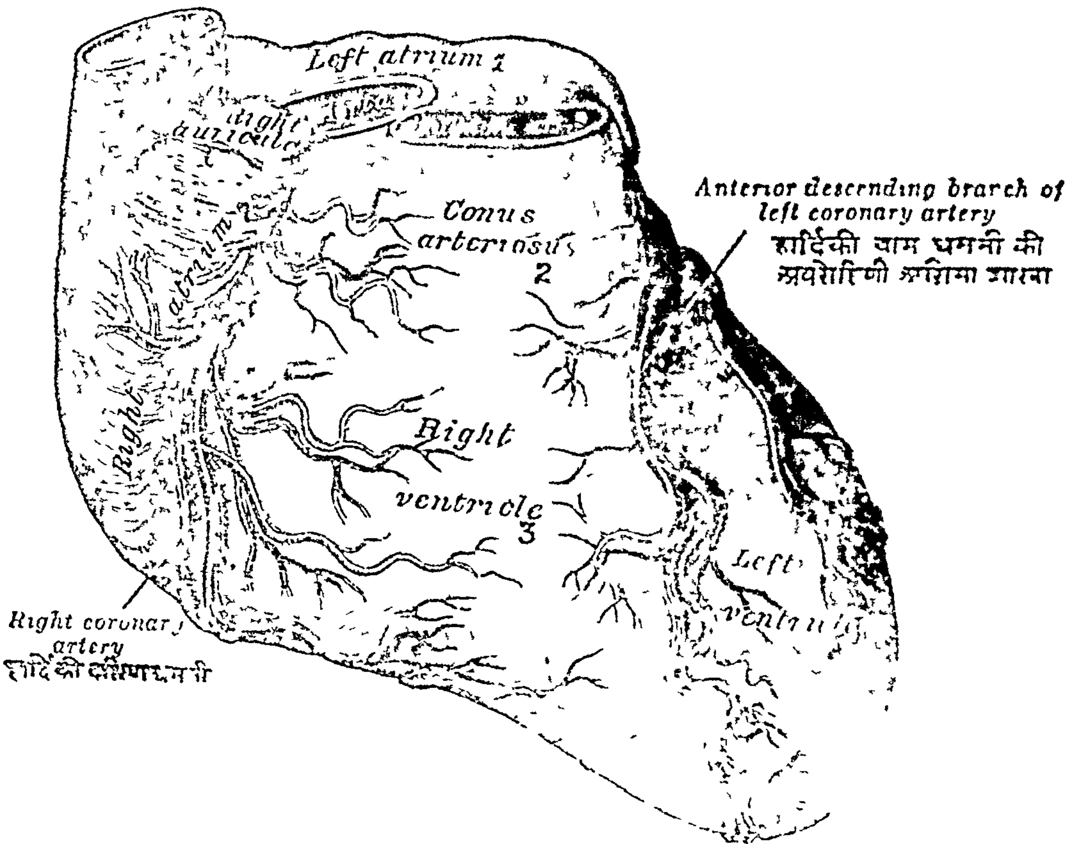
(वाम अलिन्द—निलय साह)



१ महाधमनी Aorta
२ फुफ्फुसाभिगा धमनी Pulmonary artery
३-४ वाम अलिन्द Left Atrium
५ वाम निलय Left Ventricle
६ उत्तर महासिरा Superior Vena cava
७ दक्षिण अलिन्द Right Atrium
८ अधरा महासिरा Inferior Vena cava
९ दक्षिण निलय Right Ventricle
१० हार्दिकी मूलसिरा Coronary sinus

हृदयतल

(उरःफलक और पर्शुकाओं से सम्बन्ध वाला)



१ वाम अलिन्द Left Atrium	६ दक्षिण अलिन्द शीर्षक Right auricula
२ दक्षिण निलय शीर्षक Conus arteriosus	७ दक्षिण अलिन्द Right Atrium
३ दक्षिण निलय Right ventricle	८ महाधमनी Aorta
४ वाम निलय Left Ventricle	९ फुफ्फुसाभिगा धमनी Pulmonary artery
५ उत्तरा महासिरा Superior Vena Cava	

चतुर्थ अध्याय

रक्त वाहक संस्था

१—शरीर

इस संस्था के दो मुख्य अंग हैं, हृदय और रक्तवाहिनियाँ। इन दोनों का वर्णन पृथक् पृथक् किया जायगा। वक्ष को नंगा करके हृदय की परीक्षा करते समय वक्ष और ग्रीवा मूल की ओर अवस्थित रक्तवाहिनियों की भी परीक्षा सरलता से की जा सकती है। चित्र नं० ६२ देखने पर शरीर में हृदय का स्थान मालूम पड़ेगा।

२—हृदय

हृदय मांस-पेशियों से बना है। अपनी इच्छानुसार हाथ-पैर आदि के समान उससे क्रिया नहीं करा सकते, अतः उसे अस्वाधीन (Involuntary) कहा है। इस हृदय का माप अपनी बन्द मुट्ठी की लम्बाई चौड़ाई जितना रहता है; अथवा बड़े मनुष्य के हृदय की लम्बाई ३६ अंगुल, चौड़ाई ४ अंगुल और गहराई ३ अंगुल के लगभग होती है। युवा पुरुष के हृदय का वजन लगभग ३० तोले और स्त्री के हृदय का वजन २० तोले होता है।

हृदय वक्ष में मुड़ा हुआ अवस्थित है और ऊपर से नीचे, आगे और बायीं तरफ झुका रहता है। इसका ⅔ भाग मध्य रेखा के बायीं तरफ रहता है। यह चार भागों में विभक्त है। उनको कोष्ठ कहते हैं। दो ऊपर के कोष्ठ दायां और बायां ग्राहक कोष्ठ (अलिन्द Auricle) कहलाते हैं; और दो नीचे के, दायां और बायां क्षेपक कोष्ठ (निलय Ventricle) कहलाते है। इन अलिन्दों में बॉयें की अपेक्षा दाहिना कुछ बड़ा है। चित्र नं० ६३ देखें इस तरह ऊपर की अपेक्षा नीचे के खण्ड बड़े हैं।

वाम अलिन्द—हृदय का सब से ऊपर का हिस्सा इसी कोष्ठ से निर्मित है जो मृतक शरीर में द्वितीय उपपर्शुका के पीछे प्रतीत किया जा सकता है। जीवितावस्था में यह साधारणतया द्वितीय पर्शुकान्तर में या द्वितीय उपपर्शुका अधो किनारे के पीछे रहता है। इसका ज्यादा भाग पिछली ओर छिपा रहता है। एवं हृदय गह्वर का ज्यादा भाग निर्मित करता है। चित्र नं० ६३

इस बाये अलिन्द में चार फुफ्फुसिया सिराओ (दोनो ओर रही हुई दो-दो सिराओं) द्वारा शुद्ध रक्त आता है। फिर बाये निलय में होकर महा-धमनी द्वारा सारे शरीर मे पहुँचा दिया जाता है। इस धमनी का सम्बन्ध सारे शरीर के साथ रहा है। अतः इसे 'जीवसाक्षिणी' नाम मिला।

दायां अलिन्द कोष्ठ—हृदय का वह भाग है जिसका अधिक हिस्सा दायी तरफ रहता है। यह उरोस्थि की दाहिनी धारा से भी एक इञ्च दायी तरफ निकल जाता है। एवं इसकी सीमा तृतीय ओर सप्तम उपपर्शुकासे लेकर उरोस्थिसे मिलनेवाली सधितक की वक्र रेखा द्वारा अंकित की जासकती है। इस दक्षिण अलिन्द मे उत्तरा महासिरा (मस्तिष्क आदि मे से) और अधरा महासिरा (उदर आदि भागों मे से) अशुद्ध रक्त लाती हैं। फिर अलिन्द भागमें से रक्तदक्षिण निलय भागमे होकर फुफ्फुसाभिगा धमनी की दो शाखाओं द्वारा शुद्ध होनेके लिये फुफ्फुसो मे चला जाता है। चित्र० नं० ६४

दायां निलय कोष्ठ—हृदयके आगेके हिस्से अधिक भाग इसीसे निर्मित है, एवं हृदयकी अधोधारा भी यही बनाता है। अधोधारा दायी सातवी उपपर्शुका के उरोस्थि से मिलने की सधिसे लेकर हृदय के शिखर तक आती है। चित्रनं० ६४.

बाम निलय कोष्ठ—यह दाये निलय कोष्ठ के पीछे रहता है। इसलिये दिखलाई नही देता। केवल थोड़ासा भाग, जिसकी चौडाई आध इञ्चके लगभग होती है, उतना सामने दिखाई देता है; एवं यह हृदय की वामधारा बनाता है। जहाँ कि इसकी सीमा बाहर की तरफ निकली हुई वक्र रेखा के समान मालूम पडती है। यह रेखा हृदय-शिखर (Apex) से ऊपर की ओर वक्षोस्थि से जरा बाहर वाम द्वितीय-पर्शुकान्तर तक जाती है। कपाटो एवं बडी रक्तवाहिनियो की स्थिति के बाह्यचिह्न एवं श्रवण स्थान, श्रवण परीक्षामे (इसी अध्यायके पचम खण्डमें) विस्तार पूर्वक वर्णित किये जायेंगे, क्योकि उनका महत्त्व श्रवण परीक्षा मे सबसे ज्यादा है। चित्र नं० ६३.

वामदक्षिण अलिन्दो की सकोच-विकास क्रिया एक साथ होती हैं पहले दोनो अलिन्द खण्ड बलपूर्वक बंद होते हैं। इस अलिन्द संकोचको एट्रियल सिस्टोल (Atril Systole) सज्ञा दी है। फिर दोनो निलय संकोच होते हैं। इसे (वेण्ट्री क्यूलर सिस्टोल Ventricular Systole) कहते हैं। इन दो क्रियाओ के होजाने पर हृदय आध सेकिण्ड से कम समय विश्रान्ति लेता है। इस तरह अलिन्द सकोच, निलय संकोच और विश्रान्ति, ये क्रियाएँ स्वस्थावस्था में क्रमशः नियमित होती रहती हैं।

इन क्रियाओं में जब दोनों निलय संकोच होनेसे उनके कपाट बन्द होते हैं, तब लब् (ल........ब्) जैसी गहरी आवाज सुनने में आती है, फिर दोनों निलय का प्रसारण होने पर महाधमनी और फुफ्फुसभिगा धमनी के द्वार बन्द होने पर 'डब्' ऐसी तीव्र आवाज प्रतीत होती है। हृद् रोग, पाण्डु, आमवात आदि रोगोंमे इस आवाज मे अन्तर होजाता है।

हृदय के दक्षिण अलिन्द-निलय के बीच जो पर्दा है, उसे त्रिपत्र कपाट और वाम अलिन्द निलय के बीचके पर्दा को द्विपत्र-कपाट सज्ञादी है। इन कपाटो का कार्य रक्त को वापस लौटने न देना है। जैसे हृदयमे कपाट हैं, वैसेही धमनियोंके मुख पर अर्द्धचन्द्राकार कपाटिकाएं रहती हैं। जिससे धमनियों में से रक्त वापस हृदय मे लौट न सके। किन्तु कपाट या कपाटिका जब दूषित होजाते हैं, तब बन्द नहीं होसकते या अपूर्ण बन्द होते हैं, अथवा असमय पर बन्द होते हैं, या खुल नहीं सकते। जिससे शरीरमें नाना प्रकार की विक्रिया होजाती हैं।

हृदय का सम्बन्ध शरीर के अनेक महत्त्वपूर्ण अगो से रहता है। जिनमें से ये मुख्य हैं—हृदय के दोनो पार्श्व में फुफ्फुस, नीचे की ओर यकृत् और ऊपर की ओर बडी रक्तवाहिनियाँ। हृदय के आगे के तल का बहुत थोडा सा भाग ही, मध्यरेखा मे, वक्ष को दो भागो मे विभाजित करने वाले अग्र फुफ्फुसान्तराल* (Mediastinum) के कुछ भाग द्वारा, वक्षभित्ति से पृथक्

---

*फुफ्फुसान्तराल प्रदेश—यह प्रदेश दोनों फुफ्फुसों के बीच का खाली भाग है। यह छाती में अगली ओर रहे हुए उरःफलक की पिछली ओर से पृष्ठवंश की अगली बाजू तक फैला हुआ है। इसमें ऊर्ध्व और निम्न, ऐसे दो विभाग हैं।

ऊर्ध्व प्रदेश—इसके भीतर तोरणी महाधमनी, उत्तरा महासिरा, गलमूलिकाशिरा, प्राणदानाडी, बृहत् श्वासनलिका, अन्न नलिका, रसकुल्या (Thoracic duct) और बाल ग्रैवेयक ग्रन्थि (Thymus gland) का शेष भाग आदि रहे हैं।

निम्न प्रदेश—इसमे अग्र, मध्य और पश्चिम ३ विभाग किये हैं। अग्रभाग हृदयकोष की अगली ओर से उरोस्थि की पिछली बाजू तक रहा है। मध्य भाग के भीतर हृदय, आरोहिणी महाधमनी, उत्तरा शिरा का निम्नार्द्ध भाग, श्वास नलिका की दो मुख्य शाखा आदि अवस्थित हैं। पश्चिम भाग में अवरोहिणी महाधमनी, अन्न नलिका तथा रसकुल्या आदि रहे हैं।

होता है। जब कि इसकी पिछली तह पश्चिम फुफ्फुसान्तराल को ग्रहण करने वाली बनावट से सम्बन्धित है।

वक्ष का पूर्वतल जिसके पीछे हृदय अवस्थित है, हार्दिक प्रदेश कहलाता है। इस प्रदेश के विस्तार की ठीक-ठीक व्याख्या करना कठिन है।

हृदय तथा कपाटो को ठीक स्थिति मालूम करने के लिये वक्ष पर कुछ कल्पित तथा कुछ स्वाभाविक चिह्न निश्चित किये गये हैं। इसके लिये पर्शुकान्तर और पर्शुकाएँ अच्छी सहायता प्रदान करते हैं। इनको गिनने के लिये प्रथम चिकित्सकको उरोस्थिके गात्र और ग्रैवेयक भाग (Manubrium) संधि स्थान को मालूम करना चाहिए, जहाँ पर कि एक कोण-सा होता है, जिसे "लुईस का कोण" (Angle of louis) या उरोस्थिकोण (Sternal angle) कहते हैं। इसे स्पर्श करते हुए बाहर की तरफ आने से, द्वितीय उपपर्शुका जहाँ उरोस्थि से मिलती है वहाँ स्पर्श किया जा सकता है। एक समय यह स्पर्श कर लेने के पश्चात् पर्शुकाओ के ऊपर से नीचे गिन लेना आसान है। प्रथम पर्शुका की प्रतीति न इतनी सरल है और न इतनी विश्वसनीय ही, क्योकि यह अक्षकास्थि से ढकी रहती है।

लम्ब रेखाएँ—सुविधार्थ निम्नानुसार कुछ लम्ब रेखाएँ निश्चित की गई हैं, ताकि हृदय स्थानो का निर्देश सुगमता से हो सके।

उरोस्थि मध्य रेखा—उरोस्थि के मध्य मे खीची जाती है।

उरोस्थि पार्श्व रेखाएँ—उरोस्थि के दोनो पार्श्वधाराओं के साथ जाती हैं।

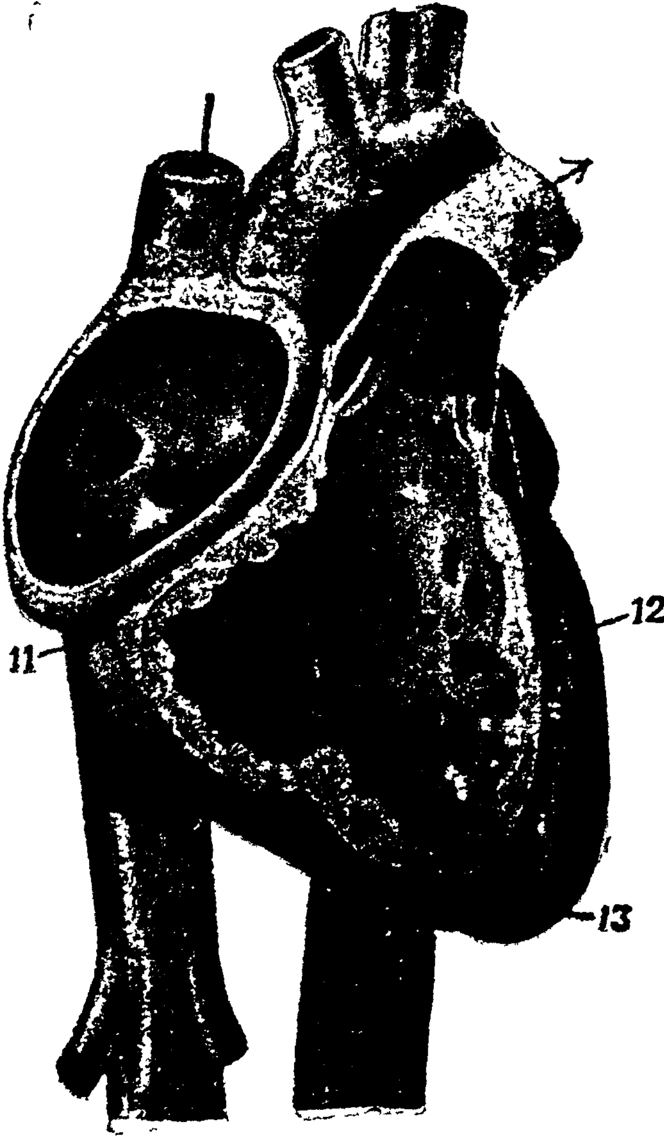
चूचुक रेखा—जो स्तन वृन्त पर से गुजरती है। चूंकि स्तन वृन्त के स्थान सर्वदा नियत नही है (साधारणतया यह स्थान मध्य से ४ इञ्च दूर चतुर्थ पर्शुकान्तर मे होता है) इसलिए इसको दर्शाने के लिये अक्षकास्थि का मध्य भाग निश्चित किया है। अथवा कुछ अंश मे वह रेखा उत्तान उरोस्थिखात् के मध्यभाग और अंश प्राचीर के अग्रभाग के बीच में से निकलती है।

उरोस्थि प्रान्त रेखा—यह रेखा उरोस्थि पार्श्वरेखा और चूचुक रेखा के मध्य मे खीची जाती है।

अग्र, मध्य, पश्चात् कक्षा रेखा—कक्षा की अग्रधारा, मध्य और पश्चिम धारा के साथ खीची जाती है।

चित्र नं० ३

हृदय के दक्षिण आलिन्द-निलय



१ दक्षिण अलिन्द Right Auricle
२ दक्षिण निलय Right Ventricle
३ उत्तरा महासिरा Superior Vena Cava
४ आरोहिणी महाधमनी Ascending Aorta
५ फुफ्फुसाभिगाधमनी Pulmonary Artery
६ अधरा महासिरा Inferior Vena Cava
७ अवरोहिणी महाधमनी Descend-
८ शुक्तिखात Fossa Ovalis
९ त्रिपत्रकपाट Tricuspid Valve
१० अर्धचन्द्राकार कपाटिका Semilunar Valve
११ हार्दिकी धमनी (दक्षिण) Right Coronary Artery
१२ हार्दिकी धमनी (वाम) Left Coronary Artery
१३ हृदयाग्र भाग Apex of the Heart

स्कंध रेखा—यह स्कन्धास्थि के अधोकोण से खींची जाती है।

सूचना—विशेष वर्णन पंचम अध्याय में देखें।

उपर्युक्त समस्त रेखाएँ खड़ी रेखाएँ हैं। ये सब ऊपर से नीचे की तरफ खींची जाती हैं और प्रत्येक दो-दो होती हैं। एक वक्ष में बाँयी तरफ और दूसरी दाहिनी तरफ।

हृदय की परीक्षा करने के लिये उसका दर्शन, स्पर्शन, ठेपन, एवं श्रवण किया जाता है। इनका एक-एक करके वर्णन किया जायगा, हालाकि क्रियात्मक परीक्षा में दर्शन और स्पर्शन एक साथ करना अक्सर लाभप्रद सिद्ध हुआ है।

२. दर्शन

इसमें निम्न बातें देखी जाती हैं—

अ. आकृति—

(१) हृदय प्रदेश *A.* उभरा हुआ; *B.* समतल प्रदेश।

(२) चारों ओर के भागों की (मुख्यतया उभारयुक्त) आकृति।

आ. संचलन (धड़कन)—

(१) **अग्र हृदय प्रदेश**—यह प्रदेश आगेकी ओर रहा है। जिसमे हृदयावरण और आमाशय का अग्रभाग कुछ अंश में आता है। इसमें *A.* शिखर स्पन्दन, *B.* प्रसारित स्पन्दन, *C.* हृदय नल मे स्पन्दन, *D.* स्थानिक अन्तराकर्षण।

(२) **अग्र हृदय प्रदेश के बाहर**—*A.* ग्रीवा मूल में स्पन्दन, *B.* वक्ष मे स्पन्दन, *C.* कौड़ी प्रदेश में धड़कन।

इ. शिरा और सूक्ष्म शिराओं का प्रसारण—

वक्ष की दर्शन परीक्षा के लिये प्रथम रोगी को कटि पर्यन्त नग्न करे। तथा प्रकाशयुक्त स्थान में खड़ा रख कर या सीधा बैठा कर परीक्षा करे। फिर इसके पश्चात् पीठ के बल लिटा कर परीक्षा करे। चिकित्सक उसके सम्मुख बैठ कर परीक्षा कर सकता है, परन्तु इस बात का पूर्ण ख्याल रहे कि कहीं प्रकाश आने में बाधा न उपस्थित हो जाय। चिकित्सक अगर रोगी के सिरहाने की तरफ बैठना लाभप्रद समझे तो ऐसा भी कर सकता है। कभी-कभी सिर नीचा झुका करके उसे रोगी की वक्ष की सतह में लाकर एक नेत्र बंध करके भी परीक्षा करना उपयोगी माना गया है। क्योंकि इस विधि से वक्ष के उपस्थित सम्पूर्ण स्पन्दन आसानी से प्रतीत हो जाते हैं।

इसके पश्चात् निम्न बातें मालूम करनी चाहिये—

(१) अग्र हृदयप्रदेश की आकृति।
(२) अग्र हृदयप्रदेश मे स्पन्दन।
(३) उभार या स्पन्दन की अग्र हृदयप्रदेश के बाहर उपस्थिति—ग्रीवा, मूल वक्ष या कौड़ी प्रदेश मे।
(४) वक्ष की दीवार या ग्रीवा मे प्रसारित शिराओं की उपस्थिति-अनुपस्थिति।

(१) अग्र हृदय प्रदेश की आकृति

स्वस्थावस्था मे वक्ष के दोनो पार्श्व समान होते है। बायें पार्श्व मे हृदय स्थित होने पर भी हृदय प्रदेश में उसी के समान दायें पार्श्व से किसी प्रकार की विशेषता नही होती।

जब हृदय प्रदेश की आकृति में किसी प्रकार की विशेषता दिखलाई दे, तो भी चिकित्सक को यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि, यह विशेषता हृदय रोगो के अतिरिक्त अन्य कारणो से भी उत्पन्न हो सकती है। इसके साथ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि, गम्भीर हृदय रोगो में बहुत कम हृदय प्रदेश मे किसी प्रकार का उभार होता है; और वह भी उस हालत में होता है, कि जब कि रोगी की बाल्यावस्था के कारण उसकी अस्थियो का विकास पूर्णतया नही हो पाता।

हृदय प्रदेश में उभार—

उत्सेध—अगर हृदय प्रदेश में उभार प्रतीत हो तो देखना चाहिये कि पर्शुकाएं भी प्रभावित हैं या सिर्फ पर्शुकान्तर ही उभर रहा है। तरल युक्त हृदयावरण प्रदाह होने पर सिर्फ पर्शुकान्तर ही उभरते है। हृदय प्रदेश मे उभार अन्य कारणो से भी हो सकता है। जैसे वक्ष की रचना भाग में रोग उत्पन्न होने पर—जैसा पृष्ठ वंश की अस्वाभाविक वक्रता (Scoliosis), दीवार गत अर्बुद और व्रण, तथा वक्षस्थ अंगो के रोग जैसे—फुफ्फुसकाकर्क स्फोट, तरल मय उरस्तोप, फुफ्फुस अन्तराल प्रदेश मे अर्बुद, हृदयावरण मे तरल जमा होना, हृदय विस्तृति (मुख्यतया बाल्यावस्था में) हृदय के ऊपर या पीछे की तरफ महाधमनी का धमन्यार्बुद (Aneurysm) (चित्र नं० ६७) आदि।

अग्रहृदय प्रदेश का समतल होना—स्वस्थावस्था में वक्ष आगे की तरफ फूली रहती है। परन्तु जब यह नीचे की तरफ आकर्षित होकर सपाट हो जाय तो रोग उत्पत्ति समझनी चाहिये। वक्ष सपाट जन्मलब्ध भी हो

सकती है। यह, हृदयावरण प्रदाह, फुफ्फुसों के सकोच तथा कभी कभी, इस प्रकार के कार्य व्यवहार (सिलाई करना, जूता सीना आदि) से भी जिनके अन्दर वक्ष पर भार पड़ता हो, अन्दर की तरफ आकर्षित हो जाती है।

(२) अग्र हृदय प्रदेश में धड़कन

श्वास क्रिया के साथ सम्पूर्ण वक्ष गति करता है। परन्तु इसके अतिरिक्त अग्र हृदय प्रदेश में एक धड़कन और प्रतीत की जा सकती है। वह प्रत्येक श्वास क्रिया मे ३-४ बार होती है तथा साधारणतया हृदय प्रदेश के सब से नीचे के और बाह्य भाग मे हृदय शिखर पर प्रतीत की जा सकती है। विशेष स्थूल व्यक्तियों में कभी कभी प्रतीत नही भी होती। इस धड़कन को हृदय शिखर-स्पन्दन कहते हैं।

हृदय शिखर स्पन्दन—स्वस्थावस्था में इसकी निम्न मुख्यता रहती है।

१—यह बाये पॉचवे पर्शुकान्तर में प्रतीत होता है।

२—यह एक इञ्च से भी कम चौड़े स्थान मे सीमित होता है, तथा एक पर्शुकान्तर में ही प्रतीत होता है।

३—यह बायीं प्रान्त उरोस्थि रेखा के बाहर तथा बायीं चूचुक रेखा के अन्दर की तरफ स्थित है।

४—हृदय के शिखर का वक्षभित्ति के साथ सम्बन्ध होने तथा हृदयाकुञ्चन काल के स्पन्दन के समय उसे धक्का लगाने के कारण वह उत्पन्न होता है। रोग परीक्षा के लिये हृदय शिखर की स्थिति निश्चय ही उक्त सीमा के बिल्कुल अधो और बाह्य भाग मे समझनी चाहिये। हाला कि कुछ मनुष्यों में यह इससे कुछ नीचा और बाहर की तरफ, पर्शुका के आच्छादन के नीचे अवस्थित देखा गया है।

शिखर-स्पन्दन की शक्ति, स्थान और विस्तार में अस्वाभाविकता उत्पन्न हो सकती है। स्वस्थावस्था मे भी अगर वक्ष की दीवार मोटी है या शिखर पर्शुका के पीछे स्थित है, तो स्पन्दन प्रतीत नहीं होता। फलक इसकी अनुपस्थिति सर्वदा रुग्णावस्था का चिह्न नहीं समझ लेना चाहिये। हाला कि यह कभी नहीं भुलाया जा सकता कि, हृदय दुर्बल होने पर यह अनुपस्थित हो सकती है, या इसकी शक्ति कम हो सकती है। इसके अनुपस्थित होने पर कभी कभी अग्र हृदय प्रदेश के निम्न भाग मे विस्तृत धड़कन प्रतीत होती

है। यह विस्तृत धड़कन दो अवस्थाओं में उत्पन्न हो सकती है। १—दाये निलय कोष्ठ की विस्तृति, एवं २—हृदय आवरण में तरल जमा होने के फल स्वरूप हृदय शिखर का वक्षभित्ति से दूर हो जाना। दूसरी ओर हृदय का कार्य उत्तेजित होने, वक्षभित्ति के पतली होने तथा वाम निलय की **वृद्धि** होने पर धड़कन अधिक स्पष्ट और बल पूर्वक होती हुई प्रतीत की जा सकती है। इस प्रकार के परिवर्तन स्पर्श परीक्षा से ज्यादा अच्छी तरह से जाने जा सकते है, इसलिये इस स्पर्श परीक्षा मे विस्तार से वर्णन किये जायेंगे।

हृदय-शिखर-स्पन्दनकी स्थानच्युति—निम्न तीन प्रकारके कारणो से होसकती है।

१. सहजात—कुछ व्यक्तियो मे जन्मसे ही हृदय उल्टा होता है इसलिये शिखर बायी ओर होने के स्थान पर दायीं ओर होता है। उसे डाक्टरीमें "डेक्सियो कार्डिया" (Dexiocardia) कहते है। महाधमनीमे संकोच होनेके फलस्वरूप हृदयके वामनिलय कोष्ठ की वृद्धि होजाती है। एवं जहॉ फुफ्फुसाभिगा धमनीकी संकीर्णता होती है तथा फुफ्फुसाभिगा धमनी और महाधमनीके बीच चौडी नाली होती है, वहॉ पर हृदयका दक्षिण भाग प्रसारित हो जाता है। जिससे वाम निलय की स्थानच्युति होजाती है।

२ बाह्यकारण—हृदयके शिखर स्पदन की स्थानच्युतिमें हृदय विकृति के अतिरिक्त कारण यह है कि, चारो ओर अवस्थित अवयवो की रोगयुक्त स्थिति, जो हृदयको नीचे ढकेल देती है, या ऊपरकी ओर हटा देती है। ऐसी स्थिति तरलमय उरस्तोय, वातभृत फुफ्फुसावरण, फुफ्फुस के तन्तुओ की अपक्रांति' फुफ्फुसका बलक्षय और किसी कारणवश महाप्राचीरा पेशीका शोथ, आदि रोगोमे उपस्थित होती है। एवं यह भी स्मरण रखना चाहिये कि, अस्वाभाविक पृष्ठ वंशकी वक्रता (Scoliosis) अर्थात् एक ओर मुड जाना, यहभी शिखर स्पन्दन की बाहर की तरफ च्युतिका साधारण कारण है।

उरस्तोय, वायुभृत फुफ्फुसावरण इन दोनो रोगो का विवेचन चिकित्सा तत्त्व प्रदीप द्वितीय खण्डके अन्तभागमे विस्तार पूर्वक किया गया है।

बाये फुफ्फुसावरण मे वायु भर जाने या बाये फुफ्फुसावरण मे तरल भरजाने पर हृदय दाहिनी तरफ धकेल दिया जाता है, तब धडकन उरोस्थिके दाहिनी तरफ प्रतीत होने लग जाती है। परन्तु उस अवस्थामे यह धडकन शिखर को नहीं होती। क्योंकि यह तो उरोस्थि के पीछे छिप जाता है,

अपितु यह धड़कन दायें अलिन्द और निलय कोष्ठों के स्पन्दन से उत्पन्न होती है। चित्र न ६९ देखें।

३. हृदय रोगों से स्थान च्युति—हृदय रोग-जैसे, रक्तचापवृद्धि, महाधमनीके रक्तका प्रत्यावर्तन, महाधमनी अवरोध आदिमें भी शिखरकी धड़कन स्थानच्युत होजाती है।

उपर्युक्त कारणोंके अतिरिक्त यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि, हृदय शिखरस्पंदनकी स्थिति रोगीकी आयुपर बहुत निर्भर है, तथा अवस्थानुसार इसमें काफी अन्तर होता है। बाल्यावस्थामे साधारणतया यह चौथे पशुकान्तर में प्रतीत होती है, जबकि वृद्धावस्थामे धीरे-धीरे छटवे पशुकान्तर तक नीचे उतर आती है।

कभी-कभी शिखर-स्पन्दन स्थान पर स्पन्दनहोकर वह भाग हृदय आकुंचन के साथ ही अन्दरकी तरफ आकर्षित होता हुआ प्रतीत होता है। जब यह अन्तराकर्षण अधिक हो और अग्र हृदय प्रदेशके निम्नतर प्रदेशके विस्तृत भागमे हो तो इसे हृदयावरणकी दोनो तहो के सलग्न होजाने का चिह्न समझना चाहिये। यदि अन्तराकर्षण कम मात्रामे और कम स्थानमे हो तो किसीभी कारणसे हृदय विस्तृति समझनी चाहिये और मुख्यतया रोगी युवा होनेपर।

शिखर के अतिरिक्त स्थानों में स्पन्दन—इसके पश्चात् अग्रहृदय प्रदेश मे अन्य स्थानो पर उत्पन्न धड़कनों को ज्ञात करना चाहिये। विस्तृत शिखर धड़कन (Diffuse Pulsation) के विषय मे कुछ पूर्व लिख दिया गया है। यह दाये निलय कोष्ठ की विस्तृति के फलस्वरूप उत्पन्न होती है, तथा जो इन परिस्थियो मे नीचे की ओर अनेक पशुकान्तरों मे स्वाभाविक शिखर-स्पन्दन की तुलना मे, मध्य रेखा के ज्यादा पास प्रतीत की जाती है।

अक्सर बाये द्वितीय पशुकान्तर मे भी एक प्रकार की धड़कन प्रतीत होती है। साधारणतया यह स्पन्दन फुफ्फुसिया धमनी की धड़कन होती है, जो कि आधी तो उरोस्थि के बाएं भाग के पीछे और आधी बाये द्वितीय पशुकान्तर के भीतरी सिरे के पीछे रहती है या यह स्पन्दन धमनी मे अर्बुद (Anuerysm) होने पर होती है।

क्षीण व्यक्तियो मे वक्षभित्ति पतली हो जाने पर बाये फुफ्फुस में सौत्रिक तन्तुओ की अपक्रान्ति होकर वृद्धि हो जाने पर विस्तृत हृदय स्पन्दन शिखर के अतिरिक्त अग्र हृदय प्रदेश के अनेक स्थानों मे पशुकान्तरो के भीतर प्रतीत होने लग जाता है। इस अवस्था मे भी हृदय का शिखर-स्पन्दन

बाईं प्रान्त उरोस्थि रेखा तथा चूचुक रेखा के मध्य वक्ष के एक सीमित स्थान को हृदय के प्रत्येक स्पन्दन के साथ ऊँचा उभारता हुआ पृथक् ही प्रतीत किया जा सकता है। जब यह विस्तृत स्पन्दन दायें निलय कोष्ठ के आकुंचन क्रिया से उत्पन्न होता है, तब पर्शुकान्तरों के कुछ भाग का अन्तराकर्षण उसके साथ प्रतीत होता है।

(३) अग्र हृदय प्रदेश से बाहर स्पन्दन

ऊपर उल्लिखित स्पन्दनों के अतिरिक्त ग्रीवा मूल, वक्ष के सामने या कौड़ी प्रदेश में किसी प्रकार की गति हो रही हो तो उसे भी ज्ञात करना चाहिये।

ग्रीवा मूल में धड़कन—इसमें यह कण्ठ कूप (Jugular notch) अथवा उरःकर्णमूलिका* (Sterno mastoid) के बाहर की तरफ उत्पन्न होता है।

कण्ठ कूप में स्पन्दन—इस स्थान पर स्पन्दन हृदय संकोच के समय होता है। जब यह स्पष्ट प्रतीत हो तो इसे महाधमनी के महराब का रक्त दबाव वृद्धि के कारण ऊपर की तरफ उठ जाना या महराब में धमन्यर्बुद का प्रतीक समझना चाहिये। क्षयी अक्ष का धरा पेशी की मूलभूत अस्वाभाविकता के फलस्वरूप भी यह स्पन्दन कभी-कभी मध्य रेखाके बायी ओर प्रतीत होने लगजाता है। इस अवस्थाका विशेष ज्ञान स्पर्श परीक्षा द्वारा प्राप्त किया जासकता है।

उरःकर्ण मूलिकाके बाहरकी तरफ—यहा पर अनेक प्रकारकी धड़कन प्रतीत होसकती है। यह या तो धमनी की होती है या शिराकी। महामातृका स्पन्दन मानसिक उत्तेजना होने पर दिखायी देने लगजाता है। अधिक परिश्रम, शराब आदिका सेवन, मानसिक आघात, क्रोध आदि कारणो से मानसिक उत्तेजना होती है। इनके अतिरिक्त रक्ताभिसरण क्रियामें उत्तेजना पैदा कर देनेवाले रोगोमे, जैसे तुगाक्ष गलगण्ड, महाधमनी मे से रक्तका प्रत्यावर्त्तित होना (Aortic incompetence) धमनी में अर्बुद सा होजाना तथा रक्तभारकी वृद्धिमे कभी कभी महामातृका धमनीमे अस्वाभाविक

---

*उरःकर्ण मूलिका पेशी—यह मोटी और दृढ़ डोरीकेसदृश मास पेशी है। यह गले मे दोनों ओर १-१ कुछ टेढ़ी रही है। यह उरःफलक के ऊर्ध्व भाग, अक्षकोरःसधान एव अक्षकास्थि के अन्तरार्द्ध पर से उत्पन्न होकर गलेकी बजूमे ऊपर तथा कुछ पीछे जाती है।

धड़कन पैदा होजाती है। इनमें से रक्तदबाव वृद्धिमे दाहिनी महामातृका धमनी के भीतर अस्वाभाविक स्पन्दन महामातृकामे मरोड होजाने (Kinking) के कारण होता है, वह धमनी में अर्बुद का भ्रम करा देता है। अतः खयाल रखना चाहिये।

साधारणतया ग्रैवेयिक शिराओंमे स्वस्थावस्थामे ही धड़कन प्रतीत होती है, परन्तु अगर यह वृद्धिको प्राप्त होजाय और शिराये फूली हुई हों तो समझना चाहिये कि दाये अलिन्द कोष्ठमे रक्त ज्यादा भरता है या वह वृद्धियुक्त होगया है —यह धड़कन कभी कभी त्रिपत्र कपाट (दक्षिण-अलिन्द निलय के बीचके पर्दों) में विकृति के फलस्वरूप रक्तके वापस अलिन्द कोष्ठमें आजाने से भी प्रतीत होने लगजाती है। इसका विस्तृत वर्णन इसी प्रकरणमे आगे नाडी परीक्षा के अन्तर्गत शिरा-स्पन्दन के साथ किया जायगा।

वक्षमें स्पन्दन—पूर्व वर्णित अग्रहृदय-प्रदेश मे प्रतीत होनेवाली धड़कनो के अतिरिक्त कभी कभी दाहिने द्वितीय पर्शुकान्तर मे हृदय-प्रसारका स्पन्दन (Diastolic pulsation) भी दिखलाई देता है। यह महाधमनी की अर्द्धचन्द्राकार कपाटिकाओं के बन्द होनेकी विकृति के कारण उत्पन्न होता है। बृहद्धमनी मे अर्बुद-सा होजाना, यह एक ऐसा महत्वपूर्ण कारण है, जो वक्षके अस्वाभाविक स्थानो पर स्पन्दन उत्पन्न कर देता है। आरम्भिक अवस्थामें तो सर्वदा इस प्रकारका स्पन्दन चौथी पर्शुकाके ऊपर ही सीमित रहता है। परन्तु जीर्णावस्थामे वक्षभित्तिके अधिक भागको प्रभावित कर देता है। स्पन्दन स्थान की स्थिति महाधमनी के पीडित भाग पर निर्भर है। अगर ऊर्ध्वगामी (आरोही) (ascending) बृहद्-धमनी मे विकृति है तो स्पन्दन मुख्यतः उरोस्थि के दाहिनी ओर होता है। जब अनुप्रस्थ बृहद्-धमनीमे हो तो उरोस्थि के सिरेके पीछे अस्पष्ट स्पन्दन होता है। एवं अवरोही बृहद्-धमनीमें हो तो और अधिक बायी तरफ स्पन्दन प्रतीत होता है। काण्ड मूला धमनी (Innominate art.) मे अर्बुद उपस्थित होने पर स्पन्दन ग्रीवामे ऊपर की ओर प्रतीत होता है। यह स्पन्दन हृदयसकोच के समय उत्पन्न होता है, तथा ठीक शिखर स्पन्दन के बादही होता है तथा इसका स्वरूप ज्यादा विस्तृत होसकता है।

पूयमय स्थानमें स्पन्दन—पूय सगृहीत स्थान मे स्पन्दन बहुत कम देखा गया है; परन्तु अग्रहृदय प्रदेशमे पूय उत्पन्न होने पर हृदय कम या ज्यादा स्थान च्युत होजाता है, इसी प्रकार दुष्ट-अर्बुद, जिसमे रक्त ज्यादा मात्रामे पहुँचता हो, उसमें भी जहाँ यह स्थिति है उसके ऊपरकी वक्षभित्तिमे स्पन्दन उत्पन्न कर सकता है।

हृदयके आकुंचन के साथ कुछ अधो पशुकाओंका वक्ष के पार्श्व एवं पश्चात् भाग मे अन्दर की तरफ आकर्पित होना विस्तृत हृदयावरणकी सलग्नता का चिह्न है। इस प्रकार का हृदयावरण संयोग सिर्फ केन्द्रस्थ कडरा (Tendon*) को ही प्रभावित नहीं करता। अपितु एक तरफ तो महाप्रचीरा पेशी के मासल भाग को और दूसरी तरफ वक्ष की पूर्वभित्तिको भी साथही प्रभावित करता है। यह अक्सर बायीं तरफ होता है। इसे प्रसिद्ध करनेवाले विद्वान् के नाम अनुसार ब्रोडबैंटका चिह्न (Broad bent's Sign) सज्ञादी है। इसके साथही यह भी जान लेना महत्त्वपूर्ण है कि यह चिह्न हृदयावरण-संयोग न होने परभी बड़ी हुई हृदय विस्तृति के फलस्वरूप उत्पन्नहो सकता है।

कौड़ी प्रदेश में—अनेक प्रकार के स्पन्दन प्रतीत हो सकते हैं। सबसे पूर्व इसमे यह बात ज्ञात करनी चाहिये कि यह स्पन्दन बलपूर्वक हृदय के संकोच के साथही होता है। अर्थात् शिखर-स्पन्दन और कौड़ी स्पन्दन एक साथही हो रहा है या यह शिखर स्पन्दन होजाने के ठी बाद होता है।

उपर्युक्त प्रथम प्रकारका स्पन्दन कौडी प्रदेशमे दाहिने निलय कोष्ठकी विस्तृति और वृद्धि होने पर होता है; जो कि सीधाही सम्बन्ध होजाने से उत्पन्न होताहै; या परोक्षरूपसे यकृत् को धक्का लगने से या यह शिखर-स्पन्दन के दायी तरफ स्थानच्युत होजाने से भी उत्पन्न हो सकता है। यह स्थान-च्युति अक्सर किसी रोगके कारण उत्पन्न होती है जिसमे से बाये फुप्फुसा-वरण प्रदाह और वातभृत फुफ्फुसावरण रोग मुख्य हैं।

द्वितीय प्रकारका स्पन्दन जो हृदयके संकोच के बाद होता है। उसका कारण धमनियोमे विकृति हो सकता है। उदरस्थ महाधमनी मे अर्बुद होने पर यह उत्पन्न होजाता है। इस प्रकार का स्पन्दन अक्सर वात नाडी क्रिया मे विकृति होने पर उत्पन्न होता है। इतना होनेपरभी चिकित्सक को यह न भूलना चाहिये कि, यकृत् या उदरस्थ कोई अर्बुद जैसा आमाशयिक कर्कस्फोट के कारण (महाधमनी मे चाहे किसी प्रकार की विकृति न हो, तो भी) कौडी प्रदेशमे स्पन्दन प्रतीत होने लगजाता है। इसका विस्तृत वर्णन पहले अध्याय के ३रे खंड के भीतर कौडी प्रदेश मे लिख दिया गया है।

***कण्डरा**—मासपेशीकी सीमा जहाॅ समाप्त होती है, वहाॅ पर उसका रूप सर्वदा भिन्न ही प्रकार का होता है। वहाॅ यह श्वेत, चमकदार, लचकील, रस्सी के रूपमे होकर अस्थि मे मिल जाती है। इस डोरी सदृश भागको कंडरा और बन्धनी कहते हैं। कभी कभी ये डोरी चौडी और पतली होती है, तब वे फला कण्डरा या कला वितान (Aponeurosis) कहलाते है।

हृदयके दाहिने-कोष्ठोंमें कपाट विकृत होजाने के फलस्वरूप अगर रक्त वापस लौट आता है, तो इस अवस्था में भी कौड़ी प्रदेश में स्पन्दन शिखर-स्पन्दन के पश्चात् ही होगा। इसका कारण यह होता है कि रक्तके वापस लौटने से यकृत्-शिराओं में पहुँचकर स्वयं यकृत् में स्पन्दन उत्पन्न कर देता है। यह सर्वदा याद रखना चाहिये कि, यकृत्का विस्तृत स्पन्दन त्रिपत्र कपाट की असमर्थता के साथ धीरे धीरे उत्पन्न होनेवाले हृदयावसाद के फलस्वरूप ही उत्पन्न होता है।

वैद्य इन स्पन्दनों के अनेक प्रकार और समय छोटी छोटी झण्डिया वक्ष के अलग अलग स्थानो पर चिपका कर सुगमतासे मालूम कर सकता है। दो स्थानो के स्पन्दनो का समय ज्ञात करने के लिये दो झण्डिया पृथक् पृथक् उन स्थानो पर रखदें और स्वयं इस प्रकार की स्थिति में झुक जायँ कि वक्ष के समान सतह में नेत्र आजायँ फिर उनके उन्नत और अवनत होने से समय जानले। जो प्रथम उन्नत होगी उसी स्थानपर स्पन्दन पहले होरहा है। अगर दोनो साथ उन्नत हो तो स्पन्दन साथ होरहे है। यह प्रतीत करने के लिये कि स्पन्दन विस्तृत है या नहीं, एक-एक झण्डी स्पन्दन के दोनो तरफ रक्खे। अगर स्पन्दन विस्तृत होता होगा, तो दोनो झंडियो के किनारे स्पन्दन के साथ एक दूसरे से पहले की तुलना मे अधिक दूरी पर होजायगे।

यह झडिया निम्न विधिसे तैयार की जासकती हैः—तीन इञ्च लम्बा-तिनके का टुकड़ा लें, उसके एक किनारे पर चिपकना कागजका टुकडा लगादें, तथा दूसरे सिरे पर मोम या चिपकने वाला मलहम लगादें। इससे झंडी उदर पर आसानी से चिपक जायगी। इससे ज्यादा प्राचीन दूसरा तरीका भी है। जिसमें चिपकने वाले प्लास्टर के एक टुकडे में पिन पार करदी जाती है। उस पिनका सिरवाला भाग चिपकने वाले प्लास्टर की ओर रक्खें जो वक्ष पर चिपका दिया जाता है या रुई के शुण्डाकार टुकडे स्पन्दन स्थान पर वेसलीन से चिपका दिये जायं।

(४) प्रत्यक्ष शिराएँ

कभी वक्ष की दीवार में शिराएँ निम्न कारणो से प्रत्यक्ष दिखलाई देने लग जाती हैं।

१. जब कि रोगी की त्वचा असाधारण पारदर्शक हो।
२. उसे बहुत परिश्रम करना पडता हो; मुख्यतया इस प्रकार के कार्य जिसमें श्वास संस्था पर अधिक प्रभाव पडता है, जैसा कि फूँक लगा कर बजाये जाने वाले वाद्ययन्त्र अधिक बजाने पर।

३. जब वक्ष के अन्तर्गत प्रदेश में अर्बुद वृद्धि या धनन्यर्बुद आदि से अवरोध उत्पन्न हो जाने के कारण रक्त हृदय में वापिस न जा सकता हो।

४. जब हृदय के दाहिने कोष्ठों का कार्यभार बढ गया हो।

५. जब प्रतिहारिणी महासिरा (Portal vein) में अवरोध हो या अधरा महासिरा (Inferior vena cave) प्रदेश के मार्ग को रोक दिया जाय, तब उदर गुहा और निम्न शाखाओं से वापस लौटने वाले रक्त को प्रासंगिक मार्ग द्वारा हृदय मे पहुँचने के लिए लाचार होना पडे।

(३) स्पर्शन परीक्षा

इससे निम्न बातें प्रतीत करनी चाहिये—

(अ) अग्र हृदय प्रदेश आदिका आकार, दर्शन परीक्षा के परिणाम को दृढ़ करना या रूपान्तरित करना।

(आ) गति :—

(१) शिखर स्पन्दन—*A.* संस्थिति ; *B.* प्रकार।

(२) अग्रहृदयप्रदेश मे अन्य स्पन्दन।

(३) हृदयप्रदेश से बाहर स्पन्दन—*A.* प्रक्षिप्त , *B.* विस्तार योग्य।

(इ) कँपकँपी (लहराव) -

(१) हृदय या रक्तवाहिनियो के भीतर उत्पन्न (Thrills)

(२) या हृदय प्रदेश के बाहर से उत्पन्न घर्षण (Friction)

स्पर्श—परीक्षा से वैद्य सिर्फ दर्शन से प्राप्त परिणामो एव कल्पनाओं का ही निर्णय नही कर लेता, अपितु इससे वक्षभित्ति मे उत्पन्न अनेक गतियाँ, जो आँखो से नही देखी जा सकतीं, ये भी प्रतीत हो जाती हैं स्पर्शन के लिये रोगी को उसी स्थिति मे रखना चाहिए जिसमे वह आराम से रह सके, क्योंकि वैद्य की इच्छित स्थिति अगर रोगी के लिए कष्टप्रद है, तो स्पर्श-परीक्षा मे अनेक कठिनाइयाँ हो सकती है। अगर रोगी लेट रहा है एवं आसानी से चित सो सकता है, तो यही स्थिति परीक्षा के लिये सर्वोत्तम है। रोगी को बाये पार्श्व के बल लिटाने पर हृदय-शिखर स्पन्दन की स्थिति मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो जाता है, जो कि रोगी के इस प्रकार की स्थिति मे लेटने से कुक्षी की तरफ स्वस्थावस्था के शिखर-स्पन्दन से बाहर की ओर प्रतीत होने लग जाती है , इसके अतिरिक्त जब रोगी दाहिने पार्श्व के बल

लिटाया जाता है तब हृदय शिखर वक्षभित्ति से दूर हो जाता है, जिसके फलस्वरूप सीधी स्थिति मे लेटने पर स्पष्ट प्रतीत किये जाने वाला स्पन्दन बिल्कुल गायब हो सकता है।

चिकित्सक को किस स्थिति में रह कर परीक्षा करनी चाहिये, इसका भी रोगी की स्थिति से कम महत्त्व नहीं है। अग्रहृदय प्रदेश की परीक्षा के लिये उसे रोगी के दाहिनी तरफ बैठना या खड़ा होना चाहिये। फिर वह अपना दाहिना हाथ रोगी की वक्ष पर रक्खे। अगर शीतकाल हो और हाथ अधिक शीतल हैं तो आपस मे रगड़ कर गरम कर लेना चाहिये। स्पर्शन करते समय हाथ की सम्पूर्ण हथेली वक्ष पर लगी रहनी चाहिये, तथा इस बात का पूर्ण खयाल रखना चाहिये कि, पशु कान्तरों मे अंगुलियों के सिरे कभी न धँस जायं। क्योंकि अगर ऐसी भूल की जायगी तो रोगी को कष्ट होगा और आगे की जाने वाली परीक्षा में भी अनेक बाधायें पैदा हो सकती हैं।

चिकित्सक को यह सदा स्मरण रहे कि अगर किसी स्थान की स्पर्श परीक्षा उसके नीचे स्थित अंग का स्पन्दन मालूम करने के लिये की जा रही है, तो अंगुलियों के नीचे के कोमल भाग से परीक्षा करे।

सबसे पूर्व शिखर स्पन्दन ही वैद्य का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है। स्पर्शन करके चिकित्सक आसानी से मालूम कर लेगा कि वास्तव में यह दर्शन द्वारा कल्पना किये हुए स्थान से एवं मध्यरेखा से ज्यादा दूर स्थित है। इस अवस्था मे वैद्य की अंगुलियाँ जहाँ प्रत्येक स्पन्दन के साथ सबसे अधिक शक्ति से धड़कन प्रतीत कर रही हैं, उस स्थान को ही हृदय का शिखर मानना चाहिए। यथार्थ में वह हृदय का सबसे बाह्य और सबसे निम्न भाग है।

अंगुलियो के नीचे से धक्का लगने की अनुभूति भी महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि अनेक रोगियो मे जिनका हृदय अधिक शक्ति और शीघ्रता से स्पन्दन कर रहा हो, शिखर के ऊपर की भित्ति से काफी दूर वक्ष में एक प्रकार की लहर प्रतीत होती है।

वैद्य को इस प्रकार शिखर की स्थिति का निश्चय कर लेने के पश्चात् स्पन्दन के प्रकार और प्रसार की परीक्षा करनी चाहिये। जैसा कि पूर्व (अग्र हृदय प्रदेश में स्पन्दन के वर्णन मे) लिखा जा चुका है कि स्वस्थावस्था में स्पन्दन सर्वदा बायें उरोस्थि प्रान्त रेखा के बाहर बायों तरफ होता है, परन्तु चूचुक रेखा के बाहर कभी नहीं निकलता, तथा नियमानुसार एक पशु कान्तर में ही सीमित रहता है, और बहुत कम मनुष्यो मे स्पन्दन स्थान एक इञ्च

व्यास से ज्यादा होता है। इन्हीं बातो की अब स्पर्श द्वारा ध्यान पूर्वक परीक्षा करके अगर इनमे किसी प्रकार का अन्तर हो गया हो तो उसे प्रतीत करना चाहिये। इसके अतिरिक्त स्पर्शन द्वारा हृदय की शक्ति, जिससे वह कार्य कर रहा है, उसकी भी कल्पना करनी चाहिये; और शिखर स्पन्दन मे स्वस्थावस्था से काफी अन्तर हो सकता है। वह अधिक तेज हुआ है या बाहर प्रक्षिप्त है या मन्द हो गया है?

जब स्पन्दन इतना दुर्बल हो कि रोगी के लेटे हुए होने के कारण प्रतीत न हो सके तब उसे बैठा कर प्रतीत करना चाहिये, क्योकि बैठाने से वह स्पष्ट हो जाता है। इससे भी स्पष्ट करना हो, तो उसे आगे की तरफ झुका देना चाहिये। परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि अगर रोगी की अवस्था भयानक है और उसे बैठने मे कष्ट होता है, इस प्रकार की परीक्षा न करनी चाहिये। क्योकि रोगी की शक्ति सर्वथा पहले ही क्षीण हो चुकी है और इस प्रकार की परीक्षा से वह थकावट अनुभव करता है।

सामान्यतः शिखर स्पन्दन इन कारणो से प्रतीत नही होता—(अ) वक्षभित्ति स्थूल हो जाना; (आ) वायु कोष्ठ प्रसारण; (इ) और कभी कभी हृदय दौर्बल्य के कारण।

जब स्पन्दनो का विभेद किया जाय तो अनेक प्रकार के स्पन्दन ज्ञात होते हैं। इस परीक्षा मे वक्षभित्ति की स्थूलता और हृदय के आच्छादक फुफ्फुस भाग का ख्याल रखना चाहिये। स्पन्दन शक्ति, जो स्पर्श की जाने वाली अंगुली को आगे की ओर धकेलती है; तथा गति की शीघ्रता और व्यापकता, जो वक्ष भित्ति मे शिखर के ऊपर प्रत्येक निलय संकोच के साथ उत्पन्न होते हैं, स्पन्दनशक्ति और गतिशक्ति की मात्रा पर लक्ष्य रख करके विभेद करना चाहिये। शिखिर प्रदेश मे कभी कभी एक प्रकार की टक्कर भी प्रतीत होने लगती है, जो फुफ्फुस और महाधमनी के कपाटो पर अविक्षेपण होने से उनके तेजी से बन्द होने पर होती है।

स्पन्दन के अतिरिक्त शिखर प्रदेश मे या इसके पास ही एक प्रकार की कपकंपी भी मालूम होती है, जिसे हृदय और रक्तवाहिनियो के भीतर उत्पन्न होने वाली कंपकपी (Thrills) कहते है। इसके उत्पन्न होने का समय तथा शिखर स्पन्दन और महामातृका स्पन्दन के साथ इसका सम्बन्ध ज्ञात करना चाहिये। अगर यह शिखर स्पन्दन के साथ उत्पन्न हो कर निलय कोष्ठो के संकोच के समय तक जारी रहती है तो इसे आकुंचन सह कम्पन (Systolic thrill) कहते हैं। अगर यह निलय कोष्ठो के प्रसार के समय

प्रतीत की जाय तो प्रसरण सह कम्पन (Distolic thrill) कहलाता है। अगर प्रसारण के पश्चात् प्रतीत हो तो यह आकुंचन के पूर्व कम्पन (Presystolic thrill) कहलाता है।

कम्पन के कारण—यह निम्न कारणों से उत्पन्न हो सकता है।

१—कपाट के रोगों के कारण।

२—हृदयावरण के पर्त्त की आपस में रगड होने पर।

३—बायें फुफ्फुसावरण का वह भाग, जो हृदय पर रहता है, उसमें रगड होने पर।

कपाट रोगों के फल स्वरूप उत्पन्न कम्पन का सम्बन्ध शिखर स्पन्दन के साथ सब से ज्यादा है। यह कम्पन शिखर स्पन्दन के उत्पत्ति के समय और स्थान दोनों में समानता रखता है। आकुंचन काल में कम्पन, प्रसारण काल में कम्पन या आकुंचन पूर्व काल में कम्पन, इनमें से कोई भी विद्यमान हो, अगर वह हृदय शिखर पर उत्पन्न हो रहीं है तो निश्चय ही द्विपत्र-कपाट (Mitral valve) का अवरोध प्रगट करती है। फुफ्फुसीय भाग मे कंपन उत्पन्न हो रहो हो तो उसे आकुंचन काल का कम्पन समझना चाहिये। यह या तो फुफ्फुसाभिगा धमनी का आकुंचन या अवरोध अथवा फुफ्फुसाभिगासरणि का प्रसारण होने पर होता है। महाधमनी प्रदेश मे कम्पन प्रतीत हो तो साधारणतया वह आकुंचन कालीन होता है। वह महाधमनी अवरोध का चिह्न है। कभी कभी यह प्रसारण कालीन भी हो जाता है तब इसका कारण महाधमनी का असामर्थ्य होता है।

पिछली ओर जहाँ धडधड आवाज आती है, वहाँ पर हाथ रखने पर आकुंचन काल से पहले होने वाले कम्पन की उपयुक्तता की तुलना करनी चाहिये।

हृदयावरण और फुफ्फुसावरण में उत्पन्न कम्पन श्रवण-परीक्षा द्वारा सरलता से ज्ञात हो जाती है, जिसका वर्णन आगे इसी अध्याय मे किया जायगा। ये कम्पन स्पर्शन के साथ साथ श्रवण भी की जा सकती है।

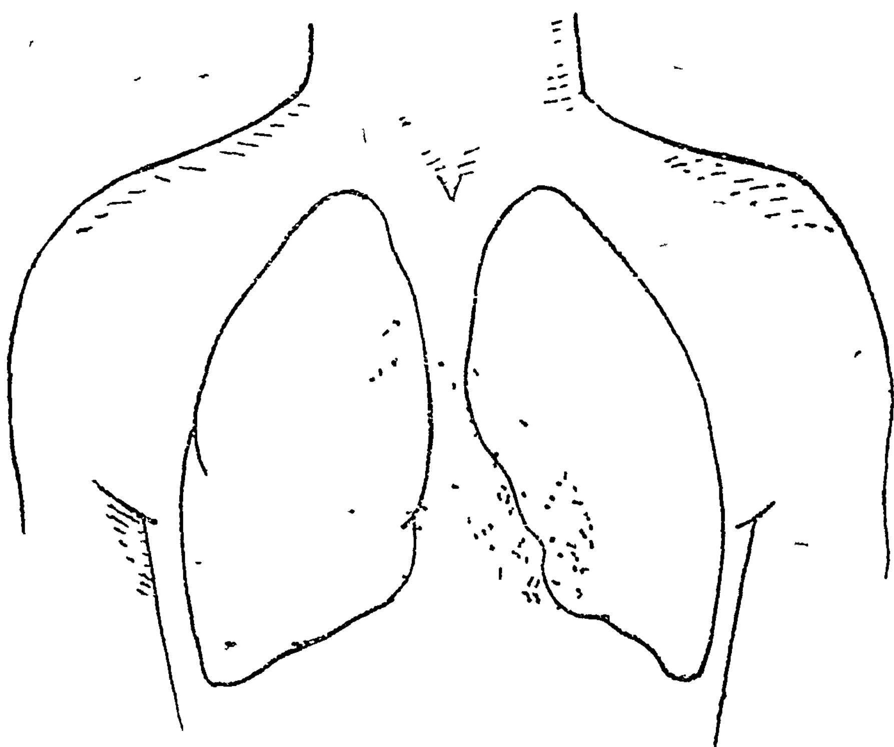
यकृत् के कारण उत्पन्न स्पन्दन

जब त्रिपत्र कपाट के असामर्थ्य के कारण यकृत् शिराओं में रक्त के वापिस लोटने के कारण दबाव आने पर फैलनेवाला व्यापक कम्पन उपस्थित होता है, तब उस अवस्था में यह सारा अवयव प्रभावित हो जाता है, तथा अधिकतर रोगियों में विस्तृत होनेवाला कम्पन स्पष्ट प्रतीत होने लग जाता

है। इस प्रकार का कम्पन एक हाथ आगे की तरफ वृद्धिमय यकृत् पर और दूसरा पीछे की तरफ पृष्ठ पर रखने से आसानी से प्रतीत हो जाता है। अगर इसका निदान न हो सके और कौडी प्रदेश के स्पन्दन का संशय हो, तो रोगी की स्थिति परिवर्तन करवाकर, मुख्यतया घुटने और कोहनी पर पशु के समान झुका कर स्पर्श करे, जिससे शंका निवृत हो जायगी।

(४) ठेपन

ठेपन परीक्षा से दो बातें ज्ञात होती हैं, हृदय और चारो ओर के प्रदेश की सीमा, तथा हृदयावरण में तरल संचय और वक्षीय-धमनी में अर्बुद की विद्यमानता। इससे अक्सर मिथ्या परिणाम प्राप्त होता है। इसलिये संदेह



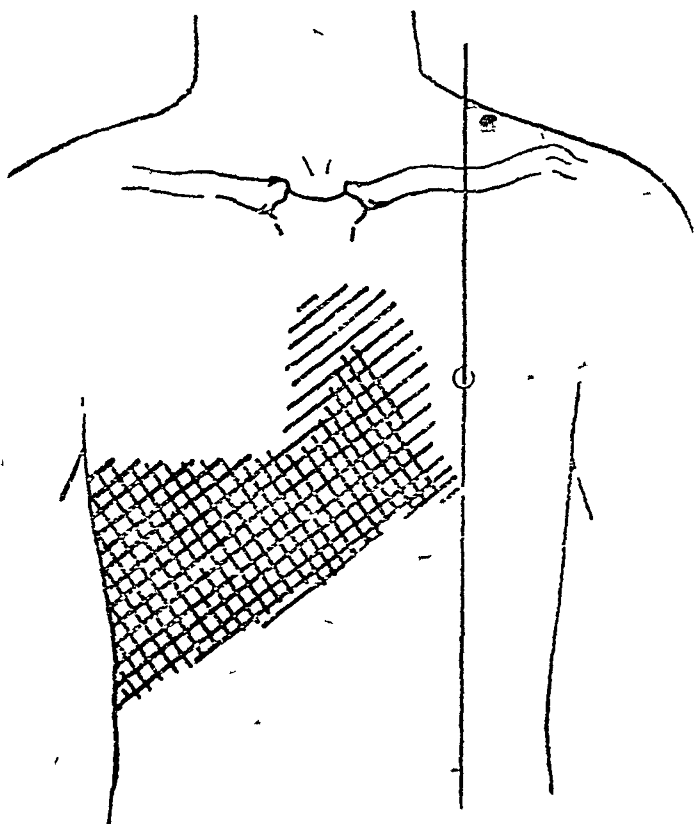
(चित्र नं० ६५)

हृदय की फुफ्फुसों से आवृत सीमायें

होने पर या आवश्यकता होने पर यन्त्रो द्वारा परीक्षा करनी चाहिये। इस हेतु से कितनेक चिकित्सक तो क्ष किरण आदि यंत्र-परीक्षा का आश्रय लेते हैं। वे ठेपन परीक्षा नहीं करते। क्ष किरण परीक्षा आगे इस अध्याय के अन्त मे दी जायगी।

हृदय का अधिक भाग गुंजित ध्वनियुक्त फुफ्फुस से आवृत है, परन्तु इसकी स्थिति इतनी गहरी नही है कि उस पर ठेपन का कोई प्रभाव न पड़े।

हृदय का परिमाण मालूम करने के लिये बाहर से अन्दर की ओर कठोर ठेपन करते हुए चले, जहाँ ठेपन ध्वनि गुंजित से कठोर हो जाय उसे ही हृदय की धारा समझे। तत्पश्चात् हृदय प्रदेश के मध्य से बाहर की तरफ मृदुठेपन से से ठेपते हुए जायँ। जहाँ शब्द ठोस से गुंजित और ठोस मिला हुआ हो जाय, वहीं से हृदय को फुफ्फुस से आवृत समझे। इसी प्रकार बाहर की तरफ ठेपन करते जायँ, जहाँ शब्द बिल्कुल गुंजित हो जाय, वहीं पर हृदय की धारा समझ लें; जहाँ पर हृदय समाप्त हो जाता है और सिर्फ फुफ्फुस ही रह जाता है। चित्र नं० ६६ देखें। यह स्मरण रखना चाहिये कि फुफ्फुसो से आवृत्त होने पर भी दो स्थान हृदयतल और बृहद्-वाहिनियो के मूलों पर करीब करीब ठोस ध्वनि उत्पन्न होती है, जिसका भेद हृदय की ठोस आवाज से करना कठिन है। हृदय की अधोधारा भी ठेपन द्वारा जानना कठिन है। क्योंकि यह यकृत् पर स्थिर है, अतः हृदय और यकृत् के ठोस शब्द में अन्तर कर सकना कठिन है। हृदय की अधोधारा और यकृत् की ऊर्ध्वधारा एक ही समझी जाती है। ये दोनों परस्पर मिली हुई रहती है।

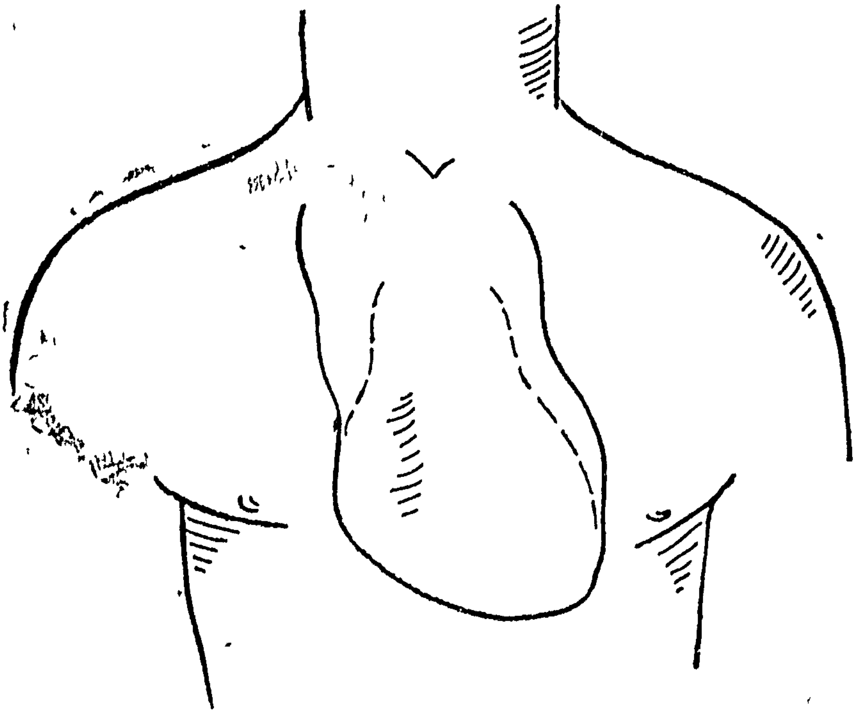


(चित्र नं० ६६)

हृदय की ऊपरी और गम्भीर ठोस ध्वनि की सीमायें

बायीं तरफ चतुर्थ पशुकान्तर में बाहर से ठपन करते हुए हृदय की तरफ बढ़ते आने से हृदय की बायीं धारा ज्ञात हो जाती है। यह चूचुक रेखा के आध इञ्च अन्दर की तरफ मिलती है। अगर इस धारा में ऊपर की तरफ ठेपते जायें तो यह अन्दर की तरफ मुड़ कर ऊर्ध्वधारा से मिलती हुई प्रतीत होगी। ऊर्ध्वधारा प्रतीत करने के लिये वैद्य को बायीं-पार्श्व उरोस्थि और प्रान्त-उरोस्थि रेखा के मध्य में ऊपर से नीचे ठेपन करते हुए आना चाहिये। यह धारा बायी प्रान्त उरोस्थि रेखा में तृतीय पशुका या तृतीय पशुकान्तर के ऊर्ध्व सिरे पर मिलती है। हृदय की दायीं धारा दायीं चतुर्थ पशुका की सतह में दायीं पार्श्व-उरोस्थि रेखा के ठीक पास मिलती है। अन्य स्थानों पर इसे प्रतीत करना कठिन है क्योंकि यह उरोस्थि के दाये किनारे से आच्छादित है।

महाधमनी में अर्बुदोत्पत्ति



(चित्र नं० ६७)

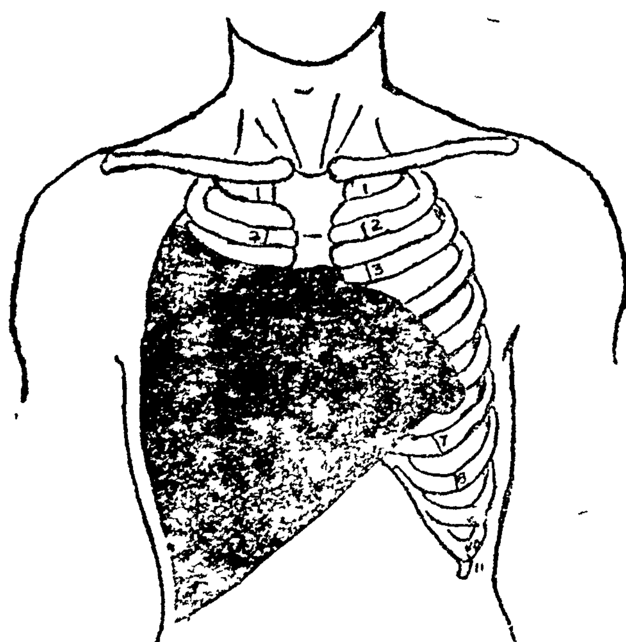
महाधमनी में अर्बुदोत्पत्ति

हृदय की बड़ी बड़ी रक्तवाहिनिया ज्यादातर उरोस्थि के पीछे स्थित हैं, इसलिये उनसे उत्पन्न कठोर शब्द बहुत कम प्रतीत किया जा सकता है। परन्तु अगर ऊर्ध्वगामी बृहद् धमनी अर्बुद के कारण विस्तृत हो गई हैं तो कठोर शब्द सुनाई देने लगता है। यह हृदय शब्द के साथ साथ नीचे की तरफ जाता है, और ऊपर की ओर उरोस्थि के दाहिनी तरफ द्वितीय पशुका-

न्तर और पास की पशुकाओं मे ठेपन द्वारा मालूम होने लग जाता है, इसके अतिरिक्त उरोस्थि के शिरे पर ठेपन करने से भी गुंजित ध्वनि न्यूनाधिक कठोर मालूम पड़ने लग जाती है, तथा अगर बृहद्-धमनी अर्बुद अधिक फैला हो, तो ध्वनि बिल्कुल ठोस ही हो जाती है। चित्र न० ६७ देखे।

बृहद्-धमनी-महराब के अवरोही भाग मे अर्बुद होने पर कभी कभी बाये द्वितीय पशुकान्तर मे ठोस ध्वनि उत्पन्न होने लगती है। परन्तु इस अवस्था मे धमनी अर्बुद के कारण उत्पन्न शोथ देखा व स्पर्श भी किया जा सकता है।

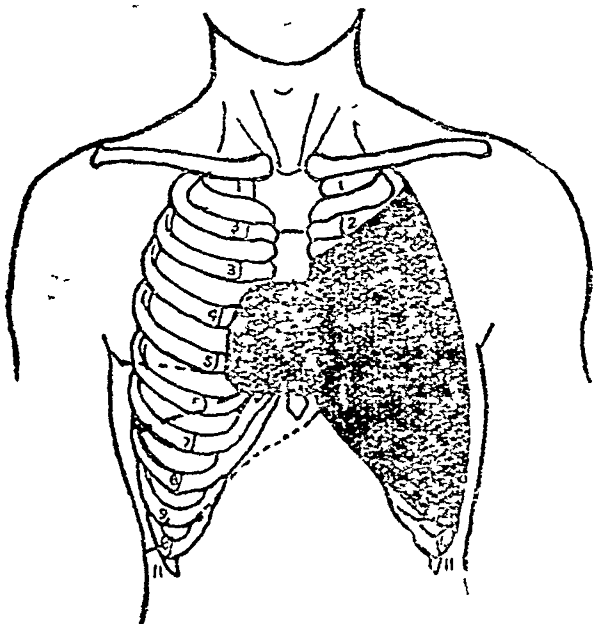
अगर ठोस-शब्द शिखर-स्पन्दन के भी बायीं तरफ फैला हो, तथा फुफ्फुस और फुफ्फुसावरण स्वस्थावस्था में ही हो, तो वैद्य को हृदयावरण का तरलमय शोथ समझना चाहिये। इस अवस्था में ही हृदय की दाहिनी धारा उरोस्थि से काफी दूर, यहां तक कि दाहिनी प्रान्त-उरोस्थि-रेखा तक दाहिनी ओर खिसक जाती है। अगर हृदय का कठोर शब्द बायीं ओर चूचुक रेखा तक प्रतीत होने लगे, परन्तु शिखर-स्पन्दन से बाहर न निकले, तो इसे सम्भवतः बाये निलय कोष्ठ की विस्तृति और वृद्धि समझनी चाहिये, परन्तु इसकी शंका तब ही करनी चाहिये, जब कि दाये फुफ्फुसावरण का तरल मय शोथ जैसे कारणों से हृदय बायीं तरफ स्थान च्युत न कर दिया गया हो। अगर हृदय का ठोस शब्द किसी प्रकार के फुफ्फुस और फुफ्फुसावरण के रोग तथा हृदयावरण मे तरल सचय न होने पर भी परिमित सीमाओं से ज्यादा उरोस्थि के दाहिनी तरफ विस्तृत हो, तो दायें अलिन्द कोष्ठ की विस्तृति समझनी चाहिये, इस अवस्थामें वैद्य का इस परिणाम पर पहुँचना सर्वदा उचित भी है।



(चित्र नं० ६८)
दाये तरलमय फुफ्फुसावरण शोथ में हृदय की स्थानच्युति

जड़ध्वनि हृदयावरण-प्रदाह मे तरल-(Pericarditis with offusion) उपस्थित होने अथवा हृदयावरण मे तरल सग्रह (Hydro pericardium) होने पर तरल की न्यूनाधिकता के अनुसार विविध प्रकार की होती है। परन्तु अक्सर यह नासपाती की आकृति के समान सीमा में प्रतीत होती है, जिसका अधिक चौड़ा भाग नीचे की तरफ और तंग सिरा ऊपर की तरफ रहता है। ऊपरी भाग मे कठोर शब्द स्वस्थावस्था से ज्यादा चौड़ाई में फैला होता है।

हृदय और हृदयावरण मे स्थित कारणो के अतिरिक्त पास के दूसरे अंगों मे भी इस प्रकार के कारण उत्पन्न हो सकते हैं; जो हृदय की स्वाभाविक ध्वनि को कठोर बना देते हैं। इनमे फुफ्फुस-काठिन्य, फुफ्फुसार्बुद और तरलमय फुफ्फुसावरण शोथ मुख्य हैं।



(चित्र न० ६६)
बाये तरलमय फुफ्फुसावरण शोथ में हृदय की दायीं ओर स्थानच्युति

साधारणतया हृदय के कठोर शब्द की सीमाओ का परिवर्तन हृदय की स्थान च्युति के फलस्वरूप होता है। हृदय की स्थान-च्युति अन्य अंगो के दबाव या खिचाव, तथा इसकी अनियमित वृद्धि के कारण होती है। इस लिये हृदय की दाहिनी तरफ स्थान-च्युति मे हृदय शिखर सहित दाहिनी तरफ सरक जाता है। तब इस अवस्था मे हृदय की कठोर ध्वनि का क्षेत्र स्वाभाविक अवस्था से ज्यादा स्पष्ट हो जाता है।

किन्तु ऐसा बहुत कम देखने मे आता है कि हृदय सकोच होने से हृदय प्रदेश का परिमाण कम हो गया हो। यह हो सकता है कि, जन्म से ही हृदय छोटा हो, अथवा हृदय के ऊपर स्थित फुफ्फुस खण्ड मे वायु कोष्ठ विस्तार होने से वायु अधिक भर जाय, फिर हृदय की ठेपन ध्वनि ज्ञात न हो सके।

हृदयावरण प्रदाहकी कुछ अवस्थाओं में रोगीको पीठकी ओर बायें अंस फलक के अधःकोणके पास कठोर ध्वनि प्रतीत होती है। इसे डाक्टरीमे बम्बर्जर्स चिह्न (Bamberger's sign) संज्ञा दी है। यह विश्वास किया जाता है, कि इस ध्वनि की उत्पत्ति विस्तृत हृदयावरण का फुफ्फुसों पर दबाव पड़ने से होती है। यह कभी कभी हृदयावरण प्रदाह शोथके न होने पर भी हृदय विस्तृति से भी उत्पन्न हो जाती है।

(५) हृदय और रक्तवाहिनियों का श्रवण।

इससे निम्न बाते ज्ञातकी जाती हैं:—

(अ) हार्दिक नादके प्रकार—

(१) तीव्रता (गति)—Intensity

(२) ताल (यति)—Rhythm

(३) स्वरूप—Quality

(आ) हार्दिक नादके साथ अस्वाभाविक ध्वनि:—

(१) हृदय-प्रदेशपर—*A.* अन्तरावरण की मर्मरध्वनि, *B.* हृदयावरणकी घर्षणध्वनि।

(२) रक्तवाहिनियोपर—*A.* स्पष्ट ध्वनि; *B.* मर्मर या बुंई ध्वनि।

ध्वनि वाहक यन्त्र—(Stethoscope):—कभी कभी रोगीके शरीर पर ही पतला तोलिया ढक उस स्थान पर कान लगाकर सीधा श्रवण करना ज्यादा लाभदायक सिद्ध हुआ है; परन्तु जैसा कि पूर्व लिखा जा चुका है साधारणतया श्रवण-परीक्षा ध्वनिवाहक यंत्रकी सहायतासे की जाती है। इसके प्रकार और प्रयोग-विधि पहले प्रथम अध्यायके अन्तमें विस्तार से लिखे जा चुके हैं।

हार्दिक-क्रिया चक्र और कपाटों की स्थिति—हृदय की श्रवण-परीक्षा करने पर उसमें अनेक शब्द सुनाई दे सकते हैं। इनको समझने के लिये हृदयको प्रत्येक हलचल को जो क्रिया चक्रमे होती है। अच्छी प्रकार समझ लेना अत्यावश्यक है।

एक स्पन्दनके पूर्ण होजाने पर अलिन्द और निलय दोनों प्रकारके कोष्ठ विश्रामावस्था में आजाते हैं। उस समय इनमें किसी प्रकार का स्पन्दन नहीं होता। विश्रमावस्था के पश्चात् दोनों अलिन्द (ग्राहक) कोष्ठ संकुचित होते हैं। जिसके फलस्वरूप इनमें संचित रक्त मध्यस्था कपाटोको पार करके क्षेपक (निलय) कोष्ठो मे जाकर उनको परिपूर्ण करते हैं। तत्पश्चात् निलय

कोष्ठोंके सकोच की बारी आती है, जिसके फलस्वरूप इनमें आया हुआ रक्त-रक्तवाहिनियों मे चला जाता है , उस समय (निलय कोष्ठों के सकोच समय) में अलिन्द कोष्ठ अपना सकोच समाप्त करके पूर्ण प्रसारित अवस्थामें आजाते हैं और फिर पुनः रक्तसे परिपूर्ण हो जाते हैं ; अन्तमें निलय (क्षेपक) कोष्ठ भी प्रसारित होजाता है और इस प्रकार फिर से विश्रामावस्था आती है, और हृदय क्रियाका एक चक्र समाप्त होजाता है ।

सामान्यतः एक मिनिट में हृदय के भीतर ७५ बार स्पन्दन होता है अर्थात् हृदय ७५ बार आकुंचित होता है और हर बार रक्त को देह में फेंकता है । इस तरह प्रत्येक बार आकुंचन क्रिया के पश्चात् हृदय विश्राम लेता है । हृदय का आकुंचनावस्था और विश्राम (प्रसारणावस्था) मिलकर एक क्रिया चक्र पूर्ण होता है ।

क्रिया चक्र—प्रत्येक क्रिया चक्र मे पृथक् पृथक् ३ दृश्य (Phases) प्रतीत होते हैं ।

१. दोनो अलिन्दोंका बलपूर्वक एकसाथ आकुंचन (Artial systole)
२. दोनो निलयोका एकसाथ आकुंचन (Ventricular systole)
३ हृदयके सब विभागोकी विरामावस्था (Pause ;

उक्त क्रियाओ मे पहला सकोच दोनो अलिन्दो मे सिराओके द्वारों के समीप होताहै । परिणाम मे शिराओ से आया हुआ अशुद्ध रक्त दक्षिण अलिन्द मे से दक्षिण निलय मे चला जाता है, तथा वाम अलिन्द मे आया हुआ शुद्धरक्त वामनिलय मे जाता है । इसे आकुचन अवस्था के साथ शिराओ के द्वार दृढ़ता से बद होजाते है । जिससे अलिन्द कोष्ठो मे से रक्त का पुनरागमन नहीं होसकता । जब तक यह रक्त निलय खण्डो मे प्रवेश करता है, तब तक अलिन्द द्वारो पर लगे हुए कपाट शिथिल रहने के हेतु से अलिन्द द्वारा खुले रहते हैं ।

अलिन्दो का रक्त जब निलय कोष्ठो मे पूर्ण आजाता है, तब दोनो ओर एक साथ निलय सकोच होता है । उस समय दाहिनी ओर का त्रिपत्र कपाट और बायी ओर का द्विपत्र कपाट, दोनो बन्द होजाते हैं । जिससे निलयो मे से रुधिर वापस अलिन्दो मे नही जासकता । उस समय निलयो की छोटी मास-पेशिया भी बलपूर्वक सकुचित होती है तथा उनकी बन्धनिया दोनों कपाटोकी पखडियो को दृढ़ता से पकड रखती है । जिससे रुधिर वापस नहीं लौट सकता। उन निलय कोष्ठोके भीतर रुधिरका दबाव बढने से फुफ्फुसाभिगा धमनी की ओर महाधमनी की अर्द्धचन्द्रक पाटिकाये खुल जाती है । फिर दाये निलयमें

से अशुद्ध रक्त फुफ्फुसाभिगा धमनीमे और बायें में से शुद्ध रक्त महाधमनी मे चला जाता है।

उक्त द्वितीय दृश्यकी समाप्ति के पश्चात् तृतीय विरामावस्था उपस्थित होती है। उस समय हृदयमे सकोच नहीं रहता, वह शिथिल होजाता है, पहले दोनो अलिन्दो का प्रसार होता है। फिर निलय शिथिल होकर प्रसारित होते हैं। उस समय सिराओंका रक्त अलिन्दो मे से कुछ निलय मे भी जाता रहता है। किन्तु इस बातको न भूलना चाहिये कि दोनो अलिन्दोंका आकुंचन हुए बिना निलय कोष्ठ पूरा नही भरता।

जब एक क्रिया चक्र पूरा होजाता है, दोनो निलय विश्रान्ति लेते है, उस समय फुफ्फुसिया धमनी और महाधमनी के भीतर रक्त दबाव बढ़ता है, उस हेतु से उन धमनियो के मुखपर लगी हुई कपाटिकाएं द्वार को बन्द कर देती हैं, जिससे रुधिर का निलय कोष्ठ मे पुनरागमन नहीं होता। ये द्वार तब तक बन्द रहते हैं, जब तक पुनः निलय आकुंचन न हो।

अलिन्द सकोच, निलय संकोच और निलय प्रसार, एकके पश्चात् एक शीघ्रता से क्रमानुसार होतेहैं। उनमे अलिन्द प्रसार निलय सकोच के साथ और निलय-प्रसार अलिन्द सकोच के समय भी चालू रहता है।

सामान्य—निलय-सकोच के आरम्भकी प्रतीति बायें (द्विपत्र) और दाये (त्रिपत्र) मध्यस्थ कपाटो के बन्द होने, जो कि अलिन्द कोष्ठो के सकोच समय खुले रहते है, तथा शिखर स्पन्दन की उत्पत्ति से की जाती है। निलय-प्रसार के आरम्भ की प्रतीति बृहद्-धमनी-कपाटिका और फुफ्फुसिया-धमनी-कपाटिका के बद होनेसे की जाती है, ये कपाटिकाएं आगे होने वाले निलय-संकोच तक बद रहती है।

महामातृकाधमनी मे स्पन्दन ठीक निलय सकोच के पश्चात् ही प्रतीत होता है। बहिः प्रकोष्ठीया धमनी (Radial artery) में स्पन्दन काफी देर से पहुँचता है, इसलिए इस धमनी के स्पन्दन को कभीभी निलय-संकोच के आरम्भ का प्रतीक, नहीं समझना चाहिये। वैद्यको हमेशा निलय-सकोच का प्रतीक तो महामातृका धमनी-स्पन्दन या शिखर स्पन्दन को ही मानना चाहिये।

अनेक विद्वानो ने हृदयचक्र की गतियो का क्रम दर्शाने के लिये पृथक्-पृथक् चित्र बनाये हैं। हालाकि चिकित्सक को क्रियात्मक जीवन मे इसमे दर्शित क्रमशः होनेवाली गतियोके सम्बन्धित समयमे काफी अन्तर मिल सकता है। सबसे महत्त्वपूर्ण अन्तर उस समय पाया जाता है, जबकि हृदयकी गति बहुत

बढ़ गई हो, इस अवस्था में प्रसारका समय संकोच के समय की तुलना में बहुत कम होजाता है। जिसके फलस्वरूप बृहद्धमनी कपाट और फुप्फुसिया धमनी कपाट में (अर्द्धचन्द्राकार कपाटिकाओं) के बंद होने और निलय-संकोच के मध्य में चित्र मे दर्शित विरामकी तुलना में बहुत कम विराम हो जाता है। इस आकृति को गोल आकार मे बनाने के स्थान पर अगर सीधी रेखाओं मे बनाया जाय तो ज्यादा सुविधाजनक रहता है।

हृदय क्रिया चक्र का समय—एक मिनिट में सामान्यतः ७५ बार आकुंचन क्रिया होती है, अर्थात् ६० सेकण्ड में ७५ चक्र होते हैं। उस हिसाब से एक चक्र में $\frac{६}{१०}$ सेकण्ड लगती है। उसके भीतर सकोचावस्था और विरामावस्था का समय निम्नानुसार रहता है।

१—दोनों अलिन्द सकोच '१ तथा विश्रान्ति '७ सेकण्ड।

२—दोनो निलय सकोच '३ तथा विश्रान्ति '५ सेकण्ड।

यदि दोनो की सकोचावस्था मिलायी जाय तो '४ सेकण्ड होता है। शेष विश्रान्ति '४ सेकण्ड रहती है।

किन्तु रोग-विनिर्णय-विज्ञान की भाषा मे सकोच और प्रसार शब्द हृदय के निलय कोष्ठ के सकोच और प्रसार को प्रगट करते हैं, जो मुख्यतया कोष्ठ के लिये ही प्रयुक्त होते हैं, इसमे अलिन्द कोष्ठ के सकोच काल का प्रसार मे ही या पूर्व सकोच मे ही अन्तर्भाव किया है। दूसरी ओर शरीर-क्रिया विज्ञान के शास्त्रों में अलिन्द कोष्ठ के सकोच के समय को भी हृदय चक्र के संकोच समय मे ही सम्मिलित किया गया है। इससे प्रतीत हो जाता है कि रोग विनिर्णय-विज्ञान की भाषा में संकोच हृदय-चक्र मे शिखर-स्पन्दन और प्रथम हृदय शब्द के साथ आरम्भ होता है आरम्भ होता है। और वह हृदय के द्वितीय ध्वनि उत्पन्न होने के कुछ पूर्व समाप्त हो जाता है, अर्थात् द्वितीय ध्वनि की उत्पत्ति हृदय प्रसार के आरम्भ हो जाने का प्रतीक है।

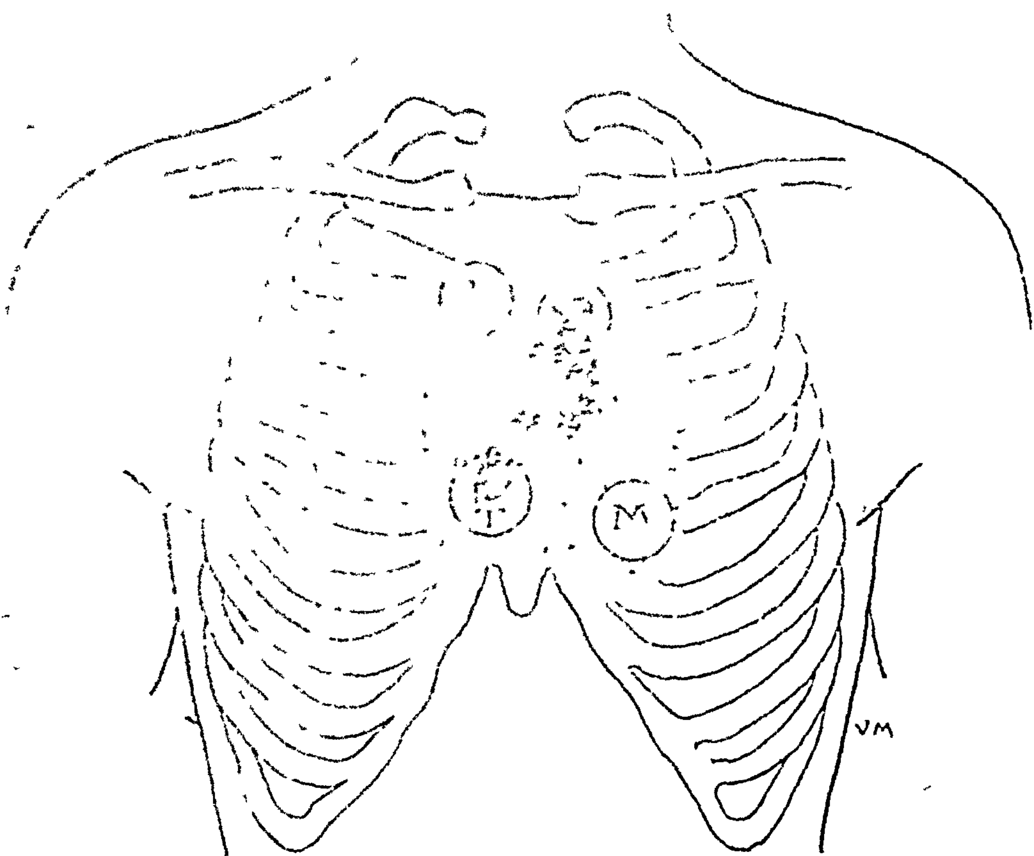
श्रवण-परीक्षा करने के लिये हृदय चक्र के ज्ञान के साथ साथ हृदय कपाटो की स्थिति और मुख्य मुख्य धमनियो का मार्ग भी जानना अत्यन्त आवश्यक है। कपाटो की ध्वनि जहाँ स्थित है वहाँ पर पर्शुका या उरोस्थि से आच्छादित हो जाने से स्पष्ट नही सुनाई देती। इसलिये यह जानना भी जरूरी है कि उनकी आवाज स्पष्ट कोन से स्थान पर सुनाई पड़ती है। इसके लिये निम्न वर्णन उपयोगी सिद्ध होगा। चित्र नं० ७० देखे।

फुप्फुसिया धमनी कपाटिका (Pulmonary valve)—यह बायी ३ री उपपर्शुका के ऊर्ध्व किनारे की सतह मे समतल रेखा मे स्थित है;

इस कपाट का आधा दाहिना भाग उरोस्थि के पीछे स्थित है। और शेष आधा भाग बाहर की तरफ उरपर्शुका के पीछे आ [illegible] है। चित्र नं० ७० देखें।

महाधमनी कपाटिका (Aortic valve)—यह अग्रतल से काफी दूर, और कुछ नीची सतह पर स्थित है। इसका वक्ष पर स्थान जानने के लिये एक तिरछी रेखा उरोस्थि के बायें आधे भाग को काटती हुई तृतीय उरपर्शुका की अधोधारा की सतह से खींची जाय तो उस रेखा में फुफ्फुसिया धमनी के नीचे ही यह बृहद् धमनी की कपाटिका प्रतीत होती है।

बायां मध्यस्थ कपाट द्विपत्र कपाट (Mitral valve) यह



(चित्र नं० ७०)

हृदय कपाटों की स्थिति एवं श्रवण स्थान

A. महाधमनी कपाट का श्रवण स्थान

P फुफ्फुसाभिगा धमनी कपाट का श्रवण स्थान।

T. त्रिपत्र कपाट का श्रवण स्थान।

M. द्विपत्र कपाट का श्रवण स्थान।

बायें अलिन्द और निलय कोष्ठ के मध्य में होता है। यह कुछ तिरछा चौथी बायीं उपपशुका के अन्तः किनारे के और उरोस्थि के बाये किनारे के पीछे स्थित है।

दायां मध्यस्थ कपाट त्रिपत्र कपाट (Tricuspid valve)—यह दाये अलिन्द और निलय कोष्ठ के मध्य में होता है। यह बहुत तिरछा स्थित है, इसका ऊर्ध्व किनारा चौथी पशुका या पशुकान्तर के सामने और अधोकिनारा दायीं पांचवी उपपशुका और उरोस्थि के संयोग स्थान के पीछे स्थित है। यह दाये अलिन्द और निलय कोष्ठ के संयोग स्थान को दर्शाता है।

फुफ्फुसिया धमनी—द्वितीय बाये पशुकान्तर के अन्तः किनारे और इसके आस पास की उरोस्थि के पीछे स्थित है। द्वितीय पशुका के अधो किनारे पर यह दो भागो में बायी तथा दायी फुफ्फुसिया-धमनी में विभक्त हो जाती है। इनमे से बायी शाखा में से ऊपर की ओर फुफ्फुस सरित (Ductus arteriosus) निकल कर महाधमनी में मिल जाती है।

महाधमनी—पीछे की तरफ फुफ्फुसिया-धमनी के कुछ नीचे से आरम्भ हो कर ऊपर की ओर दायी तरफ जाती है और द्वितीय दायी उप-पशुका के अन्तः सिरे पर यह वक्ष की दीवार के बहुत पास आ जाती है। फिर यह उस स्थान से बायी तरफ पीछे की ओर महराब बनाती है।

काण्ड मूला धमनी (Innominate art)—की स्थिति उरोस्थि के ऊर्ध्व सिरे के मध्य से दायी उरो-अक्षक सधि को रेखा द्वारा मिला कर प्रतीत की जा सकती है।

कपाटो की स्थिति प्रदर्शित करने वाले विन्दुओ पर ही ध्वनिवाहक यंत्र (स्टथस्कोप) रख कर श्रवण करने से उसकी विकृति तथा पृथक् पृथक् कपाटो की ध्वनियों मे भेद कर सकना असम्भव है। क्योकि यह कपाट इतने पास पास स्थित है कि सब की आवाज एक दूसरे के साथ मिश्रित ही प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त जो कपाट वक्ष के गम्भीर भाग मे स्थित हैं, उनकी आवाज को हृदय कोष्ठ, जो उनके ऊपर स्थित होते है, उसमे से हो कर गुजरना पडता है, इसलिये स्पष्ट नही सुनाई दे सकती। उपर्युक्त कठिनाइयो से बचने के लिये प्रत्येक कपाटों से उत्पन्न ध्वनि को श्रवण करने के लिये वक्ष भित्ति मे उनकी वास्तविक स्थिति से कापी दूर स्थान निश्चित कर दिये गये हैं। यह स्थान हृदय के उन कोष्ठो में, जिनमे यह कपाट स्थित है, तथा जहाँ वह कोष्ठ वक्षभित्ति से बहुत नजदीक आ

गया है, ऐसे स्थानो पर निश्चित किये गये है। इनको निश्चित करते समय यह भी ख्याल रक्खा गया है, कि जितना संभव हो सके प्रत्येक स्थान अन्य कोष्ठो से काफी दूर हो ताकि उनकी ध्वनि आपस मे मिश्रित न हो सके।

कपाटों के आवाज के श्रवण स्थान

१—बाये मध्यस्थ कपाट (द्विपत्र कपाट) की ध्वनि हृदय शिखर पर श्रवण करनी चाहिये। चित्र न० ७ मे M.

२—दाये मध्यस्थ कपाट (त्रिपत्र कपाट) का शब्द उरोस्थि के अग्रो सिरे पर। चित्र न० ७० मे T.

३—बृहद् धमनी–कपाट का उस धमनी पर अर्थात् दूसरी दायी उपपर्शुका के अन्तः सिरे पर। चित्र न० ७० मे A.

४—फुफ्फुसिया धमनी–कपाट का इस धमनी पर दायें द्वितीय पर्शुकान्तर मे। चित्र न० ७० में P.

यह अनुभव से सिद्ध हो गया है कि उक्त स्थानो पर निश्चित् कपाटो की आवाज सबसे तेज सुनाई देती है। तथा एक दूसरे से मिश्रित भी नहीं होने पाती। इसलिये उक्त स्थानों को क्रमशः बाया मध्यस्थ-कपाट, दायामध्यस्थ-कपाट, बृहद् धमनी कपाट और फुफ्फुसिया-धमनी-कपाट का क्षेत्र कहा जाता है। हाला कि यह कपाट जिनके नामानुसार यह पुकारे जाते हैं इनके नीचे स्थित नहीं है।

उक्त क्षेत्रों पर श्रवण -परीक्षा नियमानुसार करनी चाहिये। साधारण अवस्था में विद्यार्थी बाये मध्यस्थ कपाट से श्रवण आरम्भ कर सकता है, इसके साथ ही जो ध्वनि वह सुन रहा है, उस हृदय क्रिया चक्र मे उत्पत्ति का समय भी महामातृका धमनी का स्पर्श करके निश्चित् कर लेना चाहिये। तत्पश्चात् दाये मध्यस्थ कपाट का शब्द श्रवण करके क्रमशः बृहद् धमनी कपाट और फुफ्फुसिया-धमनी-कपाट के शब्दो को सुनना चाहिये। अगर आवश्यकता हो तो बाये मध्यस्थ कपाट क्षेत्र को बृहद् धमनी कपाट क्षेत्र से कर्ण रेखा (Diagonal line) द्वारा मिलाकर, उस रेखा के ऊपर ऊपर भी श्रवण किया जा सकता है। इस प्रकार की परीक्षा उस अवस्था मे ज्यादा लाभ दायक है, जब कि बाये मध्यस्थ कपाट की सकोचीय-मर्मरे ध्वनि बृहद् धमनी की आवाज़ के साथ सम्बन्वित हो।

स्वस्थावस्था मे उक्त प्रत्येक क्षेत्र पर दो प्रकार की आवाज सुनाई पड़ती है:—प्रथम ध्वनि निलय कोष्ठो के सकोच के आरम्भ के साथ उत्पन्न होती है, तथा द्वितीय ध्वनि निलय कोष्ठो के प्रसार के प्रारम्भ के साथ।

प्रथम ध्वनि रोग परीक्षा के चिह्नों के निर्धारण मे उपयोगी है । इसकी उत्पत्ति के २ कारण है। १. बाये और दाये मध्यस्थ कपाट का एक साथ बलपूर्वक बन्द होना; २. निलय कोष्ठ की मास पेशियों का समकाल सकोच । पाठकों को शायद यह बात विचित्र प्रतीत होगी कि मांस पेशियो के सॅकोच से ध्वनि कैसे उत्पन्न हो सकती है ? परन्तु यह वास्तव मे सत्य है । अन्य स्थानो की मांस पेशियो मे ध्वनि इसलिये उत्पन्न नही होती कि वे विस्तृत होती हैं, और उनके सूत्रो का सकोच भी बलपूर्वक एक साथ नही होता ।

हृदय की द्वितीय ध्वनि की उत्पत्ति के भी दो ही कारण हैः—
(१) फुफ्फुसिया–धमनी कपाट और बृहद् धमनी कपाट का एक साथ बन्द होना (२) धमनियो की दीवार का खिचाव, परन्तु यह द्वितीय कारण इसकी उत्पत्ति मे केवल कथन मात्र की सहायता देता है। यह ध्वनि पहली आवाज़ की अपेक्षा तीव्र परन्तु ह्रस्व होती है तथा 'डब' के समान होती है । जब कि प्रथम ध्वनि जिसे सकोचीय ध्वनि कहते हैं, वह धीमी और दीर्घ "ल...........ब्' जैसी होती है । हृदय के संकोच समय के ज्यादा भाग मे सुनाई पड़ती है, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि, स्वस्थावस्था मे सकोच के पश्चात् यह ध्वनि कभी भी विद्यमान नही रहती । हृदय-शिखर और इसके कुछ बायी तरफ पर द्वितीय ध्वनि का सिर्फ महा धमनी के कपाटो से उत्पन्न होने वाला भाग ही सुनाई पड़ता है । वैद्य को यह हमेशा स्मरण रखना चाहिये प्रत्येक क्षेत्र मे प्रथम और द्वितीय ध्वनि का स्वरूप मालूम करना भी सर्वदा महत्त्व पूर्ण है ।

रुग्णावस्था में ध्वनि परिवर्तन ।

स्वाभाविक अवस्था मे ध्वनि जैसी होती है, उसमे रुग्णावस्था में काफी अन्तर हो जाता है । सामान्यतः निम्नानुसार परिवर्त्तन प्रतीत होता है ।

१—आवाज की वृद्धि । यह वृद्धि २ प्रकार की होती है । अ. सकोच-प्रसार, दोनो का स्वतन्त्र रूप से बढ़ जाना; आ. एक दूसरे की तुलना मे बढ़ जाना । इसकी कल्पना करते समय रोगी की वक्षभित्ति की मोटाई तथा हृदय पर फुफ्फुसो के विस्तार का ख्याल रखना चाहिये ।

२—एक के स्थान पर दो ध्वनि सुनाई देना । (द्वित्व)

३—यति (ताल Rhythm) अर्थात् दो ध्वनि के मध्य के अन्तर मे परिवर्तन ।

४—हृदय ध्वनि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की आवाज सुनाई देना । यह

हृदय ध्वनि को नष्ट करके उसीके स्थान पर या हृदय ध्वनि के साथ उत्पन्न हो सकती है।

गति में परिवर्तन (Alteration in intensity)

(अ) प्रथम ध्वनि का स्वाभाविक अवस्था से कमजोर हो जाना—रुग्णावस्था मे यह कमजोर या ह्रस्व हो जाती है तथा कभी बिल्कुल ही लुप्त हो जाती है। इसका लुप्त हो जाना हृदयावसाद (Heart failure) का पूर्व-लक्षण है। आशुकारी ज्वर प्रधान रोगो मे यह परिवर्तन अति शीघ्रता से उत्पन्न हो सकता है। इसलिये इसकी विद्यमानता का निर्णय अवश्य कर लेना चाहिये।

(आ) प्रथम ध्वनि का तीव्र हो जाना—प्रथम ध्वनि अकस्मात् तीव्र हो जाने का सबसे अच्छा उदाहरण वाम मध्यस्थ क़पाट की संकीर्णता में पाया जाता है। जो शिखर पर सुनने से मालूम पड़ता है।

सामान्य हृत्स्पन्दन सख्याधिक्य (Simple Tachycardia) के साथ अक्षर-भिन्न प्रकार की तीव्र ध्वनि उपस्थित होती है ; तथा स्पन्दन संख्या का ह्रास होने पर वह ध्वनि अदृश्य हो जाती है। बाये निलय कोष्ठ की वृद्धि होने पर आवाज तीव्र होजाती है, किन्तु यह जड, लम्बी और धमाके जैसी होती है।

इ. द्वितीय ध्वनि की अधिक स्पष्टता—अगर द्वितीय ध्वनि मध्यस्थ कपाटो के क्षेत्रो मे प्रथमध्वनि की अपेक्षा स्पष्ट सुनाई दे, तो समझना चाहिये कि या तो प्रथम ध्वनि दुर्बल है अथवा द्वितीय ध्वनि तीव्र। इनमे से जब प्रथम ध्वनि द्वितीय की अपेक्षा महाधमनी और फुफ्फुसिया धमनी क्षेत्र मे तीव्र हो, तब प्रथम ध्वनि हो तीव्र होगई है ऐसा माना जाता है।

ई. द्वितीय ध्वनि की सापेक्षिक तीव्रता बृहद्-धमनी और फुफ्फुसिया धमनी के क्षेत्र में भिन्न भिन्न प्रकार की होती है, और इस पर रोगी की उम्र का बहुत प्रभाव पडता है। युवावस्थामे फुफ्फुसिया धमनी की आवाज महाधमनी की तुलना मे ज्यादा तीव्र होती है, तथा वृद्धावस्था मे अगर रोगी का स्वास्थ्य अच्छा हो तो महधमनी की आवाज फुफ्फुसिया धमनी से ज्यादा तीव्र हो जाती है।

द्वितीय ध्वनि की तीव्रता का मतलब यह है कि जिस कपाट के ऊपर यह सुनाई दे रही है वह ज्यादा शक्ति के साथ बन्द हो रहे हैं। यह बन्द होने की शक्ति रक्त पूर्ण खम्भे की सबल-निर्बल गति पर निर्भर है, जो इस पर बहुत

प्रभाव रखती है। वह गति गतिशील रक्त की मात्रा और कपाटों को धक्का लगाने की शीघ्रता पर निर्भर है। महाधमनी मे उसके प्रारम्भिक भाग की विस्तृति होने पर रक्त की मात्रा बढ़जाती है, धक्का लगाने की शीघ्रता जब बढ़ती है तबकि रक्तवाहिनियो की भित्ति सकुचित हो या रक्तप्रवाहमे किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न हो जाय, तो धमनीय रक्त दबाव बढ़ जाता है। अगर धमनी-कपाटकी आवाज की तीव्रता प्रथम कारण से उत्पन्न हुई हो तो ध्वनि कुछ गुञ्जित होती है, और खाली बोतलसे एक दम डाट खोलने से उत्पन्न आवाज के समान होती है। फुफ्फुसिया धमनी पर द्वितीय ध्वनिमें तीव्रता उत्पन्न होनेपर फुफ्फुसीयरक्त-परिभ्रमण मे रक्त दबाव वृद्धि समझना चाहिये; यह दो कारणो से उत्पन्न होसकता है (१) फुफ्फुस रोगो मे तथा (२) हृदयके बाये भागके रोगो में। जैसेकि बाये मध्यस्थ कपाट की सकीर्णता मे। हृदयावरणमें वात प्रवेश (Pneumopericardium) होजाने पर ध्वनि अकेली स्पष्ट और गुञ्जायमान हो जाती है, तथा हृदयावरण मे तरल संचित होने पर आवाज कमजोर एवं आवृत प्रतीत होती है।

(२) दो आवाजोंकी उत्पत्ति

(Reduplication)

सामान्यतः दोनो मध्यस्थ कपाट एक साथ बन्द होते हैं। अतः प्रथम ध्वनि एक सुनाई पडती है। इसी तरह दोनो धमनियो के कपाट भी एक समय मे बंद होनेके कारण दूसरी आवाज भी एक ही सुनाई देती है। कुछ अवस्थाओंमे जबकि कपाट एक साथ बन्द न होते हो, तब दो आवाज सुनाई देने लगती हैं या कभी कभी अन्य कारणो से भी हृदयमे दूसरी आवाज उत्पन्न होसकती है। हृदय की प्रथम ध्वनि के द्वित्व को डाक्टरी मे "ब्रूट डी गैलप (Bruit de galop)" सज्ञा दी है। इस प्रकार की क्रिया मे तालको "घोडे की सरपट दौड" की उपमा दी है। जिसमे आवाज दौडते हुए घोड़े की टापो की आवाज के समान होजाती है, तथा दो आवाज तो साथ के साथही उत्पन्न होजाती है और तीसरी कुछ विराम के पश्चात् होती है।

प्रथम ध्वनि के द्वित्व और ह्रस्व पूर्व सकोचीय मर्मर के बीच मे कभी कभी आवाज का भेद करना कठिन हो जाता है। तब बाये मध्यस्थ कपाट की सकीर्णता के अन्य चिह्नो की विद्यमानता या अनुपस्थिति से भेदक निदान किया जाता है, अगर इससे भी निर्णय न हो सके तो इससे परवर्त्ती की जाने वाली सम्पूर्ण हृदय-परीक्षा द्वारा निर्णय करना चाहिये। प्रथम ध्वनि का द्वित्व साधारणतया रक्त दबाव वृद्धि और हृदयावसाद मे पाया जाता है। कभी कभी

यह हृदय के किसी एक भाग में कार्यावरोध होने पर भी हो सकता है, जब कि विद्युच्चालित नाडी दर्शक-यन्त्र के चित्र (Electrocardiogram) में अलिन्द संकोच और निलय संकोच के मध्य का विराम (P—R) लम्बा हो जाता है।

द्वितीय ध्वनि का द्वित्व—द्वितीय ध्वनि का द्वित्व विशेषतः तब सुनने में आता है, जब फुप्फुसीय रक्त परिभ्रमण के दबाव में वृद्धि हुई हो। इसलिये यह अधिकतर वाम मध्यस्थ कपाट की संकीर्णता और हृदय के जन्मार्जित रोगो मे उत्पन्न होता है। इसके साथ ही यह जब दायें और बायें निलय कोष्ठ एक साथ सकोचित न हो तब भी उत्पन्न हो सकता है। निलय कोष्ठो मे एक साथ कार्य करने की असमर्थता दो कारणो से उत्पन्न हो सकती है। १—किसी एक का कार्य भार अत्यन्त बढ जाय; २—मास पेशी में अवरोधक परिवर्तन हो जाय। मास पेशी का परिवर्तन, यह बिना किसी विकृति से भी कभी हो जाता है। द्वितीय ध्वनि के द्वित्व हो जाने पर ताल को धीरे धीरे चलते हुए घोडे की टापो की उपमा दी है। इसे डाक्टरी मे ब्रूट डी रैपेल (Bruilt de rapple) संज्ञा दी है। इस प्रकार में एक ध्वनि हो जाने पर विराम होता है और फिर दो ध्वनि साथ साथ जल्दी हो जाते हैं। पहले लिखे हुए प्रथम ध्वनि के द्वित्व से इसको अवश्य पृथक् करना चाहिये।

(३) यति में परिवर्तन

स्वस्थावस्था में हृदय की दो ध्वनि के मध्य का अन्तर अर्थात् यति सर्वदा एक सा रहता है। अगर इसमे किसी प्रकार का परिवर्तन हो तो उस पर अवश्य ध्यान देना चाहिये। यह यति तबले की त्रिताल से मिलती है, जिसमें प्रथम ताल मध्यस्थ कपाटो के स्पन्दन से द्वितीय ताल बृहद्-धमनी और फुप्फुसिया धमनी के कपाटो के स्पन्दन से उत्पन्न होती है। और तीसरी ताल के समय मे विश्रान्ति रहती है। इसे दूसरे रूप में इस प्रकार लिखा जा सकता है, शीघ्रता से कार्य करता हुआ हृदय निलय कोष्ठो के प्रसार में काफी समय प्राप्त कर लेता है, परन्तु सिर्फ इस प्रकार लिख देने से हृदय ध्वनि का सम्बन्ध चित्र की तुलना मे अस्पष्ट ही प्रगट होता है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि प्रथम आवाज के बाद विराम फिर दूसरा तीव्र परन्तु ह्रस्व ध्वनि और सब से पीछे लम्बा विराम होता है। जब लम्बे समय तक रक्तभार वृद्धि रहने के कारण हृदय क्षमता बहुत कम हो गई हो, जैसा कि जीर्ण वृक्क-प्रदाह से देखा जाता है, और मुख्यतया जब हृदय के मास को दुर्बल कर देनेवाले जीर्ण ज्वर जैसा कारण उपस्थित हो तब दोनो आवाजों

के मध्य में लगभग बराबर अन्तर हो जाता है। क्योंकि इस अवस्था में निलय संकोच का समय बढ़ जाता है।

जब घडी के लटकन की क्रिया से उत्पन्न ध्वनि के समान हृदय की दोनों आवाजो का अन्तर समान हो जाय तब अवश्य चिन्ता करनी चाहिये। क्योकि यह हृदय की मास पेशियो की घोर अवस्था का प्रतीक है।

(४) अस्वाभाविक ध्वनि (Adventitious sounds)

कभी कभी हृदय की स्वाभाविक ध्वनि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की आवाज सुनाई पडने लग जाता है। जो स्वाभाविक आवाजों के साथ ही उत्पन्न हो जाती है, या उनको नष्ट करके उनके स्थान पर उत्पन्न होती है। यह आवाज तीन प्रकार की हो सकती है।

(१) हृदय मे उत्पन्न (२) रक्तवाहिनियो मे उत्पन्न (३) हृदय से बाहर अन्यत्र उत्पन्न। इनमे से हृदयान्तरिक अस्वाभाविक ध्वनि को मर्मर्स या ब्रूट्स (Murmurs or bruits) कहते है। ये या तो कपाटों के या हृदय के भीतर उनके पास जहाँ से वह उत्पन्न होती है, किसी रोग की उत्पत्ति के कारण उत्पन्न होती है, यह ममर ध्वनि हृदय क्रिया विकृति जन्य हृदय प्रदेश मे ही उत्पन्न होती है, अतः इसे हार्दिक या यान्त्रिक (Organic) कहते हैं। या यह मर्मर ध्वनि रक्त की स्थिति मे अस्वाभाविक परिवर्तन होने पर भी उत्पन्न हो जाती है। रक्त का परिवर्तन एक ओर रक्त की चिपचिपाहट को प्रभावित करता है और दूसरी ओर हृदय के तथा वाहिनियो के ततुओं के पोषण में न्यूनता ला कर इस प्रकार की अवस्था उत्पन्न कर देता है। जिससे हृदय मे मर्मर ध्वनि के अनुकूल स्थिति बन जाती है।

मर्मर ध्वनि किस प्रकार की होतीहै, यह लिखकर ठीक ढंगसे समझाना कठिन है। सामान्यतः इस प्रकार समझा जासकता है कि किसी सूखे पत्र या वस्त्र को हिलाने, किसी द्रव पदार्थ के संकीर्ण मार्ग मे से गुजरने, या द्रव पदार्थ किसी खर वस्तुको स्पर्श करके गति करने पर जैसी आवाज उत्पन्न होती है, वैसीही यह ध्वनि होती है।

मर्मर ध्वनि के हेतु—इसकी उत्पत्तिके अनेक कारण हो सकते है, परन्तु उनमे से निम्न ३ मुख्य हैं।

१. रक्तकी चिपचिपाहट।
२. रक्त-प्रवाह की शीघ्र गति।
३. रक्त प्रवाहका तग मार्गमे से गुजरकर चौड़ी नालीमे जाना।

रक्त प्रवाह के मार्गका स्वाभाविक अवस्थासे तंग हो जाना, तथा मार्ग स्वाभाविक अवस्था में रहते हुए भी हृदय कोष्ठ विस्तृति होना, इन दोनों अवस्थाओं मे उक्त तृतीयावस्था समान रूपसे उत्पन्न होती है।

हृदयान्तरिक मर्मर ध्वनि का हृदय गति चक्र से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। इसकी उत्पत्ति का समय विकृति के स्थान पर निर्भर है।

हृदयान्तरिक मर्मर ध्वनि का यान्त्रिक प्रकार, जो कि कपाटोंकी तथा उनके पास के भागकी विकृति से उत्पन्न होता है। इसके दो कारण हो सकते हैं। १. कपाट संकीर्णता के कारण रक्त के आगे जाने का मार्ग तग हो गया हों। २. तथा कपाटोंकी असमर्थताके कारण वह पूर्णतया बन्द न होसकते हो, जिसके फलस्वरूप रक्त उस तग रास्ते मे होकर वापिस लौट रहा हो। प्रथम कारण से उत्पन्न मर्मर ध्वनि को अवरोधज मर्मर ध्वनि और द्वितीयकारण से उत्पन्न को **प्रत्यागमनज-मर्मरध्वनि** कहते हैं।

मर्मर परीक्षा—मर्मर परीक्षामे निम्नोक्त बातें देखी जाती हैं:—

(१) उत्पत्ति का समय।

(२) सबसे स्पष्ट या उच्च किस स्थान पर सुनाई देती है।

(३) व्याप्ति ज्ञात करें अर्थात् अग्र हृदय प्रदेश के भीतर उत्पत्ति के स्थान से किस ओर कितनी दूर सुनाई पडती है।

(४) स्वरूप।

(१) उत्पत्ति का समय—यह किस समय आकुञ्चन या प्रसार के समय सुनाई देती है? तथा इसका हृदय की आवाज के साथ क्या सम्बन्ध है? प्रथम आवाज के पूर्व उत्पन्न मर्मर को प्रागाकुञ्चनीय और साथ ही उत्पन्न होने वाली को आकुञ्चनीय और द्वितीय ध्वनि के साथ होने वालीको प्रसारणीय कहते हैं। प्रायः ये तीन प्रकार को मर्मर सुनाई देती हैं। प्रथम और द्वितीय आवाज के मध्य में कम विराम होने से द्वितीय आवाज के पूर्व मर्मर नही सुनाई देती।

(२) सबसे स्पष्ट या उच्च सुनाई देने वाला स्थान—जहाँ पर मर्मर स्पष्ट व उच्च सुनाई दे, ऐसे स्थान सामान्यतः स्वस्थावस्थामें कपाटोंकी आवाज जहाँ से सुनाई देती है, वेही होते हैं। किन्तु इस नियममें कुछ अपवाद भी हैं।

सामान्यतः रोगीके निर्बल होने पर हृदय की गति भी निर्बल होती है, और ज्यों ज्यों रोगी बलवान होता जाता है। त्यो त्यों गति सबल बनती है। एवं कुछ परिश्रम कराने पर, मर्मर भी स्पष्ट होती जाती है, अतः यान्त्रिक

मर्मर का मंद सुनाई देना हृदय की दुर्बलता का साक्षी है। परिश्रम करने पर स्पष्ट होजानेवाली मर्मर हृदय की अन्य विकृति दर्शाती है।

(३) व्याप्ति—इसे मालूम करने के लिये स्पष्ट तथा उच्च मर्मर सुनाई देने के स्थान से चारों ओर बराबर दूरी पर श्रवण करना चाहिये। इससे अनुभव हो जायगा कि, चारो तरफ दूरी बराबर होने पर भी मर्मरध्वनि बराबर मात्रा में सुनाई नही दे रही है, अपितु एक तरफ ज्यादा तो दूसरी ओर कम स्पष्ट सुनाई देती है। इससे कहा जा सकता है कि प्रत्येक मर्मर का सचलन निश्चित दिशा की ओर ही होता है।

(४) स्वरूप—मर्मर का स्वरूप मालूम करना भी महत्त्वपूर्ण है और कुछ सीमा तक सशय मिटाता है। अवरोधज मर्मर कठोर तथा प्रत्यागमनज मर्मर मृदु और गुञ्जित होती है।

मर्मर की आवाज और साधारण भेदो मे बडी विभिन्नता होती है, कुछ वाद्ययन्त्र के समान अनोखी ही होती है, जबकि कुछ बिल्कुल खर होती है। मर्मर की तीव्रता, इसको उत्पन्न करने वाले कारण की विकृति के परिमाण को नहीं दर्शाती है। क्योंकि इसके साथ उसका कुछ सम्बन्ध नहो है। इसके विपरीत तीव्र मर्मरध्वनि अक्सर हृदय की अल्प गम्भीरावस्था की प्रतीक है, जबकि मृदु, यहाँ तक कि लगभग सुनी न जा सके वैसी मर्मर गम्भीरावस्था को प्रकट करती है।

जन्म के पश्चात् उत्पन्न रोगो के फलस्वरूप उत्पन्न मर्मर दायें कपाटों की अपेक्षा सामान्यतः हृदय के बायें कपाटों से ज्यादा उत्पन्न होती है और मनुष्य की मध्यमावस्था में फुफ्फुसिया धमनी के क्षेत्र में, इसके कपाट की रुग्णावस्था के फलस्वरूप उत्पन्न मर्मर कभी-कभी ही सुनाई देती है।

अब भिन्न-भिन्न कपाटो से उत्पन्न मुख्य-मुख्य मर्मरध्वनि, जिन्हे हृदय के विभिन्न कपाटों पर और हृदय से बाहर भी सुन सकते हैं, उनका संक्षिप्त वर्णन लिख देना उपयुक्त ज्ञात होता है। इसके साथ कल्पित आकृतियो द्वारा हृदयगति चक्र मे मुख्य-मुख्य मर्मर ध्वनियो की स्थिति भी दर्शायी जायगी।

(१) वाम मध्यस्थ कपाट की मर्मर।

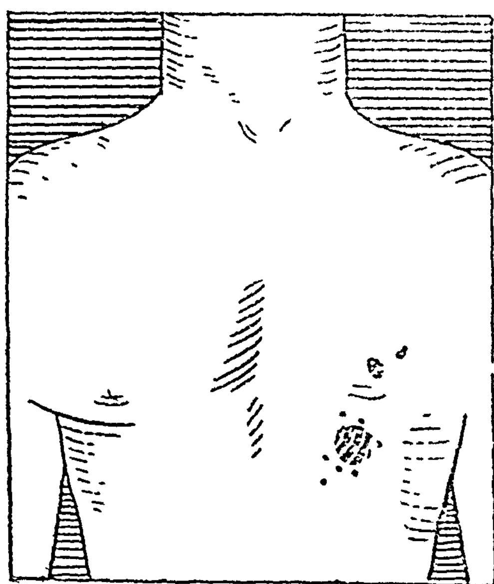
इसके दो प्रकार हैं। १—अवरोधज, २—पुनरागमनज।

(अ) अवरोधज—यह निलयकोष्ठ के प्रसार के समय उत्पन्न होती है और निश्चय ही यान्त्रिक प्रकार की होती है। कभी-कभी यह द्वितीय आवाज के साथ तत्काल सुनाई पड़ती है। जिससे यह प्रसारणीय मर्मर (Diastolic murmur) कहलाती है।

कभी यह द्वितीय आवाज के अल्पविरामान्तर आरम्भ होकर प्रथम ध्वनि से कुछ काल पूर्व बन्द हो जाती है, तब यह मध्यप्रसारणीय (Mid diastolic) मर्मर कहलाती है। इसके अतिरिक्त कुछ अवस्थाओ में यह अलिन्द सङ्कोच (पहली ध्वनि ल..........व्) के आरम्भ के साथ (संलग्न) प्रतीत होती है। तब इसे प्रागा कुञ्चनीय (Pre systolic) मर्मर कहते हैं। उक्त प्रत्येक मर्मर वाम मध्यस्थ कपाट की सङ्कीणता से उत्पन्न तङ्ग मार्ग में से गुजरकर रक्त के वाम निलय कोष्ठ में जाने से उत्पन्न होती है। प्रसार की प्रारम्भिक अवस्था में निलय कोष्ट के फूलकर रक्त चूसने से यह ध्वनि शुरू होती है। यह क्रिया (रक्त चूसने की साधारणतया प्रसार के आरम्भ में सबसे तीव्र होती है और इस के अन्तिम अवस्था में अलिन्द कोष्ठ का सङ्कोच रक्तप्रवाह को बढ़ा देता है। अनेक बार इसी कारण से दो मर्मर सुनाई देताहैं। मध्य प्रसारणीय मर्मर तथा अत्यल्प कालान्तर प्रागाकुञ्चनीय ममर सुनाई देती हैं। पहली मर्मर प्रसार के समय रक्त के स्वतः नीचे गिरने के कारण उत्पन्न होती है। दूसरी मर्मरध्वनि प्रसारकाल के समय मे अर्थात् अलिन्द कोष्ठों के सङ्कोच के कारण रक्त को नीचे धकेलने से उत्पन्न होती है।

यह मर्मरध्वनि हृदय शिखर या उरोस्थिके पास स्पष्ट सुनाई देती है। तथा इनका सचलन किसी निश्चित मार्ग की तरफ नही होता। इनका स्वरूप खर और घरघराहट युक्त होता है, मुख्यतया जब प्रागाकुंचनीय मर्मर हो। उपयुक्त मर्मर ध्वनियो के साथ अकसर एक प्रकार की कम्पन (thrill) भी विद्यमान रहती है। बहुधा रोगियों में द्वितीय आवाज का द्वित्व होजाता है, इसलिये यह 'ह्रुपं इड्' (rrupti-ti) के समान सुनाई पड़ता है। या जहाँ हृदय की गति अति तीव्र हो रही हो और मर्मर प्रसारके समय के काफी भाग मे सुनाई देता हो, वहाँ "इड् ह्रुपं (ti-ti rrup)" के समान सुनाई पड़ता है। कभी कभी प्रागाकुंचनीय (प्र यागमनज) के साथ ही वाम मध्यस्थ कपाट की अवरोधज मर्मर भी जो कि प्रसार के आरम्भ में उत्पन्न होती है, वह भी सुनाई देने लगती है तब यह "ह्रुपं इड्फ (rrup ti-ti ff)" के समान सुनाई पड़ती है। अगर मर्मर प्रसारके समय मे कुछ देरी से उत्पन्न हो तो वह "ह्रुपं-इड्फ्फ् (rrup ti-tiff)" के समान सुनाई पड़ती है।

द्वितीय ध्वनिका वाममध्यस्थ कपाटकी सकीर्णता मे द्वित्व होजाना सर्वदा संदेहास्पद है। यह असम्भव नहीं है कि, द्वित्व से उत्पन्न दो आवाजों में से एक वाम मध्यस्थ कपाट मे उत्पन्न हो सकती है, इन कपाटों के भाग



चित्र नं० ७१—वाममध्यस्थ कपाट की अवरोधज मर्मर

सन्निकटस्थ भाग से संलग्न होजाने के कारण, जब प्रसार का समय आरम्भ होता है तब तक मार्ग को बंद करके रक्त को अलिन्द कोष्ठ से क्षेपक कोष्ठ में जाने से रोकने में असमर्थ होजाता है। इस अवस्था में यह कपाट निलय कोष्ठ में उभार के समान उभर आता है, एवं तना हुआ रहता है तथा इनसे तीव्र आवाज उत्पन्न होती है, जिसकी तुलना जहाज के पाल के एकदम हवा के वेग से फूल जाने से उत्पन्न ध्वनि से की जा सकती है।

अवरोधज वाम मध्यस्थ कपाट की प्रसारणीय मर्मर:—

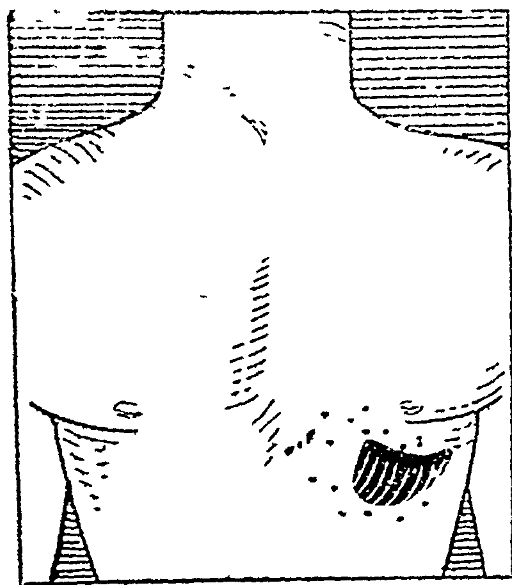
१—प्रसारकाल में उत्पन्न होती है।

२—हृदय कोण पर स्पष्ट सुनाई देती है तथा इसका संचलन नहीं होता।

३—बहुत कम देखने में आया है कि वाममध्यस्थ कपाट की संकीर्णता (अवरोधजमर्मर) के साथ अपूर्णता (प्रत्यगमनज मर्मर) न हो। दूसरे शब्दों में कपाट बन्द होने पर भी संकीर्णावस्था में वाम मध्यस्थ कपाटका कुछ न कुछ मार्ग खुला भी रह जाता है।

इससे प्रागाकुंचनीय मर्मर सुनाई देती है। चित्र नं० ७१ देखें।

(३) प्रत्यागमनज मर्मर—यह निलय कोष्ठ के संकोच समय में उत्पन्न होती है। यान्त्रिक क्रिया विकृति, वृद्धि या रक्त में अस्वाभाविक परिवर्तन होजाने के कारण होती है। इसमें वाम मध्यस्थ कपाट पूर्णरूप से बन्द नहीं होते और आकुंचन कालमें रक्त अलिन्द कोष्ठ में पुनः लौट आता है। यह हृदय शिखर-स्पन्दन के साथ आरम्भ होती है, और वाममध्यस्थ कपाटक्षेत्र में हृदय के प्रथम ध्वनि (ल......ब्) का कम या ज्यादा नाश करके उसके स्थान पर सुनाई देती है। यह सब से अधिक स्पष्ट हृदय-शिखर पर सुनाई देती है। इसका निश्चित संचलन बाहर की तरफ कक्षा रेख और बाईं स्कंधास्थि के कोण की तरफ होता है। यह साधारणतया मृदु और फूत्कार युक्त होते हैं। प्रत्यागमनज (द्विपत्र कपाट की संकोचीय) मर्मर जो बहुत



चित्र नं० ७२—वाम मध्यस्थ कपाटकी प्रत्यागमनज मर्मर।

धीरे सुनाई दे, उसे मुख्यतया निलय कोष्ठकी विस्तृति के फलस्वरूप उत्पन्न समझना चाहिये, नकि कपाटोंकी विकृति से। इस मर्मर ध्वनि का साधारणतया पृष्ठ की ओर संचलन नहीं होता। चित्र नं० ७२ देखें।

प्रत्यागमनज मर्मर की विशेषताएं—

१—यह हृदय शिखर पर स्पष्ट सुनाई देती है।

२—आकुंचन कालके समय और 'ल......ब' के स्थान पर सुनाई देती है।

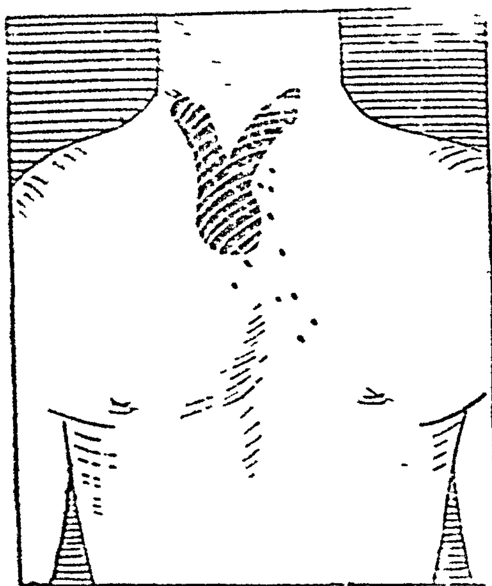
३—मृदु और फूत्कारवत् होती है।

४—इसका संचलन कोष्ठ से बाहर कक्षा की ओर तथा वाम स्कंधास्थि कोण की ओर होता है। इसमे कुछ काल बाद प्रायः वाम क्षेपक कोष्ठ पीड़ित हो जाता है। चिरकाल व्यतीत होने पर दाया कोष्ठ भी पीड़ित हो जाता है, अन्त में बाये क्षेपक कोष्ठ की विस्तृति हो जाती है।

यदि राजयक्ष्मा में हृदय और फुफ्फुसावरण की कला परस्पर संलग्न होती है; तो हृदय से अन्यन्त्र उत्पन्न मर्मर सुनाई देती है। इसे घर्षण सज्ञा दी है। इसका संचलन भी कक्षा और स्कन्धास्थि कोण की ओर होता है। इसका भेद वाम मध्यस्थ कोष्ठ के प्रसारणीय मर्मर से करने के लिये श्वास को रुकवा करके परीक्षा करनी चाहिये। अगर मर्मर हृदयान्तरिक होगी तो पूर्ववत् सुनाई देती रहेगी और अगर हृदय से अन्यत्र उत्पन्न होगी तो बन्द हो जायगी।

(२) बृहद् धमनी कपाट की मर्मर

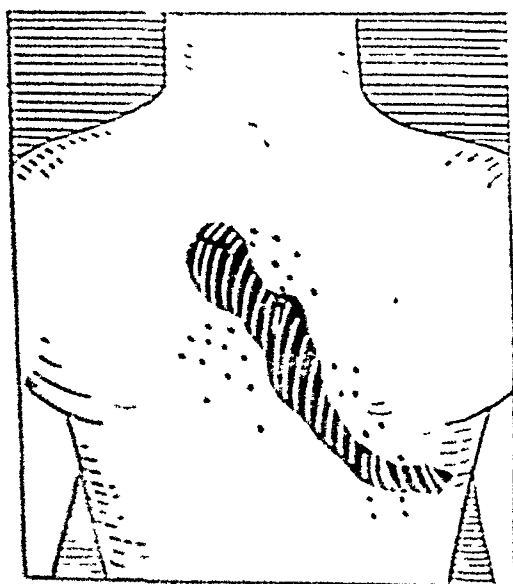
(अ) अवरोधज मर्मर—यह निलयों के आकुंचन काल मे होती है। कपाट के रोग से उत्पन्न महाधमनी के मुख का संकोच अथवा महाधमनी के स्वाभाविक कद के मुख से दूर महाधमनी प्रसारण होने पर यह मर्मर उपस्थित होती है। इन मर्मरों का स्वरूप खर होता है। ये सब से अधिक स्पष्ट उरोस्थि के पास दायी द्वितीय उपपर्शुका के



(चित्र नं० ७३)
वृहद् धमनी कपाट की अवरोधज मर्मर

सधि स्थान पर सुनाई देती है, यही स्थान वृहद् धमनी कपाट का श्रवण स्थान है। इस मर्मर ध्वनि का परिचलन रक्त प्रवाह के साथ धमनियों में होता है और अक्सर महामातृका धमनियों में कभी कभी बहुत दूर तक सुनाई दे जाती है।

(आ) प्रत्यागमनज मर्मर—यह निलय कोष्ठ के प्रसार काल में होती है, यह वृहद् धमनी कपाटिका के पूर्णतया बन्द न होने से उत्पन्न होती है। वृहद् धमनी कपाटिका के श्रवण स्थान पर सुनने से इसका सम्बन्ध हृदय के द्वितीय ध्वनि 'डूप' से होता है, जिसके कुछ अंश को या सम्पूर्ण द्वितीय ध्वनि को नष्ट करके उसके स्थान पर यह सुनाई देने लग जाता है। इनका परिचलन उरोस्थि के अधोसिरे की तरफ होता है, इससे कभी कभी यह तीसरी पर्शुका की सतह पर उरोस्थि के आधे बायें भाग में भी स्पष्ट सुनाई देने लग जाता है, तथा कभी कभी हृदय शिखर के पास भी स्पष्ट सुनाई देने लग जाता है। इन मर्मरों की आकृति आकुंचनीय मर्मरों की अपेक्षा कम कर्कश होती है। इनकी अधिकतम प्रखरता (स्पष्टता) प्रारंभिक काल में होती है, और प्रसारणीय काल में क्रमशः मंद होती जाती है।



(चित्र नं० ७४)
वृहद् धमनी कपाट की प्रत्यागमनज मर्मर

[illegible] पाया गया है कि वृहद् धमनी के मुख पर एक [illegible] स्थान पर जो मर्मर ध्वनि सुनाई देती है, इस अवस्था में आकुंचन मर्मर

की उत्पत्ति का कारण वास्तव मे मुख की संकीर्णता न होकर, कपाटो की कठोरता या कपाटो के किसी भाग की बनावट मे विकृति होती है; और प्रसारणीय (प्रत्यागमनज) मर्मर कपाटो के पूर्णतया बन्द न होने से रक्त वापस क्षेपक कोष्ठ मे लौटने से होती है। इन उभय मर्मरो मे ध्वनि बिल्कुल करवत की ध्वनि जैसी या सर्प की फूत्कारवत् होती है।

डा० औस्टिन फ्लिण्ट (Austin Flint) ने कुछ महाधमनी के रोग से पीडित मनुष्यों के हृदय-शिखर पर या उसके पास एक प्राग्संकुंचनीय मर्मर ध्वनि की विद्यमानता सिद्ध की है। उसकी शव-परीक्षा करने के पश्चात् देखा गया कि उनके वाम मध्यस्थ कपाट मे तो किसी प्रकार की विकृति नहीं है। इस बात की अधिक सम्भावना है कि यह मर्मर ध्वनि वाम-निलय कोष्ठ की विस्तृति का प्रतीक है।

(३) दायें मध्यस्थ कपाट (त्रिपत्र कपाट) की मर्मर

यह उपर्युक्त मर्मर ध्वनियो की तुलना मे बहुत कम पाई जाती है।

(अ) अवरोधज—यह निलय संकोच के समय उत्पन्न होती है और सब से अधिक स्पष्ट उरोस्थि के अधोसिरे पर सुनाई देती है। इनका परिचलन किसी निश्चित दिशा मे नहीं होता है।

(आ) प्रत्यागमनज—इसका स्वरूप वाम मध्यस्थ कपाट की प्रत्यागमनज मर्मर के समान होता है, और दाये मध्यस्थ-कपाट के क्षेत्र अर्थात् वक्षोस्थि के निम्न भाग पर स्पष्ट सुनाई देती है। यह संकोच काल मे होती है तथा दीर्घ, उच्च, खर सुनाई देती है। इसका परिचलन ऊपर की ओर दायी फुफ्फुसीया धमनी तक होता है। इसके फल स्वरूप दायी ग्रैवेयक शिराए (Right jujular veins) सदैव धडकती हुई प्रतीत होती है। इनकी उत्पत्ति त्रिपत्र कपाट के रोग से होती है।

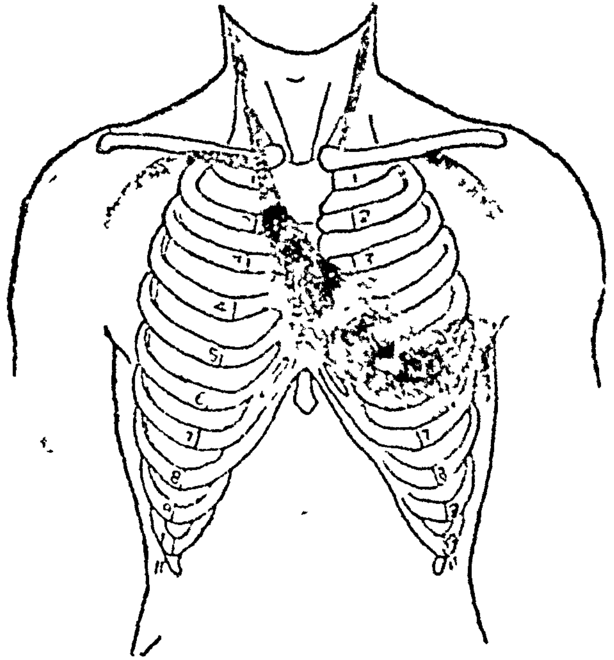
(४) फुफ्फुसीय धमनी कपाट की मर्मर

(अ) अवरोधज—यह फुफ्फुसीया धमनी-कपाट-क्षेत्र मे अर्थात् बाये द्वितीय पर्शुकान्तर मे स्पष्ट सुनाई देती है, तथा इसका परिचलन नही होता। हालाकि यह कभी-कभी ऊपर की ओर प्रथम पर्शुका पर भी स्पष्ट सुनाई देने लगती है। यह संकोच के समय उत्पन्न होती है। यह जब कभी होती है तब सहज विकृति के कारण होती है। बहुधा इस धमनी के मूल भाग की जन्म लब्ध विकृति ही इसका कारण होती है। यह अक्सर ज्वरो और पाण्डु की अवस्था मे पायी जाती है और बहिर्नेत्र गलगण्ड के अनेक रोगियो मे भी स्पष्ट सुनी गई है।

प्रत्यागमनज—यह विरल ही देखने में आती है। जब कभी उपस्थित होती है तो अन्य कपाटों के विकृत होने के पश्चात् होती है। अर्थात् प्रसारणीय काल की फुफ्फुसिया मर्मर बहुत कम देखने में आती है।

(५) अपवर्त्य मर्मर

बहुधा ऐसे रोगी देखे गये हैं कि जिनमें हृदयगतिचक्र के समय एक से अधिक मर्मरध्वनियाँ सुनाई देती हैं। जब दो ध्वनियाँ अलग-अलग समय में उत्पन्न हो रही हों, तो उनकी पृथक् पृथक् परीक्षा करके उनकी उत्पत्तिस्थान कारणादि का ज्ञान आसानी से प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु जब दो या दो से अधिक मर्मर एक साथ ही सुनाई दे रही हों, तब ज्ञान प्राप्त करना कुछ कठिन होता है। उस समय में प्रत्येक के पृथक्-पृथक् स्पष्टतर सुनाई देने के स्थान, परिचलन की निश्चित दिशायें और पृथक्-पृथक् स्वरूप मालूम करके इनके विषय का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जाता है। (आकृति ७५ वीं देखें) इसके अतिरिक्त पृथक्-पृथक् विकृतियाँ अवश्य ही रक्त-परिभ्रमण क्रिया पर कम या ज्यादा निश्चित प्रभाव डालती हैं, जिनको रोग-परीक्षा के अन्य साधनों से मालूम करके निश्चित निदान किया जा सकता है। बहुत सी मर्मर ध्वनियों में रोगी की स्थिति से बहुत अन्तर हो जाता है, इसलिये रोगी को दोनों स्थितियों में, बैठाकर और सीधा लिटाकर हृदय की परीक्षा करनी चाहिये।



चित्र नं० ७५—बृहद् धमनी अवरोधज वाम मध्यस्थ कपाट प्रत्यागमनज मिश्रित मर्मर।

प्रायः पाई जाने वाली अपवर्त्य मर्मर

१. वाममध्यस्थ कपाट की प्रत्यागमनज तथा अवरोधज मर्मर।

२. वाममध्यस्थ कपाट की अवरोधज तथा बृहद् धमनी की प्रत्यागमनज।

३. वाम तथा दक्षिण मध्यस्थ कपाट की संयुक्त मर्मर। यह तृतीय प्रकार कई बार प्रारम्भ में न भी हो तो देर से उपस्थित होती है तथा वाममध्यस्थ कपाट की सङ्कीर्ण अवस्थादि (अवरोधज मर्मर में) दायें क्षेपक कोष्ठ को हानि पहुँचती है, तब यह विस्तृत हो जाता है, और उसकी विस्तृति के कारण दायें मध्यस्थ कपाट की प्रत्यागमनज मर्मर भी उपस्थित हो जाती है।

जब कभी एक ही कपाट में दोनों प्रकार की मर्मर हो तो भयानक अवस्था का परिचय देती है।

४. दायें मध्यस्थ कपाट की अवरोधज तथा प्रत्यागमनज मर्मर विरल ही इकट्ठी पाई जाती है।

५. वाममध्यस्थ कपाट की प्रत्यागमनज मर्मर तथा बृहद्धमनी कपाट की अवरोधज मर्मर क्वचित् ही साथ में सुनाई देती है।

६—जन्म लब्ध मर्मर

(अ) फुफ्फुसीया धमनी कपाट की अवरोधज मर्मर—उन बच्चो में जिनकी त्वचा का रंग जन्मार्जित हृद-रोग के कारण नीला हो गया हो और सङ्कोच समय में कर्कश मर्मर (कम्पन सह) बायी द्वितीय पर्शुकान्तर में सुनाई दे तथा फुफ्फुसीय द्वितीय ध्वनि अनुपस्थित या बहुत धीमी हो तो जन्मार्जित फुफ्फुसीया धमनी की सङ्कीर्णता समझनी चाहिये। जिसके फलस्वरूप ही यह मर्मर उत्पन्न होती है। एवं प्रायः दोनो क्षेपक कोष्ठो की मध्यस्थ दीवार में छिद्र गर्भावस्था के समय रहता है, वह जन्म के बाद भी उसी तरह रह जाता है (Septal defect).

(आ) धमनी संयोजक सरणिका अस्तित्व—गर्भावस्था में फुफ्फुसीया धमनी और महाधमनी, इन दोनों के बीच सम्बन्ध रखने वाली संयोजक सरणि (Ductut arteriosus) रहती है। वह मार्ग जन्म होने के पहले ही बन्द हो जाता है। क्वचित् वह खुला (Patent) रह जाता है। फिर शैशवावस्था में या कुछ बडी आयु में बिना गात्रनीलता या बिना किसी लक्षण के एक अजब प्रकार की लम्बी मर्मर ध्वनि सुनाई देती है। वह आकुञ्चन और प्रसारण दोनों अवस्थाओं में उपस्थित होती है। यह मर्मर द्वितीय वाम पर्शुकान्तर में सुनाई पडती है। और अक्सर ग्रीवा की ओर परिचलन करती है। इसके साथ कम्पन भी होती है। इससे फुफ्फुसीय द्वितीय ध्वनि तेज हो जाती है।

(६) वृहद् धमनी संकीर्णता (अवरोधज) मर्मर—जन्म काल में वृहद् धमनी संकीर्णता, यह अत्यल्प होता है। इसमें हृदय पर संकोच समय में तीव्र और खर मर्मर सुनाई पड़ती है। इसके साथ ही आरोही वृहद् धमनी की वृद्धि भी होती है। इसमें यह विशेषता होती है कि ऊर्ध्व शाखाओं का रक्त भार और धमनी स्पन्दन ये दोनों अधोशाखाओं की अपेक्षा ज्यादा होता है, और कभी आनुषंगिक (Collateral) रक्त परिभ्रमण भी पैदा हो सकता है एवं क्वचित् संयोजक सरणि के पास महाधमनी का आकुंचन भी हो जाता है।

दोनों अलिन्द (ग्राहक) कोष्ठों के मध्य की दीवार में छिद्र हो जाने पर, अन्य कुछ उत्पन्न विकृतियों के समान, किसी प्रकार की मर्मर ध्वनि उत्पन्न नहीं होती है।

जन्मार्जित मर्मर का भेद, रोगी के इतिहास, त्वचा के नीलापन (अगर विद्यमान हो), मर्मर का शिखर की तुलना में हृदय-तल पर स्पष्ट सुनाई देना, और इसके तेज स्वरूप के कारण, जन्म के पश्चात् विकृति से उत्पन्न मर्मर से सरलता पूर्वक किया जा सकता है। इसका भेद करने में रोएण्टजन किरण परीक्षा (Radioscopy) और विद्युत् नाड़ी गति दर्शक यन्त्र की परीक्षा (Electrocardiography) भी सहायक सिद्ध हुए हैं।

(७) हृदय-फुफ्फुसीय मर्मर

यह अक्सर हृदय फुफ्फुसों के साथ संलग्न हो जाने के कारण तथा कभी-कभी हृदय के निकटस्थ फुफ्फुसों के रुग्ण हो जाने से भी उत्पन्न होती है। इस अवस्था में हृदय की स्थान च्युति हो जाती है या वह दबा दिया जाता है या हृदय की गतियां फुफ्फुस के संलग्न हो जाने के कारण उसमें संचालित हो जाती हैं, और फुफ्फुसों तथा श्वास प्रणालिकाओं के स्रोतों की वायु से उत्पन्न विषम गतियां हृदय में संचालित हो जाती हैं। यह भी सम्भव है कि अगर खुरदरा पृष्ठ शिखर प्रदेश के पास स्थित है तो हृदय संकोच के समय फुफ्फुसावरण से उत्पन्न हल्की घर्षण ध्वनि भी सुनाई देने लग जाय।

यह मर्मर हृदय संकोच के समय उत्पन्न होती है। यह साधारणतः संकोच समय के मध्य में या अन्तिम समय में आरम्भ होती है। यह ह्रस्व होती है, और श्वास लेने के समय स्पष्ट सुनाई पड़ती है, परन्तु दीर्घश्वास इसे अस्पष्ट या श्रवण अयोग्य बना देता है।

इनकी स्थिति अक्सर हृदय शिखर स्पन्दन के पास बाहर की तरफ होती है। कुछ रोगियो मे यह हृदय तल पर, बाये द्वितीय पशु कान्तर में या उसके पास भी सुनाई देती है। रोगी की सस्थिति परिवर्तन कराके सुनने पर यह अक्सर बिल्कुल नष्ट होजाती है। इनका निश्चित निदान करने के लिये परीक्षक को फुफ्फुस, फुफ्फुसावरण और उदरस्थ अगो की स्थितिका ध्यान रखना चाहिये। टेंटुआ (Trachea) पर श्रवण परीक्षा करने पर प्राप्त सूचना भी इनके निदान में सहायक सिद्ध होती है क्योंकि इस स्थान पर वाममध्यस्थकपाट की विकृति से उत्पन्न मर्मर कभी नहीं सुनाई देती है। नाड़ी से स्वरूप का, जिसका आगे वर्णन दिया जायगा, उसका भी अवश्य ध्यान रखना चाहिये।

(८) रक्तज या प्रणालिज मर्मर।

पाण्डुमें अक्सर हृदय और रक्त वाहिनियों मे रक्तकी विकृतिके कारण मर्मर ध्वनि उत्पन्न होजाती है। साधारणतया यह बायां द्वितीय पशु कान्तर मे फुफ्फुसी या कपाट–क्षेत्र पर या इससे कुछ बाहर की तरफ सुनाई देती है, परन्तु कभी कभी यह बाये मध्यस्थ कपाटके क्षेत्र (शिखर) पर और बहुत कम दायें मध्यस्थ कपाट क्षेत्र और वृहद् धमनी कपाट क्षेत्र में भी सुनाई देती है। यह सर्वदा स्मरण रखनेकी महत्वपूर्ण बात है कि, इस प्रकार से सर्व रोगियो मे मर्मर ध्वनि सर्वथा आकुंचनीय होती है और रोगीको सीधा बैठा करसे श्रवण करने पर हल्की या बिल्कुल श्रवण अयोग्य होजाती है।

रक्तज मर्मर बडी-धमनियो मे भी उत्पन्न हो सकती है, स्टेथस्कोप के दबाव से स्वतत्र विद्यमान रहती है, अर्थात् इसके दबाव का इस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पडता।

कुछ अन्य ध्वनि भी हैं, जो धमनियो मे श्रवण योग्य हो सकती हैं यह रक्त प्रवाह के दबाव मे परिवर्तन होने के फल स्वरूप उत्पन्न होती हैं। इसका स्पष्ट उदाहरण उस समय प्रतीत होता है—जब कि विस्तृत धमनियो मे रक्त प्रवाह एक दम तेजी से हो और उसका अकस्मात् पतन हो, तो उनकी दीवारो मे एक प्रकार की कम्पन उत्पन्न होती है। जिससे एक प्रकार की ध्वनि पैदा हो जाती है। यह नाड़ी की तरग के साथ ही प्रगट होती है। वृहद्धमनी प्रत्यागमनज मर्मर मे, जहाँ कि ये अवस्थाये पूर्ण वृद्धि को प्राप्त हो जाती है, वहाँ पर हमे एक द्वितीय ध्वनि भी सुनाई पडती है। वह रक्त दबाव का एकाधिक बार पतन हो जाने से उत्पन्न होती है। इन दो आवाजो की उत्पत्ति जब जघा के भीतर और्वी धमनी सुनाई दे तो वृहद् धमनी प्रत्यागमनज का मुख्य

प्रकार समझना चाहिये। ध्वनि वाहक यन्त्र के गलत प्रयोग के कारण यें आवाज मर्मरो मे परिवर्तित हो जाती है।

जब धमनी के अर्बुद के कारण महाधमनी विस्तृत हुई हो और महाधमनी मे किसी प्रकार की असमर्थता न हो तो मर्मर सर्वदा अनुपस्थित होती है। बृहद् धमनी की द्वितीय ध्वनि अर्बुद (स्थली) के किनारे पर स्पष्ट सुनाई दे सकती है, परन्तु इन अवस्थाओं के लिये कोई निश्चित नियम नही है। जब धमनी अर्बुद बडी रक्तवाहिनी में खुले, जैसा कि ऊर्ध्व महा-शिरा में, तब मर्मर बहुत तीव्र होती है, और अस्वाभाविक स्थानो पर सुनाई देती है, तथा इसमे नाडी बहुत क्षीण हो जाती है।

(६) हृदय से अन्यत्र उत्पन्न घर्षण ध्वनि

यह घर्षण ध्वनि दो कारणो से उत्पन्न हो सकती है :—

१—हृदयावरण के घर्षण से।

२—हृदय के पास फुफ्फुसावरण घर्षण से।

जब हृदयावरण की घर्षण ध्वनि ऐसे स्थान पर उत्पन्न हो रही हो, जो फुफ्फुसों से आवृत न हो, तब यह स्पष्ट सुनाई देती है इसलिये वह शीघ्र पह-जानी जाती है।

मर्मर ध्वनिमो का जिनका पूर्व वर्णन कर दिया गया है, इनके विपरीत हृदयावरण मे उत्पन्न घर्षण शब्द का हृदद-क्रियाचक्र की गतियो से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नही होता है। यह साधारणतया सकोच के समय प्रसार के समय की अपेक्षा ज्यादा स्पष्ट सुनाई पडती है, परन्तु यह एक ही स्थान पर न हो कर इधर उधर उत्पन्न होती है। इसका प्रथम भाग सकोच के समय और दूसरा भाग प्रसार के समय उत्पन्न होता है, परन्तु यह आवश्यक नही है कि ये सकोच और प्रसार के प्रारम्भिक काल मे उत्पन्न हो। कभी-कभी इसका द्वितीय भाग सकोच के अन्तिम और प्रसार के प्रारम्भिक समय को बिना प्रथम और द्वितीय भाग के मध्य मे विराम दिये ही ग्रहण कर लेता है, और कभी यह हृदय के गतिचक्र के सम्पूर्ण समय मे सुनाई देती है। घर्षण ध्वनि मे यह भी जरूरी नहीं है कि, इसका सब से स्पष्ट सुनाई देने वाला स्थान किसी कपाट क्षेत्र मे ही स्थित हो, जैसा कि, मर्मर ध्वनि सब से स्पष्ट किसी न किसी कपाट क्षेत्र मे ही सुनाई देती है। इसका परिचलन भी दूर तक नही होता। अपितु यह थोडे से स्थान मे ही सीमित रहती है। घर्षण ध्वनि की स्थिति सर्वदा परिवर्तित होती रहती है। स्वभावानुसार यह सर्व प्रथम हृदय तल के पास।

(अ) साधारण प्रकार जिसका प्रथम भाग संकोच के समय और दूसरा प्रसार के समय।

(आ) तीन ताल युक्त प्रकार—जिसका प्रथम भाग संकोच के समय और दूसरा भाग प्रसार के समय दो विभागो मे विभक्त।

बायी तरफ स्पष्ट सुनाई पडती है, परन्तु जब घर्षण की अवस्था अधिक व्यापक हो जाय तब बाये चूचुक के पास अधिक स्पष्ट सुनाई पडती है और कभी-कभी इसके साथ अस्पष्ट कम्पन भी होता है। इस घर्षण ध्वनि की तीव्रता पर रोगी की स्थिति का बहुत प्रभाव पडता है। जब प्रदाह अलिन्द कोष्ठ के साथ निलय कोष्ठ के हृदयावरण मे भी फैल जाता है, तब घर्षण ध्वनि त्रिताल युक्त हो जाती है (आकृति न० ३१ देखे)।

जब हृदयावरण में तरल काफी मात्रा मे जमा हो जाता है, तब हृदय की ध्वनि काफी अस्पष्ट हो जाती है।

जव हृदयावरण में तरल और वायु एक साथ जमा हो जाते है (वैसा बहुत कम देखा गया है) तब दही मथने के समय उत्पन्न नाद के समान घर्षण उत्पन्न होता है।

हृदय प्रदेश मे उत्पन्न घर्षण हृदयावरण प्रदाह से या हृदय सन्निकटस्थ फुप्फुसावरण से। इनका भेद करने के लिये रोगी को श्वास क्रिया रोकने के लिये कह कर फिर श्रवण करना चाहिये। अगर हृदयावरण से उत्पन्न घर्षण होगी तो इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नही होगा और अगर फुप्फुसावरण से उत्पन्न होगी तो यह बहुत अस्पष्ट हो जायगी या बिल्कुल ही नष्ट हो जायगी। इसके विपरीत लम्बा श्वास लेने पर फुप्फुसावरण से उत्पन्न घर्षण तीव्र हो जायगी परन्तु हृदयावरण से उत्पन्न मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होगा।

ऐसा भी देखा गया है कि, हृदयावरण और फुप्फुसावरण, दोनो की घर्षण ध्वनि एक साथ ही विद्यमान होती है। इसलिये इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये। मर्मर ध्वनि और घर्षण ध्वनि का अन्तर उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो गया है। परन्तु समझाने के लिये तुलनात्मक रूप से नीचे पुनः वर्णित कर दिये जाते है।

मर्मर और घर्षण ध्वनि में प्रभेद

	हृदयस्थ मर्मर	घर्षण ध्वनि
१.	यह पानी के तङ्ग रास्तेमे से गुजरने की ध्वनि के समान होती है।	यह दो बालो को आपस मे रगडने से उत्पन्न ध्वनिके समान होती है।

२. यह साधारणतया हृदय कपाट की विकृति के फलस्वरूप ही उत्पन्न होती है।	हृदयावरण या फुफ्फुसावरण की विकृति से उत्पन्न होती है।
३. विकृत कपाट क्षेत्र मे ही ध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है।	प्रत्येक स्थान पर स्पष्ट सुनाई पड़ती है एव स्टैथस्कोप को कुछ दबाकर सुनने से ज्यादा स्पष्ट हो जाती है।
४. सर्वदा हृदय की आवाजों के साथ ही उत्पन्न होती है। अर्थात् या तो इनसे पूर्व, इनके साथ अथवा पश्चात् सुनाई देती है।	इनका हृदय की आवाजो से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता।
५. उत्पत्ति से एक निश्चित दिशा मे सचलन।	सचलन की कोई निश्चित दिशा नही है। तथा हृदय प्रदेश से बाहर कभी सचलन नही करती।
६. हृदयचक्र के कुछ समय मे ही सुनाई पड़ती है।	कभी-कभी हृदयचक्र के सम्पूर्ण समय मे त्रितालमय सुनाई देती है।
७. हृदयचक्र मे एक ही बार सुनाई पडती है।	दो बार सुनाई पडती है।
८. सर्वदा निश्चित स्थिति।	परिवर्तनशील स्थिति।

६. नाड़ी परीक्षा

नाडी परीक्षा से दो बातो की प्रत्यक्ष सूचना मिलती है। १—रक्त-वाहिनियो की दीवार की स्थिति, २—उसके अन्दर के रक्त के दबाव का परिमाण और विभिन्नतायें। इन बातो की ध्यानपूर्वक परीक्षा करने से हमें हृदय और रक्तपरिभ्रमण की अवस्था के विषय मे महत्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसके साथ ही रोगी की साधारण अवस्था का भी कुछ सीमा तक ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

नाडी-परीक्षा करने के लिये रोगी को आराम की स्थिति मे बैठा दे या लिटा दे, और परीक्षा करने समय तथा उससे कुछ समय पूर्व भी रोगी को किसी प्रकार की क्रिया न करने देवे अर्थात् रोगी चलकर आया हो, तो उसे कुछ समय आराम कर लेने देवे। फिर कोहनी को किंचित् मुड़वाकर तथा मणिबन्ध सन्धि को शिथिल रखवाकर परीक्षा करे। महाधमनी प्रत्यागमन

रोग होने पर एक अनोखे ही स्वरूप की नाडी चलती हुई मालूम होती है, जो आसानी से पहचानी जा सकती है।

नाडी-परीक्षा के लिये तीन अगुलियाँ (तर्जनी, मध्यमा, अनामिका) रोगी के दाहिने हाथ की बाह्य प्रकोष्ठिका धमनी के अगुष्ठमूल पर रक्खी जाती हैं। यद्यपि इसमें कोई विशेषता नहीं कि तर्जनी अंगुली ऊपर कोहनी की ओर हो तथा अनामिका अगुष्ठ की ओर अथवा इसके विपरीत, अनामिका ऊपर और तर्जनी नीचे। तथापि विद्यार्थियों को अभ्यास के आरम्भ में सर्वदा एक ही मार्ग का अनुकरण करना चाहिये, इससे अंगुलियाँ अभ्यस्थ हो जाती हैं। अगर प्रत्येक रोगी के दोनों हाथों की बाह्यप्रकोष्ठिका धमनी की परीक्षा करने का अभ्यास डाला जाय, तो वह और भी ज्यादा लाभदायक सिद्ध होगा। क्योंकि इससे महा धमनी अर्बुद और रक्तवाहिनियों की अस्वाभाविकता जैसे रोगों का भी निदान करने में बहुधा त्रुटि होने की सम्भावना नहीं रहती। (केवल एक हाथ की नाडी देखने पर कभी भूल रह जाती है)।

नाडी—परीक्षा से निम्न बातें मालूम करनी चाहिये।

अ—हृदयाश्रित चिह्न :—

१. गति (Rate) द्रुत है या मन्द ?

२. यति (Rhythm) सत्वर है या मन्द ?

आ—धमनी पर अवलम्बित चिह्न:—

३ धमनी के मार्गका व्यास (Calibre) का परिमाण (Size)

४. रक्त-प्रणाली की दीवार की अवस्था (Condition)

इ—हृदय और रक्त प्रणाली, दोनों पर निर्भर चिह्न:—

५. नाडी तरग के समय उत्पन्न गति का परिमाण-आकृति (volume) ॥

६. स्पन्दन के समय रक्तबल या आकुंचनीय रक्तभार (Force. systolic pressure)।

७. दो स्पन्दनोंके मध्य का या प्रसारणीय रक्तभार (Diastolic-pressure. tension)।

८. अविभाजित अर्थात् विश्रान्ति रहित नाडी-तरंग का रूप (ऊंची उठना, पोषण, और नीचे गिरना, Dicroism)

गति:—यह एक मिनिट में नाडी स्पन्दन को गिनकर के मालूम की जाती है। स्पन्दन गिनते समय अगर इसमें किसी क्रिया के कारण तेजी आगई हो, तो कुछ समय उसे आराम करने देना चाहिये ताकि तेजी मिटजाय।

कमसे कम आध मिनिट गिनती करें और प्राप्त संख्या दूनी करके परिणाम एक मिनट की दर्शायें। यदि एक मिनिट तक पूरा गिनती की हो तो वह लाभदायक है। जिसस्पन्दन से परीक्षा आरम्भ हो उसे नही गिनना चाहिये। संख्या में प्रकृति और शरीर के बल के भेद से न्यूनाधिकता हो जाती है। स्वस्थावस्था में नाड़ी-स्पन्दन सामान्यतः एक मिनिट मे निम्नानुसार प्रतीत होते हैं।—

आयु	ठोके	आयु	ठोके
गर्भस्थ बच्चों के	१४०	१४ वर्ष तक	८५-९०
जन्म लेने पर	१३५-१४०	२० वर्ष तक	७५-८०
प्रथम वर्ष मे	११०-१२०	४० वर्ष तक	७०-७५
द्वितीय वर्ष मे	१०५-११०	६० वर्ष तक	७०-७५
तृतीय वर्ष मे	८५-१००	अति वृद्धावस्था मे	७५-८०
सात वर्ष तक	९०-९५		

पुरुषो की अपेक्षा स्त्री की नाड़ी स्पन्दन में १०-१५ अधिक होते हैं। अति वृद्धावस्था मे एव इतर समय मे निर्बलता बढ़ जाने पर नाड़ी के ठोके बढ़ जाते हैं। फिर स्पन्दन अनियमित हो जाता है। सामान्य रीति से हृदय जितना सबल होगा, उतनी ही स्पन्दन सख्या नियमित होगी। इस नियमानुसार किसी भी व्याधि के कारण बलक्षय हो जाने पर गति अनियमित (तीव्र) हो जाती है।

निद्रावस्था की अपेक्षा जागने पर, प्रातःकाल की अपेक्षा सायकाल मे, लेटे रहने की अपेक्षा बैठने पर और बैठने की अपेक्षा खडे रहने पर नाडी के स्पन्दन बढ़ जाते हैं। लेटे रहने मर ६६ ठोके हो, तो बैठने पर ७०; और खडे रहने पर ८० हो जाते हैं।

आहार परिपाक काल में उत्तेजक आहार या पेय का सेवन करने पर तथा शारीरिक या मानसिक परिश्रम, मानसिक उद्वेग (भय–क्रोध–चिन्ता-) एवं गरम वस्त्र पहनना आदि कारणो से नाड़ी गति तेज हो जाती है, जिससे स्पन्दन सख्या बढ़ जाती है किन्तु मानसिक उद्वेग और उत्तेजना जनित नाड़ी का द्रुतत्व अधिककाल स्थायी नही होता। व्यायाम में स्पन्दन सख्या बढ़ जाती है। फिर शान्ति मिलने पर कम हो जाती है।

श्वासोच्छ्वास सख्या के साथ नाडी की गति का घनिष्ट सम्बन्ध है। नाड़ी की गति साधारणतथा श्वासोच्छ्वास से ४ गुनी होती है। यह स्थिति स्वस्थ और अस्वस्थावस्था दोनो मे कायम रहती है। किन्तु कुछ व्याधियों मे जैसे न्यूमोनियादि मे इस नियम का भग हो जाता है।

श्वासोच्छ्वास के अतिरिक्त नाडी-स्पन्दनों का शारीरिक उत्ताप के साथ भी निकट का सम्बन्ध है। जब नाडी में ८ से १० स्पदन बढ़ जाते हैं, तब एक डिग्री ताप बढा समझना चाहिये। सामान्यतः ९८° डिग्री उत्ताप होने पर जिसकी स्पंदन-संख्या ७० हो, उसे १००° डिग्री उत्ताप होने पर स्पदन ८५-९० तक हो जायँगे। इस नियम का भग जिन रोगो मे होता है, वह आगे दर्शाते हैं। शारीरिक उत्ताप न बढने पर भी नाडी-स्पंदन बढ़ता ही जाय तो समझना चाहिये कि हृत्पिण्ड दिनोंदिन क्षीण होता जारहा है।

स्पन्दन-संख्यावृद्धि—हृदय के वाम खण्ड मे रहे हुए द्विपत्र कपाट से तथा धमनी कपाट से रक्त का प्रत्यागमन या इतर हृत्पिण्ड विकार, हिस्टीरिया, रक्त की अति न्यूनता और गलगण्ड आदि रोगो मे उत्ताप न बढ़ने पर भी नाडी-स्पंदन बढ़ जाता है।

जब प्राणदा नाडी (Vagus nerve) के तंतु अवसन्न हो अथवा कण्ठदेशस्थ अनुग्रीविका स्वतंत्र नाडी (Cervical sympathatic nerve) के ततु उत्तेजित हो जाय तब नाडी-गति तेज हो जाती है। इसी हेतु मे हिस्टिरिया मे नाडी वेगवती भासती है।

जीर्ण रोग मे नाडी तेज होना यह हृदय की क्षीणता दर्शाती है। नेत्र के तुङ्गात्व गलगण्ड (Exopthalmic goitre) रोग मे शारीरिक उत्ताप नही बढता, फिर भी नाडी द्रुतगामी होती है।

ज्वर रोग मे प्रौढव्यक्ति की नाडी संख्या १२० से अधिक होने पर रोगबल अधिक माना जाता है। उससे हृदय अति क्षीण हो जाता है। १३० से १४० हो जाने पर अवस्था भयजनक मानी है। १६० स्पंदन से अधिक होने पर जीवन आशा छूट जाती है।

आमवातिक ज्वर मे नाडी स्पंदन १२० हो जाने पर भय उत्पन्न हो जाता है। यदि नाडी का द्रुतत्व हृदयावरण के दाहशोथ (Pericarditis) के हेतु से हो तो भय नहीं मानना चाहिये।

द्विपत्रकपाट (Mitral valve) के विकार मे नाडी १२० से १३० या उससे अधिक होने पर भी विशेष भय नहीं है।

राजयक्ष्मादि व्याधियाँ और रक्तहीनता, जिनमे रक्तभार का ह्रास हो गया हो उनमे उत्ताप और स्वासोच्छ्वास की अपेक्षा नाडी की गति तीव्र हो जाती है। किन्तु किसी कारणवश रक्तभार की वृद्धि हो जाय तो स्पन्दन-संख्या अपेक्षाकृत कम हो जाती है।

स्पन्दन संख्या ह्रास—मस्तिष्कावरण प्रदाह, फुफ्फुसावरण-प्रदाह

और हृदयावरण प्रदाह से ज्वर, मोतीझरा इन्फ्ल्युएञ्जा, संतत विषमज्वर, इन रोगो मे उत्ताप की अपेक्षा नाड़ी स्पंदन संख्या कम हो जाती है।

मास्तिष्कावरण प्रदाह (मेनिञ्जायटिस Meningitis), फुफ्फुस प्रदाह आर हृदयावरण वरण प्रदाह (पेरिकार्डायटिस Pericraditis) जनित ज्वर, मोतीझरा (Typhoid), इन्फ्ल्युएञ्झा, सतत विषम ज्वर, इन रोगो मे उत्ताप की अपेक्षा नाडी के स्पन्दनो की सख्या कम हो जाती है।

ज्वर का अकस्मात् शमन होने पर नाडी मंद हो जाती है। एवं कामला, पाण्डु, सन्यास, जीर्ण-अजीर्ण, अर्धावभेदक, मूत्रयन्त्र मे विकृति, धमनी कोष काठिन्य, अपस्मार, श्लेष्मिक उन्माद, मधुमेह, वातरक्त, उग्र रोगो के पश्चात् निर्बलता और फुफ्फुस कोष विस्फारण (एम्फाइसिमा Emphysema), इन रोगो मे नाड़ी क्षीण हो जाती है, तथा हृदय के मास रज्जु-अलिन्द निलय सेतु (Auriculo ventricular bundle) के स्नायुओं में विकृति, अलिन्द खण्ड मे विकृति, डिजिटेलिस आदि विष-औषध का सेवन या इतर कारण से जब हृदन्तराय (Heart block) हो जाता है, तब नाडी की गति अति शिथिल हो जाती है। स्पन्दन-सख्या प्रति मिनिट ३० तक घट जाती है, क्वचित् २० ही रहती है। ऐसे ही मस्तिष्क मे स्थित उपदंशज अर्बुद या दूसरा कोई भी अर्बुद या (गूमा Gumma) या विद्रधि (Abscess), कृमि ससर्ग जनित विषमय रक्त विकार (इन्फेक्शन-टॉक्सिमिया Infection toxemia) आदि रोगों में भी नाड़ी की गति कम हो जाती है।

हृदय पिण्ड का यान्त्रिक विकारः—वाम निलय की मेदोपक्रान्ति (Fatty degnaration of left ventrical) और महाधमनी का सकोच (Aortaretio) होने पर नाडी शिथिल हो जाती है। इनमे निलय मेदोपक्रान्ति मे मात्र रोगी शयन करने या विश्रान्ति लेने पर ही नाड़ी मंद होती है।

वात सस्था के विकारो में सुषुम्णा शीर्षक (Medulla oblongata) मे स्थित हृत्पिण्ड की क्रिया को दमन करनेवाला केन्द्र (Cardioinhabitory centre) उत्तेजित होने पर वात नाड़ी विकार जनित शीर्षावरण का दाहशोथ (Meningits) आदि में नाड़ी गति मद हो जाती है।

मोतीझरा (Typhoid fever) की प्रथमावस्था अथवा उदरगुहा मे स्थित क्षुद्रान्त्र बन्धनी (Mesenteric) मे उत्तेजना होकर सुषुम्णा

शीर्षक में स्थित हृदय दमन केन्द्र मे प्रतिफलित उत्तेजना पहुँचने पर नाड़ी गति मंद हो जाती है।

इस नाड़ी गति के ३ विभाग किये हैं।

१—द्रुतगति (quick pulse) इस प्रकार में नाड़ी का स्पन्दन अंगुली को स्फूर्त्ति से लगता रहता है, और नाड़ी की गति सत्वर होती रहती है। इसे छोटी नाडी सज्ञा भी दी है।

२—क्षेपक गति (Jerky pulse) इस प्रकार में नाडी सहसा विशिष्ट प्रकार से फैल जाती है। इसे लहराती हुई नाड़ी (Vibrating pulse) और चंचल नाड़ी (Sharp pulse) भी कहते हैं।

३—मंद गति (Slow pulse) इस प्रकार मे हृदय के आकुंचन और प्रसारण काल में लम्बता है। और स्पन्दन सख्या सामान्यतः कम होती है। इसे असामान्य नाड़ी (Infrequent pulse) भी कहते हैं।

इसके अन्य कतिपय प्रकार आगे दर्शाये जायेंगे।

यति—नाडी गति तालवद्ध (स्पन्दनों के मध्य में एक सा अन्तर) होने को यति कहते हैं। इसका सम्बन्ध निलय सकोच से अधिक है। क्योंकि वाम निलय संकोच से हो महाधमनी मे रक्त आता है। अलिन्द सकोच से यति का सीधा सम्बन्ध नहीं है। निलय सकोच के स्पन्दित होती है और फिर क्षणिक विराम लेती है। इस तरह स्वस्थावस्था मे स्पंदन और विराम तालवद्ध होते रहते हैं। इस ताल की समता हृदय विकृति होने पर भंग हो जाती है।

जैसे युग्म स्पन्दनवती नाड़ी (Bigeminal pulse) मे साथ-साथ दो स्पंदन होते हैं और फिर लम्बा विराम उपस्थित होता है।

अविभाजित स्पदन में केवल समय की दृष्टि से ही यति भंग (अनिमयत) नहीं होता है, किन्तु आकृति म विषमता आती है। यह आकृति की विषमता वारम्बार यति भग के साथ प्रतीत होती है। जब नाड़ी गति की अनियमितता की पहचान यन्त्र द्वारा नाड़ी चित्र अकित करके अच्छी तरह करली जाय, तो स्पर्शन द्वारा यति भंग सरलता से विदित हो जाता है।

हृदय के भिन्न-भिन्न रोगों में. अति परिश्रम से श्वास भर जाने पर, एवं चाय, तमाखू आदि सेवन से ताल में विषमता हो जाती है। ताल विषम

हो जाने से नाड़ी अनियमित अर्थात् कभी जोर से, कभी मन्द और कभी रुक-रुक कर चलती है।

ज्वर के अन्त में क्षीणता, मस्तिष्क प्रदाह की प्रथमावस्था, मस्तिष्क-विकम्पन (Concussion of the brain) आदि रोगों मे नाड़ी कभी द्रुत और कभी मन्द हो जाती है।

यदि हृदयपिण्ड ही आकुञ्चित (स्वाभाविक या अस्वाभाविक) हो जाय तो स्पन्दन और विराम अनियमित होते हैं। क्वचित् दो या तीन बार स्पंदन होकर एक बार विराम होता है, तथा क्वचित् स्पंदन मे प्रतिबंध हो जाता है।

किसी-किसी रोगी मे कुछ स्पदन हो जाने पर किंचित् काल तक स्पंदनो का अनुभव नही होता। ऐसी नाड़ी को सविराम नाड़ी (Intermittent pulse) कहते हैं। इनमे मुख्य दो हेतु हैं। (१) वातवाहिनियों की विकृति जनित वाम निलय का सङ्कोच स्थगित होने तथा (२) वाम निलय की क्षीणता के हेतु से धमनी कपाटिका को मुक्त करने और धमनी में रक्त पहुँचाने मे अक्षम होने पर नाडी स्पदन मे प्रतिबंध होता है। इनके अतिरिक्त अवस्थाओं मे तालभङ्ग होने पर विशेष भय नहीं माना जाता।

हृदयावरण-प्रदाह होने पर श्वास लेने के समय श्वास छोड़ने की अपेक्षा स्पन्दन क्षीण हो जाता है, जिससे नाडी विषम हो जाती है। हृदय के अलिन्द खण्ड की सकोचन शक्ति क्षीण हो जाने से उसमे कम्पन होता रहता है, जिससे निलय खण्ड भी नियमित रीति से संकुचित नहीं हो सकता। फलतः यतिभङ्ग और बल मे न्यूनता हो जाती है। हृदय के वाम भाग मे रहे हुए द्विपत्र कपाट से रक्त का प्रत्यागमन होने पर नाडी विषम, निर्बल और अनियमित हो जाती है। इसका चित्र अङ्कित किया जाय, तो रेखाये विषम प्रतीत होती हैं।

मस्तिष्क मे जल संचय, सन्यास, शिर भारी हो जाना, मादक पदार्थों के सेवन और हृदय के वाम निलय कोष्ठ की वृद्धि होने पर नाड़ी मंद और अति कठोर हो जाती है; जिससे तालभङ्ग हो जाती है। तीव्रज्वर, सन्निपात, क्षय और हृदय की जीर्ण व्याधियो में नाड़ी स्पंदन के पश्चात् एक क्षुद्र स्पंदन होता रहे तो भी यति मे विषमता आ जाती है।

ऊर्ध्वगामी धमनी जो हाथ मे गई है, उसपर चोट लगने या अर्बुद हो जाने से उस हाथ की नाड़ी क्षीण हो जाती है। जिससे दोनों हाथो की नाडी में विषमता आ जाती है।

परिमाण और अनियमितता- इसका मुख्य कारण यह है कि, वाम निलय के सङ्कोचकाल में धमनी के भीतर बार-बार न्यूनाधिक परिमाण में रक्तक्षेपण करना। ऐसी नाडी को अनियमित तालयुक्त नाड़ी (Allorhythmic pulse) कहते हैं। सामान्यतः इसके साथ समय में भी अनियमितता आ जाती है। निम्न स्थानों पर समय और परिमाण दोनों में अनियमितता हो जाती है।

१. हिस्टीरिया, अत्यधिक स्त्रीसमागम, वातरक्त, अति धूम्रपान, अधिक चाय के सेवन आदि कारणों से हृदय-क्रिया में विकृति होने पर।

२. वाम हृदय प्रदेश में स्थित द्विपत्र कपाट (Bicuspid) का अवरोध (Mitral stenosis) या रक्त के प्रत्यावतन (Regurgitation) रोग में।

३. हृदय की दीवार की अपक्रांति—हृदय या वाम निलय की मेदापक्रांति या सूत्रमय अपक्रांति (Fatty or febroid degenaration) होने पर।

४. शीर्षावरण प्रदाह आदि वातकेन्द्र के कितनेक रोगों में।

(३) धमनी के छिद्र का परिमाण—धमनी के मुख का व्यास कितना है, यह मालूम करने के लिये नाडी पर स्थिर दबाव डाल नाड़ी को रिक्त करके स्पदन रोक ले, और चौड़ी अवस्था में व्यास की कल्पना करें। जब यह संकुचित होती है तब व्यास कम होता है और जब इसकी मासवृत्ति शिथिल हो जाती है तब यह पुनः मोटी हो जाती है। उपदश आदि धमनी की दीवार को कठिन करनेवाले रोगो मे धमनी के मार्ग का परिमाण भी कम हो जाता है। उसका विशेष सम्बध नाड़ी की दृढ़ता से रहता है। अतः विशेष विवेचन दृढ़ता मे किया है।

(४) धमनी की दीवार की स्थिति—धमनी की दीवार की स्थिति को मालूम करने के लिये धमनी को दबाकर रिक्त कर ले और रोगी के मणिबंध की त्वचा को लम्बाई के रूप मे धमनी पर पिसलावे। इसकी कठोरता या कोमलता दीवार की स्थिति स्थापकता पर निर्भर है।

स्वस्थावस्था में परिश्रम पूर्ण व्यवसाय में अधिक संलग्न रहने पर भी दीवार स्पर्श युक्तकठोर हो जाती है। रुग्णावस्था मे उसका मोटापन खटिकमय (चूना रूप परिवतनCalcification) तथा आकुंचनावस्था विदित होती

है। मोटापन जानने के लिये दोनों हाथों की वहिःप्रकोष्ठीया धमिनियो तथा बाहवी धमनियो की परीक्षा करनी चाहिये।

बाल्यावस्था मे धमनी की दीवार कोमल रहती है। फिर धीरे-धीरे आयु वृद्धि के साथ कठोर होती जाती है। रोग और प्रतिकूल आहार, गरम गरम पेय, शराब का व्यसन, एवं ऐसा व्यवसाय करना जिसमे हाथ का अधिक काम करना पड़ता हो, तो कठोरता बढती जाती है। यदि सात्विक आहार का सेवन किया जाय, तो दृढता कम होने लगती है। जब तक धमनी कोमल है, तब तक अंगुलियो से दबाने पर दीवार की प्रतीति नही होती, और स्पन्दन रुक जाता है। परन्तु कठोर हो जाने पर नाडी रज्जुवत् दृढ़ भासती है; और अंगुली से दबाने पर भी स्पन्दनो का रोक मुश्किल से होता है।

नाड़ी कठोर बनने पर देखना चाहिये कि, धमनी अपक्रान्ति (Atheroma) भी हो गई है या नही। ऐसा होने पर नाड़ी रज्जुवत् कठोर और वक्रगतिवाली भासती है। इस रोग को अति गम्भीर माना है। वृद्धावस्था, वृक्क रचना के भीतर चिरकारी दानेदार प्रदाह (Granular kidney), यकृद् वृद्धि, पित्त मे रहे हुए कोलेस्टेरीन द्रव्य (Cholesterin) का रक्त मे बढ जाना, उपदंश और जीर्ण अजीर्णादि रोगो मे नाडी की दीवार की स्थिति-स्थापकता नष्ट हो कर दृढता बढ जाती है। इसके विपरीत रक्त स्राव हो जाना, हाथ को ऊँचा उठाये रखना, स्वेदन क्रिया और गरम जल से स्नान, इन क्रियाओं के पश्चात् नाडी की दृढ़ता कुछ कम हो जाती है। विरेचन लेने से रक्तभार कम हो जाता है; जिससे दृढता न्यून हो जाती है।

धमनी जितनी मृदु होती है, उतने ही अंश मे व्याधियों के प्रतिकार की शक्ति सबल रहती है। नाडी कठोर होने पर रोग से संरक्षण करने मे अधिक श्रम पहुँचता है। यह सच कहा है कि, मनुष्य की आयु उतनी ही व्यतीत हो चुकी है जितनी उनकी धमनिया कठोर है। अर्थात् एक युवा पुरुष जिसकी धमनिया कठोर है, वह उस वृद्ध पुरुष, जिसकी धमनिया मृदु हैं, उसकी अपेक्षा वैद्यक दृष्टि से अधिक वृद्ध है।

दृढ़ता अधिक होने पर नाडी मे तनाव हो जाता है, जिससे स्फिग्मोग्राफ नामक रेखा यंत्र द्वारा लिये हुए चित्र मे निलय संकोच के बल से सुई ऊँची उठने के पश्चात् लहर का कोन विशेष चौडा हो जाता है, और धमनी संकोच से होनेवाला गड्ढा (Dicrotic Notch) आधार रेखा पर होता है।

(४) नाड़ी की आकृति—नाडी के तरंग के मार्ग मे नाड़ियों की दीवार की सचलन क्षमता के अनुरूप नाडी की आकृति होती है । आकृति का उत्पत्ति कर आधार हृदय क्रिया और धमनी, इन दोनो पर रहा है। दूसरे शब्दों मे कहे तो हृदय के वामनियल से प्रति आकुंचन मे महा धमनी के भीतर जानेवाले रक्त का परिमाण, रक्तरचना (रक्ताणु, तरल द्रव और उत्ताप आदि) तथा धमनी दीवार का बल अर्थात् धमनी के संचालक नाड़ियो (Vasomotor Nerves) पर अवलम्बित है । नाडी स्पन्दन स्थान मे योग्य दबाव देने पर उसकी क्षमता का अनुभव हो सकेगा। इसके लिये ऐसा भी कहा जाता है कि दबा कर उसके प्रसारण का निरीक्षण करे कि वह कितनीचपटी हो सकती है।

धमनी मे स्थिति-स्थापकता बहुत ही कम होती है, इसलिये स्पन्दन के समय की गतियाँ (आकार) दबाई हुई धमनी के पुनः नलाकार रूप ग्रहण करने की शक्ति पर निर्भर हैं। आकृति पर जितना धमनी दीवार की आकुंचन और प्रसार शक्ति का प्रभाव पड़ता है, उसकी तुलना में हृदय क्रिया शक्ति का बहुत ही कम मात्रा में असर पहुँचता है। अन्य शब्दों मे कहें तो धमनी दीवार के छिद्र का परिमाण नाडी की आकृति को निर्धारित करता है।

सामान्यतः स्वस्थावस्था मे सबल मनुष्य की नाड़ी पूर्ण रहती है। इनके अतिरिक्त निम्न अवस्था में भी नाडी स्थूल भासती है।

१—परिश्रम के पश्चात् और क्रोधावस्था में।

२—विविध प्रकार के ज्वर की सामावस्था मे जब तक हृदय बल पूर्वक कार्य करता है और धमनी मे अधिक रक्त फेकता रहता है तब तक।

३—धमनी की दीवार अपक्रान्ति युक्त कठोर हो कर दीवार की स्थिति स्थापकता नष्ट होने और फिर उनकी दीवार की परिधि प्रसारित हो जाने पर।

४—रक्त के प्रत्यावर्त्तन रूप विकार होने पर स्फिग्मोग्राफ द्वारा नाड़ी चित्र अंकित कराने पर हृदय की संकुचना अवस्था मे अर्थात् चित्र मे निम्नगामी रेखा के दूसरे गड्ढे तक का अंश स्थूल आयतनवाला बनता है।

५—किसी भी कारण से धमनी मे रक्त अधिक जाना, सिरा में रुकावट, धमनी मे अर्बुद, मस्तिष्क मे रक्त सचय और मस्तिष्क में शोथादि

कारणों से नाड़ी पुष्ट भासती है। संक्षेप मे किसी भी कारण से रक्ताभिसरण वेग की वृद्धि हो जाय, तो आकृति स्थूल हो जाती है।

उक्त स्थूलता के विपरीत निम्न अवस्थाओ मे नाड़ी क्षुद्र, शिथिल अवगत होती है।

१—रक्त हीनता, रक्तस्राव, द्विपत्र कपाट को विकृति, महाधमनीमें अवरोध, हृदय की क्षीणता, शक्तिपात, वाम निलय की मेदापक्रान्ति या तन्तुमय अपक्रान्ति और प्रसारण तथा मानसिक आघात आदि कारणों से वाम निलय मे से महाधमनी में रक्त स्वाभाविक की अपेक्षा कम जाने पर।

२—अन्त्रावरण दाह शोथ, दानेदार वृक्क प्रदाह (Chronic Nephritis) और ज्वर रोग की वेपनावस्था मे।

रक्तस्राव, अतिसार, वमन, विसूचिकादि रोग, जिनमें तरल द्रव्य निकल गया हो उनमें हृदयशक्ति के हरण करनेवाले रोगो में तथा जिनमे हृदय स्पंदन और रक्ताभिसरण वेगमद हो जाते हैं, ऐसी व्याधियों में नाड़ी कृश हो जाती है। यदि हृदय की क्रिया अति मंद हो जाती है, तो नाड़ी सूत के समान महीन (Thredy or wiry pulse) प्रतीत होती है।

रक्तदबाव या शक्ति—इसकी परीक्षा-विधि का वर्णन करने से पूर्व यह आवश्यक मालूम पड़ता है कि, रक्तदबाव क्या है? इसे समझ लिया जाय। एतदर्थ इसका वर्णन कर देना उचित है।

स्वस्थ मनुष्य की देह मे हृदय प्रति स्पंदन के साथ वाम निलय कोष्ट मे से सामान्यतः ३ औंस रक्त महाधमनी मे फैलता है। यदि १ मिनिट मे ८० बार स्पंदन मान ले, तो उतने समय मे १५ पौंड रक्त महाधमनी मे जाता है। महाधमनी को भी उसे प्रति सेकण्ड औसतन १२० या अधिक मि० मी० के वेग से आगे चलाना पड़ता है या हृदय बल से रक्त महाधमनी मे आगे गति कर जाता है। इस क्रिया मे जितने बल से रक्त आगे चलाया जाय उतना रक्त दबाव या रक्तबल माना जाता है।

धमनियों मे कुछ अंशमें एक प्रकार की स्थिति-स्थापकता रही है, जिसके कारण उनमे सिकुड़ने की शक्ति रहती है। इसके विपरीत हृदय के संकोच द्वारा शक्ति उत्पन्न होकर रक्तको धमनियो मे धकेलती है, अर्थात् हृदय की शक्ति रक्तकी धमनियों में धक्का लगा देती है और धमनियोंकी शक्ति अपने स्थिति स्थापकता के कारण उस पर अंकुश रखती है। जिससे रक्तका

वेग और परिमाण दोनों नियमित रहते हैं। इसे इस प्रकार भी लिखा जा सकता है कि, हृदयकी स्पन्दन शक्तिमें धमनियो की शक्ति घटा ली जाय तो शेष शक्ति (रक्त दबाव) ज्ञात हो जाती है । जिसके आधार पर रक्त धमनियो मे भ्रमण कर रहा है ; वह शक्ति रक्तभार (Blood pressure) कहलाती है।

इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट समझा सकते हैं कि, किसी कमरे का दरवाजा बंद है; उसके बाहर की ओर एक शक्ति शाली आदमी है, तथा भीतर की ओर दुर्बल; शक्ति शाली आदमी बाहर से धक्का लगा खोल कर प्रवेश करने का प्रयत्न करता है; तथा दुर्बल आदमी अन्दर से दबाव डाल कर उसे बंद ही रखना चाहता है। दूसरा मनुष्य दुर्बल होने के कारण प्रथम मनुष्य में अपेक्षा कृत जितनी अधिक शक्ति होगी, उतने ही बल से दरवाजे में उसका प्रवेश हो जायगा। अब रक्त भार को समझने के लिये प्रथम मनुष्य की शक्ति के स्थान पर हृदय की शक्ति समझें, जो रक्त को धमनियों में प्रवेश करा रही है, तथा दूसरे दुर्बल मनुष्यो की शक्ति को धमनियो की शक्ति समझे। एवं प्रथम मनुष्य मे दूसरे से ज्यादा शक्ति है उतनी रक्त प्रवाह की शक्ति या रक्त भार समझें।

उक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो गया है कि रक्तभार दो बातो पर अवलम्बित है।

१—हृदय कितने वेग से रक्त को धकेलता है।

२—धमनिया कितनी दृढ़ हैं।

इन दोनो की बाकी निकालने पर हृदय बल जितना अधिक शेष रहेगा, उतना ही रक्त भार भी अधिक होगा। यह दो प्रकार का होता है:—

१—आकुंचनीय रक्तभार (Systolic blood pressure)

२—प्रसारणीय रक्तभार (Diastolic blood pressure)

नाडी-परीक्षा से रक्तभार की कल्पना निम्न प्रकार से की जा सकती है :—

(६) आकुंचनीय रक्त दबाव—यह स्पन्दन के समय उत्पन्न होता है। इसे मालूम करने के लिये वैद्य को तीनों अंगुलिया मणिबंध के कुछ दूर रखनी चाहिये, ताकि अन्तः प्रकोष्ठिका जो करतल धानुषी धमनी द्वारा मध्यमा अंगुली तक गति करती है, उस धमनी का स्पन्दन सयोग स्थान से इसमें आकर बाधा न पहुँचा सके। तत्पश्चात् मध्यम अंगुली को ऐसी स्थिति में रक्खें, जिसमें स्पन्दन स्पष्ट प्रतीत हो। ऊपर की तरफ रक्खी हुई दूसरी

अंगुली से नाड़ी पर दबाव डालें। दबाव डालते समय मध्यम अंगुली से स्पन्दन का स्पर्श करते रहे। जिस दबाव के परिणाम से मध्यम अंगुली को स्पन्दन प्रतीत होना बंद हो जाय वही उस रोगी का सकोचीय रक्तभार समझा जाता है। यह उस मनुष्य के रक्तभार का लगभग अधिकतम विन्दु है।

(७) **प्रसारणीय रक्त दबाव**—इसे नाड़ी परीक्षा द्वारा मालूम करना, यह आकुंचनीय रक्तभार की अपेक्षा कठिन है। इसे मालूम करने के लिये सर्व प्रथम धमनी पर बिल्कुल न्यून, फिर मध्यम और फिर अधिक दबाव क्रमशः अंगुलियो से डालना चाहिये। अगर धमनी मे कठोरता और प्रसारणीय रक्त भार कम होगा तो वह प्रथमावस्था में ही स्पष्ट स्पर्श हो जायगी, क्योकि इस अवस्था मे धमनी को चपटी कर देने के लिये थोड़ा सा दबाव ही काफी होता है। इसके साथ ही अंगुलियों का दबाव हल्का होने से यह आसानी से वापस फूल कर अपनी गतियां स्वतन्त्रता से कर सकती है। इसके विपरीत अगर धमनी में कठोरता ज्यादा है तो दो स्पन्दनों के मध्य में धमनी को चपटी करने के लिये काफी दबाव डालना पड़ता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि, धमनी कठोर होने पर जितना दबाव अधिक डाला जायगा उतनी अधिक शक्ति से नाड़ी स्पन्दन करती हुई स्पर्श होगी। स्वस्थावस्था की नाड़ी मध्यम दबाव के समय स्पष्ट स्पर्श होती है।

(८) **अविभाजित नाड़ी-तरंग का स्वरूप**—नाडी-तरंग के समय को तीन भागों मे विभक्त किया गया है। १—जिसमे रक्तभार बढ़ता है, २—जिसमे रक्तभार अधिकतम विन्दु के आस-पास स्थिर रहता है, ३—जिसमे रक्तभार गिरता है।

नाड़ी का उत्पात (ऊपर उठना) एक दम हो सकता या धीरे-धीरे। जब एक दम हो तो धमनी मे कठोरता कम समझनी चाहिये; तथा धीरे-धीरे हो तो धमनी की अत्यधिक कठोरता या महा-धमनी-अवरोध समझना चाहिये।

द्वितीय समय में जब कि रक्तभार अधिकतम विन्दु के पास स्थिर रहता है यह देखना चाहिये कि यह उचित समय तक स्थिर रहता है या नहीं। स्वस्थावस्था मे यह उचित समय तक स्थिर रहता है; जब कि रुग्णावस्था मे इसके विपरीत ज्यों कि अधिकतम विन्दु पहुँचा कि जल्दी से गिरना आरम्भ हो जाता है।

तीसरे समय में यह देखना चाहिये कि, दबाव एक दम गिर जाता है या धीरे-धीरे गिरता है। स्वस्थावस्था में इस समय सर्वदा नाड़ी में प्रसारणीय

तरंग (Diaorotic wave) उत्पन्न हो कर दबाव के एक दम गिरने मे बाधा उपस्थित करती है, जैसा कि स्फिग्मोग्राफ से प्रतीत होता है। यह तरंग रुग्णावस्था मे नाड़ी के मुख्य धक्के के पश्चात् अंगुली को स्पष्ट धक्का देती हुई प्रतीत होती है। यह धमनी के बहुत कम कठोर होने पर हल्का दबाव डाल कर देखने से अधिक स्पष्ट प्रतीत होती है।

एक स्वस्थ युवा मनुष्य की नाड़ी परीक्षा—सामान्यतः गति ७० समय प्रति मिनिट होती है। स्पन्दन तालबद्ध और आकृति सम होती है। धमनी मध्यम आकार की होती है। यह स्वाभाविक सरल होती है, इसकी दीवार मोटी नहीं होती; और दो स्पन्दनों के मध्य मे इसका स्पर्श करना कुछ सीमा तक सम्भव हो सकता है। नाडी तरंग का अवरोध मध्यम दबाव से हो जाता है; तथा स्पन्दन भी मध्यम दबाव डालने पर स्पष्ट स्पर्श किया जाता है। जहाँ तक नाडी के साधारण गुण का सम्बन्ध है, वहाँ तक इसका उत्पात एक दम नहीं हो जाता, न बहुत धीरे-धीरे ही होता है। दबाव के अधिकतम विन्दु के पास उचित समय तक स्थिर रहता है, और धीरे-धीरे ही पतन होता है। साधारणतः प्रसारणीय तरंग स्पर्श योग्य नही होती।

(७) रक्तभार

स्पर्श द्वारा नाडीपरीक्षा करने पर रक्तभार के परिमाण की कल्पना की जा सकती है। अनुभवी चिकित्सक भी काफी कठिनाई और ध्यानपूर्वक परीक्षा करने पर ही जान सकते हैं कि रक्तभार बढ़ा हुआ, स्वाभाविक या घटा हुआ है। इसलिये रक्तभारमापक यन्त्र (Sphygmomanometer) प्रयुक्त किया जाता है। इस यन्त्र से रक्तभार की सिर्फ वृद्धि, क्षय ही का पता नहीं चलता अपितु निश्चित अंक मालूम हो जाते है, जो कि धमनी के दबाव को ठीक ठीक प्रगट कर देते हैं।

रक्तभारमापक यन्त्र

यह काठ की पेटी मे बन्द होता है। इसके ढक्कन मे थर्मामीटर के समान एक काच की नली (Manometer) लगी रहती है। दूसरी ओर एक भुज पट्टी (Armlet) रहती है। तीसरा अंश रबड या बल्व या धातु का पम्प पट्टी मे हवा भरने के लिये होता है।

काचनलिका पारद के मिलीमीटर दर्शक* अंशों मे विभक्त होती है। उसमे दबाव के अनुसार पारद ऊँचा नीचा चढ़ता है। जो अच्छे यन्त्र होते हैं उनमे से पारद को हटा कर साफ किया जा सकता है; फिर भी पारद नहीं फैलता।

भुजापट्टी लम्बी, चपटी और रबर की थैली रूप होती है। यह लगभग १२ से० मी० (लगभग ४॥ इञ्च) चौडी होती है। अगर इससे कम चौड़ी होगी, तो अनेक बार और मुख्यतया धमनी कठोर होने पर गलत रक्त भार दर्शायगी।

बल्व (या पम्प) का कार्य यह है कि, दबाने पर वायु का प्रवेश भुजापट्टी में करना, उससे बाहवी धमनी पर दबाव आकर पारा ऊपर चढ़ने लगता है। और रक्त दबाव दर्शाता है।

उक्त तीनो हिस्से पारद नलिका, भुजापट्टी और बल्व, रबर नलिकाओ द्वारा सम्बन्धित होते हैं। बल्व के साथ एक कपाट होता है, जिससे परीक्षक अपनी इच्छा अनुसार वायु भुजापट्टी से निकाल सकता है।

***मिलीमीटरदर्शक अंश**—ये चिह्न क्रमशः लिखे रहते हैं। जिस चिह्न के पास पारद की रेखा पहुँचती है, उतना मिलीमीटर माना जाता है। मिलीमीटर अर्थात् मीटर का एक हजारवाँ हिस्सा। १ मीटर की लम्बाई ३९·३७१ अर्थात् ३९$\frac{३}{८}$ इञ्च के लगभग होती है। इस हिसाब से एक मिलीमीटर की लम्बाई $\frac{१}{२५}$ इञ्च होती है। यह यन्त्र जितना मिलीमीटर रक्त दबाव दर्शाता है, उतना रक्त दबाव माना जाता है।

प्रयोग विधिः—इस यन्त्र का व्यवहार करते समय रोगी को शान्ति से बैठावे या लिटा दे। उसके एक हाथ को जिससे रक्तभार की परीक्षा की जायगी, वक्ष की समान ऊंचाई पर फैला कर रख दे। फिर यन्त्र का ढक्कन हटा कर सीधा खड़ा कर दे। यन्त्र ऐसे स्थान तथा इतनी ऊंचाई पर रखना चाहिये कि, उसमे स्थित "मैनोमिटर" परीक्षक के नेत्रों के बिल्कुल सामने और समतल हो। ताकि अंक पढ़ने मे आसानी हो। रोगी अगर बैठा हो तो उसके हाथ को सम्मुख रक्खी हुई मेज पर और अगर लेटा हो तो बिछौने पर ही रहने दे। तत्पश्चात् बाहु पर पट्टी बाधे। पट्टी बाधने मे सावधानी रखनी चाहिये। क्योंकि इसके उचित प्रकार से न बधने पर रक्तभार मे काफी अन्तर हो जाता है। फिर नाड़ी चलती रहे, तब तक हृत्पिण्ड के आकुंचन काल मे रक्त का दबाव मालूम करने के लिये बल्व को बराबर दबाकर बाहु पर बधी हुई पट्टी मे वायु भरते रहे। जब नाड़ी बन्द हो जाय (अंगुली नीचे नाड़ी अनुभव मे न आवे), तब वायु भरना बन्द कर दे। इसके पश्चात् रक्त-भार दो विधियो से प्रतीत किया जाता है। एक एक करके दोनो विधियो से रक्त दबाव मालूम करना चाहिये।

(१) स्पर्श विधि—इससे सिर्फ आकुंचनीय रक्त-भार ज्ञात हो सकता है। उपर्युक्त क्रिया के अनुसार वायु भरने से नाडी स्पन्दन प्रतीत होना बन्द हो जाय उस समय वायु भरना बन्द करके और बल्ब मे रहे हुए कपाट को दबा कर शनैः शनैः वायु निकालते जायें। वायु बहुत धीरे-धीरे निकालनी चाहिये ताकि बाहुपट्टी का दबाव भी भुजा पर बहुत धीरे-धीरे ही कम हो। इस समय में परीक्षक को अपनी आखे यन्त्र मे स्थित पारदनलिका पर परन्तु सम्पूर्ण ज्ञान शक्ति को नाड़ी का स्पर्श अनुभव करने की ओर लगा देनी चाहिये। वायु निकलते रहने पर ज्योंही नाडी का चलना आरम्भ हो, उस समय यन्त्र में जहाँ तक पारा चढ़ा हो, उतना ही मिली मी० हृदय के सकोचन काल का रक्त दबाव (Systolic blood pressure) माना जाता है। किन्तु रक्तभार दर्शक अक पढ़ने मे खूब सावधानी रखनी चाहिये; कारण थोड़ा सा अन्तर हो जाने पर सहज १०—२० मिली मीटर न्यूनाधिक हो जाते हैं।

(२) श्रवण द्वारा—इससे सकोच और प्रसारण दोनो समय के रक्तभार प्रतीत किये जा सकते हैं। परीक्षा करने के लिये उपर्युक्त विधि अनुसार ही बल्ब द्वारा बाहु-पट्टी मं उस समय तक हवा भरे, जब तक कि पारद "मैनोमीटर" मे स्पर्श-परीक्षा द्वारा प्रतीत अंको से ३० मि० मी० ऊपर चढ़ जाय। इसके पश्चात् बाहु पर बंधी हुई पट्टी के नीचे कोहनी के ऊपर रही हुई बाहवी धमनी पर स्टथस्कोप रख आवाज सुनते रहे और धीरे-धीरे वायु निकाल कर दबाव कम करते जायँ। इस समय परीक्षक की आखें "मैनोमीटर" पर परन्तु सम्पूर्ण ज्ञान-शक्ति को स्पन्दन सुनने के लिये प्रयुक्त करनी चाहिये। जब नाडी की गति सूक्ष्म आवाज सुनने मे आ जाय, तब पारा कहाँ तक चढ़ा है; यह देख लें। यह आकुंचन काल का रक्त दबाव है। फिर वायु निकलते रहने पर कभी तीव्र, कभी मन्द मर्मर ध्वनि और कभी भिन्न प्रकारकी आवाज होती रहती है। इन ध्वनियो पर किसी प्रकार का ध्यान न देते हुए वायु निकालते जायें। जब आवाज अकस्मात् मृदु और अस्पष्ट हो जायँ, उस समय यन्त्र मे जहाँ पारा चढ़ा हो, उतना मि० मी० हृदय का प्रसारणीय रक्त दबाव (Diastolic blood pressure) माना जाता है।

जहाँ तक आकुंचन-रक्तभार का सम्बन्ध है दोनो विधियो (स्पर्श और श्रवण) द्वारा मालूम किया हुआ रक्तभार लगभग समान ही रहता है। साधारणतया श्रवण विधि मे ५–१० मि० मी० अधिक रहता है। साधारणतया द्वितीय विधि ही सर्वदा प्रयुक्त करना ज्यादा लाभदायक है;

क्योकि इससे संकोचनीय और प्रसारणीय, दोनों दबाव मालूम हो जाते हैं। अगर दोनो विधि से क्रमशः परीक्षा की जायगी तो गलती होने का कम भय रहता है।

अन्य अनेक प्रकार के रक्त भारमापक यन्त्र मिलते हैं, जिनमे पारद की काचनलिका के स्थान पर घडी के समान डायल (Dial) होता है जिसकी सुइयो से रक्त दबाव मालूम किया जाता है। साधारणतया इनको सम्मिलित करके रक्खा जा सकता है। तथा इसके प्रयोग में आसानी होती है। परन्तु इसकी यन्त्र रचना छिपी हुई रहने के कारण तथा अक्सर यन्त्र पुराना हो जाने पर गलत रक्त दबाव निर्णय हो जाने का भय रहता है। इस लिये समय-समय पर इसें पारद के "मैनोमीटर" से सम्बन्धित कर परीक्षा कर लेनी चाहिये कि किसी प्रकार की त्रुटि तो नही हो गई है।

महत्वपूर्ण सूचना:—रोगी की सस्थिति परिवर्तन, भोजन के पश्चात् तथा परिश्रम करने आदि से रक्त दबाव में अनेक अस्थायी परिवर्तन हो जाते हैं। मनोद्वेग के कारण रक्त दबाव बहुत बढ़ जाता है। इसलिये इन बातो का ख्याल कर लेने के पश्चात् ही रोगी जब बिल्कुल आराम की स्थिति में मनोद्वेग से रहित हो, तब उसका हाथ बिल्कुल शिथिल रखवा कर परीक्षा करनी चाहिये। जो रोगी घबराया हुआ है, उसके प्रथम बार रक्त-दबाव का अंक सामान्यतः बहुत ऊँचा मालूम पडा हो, तो उसे स्वीकार न करते हुए दूसरी बार परीक्षा करनी चाहिये। दूसरी बार परीक्षा करने पर उचित रक्त दबाव प्रतीत हो जायगा। रक्त दबाव का निर्णय करने से पूर्व नाडी की गति भी मालूम कर लेनी चाहिये। क्योकि हृदयगति के साथ इसका घनिष्ट सम्बन्ध है; अर्थात् रक्त दबाव मे वृद्धि या ह्रास होना, यह विशेषतः हृदय गति पर निर्भर है।

रक्त दबाव की परीक्षा मे शीघ्रता करनी चाहिये। क्योकि रोगी के जरा से हाथ को सकुचित कर लेने मात्र से रक्त-दबाव बहुत ज्यादा मालूम हो सकता हैं। इसलिये बिल्कुल ठीक दबाव मालूम करने के लिये एक के बाद एक अनेक बार रक्तभार परीक्षा करनी चाहिये। एक बार अंक मालूम कर लेने के बाद भुजापट्टी में से सम्पूर्ण वायु निकाल कर दबाव शून्य पर लेना चाहिये। और फिर दूसरी बार पुनः वायु प्रवेश कराके परीक्षा करनी चाहिये।

कुछ रोगी ऐसे भी देखे गये हैं जिनमें "स्टथस्कोप" (श्रवण द्वारा) से रक्तभार परीक्षा करने पर नाड़ी स्पन्दन २०० मि० मी० के नीचे कुछ समय

के लिये नष्ट हो जाता है, और फिर प्रगट हो जाता है, और अन्त मे प्रसारणीय दबाव पर स्थायी रूप से नष्ट होता है। इस तरह पहले यदि पारा गिर कर २१० मि० मी० पर आ जाय और उस समय नाडी स्पन्दन ध्वनि उत्पन्न हो जाती है, तो वही सकोचनीय दबाव होता है। फिर १८० से १६० मि० मी० तक नाड़ी स्पन्दन ध्वनि गायब रहने के पश्चात् फिर उत्पन्न हो जाती है। फिर स्थायी रूप से १२० मि० मी० पर गायब होती है जो कि प्रसारणीय दबाव होता है। जो रोगी धमनी काठिन्य से पीडित हो उन्ही मे यह मध्य में गायब होने की अवस्था पाई जाती है। उक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि रक्तभार परीक्षा करने मे सर्वदा भुजापट्टी मे वायु का दबाव काफी डालना चाहिये। ताकि "मैनोमीटर का" पारद रोगी के रक्त दबाव की अपेक्षा ऊपर चला जाय।

प्रयोगो द्वारा मालूम किया गया है कि मनुष्य की भुजा सकुचित कर लेने पर प्राप्त रक्त दबाव पशु के उस दबाव के समान होता है, जिसे उसकी रक्तवाहिनी मे "केनुला" (Cannula) डाल कर उसके साथ सीधा" "मैनोमीटर" का सम्बन्ध करके जाना जाता है। साधारणतया देखा गया है कि, धमनी काठिन्य से रक्त दबाव मे १० मि० मी० से ज्यादा अन्तर नही पड़ता। हालाकि बहुत कठोर और सकुचित धमनी के कारण रक्त दबाव मे काफी वृद्धि या ह्रास हो सकता है। अगर हाथ मे शोथ हो, अगर मास पेशिया सकुचित हो, जैसे अपतानक (Tetanus) में, या रोगी भयभीत हो तो रक्त दबाव के अंक इतने गलत मालूम होते है, कि उन पर विश्वास नही किया जा सकता। इसलिये उक्त विकृति अवस्थाओ मे प्राप्त रक्त दबाव के अंको का कुछ भी मूल्य नहीं है।

कभी-कभी यह जरूरी हो जाता है कि हाथ की धमनी से प्राप्त सकोचनीय दबाव के अंको की तुलना पैर के आकुञ्चनीय दबाव से की जाय। इसमें रोगी को नीचे मुँह कराकर लिटा देवे। और भुजा-पट्टी को घुटने से ऊपर बाध दे और स्टैथस्कोप से ऊरु जानु पृष्ठिका धमनी (Poplitial art.) यह श्रवण करे। स्वस्थावस्था मे अगर पैर समतल रख कर परीक्षा की गई हो तो देखा जाता है कि पैर और हाथ का सकोचनीय दबाव करीब करीब समान ही है। इसी अवस्था में अगर महाधमनी कार्यभार सम्हालने मे अयोग्य है, तो पैर का सकोचनीय दबाव हाथ से बहुत ऊँचा हो सकता है; जब कि महाधमनी में अगर किसी का अवरोध होता है, तो पैर का आकुंचनीय दबाव हाथ की तुलना मे कम होता है।

स्वाभाविक दबाव—स्वस्थ युवा पुरुष के आकुंचन काल का दबाव १०० से १४० मि० मी० और प्रसारण काल का ६० मि० मी० से ६० मि० मी० रहता है। छोटी आयु में दबाव निम्न अंकों पर तथा बड़ी आयु में उपरोक्त अधिकतम अंको के समान या उससे भी अधिक हो जाता है। आकुंचनीय और प्रसारणीय रक्तभार मे जो अन्तर रहता है, ३० से ६० मिलीमीटर. वह नाड़ी दबाव माना जाता है। यदि इन दोनो अवस्थाओं के बीच ३० से कम या ६० से अधिक अन्तर हो जाय तो रक्त दबाव की अस्वाभाविकता मानी जायगी।

स्त्रियों मे रक्त दबाव पुरुषो की अपेक्षा ५–१० मि० मी० कम होता है। बालकों के जन्म के समय सामान्यतः ३०–४० मि० मी० ही दबाव होता है। फिर रक्त दबाव शनैः शनैः बढ़ता जाता है। सामान्यतः मनुष्य की २० वर्ष की आयु में हृदय के आकुंचन काल मे रक्त दबाव १२० मि० मी० ऑफ मर्क्युरी जितना गिनना चाहिये। फिर आयुर्वेद वर्ष का पाचवा हिस्सा मिलाने पर जितना हो, वह सिस्टोलिक प्रैसर (संकोचनीय दबाव) माना जाता है। जैसे ३० वर्ष की आयुवाले का १२० + ६ यानी १२६ संकोचनीय रक्तभार हुआ। आयु के अनुसार रक्तभार समझने के लिये निम्न तालिका दी गई है।

रक्त दबाव दर्शक

आयु वर्ष	आकुंचन रक्तभार	प्रसारण रक्तभार	नाड़ी का दबाव
२ से ५ वर्ष तक	८१	४५	३६
५ ,, १० ,,	९०	५३	३७
१० ,, १५ ,,	१००	६२	३८
१५ ,, २० ,,	११०	७१	३९
२० ,, ३० ,,	१२०	८०	४०
३० ,, ३५ ,,	१२४	८२	४२
३५ ,, ४० ,,	१२६	८३	४३
४० ,, ५० ,,	१२८	८४	४४
५० ,, ६० ,,	१३२	८६	४६
६० ,, ६५ ,,	१३६	८८	४८
६५ ,, ७० ,,	१४०	९०	५०
८० वर्ष की आयु	१४५	९२	५३

अस्वाभाविक-रक्त दबाव—रक्तदबाव के वृद्धि या ह्रास हो जाने को

अस्वाभाविकता कहते हैं। रक्तदबाव चिरकारी वृक्क-प्रदाह और अन्य अनेक रोगों में जिनमे धमनी कठोरता की वृद्धि मुख्य चिह्न होता है, उनमें अक्सर बढ़ जाता है। इस चिह्न को डाक्टरी मे निदान कर विशुद्ध रक्त दबाव (Hyperpiesia or Essential Hypertension) संज्ञा दी है। सिर्फ कुछ मि० मी० दबाव वृद्धि होने पर उसे रोग निदान में ज्यादा महत्त्व नही देना चाहिये। इसके अतिरिक्त अगर संकोचनीय रक्तभार बहुत ऊँचा (२०० मि० मी०) हो और उसके साथ ही प्रसारणीय दबाव भी ऊँचा (१३० मि० मी०) हो तो रोग निदान के लिये इसे महत्त्व पूर्ण चिह्न समझना चाहिये।

अति चिन्ता, अति क्रोध, अति हर्ष, श्रम का अभाव, आशुकारी संक्रामक रोग, वातरक्त जन्य जीर्ण रक्तविकृति, चिरकारी वृक्क प्रदाह (मूत्र में शुभ्रप्रथिन की प्रतीति होने के पहले), मधुमेह, आक्षेपक वात, सीसा का विष, अति शराब सेवन, सतत विबंध, धमनी कोष काठिन्य, अति वृद्धावस्था, स्त्रियो के मासिक धर्म की निवृत्ति, भोजन पर भोजन, अति मासाहार आदि कारणों से रक्तदबाव बढ़ जाता है। दबाव बढ़ने पर नाड़ी कठिन, पूर्ण और न दब सके वैसी भासती है। रोग के हेतु से बढ़े हुए रक्तभार वृद्धि को निम्नानुसार संज्ञा दी है:—

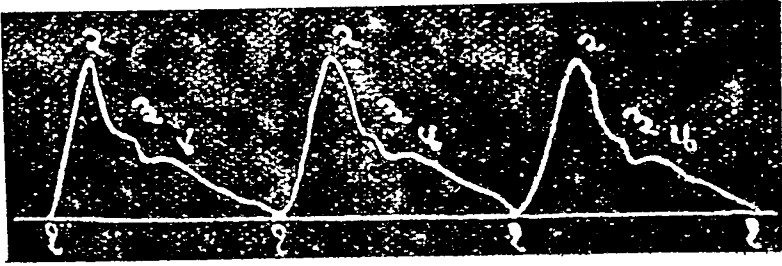
संज्ञा	आकुञ्चनीय	प्रसारणीय
अत्यधिक वृद्धि (Excessively high)	२८०से३२०	१८५से१८०
अत्यधिक (Very high)	२४०से२७५	१४०से१६०
अति (High)	१५०से२३०	१२०से१३०
४० वर्ष की आयु से पहले अति	१४५से१५०	९०से१२०

रक्तदबाव ह्रास (Hypotension)—यह बहुत कम देखा गया है। यह अस्थायी रूप से अधिक परिश्रम, रक्त-स्राव, शोक, अति वमन, अतिसार, अधिक उपवास, आंत्रिक ज्वर और सन्तत आदि ज्वरों में अधिक निर्बलता आने पर; तथा स्थायी रूप से हृदय रोग उपवृक्क विकार (एडीसन रोग) आदि मे कम हो जाता है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि किसी-किसी व्यक्ति में जन्म से ही रक्तभार न्यून होता है।

(८) नाड़ी का रेखा चित्र:—

वर्त्तमान मे नाडी तथा हृदय की जाति, ताल, नाडी तरंग आदि की परीक्षा के लिये ऐसे यन्त्रों का भी आविष्कार हुआ है, जो कागज़ पर नाड़ी

की गति का रेखाचित्र बना देते हैं। ये यन्त्र तीन प्रकार के हैं-१—स्फिग्मोग्राफ (Sphygmograph); २. पालीग्राफ (Polygraph) ३. इलेक्ट्रो कार्डियोग्राफ (Electrodardiograph).



चित्र नं० ७६

स्वस्थावस्था का स्फिग्मोग्राफ

(१) **स्फिग्मोग्राफ**—इस यन्त्र द्वारा नाडी की गति तथा स्वरूप को तरंग के रूप में कागज पर ले लिया जाता है। यह एक छोटा सा यन्त्र होता है जिसे कलाई पर स्थिर करके एक तरीके से खेंच लिया जाता है। इसमें एक धातु का बटन होता है, जो वाह्य प्रकोष्ठिका (बाहवी) धमनी पर रहता है; और उसके सम्पर्क के कारण यत्र मे गति होती है। इस गति के कारण लगाये हुए कागज पर आकृति बन जाती है।

जब से पालीग्राफ का आविष्कार हुआ है, तब से इस यत्र का महत्त्व बहुत कम हो गया है, क्योंकि पालीग्राफ से एक ही साथ दो आकृतियाँ बनती हैं; जिनमे एक स्फिग्मोग्राफ के समान धमनी की गति को और दूसरी शिरा (ग्रैविकी–अनुमन्या—Jujular vein) की गति को चित्रित करती है। इस दूसरे रेखाचित्र को डाक्टरी मे फ्लेबोग्राम (Phlebogram) संज्ञा दी है। इन दो चित्रों से धमनी और शिरा की गति की तुलना करने में आसानी हो जाती है। इससे प्रथम बार जब हृदय-स्पन्दन की तालबद्धता जानने का ज्ञान प्राप्त हुआ, तभी से इसी की शोध के साथ अलिंद कोष्ठ का संकोच रोग निदान के लिये परीक्षा क्षेत्र मे सम्मिलित किया गया है। इस यन्त्र की शोध से हृदय के क्रिया चक्र के समय को चिह्नित किया जा सकता है। इस चित्र को अंकित करने के लिये कागज के लम्बे वेलन पर लिखने मे विशेष प्रकार की कलम का उपयोग तथा वायु संचार की सुविधा हो जाने से और भी उन्नति हो गई है।

अ. पालीग्राफ

आकृति नं० पालीग्राफ (Polygraph) मेकेनझी के स्याही वाले

पोलीग्राफ (Mackenzie's ink Polygraph) में धातु से निर्मित एक केस (पेटी) होता है, जिसमे घड़ी के समान दो स्वतन्त्र यन्त्र रचना होती है; इनमे से एक समय को चिह्नित करने वाला भाग है; जिसमें एक सेकण्ड के पाँच हिस्से किये होते हैं, तथा यह गति उत्पन्न करता है; तथा दूसरा कागज के वेलन को कलम (पेन) के नीचे धकेलता है। कागज को चलाने की क्रिया परीक्षक द्वारा किये हुए नियन्त्रण के अनुरूप होती है। कलाई का स्पन्दन इसमें एक धातु के बटन से प्रेरित की जाती है, जो कि एक स्प्रिंग (Spring) के साथ खपाची (Splint) द्वारा कलाई से साथ सम्बन्धित कर दिया जाता है। खपाची पर तम्बुरा (Tambour) के समान गोल गेंद लगी रहती है। जिसमें बटन से उत्पन्न गतियाँ सीधी पहुँच जाती हैं। इस तम्बुरा से रबर की नली द्वारा गतियाँ चिह्नित करनेवाले यन्त्र गत तम्बुरा, जिस में चित्र बनाने के लिये कलम और एक उत्तोलनी (भार उत्तोलक दण्ड–Lever) लगी रहती है, वहा तक पहुँचती है।

शिरा की तरङ्ग एक उथली कटोरी या पात्र द्वारा प्राप्त करके रबर नलिका द्वारा चिह्नित करनेवाले तम्बूरे तक पहुँचायी जाती है। इस प्रकार एक साथ ही कागज पर दो आकृतिया और समय चिह्नित हो जाते हैं।

इनमे एक आकृति धमनी और दूसरी शिरा की गति को प्रदर्शित करती है।

प्रयोग विधिः—इस यन्त्र से परीक्षा करने के लिये रोगी को पीठ के बल चित लिटा दे, और उसका सिर एक तकिये पर रखावें। यन्त्र को दायी ओर शय्या के समतल रोगी के कन्धे के पास स्थिर टेबल पर रखे। रोगी की कलाई के साथ सम्बन्ध करने से पूर्व यत्र को पूर्णतया तैयार कर लेना चाहिये। तत्पश्चात् परीक्षक को यन्त्र के सम्मुख बैठ कर रोगी की नाड़ी के ठीक ऊपर स्प्लिण्ट सहित बटन को स्थिर करदें। प्रारम्भ मे विद्यार्थियों को इस बात में कठिनाई होती है। स्प्लिण्ट को ठीक लगी हुई तब ही समझना चाहिये, जबकि उसके ऊपर स्थिर बटन नाड़ी-स्पन्दन के अनुसार गति करने लग जाय। अगर ऐसा न हो तो पुनः पुनः हटा कर स्प्लिण्ट को ठीक स्थान पर स्थिर करने का प्रयत्न करना चाहिये। हाथ को सीधा, शिथिल कुछ अन्तः प्रकोष्ठिका की ओर मोड़ कर तोलिया के सहारे फैला देना चाहिये। इसके पश्चात् कलाई के "तम्बूरे" को स्प्लिण्ट पर स्थिर करें, जो पहले से ही चिह्नित करनेवाले तम्बूरे से नलिका द्वारा सम्बन्धित कर लिया जाता है। इस क्रिया के करने के साथ ही कलम में गति होने लग जाती है। तत्पश्चात्

कलम का सम्बन्ध कागज से करके, उसको आगे खिसकने दें। इससे नाड़ी चित्र बन जाता है। इसके पश्चात् शिरा की तरंग को प्राप्त करने वाली प्याली को ग्रीवा मे उरोस्थि और अक्षकास्थि के संधिस्थान के पास कुछ ऊपर ग्रैविक शिरा पर रक्खे। शिरा पर रखते ही कलम गति करने लग जायगी। तत्पश्चात् दोनो कलमो का कागज से सम्बन्ध करा के कागज को खिसकने देवे। जब चित्र ठीक बन जाय, तब यन्त्र को बन्द करदें और दोनो कलमो को कुछ ऊपर और नीचे हिला दे। जिससे उभय स्थानो के रेखा चित्र आ जाते हैं।

आकृति ३२ वी—

स्वस्थावस्था का धमनो चित्र (Sphygmogram)

P. १. आरोही तरग (Percussion wave)—

T. २. मुख्य तरंगगत उत्तरावस्था (Tidal wave)

N. ३. धमनी खात (Aortic Notch)

d. ४. द्वितीय किञ्चित् आरोही सह अवरोही तरग (Dicrotic wave)

E ५ निलय सङ्कोच—धमनी कपाटिका का खुलना (The Period of Ventricular systole (Aortic valvis open)

नं० १ से ३ तक निलय कोष्ठ के सङ्कोच से रेखा बनती है। नं० १ की रेखा—धमनी के बल के अनुसार ऊपर चढ़ती है। नं० २ का भाग भी उत्तरावस्था का माना जाता है। इस तरग की गति न० ३ तक होती है। नं० ३ का खात धमनी कपाटिका के बन्द होने पर होता है। नं० ४ यह रेखा प्रसारण अवस्था मे बनती है। इसमे पहले धमनी कपाटिका के बन्द होने के धक्के से कुछ ऊंची सी रेखा बनती है, फिर नीचे गिरती है। न० ५ का चिह्न है, वहाँ पर एक हृदय चक्र समाप्त होता है।

अगर आवश्यकता समझी जाय तो ग्रीवा से स्पन्दन प्राप्त करनेवाले प्याले को दूसरे स्थानो पर भी रक्ख सकते हैं:—जैसे हृदय-शिखर पर, स्पन्दन युक्त यकृत्, धमनी के अर्बुद पर अथवा रोगी के कपड़े के नीचे वक्ष पर छोटी सी रबर की थेली रख कर श्वास क्रिया को अकित किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार का रूपान्तरित पालीग्राफ (Mackenzies Lewes Polygraph) भी बनाया गया है। इसका प्रयोग शीघ्रता से और आसानी से किया जा सकता है। क्योंकि इसमे 'स्प्लिण्ट' और 'तम्बूरे' को ग्लिसरिन पेलोट (Glycerin pelotte) द्वारा बाहवी धमनी

या वहिः प्रकोष्ठीया धमनी पर आसानी से पुनः स्थापित किया जा सकता है। परन्तु यह सम्भव है कि प्रथम प्रकार की तुलना में इसके चित्र स्पष्ट न हों।

एक तीसरे प्रकार की पालीग्राफ (Jacquit polygraph) भी कहीं कहीं प्रचलित है। यह उपर्युक्त दोनों प्रकार से वजन और मूल्य में ज्यादा होता है। यह आकृतिया उत्तम अंकित करता है। इसमें कभी-कभी अंकित करनेवाले तम्बूरों की संख्या तीन या इससे अधिक होती है। परन्तु दो से अधिक तम्बूरों का परीक्षक के लिये नियन्त्रण करना कठिन होता है।

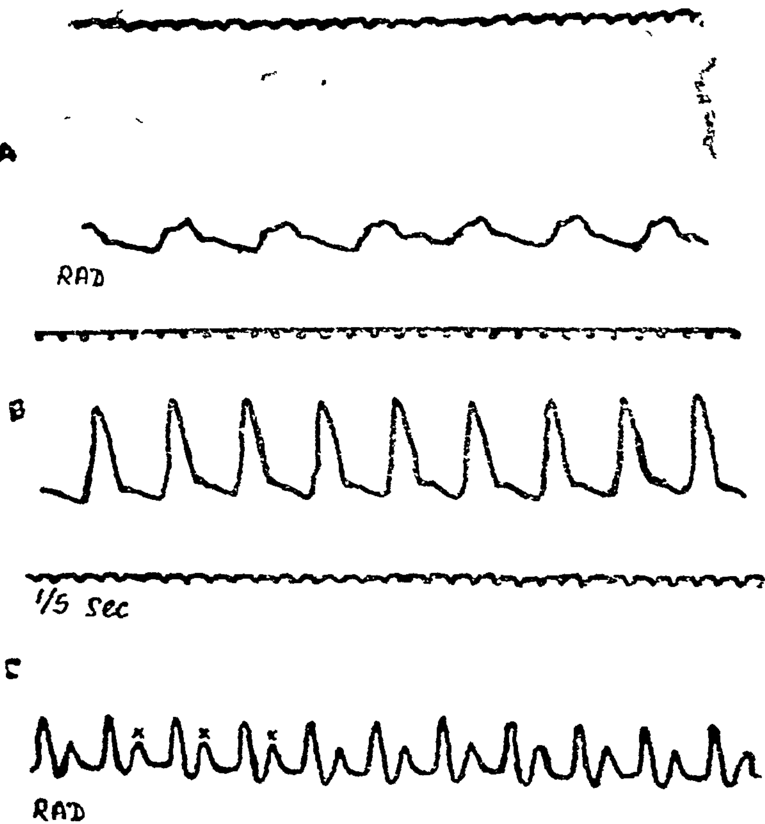
धमनी चित्र (Sphygmogram)

स्वस्थावस्था मे नाड़ी की गति का चित्र पूर्व अंकित कर दिया गया है। धमनीमें दबाव उत्पन्न होने से रेखा नीचे ऊपर और दबाव कम होने पर ऊपर से नीचे खिंचती है; इस बात को प्रथम समझ लेने से विद्यार्थियों को बहुत आसानी रहेगी (आकृति नं० ३२) दबाव के शीघ्रता से बढ़ने तथा कागज स्वाभाविक गति से आगे खिसकते रहने से प्रथम रेखा का आकार पूर्णतया लम्ब (Perpendicular) नहीं होता है। द्वितीय तरंग (मुख्य तरग), प्रथम (आरोही) तरग का अनुगमन करती हुई प्रतीत होती है। स्वस्थावस्था में इन दोनों तरगों का पृथक् भाव से विभाग हाथ से स्पर्श करके नहीं कर सकते। इनमें द्वितीय तरग ही नाड़ी की वास्तविक तरग है। प्रथम तरग की रेखा यन्त्र को धक्का लगने के कारण अस्वाभाविकतया ऊपर चली जाती है, फिर दबाव कम होने पर रेखा उतरने लगती है, परन्तु ज्यों ही महाधमनी की कपाटिकाएं बन्द होती हैं, त्यो ही उनके पतन में प्रतिबन्ध होता है और तृतीय (प्रसारणीय) तरग उत्पन्न होती है।

इस तरग के फल-स्वरूप पतन के प्रारम्भ मे रेखा में छोटा सा भग उत्पन्न हो जाता है। प्रसारणीय तरंग उत्पन्न होने से ठीक पूर्व जो खात बन जाता है, उसके बनने के समय को ही महाधमनी कपाट के बन्द होने का समय समझना चाहिये। प्रसारणीय तरग के पश्चात् फिर रेखा नीचे की ओर उस समय तक बनती है, जब तक कि नाड़ी का पुनः नूतन स्पन्दन हो कर प्रथम तरग उत्पन्न न कर दे। इस चित्र तथा वर्णन से पाठकों को यह स्पष्ट हो गया होगाकि रक्त दबाव बढने मे गिरने की तुलना से बहुत कम समय लगता है। इसी कारण पतन को दर्शित करनेवाली रेखा प्रथम (आरोही) रेखा की अपेक्षा-ज्यादा कम खड़ी (अनुप्रस्थ) होती है।

जब क्षेपक कोष्ठ सामान्य अवस्था की अपेक्षा धमनियों में अधिक समय रक्त भेज रहा हो, एवं धमनी प्रशाखाएं प्रसारित हो जाने से रक्त भार न्यून हो गया हो तब उत्थान रेखा अपेक्षाकृत ऊंची और लम्बी होती है।

इसके विपरीत जब हृदय की दुर्बलता या बृहद् धमनी कपाट के पास मार्ग की संकीर्णता के हेतु से एक निश्चित समय मे रक्त की कम मात्रा धमनी मे पहुँच रही हो, फिर भी रक्त भार वृद्धि होने से रक्त के मार्ग में रुकावट आती हो, तब उत्थान रेखा अपेक्षाकृत छोटी और कम ऊंची होती है।



(चित्र नं० ७७)

तीन स्फिग्मोग्राम

A. महाधमनी के मार्ग की संकीर्णता होने पर (Aortic stenosis)

B. महाधमनी कपाटिका की अपूर्णता से रक्त का परावर्त्तन होने पर (Aortic incompetance)

C. प्रतिस्पन्दन में द्विगुण ठोके होने पर (Dicrotism)

अगर प्रसारणीय दबाव कम हो तो पतन तरंग काफी लम्बी होती है और अगर प्रसारणीय दबाव ज्यादा हो तो यह तरंग छोटी ही रह जाती है।

परिवर्तनशील नाड़ी रेखा—निम्न अवस्थाओं में अक्सर नाड़ी रेखा चित्र में परिवर्तन होते हैं :—

१. **महाधमनी द्वार संकीर्णता**—इस स्थिति में प्रथम (उत्थान) तरंग कुछ ऊंचा चढ़कर फिर नीचे गिरता है। ऐसा विलम्बित नाड़ी (Pulsus Tardus) में होता है। द्वितीय (वास्तविक) तरंग प्रथम तरंग की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और कभी कभी ज्यादा ऊपर चली जाती है। ऐसी नाड़ी को ऐनेक्रोटिक पल्स (Anocrotic pulse) अर्थात् एक हृदय चक्र में दो से अधिक आघात करनेवाला कहते हैं। (आकृति नं० ३३)

२. **महाधमनी कपाटिका की अपूर्णता**—जब बृहद् धमनी कपाटसम्यक् रूप से बन्द नहीं होता है, अर्थात् अपूर्ण होता है, तब उत्थान तरंग उच्च और विषम होती है, पतन सत्वर होता है तथा प्रसारणीय तरग बहुत कम या नहीं होता (आकृति नं० ३३ B)

३. **वाम मध्यस्थ द्वार की संकीर्णता**—वाम मध्यस्थ द्वार का पूर्ण अवरोध होने पर उत्थान छोटा सा या इसका बिल्कुल अभाव होता है। और प्रसारणीय तरग स्पष्ट होती है। परन्तु इससे इसे सदा नियमहीन मान लेना चाहिये क्योंकि अक्सर इसमें अलिन्द कोष्ठ की कंपकपी (Auricular fibrillation) देखी गई है।

४. **धमन्यर्बुद**—कभी-कभी महाधमनी के महराब में अर्बुद सी स्थली बन जाने पर उत्थान में अवनति होती है। यह अवनति महाधमनी के भाग के सम्बन्ध के अनुसार एक ओर सामान्यतः दायीं ओर की नाडी मे होती है। अगर धमन्यर्बुद के अन्य चिह्न भी विद्यमान हों तभी इस पर विश्वास करना चाहिये क्योंकि बहुत समय स्वस्थावस्था मे भी एक तरफ की धमनी में दूसरे तरफ की धमनी से अन्तर पाया गया है।

विशेष प्रकार की नाड़ी—

१. **द्रुत नाड़ी** (Pulsus frequens)—अति विभिन्न प्रकार

की हृदय की स्थिति के हेतु से या संक्रमण विष आदि कतिपय बाह्य कारणो के हेतु से हृदय स्पन्दन जल्दी-जल्दी होता है। जीर्ण ज्वर, क्षीणता, दुर्बलता, मनोद्वेग, परिश्रम, विषाक्तता, राजयक्ष्मा, बहिर्नेत्र गलगण्ड आदि रोगों में हृदय गति बढ़ जाने से इस प्रकार की नाड़ी उत्पन्न होती है।

२. **मंद नाड़ी** (Pulsus rarus)—कभी कभी किसी व्यक्ति में स्वभावतः नाडी मन्द होती है। विश्व विजय के स्वप्न देखनेवाले नेपोलियन बोनापार्ट की नाड़ी की गति कभी ४० स्पन्दन प्रति मिनिट से ऊपर नही गई थी। इस प्रकार मे आकुंचन और प्रसारण लम्बे होते हैं। यह हृदयावरोध कारक रोगो मे उत्पन्न होती है। इस प्रकार के अन्त मे ३०–४० मंद स्पन्दन होते हैं। यह हार्दिक धमनी काठिन्य, बृहद् धमनी काठिन्य, जीर्ण, अजीर्ण, अपस्मार, कामला, मस्तिष्कार्बुद, मधुमेह, रक्त में मूत्र विष वृद्धि आदि रोगों के फल स्वरूप उत्पन्न हो सकती है। एवं संलग्न हृदयावरण आदि रोगों की घातक अवस्था में अनेक बार विश्वास के समय नाडी की गति मन्द अथवा लुप्त हो जाती है।

३. **विषमनाड़ी** (Pulsus celer)—इसमें उत्थान विषम और अकस्मात् होता है।

४. **विलम्बित नाड़ी** (Pulsus tardus)—इस प्रकार की नाडी मे उत्थान और पतन क्रमशः होते हैं। शिखर भाग भी ठीक नियमित होता है, किन्तु कोण के शक्ल मे न रहकर उभरा हुआ बनता है। यह नाडी आकुंचन या प्रसारण में अधिक समय लगने के हेतु से विलम्बित हो जाती है।

५. **अधिक स्पन्दनवती नाड़ी** (Pulsus Anacroticus)—इस प्रकार मे एक हृदय चक्र मे दो से अधिक ठोके लगते हैं। इस प्रकार में द्वितीय तरङ्ग प्राथमिक तरङ्ग की अपेक्षा ऊँची चली जाती है। यह नाड़ी रक्तभार वृद्धि के साथ महाधमनी द्वार की सङ्कीर्णता मे जब नाड़ीविलम्बित बन जाती है, तब उपस्थित होती है। (आकृति ३३ A)

६. **द्विगुण प्रसारणीय स्पन्दनयुक्त नाड़ी** (Pulsus dicroticus)—इस प्रकार मे तृतीय (प्रसारणीय) तरङ्गकाल में

कभी-कभी दो-दो स्पन्दन होते हैं। आकृति नं० ३३ में नं० ७: देखें। यह प्रकार तीव्र ज्वर मे होता है, जब प्रसारणीय तरङ्ग सङ्कोचन तरङ्ग के बाद तुरन्त स्पर्श होने लगती है।

७. अस्पष्टनाड़ी (Pulsus paradoxus)—जब रोगी लम्बा श्वास लेता है, तब कभी-कभी नाड़ी अस्पष्ट या बिल्कुल गायब हो जाती है। यह अक्सर हृदयावरण के रोग (हृदयावरण की संलग्नता) में पाई जाती है। इस नाड़ी को कुसमौल की नाड़ी (Kussmaul's pulse) भी कहते हैं।

८. पर्यायक्रमिक नाड़ी (Pulsus Alternans)—यह एक अनोखे प्रकार की नाड़ी है, जिसका वर्णन आगे इस रेखाचित्र के अन्त मे किया जायगा।

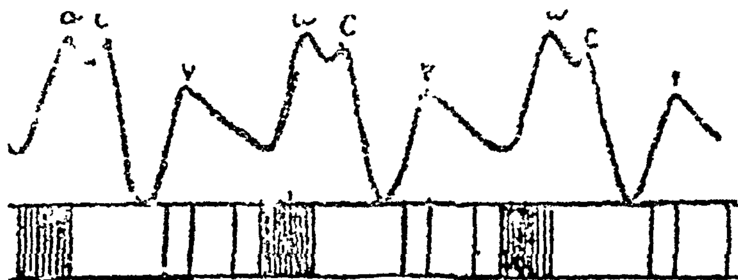
शिरानाड़ी के रेखाचित्र (Phlebogram)

पालीग्राफ यन्त्र से जैसा कि पूर्व लिख दिया गया है धमनी-चित्र के साथ ही साथ मन्याशिरा की गति का भी चित्र बन जाता है, इसलिये इन दोनों की तुलना करके रोग-निदान करने मे लाभ उठाया जा सकता है।

मन्याशिरा मे स्वाभाविकतया शरीरक्रिया-दर्शक स्पन्दन विद्यमान रहती है। और अनेक मनुष्यो की स्वस्थावस्था और रुग्णावस्था, दोनों में इसके रेखाचित्र लिये जा सकते है। स्वस्थावस्था मे मन्याशिरा की ग्रीवा में स्पन्दन-दर्शन होने में प्रत्येक मनुष्य मे भिन्नता पाई जाती है। यह ग्रीवा के स्थूल मेदमय होने या मनुष्य के खड़ा रहने पर बिल्कुल अदर्शनीय हो सकती है।

ग्रीवामूल मे शिरा-स्पन्दन की परीक्षा सबसे स्पष्ट उस समय की जा सकती है, जबकि रोगी सीधा पीठ के बल लेटा हो और उसका सिर तकिये के सहारे किञ्चित् उठा हुआ हो। कुछ अवस्था जैसे महाधमनी कपाटिका की अपूर्णता आदि मे ग्रीवा पर महामातृका धमनी का स्पन्दन भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लग जाता है। मन्यशिरा को विस्तृत और स्पष्ट कर देने के अनेक कारण हैं, उनमे से दायें अलिन्द कोष्ठ मे शिरा का रक्त वापस लौटने मे किसी प्रकार का अवरोध हो जाना मुख्य है। इस अवस्था मे दर्शन-परीक्षा से ही शिरा बिल्कुल स्पष्ट प्रतीत हो जाती है। इसलिये कभी-कभी शिरा की सीधी परीक्षा करना आसान हो जाता है। उदाहरणार्थ—हृदयकार्यावरोध में स्पन्दन उस समय मालूम पड़ता है कि, जब निलयकोष्ठ का प्रसार हो रहा हो। इससे

परिणाम निकाला जा सकता है कि वह सिर्फ अलिन्द कोष्ठ की तरंग ही है, जिसका दूरस्थ और कमजोर निलय तरग से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। हृदय-रोगों की जीर्णावस्था में जबकि दाया मध्यस्थ द्वार अपूर्ण बन्द होता है, तब विस्तृत शिरा को प्रचुर गतियाँ स्पष्ट मालूम पड़ जाती हैं।



चित्र नं० ७८

शिरा चित्र

चित्र परिचयः—

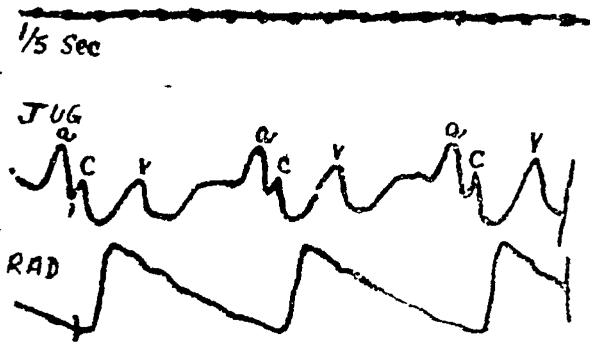
AS. अलिन्द संकोच। VS. निलय सकोच।

D. प्रसार (निलय)।

C. अलिन्द संकोच और निलय संकोच के बीच मे महामातृका धमनी मे स्पन्दन।

मन्या शिरा में उत्पन्न स्पन्दन दबाव में परिवर्तन हो वह पालीग्राफ के कटोरी के समान भाग (शिरास्पन्दन ग्रहण करने वाला) को उस स्थान पर धीरे से लगाने पर आसानी से मालूम किया जा सकता है। और इसी से दाये अलिन्द कोष्ठ के विषय मे भी महत्वपूर्ण सूचनाये प्राप्त हो जाती हैं। अगर हम शिरा-रेखा-चित्र (आकृति नं० ३४) का विश्लेषण करे तो ज्ञात होगा कि इसमे मुख्य तीन तरंग मालूम होती हैं। १. प्रथम तरंग अलिन्द कोष्ठ के संकोच के कारण उत्पन्न होती है। यह दो कारणों से उत्पन्न होती है—(अ) कुछ स्पन्दन तो अलिन्द कोष्ठ इसमे पुनः प्रेरित करता है तथा (आ) कुछ अलिन्द सकोच के फलस्वरूप रक्त के वापिस गले मे लौटकर शिरा को फुला देने के कारण। २. द्वितीय तरग—यह ग्रैविक धमनी के स्पन्दन के कारण उत्पन्न होती है और निलय सकोच के प्रारम्भिक समय मे होती है। इस समय में धमनी और शिरा दोनो मे स्पन्दन होता है। इसलिये यह दूसरी तरंग दोनो स्पन्दनो के योग से उत्पन्न हो सकती है, परन्तु क्रियात्मक तात्पर्य के लिये इसे हमे धमनी तरंग ही समझना चाहिये। ३. तृतीय तरंग—द्वितीय तरग के पश्चात् तुरन्त रक्तभार गिर जाता है, जोकि चित्र मे रेखा के एकदम नीचे

आ आने से स्पष्ट है ; फिर तत्काल तीसरी तरंग आरम्भ हो जाती है। यह तीसरी तरंग रक्तदबाव के बढ़ने और मन्याशिरा के रक्त प्रवाह के रुक जाने से उत्पन्न होती है। मन्याशिरा में यह अवरोध निलय कोष्ठ के संकोच होते रहने से उत्पन्न होता है, क्योंकि सकोच के समय वह शिरा के रक्त को अलिंद कोष्ठ में से होकर रक्त को अपने अन्दर आने से रोके रहता है। ज्योंही निलय संकोच समाप्त होता है निलय कोष्ठ फूलने लगता है। इससे शिरा में से रक्त इसके भीतर दौड़ आता है। इसलिये तृतीय प्रसारणीय तरंग गिरती है और अन्तिम पतन की उत्पत्ति प्रतीत होती है। एक हृदयगतिचक्र में उक्त तीनो तरंग



चित्र नं० ७६

स्वस्थावस्था का पालिग्राम (हृदय के तीन गतिचक्र सहित)

चित्र-परिचय—

a. अलिन्द संकोच।

c. महामातृकाधमनी स्पन्दन (निलय संकोच का आरम्भ)

v. शिरा स्पन्दन व रक्त मे रुकावट के कारण उत्पन्न (निलय सकोच के अन्त मे)

हाथ का धमनी स्पन्दन इस द्वितीय तरंग (महामातृका तरंग) के $\frac{1}{10}$ सैकण्ड पश्चात् उत्पन्न होता हैं।

शिरा में उत्पन्न होती हैं। तृतीय तरंग द्वितीय के पश्चात् सर्वदा नियमित समय के बाद होती है। द्वितीय और तृतीय तरंग के मध्य का समय निलय सकोच का समय होता है। साधारणतया प्रथम तरग के पश्चात् द्वितीय तरग उत्पन्न होने में $\frac{1}{5}$ सैकण्ड से अधिक समय नही लगता। यह समय स्पन्दन की लहर को अलिन्द कोष्ठ मे से निलय कोष्ठ में पहुँचने और निलय कोष्ठ की परिवर्तित क्रिया करने मे लगता है।

पालीग्राफ से लिये हुए चित्र की व्याख्या:—यह व्याख्या बहुधा आसानी से की जासकती है। इसे नापने के लिये रेखागणित मे काम

आने वाला विभाजक युग्म (Pair of divider) काम मे लाना चाहिये। गति प्रति मिनट गिन कर मालूम कर लेनी चाहिये तथा धारावाहिक स्पन्दनो की नियमितता-अनियमितता निर्धारित कर लेनी चाहिये । धमनी-चित्र में महराब को देखकर ही बहुत सूचनाये प्राप्त की जासकती है। क्रमशः होने वाले स्पन्दन से तुलना करके या कहीं विद्यमान स्वस्थावस्था के स्पन्दन से तुलना करके इसकी तालबद्धता मालूम करनी चाहिये। शिरा तरग धमनी-तरंग से $\frac{1}{10}$ से० पहले होती है। इसलिये अगर विभाजक की एक नोक को धमनी महराब के अन्तिम भाग पर रख कर $\frac{1}{10}$ सैकण्ड की दूरी लेकर दूसरी नोक को धमनी स्पन्दन के अग्र भाग मे रक्खें। फिर चिह्न करके विभाजक को हटा लेवे। इसमे इसी प्रकार दूरी रखते हुए विभाजक के एक नोक को मन्या के मोड़ पर व्यवस्थित करे। और दूसरी को शिरा के मोड से उतनी ही दूरी पर अंकित किया जाय तो इस प्रकार प्रतीत किया हुआ स्थान शिरा-चित्र मे द्वितीय तरग के प्रारभ होने को बतलाता है। इस प्रकार शिरा-चित्रमे अनेक तरंगों की परीक्षा करने से मालूम हो जायगा कि स्वस्थावस्था मे द्वितीय तरंग के पूर्व सर्वदा प्रथम तरंग उत्पन्न होती है । तथा द्वितीय और तृतीय तरग के मध्यका अन्तर सर्वदा समान रहता है।

शिरा नाड़ी परिवर्तन—रोग के कारण शिरा स्पन्दन मे उत्पन्न परिवर्तनो मे निम्न मुख्य हैं।

१—प्रथम तरग (अलिन्द सकोच उत्पन्न) की अनुपस्थिति—अलिन्द कोष्ठका कम्पन (Fibrillation) के हेतुसे यह होता है। साथ मे द्वितीय तरंग और धमनी तरंग के सम्बन्ध में पूर्ण अनियमितता भी होजाती है।

२—प्रथम और द्वितीय तरंग के मध्य का समय लम्बा होजानाः—यह हृदय-कार्यावरोध का लक्षण है अगर हृदय कार्यावरोध गंभीर है तो परवर्ती मातृका तरंग (द्वितीय तरंग) अनुपस्थित ही हो जाती है ; अगर हृदयकार्यावरोध पूर्णतया हो गया है तो प्रथम और द्वितीय तरंग बिल्कुल असम्बन्धित हो जाती है ।

आ० ईलैक्ट्रो कार्डियो ग्राफ
(Electro Cardiograph)

यह एक प्रकार का विद्युत् यत्र है ; जिससे अंकित हृदय गति के चित्र को इलैक्ट्रो कार्डियोग्राम (Electro Cardiogram) कहते हैं । इस यंत्र को प्रयोग-विधि विस्तार से समझना इस पुस्तक की सीमा से बाहर है।

इसके अतिरिक्त यह यंत्र इतना मूल्यवान है कि सम्पूर्ण हिन्दुस्थान में सिर्फ बड़े विद्यालयों के सिवाय और कहीं नहीं है। फिर भी हृदय की गति में उत्पन्न अनियमितता को समझने के लिये यह उचित मालूम पड़ता है कि इस विधि की साधारण मुख्य मुख्य बातें सूक्ष्मता से समझ ली जाय और स्वस्थावस्था के "इलैक्ट्रो कार्डियोग्राफ" को अच्छी तरह समझ लिया जाय।

जब मास पेशी का कोई हिस्सा सकुचित होता है, तब संकुचित भाग और असंकुचित भाग की शक्ति में काफी अन्तर होता है। अगर दोनो भाग सम्बन्धित कीये जाय तो यह दिखाया जा सकता है कि एक "करण्ट Current" उत्पन्न की गई है। यह हृदय संकोच की अवस्था मे भी सत्य है। और अगर उदाहरण के लिये इस यत्र के प्रयोग के साथ ही दाये और बाये पैर को चक्कर के आकार मे रक्खा जाय, तो हृदय के तल और शिखर की मास पेशियो की शक्ति मे अन्तर होने के कारण एक "करण्ट" उत्पन्न होती हुई देखी जासकती है अधिक स्पष्ट इसी बात को इस प्रकार लिखा जा सकता कि विद्युत् की एक "करण्ट" अलिन्द सकोच और दूसरी निलय संकोच के साथ गुजरती है। इसलिये कहा जा सकता है कि पालीग्राफ से तो यान्त्रिक अलिन्द-निलय के सकोच आदि रेखा चित्रों पर ही विश्वास करना पड़ता है जबकि इस यंत्र के द्वारा विद्युत् की सहायता से ज्यादा विश्वासनीय सूचनायें प्राप्त होती हैं।

ईलैक्ट्रो कार्डियोग्राम

इस चित्र मे विद्युत् शक्ति के परिवर्तन के कारण स्वाभाविक गतियों के साथ अनेक महराब से बन जाते हैं जिनकी तुलना अलिन्द कोष्ठ के दबाव से उत्पन्न परिवर्तनो (जो कि शिरा चित्र मे पूर्व अकित किये जा चुके हैं) से करना असम्भव है। परन्तु साधारण तौर से इस चित्र के 'P' को अलिन्द संकोच और प्रथम तरंग के और 'R-T' को निलय संकोच और ग्रैविक धमनी के समान आकृति दर्शाने वाला मान सकते हैं। यह सम्बन्ध आगे के चित्र को ध्यान पूर्वक देखने से स्पष्ट हो जायगा।

ईलैक्ट्रो कार्डियोग्राम के अनेक भेद हैं। यहाँ तक प्रत्येक मनुष्य के स्वस्थावस्था मे अंकित चित्र मे भिन्नता हो जाती है। इसलिये रोग विशेष को प्रगट करनेवाले चित्रो को समझने से पूर्व यह जरूरी मालूम पड़ता है कि स्वस्थावस्था में पाये जाने वाले मुख्य मुख्य भेदो को जान लिया जाय। ताल मे अस्वाभाविकता हो जाने पर इस चित्र मे त्रुटि विहीन परिवर्तन हो सकते हैं। जैसा कि अलिन्द कोष्ठ मे कपन हो जाने पर "P" तरगे गायब हो जाती हैं और उसके स्थान पर विविध प्रकार से अधिक मृदु तरगे / उत्पन्न

(चित्र नं० ८०) स्वस्थावस्था का ईलैक्ट्रो कार्डियोग्राम

चित्र नं० ८० का परिचय :—

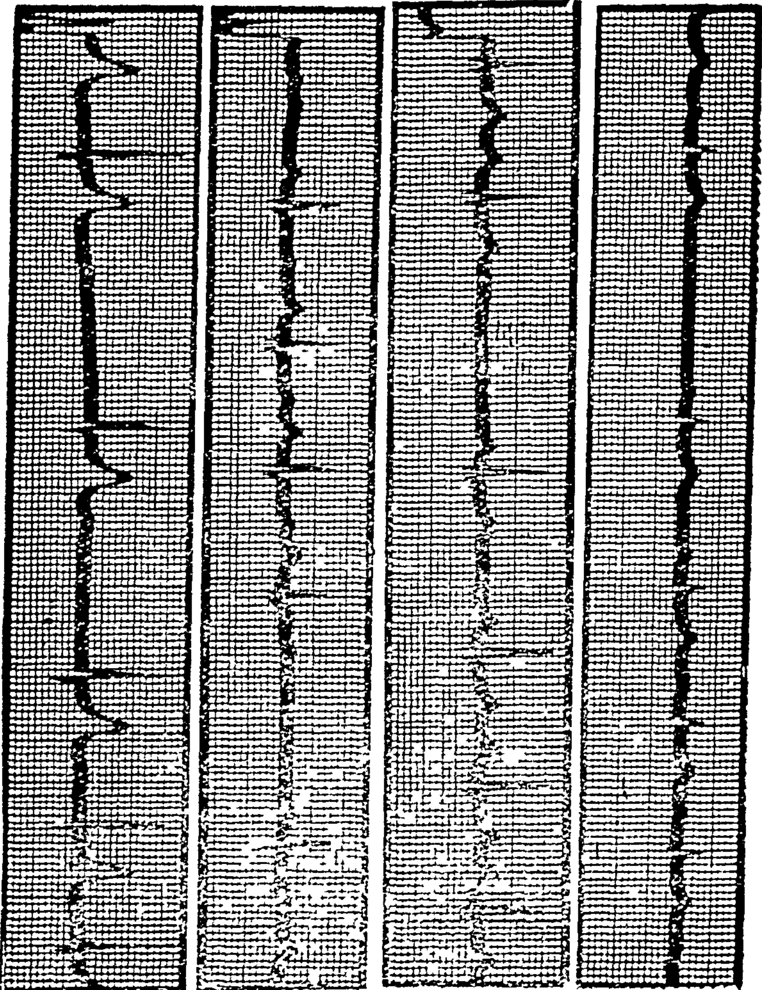
A. P. अलिन्द क्रिया	प्राइमरी वेव
A. P. अलिन्द संकोच बल से उतार	
h. P. Q. अलिन्द सेतु के बल से गति	
I. Q. R. S. निलयक्रिया प्रारम्भ	सेकण्डरी वेव
Ia Q निलय सकोच बल से चढाव	
Ip. S. निलय संकोच बल से उतार	
W. हृदय की दीवार के बल से गति	
F. T. स्नायु-सूत्रो के बल से निलय खण्ड के अन्तिम चढाव-उतार	डाइक्रोटिक वेव
Fa तृतीय तरङ्ग में चढाव	
Fp. तृतीय तरंग से फिर उतार	
P हृदय कार्य की समाप्ति	बेस लाइन

इस चित्र से हृदय की क्रिया सुस्पष्ट प्रतीत होती है। चित्र में P से Q तक प्राइमरी वेव, Q से S तक सेकण्डरी वेव और आगे डाइक्रोटिक वेव कहलाते है।

इस नाडी चित्र मे जो आधार रेखा है, उसे रेस्पीरेटरी या बेस-लाइन Respiratory or Base line कहते है। अलिन्द गति से उत्पन्न तरंग को प्राइमरी वेव Primary wave, दूसरी तरग जो निलय गति से उत्पन्न हुई है उसे सेकण्डरी या टाइडल वेव Secondary or Tidal wave; और धमनी संकोच से होनेवाली तीसरी मंद गति युक्त तरंग को डाइक्रोटिव वेव (Dicrotic wave) सज्ञा दी है।

हो जाती है। यह तब उत्पन्न होती हैं, जब अलिन्द कोष्ठ कम्प रहा हो और वह स्पन्दन न करता हो। इसी के साथ निलय संकोच की तरग 'R' भी अनियमित हो जाती है हृदय कार्य का पूर्ण अवरोध की अवस्था में 'P' तरंगे 'R' तरंगो से बिल्कुल स्वतंत्र और शीघ्रता से होती है। जिन्हे आसानी से पहचानी जा सकती है।

अगर किसी रोगी मे नाडी की गति और यति स्वाभाविक ही हो तो भी अक्सर इलैक्ट्रो कार्डियो ग्राम से अनेक सूचनाये प्राप्त हो सकती हैं। तीन उन्नत रेखाओं की तुलना करने से दाये निलय या बाये निलय की वृद्धि ज्ञात हो जाती है। रेखा चित्र के किसी मोड़ का चौडा हो जाना या व्यतिक्रम होना, यह हृदय की मास पेशियो की विकृति का स्पष्ट प्रतीक है जैसा कि हार्दिकी मूलशिराओं मे रक्त जम जाने पर (Thrombosis) होता है।



(चित्र न० ८९)

हार्दिक मूल शिराओं की अनियमितता से प्रतिभंग (Sinus Arrhythmia)

श्वसन क्रिया और धमनि-गति का पालीग्राम दिखलाया गया है जिसमे श्वास लेने के समय नाड़ी की गति तीव्र तथा निश्वास के समय मंद होती हुई दिखलाई गई है। जब श्वास क्रिया रोक ली जाती है तब यह स्वाभाविक ताल मे अनियमितता दूर हो जाती है।

गति और यति में पाये जानेवाले साधारण व्यतिक्रम

रेखाचित्र अंकित करके हृदय की गति और यति मे उत्पन्न विकृति आसानी से प्रतीत की जा सकती है। अभ्यास करने के लिये पशुओ के भी रेखाचित्र अंकित किये जा सकते तथा साथ ही शरीर क्रिया विज्ञान और रोगविनिर्णय-विज्ञान के आविष्कार ने भी इस विषय के ज्ञान को बढाने में अपूर्व सहायता दी है। उन मुख्य मुख्य रेखा चित्रों का जो रोगविनिर्णय-विज्ञान मे सम्मिलित किये जाते हैं, नीचे संक्षेप में वर्णन किया जाता है।

१. अलिन्दों का यतिभग (Sinus Arrhythmia)—यह उत्तरा महाशिरा के अस्वाभाविक उत्तेजना के कारण उत्पन्न होती है। यह उत्तेजना उत्तरा महाशिरा के वात सूत्रों से प्रभावित हो जाने के कारण (Vagal) उत्पन्न होती है। एवं इसका सम्बन्ध अक्सर श्वास क्रिया के साथ घनिष्ट है। जिससे श्वास लेने के समय स्पन्दन शीघ्र होता है तथा निश्वास के समय धीरा पड जाता है। जब श्वास रोक लिया जाय तब यह अनियमितता नष्ट हो जाती है, तथा गहरे श्वास के साथ अनियमितता वृद्धि को प्राप्त हो जाती है। किसी भी प्रकार के हृत्स्पद सख्याधिक्य, जिसमे पूर्वोक्त परिश्रम कराके निदान किया हुआ साधारण हृत्स्पंद सख्याधिक्य भी सम्मलित है, के उपस्थित होने पर साधारणतया यह अनियमितता भी दूर हो जाती है। यह बाल्यावस्था की अत्यत साधारण अनियमितता है, जिसका रोग-विनिर्णय विज्ञान मे महत्त्व इसीलिये है कि कही वैद्य भूल से इस अवस्था को रोगी की गंभीर दशा का प्रतीक न मान ले।

समकालीन मन्याशिरा और बहिः प्रकोष्ठीया धमनी का रेखाचित्र जब तक असामयिक निलय संकोच होता है तब तक ताल सामान्य रहता है (P. V. C.)

इस उदाहरण मे हाथ की नाडीका स्पन्दन उत्पन्न नही होता, किन्तु सिर्फ मध्यवर्त्ती विराम मणिबन्ध स्थान की ओर उत्पन्न होता है।

(२) असामयिक सकोच—अनेक बार अज्ञात कारणो से हृदय की गति उत्तरा महाशिरा और अलिन्द कोष्ठ के संयोग स्थान से आरम्भ न होकर हृदय के किसी अन्य स्थान से आरम्भ होती है और क्षेपक कोष्ठों की

मास पेशियों मे असामयिक है गति उत्पन्न करती है । निलय कोष्ठ के स्वाभाविक सकोच से पूर्व इस असामयिक संकोच के कारण नाड़ी मे अस्पष्ट स्पन्दन प्रतीत होता है और इसके बाद एक लबा विराम होता है या यह अस्वाभाविक सकोच किसी भी प्रकार का धमनी स्पन्दन उत्पन्न करने मे असमर्थ होता है, तब वहाँ मध्यवर्त्ती विराम ही रहता है । इन दोनो ही अवस्थाओ मे अग्रवर्त्ती और पश्चाद्वर्त्ती स्वाभाविक स्पन्दनो के मध्य का समय दो नाड़ी स्पन्दनों के बराबर होता है , क्योंकि अलिन्द कोष्ठ की यति मे किसी प्रकार की बाधा नही होती है । इस अवस्था के मन्याशिरा चित्र को देखने से ज्ञात होगा कि द्वितीय तरग (निलय सकोच) से पूर्व एक तरग और उत्पन्न होरही है । जो इस अवस्था मे उत्पन्न अस्वाभाविक धमनी स्पन्दन अगर उत्पन्न हो रहा है तो उसकी समकालीन होती है । मन्याशिरा के रेखा चित्र मे असामयिक मातृका तरग (c) प्रतीत होती है, वह बहिः प्रकोष्ठीया धमनी के उत्पन्न होने वाले एक लघु तरग के साथ सम्बन्ध रखती है । इलेक्ट्रो कार्डियो ग्राम से लम्बा युगल कोण अंकित होता है जो अस्वाभाविक आवेग को प्रदर्शित करता है जो निलय कोष्ठकी मासपेशियो मे गुजरता है जब इलेक्ट्रोकार्डियो ग्राम में दो पृथक् पृथक् रूप के महराव अंकित हों तो निलय कोष्ठ मे अनुप्रस्थ दिशा में अस्वाभाविक स्पन्दन की विद्यमानता समझनी चाहिये ।

अति क्वचित् अलिन्द कोष्ठ में भी स्वाभाविक सकोच उत्पन्न होजाते हैं, जिनका आरम्भ शिरालिंद मुखपर से न होकर दूसरे ही स्थान पर होता है । इस अवस्था मे साधारणतया सर्वदा ही हाथ की धमनी मे एक असामयिक स्पन्दन उत्पन्न होता है । परन्तु जिस तरह अस्वाभाविक निलय सकोच के बाद विराम होता है, उसी तरह इसमें भी विराम होता है किन्तु अवस्था की तुलना में विराम बहुत कम समय तक होता है, इसलिये स्वाभाविक अग्रवर्ती और पश्चाद्वर्ती स्पंदनों के मध्य का समय भी दो स्वाभाविक नाड़ी चक्रो में लगने वाले समय से कम होता है । इस अवस्थाका ग्रैविक शिराचित्र देखने पर उसमे प्रथम तरंग से पूर्व अस्वाभाविक अलिन्द तरंग प्रतीत होती है ।

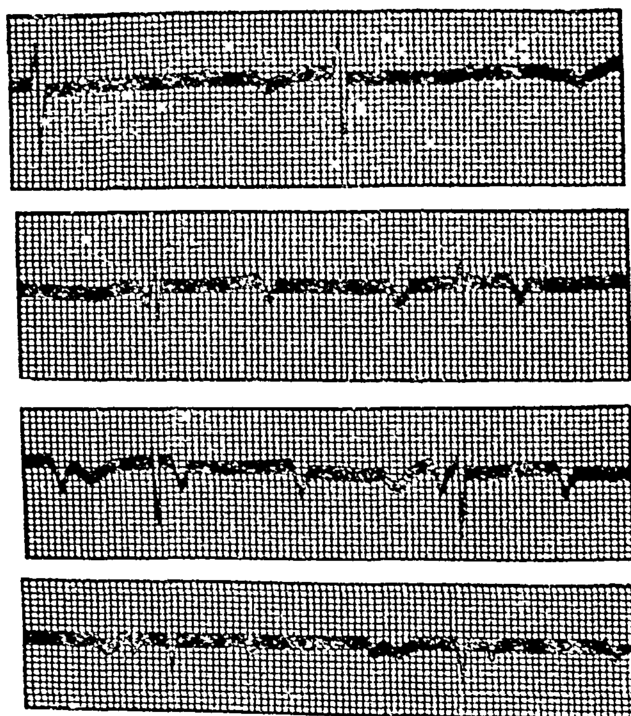
इलेक्ट्रो कार्डियोग्राम चित्र पर भी इसी तरह से अस्वाभाविक आकार का असामयिक तरग 'p' साधारणतः उलटा उत्पन्न हो जाता है । फिर तुरन्त स्वाभाविक रेखाचित्र के अनुरूप निलय सकोच की रेखा वन जाती है ।

श्रवण परीक्षा करने पर असामयिक स्पन्दन अस्पष्ट ल.... ..व, डप् या सिर्फ ल......व स्वाभाविक स्पन्दन से तत्काल पश्चात् उपस्थित होता है । एवं

फिर तुरन्त विराम होता है। यह प्रकार जब हृदय ताल नियमत हो तब ही पहचान जासकता है। यदि ताल अनियमित हो तो नहीं।

स्वाभाविक स्पन्दन से पश्चात् किसी अस्वाभाविक स्पन्दन की विद्यमानता हो और वह मणिबन्ध पर विदित होती हो तो उसे संयोजित नाड़ी कहते हैं यह द्विस्पन्दन युक्त नाड़ी (Pulsus begeminus) के सदृश होती है। डिजिटलिस के असर से ऐसी नाड़ी होजाती है। वैद्य को यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि केवल पूर्व स्पन्दन (Premature beat) रोग का चिह्न नही है। इसके साथ रोग के अन्य चिह्न विद्यमान् होने पर ही इसे किसी रोग का प्रतीक समझा जासकता है।

(३) **हृदयावरोध** (Heart block):—उस अवस्था का नाम है जिसमें ग्राहक कोष्ठ और क्षेपक कोष्ठो के सूत्र समूहों (अलिन्द निलय सेतु) में जिनके द्वारा ग्राहक कोठो से गति क्षेपक कोष्ठो को जाती है, उनमें विकृति आजती है। परिणाम यह होता है कि वहुत थोडी गतिया ग्राहक कोष्ठों से क्षेपक कोष्ठों में जाती हैं। हृदय कार्यावरोध की आरम्भिक अवस्था में ग्राहक कोष्ठ से क्षेपक कोष्ठ तक स्पन्दन पहुँचने मे कुछ विलम्ब होता है इसका नाडी पर कुछ



चित्र नं० ८८
पूर्ण हृदयावरोध

भी प्रभाव नही पड़ता है, परन्तु मन्याशिरा चित्र में प्रथम और द्वितीय तरंग के मध्य का समय ⅕ सैकण्ड बढ जाता है। इस तरह इलैक्ट्रो कार्डियो ग्राममें अलिन्द संकोच 'P' और निलयसंकोच 'R' के मध्यका समय भी बढ़ जाता

है। हृदयावरोध की द्वितीय अवस्था में स्पन्दन गायब होने लग जाता है क्योंकि अलिन्द संकोच से उत्पन्न एक स्पन्दन निलय तक प्रस्तरण करने मे असमर्थ हो जाता है। अगर इस अवस्था में श्रवण परीक्षा की जाय तो इस विराम की अवस्था में किसी प्रकार की स्पन्दन ध्वनि नही सुनाई पड़ती है। अगर नाडी स्पन्दन के गायब होने के समयमें किसी प्रकार की आवाज श्रवण हो तो प्रक्षेप समझना चाहिये। अगर प्रत्येक दूसरा निलय स्पन्दन गायब हो तो नाडी स्पंदन आधी (२:१ अवरोध); तथा प्रत्येक तीसरी आवाज गायब हो तो (३:२ अवरोध) अर्थात् नाडी के दो स्पन्दन के पश्चात् एक विराम होगा।

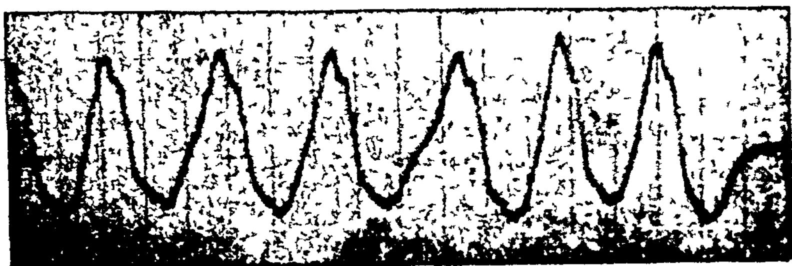
इस आकृति में अलिन्द संकोच, जो इलैक्ट्रोकार्डियो ग्राम में 'P' और शिराचित्र में 'a' से अंकित किया गया है। ये दोनो निलय संकोच से विभक्त होते हैं। जो इलैक्ट्रो कार्डियोग्राम में 'R' (या RT) और शिरा चित्र में 'C' से अंकित है। धमनी स्पन्दन ४० प्र० मि० होते हुए का चित्र अंकित किया गया है।

पूर्ण हृदयावरोध (आकृति नं० ३६) मे अलिन्द कोष्ठों के संकोच का निलय कोष्ठों के सकोच से कुछ भी सम्बन्ध नही होता है, फलतः किसी प्रकार का स्पन्दन अलिन्द कोष्ठ से निलय कोष्ठ में नहीं पहुँचता और निलय कोष्ठ अपनी ही ३० से ४० प्र० मि० की मन्दगति से स्पन्दन करता रहता है। शिरा-चित्र को देखने से स्पष्ट हो जायगा कि प्रथम तरंग मे मोड 'a' स्वस्थावस्था अनुसार अपनी स्वाभाविक गति (७०) से ही उत्पन्न हो रही है जबकि द्वितीय तरंग 'c' धीरे-धीरे निलय कोष्ठ के सकोच के साथ। इसी प्रकार इलैक्ट्रो कार्डियो-ग्राम देखने से पता लग जाता है कि मोड 'p' (अलिन्द सकोच) स्वाभाविकतया होरहा है जबकि 'RT' स्वतन्त्र रूप से ३०-४० स्पन्दन प्रति मिनट के हिसाब से।

हृदयावरोध हृदय की मास पेशियों के रोगो का एक मुख्य चिह्न है। परन्तु इससे इन रोगो की गम्भीरता और विस्तृति का पता लगाना असम्भव है। हृदयावरोध के कुछ रोगियों मे निलय कोष्ठ की गति नष्ट हो जाती है। जैसे स्ट्रोक्स एडम के रोग (Stokes adem's disease) में मस्तिष्क मातृका धमनी और मस्तिष्क मूलिका धमनी की दीवार कठोर हो जाने से नाड़ीगति मन्द हो जाती है और चक्कर आता है तथा मूर्छा या संन्यास की प्राप्ति भी हो जाती है।

(४) आकस्मिक हृत्स्पन्दन संख्याधिक्य (Paroxysmal tachycardia)—आकृति नं० ८२ देखे। हृदय की तीव्र गति तो अनेक कारणों

से हो सकती है, परन्तु हृदयरोगो से उत्पन्न तीव्र गति के आवेग होते हैं। जब कोई हृदय की गतियों को उत्पन्न करनेवाला अस्वाभाविक केन्द्रहृदय का नियन्त्रण करने लग जाता है तो हृदय की गति तीव्र हो जाती है।

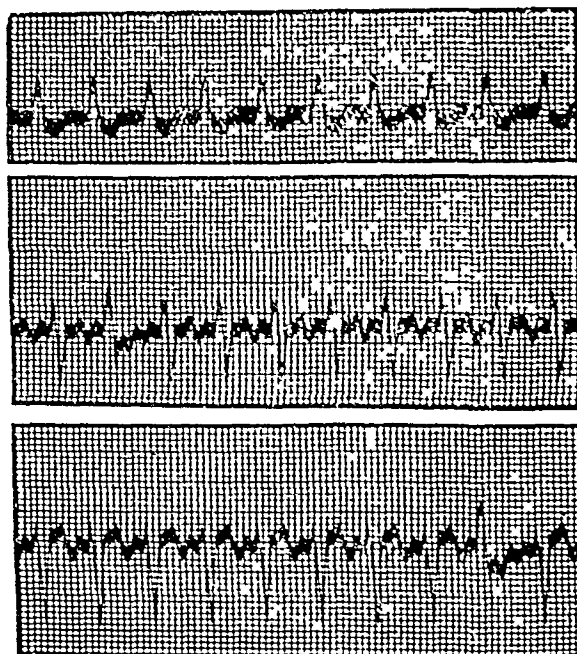


चित्र नं० ८३ हृत्स्पन्दन संख्याधिक्य।

इसमें असामयिक तरंगो की लम्बी दौड प्रतीत होती है और वे अलिन्द कोष्ठ में अलिन्द निलय सन्धि पर या निलय मे उदित होते हैं। इसमें नाडी की गति १२०-२२० समय प्र० मि० होती है, और साधारण हृत्स्पन्द संख्याधिक्य रोग के विपरीत यह स्थायी होती है, इसलिये रोगी की संस्थिति और परिश्रम से इसमें किसी प्रकार का भेद नही आता। इसके वेग अकस्मात् आरम्भ होकर कुछ मिनट, दिवस या सप्ताह तक रहकर अकस्मात् ही समाप्त हो जाते हैं।

इलेक्ट्रोकार्डियो ग्राम सर्वदा अस्वाभाविक सीमा के कोन को आवेग के मूल के स्थान पर निर्भर रहकर ठीक दर्शाता है।

(५) अलिन्द कोष्ठ विधुनन (Auticular flutter)– यह वास्तव मे हृत्स्पन्दन संख्याधिक्य का ही एक विशेष प्रकार है। जिसमें अलिंद कोष्ट ३०० समय प्रति मिनिट स्पन्दन करने लग जाता है। साधारणतया इस अवस्था मे प्रत्येक द्वितीय स्पन्दन निलय कोष्ठ से सम्बन्धित होता है। इसलिये नाड़ी नियमित है और १५० समय प्रति मिनिट स्पन्दन करती है। ऐसा बहुत कम देखा गया है कि इस प्रकार मे निलय

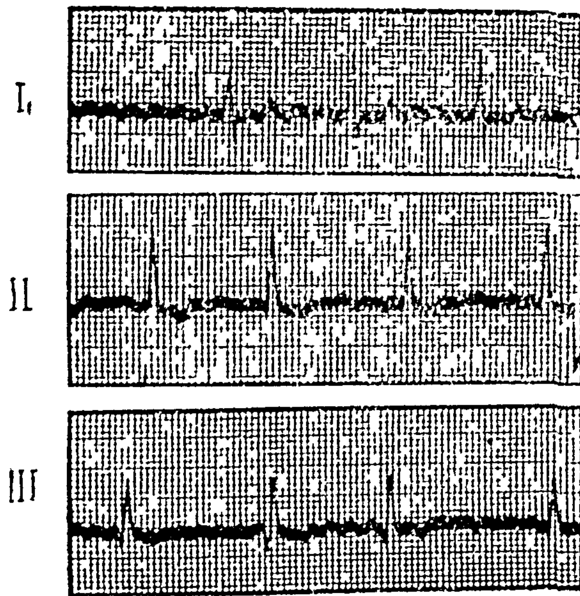


चित्र नं० ८४ अलिन्द विधुनन

कोष्ट अनियमितता से स्पन्दित हो, जिसके फलस्वरूप नाडी द्रुत और अनियमित हो। डिजिटेलस सेवन करवा के अलिन्द संकोच की द्रुतता को रोककर इलैक्ट्रोकार्डियोग्राम की सहायता से स्पष्ट चित्र अङ्कित किया जा सकता है। चित्र नं० ८४ देखें।

अलिन्द विधुननके आवेग भी आ सकते हैं, परन्तु विशेपतः यह अवसर महीनो या वर्षो तक विद्यमान रहता है, और चिकित्सा नही की जा सकती। रोगपरीक्षा विज्ञान की दृष्टि से यह हृत्स्पन्दन संख्याधिक्य रोग की अपेक्षा आवेगयुक्त अलिन्द कोष्ट की कम्पन व्याधि के साथ ज्यादा उत्पन्न होता है।

(६) अलिन्द कोष्ठ पेशी कम्पन (Auricular fibrillation)—आकृति ४२ देखे। इसमे नाडी स्पन्दन बिल्कुल अनियमित होती है, जिसमें स्वाभाविक दो स्पन्दनों के मध्य मे पाया जानेवाला अन्तर बिल्कुल अनियमित हो जाता है। इसमें अलिन्द कोष्ठ में सौत्रिक तन्तु उत्पन्न हो जाने से कम्पन होता रहता है। इसमें अलिन्द कोष्ठ एक साथ पूर्णांश में सकुचित नहीं हो सकता है। निलय स्पन्दन द्रुत और अनियमित होना है। चित्र नं० ८५



चित्र नं० ८५
अलिन्द कम्पन

मन्याशिरा के रेखाचित्र में प्रथम तरग 'a' गायब हो जाती है, तथा इलैक्ट्रो कार्डियोग्राम मे 'p' तरग गायब हो जाती है। इनके स्थान पर बहुत छोटी छोटी अनेक तरगे (f f) उत्पन्न हो जाती हैं। द्वितीय तरंग (c) और 'RT' अनियमित अन्तर वाली हो जाती हैं और निलय सकोच तथा नाड़ी स्पन्दन के साथ सम्बन्ध वाली होती हैं।

अलिन्द पेशी कम्पन के आवेग भी आ सकते है, परन्तु साधारणतया यह रोग स्थायी रूप से ही उत्पन्न होता है और हृदय की मास पेशियो की रुग्णावस्था का एक चिह्न है। अगर यह अवस्था वाम मध्यस्थ कपाट की

सकीर्णता के साथ उत्पन्न हो जाय तो मर्मर उत्पन्न होगी। वह अलिन्द संकोच के बहुत पहले से नही होगी, इसलिये इसे पूर्व सकोचीय नहीं कहा जा सकेगा। इस अवस्था में इसे प्रसारणीय मर्मर कहना चाहिये, जोकि ठीक वाम मध्यस्थ कपाट की संकीर्णता के प्रकृति निर्देशक चिह्न के समान है। उसे कभी भी महाधमनी कपाट की संकीर्णता से उत्पन्न प्रसारणीय मर्मर नहीं समझ लेना चाहिये।

(७) पर्याय क्रमिक नाड़ी (Pulsus Alternaus)—आकृति ६९ देखें। जब हृदयगति नियमित हो तथा तरल अस्वाभाविक न हो, तब यह पर्याय क्रमिक नाडी प्रकाशित होती है। हृदय की मासपेशी क्षतिग्रस्त होने पर यह स्थिति उपस्थित होती है। जब निलय कोष्ठ एक समय अधिक शक्ति से और दूसरे समय कम शक्ति से आकुंचित होता है, तब नाडी पर्याय क्रमिक बन जाती है; अर्थात् एक तरग सबल और दूसरी निर्बल होती है। इस प्रकार की नाडी मे यतिभग नही होता। एक के पीछे एक स्वाभाविक ताल से क्रमशः स्पन्दन होते रहते हैं। हाथ की नाडी का रेखाचित्र देखा जाय, तो एक तरंग बडी और दूसरी छोटी प्रतीत होती है, एव चित्र मे इन तरगो की दूरी की समानता बनी रहती है। पालीग्राम और इलैक्ट्रोकार्डियोग्राम (मन्या शिरा और हृदय क्रिया के रेखाचित्र) स्वाभाविक आकृति मे प्रतीत होते हैं। कभी-कभी इलैक्ट्रोकार्डियो ग्राम के भीतर 'R' तरग मे पर्याय क्रम उपस्थित होता है।

(७) क्ष किरण से हृदय और महाधमनी की परीक्षा।

इसका विस्तृत वर्णण वैद्य समाज के लिये अनुपयुक्त है। क्योंकि यह हमारा सौभाग्य है कि पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा से विभूषित डाक्टरो के समान हम रोग के निदान के लिये केवल यंत्र परीक्षा पर अवलम्बित नही है। तथापि आधुनिक समय मे जब कि चारो तरफ इनका जाल बिछा हुआ है और आयुर्वेद को अवैज्ञानिक सिद्ध करने का प्रयत्न हो रहा है। अतः इन भ्रान्त समुदाय को समुचित उत्तर देने और ज्ञान पिपासुओ के लिये यह आवश्यक जान पडता है कि इन यत्रो के विषय में आवश्यक ज्ञान प्राप्त किया जाय।

क्ष-किरण से हृदय और महाधमनी के रोग या क्रिया विकृति का निदान करने मे काफी सहायता मिलती है। सामान्य रोग विज्ञानात्मक परीक्षा द्वारा जो धमन्यर्बुद वक्ष की अतिशय गहराई में हो तो उसका पता लगाना

असम्भव है, इसलिये निश्चय ऐसे वक्षस्थ धमन्यर्बुद का* 'रेडियोस्कोपी' परीक्षा द्वारा सर्वेक्षा कर लेना चाहिये।

शिखर स्पन्दन की स्पर्श-परीक्षा और ठेपन परीक्षा से हृदय के आकार के विषय में काफी ज्ञान प्राप्त हो जाता है। 'रेडियोलोजी' से हृदय के आकार के विषय में ज्यादा सही और विस्तृत सूचनायें मिलती हैं, मुख्यतया हृदय तल और रक्त वाहिनियों के मूल के विषय में, जिनका ठेपन से ज्ञान नहीं हो सकता है। "रेडियोस्कोपी" काफी शीघ्रता के साथ दर्शन-परीक्षा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। क्योंकि इसकी सहायता से वास्तव में छिपे हुए अंगों की दर्शन-परीक्षा ही की जाती है।

इस यन्त्र के ३ भेद हैं। (१) रेडियोस्कोपी हैं; (२) ओर्थो डियाग्राफी; (३) टैलरोएटेजनो ग्राफी।

(१) रेडियोस्कोपी (Radioscopy or screening)—यह अकेली ही उत्तम रोग परीक्षा विधि है। इसमें किसी प्रकार का सामान्य पर्दे वाला स्टैण्ड प्रयुक्त हो सकता है। इस प्रकार की परीक्षा के लिये शीशा धातु की छोटी तख्ती को मध्य अक्षकास्थि रेखा में चिपकानी चाहिये। रोगी परीक्षक के सामने खड़ा रहता है। इसमें यह सम्हालना चाहिये कि कंधे पर्दे की सामान्तर रेखा में रहे। हृदय के शिखर का सम्बन्ध शीशे की तख्ती के साथ तत्काल निश्चय किया जा सकता है। इस यन्त्र द्वारा जानने योग्य निम्न बातें मुख्य हैं।

***वक्षस्थ महाधमनी में अर्बुद** (Thoracic Aneurism)—वक्षस्थ धमनी में दुष्ट वायु में उपस्थित होने पर वह उसके भीतर किसी भाग को स्फीत बना, वहाँ रक्त संगृहीत कर अर्बुदवत् या गेंद सदृश आकृति बना देता है। इसकी संप्राप्ति विशेषतः ऊर्ध्वगामी महाधमनी के महराब में मुड़के स्थान पर होती है। कभी कभी अन्यत्र भी होती है। इस अर्बुद की स्थिरता का कुछ भी नियम नहीं है। यह विदीर्ण होने पर कभी कभी रोगी की तत्काल मृत्यु हो जाती है।

आक्रान्त स्थान भेद से इस विकार के लक्षण-चिह्न विविध प्रकार के प्रकाशित होते हैं। अर्बुद द्वारा श्वास नलिका-स्वरयन्त्र और फुफ्फुस पीडित होने पर श्वास कृच्छ्रता उपस्थित होती है।

स्वरयन्त्रगा परावर्त्तिनी शाखा नाड़ी (Reccurent laryageal nerves) प्रपीड़ित होने पर स्थानिक पेशी का पक्षाघात हो जाता है। सुषुम्णा काण्ड पर दबाव आने पर अधो अर्धाङ्ग पक्षवध होता है। इस अर्बुद के प्रकोप से सार्वाङ्गिक रक्त संचालन में प्रतिबन्ध भी हो जाता है।

(१) हृदय की वक्ष प्रदेश मे स्थिति।
(२) हृदय का आकार।
(३) हृदय का परिमाण।
(४) हृदय और महाधमनी के स्वाभाविक और अस्वाभाविक स्पन्दन।

इनके अतिरिक्त रोगी को वार्यी ओर आधा तिरछा (या पहली बार दार्यी तिरछी स्थिति में) तथा दूसरी बार दार्यी ओर आधा तिरछा (या वार्यी तिरछी स्थिति में) खडा करके महाधमनी के आकार और परिमाण को विशेष रूप से जान सकते हैं। अगर स्थायी रिकार्ड वाच्छनीय हो तो इन रेडियोग्राम या क्ष-किरण दोनो चित्रो को एक साथ ही एक के बाद एक लिया जा सकता है।

(२) ओर्थोडिया ग्राफ (Orthodiagrphy)—सामान्य रेडियो स्कोपी में यह असुविधा है कि नलिका रोगी के समीप रहने के हेतु से पर्दे पर प्रतिबिम्ब (या फोटो) बडा होता है और वह क्ष-किरण द्वारा अधिक दूरी से प्रसारित हो जाने से विकृत भी होता है। इस प्रतिकूलता को दूर करने के लिये विशेष प्रकार का पर्दा-ओर्थोडियोग्राफ तैयार किया गया है। जो समान्तर क्ष-किरण द्वारा हृदय की ठीक सीमा को दर्शाता है। यह क्ष-किरण, जो उसकी नलिका द्वारा सकडी किरणो के रूप से प्राप्त की जाती है। वे किरण हालाकि रोगी की पिछली ओर होती हैं, फिर भी सामने की ओर छोटे रंजित पर्दे पर इस तरह व्यवस्थित होती है कि उसके अनुरूप नलिका और पर्दा, दोनो सर्वदा एक साथ गति करते रहते हैं। शीशे का धब्बा, जो पर्दे के मध्य स्थान मे किरणो द्वारा प्रकाशित होती है, वह जब तक हृदय छाया की सीमा के साथ सम पंक्ति मे न आ जाय, तब तक उसे गति करायी जाती है। फिर जब यह ठीक स्थान पर आ जाती है तथा यान्त्रिक नकशे द्वारा सीमा निर्धारित होती है, तब रोगी की पिछली ओर फैलाये हुए बडे कागज पर चित्र ठीक अंकित हो जाता है।

हृदय सीमा के चारो ओर विधिवत् किरणो के (तथा उस तरह ही शीशे की तख्ती और चिह्न के) सचलन द्वारा उस अवयव का काला चित्र (ओर्थो डिटोग्राफ) योग्य रूप से प्राप्त हो जाता है। जिस तरह योग्य सहायक साधन द्वारा चुचूक रेखा और उरः फलक का निर्धारण हो जाता है, उस तरह वक्ष की दीवार की बाह्य सीमा भी अङ्कित हो जाती है।

जिन रोगो मे हृदयाकृति जानने की अति आवश्यकता हो, उनके लिये आकृति निश्चय करने की यह अत्यन्त उत्तम शैली है।

(३) टैलेरोएटजनोग्राफी (Telerontgenography)—अथवा च-किरण सह रेडियो ग्राफी। इससे चित्र लेने के लिये च-किरण की नलिका को रोगी से दो मीटर (लगभग २। गज) दूरी पर रक्खी जाती है; तथा केन्द्राभिसारी किरणों में से पृथक न होने वाली वक्रावस्था का निवारण हो जाता है। क्योंकि, इस दूरी पर किरण समान्तर माने जाते हैं। इस प्रकार प्राप्त रेडियो ग्राम (Radiogram) चित्र हृदयाकृति और परिमाण को बिल्कुल ठीक प्रदर्शित करता है; परन्तु इसकी प्राप्ति के लिये प्रबल व्यवस्थित यन्त्र की आवश्यकता है।

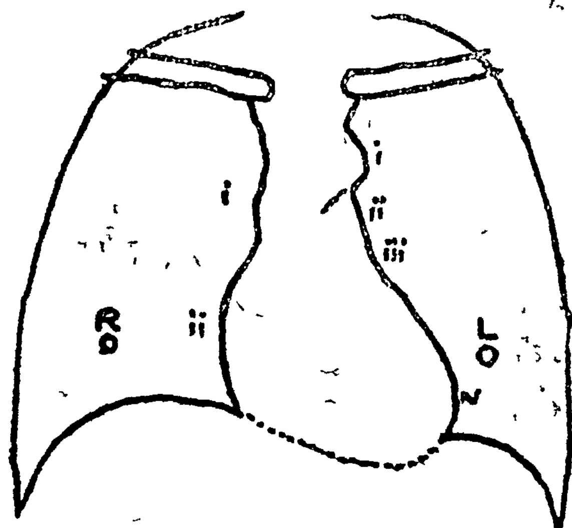
स्वस्थावस्था में हृदय की सीमा (चित्र नं० ८६ देखे)

एक्स-रे से देखने पर हृदय वक्ष में सुराही की शक्ल में अर्द्ध पारदर्शक फेफड़ों के मध्य में पड़ा हुआ दिखलायी पड़ता है, जिसका लगभग $\frac{1}{3}$ भाग तो मध्य रेखा से दाहिनी ओर और $\frac{2}{3}$ भाग बायी तरफ स्थित है। हृदय शिखर अक्षकास्थि के मध्य बिन्दु से खींची जाने वाली रेखा के अन्दर की तरफ को रहता है। आकृति नं० ४४ देखे।

दक्षिण सीमा—चित्रमें हृदय का दाहिना किनारा निम्नानुसार ऊपर से नीचे दो महरावों से बनता है:—

(१) यह बहुत कम अन्दर की तरफ मोड युक्त होता है। एवं यह तोरणी महाधमनी और उत्तरा महाशिरा के बाह्य किनारे से से बनता है।

(२) यह बाहर की तरफ निकला हुआ होता है। तथा दाहिने अलिन्द कोष्ठ से निर्मित होता है, जो वक्षोदर मध्यस्था पेशी पर समाप्त होती है।



चित्र नं० ८६
स्वस्थावस्था में हृदय की सीमाएं

वाम सीमा—बाया किनारा सीढ़ियों के समान बाहर की तरफ निकले हुए चार उभारों से निर्मित होता है। जिनमें से दूसरा और तीसरा अस्पष्ट होता है।

(१) सबसे ऊपर की ओर का हिस्सा स्पष्ट होता है। यह महाधमनी के महराब से बनता और पीछे कुछ बाये और नीचे की तरफ जाता है।

(२) फुफ्फुसिया धमनी की सीधी रेखा से निर्मित होता है। इसलिये अस्पष्ट होता है।

(३) यह दाये निलय कोष्ठ के उर्ध्वान्तः कोण से बनता है।

(४) सबसे नीचे रहा हुआ भाग बायें निलय कोष्ठ से बनता है। यह सीमा चौडी है। यह हृदय शिखर मे समाप्त होता है। जहाँ कि यह वक्षोदर मध्यस्था पेशी पर स्थित है।

रोगों के कारण साधारण परिवर्त्तन।

(१) वक्षगत संस्थिति में अन्तरः—फुफ्फुसावरण के तरल मय प्रदाह, फुफ्फुसावरण मे वायु का भर जाना, या फुफ्फुसो में अस्वाभाविक सौत्रिक तन्तु उत्पन्न हो जाने पर साधारणतया हृदय की पूर्णांश स्थानच्युति होजाती है। आमाशयिक विस्तृति और मेदोवृद्धि होजाने पर वक्षोदर मध्यस्थ पेशीके सहित हृदय ऊपर उठ जाता है। जिसके फलस्वरूप शिखर भी ऊपर एक ओर झुका दिखलायी देता है। सामान्य प्रकार की सुषुम्णाकाण्ड की अस्वाभाविक वक्रता (Scoliosis) होने, उसमे भी दायी ओर बाहर अधिक निकल जाने पर, बहुधा हृदय की बायी तरफ स्थान च्युति होजाती है। सकुन्चित वक्ष मे हृदय मध्य रेखा मे लटकता हुआ छोटा सा, डंडा के समान और कभी कभी नीचे गिरे हुए के समान दिखलायी देता है।

(२) हृदय की आकृति और परिमाण में अन्तर—

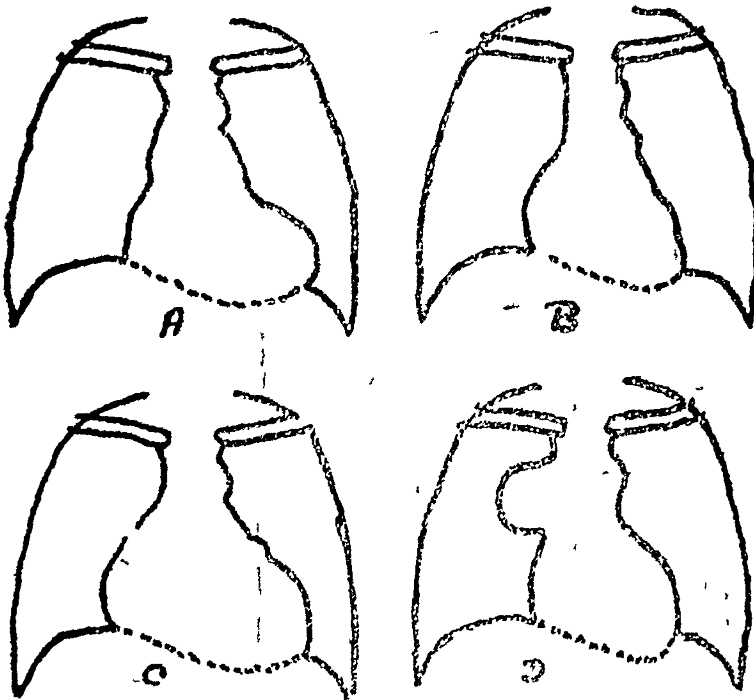
(अ) महाधमनी से रक्त का प्रत्यावर्त्तन होने पर और रक्तभार वृद्धि होने पर बाये निलय कोष्ठ का महराब स्पष्ट बाहर की तरफ ज्यादा फूला हुआ प्रतीत होता है। इस अवस्था मे हृदय की बायीं धारा जूते के आकार के समान प्रतीत होने लगती है। आकृति नं० ४५ अ देखे।

(आ) वाम मध्यस्थ कपाट के छिद्र की संकीर्णता और फुफ्फुसीय रक्त परिभ्रमण मे अवरोध जैसा कि जन्मसिद्ध हृदय रोग में होता है, और कभी-कभी फुफ्फुसों के वायुकोष प्रसारण (Emphysema) होने पर दाया अलिन्द कोष्ठ ज्यादा स्पष्ट हो जाता है। उपर्युक्त दोनो अवस्थाओ मे रक्त सगृहीत हो जाने से फुफ्फुसीय क्षेत्र स्वाभाविक अवस्था से ज्यादा गहरे रंग का दिखलायी देता है; और फुफ्फुसीया धमनी भी ज्यादा स्पष्ट हो जाती है, इसलिये हृदय की बायी धारा मे सीडी के समान दिखलायी देने वाला

भाग आगे निकल आता है। आकृति नं० ४५ आ देखें। अनेक समय जन्मार्जित हृदय रोग में इसी क्षेत्र की स्पष्ट प्रतीति प्रकृति निदर्शक होती है।

(इ) जब हृदय के चारों कोष्ठ विस्तृत हो जाते हैं तब हृदय के किनारे ज्यादा बड़े और अक्सर गोलाकार हो जाते हैं। इसलिये यह अवस्था, वाम मध्यस्थ कपाट की अति संकीर्णता के साथ अलिन्द कोष्ठो के कम्पन होने, और सम्मिलित रूप से वाम मध्य कपाट और महाधमनी के रोगो के होने पर ही पायी जाती है। आकृति नं० ४५ इ देखें।

(३) महाधमनी और उत्तरा महाशिरा के आकार और परिमाण में अन्तर—महाधमनी की वृद्धि तीन कारणो से हो सकती है। अ-उपदंशज महाधमनी प्रदाह; आ-महाधमनी कोष काठिन्य; और इ- रक्तभार वृद्धि। उत्तरा महाशिरा का प्रसारण रक्त सग्रहज हृदय कार्यावरोध के फल स्वरूप होता है।



(चित्र नं० ८७) हृदय की विकृत सीमाये

A. महाधमनी से रक्त का प्रत्यावर्तन होने पर।
B. वाम मध्यस्थ कपाट की संकीर्णता मे।
C. हृदय के चारों कोष्ठों की वृद्धि।
D. महाधमनी मे अर्बुद होने पर।

(४) हृदय और महाधमनी के स्पन्दन में परिवर्त्तन—महाधमनी में से रक्त का प्रत्यावर्त्तन होने पर अगर "रेडियो स्कोपी" से परीक्षा की जाय

तो महाधमनी में अस्वाभाविक स्पन्दन होते हुए प्रतीत होते हैं। महाधमनी विस्तृत हो जाने पर महाधमनी के सधि स्थान को वृद्धिसह आरोही महाधमनी फूली हुई प्रतीत होती है, और अधोगामी महाधमनी ज्यादा चौड़ी दिखलाई देने लग जाती है। यह 'रेडियो स्कोपी' से रोगी को तिरछा खड़ा करके परीक्षा करने पर दिखलाई देती है। महाधमनी के किसी भाग में स्थली के सदृश अर्बुद उत्पन्न होने पर उस भाग में थैली के समान बाह्य फुलाव प्रतीत होता है। आकृति ४५ ई देखें। उसका सम्बन्ध महाधमनी से होने और उसमें स्पन्दन होने के कारण उसका भेद वक्षस्थ अर्बुदों से आसानी से किया जा सकता है।

बेरियम के चिपचिपे लेप की अन्न प्रणाली में नीचे उतरने की गति को भी देखना, यह हृदय और बड़ी रक्त वाहिनियों के रोगों के निदान करने में सहायता देता है। वक्षस्थ अन्न प्रणाली पर ४ अंगों के चिह्न प्रतीत होते हैं। १—महाधमनी का महराव; २—बायीं श्वास नलिका; ३—बाया अलिन्द कोष्ठ; और ४—अधोगामी महाधमनी। इन अंगों में रोग उत्पन्न हो जाने पर इनके स्वाभाविक चिह्नों में अस्वाभाविकता आ जाती है। इनमे से सब से मुख्य बाये अलिदकोष्ठके चिह्नका दाहिनी तरफ तिरछी अवस्थामें स्थानच्युत और गहरा हो जाता है। महाधमनी में अर्बुदोत्पत्ति होना यह अन्न प्रणालीय स्थान च्युति का दूसरा मुख्य कारण है।

(१०) श्रम सहिष्णुता से हृदय की परीक्षा

हृदय पर परिश्रम के प्रभाव को जानना हृदय की योग्यता की सब से श्रेष्ठ परीक्षा है। इस प्रकार की परीक्षा करने के लिये रोगी को भागते हुए ४० सीढ़ियो पर चढ़ाना चाहिये या उसे २०--२० कदम एक-एक पैर से चलाना चाहिये। उस समय प्रत्येक बार अपने घुटने को भी वह ६ इञ्च ऊंचा उठावे। अथवा १८ इञ्च ऊंचाई वाले तख्ते पर से २० समय नीचे कुदावे और ऊपर चढ़ावे।

उपर्युक्त क्रिया करवा कर परीक्षा करने पर अगर हृदय स्वस्थ होगा तो श्वास क्रिया में बहुत कम अन्तर होगा और नाडी स्पन्दन भी प्रति मिनिट १० या २० स्पन्दन से ज्यादा नही बढ़ेगा; और परिश्रम करने के लगभग एक मिनट पश्चात् ही स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो जायगा।

(११) रक्त परिभ्रमण की गति की परीक्षा

जब हृदय कार्यावरोध के कारण श्वास कृच्छ्रता विद्यमान हो तो रक्त परिभ्रमण की गति मंद हो जाती है। रक्त प्रवाह की गति को मालूम करने

के लिये पहले अनेक विधि वर्णित की गई हैं। ये सब इस बात पर निर्भर है कि, हाथ की शिरा में अन्तःक्षेपण की हुई औषधि मस्तिष्क तक पहुँचने में कितना समय लेती है।

साइनाइड (Cyanide) विधि में २ प्रतिशत सोडियम साइनाइड के ५ बूंद घोल का अन्तःक्षेपण करने पर भुजा से महामातृका तक असर होने में सामान्यतः ९ से २१ सैकण्ड लगते हैं। यह असर श्वासकी गति और गहराई में तत्काल अन्तर हो जाने से विदित होता है।

हिस्टेमाइन (Histamine) पद्धति में भुजा से चेहरे पर सामान्यतः १६ से २५ सैकण्ड मे असर होता है। इस विधि मे सामान्य लवण जल १० बूंद में $\frac{1}{2}$ ग्रेन हिस्टेमिन मिला कर उसमे से ४ बूंद का अन्तःक्षेपण किया जाना है। इस विधि में मुख पर नीलता आ जाती है।

सोडिया डाइहाइड्रोकोलेट (Sodium dihydrocholate) पद्धति में सामान्यतः ८ से १४ सैकण्ड मे भुजा से जिह्वा पर असर होता है। इस विधि मे २० प्रतिशत घोल के ५ सी० सी० का अन्तःक्षेपण करने पर मुँह में कड़वा स्वाद आ जाता है।

इथर (Ether) पद्धति मे भुजा से फुफ्फुस तक सामान्यतः ३ से ८ सैकण्ड मे असर पहुँचता है। ५ बूंद का अन्तःक्षेपण करने पर मुख मे मीठा स्वाद आ जाता है; तथा निःश्वास मे इथर की सुगंध आने लगती है।

पञ्चम् अध्याय ।

रक्तकी रोगनिर्णायक परीक्षा ।

रक्त ।

प्राणीमात्र के जीवनका सच्चा आधार रक्त है । यह शरीर की एक मुख्य स्वतंत्र धातु है ; जो अनेक अद्भुत, रम्य और असामान्य विशेषताओं के कारण शरीरकी श्रेष्ठतम धातु बन गयी है । शुद्ध रुधिर ही सम्पूर्ण शरीर मे पोषण पहुँचता है । शरीर मे शुद्ध और अशुद्ध, दो रूपो मे यह विद्यमान रहता है ।

रक्त तरल और सम्पूर्ण शरीर व्यापी तथा निरतर संचार करनेवाली, धातु है । यह संचार जीवनभर मे एक क्षण के लिये कही भी बंद नही होता । शरीर के अन्दर तो यह तरल रहता है, परन्तु शरीर के बाहर आते ही गाढ़ा या ठोस बन जाता है । जीवन रक्षा की दृष्टि से इस के परस्पर विरोधी गुण बहुत ही आवश्यक होते हैं । इनमे विपर्यय होने से भयानक विकार उत्पन्न होकर कभी कभी तुरन्त मृत्यु होजाती है । रक्तवारि और रक्तकणो की प्रकाश पारदर्शकता भिन्न होनेके कारण वह अपारदर्शक होता है ; परन्तु जब कण गल जाते है, तब वह पारदर्शक होजाता है । इसमे एक प्रकार की गंध होती होती है. जो विभिन्न जातियो के प्राणियो मे भिन्न भिन्न हुआ करती है और जो सल्फ्युरिक एसिड और पानी के समभागी मिश्रण के रक्त मे डालने से अधिक स्पष्ट हो जाती है । रक्त का स्वाद कुछ नमकीन और प्रतिक्रिया किञ्चित् क्षारीय होती है । रक्त पानी से पॉचगुना अधिक सान्द्र (Viscous) है । यह सान्द्रता रक्तकणो के कारण होती है । रक्तवारि पानी से केवल डेढ़ से दुगुना ही सान्द्र होता है । रक्त पानी की अपेक्षा अधिक गुरु है । पानी की गुरुता १०प्र०श० मानी जाती है और रक्तकी १०५५-१०६० तक होती है । यह गुरुता तद्गत कण तथा अन्य रासायनिक द्रव्यो के कारण होती है । इतना सान्द्र और गुरु रुधिर भी शरीर की अत्यन्त सूक्ष्म कैशिकाओ को आसानी से पार कर सकता है । इससे अधिक गुरुता होने पर प्रवाह मे कठिनाई होने लगती है । रक्त का उत्ताप ३७.८ सेंटीग्रेड या १००° फैहरनहाइट के पास रहता है । त्वचागत रुधिर का उत्ताप कुछ कम और आभ्यन्तरीय अगो के

रक्तका कुछ अधिक होता है। सम्पूर्ण शरीर में शोणित की राशि शरीर भारके ३ से ६ के लगभग अर्थात् १॥ मन वजनवाले मनुष्य के शरीर मे लगभग २११ औंस होती है। रक्त का रंग लाल होता है। जो रक्त धमनियो में होता है वह गहरा लाल और जो सिराओं मे होता है वह नीलापन लिये लाल अर्थात् नीलाभरक्त (Purple) होता है। यह भेद रक्तगत प्राणवायु की अधिकता और न्यूनता के कारण होता है।

अशुद्ध शोणित उत्तरा और अधरा महाशिरा द्वारा हृदयके दाये अलिन्द कोष्ठ मे आता है और फिर दाये निलय कोष्ठ में से फुफ्फुसिया धमनी द्वारा फुफ्फुसो में जाकर प्राणवायु (Oxygen) के सम्मिश्रण तथा देह के घटको से प्राप्त द्वि आगारिक गैस (Carbon di oxide gas) के वियोजन से शुद्ध होता है । इस सशोधनार्थ पर्यटन क्रिया को फुफ्फुस रक्ताभिसरण (Pulmonary circulation) कहते हैं।

रुधिर चार फुफ्फुसिया शिरा द्वारा हृदय के बाये अलिन्द कोष्ठ में जाता है। वहॉ से बाये निलय मे होकर महाधमनीमे जाता है। फिर सम्पूर्ण देह गत धमनी शाखा, प्रशाखा, उपशाखा और कौशिकाओ में प्रवेश करता है। पुनः वहॉ से क्रमशः छोटी बडी शिराओ द्वारा उत्तरा महाशिरा और अधरा महाशिरा मे जाकर हृदय के दाये अलिन्द मे प्रवेश करता है। इस तरह निरन्तर रक्ताभिसरण क्रिया होती रहती है। इस रक्ताभिसरण को मुख्यतया कायिक रक्ताभिरण (Systemic circulation) कहते हैं। इस परिभ्रमण क्रिया का एक चक्र सामान्यतः २३ सेकण्ड मे पूरा होता है।

उक्त अभिसरणो के अतिरिक्त अन्य दो गौण प्रकार हैं, (१) याकृत् रक्तसवहन (Portal circulation) और (२) वृक्कीय रक्त संवहन (Renal circulation)। इनके भीतर याकृत् सवहन मे पचनेन्द्रिय सस्था (आमाशय, अन्त्र, प्लीहा, अग्न्याशय आदि) में से शोषित अन्नरसमय रुधिर अनेक छोटी शिराओ द्वारा प्रतिहारिणी शिरामें होकर यकृत् में रासायनिक शुद्धि के लिये जाता है। फिर वह रुधिर ३ याकृती शिराओ द्वारा अधरा महाशिरा मे होकर हृदय के दाये अलिन्द मे प्रवेश करता है। इस तरह जो रुधिर धमनी द्वारा वृक्क मे जाता है । उसमे से मूत्रविषका शोषण होकर शेष रक्त दो अनुवृक्का शिराओ (Renal veins) द्वारा अधरा महाशिरा मे होकर हृदय मे गमन करता है।

संगठनः—नगी आखो से देखने पर यद्यपि रुधिर एक सा द्रव दिखाई देता है, तथापि वह दो विभिन्न संघटको के मिश्रण से बनता है। उसमें

एक संघटक ठोस और दूसरा तरल होता है। यदि रुधिर को शरीर से निकालते ही प्रति सघातक मिलाकर केन्द्रापसारी यन्त्र (Centrifuge) में तेजी से घुमाया जाय, तो ये दोनों संघटक अलग होकर ठोस नीचे बैठ जाता है और तरल ऊपर तैर जाता है। रक्त में सामान्यतः ठोस भाग ६ प्रतिशत और शेष तरल भाग होता है। इस तरलभाग को रक्तवारि (Plasma) कहते हैं। यह हल्के पीले रंग का होता है। यह रंग पित्तारुण (Bilirubin) की उपस्थिति से होता है, रक्तरंजक (Haemoglobin) के कारण नहीं। रक्तवारि में ९०% पानी और १०% चयापचय (Metabolism) जनित निम्न रासायनिक पदार्थ होते हैं :—

१—अभिसरणीय दबाव—(Osmotic pressure) और रक्त संहनन के लिये आवश्यक पदार्थ जैसे-क्षार, रक्ततन्तुजन (Fibrinogen) रक्ततन्तु उत्पादक मण्ड-प्रोथोम्बिन (Prothrombin)।

२—शरीर पोषण के लिये आवश्यक पदार्थ-शुभ्र प्रथिन (Albumin) ग्लोब्यूलिन (Globulin) प्रथिन, शर्करा, मेद, विविध प्रकार के लवण और उनके उपक्षार और जीवन सत्व (Vitamins)।

३—शरीर रक्षक पदार्थ—जैसे, विविध प्रतियोगी (Antibodies) अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्राव (Hormones)।

४—चयापचय जनित पदार्थ—जैसे, पित्त रंजक और पित्तलवण, मूत्रीया (Urea), मैहिकाम्ल (Uric acid), द्वि आगारिक वायु (CO_2) आदि।

यद्यपि रुधिर सपूर्ण शरीर के अणु अणु में घूमता है तथापि यकृत् और प्लीहा जैसे कुछ अंगो को छोडकर वह किसी दूसरे अंगके या धातुके कोषाणुओं के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्धित नही होता। कैशिकाओ मे से बहते समय उसका कुछ तरल भाग उनकी एकहरी पतली प्राचीर में से चूकर बाहर निकल जाता है। इसको लसीका (Lymph) कहते हैं। इस लसीका मे अंगो या धातुओ के कोषाणु (Cells) निमज्जित रहते हैं। ये कोषाणु इस लसिका से अपने पोषण के लिये आवश्यक द्रव्यो को ग्रहण करते हैं। तथा इसीमे अपने मलरूप द्रव्योको छोड़ देते हैं। सक्षेपमे रुधिर लसीका रूप अपने मध्यस्थ के द्वारा सब कार्य किया करता है। यह लसीका स्वतन्त्र वाहिनियो मे इकट्ठा होकर फिर रुधिर में जा मिलता है। लसीका की प्रतिक्रिया क्षारीय और गुरुता १०१५ होती है। उसका संगठन साधारणतया रक्तवारि के समान होता है, परन्तु उसमें निम्न भेद होते हैं :—

१—रक्तवारि की अपेक्षा लसीका प्रथिनों (Proteins) का परिमाण कम होता है।

२—लसीका में कार्बोनिक अम्ल (Carbonic acid) मूत्रीया तथा अन्य मलरूप पदार्थ अधिक होते हैं।

३—लसीका मे लसीकाएड (Lymphocytes) अधिक होते हैं। लसीका जब लसीका ग्रन्थियो तथा लसीका तन्तुओं (Lymphoid tissues) में से होकर बहती है, तब ये उसमे मिल जाते हैं।

४—लसीका मे घन रक्ताणु न होने के कारण रक्त की अपेक्षा लसीका विलंब से जमती है।

रुधिर का ठोस भाग असंख्य कणों (Corpuscles) का बना है। ये कण तीन प्रकार के हैं। जो कण संख्या में सबसे अधिक रंग में लाल और मोटाई में मध्यम होते हैं वे लाल रक्ताणु (R. B. C.) या रुधिरकायाणु (Erythrocytes) कहलाते हैं। जो कण संख्या मे सबसे कम रंग में श्वेत और मोटाई में सबसे बड़े होते हैं वे श्वेताणु (W. B. C.) या श्वेत रक्ताणु (Leukocytes) कहलाते हैं। जो सख्या में मध्यम, रंगमे नीलारुण और मोटाई में सबसे छोटे वे घन रक्तकण (Thrombocytes) या रक्त चक्रिकाये (Blood platelets) कहलाते हैं।

रक्त संगठन दर्शक कोष्ठक १०० घन सी० सी० में

(रुधिर आपेक्षिक गुरुता १०५५–१०६०; लसीका की १०२६–१०३२; रक्तकणों की १०६०)

घन द्रव्य अर्थात् सम्पूर्ण ठोस (Solids) १९–२३ प्रतिशत
रक्तरंजक (Haemoglobin) ९५–१०५ प्रतिशत।
रक्त रस श्वेत प्रथिन (Serum albumin) ४·६ से ६·७ प्रतिशत
रक्त रस प्रथिन (Serum globulin) १·८ से २·७ प्रतिशत
रक्त तन्तुजन (Fibrinogen) १·९ से ३·६ प्रतिशत
प्रथिन (Proteins) ६·७ से ८·७ प्रतिशत।

प्रथिन रहित नत्रजन (Nonprotein nitrogen) २५ से ३५ मि० ग्रा०।

मूत्रीया (Uera) २०–४० मिली ग्राम।
मैह्निकाम्ल (Uric acid) ३–३·५ मि० ग्रा०।

क्रियाटीनिन (creatinin) १–२ मि० ग्रा०
शर्करा (Sugar) ६०–१२० ,, ,,
पित्तघन (Cholesterol) १३८–१६० ,,
रक्त शर्करा विष (Acetone bodies) ०–४ मि० ग्रा०
खटिक (Calcium) ५०३ से ६०८ मिल ग्राम
(लसिका मे १० मि० ग्रा०)
फोस्फरस (Phosphorus) ३–४.५ मि० ग्रा०
बच्चो मे ५–६ मि० ग्रा०
पित्तारुण (Bilirubiu) १–२–५ मि० ग्रा०
प्राणवायु धारणशक्ति (Oxygen capacity) १७.५–२० प्र०श०

रुधिर कार्य—

१—शरीर के कोषो को पोषण और प्राण वायु देना, और कोषो से मल और आगारिक वायु को बाहर निकालना।

२—देह के भिन्न-भिन्न स्थानो पर स्थित अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के लिये योग्य पदार्थों की पूर्ति करना, फिर उत्पन्न स्रावों का वहन करना और उनके प्रभाव को उचित स्थानो पर उत्पन्न कराना। जैसे-वृष्ण के अन्तःस्राव से युवावस्था मे मूछ और दाढ़ी के बालों की उत्पत्ति कराना।

३—देह की भिन्न-भिन्न अवयवो की उष्णता को मर्यादा में रखना, तथा सर्व तन्तुओ को रक्तरंजक द्वारा प्राणवायु पहुँचाना।

४—देह के प्रवाही तत्त्व को समपरिमाण मे रखना।

५—विजातीय द्रव्य अथवा बाहर के रोगोत्पादक कीटाणु और विष के साथ युद्ध करके देह का संरक्षण करना।

६—शरीर के कोष जलवासी (Aquatic) हैं। रुधिर उसको सदैव द्रव (लसिका) निमजित रख कर उनकी आन्तरिक स्थिति अनुकूल रखने मे और उनका कार्य सुचारु रूप में चलाने में सहायता करता है।

पहले लिखा जा चुका है कि रुधिर दो प्रकार के पदार्थो से बना है, तरल और घन। इसके तरल भाग को रक्तवारि (Plasma) कहते हैं। घन भाग घटकों से निर्मित है, जो इस रक्तवारि मे तैरता रहता है। घनभाग मे तीन प्रकार के पदार्थ हैं—लालरक्ताणु, श्वेताणु, और रक्त चक्रिकायें।

रक्तवरि—(BlooD Plasma) रक्तवारि की उत्पत्ति खाद्यपेयों के पाचन, शोषण, सात्म्यीकरण और चयापचय से हुआ करती है। रक्तवारि का रक्तरोगों के साथ अधिक सम्बन्ध नही होता इसलिये इसकी उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश का विस्तृत विचार रक्तरोगो में करना आवश्यक नहीं है। अतः इसका संक्षिप्त विवरण अत्र देदेनाही पर्याप्त होगा।

रुधिर मे हलके पीले रंगका जो द्रव पदार्थ है उसे ही रक्तवारि कहते हैं। इस रक्तवारि मे रक्तजीवाणु फिरते रहते है। इनके अतिरिक्त इस रक्त वारिका सगठन पूर्व लिखा जाचुका है। इसमे कीटाणुओ को नष्ट करनेवाली और रक्त को जमानेवाली वस्तुएं और प्रतिविष भी होते हैं। यह रक्तवारि केशिकाओ (Capillaries) के छिद्रो में से सर्वदा स्रवता रहता है; और धातुओका पोषण करता है। इस रक्तवारिके और दो प्रकार हैं; केशवाहिनियोंकी दीवारो मे से एक प्रकार का रक्तजल (रक्तका स्वच्छ प्रवाही अंश) सर्वदा झरता रहता है, उसे लसीका (Lymph) संज्ञादी है। एवं देहसे बाहर निकाला हुआ रुधिर जब कुछ काल तक पडा रहता है; तब उसमें द्रव भाग और घन भाग, ऐसे दो विभाग बन जाते हैं। इनमे जो द्रव भाग है, वह भी रक्तवारि ही है, परन्तु उसे रक्तरस (Serum) संज्ञा दी है।

रक्ताणु (Red Blood Corpuscles)

रक्ताणुओकी उत्पत्ति गर्भावस्थामे विशेषतः यकृत्प्लीहा मे तथा जन्मके पश्चात् विशेषतः मज्जा के भीतर होती है। इनका आकार गोल होता है। ये रुपये के समान गोल हैं परन्तु दोनो पृष्ठ चिपके हुए या अन्तर्गोल (Biconcave) होते हैं, इससे इनकी आकृति दोनो ओर अन्तर्गोल चक्री (Biconcave Disc) जैसी होती है। ये स्थिति स्थापक होने से शारीरकी अति सूक्ष्म और टेढी मेढी केशिकाओको अपने जीवन में सहस्रों बार पार करके अपना शरीर ज्यो का त्यो रख सकते हैं। ये अपनी अन्तर्गोल आकृति के कारण शरीर की सब आकार और प्रकार की संकीर्ण केशिकाओ की प्राचीर के पृष्ठ भाग के अधिक से अधिक समीप आ सकते है और प्राणवायु और कार्बन डाईऑक्साइड के आदान प्रदान में अधिक कार्यक्षम बनते हैं। इनकी मोटाई ७ से ८ माइक्रोन तक होती है। मोटाई प्रसारण और अभिसरण (Diffusion & osmosis) आदि हेतु से बढ जाती है। फिर घट भी जाती है।

पुरुषो में इनकी संख्या १ क्युबिक मि० मी० ($\frac{१}{१६३८७}$ घन इञ्च) मे स्वस्थावस्था मे ४७-६५ लाख (औसत ५५ लाख) और स्त्रियो में

४३–५३ लाख (औसत ४८ लाख) होती है। नवजात बालको मे इनकी सख्या ७० लाख तक होती है जो प्रथम दो सप्ताह मे बहुत कुछ कम हो जाती है और दो वर्ष की आयु मे जवान के समान हो जाती है। भोजन, बाह्यताप, व्यायाम, काम क्रोध आदि मानसिक भाव, पहाड़ो की ऊँचाई इत्यादि से इनकी सख्या १०–२० प्रतिशत घट बढ़ जाती है।

स्वस्थावस्था मे स्तनधारी जीवो (मनुष्य, गाय, भैंस, बकरी, घोडा आदि) के रक्ताणुओ मे जीव केन्द्र (Nucleus) प्रतीत नही होता । एवं मज्जाणु भी नहीं मिलते। वे दोनो रोगावस्था में उत्पन्न हो जाते हैं; एवं रोग के हेतु से इन रक्ताणुओ की अंतर्बाह्य आकृति में भी अन्तर पड़ जाता है। एवं स्तनधारी प्राणियो के अतिरिक्त शेष जीवो (मण्डूक, मत्स्य, सर्प, पक्षी आदि) के रक्ताणुओ मे जीव केन्द्र होता है। एव मण्डूक के रक्ताणु मनुष्यों के रक्ताणुओ की अपेक्षा बडा और लम्बा भी होता है। इस हेतु से इसके दो विभाग हो जाते हैं—जीव केन्द्र रहित और जीव केन्द्र सहित। इनमे से जीव केन्द्र सहित अस्वाभाविक अवस्था मे ही प्रतीत होते हैं। इन दोनो प्रकारो के निम्नानुसार भेद हैं:—

(१) जीव केन्द्र रहित रक्ताणुः—

१—सूक्ष्म (Microcytes) ७ माइक्रोन।
२—स्थूल (Megalocytes) ९–१० माइक्रोन।
३—अतिस्थूल (Gigantocytes) १२ माइक्रोन।
४—विकृताकार (Poikilocytes) ८–१० माइक्रोन।

(२) जीव केन्द्र सहित रक्ताणुः—

१—सामान्य (Normoblasts) ७ माइक्रोन।
२—सूक्ष्म (Microblasts) ५ से ७ माइक्रोन।
३—स्थूल (Megaloblasts) ९–१० माइक्रोन।
४—अतिस्थूल (Gigantoblasts) ११–१३ माइक्रोन।

लाल कण मज्जा को छोड कर जब से रक्त में प्रविष्ट होते हैं, तब से निरन्तर परिभ्रमण शील होने के कारण शरीर की अन्य धातुओं की अपेक्षा जल्दी जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं। अनेक प्रयोगो और साधनो द्वारा यह अनुमान किया गया है कि लाल कणो की आयु ३० से ५० दिनो की होती है। लाल कणों की सम्पूर्ण सख्या सामान्यतः पुरुष देह मे ५० लाख और स्त्री शरीर मे ४५ लाख होती है।

स्वस्थावस्था में भी अनेक कारणों से रक्तकणों की सख्या में न्यूनाधिकता हो जाती है। जैसे समुद्र के किनारे से ६०० फीट ऊँचाई वाले गिरि शिखर पर रहनेवालों की देह में शुद्ध वायु से रक्तकण और रक्तरंजक दोनों बढ़ जाते हैं। इस अवस्था में रक्तकणों में प्रति घन मिली मीटर २० लक्ष की वृद्धि हो जाती है। शीत काल में रक्तकणों की वृद्धि हो जाती है। इस तरह पौष्टिक आहार, मानसिक शान्ति, चिन्ता का अभाव, बल वर्धक अवस्था, स्त्रियों में मासिक धर्म की नियमितता, ब्रह्मचर्य का पालन इत्यादि कारणों से भी रक्तकणों की वृद्धि हो जाती है।

रक्त रंजक द्रव्य—रक्ताणुओं की सबसे महत्त्व की बात इनका रंजक द्रव्य (Pigment) है। इसको रक्तरंजक (Haemoglobin) कहते हैं। रक्ताणु, ये इस द्रव्य को भरने के लिये बनायी हुई छोटी-छोटी डिब्बिया हैं उनके भीतर सूक्ष्म छिद्र हैं। इन छिद्रों में मधु के समान रक्तरंजक भरा रहता है। प्रत्येक कोषाणु में उसके तोल का तिहाई रंजक भरा रहता है। अन्त गोलाई के कारण मध्यभाग में रंजक द्रव्य कम होता है, जिससे वह भाग प्रान्त भाग की अपेक्षा कुछ फीका दिखायी देता है। जब रक्तरंजक द्रव्य कम होता है तो फीकापन बढ़ता है और जब रंजक द्रव्य बढ़ता है, तब यह फीकापन नष्ट होकर सब कण एकसा दिखाई देने लग जाता है।

रक्तरंजक के कार्य—इसके मुख्य कार्य ३ हैं।

१—प्राण वायु का संवहन।
२—द्विअंगारिक वायु का संवहन।
३—रक्त के क्षारत्व का रक्षण।

२—श्वेताणु (White Blood Corpuscles)

उत्पत्ति स्थान के भेद से इसके ३ प्रकार हैं। मज्जाणु, लसीकाणु और बृहल्लसीकाणु।

(१) मज्जाणु (Myeloblasts) ये केवल मज्जामें उत्पन्न होते हैं, इसीलिये मज्जोत्पन्न कहलाते हैं। रचना की दृष्टि से इनमें दो विशेषतायें होती हैं। १—इनका जीवकेन्द्र अनेक खण्डों में विभक्त होता है। इसलिये ये अनेक जीवकेन्द्र युक्त बृहदाकार श्वेताणु (Polymorphonuclear) कहलाते हैं। २—इनके भीतर अवस्थित जीवन रसमें छोटे मोटे दाने होते हैं। इसलिये दानेदार (Granular) कहलाते हैं। इस विभाग के कणों को

कणिक कायाणु (Granulocyte) और उनके निर्माण को कणिकोद्भावन कहते हैं ।

(२) लसीकाणु (Small Lymphocytes)—इनकी उत्पत्ति लसीका से होती है। इनमें गोल या किञ्चित् लम्बा या एक ओर किञ्चित् दबा हुआ गहरे नीले रंगका एक जीवकेन्द्र होता है। उसके चारों ओर या एक ओर थोडासा जीवरस होता है। जिसमें क्वचित् कुछ दाने दिखायी देते हैं।

(३) बृहल्लसीकाणु (Large Lymphocytes) ये मुख्यतया प्लीहा से उत्पन्न होते हैं। ये आकार में बडे और एक जीवकेन्द्र के होते हैं। इनके चारों ओर बडा विस्तृत फीका जीवनरस रहता है। इनको प्लीहाकायाणु (Splenocytes) भी कहते हैं।

लाल रक्ताणुओं के समान इनकी संख्या में भी विभिन्न अवस्थाओं में बहुत भिन्नता पायी जाती है। नवजात बालक में इनकी संख्या बहुत अधिक होती है और धीरे धीरे आयुवृद्धि के साथ घटती जाती है। एक प्रौढ़ मनुष्य में इनकी औसत संख्या १ घन सहस्राश मिलीमीटर ७५०० मानी जाती है। वह संख्या प्रातःकाल में मिलती है। दिन में शारीरिक व्यायाम, काम क्रोध, भोजन आदि अनेक कार्यों के हेतु से इनकी यह संख्या बढ़कर दुगुनी तक हो सकती है। इस संख्या वृद्धिका कारण यह है कि, उपरोक्त दैहिक कार्यों के कारण रक्ताभिसरण में तेजी आ जाने से असंख्य बन्द कैशिकाओं में फँसे हुए कण रक्ताभिसरण में आजाते हैं। श्वेतकणों की संख्या स्वास्थ्य के अनुसार भी न्यूनाधिक हुआ करती है। साधारणतया उत्तम स्वास्थ्य में इनकी संख्या अधिक और मध्यम स्वास्थ्य में इनकी संख्या कुछ कम होती है। अगर युवा मनुष्य में १०००० प्रति घन सहस्राश मिलीमीटर से ज्यादा हो तो श्वेतजीवाणु वृद्धिविकार (Leukocytosis) कहलाता है।

लाल रुधिराणु उत्पत्ति स्थान, स्वरूप, रंग ग्रहण इत्यादि अनेक बातों में एकता रखने के कारण एक ही नाम से प्रसिद्ध हैं। परन्तु श्वेताणु इन सब बातों में विभिन्नता रखते हैं, इसलिये अनेक नामों से प्रसिद्ध हैं:—

१—उत्पत्ति स्थान के अनुसार—लसीकाणु, बृहल्लसीकाणु।

२—रंग ग्रहण के अनुसार—अम्ल रंगेच्छु, क्षारप्रिय, क्षाराम्ल रंगेच्छु।

३—जीवकेन्द्रके अनुसार—एक जीवकेन्द्र युक्त, अनेक जीवकेन्द्र युक्त।

४—जीवन रस स्वरूप के अनुसार—पारदर्शक, कणिकामय।

श्वेताणु प्रकार—आकृति और कार्य भेदसे तथा रंगप्रियता के हेतुसे इनके ६ प्रकार हैं; जिनका विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा।

श्वेताणुओं के कार्यः—श्वेताणुओ के निम्न पाच मुख्य कार्य हैं:—

१—बाहर से देह मे प्रवेश कर हानि पहुँचाने वाले विष या कीटाणु को खा जाना, या कीटाणु नाशक प्रति विषकी उत्पत्ति कराना।

२—देह के किसी भी भाग मे चोट लगने, शोथ आजाने या विष स्पर्श होने पर उस स्थान के संरक्षणार्थ और शत्रुओं को नष्ट करने के लिये दौड़ जाना। फिर शत्रुओ को नष्ट कर हानि पहुँचे हुए अवयव या कोष संधानों को अपनी मूल स्थिति में लादेना।

३—आँतो में से आहार रसके शोषण मे सहायता देना।

४—रक्त के जमने (Clotting) मे सहायता देना।

५—रक्तमें रहे हुए प्रथिन (Protein) की रक्षा करना।

श्वेताणुओ का कार्यक्षेत्र रक्तवाहिनियो तथा शरीर की रक्षा के लिये सदैव लड़ाई झगडो मे सलग्न रहने के कारण लाल कणो की तुलना में इनकी आयु बहुत कम होती है। श्वेताणुओ का जीवन सैनिक जीवन है। जो श्वेताणु लड़ाई झगडो से बचते है, वे फिर से लसिका द्वारा रक्तमें पहुँच जाते हैं। ससके विपरीत लालकण कैशिकाओ से कभी बाहर नहीं आते और जब कभी आते हैं तब वहीं नष्ट होजाते हैं। इनकी अल्प आयुका दूसरा कारण अगणित सख्या मे अन्त्र की श्लैष्मिककला से और स्त्रियों के योनि की श्लैष्मिककला से शरीर से बाहर निकल जाना भी है। यह अनुमान है कि कणमय श्वेताणुओ की आयु २–४ दिन की है और लसिकाणुओं की कुछ घण्टे ही।

३—सूक्ष्म चक्रिका (Blood Platelets)

ये मोटाई मे लालकणो की चौथाई अर्थात् २–३ माइक्रोन टोली में ये अण्डाकार, गोलाकार या बिम्बाकार होती है। ये श्वेत होती हैं परन्तु रंजित करने पर इनका, मध्यभाग प्रान्तभाग की अपेक्षा अधिक गहरे रंगका होता है। इनमें परस्पर चिपकने का गुण होने के कारण दो–दो, चार–चार से लेकर सैकडो की संख्या मे चिपके हुये दिखायी देते है। ये सब जीवन रस (Protoplasm) के अनियमित आकार के बिन्दुओ के सदृश भासती हैं। यह प्रतिघन मिलीमीटर रक्त मे २ से ५ लक्ष्य तक होती हैं।

कार्यः—इनका मुख्य गुण रक्त को जमाना है। इस गुण के कारण ही निम्न चार कार्य सम्पन्न होते हैं।

१—कैशिकाओ की अखण्डता का रक्षण।

२—रक्त पिण्ड रचना (THrombus Formation) ।

३—रक्तस्राव निरोध में सहायता करना ।

४—रक्त पिण्ड रचना का दृढ़ता पूर्वक आकर्षण होने में सहायता करना ।

प्रतिदिन अनेक दैहिक कार्यों मे इनका नाश होता रहता है । एवं प्लीहा भी इनका नाश करती है । इसलिये इनकी आयु भी श्वेताणुओ के समान ही बहुत कम अर्थात् १-४ दिन की होती है ।

रक्तपरीक्षा

रक्त परीक्षा द्वारा विविध रोगो का निर्णय होता है । अतः वर्तमान में इस पर विशेष लक्ष्य दिया जाता है । इसके मुख्य विषय निम्नानुसार हैं ।

१—रक्ताणुओ की गणना—Enumuration of Red blood corpuscles

२—श्वेताणुओ की गणना—Enumuration of Leucocytes

३—चक्रिकाओ की सख्या कल्पना—Estimation of Platelets

४—रक्तरञ्जक की मात्रा कल्पना—Estimation of Haemoglobin

५—आंणुवीक्षणिक परीक्षा—Microscopical Examination

अ—रक्ताणुओका स्वरूप । ताजे रक्त और रञ्जित रक्तका ।

आ—चित्रपट पर रक्तपरीक्षा ।

इ—रोग जनित रक्ताणु परिवर्तन ।

ई—रक्ताणुओ की भंगुरता ।

उ—रुधिर गत कीटाणुओ की उपस्थिति ।

६—राश्मिक परीक्षा—Spectroscopic examination

७—रुधिर घनी भवनके समय की कल्पना—Estimation of Cogulation time

८—रुधिर स्राव के समय की कल्पना—Estimation of Bleeding time.

९—रुधिरका वर्गीकरण—Blood Grouping.

१०—रासायनिक विशेष परीक्षा पद्धति द्वारा रक्तका अन्वेषण—Special Chemical Methods of blood investigation

अ—पित्तारुण (Bilirubin) की प्रतिक्रिया ।

आ—मूत्रीया (Uria) के परिमाण को कल्पना

इ—शर्करा के परिमाण की कल्पना ।

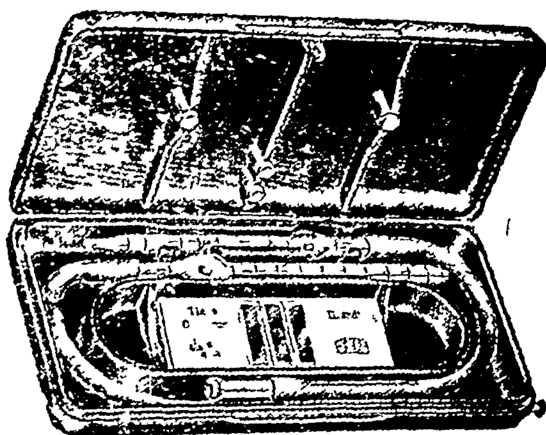
इन सबका क्रमशः वर्णन करते हैं ।

१—रक्तकणों की गणना

(*Enumeration of Red blood Corpuscles*)

रक्त में उपस्थित रक्ताणुओं की संख्या दो विधियों से मालूम की जा सकती है। थोमाजेइसके हैमोसीटोमीटर (Thomo-zeiss haemocytometer) द्वारा या स्टोग की विधि (Stong's method) अनुसार। इनमें से प्रथम विधि ज्यादा प्रचलित है इसलिये पहले उसका उल्लेख करना उपयुक्त प्रतीत होता है।

(१) हैमोसीटोमीटर :— इस यंत्रमें एक काच की नलिका (Pipette) होती है, जो मिश्रित करने में काम आती है। यह नलिका क्रमशः समुचित अंकों द्वारा विभक्त होती है। इसके अतिरिक्त एक काचपट्टी होती है, जिस पर रक्ताणु गिने जाते हैं।



चित्र नं० ८८
हैमोसीटोमीटर

प्रयोगविधि—इससे परीक्षार्थ रक्त ग्रहण करने के लिये रोगी की कर्णपाली को 'इथर (Ether)' से स्वच्छ करके शुष्क करें। पश्चात् कर्णपाली की अधोधारा पर सूचिका से छेद करें। सूचिका को एक दम झटके के साथ कर्णपाली में प्रवेश करना चाहिये, न कि धीरे धीरे। ताकि रक्त स्वतन्त्र रूपसे बाहर निकल आये। किसी भी अवस्था में रक्तको दबाकर नहीं निकालना चाहिये। क्योंकि दबाने से रक्तके साथ लसीका का मिश्रण होजाता है। इससे रक्त पतला होजाता है। इस प्रकार निकाले हुए रक्तको उपर्युक्त काच नलिका की सहायता से चूस लेना चाहिये। रक्त ०'५ या १ के अंक तक भर जाय, उतना चूसकर बन्द करदे। अगर ०'५ के अंकसे कुछ ऊपर चला जाय तो धैर्य से रुधिर को निकाल कर उसे ०'५ के अंक तक ले आना चाहिये। अगर रुधिर १ के अंक से भी ऊपर तक चूस लिया गया है, तो यह मिश्रण स्थान में पहुँच जाता हैं, इसलिये सम्पूर्ण क्रिया (शोणित को फेंककर) फिर से करनी चाहिये। इस प्रकार रक्त चूस लेने के पश्चात् नलिका के मुंह को कर्णपाली से अलग कर स्वच्छ कपड़े से साफ करले और बिना विलम्ब के किये तत्काल रुधिर को पतला कर देनेवाले तरल (Diluting fluid) में डुबो देना चाहिये।

इस तरल को बनाने की विधि परिशिष्ट नं० १३ में लिखी जायगी। इस तरल को पूर्व से ही तैयार करके चौड़े मुँह की बोतल में उसका डाँट अलग करके रख लेना चाहिये। तत्पश्चात् इस तरल को नलिका द्वारा चूसना चाहिये, ताकि तरल १०१ अङ्क तक पहुंच जाय। इस क्रिया के करते समय नलिका को मंद मंद घुमाते रहना चाहिये, ताकि रक्त और तरल मिश्रित होना आरम्भ हो जाय। फिर नलिका के दोनो सिरो को दोनो हाथो के अंगुष्ठ और तर्जनी के मध्यमें मजबूती से पकड कर एक मिनिट तक अच्छी तरह हिलावें, जिससे रुधिर तरल से अच्छी प्रकार मिश्रित हो जाय। परीक्षक को यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि, नलिका के सूक्ष्मतम भाग मे स्थित तरल मिश्रण मे सम्मलित नहीं होता, अर्थात् रुधिरका मिश्रण ऊपर स्थित चौडे भागके तरलके साथ ही होता है। इसलिये अगर रुधिर ०.५ के अंक तक चूसा गया है तो जो मिश्रण बनता है उसका अनुपात १:२०० के समान होता है। अगर रक्त १ के अङ्क तक चूसा गया है तो अनुपात १:१०० होता है। पहले अनुपातार्थ अत्यधिक रोगियो मे यह विलयन ज्यादा अच्छा रहता है।

अगुली को नलिका के मुँहसे हटाकर सूक्ष्मतम भाग में स्थित तरल (जो मिश्रण बनाने मे कोई भाग नही लेता) को बाहर निकाल देना चाहिये। कुछ बूंदें रक्तके मिश्रण की बाहर निकाल देने के पश्चात् एक बूंद ऊपर दर्शित काचपट्टिका पर डाली जाती है। इस काचपट्टिका मे एक तो मंच (म) होता है, जिसके चारो तरफ एक परिखा होती है जो काच की पट्टिकाओं से निर्मित दीवार (द) से बनी है। कॉच पट्टिका के मंच का पृष्ठ अणुवीक्षणीय सम चतुर्भुज खण्डो मे विभक्त होता है। प्रत्येक खण्ड का क्षेत्रफल $\frac{1}{400}$ वर्ग मि० मी० होता है। इसके लिये एक विशेष प्रकार का आच्छादक कॉच (Cover Glass) होता है। जिसे मंच पर मिश्रण की बूंद डालने के पश्चात् परिखा की दीवारो के सहारे रख दिया जाता है। यह इस प्रकार से रखना चाहिये कि, मंच पर रख देने के पश्चात् मच और इसके अधोपृष्ठ के मध्यमे ठीक $\frac{1}{10}$ मि० मी० के बराबर स्थान रिक्त रह जाय।

रक्तके मिश्रण की बूंद मच के बिल्कुल मध्य मे डालनी चाहिये तथा उसका परिमाण उतना होना चाहिये कि, उस पर आच्छादन कॉच रखने पर वह मंच के अधिक भाग मे फैल जाय, परन्तु मच के किनारो को पार करके परिखा मे न जाय। इस प्रकार के उचित परिमाण की बूंद डालने के लिये कुछ अनुभव की आवश्यकता पड़ती है। यह भी महत्वपूर्ण है कि, आच्छादन कॉच परिखा की दीवारो पर समभाव से स्थिर रक्खा रहे। इस सिद्धि को प्राप्त करने के लिये आच्छादन कॉच और परिखा की दीवारो को

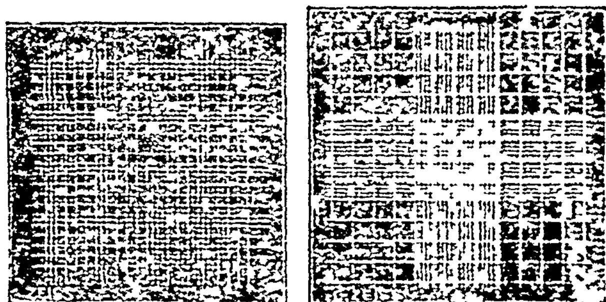
पूर्व से ही "कॉस्टिक पोटास (Caustic Potash)" से धोकर उनकी स्निग्धता नष्ट करके मृगछाला (Chamois Leather) से रगड़ लेना चाहिये। आच्छादन कॉच सुई की सहायता से नीचे खिसकाया जाता है। वह ठीक स्थिति मे है या नही, यह सम केन्द्र विशिष्ट रग की अगूठी के समान आकृति प्रगट होने से जाना जासकता है। अगर यह ठीक स्थिति मे है तो कॉच और किनारे के मध्य में रंग के छल्ले के समान आकृति दिखलाई देगी। अन्यथा आच्छादन को दो सुइयो की सहायता से नीचा खिसका लेवे और फिर से ठीक देखकर रक्खे। यह रंगका छल्ला बिना किसी दवाव के आच्छादन रखने पर उपस्थित होना चाहिये; यह छल्ला आच्छादन पर से देखने से स्पष्ट दिखलायी देता है। जब तक यह यह रंग के छल्ले न दिखलाई दे, तब तक निश्चयपूर्वक नही कह सकते कि मंच और आच्छादन कॉच के मध्य मे ॰१ मि॰ मी॰ स्थान है ? मिश्रण की बूंद उचित स्थिति में डालने और रंग के छल्ले प्रगट होकर आच्छादन कॉच की ठीक स्थिति प्रगट कर देने के पश्चात् गिनने की कॉच पट्टिका को लगभग २ मिनट के लिये एक तरफ रख देना चाहिये, ताकि रक्तकण मच पर स्थिर होजाय।

इसके पश्चात् अणुवीक्षण यंत्र द्वारा उसकी परीक्षा करनी चाहिये। सर्वप्रथम कम शक्ति शाली वस्तु तालसे देखना चाहिये कि, इसमें वायुके बुलबुले या अन्य बाह्य पदार्थ तो उपस्थित नहीं हैं, इसके साथ यह भी मालूम कर लेना चाहिये कि, रक्तकण यत्रके सम्पूर्ण पृष्ठ पर समान रूप से फैले हैं या नहीं। पश्चात् अधिक शक्तिशाली वस्तु ताल से रक्तकणोकी गिनती करनी चाहिये। इसके लिये अणुवीक्षण यत्र को खडा रखना चाहिये और उसमे कन्डेन्सर और मंचके छिद्र को छोटा बडा करने का चक्र या मण्डल (Diaphragm) भी लगा देना चाहिये। प्रकाश को उस समय तक धीरे धीरे कम करे, जब तक कि रक्ताणु स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे। काच पट्टिका के मंचपर अंकित सम चतुर्भुज गहरी रेखाओं द्वारा १६, १६ विभागों युक्त भिन्न-भिन्न खण्डो मे प्रतीत होते है। चित्र नं॰ ८६ देखे।

अगर सम चतुर्भुजोको अंकित करनेवाली रेखाये धूंधली दृष्टिगोचर हों, तो उनको स्पष्ट करने की आवश्यकता हो सकती है। यह मंचके तलको शीशा पेंसिल (Graphite) के चूर्ण से रगड फिर मृगछाला द्वारा पोलिश कर देनेसे स्पष्ट दिखायी देने लग जाती है।

रक्ताणुओं की गणना करने के लिये कम से कम १५, १६ खंडोवाले ४ विभागो मे स्थित रक्ताणुओ को गिनना चाहिये। प्रत्येक विभाग के सम

चतुर्भुजों में स्थित रक्ताणुओ को चार क्षैतिज कतारो से एक समय गिन लेना चाहिये। रक्ताणु जो कतार बनानेवाली रेखाओ पर स्थित हैं, उनमें से सिर्फ जो ऊपर और बायी ओर की रेखाओ पर स्थित हैं, उन्ही को गिनना चाहिये। चारो विभागो की संख्या लगभग समान होती है।



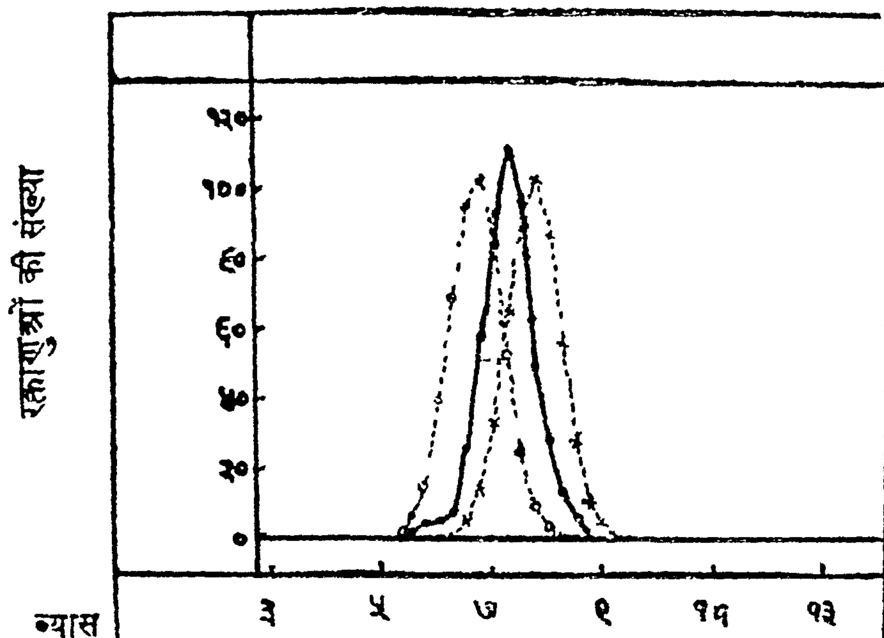
आकृति नं० ८६
अणुवीक्षण यंत्र से देखने पर रक्तकणों को गिनने की काच पट्टिका का दृश्य।

गणनाः—चारो क्षैतिज कतारो के रक्ताणुओ की संख्या ऊपर से नीचे गिनले। इन चारो को जोडने से जो परिणाम होगा, वह १६ खंडो में स्थित रक्ताणुओ की सख्या है। इस प्रकार १६,१६ खंडो युक्त चार विभागो को गिनले और उनके योग को ६४ से विभाजित करे, तो जो जोपरिणाम आयगा वह एक खड या मार्ग स्थित रक्ताणुओ की औसत संख्या होगी। परन्तु इस वर्ग के परिमाण मे रक्ताणुओ की संख्या "क" है तो एक घन मिलीमीटर मे ४००० 'क' होगी। परन्तु जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि, रक्त २०० (या १००) गुणा पतला (हलका Diluted) किया जाता है, इसलिये १ घन मिलीमीटर रक्त मे रक्ताणुओ की सख्या ४००० क × २०० (या १००) होगी।

उदाहरणार्थ मानलिया जाय कि, १६ सम चतुर्भुजों मे रक्ताणुओ को गिननेपर ३८४ रक्ताणु विद्यमान हो, तो इसे ६४ से विभाजित करने पर प्रत्येक समचतुर्भुज मे ६ रक्ताणुओ की औसत आती है। इसलिये ६ × ४०००=२४०००रक्ताणु पतले किये हुए रक्तके १ घन मिलीमीटर मे और १:२०० के अनुपातसे पतला करने की हालत मे २४००० × २००=४८००००० रक्ताणु शुद्ध रक्तके १ घन मिलीमीटर में समझना चाहिये।

(२) स्टोग की संशोधित विधिः—यह विधि प्रथम की अपेक्षा कम प्रयुक्त की जाती है। इस विधिसे रक्ताणुकी गिनती करने के लिये एक यंत्र

होता है, जिसमें सूक्ष्मतम नलिका (Capillary Tube), जिसपर पास पासमें दो अंक अंकित होते हैं; एक काच नलिका (Pipette) जो ९९५ घन मि० मी० में अंकों द्वारा विभक्त होती है; और एक छोटी सी बोतल जिसका मुँह एक डाॅट से बन्द रहता है, होते हैं। सर्व प्रथम



चित्र नं० ९०

स्वस्थवस्थामे एक स्त्रीका रक्ताणुसख्या दर्शक महरात्र

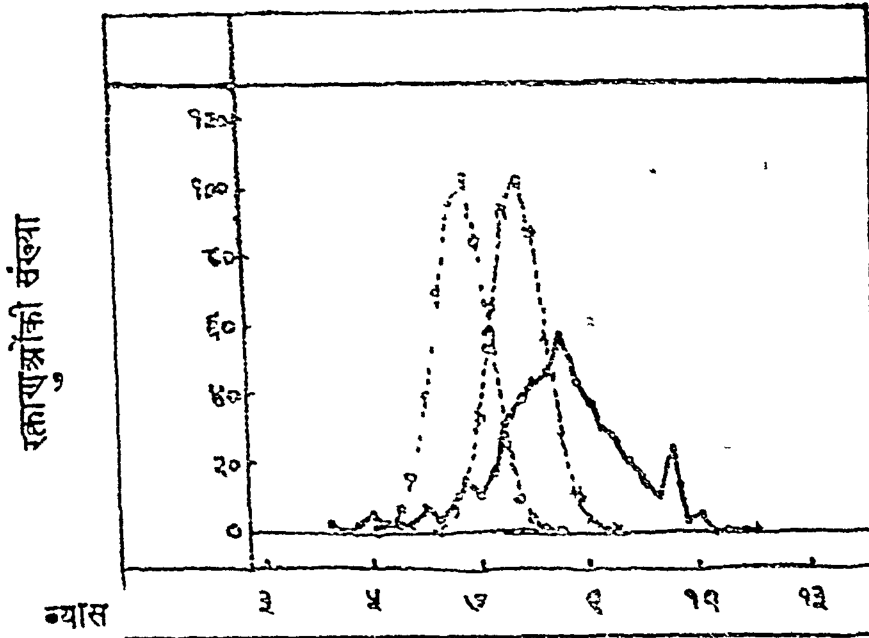
चित्र परिचय—

१. साधारण सीमाओं का अधिकतम औसत व्यास— ×----×
२. साधारण सीमाओ का न्यूनतम औसतव्यास— ०- -०- -०
३. स्वस्थ स्त्री का साधारण औसत व्यास— ०—०—०—०

परिशिष्ट नं० १४ मे वर्णित हल्का करने वाले तरल को ९९५ घन मि० मी० लेकर बोतल में डाल दे। फिर उपर्युक्त विधि अनुसार ५ घन मि० मी० के अंक तक सूक्ष्मतम नलिका में रक्त चूसकर नलिकाके मुखको बाहर से साफ करले। तत्पश्चात् रक्तको बोतल मे रक्खे हुए तरल में डाल दे, और अनेक समय तरल को नलिका मे चूसचूस कर वापस निकाले। इस प्रकार की क्रिया करने से रक्तका मिश्रण तैयार हो जाता है। जिसका अनुपात १:२०० होता है। बोतल को अच्छी तरह हिलावे और एक बूँद को गिनने की काच पट्टिका पर डाले। इसके बादकी सम्पूर्ण क्रिया प्रथम विधिके अनुसार ही करे।

द्वितीय विधिमें यह लाभ है कि-१-रक्त और हल्का करनेवाले तरल का मिश्रण अधिक घनिष्ठता से बन जाता है; २- मिश्रण बोतल में से आसानी से पट्टिका पर डाला जासकता है और जब चाहे अवकाश के समय शान्ति से गिनती की जा सकती है; ३- तथा एक सबसे बड़ा लाभ यह है कि यह मिश्रण श्वेताणुओ की संख्या का ठीक अनुमान करने के लिये भी काम में लाया जा सकता है।

चित्र नं० ६१



घातक पाण्डुमे रक्ताणु संख्यादर्शक महराब

चित्र परिचयः—

साधारण सीमाओ का अधिकतम औसत व्यास—×···×

साधारण सीमाओ का न्यूनतम औसत व्यास—०···०···०

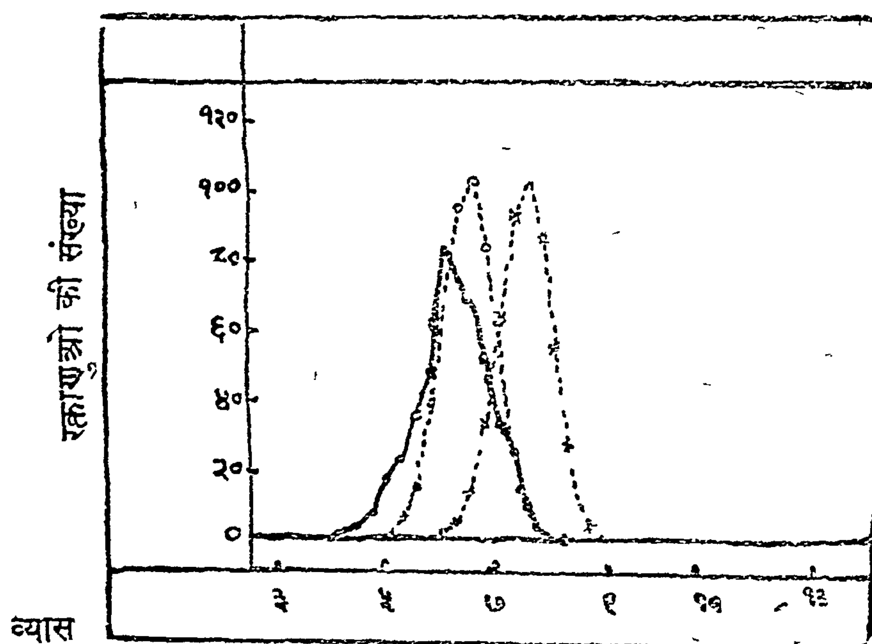
घातक पाण्डु का रक्ताणुसंख्या दर्शक व्यास—०–०–०–०

स्वस्थावस्था मे भी रक्त के भीतर रक्ताणुओ की संख्या भिन्न भिन्न अवस्थाओं में भिन्न भिन्न पायी जाती है। बच्चेके जन्म के समय यह ५२ से ५६ लक्ष प्रति घन मि० मी० होती है, और एक सप्ताहके बालक मे यह कम होकर ४० से ५० लक्ष तक प्रति घन मि० मी० रह जाती है। मध्यमावस्था मे इसपर लिंगका बहुत प्रभाव पड़ता है। आदमी मे इसकी औसत ५४२८००० प्रति घन मि० मी० होती है। अनेक परीक्षणो के पश्चात् निश्चित किया गया है कि, स्वस्थावस्था में इसकी संख्या ५१००००० से ६३५०००० प्रति घन मि० मी० होसकती है। स्त्रियों में इनकी औसत प्रति घन मि० मी०

५०१२००० होती है। स्वस्थावस्थामें सीमा ३९४०००० से ६०८०००० प्रति घन मि० मी० तक होसकती है। रक्त रंजक द्रव्यका अनुपात मालूम करने के लिये सुविधार्थ इनकी संख्या ५०००००० मान ली गई है।

विविध व्याधियों मे रक्त के रक्ताणुओ की संख्या और आकृतिके सम्बन्धमे निम्नानुसार विभिन्न प्रकार से व्यतिक्रम प्रतीत होते हैं।

१. **रुधिर की अस्वाभाविक वृद्धि**—यदि रुधिर के उपादान द्रव्यों में किसी प्रकार का अन्तर न हो और रक्तवाहिनियों में रक्त का परिमाण बढ़ जाय, तो उसे रक्ताधिक्य (Plethora) कहते हैं। इस तरह की वृद्धि थोड़े समय के लिये ही होती है। उस समय नाड़ी भरी हुई (Fulness) भासती है। नाड़ियो के तनाव का असर मस्तिष्क में होता है।



चित्र नं० ६२
लवणाम्लकी उत्पत्ति के अभाव युक्त सान्निपातिक पाण्डु में रक्ताणु संख्या दर्शक महरात्र

चित्र परिचय—

साधारण सीमाओ का अधिकतम औसत व्यास—×—×—
साधारण सीमाओ का न्यूनतम औसत व्यास—·· ०···०···०
लवणाम्ल की उत्पत्ति के अभाव युक्त सान्निपातिक पाण्डु मे रक्ताणु सख्या दर्शक व्यास ०—:—०—०

अर्शस्राव, नासारक्तस्राव, रजःस्राव आदिका रोध होजाने पर देह में रुधिर परिमाण बढ़ जाता है। किसी अग विशेषकी रक्तवाहिनीका छेदन

किया जाय और तत्काल रुधिर स्राव न हो सके (बन्धन आदि हेतुसे), तो सर्वाङ्ग में रुधिर का परिमाण बढ जाता है। किन्तु यह उपस्थित रुधिर सत्वर देहके भीतर शोषित हो जाता है।

रुधिर को अद्रवणीय श्वेत प्रथिन (Fibrin) से रहित बनाकर अन्तःक्षेपण किया जाय, तो रुधिराधिक्य होजाता है। उपयुक्त यन्त्र द्वारा रक्तवाहिनी में रुधिररसका प्रवेश कराया जाय, तो रक्तमे जलीयअंश की वृद्धि (Polyemia serosa) होजाती है। किन्तु इस प्रकार मे थोड़े ही समय पेशाब द्वारा बढ़ा हुआ जल निकल जाता है। एवं अत्यधिक जलपान करने पर भी रक्त मे जल बढ़ जाता है। वह भी सत्वर पेशाब द्वारा निकल जाता है और पुनः स्वाभाविक अवस्था की प्राप्ति होजाती है।

इनके अतिरिक्त वृक्क रोग होने पर उसकी स्रावण क्रियाका ह्रास होता है, या लोप होजाता है। इस हेतुसे भी रक्तमे जलीय अंश बाहर निकलने मे न्यूनता होती है। या अभाव होता है। फिर जल वृद्धि मय रक्ताधिक्य (Hydraemica plethora) की संप्राप्ति होती है। परिणाममें सर्वाङ्गिक शोथ उत्पन्न होता है। इस प्रकार मे केवल जलीय अंश बढ़ता है। अन्य उपादानमे अन्तर नही होता।

विसूचिका की शीतावस्था में थोडे समय के लिये रक्ताणुओं की संख्या वृद्धि (Polycythamia) होजाती है।

२—रक्तमें से शुभ्रप्रथिन का ह्रास (Hypalbuminosis) इस प्रकारमें रक्त के भीतर से शुभ्र प्रथिन का परिमाण कम होजाता है। इस हेतु से भी जलीय अंश बढ़ जाता है। यह लक्षण जीर्ण पचन क्रिया, अति जीर्ण-अतिसार, रक्तातिसार, पूयमय जीर्णरोग, स्तनपान, बार बार रक्तस्राव, वृक्क प्रदाह से पेशाब में शुभ्र प्रथिन जाना आदि रोगो मे उपस्थित होता है।

३—रुधिरका ह्रास—अनेक कारणो से देहमें से रक्तके परिमाण का ह्रास होता है। रक्तस्राव के हेतुसे रुधिर कम हुआ हो तो रक्ताणु संख्या का ह्रास (Oligocythemia) होता है। कारण, रुधिर मे रक्ताणु के अतिरिक्त अन्य उपादान द्रव्यो की सप्राप्ति सत्वर होजाती है। यदि रुधिर स्राव अत्यधिक हुआ हो, तो शुभ्रप्रथिन का ह्रास या नीरक्तावस्था (पाण्डु) उपस्थित होता है। विविध प्रकार के ज्वर, पाण्डु (Anaemia) और हलीमक (Chlorosis) में रक्त कम होजाता है।

पाण्डु, शारीरिक निर्बलता (Cachexia), जीर्ण आमवात तथा बिसूचिका रोग में रुधिर में से क्षार का ह्रास होता है । एवं हलीमक में वर्ण द्रव्य अत्यधिक मात्रा में कम (रक्तरंजक ह्रास Oligo chromemia) होजाता है । हलीमक के प्रारम्भ मे रक्ताणुकी सख्या में अधिक न्यूनता नहीं आती। रक्ताणुओं का रंग मैला होजाता है । श्वेताणुओ की सख्याभी स्वाभाविक बनी रहती है ।

अत्यधिक रक्तस्राव के पश्चात् प्रारम्भ के कितनेक दिनो तक रक्ताणु और रक्तरजक स्वाभाविक की अपेक्षा आधे से भी कम हो जाते हैं; और श्वेताणुओ की संख्या बढ जाती है। रोग के अन्त में अति निर्बलावस्था आने पर रक्त के वर्ण द्रव्य की अपेक्षा रक्ताणुओ का परिमाण सत्वर बढ़ जाता है । एवं मोनीझरा, राजयक्ष्मा, विषमज्वर, वृक्कप्रदाह, कर्कस्फोट (Cancer) नागविष आदि जनित पाण्डु रोग मे रक्ताणुओ की संख्या और वर्ण द्रव्य, दोनों के परिमाण का ह्रास होता है, तथा श्वेताणु की संख्या में वृद्धि हो जाती है ।

सन्निपातिक पाण्डु रोग (Progressive pernicious anaemia) में रक्ताणुओ की संख्या अत्यधिक न्यून हो जाती है । यहाँ तक कि स्वाभाविक अवस्था की अपेक्षा $\frac{1}{10}$ हो जाती है, किन्तु रक्ताणुओं की आकृति बडी हो जाती है तथा रक्तरंजक की मात्रा भी बढ़ जाती है ।

पाण्डु रोग मे सामान्यतः रक्ताणुओ की आकृति स्वाभाविक की अपेक्षा छोटी हो जाती है । एव इस रोग में अनियमित आकार के रक्ताणु (Pecilocythemia) तथा अधिक वर्ण द्रव्यमय लघु रक्ताणु (Microcytes) भी प्रतीत हते है । विष द्रव्य का सेवन करने पर भी रुधिर मे रक्ताणु छोटे हो जाते हैं ।

श्वेताणु वृद्धिमय श्लैष्मिक पाण्डु (Leukaemia) मे रक्ताणुओं के वर्ण द्रव्य का परिमाण इतना अधिक कम हो जाता है कि, कभी कभी श्वेताणुओ की संख्या रक्ताणुओ के लगभग समान हो जाती है । रोग का प्रथमावस्था मे जब तक श्वेताणुओ की संख्या प्रवल श्वेताणुवृद्धि की अपेक्षा अधिक वृद्धि को प्राप्त न हो जाय, तब तक रोग निर्णय नहीं हो सकता । इस तरह यह रोग लसीका वृद्धि जन्य होने पर क्षुद्र लसीकाणुओ की संख्या बहुत बढ जाती है ।

रक्ताणु व्यास का वर्गीकरण दर्शक विद्युत रेखाचित्र ।

रक्ताणुओं के व्यास में परिवर्त्तन शुष्क फिल्मों द्वारा प्रतीत क्रिया

तथा नापा जाता है। इन फिल्मो को शुष्क करने के लिये तापका प्रयोग न करके सिर्फ हवा मे ही सुखा लेना चाहिये और फिर इनका स्थायीकरण करके जैनर के रंजकद्रव्य (Jenner Stain) द्वारा दो मिनिट तक रंजित कर स्रवित जल से धोकर सुखा ले। अन्त मे हल्के गुलाबी धावन (Aqueous Solution of Eosin) द्वारा दो मिनिट तक पुनः रंजित करले।

फिर एक कागज पर अणुवीक्षण यत्र का क्षेत्र चित्रित कर उसे १००० गुना बडा व्यास चित्र परिक्षेपक उपकरण (परिक्षेपक यन्त्र–Projection Apparatus) से बना लेवे। फिर पाँच सौ रक्ताणुओ का पैन्सिल की सहायता से रेखा चित्र बना ले। उन रक्ताणुओ के दो व्यास, अधिकतम और न्यूनतम एक काच की मिली मीटर स्केल की सहायता से०'५ मिलीमीटर में नाप ले और सीधे ही माइक्रोन (मीटर के दश लाखवे या मिलीमीटर के हजार वे हिस्से) मे व्यक्त करे। फिर गणित शास्त्र के नियमानुसार गणना करके इस प्रकार प्राप्त अंको का विच्युत रेखा-चित्र बना ले।

साधारणत. औसत व्यास की पंक्ति ६'६८६ से ७'७१८ माइक्रोन तक होती है; अतः मध्यस्थ व्यास ७'२० माइक्रोन माना है (प्राइस जोन्स)

आकृति नं० ४९ का विच्युत रेखाचित्र—एक स्वस्थ स्त्री में ५०० रक्ताणुओ का साधारण औसत व्यास ७ २४ माइक्रोन प्रदर्शित करता है। दक्षिण हाथ की तरफ के कल्पित चित्र की साधारण सीमाओं का अधिकतम औसत व्यास के विच्युत-रेखा-चित्र की सीमा (७'७१८ माइक्रोन); और इसकी बाई तर्फ के चित्र की साधारण सीमाओ का न्यूनतम औसत व्यास की सीमा ६'६८६ माइक्रोन है। इन सीमाओ से पक्ति बाहर हो तो उसे अस्वाभाविक समझना चाहिये। जिन रक्ताणुओ का व्यास इन सीमाओ से बाहर होता है, उनकी गणना करके स्थूल रक्ताणु वृद्धि (Megalocytosis) या सूक्ष्म रक्ताणु वृद्धि (Microcytosis) के परिमाण की गणना करना सम्भवित है।

परिवर्त्तन शक्ति के . अक की स्वस्थ पंक्ति, जो कि उपस्थित विषमाकार रक्ताणु (Anisocytosis) के ५'३३ से ७'३२ प्रतिशत परिमाण तक गणिताक देती है, अतः मध्यम औसत ६'३३ प्र० श० होता है।

चित्र नं० ५०—घातक पाण्डु मे औसत का अनुपात ऊंचा होता है (८'३१ माइक्रोन) एवं परिवर्त्तन शक्ति के औसत योजक अक १२' प्रतिशत भी हो जाता है। डाक्टर प्राइस-जोन्स के मतानुसार उच्च परिवर्त्तन शक्ति उच्च औसत व्यास की तुलना मे अक्सर ज्यादा अपरिवर्त्तन शील है, हालाकि

इसकी प्रकृति निर्देशकता न्यून है। जिस अवस्था को यहाँ चित्रित किया गया है उसमें औसत व्यास ८'४५ माइक्रोन है, और परिवर्त्तन शक्ति का योजन अंक १३'२ प्र० श० है।

यह उच्च परिवर्त्तनशील शक्ति रेखा चित्र नं० ५० के चौड़े तल मे चित्रित की है। यह विषमाकार रक्ताणु के उच्च परिमाण को प्रदर्शित करने वाला गणिताक है। यथर्थ में प्रतीत होता है कि स्थूल रक्ताणु वृद्धि (Megalocytosis) के विच्युत रेखा-चित्र की नोक गणित द्वारा प्राप्त रेखा चित्र के दक्षिण हाथ की सीमा से बाहर गिरती है।

चित्र नं० ५१—लवणाम्ल उत्पत्ति के ह्रासमय स्वाभाविक पाण्डु (Idiopathic Hypochromic Anaemia) में रक्तरञ्जक का ह्रास होता है तथा सूक्ष्म रक्ताणुओं की उत्पत्ति होती है। जिससे इस विकार में औसत व्यास स्वाभाविक व्यास से न्यून हो सकता है, परन्तु यह साधारण सीमाओं मे ही गिरता है। डा० प्राइस जोन्स ने आठ रोगियों की परीक्षा करके औसत व्यास की पंक्ति ६'२ माइक्रोन से ६'७ माइक्रोन तक निर्धारित की है। इन सबमें ६ से ३७ प्र० श० तक सूक्ष्म रक्ताणु वृद्धि (Microcytosis) थी। जिसकी गणित रेखा (चित्र नं० ५१ में) बाँई तर्फ सीमा से बाहर अवस्थित है। उसमें औसत व्यास ६'४६ माइक्रोन है।

२—श्वेताणुओं की संख्या गणना

(Enumeration of Leucocytis)

१—हैमोसीटोमीटर द्वारा गणना विधि—श्वेताणुओ की संख्या गिनने के लिये हैमोसीटोमीटर (Haemocytometer) के साथ एक विशेष प्रकार की नलिका (Pipette) रहती है। इसका प्रयोग रक्ताणुओं के गिनने की विधि के अनुसार ही किया जाता है, परन्तु इसमें मिश्रण कम हल्का बनता है। रक्त का मिश्रण बनाने के लिये जो तरल बनाया जाता है। उसके लिये सबसे अच्छा यह समझा गया है:—१ सी० सी० तीव्र शुक्ताम्ल (Glacial Acetic Acid) को १०० सी० सी० पानी में मिलावे। जिसमें पूर्व से ही "हरित रंग (Methyl Green)" या नील लोहित (Gentian) रंग मिलाकर आवश्यक वर्ण उत्पन्न करलिया है। इस तरलका महत्व इसलिये ज्यादा है कि, इसमे रक्ताणु विलीन हो जाते हैं। तथा श्वेताणुओ के जीवकेन्द्र (Nuclei) रंजित हो जाने से स्पष्ट विदित हो जाते हैं उक्त तरल में रुधिर का मिश्रण बना कर परीक्षक श्वेताणुओ को आसानी से गिन सकता है, तथा

इसके साथ ही एक एक संतान देनेवाले (Uniparous) तथा बहु संतान-दायी जीवकेन्द्र युक्त (Multiparous Nucleated) श्वेताणुओं की सख्या भी सामान्यतः जानी जा सकती है।

इसके लिये नलिका मे रुधिर ग्रहण करने से पूर्व यह आवश्यक है कि उसकी एक बडी बू द कान की चमडी से बाहिर निकलने दे। रक्त की नलिका में ०५ के अंक तक तरल भरले। नलिका के मु ह को पोछ लें फिर मिश्रण के तरल को ११ के अंक तक भर ले।

इस नलिका का व्यास ज्यादा होता है, इसलिये रक्त के बाहर निकल जाने का भय रहता है, इसलिये सर्वदा रक्त चूस लेने के पश्चात् नलिका को सीधी-लम्बी (Horizental position) रखनी चाहिये।

इसके पश्चात् पूर्वोक्त विधि अनुसार, नली को हिला कर मिश्रण बना लेना चाहिये। इस मिश्रण का अनुपात १:२० होता है। फिर इस मिश्रण की एक बूंद रक्ताणुओ के गिनने की विधि मे कहे अनुसार काच पट्टी पर डाली जाती है। फिर आच्छादन को भी उसी विधि अनुसार उचित स्थान पर स्थिर कर दिया जाता है।

श्वेताणुओ को सख्या मालूम करने के लिये प्रत्येक के १६–१६ भागो वाले १६ वर्गो (Squares) अर्थात् २५६ खंडो के श्वेताणुओं को गिना जाता है। चार-चार वर्गों की कतारो मे गिनने के स्थान पर १६–१६ वर्गों की कतार को एक साथ गिन लेना आसान है। अगर अणुवीक्षण यन्त्र का मंच, जिस पर काच पट्टी रक्खी जाती है, चलनशील हो तो इनको गिनने मे ज्यादा सुविधा रहती है।

प्रत्येक १६–१६ विभागो युक्त कतार मे के श्वेताणुओं की गिनती करते समय एक-एक सतानदायी और बहुत संतानदायी गोल जीवकेन्द्र वाले श्वेताणुओ की संख्या कागज पर अलग-अलग लिखते जाना चाहिये। ऐसा करने से परीक्षक को दोनो प्रकार के श्वेताणुओ की संख्या मालूम हो जाती है।

गणना—श्वेताणुओ की गणना भी ठीक रक्ताणुओ के समान ही की जाती है, परन्तु इसमे सर्वदा याद रखना चाहिये कि २५६ वर्गों मे से प्रत्येक वर्ग मे $\frac{१}{४०००}$ घन मि० मी० रक्त का मिश्रण है, और यह मिश्रण रक्ताणुओ की गिनने की विधि की तुलना मे बहुत हल्का है। उसका अनुपात १:१०० या १:२०० होता है, जब कि इसका १:१० या १:२० होता है। **उदाहृ-**

(Cord board) का टुकड़ा भी प्रयुक्त हो सकता है। इस प्रकार के धातु या कागज का टुकड़ा रखने का उद्देश्य यह है कि, नीचे रक्खी हुई काँच पट्टी का समचतुर्भुजाकार क्षेत्र ही दृष्टिगोचर हो और शेष उसकी आड में आ जाय। इसमें $\frac{1}{6}$ इञ्च का वस्तुताल काम मे लावे, तथा अणुवीक्षण यंत्र का मंच भी यान्त्रिक (गतिशील) होना चाहिये। मिश्रण के विन्दु का किनारा आसानी से प्रतीत किया जा सकता है, और फिर अणुवीक्षण यत्र के मंच को बाँये से दाये घुमाकर विन्दु के शिखर भाग मे स्थित सम्पूर्ण श्वेताणुओ को गिन लिया जाता है। इसके पश्चात् एक रक्तकण को लक्षित कर मिश्रण की विन्दु ठीक एक समचतुर्भुज नीचे खिसका कर उपर्युक्त प्रकार से बाये से दाये घुमाकर इस दूसरे समचतुर्भुज क्षेत्र के सम्पूर्ण श्वेताणुओं को ठीक गिना जा सकता है। इस प्रकार विन्दु के आरपार पीछे और आगे बढ़ते रहने से कोई भी श्वेताणु शेष नहीं रहता है। इस प्रकार मालूम किये हुए श्वेताणुओं की जोड़ ५ घन मि० मी० रक्त में जिसके मिश्रण का अनुपात १:२०० है, विद्यमान सम्पूर्ण श्वेताणुओ की संख्या है। प्रति घन मि० मी० शुद्ध रक्त में श्वेताणुओ की सख्या मालूम करने के लिये उक्त जोड को ४० का गुणयाङ्क कर लेना चाहिये।

प्लीहा वृद्धिजन्य श्वेताणुवृद्धि होने पर रक्त को २०० गुणे से भी ज्यादा हल्का करने की आवश्यकता पडती है, यह कार्य राइट की नलिका (Wright's pipette) की सहायता से आसानी से हो सकता है। इसके लिये मिश्रण की बोतल को हिला कर इस नलिका मे एक भाग मिश्रण ले लिया जाता है और फिर उसी मे ६ भाग हल्का करनेवाला तरल लेने से १:२००० अनुपात का मिश्रण तैयार हो जाता है। इस मिश्रणका ५ घन मि० मी० लेकर उसमें उपस्थित श्वेताणुओ को उक्त विधि से गिनकर; उस संख्या को $\frac{२०००}{५}$ =४०० से गुणा करने पर शुद्ध रक्त के श्वेताणुओ की संख्या मालूम हो जाती है।

सूचना—काम में लेने के पश्चात् रक्त के मिश्रण को हल्का करने वाली नली को अच्छी प्रकार स्वच्छ करना चाहिये। अगर इस पर ध्यान नहीं दिया जायगा तो दूसरे समय जब यह काम में ली जायगी, परीक्षक को काफी समय नष्ट करना पड़ेगा, तथा उसे झुंझलाहट भी होना संभव है। अतः उसे १. बाष्प जल; २. शुद्धमद्यार्क (अल्कोहोल) और ३. ईथर से क्रमशः धोले। और फिर उसमें पम्प से वायु की तरंग उस समय तक प्रवेश करावें, जब तक कि उसके अन्तर्गृह (chamber) मे स्थित काच

का गेंद वायु के साथ बिना दीवारों के साथ चिपके हुए स्वतन्त्रता से ऊपर-नीचे गति करने लग जाय। इन क्रियाओं में समय की मितव्ययता के लिए काच नलिका के ऊपर से रबर की नली हटाकर उसमें उपस्थित तरल को उसके चौड़े मुख से निकाल दे। अगर "एंटी फोर्मिन (Antiformin)" नामक कीटाणु नाशक विलयन की कुछ बूंदें नलिका मे चूसली जायँ तो उसमें उपस्थित सेंद्रिय पदार्थ शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।

अगर नलिका के सूक्ष्म भाग मे रक्त जम गया हो तो उसे घोड़े के बाल से निकाल डालना चाहिये। अगर रक्त नलिका में दृढ़ चिपक गया हो तो उसे अनेक समय तीव्र क्षार या अम्ल से धोकर साफ कर लेनी चाहिये; या कभी उसे "पेप्सीन (papsin)" द्वारा पचन कराया जाता है।

स्वस्थावस्थाके रक्तमें श्वेताणुओंकी संख्या—साधारणतय स्वस्थ युवा मनुष्य के प्रति घन मि० मी० रक्त मे लगभग ६००० श्वेताणु होते हैं। परन्तु इसके साथ ही यह भी सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि स्वस्थावस्था मे भी इनकी सख्या काफी घटती बढ़ती रहती है। बचपन के प्रारम्भ मे यह बहुत बढ़ जाते हैं। सामान्यतः युवा से दुगुनी (१२०००) की संख्या बच्चों के श्वेताणुओ की औसत मानी है। (यह १२ वे अध्याय में बालको की परीक्षा के अन्तर्गत दर्शाया जायगा) स्वस्थावस्था के रक्त में विभाजित जीवकेन्द्रयुक्त श्वेताणु और एक गोल जीवकेन्द्रयुक्त श्वेताणुओ का अनुपात २:१ का होता है।

श्वेताणु वृद्धि (Leucocytosis)—यह सर्वदा रोग संप्राप्ति दर्शक होती है। श्वेताणुओ की वृद्धि में मुख्यतः बहुजीव केन्द्र युक्त निरपेक्ष बृहदाकार श्वेताणु (Polymorphonuclear neutrophil) उपस्थित होते हैं। वे निरपेक्ष रगसे रजित होते हैं। अतः उस विकार को निरपेक्ष श्वेताणु वृद्धि (Neutrophia) कहते हैं। इसकी सम्प्राप्ति पूयोत्पादक सक्रमण (Suppurative infections), विसर्प, प्रलापक सन्निपात (Typhus), उपजिह्विकाप्रदाह (Tonsillitis), खण्डीय श्वसनक ज्वर (Lober pneumia) कर्कस्फोट जनित विव्रणता तथा परवर्त्ती आशुकारी रक्तस्राव और अति तेजी से बढनेवाले घातक अर्बुद या ग्रन्थि (Neoplasma) मे भी होजाती है।

श्वेताणुवृद्धिमय श्लैष्मिक पाण्डु (Leukaemia) में रक्तमें श्वेताणुओ की सख्या बढ़ जाती है। कभी कभी तो उतनी वृद्धि होती है कि यह सख्या रक्ताणुओं के समान होजाती है।

लसीका ग्रन्थियोंकी वृद्धि सह मिथ्या श्वेताणु वृद्धि (Pseudo leukaemia) रोग मे रक्ताणुओं की संख्या और रक्त वर्ण द्रव्य का परिमाण कुछ कम होजाता है। एवं श्वेताणुओ की सख्या मे वृद्धि नही होती।

श्वेताणु वृद्धिमय श्लैष्मिक पाण्डु मे श्वेताणुओ की क्या अवस्था हो जाती है। इसका वर्णन इसी प्रकरण में आगे श्वेताणु प्रकार मे किया जायगा।

३. रक्त की सूक्ष्म चक्रिकाओं की गणना।

(Estimation of platelets)

रक्तचक्रिकाएँ जीवन रस (Protoplasma) में अनियमित आकार के विन्दुओं के सदृश भासती है। ये रक्ताणुओ से लगभग आधे आकार की होती हैं। स्वस्थावस्था में रक्त प्रतिघन मि० मी० में इनकी संख्या १५०००० से ३००००० तक मानी जाती है और चक्रिका और रक्ताणुओ का अनुपात (Platelet ratio), १: १८ होता है।

रोग निदान के लिये इनकी गणना का कोई खास महत्त्व नही है। एवं इनकी सूक्ष्मता के कारण गणना करने मे कठिनाई भी होती है, अतः इसकी ओर विशेष ध्यान नही दिया जाता। यह रक्त जमाने मे काफी सहायता देती है इसलिये कुछ अवस्थाओ मे इसे गिनने की जरूरत पड जाती है। त्वचा के अन्दर या श्लैष्मिक कला से रक्तस्राव होनेपर रक्तकणिका संख्या ह्रास (Thromboacytopemia) हो जाती है। त्रिदोषज रक्त पित्त (Purbura) के कितनेक प्रकारो मे रक्तकणिका ह्रास का एक महत्व पूर्ण स्थान है। रक्तवाहिनियो में थक्का (Clot) वगैरह से अवरोध होने पर रक्तचक्रिकाओ की सख्या वृद्धि (Thrombocy thaemia) हो जाती है।

इनकी गणना करने के लिये कर्णपाली की त्वचा इथर(Ether) द्वारा साफ करले। पहले से ही साधारण नमक प्रवाही मे २ प्रतिशत "सोडियम साइट्रैट (Sodium citrate)" डालकर मिश्रण बनाने का तरल तैयार रखना चाहिए। कर्ण की त्वचा साफ करने के पश्चात् इस तरल की एक मोटी बूँद उस पर डाले। फिर विशुद्ध सूचिका द्वारा एक दम झटके से उसमें छेद करें ताकि रक्त सीधा ही उस तरल में निकल आये। पूर्व से ही त्वचा पर तरल लगा देने से चक्रिकाये इकट्ठी होकर जमने नहीं पाती। तथा रुधिर मिश्रण कर्ण पर ही तैयार हो जाता है। अब मिश्रण को ३ मि० मी० [illegible] ाका (Loop) से काच पट्टी पर

डालें, और उसे सम्हाल पूर्वक अच्छादन पट्टिका (Cover slip)" से ढक देवें। मिश्रण ऐसे परिमाण का लेना चाहिये कि वह कांच पट्टी और आच्छादान पट्टी के मध्य में समानता से फैल जाय और बाहर इधर उधर न लग जाय। फिर गतिशील मचवाले अणुवीक्षण यंत्र पर इसे स्थिर करके, १/१२ इञ्च वाले वस्तुताल से सिडर तैल लगा, तथा चक्षुताल पर, धातु या कागज का सम चतुर्भुज छेद वाला टुकड़ा रख, गिनती की जाती है। इस प्रकार अनेक क्षेत्रों में चक्रिका और रक्ताणुओं को गिनना चाहिए, इससे चक्रिका का रक्ताणुओं के साथ अनुपात आसनी से मालूम हो जाता है। परीक्षक को रक्तकणो की गिनती विदित होने पर आसानी से गणना की जा सकती है कि रक्त के प्रति घन मि० मी० मे चक्रिकाओं की संख्या क्या है।

४—रक्तरंजक की मात्रा का अनुमान।

(Estimation of Haemoglobin)

रक्त का लाल रंग रक्ताणुओं पर निर्भर है और रक्ताणुओं का वर्ण रक्तरंजक पर। पृथक् पृथक् देखने पर रक्ताणु लगभग पीले और एक साथ देखने पर लाल वर्ण के भासेंगे। जितने रक्ताणु अधिक होते है. रुधिर उतना ही अधिक लाल होता है, और जितने कम होते हैं, उतना ही रक्त कम लाल होता है, अर्थात् इस प्रकार कहा जा सकता है कि रक्तरजक की मात्रा के अनुसार ही रक्त का वर्ण अधिक लाल या कम लाल होता है।

रक्तरंजक की मात्रा मालूम करने के लिये अनेक प्रकार के यत्र प्रचलित हैं—

१—गोवर का रक्तरंजकमापक यंत्र (Gowers' Haemoglobinometer):—सर्व प्रथम इस यत्र के साथ ही आने वाली, अंकों से विभाजित परीक्षा-नली (Test Tube) मे कुछ बूंदे स्रवित जल की लें। फिर कर्णपाली से बड़ी बूंद रक्त को निकाल कर चिह्न तक काच नलिका (Pipetta) को भर लें। अब इस नलिका के मुख को परीक्षा-नली के स्रवित जल मे डालकर उसमे से सम्पूर्ण रक्त धीरे-धीरे पानी मे डाल दें। फिर रक्त और जल को मिला लें। फिर पानी की एक एक बूंद डालते जायें; और उसके रंग की तुलना समय समय पर प्रमाणित रंगवाली नलिका से करते जायें। यह प्रमाणित रंग नलिका (Standard Tube) रंजित सरेस (Tintedgelatin) से भरी जाती है और यह रक्तरंजक के उचित परिमाण

में होने पर उक्त विधि से बनाये हुए मिश्रण का रंग प्रदर्शित करती है। इसलिये दोनो नलिकाओं की तुलना करने पर रक्तरंजक के परिमाण का ज्ञान होता है। तुलना दो प्रकार से की जाती है:—(१) दोनों नलिकाओं को नेत्रों की सतह में पकड़ कर संप्रेषित प्रकाश (Transmitted Light) द्वारा और (२) दोनों नलिकाओं को एक कागज के टुकड़े पर एक दूसरे के पार्श्व में पकड़ कर प्रति फलित प्रकाश (Reflected Light) द्वारा। यह परीक्षा बदल रहित स्वच्छ प्रकाश मय दिन में योग्य प्रकाश द्वारा की जाती है। बूंद बूंद पानी को डालते रहने और समय समय पर प्रमाणित रंग की नलिका के साथ तुलना करने पर, जब परीक्षा-नली का रंग प्रमाणित नलिका के समान हो जाय, तब पानी डालना बंद करदें और परीक्षा-नली कितने अंको तक भरी है यह देखलें। उदा० अगर यह ६० के अंक तक भरी है तो रक्त मे रक्तरंजक ६० प्रतिशत विद्यमान है, ऐसा समझना चाहिये।

२—हैल्डन का हैमो ग्लो बिनोमीटर (Haldanes' Haemoglobinometer):—उपर्युक्त यंत्र से इसमें कुछ सुधार किया है। तुलना करने के लिये प्रमाण निश्चित करलिया गया है। इसमे पिक्रोकार्मिन* से रंजित सरेस के स्थान पर स्वस्थ मनुष्य के रक्त का एक प्रतिशत विलयन, जिसमे रक्तरंजक का औसत परिमाण हो, प्रयुक्त होता है जो कि कार्बोनिक ओक्साईड (Carbonic Oxide) से संतृप्त हो। इसमें प्राणवायु १८·५ प्रतिशत के समावेश की शक्ति होती है। जैसा कि फेरी साइनाइड की विधि से निश्चित किया गया है यह विधि निश्चित और स्थायी है।

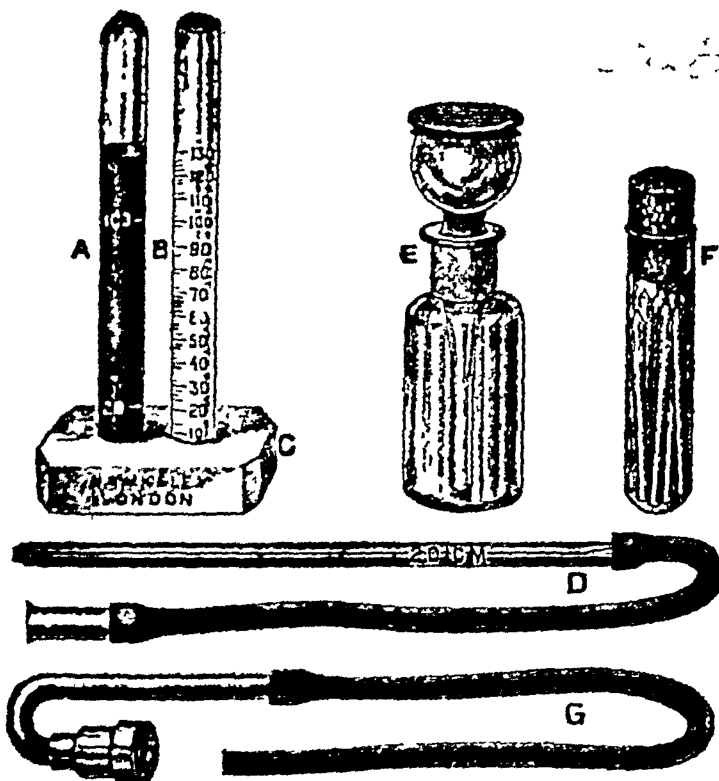
यत्र की प्रयोग विधि:—सर्व प्रथम विभाजित नलिका (B) मे स्रवित जल, रक्त को पतला बनाने के लिये, जितनी हो सके उतनी सुरक्षतता से डालें। फिर अंगुली या कर्णपाली में छुरिका (F) से छेद करके, पूर्व से ही स्वच्छ और शुष्क की हुई सूक्ष्म छिद्रवाली नलिका मे २० के चिह्न के कुछ ऊपर तक शीघ्रता से रक्त भरकर; उसके मुंह को स्वच्छ करलें; और

---

*पिक्रोकार्मिन मिश्रण (Picrocarmin M.):—

कार्मिन मिश्रम (Carmin Mixture) १ भाग
नौसादर (Ammonia) ५ भाग
वाष्पजल (Distilled Water) ५० भाग तक

तीनों को मिला लेवें। फिर उसे ५० भाग पिक्रिकाम्ल घोल (Aqueous Solution of Picric Acid) के साथ मिला लेवें।



चित्र न० ९६

हैल्डन का हैमो ग्लो विनोमीटर।

A. प्रमाणित रक्त विलयन, B. अंको से विभाजित मिश्रण बनाने की नलिका ; C. नलिकाओ को स्थिर रखने का रबर का स्टैण्ड ; D. सूक्ष्म छिद्रमय कॉचनलिका (Pipette) ; E. स्रवित जल की बोतल ; F. नलिका में दो धार वाली छुरिका , G. नलिका और उसका ढक्कन, गैस से जलने वाले दीपक के मुँह पर लगाने के लिये।

उसको किसी स्थान पर लगाकर रक्त की सीमा को ठीक चिह्न पर ले आयें। पश्चात् उस रक्तको विभाजित नलिका मे धीरे से डाल दें, जहाँ यह डूब जाता है, फिर सूक्ष्म नलिका को विभाजित नलिका के पानी से धोकर बाहर निकाल ले। तत्पश्चात् गैस के दीपक या कार्बोनिक ओक्साइड उत्पन्न करने वाले यंत्र से संबधित रबर नलिका का मुँह विभाजित नलिका में प्रवेश करें और पानी की सतह के पास पकड़े रहे, और गैस (Carbon Monoxide) को कुछ सेकण्डों के लिये तरल में प्रवेशित होने दें। ज्योंही गैस को निकालती हुई रबर की नली विभाजित नलिका से बाहर निकाली जाय, उसका मुँह अंगुष्ठ के अगले पोरवे से बन्द करके धीरे धीरे (जल्दी से नहीं) कम से कम १२ बार हिला देना चाहिये। ताकि तरल के प्रत्येक बार ऊपर नीचे होने से रक्तरंजक कार्बोलिक मोनाक्साइड से अच्छी प्रकार संतृप्त हो जाय। इस

क्रिया को करते समय विभाजित नलिका को कपड़े से पकड़ना चाहिये ; वरना वह गरम हो जायगा और अगुली हटा देने पर तरल जमीन पर फैल जायगा। इतनी क्रिया कर लेने पश्चात्, विभाजित नलिका मे सूक्ष्म नलिका की सहायता से एक एक बूंद करके पानी डाले ; और प्रत्येक बूंद डालने के पश्चात् उसे औंधी करके मिश्रित करते जायें, जब तक कि दोनों नलिकाओ (विभाजित और प्रमाणिक नलिकाओ) का तरल समान रंग का न हो जाय। इनकी तुलना सूर्य प्रकाश और प्रतिफलित कृत्रिम प्रकाश, दोनो से की जा सकती है। तुलना करते समय इनको आकाश से आते हुए प्राकृतिक प्रकाश या दूधिया रंग के सेड (Shade) से आते हुए कृत्रिम प्रकाश के विरुद्ध दिशा मे रखना चाहिये। दोनो नलिकाओं का स्थान परिवर्त्तन करके परीक्षा करना भी अत्यन्त जरूरी है। क्योंकि अगर ऐसा न किया जायगा तो गंभीर भूल हो सकती है। एकसा रग उत्पन्न होने पर अन्तिम बूद के मिलाने के आध मिनिट पश्चात् विभाजित नलिका जहाँ तक भरी हो, उसके अङ्क मालूम कर ले। तत्पश्चात् एक या आवश्यक हो तो दो बूंद डालकर तरलो के रंगो में असमानता उत्पन्न करके फिर से तुलना की जाती है। दोनो नलिकाओ के तरल के रंग की समानता प्रगट करनेवाले अंको मे से मध्य का अक सच्चा परिमाण दर्शक माना जाता है। इस परीक्षा में भूल होने की बहुत कम सम्भावना है और अगर हो भी जाय तो १ प्रतिशत से ज्यादा नहीं होती है।

स्वस्थावस्था में पुरुषों के रक्त मे उपस्थित रक्तरंजक का औसत परिमाण निकाल कर उसे रक्तरजक की शत प्रतिशत मात्रा मानली जाती है। औसतन स्वस्थावस्था मे मनुष्य के रक्त मे स्वस्थ स्त्रियो और बच्चो की अपेक्षा ज्यादा रक्तरंजक होता है। पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो में औसतन ८६ प्रतिशत और बच्चों मे ८६ प्रतिशत रक्तरजक द्रव्य होता है।

इस यंत्र से परीक्षा में विशेष लाभ—प्रथम यंत्र के स्थान पर इस परिष्कृत यंत्र से परीक्षा करने से निम्न तीन लाभ प्राप्त होते हैं। १—इसमे प्रमाणित तरल सर्वदा निश्चित होता है। इसलिये किसी भी समय बैल के रक्त, जिसकी प्राणवायु की धारणा शक्ति फेरी साइनाइड पद्धति अनुसार पूर्व ही से परीक्षित है, उससे तुलना करके यंत्र की यथार्थता मालूम की जा सकती है। २—इसमे प्रमाणित तरल स्थायी होता है ; ३—इस यत्र द्वारा प्राकृतिक और कृत्रिम, दोनों प्रकाशों द्वारा रक्तरजक की ठीक मात्रा जानी जा सकती है।

सूचना—अगर सूक्ष्म नलिका का मुख रक्त के जम जाने के

कारण बंद हो जाय तो नलिका के चौडे मुख से पीतल का तार या घोड़े का बाल डालकर उसे साफ कर लेनी चाहिये। परीक्षक को सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि इस मतलब के लिये लोहा या फौलाद के तार कभी काम में न लाये जायँ। नली को सुखाने के लिये हवा को इसमें से होकर चूसना चाहिये। इस सूक्ष्म नलिका के बारीक अग्रमुख को हमेशा प्रयोग करने से पूर्व ध्यान से देख लेना चाहिये। यह चिकना गोल होना चाहिये; अगर तीक्ष्ण और उभार युक्त हो तो समझ लेना चाहिये कि यह टूट गया है।

३—ओलिवरका हैमोग्लोबीनोमीटर (Olivers' Haemoglobinometer):—यह यंत्र रंग को नापने के सिद्धान्त पर डा० ओलिवर ने बनाया है। इससे रंग नापा जा सकता है। इसके प्रयोग में निम्न चार सुधार और कर दिये गये हैं।

१—इसमें एक गुने के स्थान पर द्विगुण प्रकाश (प्रेषित या प्रतिबिम्बित) का प्रयोग किया जाता है।

२—एक निश्चित सफेद पश्चाद् भूमि (White Back Ground) मानली गई है जिस पर रक्त का मिश्रण और प्रमाणित रंग दोनो रक्खे जाते हैं।

३—निश्चित क्रम की परंपराके अनुसार प्रमाण उपस्थित किये गये हैं।

४—रुधिर मिश्रण के रंग की तुलना कैमरे (Camera) में प्रमाणित तरल के रंग के साथ की जाती है।

इस यंत्र मे पहले की अपेक्षा काफी सुधार कर दिये गये हैं। इसके प्रयोग करने की विधि संशोधित यंत्र के साथ ही विस्तृत रूप से लिख दी जाती है। इसलिये अत्र वर्णन करने की आवश्यकता नहीं मानी।

सामान्य उपयोगार्थ गोवर के यन्त्र पर से संशोधित साहली (Sahli) का यन्त्र भी विशेष आदरणीय माना गया है। एवं इसके अतिरिक्त अन्य प्रकारके हैमोग्लोबिनोमीटर भी प्रचलित हैं, परन्तु अत्र उन सबका वर्णन करना बेकार मालूम पड़ता है।

स्वस्थावस्था मे भी अनेक अवस्थाओं के अनुसार और पुरुष, स्त्री के लिंग भेदानुसार, रक्तरंजक के परिमाण मे काफी भिन्नता पायी जाती है। पुरुष के स्वस्थावस्था के रक्त मे केशिकाओं मे एकत्रित होनेवाले रक्तरंजक का मध्यम परिमाण हैल्डन के हैमोग्लोबिनोमीटर से परीक्षा करने पर १०५ प्रतिशत होता है। यह परिमाण रक्त के १०० सी० सी० मे १४.५ ग्राम रक्तरंजक की विद्यमानता प्रगट करता है। पुरुष में परीक्षा द्वारा प्रतीत की हुई

सीमा ८६ प्रतिशत से ११६ तक है। स्त्रियों के स्वस्थावस्था के रक्त में कैशिकाओं में एकत्रित होनेवाले रक्तरंजक का मध्यम परिणाम ९८·३ प्रतिशत होता है। जो कि १०० सी० सी० रक्त में १३·६ ग्राम रक्तरंजक की विद्यमानता प्रगट करता है; तथा परीक्षा द्वारा प्रतीत की हुई सीमा ९० से ११० प्रतिशत तक है।

रक्ताणुओं में रक्तरञ्जक की मात्रा—इसके अतिरिक्त यह भी मालूम करना चाहिये कि, प्रत्येक रक्तकण में रक्तरंजक की मात्रा कितनी है। यह इसलिये जरूरी है कि, कभी कभी सम्पूर्ण रुधिर में विद्यमान रक्तरंजक का परिमाण कम और प्रत्येक रक्ताणु में रक्तरंजक की मात्रा (Normal) साधारण से ज्यादा हो जाती है।

ऐसा पाण्डु रोग के कितनेक प्रकारों में पाया जाता है। हलीमक (Clorosis) में रक्त के भीतर रक्तरञ्जक का परिमाण अत्यन्त न्यून हो जाता है और रक्ताणु का ह्रास अधिक नहीं होता। जिससे रक्ताणुओं का रंग मलिन भासता है। श्वेताणुओं का अनुपान प्रायः स्वाभाविक रहता है।

विसूचिका, प्रबल अतिसार, अतिवमन और अतिरक्तस्राव के पश्चात् जब रक्त में लवण जल का अन्तः सेचन किया जाता है, तब कुछ समय तक रक्त में रक्तरञ्जक की मात्रा रक्ताणुओं की अपेक्षा कम रहती है। इस तरह आशुकारी सार्वाङ्गिक शोथ में रक्त के भीतर जलीय उपादान की सत्वर वृद्धि हो जाने से रक्त में रक्ताणुओं की अपेक्षा रक्तरञ्जक का परिमाण न्यून हो जाता है।

ज्वर पश्चात् की निर्बलतामें रक्तरञ्जककी अपेक्षा रक्ताणुओंका परिमाण सत्वर वृद्धि होता है। ऐसी अवस्था में रक्तपौष्टिक औषध सेवन से अधिक रक्तरंजक विशिष्ट क्षुद्र गोलाकार रक्ताणु (Microcites) उत्पन्न होते हैं। इस अवस्था को डाक्टरी में क्षुद्र रक्ताणु वृद्धि (Microcytosis) संज्ञा दी है।

रक्ताणुओं में—रक्तरञ्जक (मात्रा निर्णय विधि—रक्ताणुओंकी प्रतिघन मिलीमीटर संख्या निर्णित करने के पश्चात् हिसाब करें कि, वह स्वस्थावस्था की अपेक्षा किस अनुपात में है? इसी प्रकार रुधिर में उपस्थित रक्तरंजक की मात्रा भी मालूम कर लेवें। इन दोनों की पारस्परिक निष्पत्ति प्रत्येक लालकण में रक्तरञ्जक की मात्रा दर्शाती है। उदा० किसी रोगी में स्वाभाविक अवस्था की अपेक्षा रक्ताणु २० प्रतिशत और रक्तरञ्जक १० प्रतिशत हो, तब रक्तरंजक प्रति रक्ताणु $\frac{१०}{२०}$ अर्थात् आधे परिमाण में माना जायगा। इस तरह की निष्पत्ति के हिसाब की सुविधा के लिये स्वस्थावस्था में

सामान्यतः रक्ताणु प्रतिघन मि० मीटर ५० लक्ष्य या १०० प्रतिशत माना जाता है।

सूचना—रक्ताणु, श्वेताणु, रक्तरञ्जक परिमाण आदि सब परीक्षा दिनके एक ही निश्चित समयमे रक्त निकालकर करनी चाहिये ; क्योंकि प्रातः मध्याह्न आदि काल तथा भोजन, जलपान, व्यायाम आदि से इसमें अस्थायी परिवर्त्तन हो जाता है। क्रोध, चिन्ता और प्रसन्नता का प्रभाव भी कुछ अंश में पहुँचता है। अतः रोगी को प्रसन्न रखते हुए परीक्षा करनी चाहिये।

५—रक्त की अणुवीक्षण यन्त्र से परीक्षा

रक्त परीक्षा—काँच-पट्टिका पर रक्त डालकर की जाती है। रुधि ग्रहण भेद से इसके दो प्रकार होते हैं।

१—अरंजित या ताजा (Unstained or Fresh) और २—रंजित (Stained)। अरंजित प्रकार के लिये रोगी के शरीर से जिस रूप में रक्त प्राप्त होता है, उसी रूप मे डालकर परीक्षा की जाती है। तथा रंजित रक्तविधि के लिये काँचपट्टिका पर रुधिर बिन्दु को फैला और सुखा कर रंगने के पश्चात् परीक्षा की जाती है।

(१) अरंजित या सद्यप्राप्त रुधिर की परीक्षाः—इस आसान और साधारण क्रिया को कभी नहीं भूलना चाहिये, क्योंकि इससे अनेक महत्त्व की सूचनायें प्राप्त हो जाती हैं। रुधिर ग्रहण करने के लिये काँच-पट्टिका पर आच्छादनकाँच पूर्व से ही रक्खे। उसके किनारे को काँच पट्टीके किनारे के समतोल रखें, फिर देह में से निकलनेवाले रुधिर को उन दोनों के किनारों पर लगा दें, ऐसा करने से रुधिर काँचपट्टी और आच्छादनकाच के मध्य में प्रवेशित हो जायगा। पश्चात् तत्काल काचपट्टी को अणुवीक्षण यंत्र पर स्थिर करें तथा मंच मे स्थित छिद्र को तंग करके परीक्षा करें।

इस प्रकार ताजे रक्त की परीक्षा करने पर अगर रक्त शुद्ध होगा तो रक्ताणु सिक्कों की गिड्डी के समान कतारो में प्रतीत हो जायेंगे, जिसके मध्य में कुछ स्थान दृष्टिगोचर होगा, और उस स्थान मे श्वेताणु और रक्तचक्रिकाओं के सूक्ष्म गुच्छे प्रतीत होंगे। अगर रक्ताणुओं के आकार और विस्तार तथा उनकी कतारो मे किसी प्रकार की अस्वाभाविकता हो तो उसे ध्यान से देखना चाहिये। रक्ताणुओं के रूप से परिवर्त्तन—नाशपाती के आकार का, दाँते युक्त या अंकुर युक्त होजाने को अपूर्ण आकार के रक्ताणु (Poikilocytes) संज्ञा दी गई है। रक्ताणु स्वाभाविक अवस्था से ज्यादा बड़े हो जाने पर स्थूल

रक्ताणु (Megalocytes),, और छोटे होजाने पर सूक्ष्म रक्ताणु (Microcytes) कहलाते हैं। विस्तार और आकृति में ये तीनो ही अस्वाभाविकतायें गम्भीर पाण्डु के किसी भी प्रकार में उपस्थित हो सकती हैं। अगर श्वेताणुओं की बाहुल्यता प्रतीत हो तो उसे भी देख लें। साथ ही रुधिर में अस्वाभाविक वस्तु (अस्वाभाविक श्वेताणु, रंग, विविध प्रकार के कीटाणु) की उपस्थिति भी प्रतीत करलें। श्वेताणुओं के अस्वाभाविक भेद रंजित परीक्षा में ज्यादा आसानी और स्पष्टता से प्रतीत होते हैं।

कभी कभी रक्तकणों के मध्य में किसी रंग के अणु भी प्रतीत होने लग जाते हैं। इसे कृष्ण वर्ण कणमय रक्त (Melanaemia) कहते हैं। यह अवस्था कभी कभी जीर्ण विषम ज्वर होने पर प्रतीत होती है। विषम ज्वर के आक्रमण के समय रक्त निकाल कर देखने पर इसके कीटाणु और उनके रंजक द्रव्य की हलचल भी आसानी से दृष्टिगोचर हो जाती हैं।

पुनरावर्त्तक ज्वर के पेचदार रोगाणु (Spirillum) निद्रारोग × (Sleeping sickness) के कीटाणु ट्राइपेनोसोमा (Trypanosoma)" रोगाणु तथा श्लीपद और स्नायु रोग के सूत्रकृमि (Filaria bancrofti) भी इस विधि से प्रतीत किये जा सकते हैं।

ये कीटाणु कम शक्तिशाली वस्तुताल से भी रक्ताणुओं में इधर उधर विचरण करते हुए देखे जा सकते हैं। इसके भ्रूण औसतन $\frac{1}{७५}$ इञ्च लम्बे और रक्ताणु के समान ही चौड़े होते हैं। यह आश्चर्यजनक लम्बे समय तक, साधारण ताप में भी, मुख्यतया इस काच पट्टी की रचना को थोड़े से वैसलीन (Vaseline) से सील करके सूखने से बचा लेने पर जीवित रह जाते हैं।

श्लीपद भ्रूण कृमि निदर्शन विधि—रुधिर की एक बड़ी बूंद को काचपट्टी पर सूचिका की सहायता से फैला कर सुखा लेने से, यह अनिश्चित समय तक सुरक्षित रक्खी जासकती है। जब कीटाणुओं का निदर्शन करना हो तो इस प्रकार सुखाई हुई काचपट्टी को संतृप्त मद्यार्क मय रक्त वर्ण

×**निद्रारोगः**—(Trypanosomiasis) इस रोग की संप्राप्ति विषाक्त मक्खियों के काटने से होती है। यह रोग आफ्रिका और अमेरिका में विशेष प्रतीत होता है। इस रोग में वातनाड़ियों की विकृति सह लसीका ग्रन्थियों की वृद्धि होती है। मृत्यु के पश्चात् शव को चीरकर देखने पर मस्तिष्कावरण प्रदाह प्रतीत होता है। इस रोग में अति निद्रा आती है। प्रयत्न करने पर भी रोगी निद्रा को नहीं रोक सकता। रोगी आलसी, निस्तेज और निर्बल बन जाता है।

(Alcoholic Fuchsin) की १ बूँद को १ औंस पानी मे डालकर तैयार किये हुए विलयन मे डुबोना चाहिये। एक या दो घण्टे तक लगातार कॉच पट्टी को इस विलयन से रंजित करना चाहिये। परीक्षा करने पर अगर कॉच पट्टी गहरी रंगी हुई प्रतीत हो तो चार बूंद ऐसेटिक एसिड (Acetic acid) को १ औंस पानी मे मिलाकर तैयार किये हुए हल्के विलयन से धोकर रंग को हल्का कर लेना चाहिये। तत्पश्चात् इस कॉचपट्टी को सुखाकर या गीली ही और आच्छादक कॉच सहित या इसके बिना ही परीक्षा की जा सकती है। कम शक्तिशाली वस्तु तालसे परीक्षा करने पर सूत्रवत् कीटाणु (Filarial) गहरे रंगे हुए स्पष्ट प्रतीत हो जावेगे। परीक्षक को सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि कुछ दिनों के पश्चात् यह कॉचपट्टी धीरे धीरे विवर्ण होजाती है। अगर परिणाम प्राप्त करने की शीघ्रता हो तो कॉचपट्टी को २ प्रतिशत नीले रंग (Methyline blue)" के विलयन से २ मिनिट तक रंजित करनी चाहिये। तत्पश्चात् उपर्युक्त विधिके अनुसार तैयार किये हुए "एसेटिक एसिड" के विलयन से इसका रंग हल्का करके, गीली ही कॉचपट्टी की कम शक्तिशाली वस्तुनाल से परीक्षा करनी चाहिये। अगर इस कॉचपट्टी को स्थिर रूप देना हो तो इसे सूखने दें, फिर बालसम (Balsam) की एक बूंद डालकर आच्छादक कॉच से ढक देवे।

२—रंजित परीक्षाः—इसमे कॉचपट्टी को विविध रंगो से रंजित करके अणुवीक्षण—यंत्र से परीक्षा की जाती है। रंजित कॉचपट्टी को डाक्टरी में फिल्म (Film) कहते हैं। यह कॉचपट्टी या आच्छादन कॉच दोनों मे से किसी से भी तैयार की जासकती है। कॉचपट्टी द्वारा फिल्म तैयार करने पर उसको वापस स्वच्छ करने तथा हाथ से इधर उधर उठाने करने में सुविधा रहती है, परन्तु अनुभवी परीक्षक के चतुर हाथों द्वारा आच्छादन कॉच पर तैयार की हुई फिल्म से ज्यादा सही परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। कॉच-पट्टी रंग रहित कॉच की, पतली और कुंठित (गोल) किनारो वाली होनी चाहिये। आच्छादन कॉच ⅞ इञ्च का सम चतुर्भुजाकार, और जितना सभव हो सके उतना पतला और नमनशील होना चाहिये। यह आवश्यक है कि कॉचपट्टी और आच्छादनकॉच बिल्कुल स्नेह (चिकनाहट) रहित हो। आच्छादन कॉच की चिकनाहट दूर करने के लिये कलईवाले लोह (एनेमल) के पात्र, जिसमें १० प्रतिशत का "क्रोमिक एसिड (Chaomic acid) का विलयन भरा हो उसमे उन कॉच को एक एक करके डाले, और उसे २० मिनिट तक उबाल लें। फिर उन्हे कम गहरे चीनीमिट्टी के पात्र में निकाल

कर उन पर से होकर पानी बहावे। जब यह रंग रहित होजाय तब पानी डालना बंद करके उन्हे स्पिरिट के भीतर डुबो देवें। और अन्त मे उन्हें चिमटी (Forceps) से विशुद्ध मद्यार्क से भरी हुई चौड़ी ग्रीवा की डाटवाली बोतल मे पटक दे। जब इन्हे काम मे लेना हो तब बोतल में से चिमटी से निकाल, मद्यार्क को सुखा, अवशेष को दीपक की ज्वाला से नष्ट करके, स्वच्छ कपड़े से पोंछकर काम मे लेने चाहिये। कॉचपट्टी भी इसी प्रकार विशुद्ध की जासकती है, परन्तु इन्हे सिर्फ ऊंचे दर्जे के सूक्ष्मतम पालिश पत्र (Emery paper) से पालिश करके काम लेने के समय तक विशुद्ध मद्यार्क में रख देना ही काफी है। कार्य मे लेने के समय काचपट्टी को विशुद्ध कपड़े से पोंछकर मद्यार्क को अच्छी तरह हटा देना चाहिये।

अगर साधारण कॉचपट्टी और आच्छादन कॉच को शीघ्रता से साफ करना हो तो क्रमशः तीव्र शुक्ताम्ल (Glacial acetic acid)" पानी और मद्यार्क से धोकर शुद्ध कर सकते हैं।

फिल्म बनाने की विधिः—पहले ही लिखा जा चुका है कि यह आच्छादन कॉच और कॉचपट्टी, दोनो से तैयार की जासकती है। इसलिये इनका पृथक् पृथक् वर्णन करते हैं।

१—आच्छादन कांच की फिल्म—आच्छादन कॉच को कभी भी अंगुली से नही छूना चाहिये। इनमे से दो को चीमटी की सहायता से बाहर निकालकर मद्यार्क को सुखा ले। इनको एक कोण पर हाथ के अगूठे और दूसरे कोण पर तर्जनी और मध्यमा से भी पकड़ सकते हैं; परन्तु इसके लिये हाथ के स्थान पर चिमटी का प्रयोग करना ही ज्यादा श्रेष्ठ रहेगा। दोनों आच्छादन कॉच की पट्टियो को आकृति में दर्शित स्थिति के अनुसार ऊपर नीचे रखना चाहिये। नीचेवाले आच्छादन कॉच को कुंठित नोकवाली से और ऊपर के आच्छादन कॉच को बारीक नोकवाली चिमटी से पकड़ना चाहिये।

कर्णपाली को मद्यार्क से धो सुखाकर छेद करे। इस प्रकार निकली हुई रक्त की प्रथम बूंद को कर्ण पर से पोंछ डाले, और जब बड़ी पिन के सिर के समान मोटी दूसरी बूंद निकल आये, तब ऊपर के आच्छादन कॉच को बूँद के शिखर से स्पर्श करादे। इससे रक्त उस पर लग जायगा। फिर इसे बिल्कुल हल्के हाथ से नीचे के आच्छादन कॉच पर कर्णाकार (Diagon-ally) रखदे। जिससे रक्त दोनो कॉचो के बीच मे फैल जायगा। इसके पश्चात् शीघ्रता के साथ दोनो कॉचो को पृथक् पृथक् करले। पृथक् करने मे

किसी प्रकार का दबाव या खिंचाव प्रयुक्त नहीं करना चाहिये। अगर दोनों कॉचों को पृथक् करने में देरी होगी तो ये आपस में चिपक जायंगी और फिल्में बेकार हो जायँगी। अगर इसमें अधिक जल्दी की जायगी तो अच्छी तरह रक्त न फैलने से फिल्म छोटी और जाडि रह जायगी।

२—कॉच पट्टी की फिल्म—इसके लिये विशुद्ध की हुई दो कॉच पट्टी चाहिये। इनमें से एक के किनारे पर रक्त की बूँद लेकर उसे बाँये हाथ के अंगुष्ठ और तर्जनी के मध्य में पकड कर किसी स्थिर और चिकनी वस्तु जैसे पोलिश की हुई मेज पर रख दें। दूसरी कॉचपट्टी का कम चौडा किनारा ४५° का कोण बनाता हुआ रुधिर की बिंदु पर उस समय तक रक्खा रहने दें, जब तक कि रुधिर इसके एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल जाय। तत्पश्चात् इसे प्रथम कॉचपट्टी की सम्पूर्ण लम्बाई पर बहुत धीरे और हल्के हाथ से फेर दें। इसमें इस बात का पूर्ण खयाल रक्खें कि दोनों कॉचपट्टी पर किसी प्रकार का दबाव न डाला जाय। इसके लिये द्वितीय कॉचपट्टी को कुछ ऊपर ४०° के कोण पर अंगुष्ठ तथा तर्जनी और मध्यमा अगुली के बीच में पकड कर सिरों को टेबल पर टेंक दें और फिर उसको प्रथम कॉचपट्टी पर चलादें। इस कॉचपट्टी को जितनी धीरे फेरी जायगी, उतनी ही फिल्म पतली बनेगी। कॉचपट्टी पर रक्त आसानी से फैल जाय इसके लिये प्रथम कॉचपट्टी को रक्त ग्रहण करने से पूर्व, स्पिरिट लैम्प (Spirit lamp) पर साधारण गरम कर लेना चाहिये। रक्त के फैला देने के पश्चात् कॉचपट्टी को हवा में हिलाकर सुखा लें ताकि रक्ताणु संकुचित न होने पावें।

फिल्म को स्थायी बनाना:—फिल्म चिरस्थायी रह सके, इसके लिये रंगने से पूर्व कुछ क्रिया की जानी है। इनको सुखाकर या गीली ही स्थायी की जासकती है। गीली ही को स्थायी करना हो तो उसे "फोरमल (यह फार्मल्डी हाइड Formaldehyd को पानी और मद्यार्क में मिलाकर बनाया जाता है) की वाष्प में २० मिनिट खुला रख देना चाहिये, सूख जाने के पश्चात् स्थायी करने के लिये १५ मिनिट तक विशुद्ध मद्यार्क में डुबोये रखना चाहिये। जब काचपट्टी "जैनर (Jenner)" और "लॉइसमैन Leishman)" की विधियों से रंजित करना हो तो उसे सुखा कर ही स्थायी करना चाहिये। क्योंकि इन विधियों में रंग द्रव्य मैथिलेटेड अल्कोहोल (Methyl Alcohol) में मिश्रित होते हैं।

फिल्मकी रंजनविधि:—निम्न दो विधियों में से किसी भी विधि से फिल्म को रंजित करने पर विश्वासनीय परिणाम प्राप्त होता है।

जैनर का रंगः—इसमें ½ प्रतिशत रंग का विलयन होता है। जो नीला और गुलाबी (Methyline Blue & Eosin) रंग को विशेष प्रकार से मिलाकर बनाये हुये कणों को शुद्ध मैथीलेटेड अल्कोहोल मे मिश्रित करके तैयार किया जाता है। फिल्म साधारण प्रणाली द्वारा आच्छादन कॉच पर बनायी जाती है। ज्योंही यह सुखाली जाती है, उक्त रंजक विलयन की कुछ बूंदे इस पर डाली जाती हैं, और उसे घडी के कॉच से ढक दी जाती है। ताकि रंजक द्रव्य वाष्प बनाने और नीचे जमने न पायें। यह विलयन एक से चार मिनिट के बाद फेक देना चाहिये। तत्पश्चात् इसे स्रवित जलमें हलका गुलाबी रंग उत्पन्न हो जाने तक (५–१०सैकण्ड) धोवें। फिर इसे दीपक की ज्वालाके कापी ऊपर रखकर या सिर्फ हवामें इधर-उधर लहराकर सुखालें। फिर इस पर जाइलॉलबालसम (Xylol Bolsam) लगाकर अणुवीक्षण यंत्र में स्थिर करदे। फिर निरीक्षण करने पर अगर फिल्म अच्छी तैयार हुई होगी, तो रक्ताणु जली हुई मिट्टी के समान (Terracotta coloured) जीव-केन्द्र नीले, चक्रकाये सुन्दर नील लोहित (Mauve) अधिक जीवकेन्द्र युक्त-श्वेताणु (Polynuclear cells) और मज्जाणु (Myelodtes) के कण लाल, स्थूलाकृति-श्वेताणु (Mast cells) गहरे बनफशई तथा उद्भिद् कीटाणु (Bacteria) सूत्र कृमि (Filarial) और विषम ज्वर के परान्नभोजी कीटाणु नीले प्रतीत होंगे।

२. **लैइसमैन का रंगः**—इस विधि का प्रकाशन सबसे पहले डाक्टर रोमनोवस्की ने किया है। इस प्रकार मे क्षारीय रोग नाशक नीले और गुलाबी रग का मिश्रण प्रयोजित होता है।

विशुद्ध मैथील अल्कोहोल मे इसे आधा प्रतिशत परिमाण मे मिलाकर विलयन तैयार करे। फिर सुखाई हुई कॉच पट्टी या आच्छादक कॉच पर उस तरह लगावें कि, वह अच्छी तरह ढक जाय। इस बात को लक्ष्य में रखना चाहिये कि फिल्म के सम्पूर्ण पृष्ट पर रंजक द्रव समान परिमाण में ही रहें। एक मिनिट होने पर रजक द्रव मे दुगुण स्रवित जल पिपेटसे डालकर अच्छी प्रकार मिला दें। ७ मिनिट व्यतीत होने पर यह रंजक मिश्रण बाहर उडेल दिया जाता है। फिर उसे २ मिनट स्रवित जलमें डुबो दी जाती है। पश्चात् फिल्म को ताजे स्रवित जल से धो डाले और स्वच्छ शोषक पत्र (Blottingpaper) की साहयता से उसके ऊपरके पानी को सुखा डाले। फिर "जीलोल वाल सम" लगाकर अणुवीक्षण यंत्र पर स्थिर करके परीक्षा करे।

फिल्म की परीक्षाः—सफलता पूर्वक तैयार की हुई अच्छी फिल्म में

रक्ताणु सम्पूर्ण फिल्म पर समानतासे फैले हुये होने हैं और एक भी गुच्छा दृष्टिगोचर नहीं होता। कम शक्तिशाली वस्तुताल से ही, जीवकेन्द्र रंजित हो जाने के कारण, श्वेताणु प्रतीत हो जाते हैं; इससे इनकी अनुपातिक संख्याका अनुमान लगाया जा सकता है। श्वेताणुओंकी सूक्ष्म परीक्षाके लिये अधिक शक्तिशाली वस्तुताल जो विशेष रूप से तैयार किये हुये जल या सिडर तेलमें डुबोया हो, उस का प्रयोग करना चाहिये। बहुत सी अवस्था में श्वेताणुओं के विभिन्न प्रकार की पार्थक्य सूचक गणना (Differential count) करना भी महत्वपूर्ण होता है, ताकि विभिन्न प्रकार के श्वेताणुओ की संख्या का अनुपात विदित हो सके। इसके लिये २०० से ५०० घटकों की गिनती करनी चाहिये; जो कि थोड़े से अभ्यास के पश्चात् १५ मिनिट मे आसानी से की जासकती है।

अक्सर यह भी जानना आवश्यक होता है कि रक्त के प्रतिघन मि० मी० मे उपस्थित श्वेताणुओं के प्रत्येक प्रकार की भिन्न भिन्न सख्या कितनी है? अगर ऐसा नहीं किया जाय तो एक प्रकार की आपेक्षिक वृद्धि या ह्रास को गलती से उसकी पूर्ण वृद्धि या ह्रास समझी जा सकती है। स्वस्थ व्यक्ति के युवावस्था के सम्पूर्ण समय मे अधिक जीवकेन्द्र युक्त श्वेताणु रक्तके प्रतिघन मि० मी: में लगभग ४००० होते हैं, जब कि लसीकाणु २००० ही होते हैं।

श्वेताणु प्रकार—श्वेताणुओं मे कण सहित (Granular) और कण रहित (Non granular), ऐसे दो प्रकार हैं। पुनः दोनों के ३-३ प्रकार होते हैं। निम्न ६ प्रकारो मे १,२,३, ये कण सहित तथा ४,५,६, ये कण रहित हैं। पहले तीन प्रकार के श्वेताणुओ का व्यास सामान्यतः १२ माइक्रोन; ४ थे प्रकार के परिवर्त्तित पारदर्शक श्वेताणुओ का १९ माइक्रोन; ५ वे प्रकार के स्थूल लसीकाणु का १२ माइक्रोन तथा ६ ठवे सूक्ष्म लसीकाणु का १० माइक्रोन होता है। रक्ताणु का व्यास सामान्यतः ७॥ माइक्रोन होता है। उसकी अपेक्षा सूक्ष्म लसीकाणु का व्यास लगभग ड्यौढा होता है। अधिक जीवकेन्द्र मय श्वेताणुओं की आयु औसत ४ दिन की और श्वेताणुओं की आयु १ दिन की अपेक्षा भी कम तथा रक्ताणुओं की जीवन मर्यादा लगभग ३० दिन की मानी गई है।

विविध प्रकार के श्वेताणु का अनुपात—निम्न जातियो के श्वेताणु स्वस्थावस्था के रक्तमे सामान्यतः निम्न अनुपात मे पाये जाते हे। (चित्र फलक नं० १०) देखें।

१—अधिक जीवकेन्द्र युक्त मध्यस्थ श्वेताणु (Finely granular oxyphils or polynuclear neutrophils) ये आकार मे बड़े और अनेक जीवकेन्द्र युक्त होते हैं। रक्तके श्वेताणुओं में इसकी संख्या

६० ६५ प्रतिशत होती है। इनकी उत्पत्ति लाल अस्थिमज्जागत घटको में से होती है, इनका आकार E. V. S. U. Z. इन अक्षरो के साथ प्रायः मिल जाता है। रक्तकी तीव्र पूयभाव की प्राप्ति होने विष प्रकोप या कीटाणु प्रकोप होने पर इनकी संख्या बहुत बढ़ जाती है।

अत्यन्त गहरे रंग का खंडित और स्पष्ट दिखाई देनेवाला जीवकेन्द्र और उसके चारो तरफ अत्यन्त फीका रंग का जीवन रस इस प्रकार के श्वेताणुओं की खास पहचान है।

२—अम्ल रंगेच्छु श्वेताणु (Coarsely granular oxyphils or eosinophils) इनमें गोल और अनेक विभागवाले जीवकेन्द्र होते हैं। यह जीवकेन्द्र के खण्ड परस्पर तारो से जुड़े हुये प्रतीत होते हैं। इनके जीवन रस में अनेक मोटे कण होते हैं। यही कण सम्पूर्ण जीवन रस मे ठसाठस में भरे रहते हैं; तथा ये ही इस प्रकार के श्वेताणुओं की खास पहचान है। ये अम्ल रंग से दृढ़ रंजित होते हैं। इनकी संख्या २ से ३ प्रतिशत होती है। श्वास, उदर कृमि आदि रोगो में इनकी सख्या बहुत बढ़ जाती है।

३—स्थूलाकृति मध्यस्थ क्षार प्रियश्वेताणु (Coarsely granular bosophils or Mast cells) इनके जीवकेन्द्र (nucleus) साधारण तया दोखण्ड युक्त होते हैं। जीवकेन्द्रो के भीतर कैन्द्रिक रस (cytoplasm) अति हल्के रंग का होता है। इनके जीवन रस के कण कनिष्ट आकार के संख्या में कम, क्षार प्रिय और नीलारुण रंग के होते हैं, और मध्यस्थ अम्ल रंग से रंजित होते है। इन श्वेताणुओं की संख्या आध प्रतिशत होती है।

४—वृहद् पारदर्शक जीवाणु (Large Hyalines or Large Mononuclears) इनके जीवकेन्द्र मे एक प्रकृति निर्देशक खड्डा होता है, या इनमें एक एक वृक्काकार का जीवकेन्द्र होता है कैन्द्रिक रस हल्का जालीदार होता है। ये मध्यस्थ अम्ल रंग से कुछ रजित होते हैं। इनकी ३ से ५ प्रतिशत होती है। ये श्वेताणु परिवर्त्तनशील होने से दानेदार श्वेताणुओं मे भी परिवर्त्तित हो जाते हैं। अतः इनको परिवर्त्तन शील (Transitional) भी कहते हैं। यह प्रकार वृहल्लसी कारण्ड और अनेक जीवकेन्द्र युक्त मध्यस्थ श्वेताणु के बीच के आकार का है। इनमें भक्षक वृत्ति (Phagocyte) अवस्थित होने से वे कीटाणु और विष को अपने जीवन रस में मिलाकर पचन कर जाते हैं।

५ बृहद् लसीकाणु (Large Lymphocytes or Large Nongranular Mononuclear):— इनमें एक गोलाकार या अण्डे के आकार का जीवकेन्द्र होता है। कैन्द्रिक रस मध्यस्थ अम्ल रंग से रंजित स्वच्छ प्रतीत होते हैं इन श्वेताणुओं मे कण नही होता। इनकी सख्या ५ से १० प्रतशित होती है। मलेरिया आदि मे इन की सख्या बढ़ जाती है।

६ क्षुद्र लसीकाणु (Small Lymphocytes or small Mononuclear Leukocytes):—ये छोटे होते हैं। इनका जीवकेन्द्र गहरा रंजित होता है यह जीवकेन्द्र उसके चारों ओर दृढ़ता पूर्वक रंजित कैन्द्रिक रस की धारा को छोड़कर करीब करीब सम्पूर्ण घटक मे फैल जाता है। ये मध्यस्थ अम्ल रंग से रंजित होते हैं। इन लसीकाणुओं की संख्या २०-२५ प्रतिशत होती है क्षय और दीर्घकालस्थायी रोगों मे इन की संख्या बढ़ जाती है।

इन श्वेताणुओं की आपेक्षिक संख्या मे उत्पन्न होनेवाले कुछ परिवर्तन पूर्व ही वर्णन कर दिये गये। श्वेताणु वृद्धि (Leukaema) के लसीका जन्य प्रकार में लसीकाणुओं की बहुत ज्यादा वृद्धि हो जाती है। चित्र फलक नंम्बर १२ देखें।

मज्जाणु या मज्जाणुसह प्लैहिक श्वेताणुवृद्धि (Myeloid or Spleno-Myeloidary Leukaemia):—में रक्त के भीतर अधिक जीवकेन्द्र युक्त श्वेताणु अम्ल रंगेच्छु श्वेताणु और स्थूलाकृति क्षारीय रंगेच्छु श्वेताणु की संख्या बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त रक्त में मज्जाणु प्रतीत होते हैं ये अकसर बृहद्आकारके होते हैं तथा इनमे एक गोल जीवकेन्द्र और कण होते हैं। इनमें कण मध्यस्थ कणेच्छु या अम्ल रंगेच्छु होते हैं। चित्र फलक न० १३ देखें। श्वेताणुओं की आपेक्षिक संख्या में ह्रास हो जाने को श्वेताणु न्यूनता (Leucopenia) कहते हैं। नियमानुसार श्वेताणु न्यूनता सबसे अधिक कणमय श्वेताणु (Granulocytes) मे होती है, उसे डाक्टरी मे कणमय श्वेताणु ह्रास (Granulocytopenia) संज्ञा दी है। ऐसा होने पर यथार्थमे कणरहित लसीकाणुओंकी आपेक्षिक सख्या बढ़ जाती है। श्वेताणुओं की न्यूनता निम्न अवस्थाओं मे उत्पन्न होती है।

१. संक्रमण होनेपर:—उदा० आन्त्रिकज्वर, क्रमशः बढ़नेवाले ज्वर और रोमान्तिका में। एव प्रादात्मिक लसीका ग्रन्थि प्लीहा आदिका वृद्धिमय विकार-(होज़किनका रोग (Hodgkins' Disease), पुनरावर्तकज्वर (Relapsing Fever), इन्फ्लूएन्ज़ा और आक्षेपज कोथमय कण्ठक्षत (Agranulocytotica) होने पर भी श्वेताणु ह्रास होत हैं।

२ अस्थिमज्जाक्षय होनेपर—जैसेमज्जाविकृतिमय पाण्डु (Aplastic Anaemia) तथा चिरकारी कोल्टार विष (Benzene) में इनके अतिरिक्त सुवर्ण, सल्फोमाइड वा फेनिल हाइड्रेज़िन से विषाक्त होने या राई के गैस से विषाक्त होने पर उत्पन्न पाण्डु मे ।

३ मज्जा द्वारा अस्वाभाविक रक्ताणुओंकी उत्पत्ति होनेसे श्वेताणु उत्पादक तन्तु सम्मिलित होने पर यथा, घातक पाण्डु और मूत्रमें पित्ताभावयुक्त कामला (Acholuric Jaundice) में ।

इस तरह रेडियम की किरणोंका देहमें प्रवेश करानेके पश्चात् भी श्वेताणु ह्रास हो जाते है । ये सब सम्प्रातिदर्शक (Pathological) श्वेताणुह्रास है । इनके अतिरिक्त वृद्धावस्था मे तथा उपवास करने पर श्वेताणु ह्रास होते हैं । इस प्रकार को इन्द्रिय क्रिया दर्शक (Physiological) श्वेताणु ह्रास कहते है ।

रक्ताणु परिवर्तनः—रुग्णावस्था में रक्ताणुओ मे अनेक परिवर्तनशील रक्ताणु उपस्थित होते हैं । चित्र फलक ११ देखें । यह परिवर्तन क्रिया निम्नोक्त बातो पर प्रभाव डाल सकती है:—

१. रक्ताणुओ के स्वरूप और आकृति पर—स्वाभाविक आकार के रक्ताणुओ के स्थान पर छोटे छोटे कोषाणु होते हैं, ये सूक्ष्म रक्ताणु (Microcytes) जीवकेन्द्र रहित होते हैं, या असाधारण स्थूलाकृति के रक्ताणु (Megalocytes) पाये जासकते है । मुख्यतया सन्निपातिक घातक पाण्डु मे । स्वरूप मे यह भेद हो जाता है कि गोल रक्ताणुओ के स्थान पर यह अण्डाकृति या नाशपाती आदि के समान हो जाते हैं । यह परिवर्तन होने पर विकृत रक्ताणुओ की वृद्धि (Poikilocytosis) कहलाती है ।

२. रक्ताणुओ की रजन शक्ति मे भी परिवर्तन हो सकता है । इसलिये यह स्वाभाविक अवस्था के अनुसार गुलाबी रंग (Eosin) से रंजित हो जाने के स्थान पर यह क्षारीय रग (Basic Dye] से रजित किये जा सकते हैं; और बनफशाई या नीलाभ हो जाते है । अतः इनको बहुरंगेच्छु(Polychromatophilia) सज्ञा दी जाती है । यह अवस्था विलोहितता के अनेक भेदोमे उत्पन्न हो जाती हैं; और विश्वास किया जाता है कि यह रक्ताणुओं की अपक्रान्ति (Degeneration) और मुख्यतया इनकी अपक्वावस्था का प्रतीक है ।

३. जीवकेन्द्रयुक्त रक्ताणु उत्पन्न हो सकते हैं । साधारणतया रक्ताणुओ मे

जीवकेन्द्र नहीं होते; परन्तु अनेक रोगों मे इनमें जीवकेन्द्र उत्पन्न हो जाते हैं। अगर जीवकेन्द्रमय रक्ताणु स्वाभाविक अवस्था के आकार के ही हों, तो ये "नोर्मोब्लास्ट्स (Narmoblasts)" कहलाते है। ये लसीकाणुओं से बहुत कुछ समान होने से भ्रम होनेकी सभावना है, इसलिये निम्नोक्त बातों पर ध्यान देकर उनकी पहचान करनी चाहिये। (१) नोर्मोब्लास्ट रक्ताणुओंके जीवकेन्द्र समान और गहरे रंगे होते हैं (२) जीवकेन्द्र के चारो तरफ कोषाणु का शरीर लाल रंगा होता है; (३) रक्ताणुओं का आकार एकसा होता है अर्थात् टेढ़ा-मेढ़ा नहीं होता। जब कि ये बातें लसीकाणुओं में नहीं पायी जाती।

स्थूलाकृति जीवकेन्द्र युक्त रक्ताणु (Megalobla ts)—अनेक रोगों में रक्ताणु स्थूल आकारके हो जाते हैं और साथ ही उनमे जीवकेन्द्र भी उत्पन्न हो जाते हैं। यहाँ तक कि यह स्वाभाविक रक्ताणुसे चार गुणे बडे हो सकते हैं। इनमें जीवकेन्द्र आपेक्षिक कुछ छोटे और प्राकृतिनिर्देशक विन्दुओं से अङ्कित होते हैं। कोषाणु का शरीर स्थूल होता है; तथा सर्वदा बहु रंगेच्छुपना प्रदर्शित करता है। इन स्थूलाकृति जीवकेन्द्र युक्त रक्ताणुओं की उत्पत्ति दुष्ट (सन्निपातिक) विलोहितता का मुख्य चिह्न है। चित्र फलक १४ देखें।

सूक्ष्माकृति जीवकेन्द्रयुक्त रक्ताणु (Microblasts):—स्वाभाविक अवस्था की तुलना मे रक्ताणुओं का छोटा जीवकेन्द्रयुक्त हो जाना। यह अति रक्तस्राव से अर्थात् अभिघातज विलोहितता के कारण उत्पन्न हो सकते है। परन्तु इसे कभी भी महत्व का चिह्न न समझना चाहिये।

जालदार या बाल रक्ताणु (Reticulocytes)—रक्ताणुओंकी प्रथमावस्था में ये जालदार होते हैं। इनको प्रतीत करने के लिये ताजे रक्त से बनाई हुई काँचपट्टी को स्थिर करने (Fixation):—से पूर्व उस पर मुख्य प्रकार के रंजक द्रव्य प्रयुक्त किये जाते हैं। रक्त परिभ्रमण मे उपस्थित रक्ताणुओं मे ये सबसे कम आयु के होते हैं। स्वस्थावस्था के रक्त मे इन रक्ताणुओं की संख्या १ प्रतिशतसे ज्यादा नहीं होती। जब रक्तकी शीघ्र पुनरोत्पत्ति और वृद्धि की आवश्यकता हो, तब इनकी सख्या बढ़ कर १५ से २० प्रतिशत पहुँच सकती है। ये बाल रक्ताणुओं से कुछ बड़े होते है और इनके केन्द्रिकरस मे सूक्ष्म कण और सूत्रोंसे निमित जालियाँ होती है। जो कि इनके रक्ताणुओं में परिवर्तन होने पर गायब हो जाती हैं।

इसके लिये सबसे तेजस्वी उत्तम रंजकद्रव्य "क्रैसीलब्ल्यू (Cresyl blue)" हैं। इसे ०·८५ प्रतिशत के हिसाब से "सोडियम क्लोराइड (Sodium-chloride)" के विलयन मे मिलाकर दो तह वाले फिल्टर पेपर से छानने के

पश्चात् केंद्रापसरण (Centri-fuge)* द्वारा विलयन के अधिक घन भाग को अलग करले। फिर ऊपर ऊपर के विलयन को स्टोक बोतल मे भर लें। प्रयोग करने के समय इस विलयन को थोड़ा-सा लेकर चार गुना २ प्रतिशत सोडियम-साइट्रेट (Sodium citrate) " वाले साधारण नमक के विलयन से हल्का कर लें। तत्पश्चात् कर्णपाली मे छेद करके रक्त की एक बड़ी बूद सूक्ष्मतम-नलिका मे चूस लें। फिर उसके सम परिमाण मे ही उक्त विलयन चूसले। इसे एक कॉचपट्टी पर निकाल कर अच्छी प्रकार से मिलाले, और फिर नलिकामे चूस उसे बंद (Seal) करके मनुष्य शरीर के समान तापांश पर ताप सचालक यंत्र + मे २० मिनट तक रखदे। फिर इससे पूर्व वर्णित विधि अनुसार फिल्म बनाकर, मैथिलेटेड अल्कोहॉल से स्थिर करके " जैमसाह (Giemsa) " के रंजक (१ मे २० की शक्ति से बनाये हुए) में २० मिनट तक प्रतिरंजित करके बाल रक्ताणुओं की गिनती अणुवीक्षण-यंत्र से करलें।

रक्ताणुओं की विन्दुमय अपक्रान्ति (Granular degeneration):—उस अवस्था को कहते है जिसमे किसी विष के प्रभाव से बाल रक्ताणुओ की जाल रचना टूटकर क्षार प्रिय कणों मे परिवर्तन हो जाता है। यह अवस्था प्रायः विभिन्न विलोहितता में प्रतीत होती और अवसर सीसा-विष उत्पन्न होने पर यह चिह्न महत्व पूर्ण है।

इस परिवर्तन को प्रतीत करने के लिये एक मुख्य प्रकार का रंजक द्रव-उन्नाका क्षारीय नील विलयन (Unna's alkaline methnline blue-solution) प्रयुक्त किया जाता है। इसे १ भाग " मैथीलीनब्ल्यू, " १ भाग " पोटाशियम कार्बोनेट " और १०० भाग पानी मिलाकर तैयार किया जाता है। सबसे पूर्व फिल्म को मैथीलेटेड अल्कोहोलसे स्थिर करलें। फिर

---

* केन्द्रापसरण:—इसके लिये एक प्रकार का यंत्र (केन्द्रापसारीयंत्र Centrifugal Machine) बना होता है जिसमे विलयन भर कर शीघ्रता से घुमाया जा सकता है। इससे विलयन के अन्दर का अधिक घनभाग तरल भाग से पृथक हो नीचे बैठ जाता है।

+ ताप संचालक यत्र (Inculator):—यह एक प्रकार का यंत्र है, जिस मे वस्तु को रख देने पर सर्वदा उसे समान और इच्छित ताप लगता है, इस का प्रयोग रोग विनिर्णय विज्ञान मे कीटाणुओ के उत्पन्न करने के लिये या किसी विलयन को कुछ समय तक समान ताप पर रखने के लिये किया जाता है।

सुखा कर १-१५ के हिसाब से हल्के किये हुए उक्त रंजक-द्रव से १५ मिनिट तक रंजित करें। तत्पश्चात् रंजक द्रव को पानी से उस समय तक साफ करते जायँ, जब तक कि फिल्म आसमानी हरी न हो जाय।

रक्ताणुओं की भंगुरता (Fragility):—लवण के घोल के भीतर रक्ताणुओ के रक्तरञ्जक के पृथक् होने की क्रिया मे प्रतिरोधक करने की शक्ति हीनता पर से उनकी भंगुरता प्रतीत की जाती है। इसके लिये साधारण खाने के नमक का ०·८५ प्रतिशत विलयन लिया जाता है, परन्तु जब तक इसे ०·४ प्रतिशत का हल्का न किया जाय तब तक स्वस्थावस्था के रक्त कणो का रक्त रञ्जक पृथक् नही होता। जीर्णकामला के अनेक भेदो मे रक्ताणु कम भंगुर हो जाते हैं। और ०·४ प्रतिशत से कम नमक के विलयन मे रक्त रञ्जक बहुत कम पृथक् होता है। कामला की एक अवस्था में, जिसे रक्त विनाशज कामला (Haemolytic icterus)" कहा जासकता है। उसमे रक्ताणुओ की भंगुरताबहुत बढ़ जाती है, जब इनका अधिक शक्तिशाली यहाँ तक कि लगभग "साधारण लवण जल (Normal saline)"* मे ही रञ्जक द्रव अलग हो जाता है। साधारणतया ०·६ प्रतिशत के विलयन या इससे अधिक शक्तिशाली विलयन मे रञ्जक द्रव पृथक् होना आरम्भ हो जाता है। रक्ताणु भगुरता की अस्वाभाविक वृद्धि रक्त विनाशज कामला का अत्यन्त स्थायी और एक प्रकृति निर्देशक मुख्य चिह्न है। क्यो कि इसके अतिरिक्त किसी भी स्थिति में रक्ताणु भंगुरता मे इतना अधिक परिवर्तन कभी नही होता।

रक्ताणुओकी भंगुरताके अनुमान करनेकी विधि—परीक्षा-नलिकाओ की दो लम्बी कतारे जमावे और प्रत्येक नलिकामे ५ सी० सी० नमकका साधारण विलयन डाले। फिर एक कतारकी प्रत्येक नलिकामे रोगीके रक्तको एक-एक और दूसरी कतारमें शुद्ध रक्तकी एक-एक बूँद डाले। इसके लिये आवश्यक नही है कि रक्ताणुओंको पृथक् करके सिर्फ उन्हे ही नलिकामें डाले। अपितु रोगीके शरीर से जैसा रक्त निकला, वैसा ही नलिका के अन्दर डाला जा सकता है। फिर नलिकाओ मे स्थित विलयन को ०·८ प्रतिशत से ०·२ प्रतिशत तक हल्का करें, परन्तु प्रत्येक दो नलिकाओ के भीतर स्थित विलयन मे ०·०५

---

* **लवणजल**—दुबारा स्रवित किये हुए जल में ८० ग्रेन साधारण नमक मिलाकर फ्लास्क मे एक पाइण्ट भर, वाष्प-ओटोक्लेव मे इसे ३० मिनट तक रख निर्जन्तुक कर लेने पर यह तैयार हो जाता है। ओटोक्लेव का वर्णन रुग्णपरिचर्या पृष्ठ १८६-१६० मे किया है।

प्रतिशत से ज्यादा अन्तर नहीं होना चाहिये, अर्थात् प्रथम नलिका में अगर ०·८ प्रतिशत का विलयन हो तो दूसरी मे ०·७५ प्रतिशत का और तीसरी में ०·७ प्रतिशत तक हल्का कर लेना चाहिये। इस तरह क्रमशः हल्का करे। इसे हल्का करने का सबसे आसान तरीका यह है कि एक नापने के गिलास (Burette) मे स्रवितजल और दूसरे में एक प्रतिशतवाला साधारण नमक-विलयन भरले। फिर प्रथम नलिकामे ४ सी०सी० नमकका विलयन और १ सी० सी० स्रवितजल मिलावें तो उसमे ०·८ प्रतिशतका विलयन होजायगा, फिरदूसरी नलिकामें ३॥ सी०सी० नमकका विलयन और १॥ सी० सी० जल मिलावें, इसी प्रकारआध-आध सी०सी० नमकविलयनको कम करते और आध-आध सी०सी० जल को बढ़ाते हुए क्रमशः दूसरी के पश्चात् तीसरी, चौथी आदि नलिकाओ में तब तक डालते जायँ जब तक कि अन्तिम नलिका में ०·२ प्रतिशत का विलयन हो जाय। हल्का करने के पश्चात् और फिर रक्तबूँद डालने के पश्चात् भी प्रत्येक नलिका को अच्छी प्रकार हिला देना चाहिये। अन्त मे नलिकाओ को कमरे के ही तापाङ्क पर उस समय तक स्थिर रख दिया जाता है जब तक कि सब अविकल रक्ताणु उसके तल में न जम जायँ। जिस ट्यूब मे रक्तरंजक पृथक् हो गये हों, उस ट्यूब के विलयन की शक्ति पढ़ ले।

रक्त में परान्नभोजी रोगाणुओ की परीक्षा—रक्त मे उपस्थित सूत्र-कृमि (Filarial) को प्रतीत करने की विधि पूर्व वर्णित कर दी गई है। परान्नभोजी रोगाणुओ के अनेक प्रकार हैं। इन सबके भ्रूण अपने माता-पिता की जाति से सम्बन्ध रखते हैं। ये भ्रूण रक्त मे स्वतन्त्रतासे रहते हैं (आकृति न० ५४), जबकि माता-पिता तन्तुओ (Tissues) और लसिका सरथा में रहते हैं। इनमे से एक प्रकारके श्लीपद रोगोत्पादक भ्रूण (F. Bancrofti आकृति न० ५३) का वर्त्ताव इस प्रकार है कि वे रक्त मे सिर्फ रात को ही पाये जाते हैं, और दूसरे प्रकार के भ्रूण (F. Diurna या Loa) जो पामा और शोथ उत्पादक है, और उनकी आकृति आधे अण्डे के समान है, वे सिर्फ दिन के अन्दर ही रक्त में पाये जाते है। जबकि सिर्फ दक्षिणी अफ्रीका मे पाये जानेवाले फाइलेरिया परस्टन्स (F. Perstans) के भ्रूण दिन और रात दोनो समय परिधिप्रान्त के (Peripheral) रक्त में मिलते हैं। इन सबका तात्पर्य यही है कि सग्रामपूर्ण रोगियो के रक्त की परीक्षा दिन और रात दोनो समय रक्त निकालकर करनी चाहिये। भिन्न-भिन्न प्रकारो की परीक्षा करने के लिये मुख्य-मुख्य क्रियाएँ की जाती हैं, परन्तु साधारण-निम्न चार बातो पर अवश्य ध्यान देना चाहिये—

१. रोगाणुओं के रक्त में उपस्थित होने का समय। २. उसकी गति की रीति। ३. उनपर किसी प्रकार का गिलाफ (Sheath) है या नहीं ? ४. उनके अवयवों के आकार व गुण।

विषमज्वर के कीटाणुओं को प्रतीत करने की विधिः—रोगी के शरीर से ताजा रक्त लेकर पूर्व वर्णित विधि अनुसार फिल्म बनावे। फिर 1/12 नम्बरवाले बालसम में डूबे हुए वस्तुताल द्वारा कमजोर प्रकाश डालकर परीक्षा करे। रक्त के रक्ताणुओं को देखें कि उनमें किसी प्रकारके काले धव्वे तो उपस्थित नहीं हैं ? अगर धव्वे उपस्थित हैं तो ये धव्वे अक्सर लम्बाकार होते हैं और इनमें स्थानान्तर कर सकने की गतिया होती हैं। इन धव्वों के चारों तरफ स्वच्छ क्षेत्र होते हैं। कुछ रक्ताणुओं के मध्यम 'अमीबा(Ameba)' के समान स्वच्छ क्षेत्र प्रतीत हो सकता है। जिसमें किसी प्रकार का रजक द्रव्य नहीं होता। अनेक हिस्सों में विभाजित कीटाणु भी दिखाई दे सकते हैं। यह प्रकार विषमज्वर के उन रोगियों में प्रतीत होता है, जिन्होंने क्वीनाइन नहीं खाया। इसकी अन्य जातियाँ चिरकारी या दुष्ट विषमज्वर में प्रतीत होती है। इन सब में निम्न दो जाति मुख्य हैः—

१. अर्द्धचन्द्राकार (Crescentic):—ये द्वितीया के चन्द्रमा के आकार के होते हैं और सिर्फ दुष्ट विषमज्वर में ही प्रतीत होते हैं। २. कोड़े के समान (Flagellated):—इनकी बनावट कोडे के समान होती है। ये आसानी से प्रतीत हो जाते हैं। प्रथम प्रकार के रोगाणुओं में विपथगामी होने की अनुपम शक्ति है। एवं ये कीटाणुओं से लम्बे होते हैं, किन्तु आडाई में २ माइक्रोन होते हैं। रंजक द्रव्य का अंश इस अवस्था में रोगाणुओं और साथ ही कितनेक साधारण श्वेताणुओं के भीतर भी प्रतीत होता है।

विषमज्वर के कीटाणु रक्त में शीतकंप लगने के ८-१२ घण्टे पश्चात् ही प्रचुर मात्रा में होते हैं। इसलिये इनकी परीक्षा के लिये इसी समय रक्त लेना चाहिये। इनकी परीक्षा में चतुराई और धैर्य की आवश्यकता रहती है। चातुर्थिकज्वर के कीटाणुओं का तृतीयकज्वर के कीटाणुओं से भेद निम्न बातों से किया जाता हैः—

१—चातुर्थिक ज्वर के कीटाणु तृतीयक से आकार में छोटे होते हैं।
२—इसमें उपस्थित रंजक कण अपेक्षा कृत अधिक गहरे होते हैं।
३—यह तृतीयक की अपेक्षा कम खण्ड युक्त होते हैं।

इसके अतिरिक्त विषमज्वर के कीटाणुओं की रक्त में

उपस्थिति जानने के लिये फिल्म को "लैइसमैन" के रंजक द्रव्य से रंजित करके भी अवश्य परीक्षा करनी चाहिये। इस रंजक द्रव्य से रंजित करने के विधि पहले इसी प्रकरण मे लिख दी गई है, तथा विषमज्वर के रंजित रोगाणु किस प्रकार के दिखलाई देते हैं।

निद्रारोग के कीटाणु (Trypanosoma) इन कीणाणुओं की समाप्ति विपाक्तमक्षिका (Glossina palpalis & G. Tachinoides) द्वारा अफ्रीका और अमरिका मे होती है। अभी तक ये मक्खियाँ भारत मे नहीं आई। किन्तु इस रोग से पीडित रोगी कभी कभी विदेश से आ जाते हैं।

इन कीटाणुओं के संक्रमण से अनियमित और चिरकारी ज्वर, त्वचा पर पीटिकाएँ, स्थानिक शोथ, ग्रन्थि प्रदाह (Adenoitis) तथा शारीरिक और मानसिक निर्बलता आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। इन कीटाणुओं का आक्रमण मस्तिष्क पर हो तो रोग जीर्ण होने पर बढ़ी हुई अवस्था में रोगी दिन मे निन्द्रा या तन्द्रा मे पड़ा रहता है।

इन कीटाणुओं को देखने के लिये ताजे रुधिर को ही काँचपट्टी पर लेवें अथवा स्थायी और रंजित करके फिल्म बना लेवें। ये कीटाणु रुधिर मे बहुत कम परिमाण मे उपस्थित होते हैं। इसलिये परीक्षा करने से पूर्व रक्त की केन्द्रापसरण (Centrifuge)" कर लेना चाहिये। इस क्रिया के करने से ये कीटाणु श्वेताणुओं के साथ एक पतली हलके रंग की सतह मे इकट्ठे हो जायेंगे। सर्वदा यह सम्भव नहीं होता है कि रोगी से इतना रुधिर निकाल लिया जाय कि साधारण सैन्ट्रिफ्यूज नलिका पूरी भर जाय। इसलिये परीक्षक विडाल की पिपेट के समान छोटी नलिका प्रयुक्त कर सकता है। आधी नलिका रुधिर से भरे और शेष भाग १ ग्राम सोडियम साइट्रेट और १०० सी० सी० साधारण नमक के विलयन के मिश्रण से भर देवे। पश्चात् नलिका का मुँह स्पिरिट लैम्प पर तपा कर बन्द कर दिया जाता है। फिर उसे केन्द्रापसरण यन्त्र की हैमाटोक्रिट भुजाओं मे रखकर घुमाई जाती है। १०—१५ मिनिट तक घुमाने पर उसमे एक स्पष्ट सफेद छल्लासा उत्पन्न हो जाता है। फिर एक रेती की सहायता के उस नलिका के छल्ला के लगभग आध घन मि० मी० ऊपर काट कर ऊपर का स्वच्छ तरल बाहर निकाल दें और सूक्ष्मतम नलिका की सहायता से उस सफेद छल्ले को आच्छादन काँचपट्टी पर लेकर परीक्षा करे। परीक्षा $\frac{1}{6}$ इंच वाले वस्तुताल तथा चौड़े चक्षुताल से करनी चाहिये; और अनुपस्थिति का निर्णय करने से पूर्व कम

से कम १५ मिनट तक उस कॉच की पट्टी की परीक्षा करनी चाहिये। ये कीटाणु अपनी गतियो से आकार की तुलना मे ज्यादा आसानी से पहचाने जा सकते हैं। क्योकि इनकी गतियाॅ ज्यादा स्पष्ट होती हैं। संदेहास्पद रोगियो के रक्त को अपूर्ण केन्द्रापसरण करना ज्यादा महत्त्व पूर्ण है, ताकि अधिक संख्या मे कोषाणु तल मे बैठ जॉय; इसके पश्चात् ऊपर के तरल को पीपैट (Pipettie) की सहायता से निकाल लें, और फिर उसे अन्य नलिका मे डालकर दूसरी वार केन्द्रापसरण करावे। इस प्रकार जो तलछट प्राप्त किया जायगा, उसके भीतर करीब करीब सम्पूर्ण निद्रा रोग के कीटाणु सम्मिलित हो जायॅगे।

फिल्म को साधारण "लैइसमैन" के रजक द्रव्य से रंजित करके स्थायी की जा सकती है। परन्तु अगर बारीकी से परीक्षा करने की आवश्यकता हो तो उसके लिये डाक्टर डट्टन और टोड (Dutton & Todd) की निम्न विधि प्रयुक्त करनी चाहियेः—

कॉचपट्टी पर रक्त को फैला सुखा कर तीव्र शुक्ताम्ल (ग्लेसियल एसिटिक एसिड) और दो प्रतिशत ओस्मिक एसिड (Osmic acid) को समान परिमाण में मिला कर तैयार किये हुए विलियन के वाष्प मे उसे ५–१५ सकण्ड तक खुली रखकर स्थायी करे। तत्पश्चात् उसे परिशिष्ट नं० २५ मे वर्णित रोम नौस्की (Romanowsky) के रजक-द्रव्यसे ३ से ६ मिनिट तक रंजित करे। इससे रंजित करनेमे कॉचपट्टी का मुॅह अर्थात् रक्तयुक्त तल ऊपर न रख कर नीचे रखना चाहिये। रंजित होने पर उसे निकाल कर पानी से धो-लें तथा हवा मे सुखाकर अणुवीक्षण यत्र से देखने के लिये व्यवस्थित करे। किन्तु इस कॉचपट्टीको अणुवीक्षणयंत्र पर सज्जित ही नही करनी चाहिये, क्योकि यह बालसम मे शीघ्रता से विलीन होने लगती है। इस प्रकार तैयार की हुई फिल्म में ये कीटाणु तकुआ के आकार के प्रतीत होते हैं, जिस के एक सिरे पर तंग और नाजुक लहराती हुई झिल्ली देखी जा सकती है। इनके शरीर के मध्य में रंजित द्रव्य के दो पिण्ड दृष्टिगोचर होते है। इन दो मे से जो बड़ा है वह जीवकेन्द्र है और ज्यादा आगे की तरफ रहता है छोटे को सूक्ष्म जीव केन्द्र (Micronucleus)कहते है। एवं डाक्टरी में इसे ब्लेफेरोप्लास्ट और सेण्ट्रोसम (Blepharoplast and centrosome) भी संज्ञा दी है। ये पीछे या इस कीटाणु के गोल सिरे के पास स्थित होते हैं, और इसके पड़ौस में जीवन रसके भीतर अक्सर एक गह्वर (Yacuole) होता है। इन सूक्ष्म केन्द्र मे से सुन्दर तन्तु निर्गत होता है तथा लहराती हुई झिल्लीके किनारे पर कीड़े

के समान लम्बा निकलता है। मनुष्य देह मे प्राप्त इन कीटाणुओं की औसत लम्बाई १७ से २५ माइक्रोन (कोडे सह जो ६-७ माइक्रोन का होता है) तथा चौडाई १॥ से २ माइक्रोन होती है।

ये कीटाणु रोग की अन्तिम अवस्थाओं मे मस्तिष्क सुषुम्णा के तरल (Cerebrospinal fluid) मे भी पाये जाते हैं। यह तरल कटिकशेरुका में छिद्र (Lumber puncture) करके प्राप्त किया जा सकता है। इसके प्राप्त करने की विधि १३वे अध्याय में दी जायगी। अगर इस तरल में ये कीटाणु उपस्थित हैं तो श्वेताणुओं की वृद्धि की वजह से यह तरल ज्यादा गँदला होता है। इसमे उपस्थित निन्द्रारोग के कीटाणुओं की परीक्षा के लिये सब से अच्छा तरीका यह है कि, इस तरल का केन्द्रापसरण कराके ताजे की ही परीक्षा ही की जाय। क्योंकि, इसमें उपस्थित कीटाणु रक्तग कीटाणुओं के समान स्पष्ट रंजित नहीं किये जासकते। यदि ग्रन्थियों की वृद्धि हुई है, तो उनमे छिद्र कर तरल की एक बूंद निकाल कर उसकी परीक्षा की जा सकती है। इस तरल मे ये कीटाणु प्रचुर मात्रा मे हो सकते है। अनेक रोगियो मे जिनके रुधिर मे ये कीटाणु प्रतीत न किया जा सके, उनके ग्रन्थियो के तरल मे ये आसानी से मिल जाते है। ये कीटाणु अक्सर रुधिर या सुषुम्णा तरल में अधिक सख्या में नहीं मिलते; और ऐसी अवस्था में कीटाणुओं की अनुपस्थिति का निर्णय उस समय हो सकता है, जबकि अन्तः क्षेपण के (Inoculation) के परीक्षण निकम्मे सिद्ध हो गये हो।

काला आजार के कीटाणु (Leikman Donovan Bodies)
ये कीटाणु छोटे गोल या अण्डाकार होते हैं। इनका व्यास लगभग ३ माइक्रोन है। इनकी प्रतीति कितनेक ज्वरो मे प्लीहा के रुधिर मे होती है। देह के बाहर ये बडे तन्तु के आकार के पैदा हो जाते हैं। ये लैशमन या रोमनोवस्की की विधि से रंजित होते हे, और इनमे तब दो रंजित पिण्ड प्रतीत होते हैं। एक पिण्ड बडा और दूसरा छोटा। छोटा पिण्ड बहुधा गहर से सम्बन्ध वाला होता है। ये कीटाणु लसीकाणुओं मे या जीवन रसमय वृहद् कोपाणुओं के अन्तर्गत मिलते हैं। इनकी परीक्षा के लिये सिरा मे से १० सी० सी० रुधिर निकाले। यह रुधिर सोडियम साईट्रेट डाला हुआ लोक्सके विलयन (Citrated Lock's Solution) मे निकाले और यंग और संट की विधि अनुसार केन्द्रापसरण करावे। विशेष निर्णयार्थ फिल्म बना लेवे। कृत्रिम रीति से उगाने सर अधिक परिमाण मे कीटाणु मिल जाते हैं।

इसके लिये प्लीहा मे छिद्र कर रक्त ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इस तरह की शस्त्रक्रिया किसी प्रकार से निर्भय नही होती।

६. रक्त की रश्मिक परीक्षा—(Spectroscopic Examination) रुधिर मे त्रिआङ्गारिक वायु (Carbon monoxide) के विष की उपस्थिति एक विशेष प्रकार के रश्मि-प्रक्षेपक यन्त्र (Spectroscope) से परीक्षा करके प्रतीत की जा सकती है। रोगी के अंगूठे मे सूचिका की सहायता से छिद्र करके रक्त की दो या तीन बूंदें अनेक सी० सी० स्रवित-जल मे ले ली जाती हैं। यह विलयन विलायती मकोय (Cherry-red) के रंग का होता है। कुछ विलयन को पतली चपटी कॉचनलिका में लेकर स्थिर होने दें। फिर इसे रश्मि-प्रक्षेपक यन्त्र से बीच मे रख दें। ऐसी सब परीक्षाओ मे यन्त्र को स्वच्छ आकाश की तरफ पकड़कर रखना चाहिये न कि सूर्य की तरफ। जब रश्मियाँ उसमें से गुजरती हैं तब विवध व्याधियो में रक्त के भिन्न-भिन्न भागों पर निश्चित चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। (चित्र फलक १७)। इस फलक मे दिखलाया गया है कि दो पट्टिकायें आङ्गारिक वायु और रक्तरञ्जक मिश्रित (Carboxyhaemoglobin) की प्रतीति होती हैं। ये प्राणवायु मिश्रित रक्तरञ्जक की पट्टिकाओ के समान होती है। प्राणवायु से मिश्रित आङ्गारिक वायु मिश्रित पट्टिकाओ का भेद जानने के लिये अमोनियम सल्फाइड (Ammoninm sulphide) की कुछ बूंदें डालें। इन बूंदो से उनमे किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं होता।

रक्त के जमने (रक्तसंहति, थक्का बनने) के समय का निरूपण— इस समय का निरूपण करने के लिये एक विशेष प्रकार का यन्त्र—राइट् का ओगुलोमीटर (Wright's coaugulometer) प्रचलित है। इस यंत्र की सहायता से शक्ति का ठीक निरूपण हो जाता है। इस यंत्र में अनेक संकीर्ण पतली सम व्यास की नालकाएँ होती हैं, जो पानी में डुबो कर मनुष्य शरीर के सम तापाक (३७° से०) पर रख दी जाती है। तत्पश्चात् एक निश्चित समय के अन्तर पर प्रत्येक नलिका में रक्त डाला जाता है; और निश्चित समय के बाद ही क्रमशः प्रत्येक नलिका को निकाल कर उसे औंधी कर एक बार नीचे उंडेलते हैं। ताकि यदि रुधिर न जमा होगा, तो वह बाहर निकल आयगा और जम गया हो तो नहीं निकलेगा। नलिका मे रुधिर भरने और जम जाने के मध्य के समय को थक्का बनने (संहति) का समय (Coagulation time) कहते हैं। स्वस्थावस्था में ३७° स० के तापाक पर यह समय लग भग ४ मिनिट का होता है। डेले और लेडलो (Dale & Laidlow) पद्धति अनुसार सामान्यतः १॥ से २ मिनिट लगती है।

८ रक्तस्राव के समय अनुमान
(Estimation of bleeding time)

रक्तस्राव के समय से यह अभिप्राय है, कि रक्त कितने समय तक बहता रहता है। इससे ज्ञात करने के लिये कर्णपाली में एक तेज सुई की सहायता से छिद्र किया जाता है। इससे रुधिर निकलना आरम्भ हो जायगा। प्रत्येक ३० सैकण्ड के पश्चात् शोषक पत्र (ब्लोटिंग पेपर) द्वारा कर्णपाली पर एकत्रित रुधिर बूंद को चूस लें। रक्त बूंदों को ब्लोटिंग पेपर पर क्रमशः एक रेखा में चूसते जाना चाहिये, और फिर अन्त में उनको गिन लेना चाहिये। जब रुधिरस्राव बंद हो जाय तब समय मालूम कर ले। रक्त निकलने के आरम्भ से स्राव बन्द होने तक जितना समय लगा है वही रक्तस्राव का समय है। स्वस्थावस्था में यह समय ४ से ५ मिनिट होता है; किन्तु रक्त पित्त (Purpura) तथा जन्मार्जित रक्तस्रावीय प्रकृति (Haemophilia) वालों में समय बढ़ जाता है। रक्तस्राव के समय का संहति निर्माण के समय से घनिष्ठ संबन्ध है। क्यों कि संघात (Clo) बने बिना रक्तस्राव का रुकना असम्भव है। इस लिये रक्तस्राव का समय बढ़ जाने पर थक्का बनाने का समय भी बढ़ जाना स्वाभाविक है।

रक्त का वर्गीकरण
(Blood grouping)

रोगी के शरीर मे स्वस्थ मनुष्य के रक्तको प्रविष्ठ करने का प्रचार बहुत हो गया है, वर्तमान मे इसे बहुत महत्व दिया जाता है। सब मनुष्यो का रक्त समान गुणवाला नही होता। इसलिये यह देखना आवश्यक होता है कि रोगी के रुधिर मे नूतन रुधिर उपद्रव तो उत्पन्न नही करेगा। कुछ मनुष्यो का रुधिर दूसरे मनुष्य से प्रविष्ट कराने पर उनके रक्ताणु चिपक कर गुच्छी बनने लग जाते हैं। ये गुच्छे अणुवीक्षण यत्र से आसानी से देखे जा सकते हैं, और इतने प्रचुर मात्रामे हो सकते हैं किबिना अणुवीक्षण यत्रकी सहायतासे दिखलाई देनेलग जाते हैं। यह क्रिया यहाॅ तक बढ़ जाती है कि रोगी के रक्ताणुओ का नाश हो जाता है। इसलिये अगर विपरीत वर्गवाले मनुष्य का रुधिर रोगी मे प्रविष्ट कराया जायगा तो परिणाम भयानक हो सकता है। रोगी में श्वास कृच्छता, हृदय प्रवेश में पीडा, रक्त मेह आदि भयानक रोग उत्पन्न हो सकते हैं और ज्यादा परिमाण मे अगर रक्त प्रविष्ट कराया गया हो तो रोगी स्वर्ग भी सिधार सकता है। इस विचार से मनुष्य के रक्त को निम्न चार वर्गों मे विभक्त कया गया है :—

रक्त के ४ वर्गः—

१. इसके रक्ताणु २, ३, ४ वर्गके रक्तरस (Serum) में नष्ट होते हैं। इसका रक्त केवल पहले वर्ग के मनुष्यो में प्रवेश कराना चाहिये। इस प्रकार के रक्तवालों को सार्वत्रिक ग्राहक (Universal recipient) संज्ञा दी है। यह किसी भी रक्त का वर्ग ग्रहण कर सकता है।

२. इसके रक्ताणु ३ और ४ वर्ग के रक्तरस मे नष्ट होते हैं। इस रुधिर को पहिले और दूसरे वर्ग के मनुष्यों में प्रवेश करा सकते हैं। एवं यह दूसरे और चौथे वर्ग का रुधिर ग्रहण कर सकता है।

३. इस के रक्ताणु २ और ४ के रक्तरस मे नष्ट होते हैं। इस रक्त का सिंचन पहले और तीसरे वर्ग के मनुष्यों मे कर सकते हैं। एवं यह तीसरे और चौथे वर्ग का रक्त ले सकता है।

४. इसके रक्ताणु किसी भी रक्तरस में गुच्छे नहीं होते। अतः इसे सार्वत्रिक दाता (Universal donor) कहते हैं। इसका रक्त सब वर्ग वालों को दे सकते हैं। किन्तु यह केवल चौथे वर्ग का ही रक्त ले सकता है।

जान्स्की के वर्गीकरण मे ऊपर लिखे अनुसार १, २, ३, ४ नम्बर कहा है किन्तु लेण्ड स्टेवर के वर्गीकरण मे उनको क्रमशः AB, A, B, O संज्ञा दी है। उपर्युक्त कारणो को मध्य नजर रखते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है, कि रोगी तथा रक्तदाता दोनों के रक्तो का वर्गीकरण, रक्त प्रविष्ट करने से पूर्व कर लिया जाय। इसकी विधि निम्न लिखित है—

वर्गीकरण करने के लिये दूसरे और तीसरे वर्ग के मनुष्यों का रक्तरस पहले से पासमें होना चाहिये। तत्पश्चात् एक शुद्ध कॉचपट्टी लेकर उसके एक सिरे पर द्वितीय वर्ग के रक्तरस की एक बूंद और दूसरे सिरे पर तृतीय वर्ग के रक्तरस की एक बूंद डाले। इन दोनों पृथक पड़ी हुई बूंदों पर साइट्रेट युक्त नमक विलयन की एक एक बूंद डालकर इन्हें हलका करें। अब इन दोनों बिन्दुओं में एक एक बूंद परीक्षणीय रक्त की डाले। और प्लेटीनम की शलाका द्वारा मिला लें। अगर रक्ताणु चिपक कर गुच्छे होंगे, तो ये साधारण नेत्रों द्वारा ही दृष्टिगोचर हो जायँगे। फिर भी पूर्ण विश्वास प्राप्त करने के लिये कॉचपट्टी के प्रत्येक बिन्दु पर आच्छादन कॉच ढक दे और अणुवीक्षण यंत्र मे ⅔ इञ्च वाले वस्तुताल-द्वारा परीक्षा कर लेवें। अगर सिर्फ तृतीय वर्ग के सिरम पर ही रक्ताणु नष्ट होते मालूम पडे तो रक्त को द्वितीय वर्ग का, और अगर सिर्फ द्वितीय वर्गके सीरम मे रक्ताणु नष्ट होता मालूम पड़े

तो रक्त को तृतीय वर्ग का समझें। अगर दोनों में रक्ताणु नष्ट न हो तो उसे चौथे वर्ग का और अगर दोनों बूंदों में नष्ट होने हों तो रक्त को प्रथम वर्ग का समझना चाहिये।

सर्वदा और मुख्यतया जीर्ण भयकर पाण्डु मे उत्तम तो यही होगा कि रोगी और दाता दोनों एक ही वर्ग के हों। अगर ऐसा सम्भव न हो सके तो चौथे वर्ग वाले मनुष्य का ही रक्त सब के लिये प्रयुक्त करना चाहिये।

रोगी का वर्गीकरण करने के लिये उसके रक्ताणु के साथ ही साथ रक्तरस का नमूना भी लेना चाहिये। रक्ताणुओ की परीक्षा से रोगी के रक्त का वर्गीकरण करके दाता का निश्चय कर लेने से गलती हो जाने की संभावना रह जाती है इसलिये संशय को दूर करने के लिये दो कॉचपट्टी बनाकर परीक्षा करनी चाहिये। इनमे से एक रोगी के रक्तरस की दाता के रक्ताणुओं के साथ और दूसरी रोगी के रक्ताणुओं का दाता के रक्तरस के साथ। इन दोनों में से किसी में भी रक्ताणुओ का नाश प्रतीत नहीं होना चाहिये।

रक्तके तलछट अधः क्षिप्त बैठने के समय का निरूपण करने तथा स्टर्नल (Sternal) में छिद्र करने की विधि १४ अध्याय में दी जायगी।

१०. रक्त के अन्वेषण की विशेष रासायनिक विधियाँ

(Special chemical methods of blood investigation)

१ वानडेन बर्घ की प्रतिक्रिया (Vanden berghs' reaction)
जिसतरह रुधिरमें रक्तरंजक (Haemoglobin) रहता है,उसतरह पित्तके भीतर पित्तारुण (Bilirubin) और पित्तहरित (Biliverdin), से दो रंग द्रव्य (Pigment) अवस्थित हैं। इनमे से पित्तारुण की विद्यमानता रक्तरस में होने पर ड्याज़ो प्रतिक्रिया (Diazo reaction) उपस्थित होती है। रुधिर में पित्तारुण आने के निम्न कारण हैं १

१. रक्तकणो के कोष अत्यधिक टूटने से पित्तारुण मुक्त हो कर रक्त में मिल जाता है।

२. पित्त मार्गावरोध से पित्त रक्तमें मिल जाने पर पित्तारुण बढ़ जाता है।

दोनो कारणों से उत्पन्न पित्तारुणमें कुछ अलग अलग विशेषतायें होती हैं। प्रथम कारण से पित्तारुण उत्पन्न होने पर ड्याज़ो की प्रतिक्रिया तब की जा सकती है, जब कि इसके करने के पूर्व रक्त मे उपस्थित प्रथिन (Protein) मद्यार्क के साथ (परंपरा प्रतिक्रिया द्वारा) पैदे मे तल छट अधक्षिप्त रूप से बैठा दी जाय। इसी अन्तर ने कारण रक्ताणु के नाश (Haemolytic)

से उत्पन्न कामला और अवरोधज कामला में आसानी से भेद किया जा सकता है। ड्याज़ो प्रतिक्रिया निम्नविधि से सिद्ध की जाती है:—

इसके लिये साधारणतया २ सी० सी० रक्तरस की आवश्यकता पड़ती है हालाकि कुछ अभ्यास हो जाने पर इससे कम रक्तरस से ही काम चलाया जा सकता है। इसके लिये रुधिर शिरा से एक शुद्ध परीक्षानली में लेवें और थक्का बनाने के लिये रख दें। फिर रक्तरस पृथक् हो जायगा। उसे पीपैट (नलिका) द्वारा चूस लेवें। विद्यार्थियों को इस का अभ्यास करने के लिये प्रारम्भ मे स्पष्ट कामला पीड़ित रोगी का रुधिर ग्रहण करना चाहिये।

प्रतिक्रियार्थ तैयारी:—

१. मध्य आकार की कुछ परीक्षा नलिकायें।

२. ड्याज़ो का ताजा रासायनिक द्रव। यह रासायनिक द्रव दो विलयनों से बनाया जाता है। दोनों विलयन पूर्व ही से तैयार कर लेवें। परन्तु दोनों का मिश्रण परीक्षा के तत्काल पूर्व ही करें। ये दोनों विलयन निम्न प्रकार से बनाये जाते हैं।

अ. सल्फेनिलिक एसिड (Sulphanilic acid) १ ग्राम
संतृप्त लवणाम्ल (Concentrated hcl) १५ सी० सी०
स्रवित जल (Distilled water) १००० सी० सी०

आ. सोडियम नाइट्राइट (Sodium nitrate) ०.५ ग्राम
स्रवित जल (Distilled water) १०० सी० सी०

ड्याज़ो का यह रासायनिक द्रव (अ) विलयन २५ सी० सी० और (आ) ०.७५ सी० सी० मिलाकर परीक्षा के तत्काल पूर्व बना लिया जाता है।

३. एक सी० सी० की विभाजित नलिका (Pipette)

४. विशुद्ध मद्यार्क (९६ प्र० श० वाला)

५. केन्द्रापसरण नलिका और मशीन।

उक्त उपकरण तैयार करके निम्न विधि से परीक्षा की जाती है। एक छोटी सी परीक्षा नली में एक सी० सी० रक्तरस रख कर ०.२५ सी० सी० तत्काल तैयार किया हुआ ड्याज़ो का रासायनिक द्रव डालें। (अगर इससे एक सी० सी० रासायनिक द्रव डाला जायगा तो परिणाम ज्यादा स्पष्ट और शीघ्रता से निकल आयगा) इसमें निम्न ३ प्रकार में से एक प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न हो हो सकती है।

(१) तात्कालिक या प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया:—यह शीघ्रता से उत्पन्न होती

है और १०-३० सैकण्ड के अन्दर उच्चतम विन्दु तक पहुँच जाती है। इस प्रतिक्रिया से रंग नीला-बैंजनी हो जाता है, जिस की गहराई पित्तारुण के परिमाण पर निर्भर है।

(२) विलम्बित प्रतिक्रियाः—यह १ से १५ मिनिट या इससे भी अधिक समय के पश्चात् उत्पन्न होती है। इस मे रक्तरस विलयन के रक्ताभ-रण मे वृद्धि होती है जो धीरे धीरे गहरा हो जाता है और अन्त में ज्यादा बैंजनी वन जाता है।

(३) मिश्रित प्रतिक्रियाः—इस प्रतिक्रिया मे शीघ्र ही (१० से ३० सैकण्ड के अन्दर) हल्का लाल रग उत्पन्न हो जाता है, जो १ मिनिट या इस से अधिक समय पश्चात् धीरे धीरे गहरा होकर ज्यादा बैंजनी रंग का हो जाता है।

इस क्रिया में डा० धेन होसर और अण्डरसन ने सुधार किया है। जिससे ज्यादा विश्वासनीय परिणाम प्राप्त होता है। इसमें परीक्षाद्रव निम्न दो विलयन से बनाया जाता है:—

(अ) सल्फनैलिक एसिड	१ ग्राम
सतृप्त लवणाम्ल	१० सी० सी०
स्रवित जल	२०० सी० सी० तक
(आ) सोडियम नाईट्राइट	०.५ प्रतिशत

जब आवश्यकता हो तब २५ सी० सी (अ) और ०.५ सी० सी० (आ) विलयन मिलाकर ड्याज़ो का तरल तैयार कर लेना चाहिये।

साक्षात् प्रतिक्रिया (प्रथिनो को पैंदे में बैठाये विना):—केन्द्रापसरण करने की नलिका मे २ सी० सी० स्वच्छ रक्तरस और १ सी० सी० ड्याज़ो का रासायनिक द्रव डालें। फिर हिलाकर मिश्रण तैयार करके ५ मिनिट तक स्थिर होने के लिये रख दें। तत्पश्चात् उसमे ५.८ सी० सी० विशुद्ध मद्यार्क और २.० सी० सी० संतृप्त अमोनियम सल्फेट का विलयन डालें। अच्छी तरह मिश्रित करके इसे केन्द्रापसरण करा लेवें। ऐसा करने से ऊपर पृथक् हुये तरल के ०.९ सी० सी० मे ०.१ सी० सी० संतृप्त लवणाम्ल मिलावें। अगर रक्तरस में पित्तारुण उपस्थित है, तो नीला रंग उत्पन्न हो जायगा।

असाक्षात् प्रतिक्रिया (प्रथिनो को पैंदे मे बैठा कर):—परि-भ्रामक नली में २ सी. सी रक्तद्रव और ४ सी. सी. विशुद्ध मद्यार्क मिला हिलाकर केन्द्रापसरण करावे फिर पृथक् हुये ऊपर के तरल १ सी० सी० में

०.२५ सी० सी० ड्याजो का रासायनिक द्रव मिलाकर ५ मिनिट तक स्थिर होने के लिये रख दे; फिर उसमें ०.५५ सी० सी० मद्यार्क और ०.२ सी० सी० संतृप्त लवणाम्ल मिलावे। अगर रक्तरस मे पित्तारुण उपस्थित है तो धीरे धीरे नीला रंग उत्पन्न हो जायगा।

स्वस्थावस्था के रक्तरस मे हल्की सी असाक्षात् प्रतिक्रिया होती है।

२. रक्त में मूत्रीया का अनुमान—इसके लिये निम्नोक्त वस्तुओं की आवश्यकता रहती है:—

०.६ ग्रं० श. एसिड पोटाशियम फोस्फेट।

दरदरा पीसा हुआ सोयावीन का आटा।

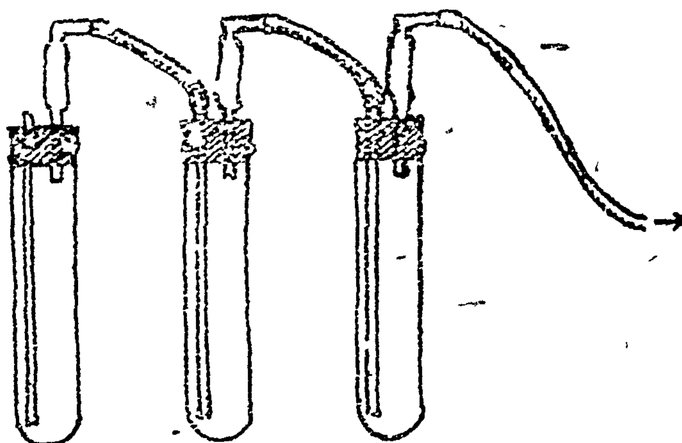
कैप्रीलिक मद्यार्क।

आग पर सुखाया हुआ ऐन हाइड्रस पोटासियम कार्बोनेट

$\frac{१}{१०}$ साधारण लवणाम्ल।

$\frac{१}{१०}$ साधारण सोडियम हाइड्रोक्साइड।

२० सी० सी० हल्का किया हुआ गन्धकाम्ल।



चित्र नं० ९७

रक्त का मूत्रिया नापने का यंत्र

विधि:—'B' नलिका में २ सी० सी० रुधिर, २ सी० सी० एसिड पोटासियम फोस्फेट का विलयन, तथा १ सी० सी० पानी में थोड़ा सा सोयावीन का आटा मिलाकर तैयार किया हुआ इमल्सन और ३ बूंद कैप्रीलिक मद्यार्क भरे। तत्पश्चात् इसे लगभग २० मिनिट तक ४०° के ताप वाले स्थान में रक्खे।

"C" नलिका मे १० सी० सी० $\frac{\text{साधारण}}{१००}$ लवणाम्ल भरे।

"A" नलिका में लगभग २० सी० सी० हल्का किया हुआ गन्धकाम्ल भरें।

"B" नलिका को ४०° तापाक पर २० मिनिट तक रख लेने पर तीनों नलिकाओं को चित्र मे वर्णित विधि अनुसार सम्बन्धित कर दें और "ग" नलिका के बाहर निकलने के ट्यूब को शक्तिशाली पानी के पम्प से सम्बन्धित कर दे। तत्पश्चात् धीरे-धीरे वायु का प्रवाह आरम्भ करें, और लगभग ४ ग्राम ऐन हाइड्रस पोटासियम कार्बोनेट 'ख' नलिका मे डालकर तुरन्त डाट बंद कर दे। वायु का प्रवाह १० मिनिट तक धीरे-धीरे करते रहें और फिर ५० मिनिट जितनी तेजी से हो सके उतनी तेजी से झाग उत्पन्न न करते हुए करें। सोयाबीन के रासायनिक मण्ड (Enzyme) के कारण रक्त में उपस्थित मूत्रीया अमोनियम लवण मे परिवर्तित हो जाता है। यह अमोनिया बाहर नहीं निकल सकता; क्योंकि फास्फेट्स विलयन को अम्ल बनाये रखता है। परन्तु जब ख नलिका का मिश्रण प्रबल- क्षारीय बना दिया जाता है तब यह अमोनिया स्वतन्त्र हो जाता है और वायु के प्रवाह से ग नलिका मे ले जाया जाता है जहाँ अम्ल के कारण वह वहीं रोक लिया जाता है। हवा के साथ आनेवाला अमोनिया क नलिका में अम्ल से रोक लिया जाता है। वायु का प्रवाह बराबर एक घण्टे तक प्रवेश कराते रहने के पश्चात् इनका पानी के पम्प से सम्बध-विच्छेद कर दें, और 'ग" नलिका में प्रवेश करानेवाली (Entry tube) नलिका को स्रवित जल से बाहर और भीतर से धो लें, और $\frac{\text{साधारण}}{१००}$ हाइड्रोक्साईड की सहायता से इसे निष्क्रिय कर लें तथा लाल मैथील (Methyl Red) को इसें प्रदर्शित करने मे प्रयुक्त करे।

अगर क्षार अ. सी० सी० प्रयुक्त की गई है तो अम्ल की (१०–अ) सी० सी० निष्क्रिय हो चुकी है। चूंकि १ सी० सी० $\frac{\text{साधारण}}{१००}$ अम्ल ०·१४ मि० ग्राम अमोनिया नाइट्रोजन से निष्क्रिय हो जाता है। और ०·३० मि० ग्राम मूत्रीया मे ०·१४ मि० ग्राम नत्रजन (Nitrogen) होती है। तब परीक्षा में प्रयुक्त २ सी० सी० रक्त में (१०–अ) × ०·३० मि० ग्राम मूत्रिया हुआ। इस हिसाब से १०० सी० सी० रक्त में (१०–अ) × १५ मि० ग्राम मूत्रिया हुआ।

सूचना—१ प्रवेशिका नलिका के सिरे मे सुई से ६ छिद्र कर लेना, यह आदरणीय माना जायगा।

२—जब इस बात का संशय हो कि रक्त मे मूत्रिया ज्यादा परिमाण में उपस्थित है तो सिर्फ १ सी० सी० रक्त ही लेना चाहिये।

३—यह विधि मूत्र मे मूत्रीया का परिमाण जानने के लिये प्रयुक्त की जासकती है। यह "हाइपो ब्रोमाइट (Hypobromite)" से ज्यादा ठीक परिणाम दर्शाती है। इसके लिये ०·५ या १ सी० सी० मूत्र; प्रयुक्त करें, ५ सी० सी० एसिड फास्फेट का विलयन और क्षार तथा अम्ल $\frac{\text{साधारण}}{१००}$ के स्थान पर $\frac{\text{साधारण}}{१०}$ साधारणतः प्रयुक्त करे।

स्वस्थावस्था के रक्त मे ०.०२ से ०·०५ प्र० श० मूत्रीया होता है। वृक्कों में मामूली अयोग्यता (विकृति) होने पर साधारणतया इसमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं होता। परन्तु विकृति गंभीर होने पर मूत्रीया का परिमाण बढ़ना आरम्भ होता है और मृत्यु से पूर्व ०·६ प्रतिशत तक पहुंच सकता है। अगर रोगी के रक्त में स्थायी तौर से मूत्रीया की ०·१ प्रतिशत से अधिक वृद्धि रहती है तो यह निश्चित है कि रोगी एक वर्ष से ज्यादा क्वचित् ही जीवित रहेगा। परन्तु अस्थायी वृद्धि साध्य है।

(इ) रक्तमें शर्करा का अनुमानः—(मैक्लीन की विधि):—इसके लिये निम्न विलयनो की आवश्यकता रहती है।

(अ) सोडियम सल्फेट १५ प्र० श०। इसमे ०·१ सी० सी० असेटिक एसिड प्रति १०० सी० सी० मे ठीक प्रयुक्त करने के समय मिलावें।

(आ) डायलाईज्ड आयरन (Dialysed Iron):—यह बाजार मे तैयार मिलता है।

(इ) कोपर सोल्युशन (Copper Solution):—७० सी० सी० बाष्प जल को कुछ गर्म करके उसमे १२ ग्राम पोटाशियम बाई कार्बोनेट (Pottassium bicarbonate) और ८ ग्राम पोटासियम कार्बोनेट (Anhydrous pottassium carbonate) मिलावे। दूसरे पात्र में ०·२५ ग्राम स्फटिकाकार कोपर सल्फेट कुछ सी० सी० बाष्पजल मे मिलावे और इसके अन्दर उपरोक्त बाईकार्बोनेट का विलयन, बिना पोटाशियम कार्बोनेट के पूर्णतया घुलने की प्रतीक्षा किये सत्वर मिलादें। जब फेनोद्गम समाप्त होजाय तब विलयन को कुछ गरम करके कार्बोनेट को पूर्णतया घुलाले। इसमें अब ०·०५ ग्राम पोटासियम आयोडेट (Potassium Iodate) और ०·५ ग्राम पोटा-

सियम आयोडाइड (Potassium Iodade) मिलावे। इसमें अब वाष्प जल मिलाकर इसे १०० सी० सी० बनाले और छानलें। इस विलयन को दो दिन तक काम में न लेना चाहिये। इसको प्रमाणित विलयन बनाने के लिये इसके २ सी० सी० को १० सी० एसिड सोडियम सल्फेट विलयन में लेकर इसमे २ सी० सी० ७५ प्र० श० का लवणाम्ल (हाइड्रोक्लोरिक एसिड) मिला लेना चाहिये। फेनोद्‌गम की समाप्ति के एक मिनिट पश्चात् इसे हिलावें और $\frac{N}{400}$ सोडियम थियोसल्फेट द्वारा विलेय मापन (जैसे कि आगे वर्णन किया जायगा) करे। विलयन की २. सी० सी० के लिये लगभग ११ सी० सी० थियोसल्फेट (Thiosulphate) की आवश्यकता होती है। विलयन को प्रमाणित सिद्ध करने के लिये यह क्रिया पुनः पुनः करनी चाहिये।

(ई) $\frac{N}{400}$ सोडियमथियो सल्फेट विलयन $\frac{N}{10}$ थियोसल्फेट की ५ सी० सी० को २०० सी० सी० तक हल्का करके बना लेना चाहिये, तथा इसे नीली बोतल में अँधेरे में रखना चाहिये। $\frac{N}{10}$ विलयन को समय समय पर प्रमाणित सिद्ध करते रहना चाहिये।

(उ) १ प्र० श० विलेय स्टार्च का विलयन।

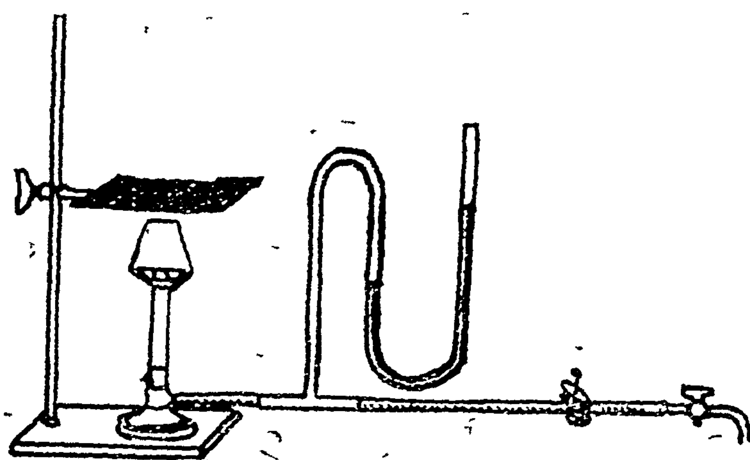
(ऊ) ७५ प्र० श० हाइड्रोक्लोरिक एसिड विलयन (७५ सी० सी० संतृप्त हाइड्रोक्लोरिक एसिड १०० सी० सी० तक हल्का किया हुआ)

रक्त प्राप्त करने की विधिः—रोगी की अंगुली के चारो तरफ रबर की नलिका बांधें, ताकि अंगुली के सिरे पर रक्ताधिक्य होजाय। पोटासियम ऑग्ज़ैल्ट (Potassium oxalate) का कुछ चूर्ण अंगुली के सिरे पर (जहाँ सुई चुभोयी जायगी) डाले। फिर पोटाशियम ओग्जैल्ट डाले गये स्थान के मध्य मे ठीक नाखून की मूल के पास सुई चुभोवें। इस प्रकार ०.२ सी० सी० रक्त, एक ०.२ सी० सी० की कॉच नलिका (* Pipette)

---

* यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि यह कॉच नलिका (Pipette) स्नेह (वसा) से बिलकुल रहित हो, इसलिये प्रत्येक समय प्रयोग करने से पूर्व यह अत्यन्त आवश्यक है कि इसे सल्फ्यूरिक एसिड और पोटाशियम बाइक्रोमेट के गरम मिश्रण से अच्छी प्रकार धो लेना चाहिये। फिर वाष्प जल से धोकर, मद्यसार (अल्कोहल) और ईथर से धो लेना चाहिये; और अन्त में इसे हवाके नल और मन्दताप की सहायता से सुखाकर प्रयोग में लेनी चाहिये।

यह यंत्र के साथ ही प्राप्त की जासकती है) को अंगुली से निकलती हुई बूंद से सम्बन्धित कर तथा इसे आड़ी रख कर, ग्रहन करले । अगर रक्त इच्छित परिमाण से ज्यादा आजाय तो नलिका को अगुली के नाखून पर थपथपाकर इच्छित परिमाण कर लेना चाहिये । फिर सिरे पर लगे हुये रक्त को पोछ डाले । अब रक्त को २३·८ सी० सी० एसिड सोडियम-सल्फेट के विलयन में डाले, जो कि पूर्व ही एक ब्यूरट (Burette) से ड्यूरो (Duro) के कॉच के बोतल (Flask) में ले लिया जाता है । पश्चात् कॉच नलिका को विलयन से अच्छी प्रकार धो डाले । इस मिश्रण को गरम किया जाता है । ताकि, यह उबलने लगे । इस फ्लास्क का मुँह रबर के डाट से बंद होता है, जिसमें एक कॉच नलिका लगी रहती है, जो उत्तरोत्तर पतली होती है । इस नलिका का उपयोग यह होता हैं कि, मिश्रण के उबलने से उत्पन्न वायु आसानी से बाहर निकल जाय और मिश्रण न फैलने पावे । तत्पश्चात् फ्लास्क टोंटी के नीचे रखकर ठंडा कर लिया जाता है और १ सी० सी० डायलाईज्ड आइरन के मिश्रण को लगातार हिलाते हुये मिला ले । अन्त में यह तरल छान लिया जाता है और छने हुये द्रव का २० सी० सी० रक्त मे शर्करा का अनुमान जानने के लिये प्रयुक्त किया जाता है । अगर रक्त में अत्यधिक शर्करा होने की संभावना हो तो १० सी० सी० मिश्रण लेकर उसमें १० सी० सी० एसिड सोडियम सल्फेट मिला लेना चाहिये ।



चित्र न० ८८
रक्त की शर्करा मापने का यंत्र

उपरोक्त छने हुये २० सी० सी० मे २ सी० सी० विलयन नं० ३ मिलावें और ज्वाला के ऊपर गरम करें । इससे मिश्रण १०० सैकण्ड में खूब उबलने

लगेगा। ज्वाला की उचित ऊँचाई प्राप्त करने के लिये आकृति नं० ५७ में प्रदर्शित प्रबन्ध काम में लाना चाहिये। पूर्व परीक्षणों द्वारा यह मालूम कर लिया जाता है कि गैस का कितना दवाव है जो कि मैनोमीटर (Monometer) द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, और जो २० सी० सी० एसिड सल्फेट विलयन को १०० सैकण्ड खूब उबाल देने के लिये आवश्यक है। एक समय इस दवाव के अंक मालूम कर लेने के पश्चात् भविष्य में भी वे ही फ्लास्क, जाली (Gauze) टिकटी (Tripod) और दीप (Burner) काम मे लाना चाहिये जिनसे परीक्षण करके अंक प्राप्त किया गया है। गरम करते वक्त पेचदार क्लिप (Screw clip) इस प्रकार ठीक जमावें कि इच्छित दवाव का अंक प्राप्त हो जाय।

जब द्रव चारो तरफ से खूब उबलने लग जाय, तब इसके ६ मिनिट पश्चात् तक भी उबालते रहे। फ्लास्कको टोंटी के नीचे रखकर ठंडा करें और २ सी० सी० ७५ प्र० श० लवणाम्ल (H C L) मिलावें और फेनोद्गम के समाप्त होने के पश्चात् १ मिनट तक उसे हिलाते रहे। $\frac{N}{400}$ सोडियमथियो सल्फेट द्वारा उस समय तक द्रव का विलेय मापन किया जाता है जब तक कि आयोडीन का पीला रंग बिल्कुल अदृश्य न हो जाय। २ या ३ बूंद विलेय स्टार्च का विलयन मिलावें और विलेय मापन (Titration) उस समय तक जारी रक्खे जब तक कि नीला रंग अदृश्य होजाय।

प्रयुक्त किये गये थियोसल्फेट की सी० सी० की संख्या उस संख्या में से जो सिर्फ विलयन नं० ३ की २ सी० सी० के लिये प्रयुक्त किया गया है, बाकी निकालकर निम्न लिखित सूची द्वारा रक्तमे उपस्थित शक्कर का प्र० श० परिमाणकी गणना की जा सकती है। उदाहरणार्थ अगर विलेयमापन के पश्चात् प्राप्त अंक ८.६८ सी० सी० है, और सिर्फ विलयन नं० ३ की २ सी० सी० के लिये ११.०५ सी० सी० की आवश्यकता हुई है, तो इन दोनों का अन्तर २.०७ सी० सी० है, तो यह शर्करा की उपस्थिति के अंकों को प्रदर्शित करता है। निम्न सूची से जाना जा सकता है कि २.०७ थियोसल्फेट = ०.१८ मि० ग्रा० शक्कर के; इसलिये $\frac{३}{२०}$ × ०.२ सी० सी० रक्तमें ०.१८ मि० ग्राम शक्कर है, इसलिये १०० सी० सी० रुधिर में ०.११२ ग्राम शक्कर हुई।

सूचना—रक्त शर्करा का परिमाण प्रतीत करने के लिये प्रयुक्त सम्पूर्ण विधियो में फिल्टर पेपर होना चाहिये, जो कार्बोहाईड्रेट (Carbohydrate) से मुक्त हो।

रक्तशर्करा परिमाणदर्शक कोष्ठक।

जब २० सी० सी० का रुधिर का द्रवमिश्रण $\frac{N}{400}$ सोडियम थियो-सल्फेट विलयन के साथ मिलाया हो, तब इस कोष्ठक से शर्करा का परिमाण मालूम किया जा सकता है।

$\frac{N}{400}$ थियोसल्फेट सी० सी०	द्राक्षशर्करा मि० ग्रा०%	$\frac{N}{400}$ थियोसल्फेट सी० सी०	द्राक्षशर्करा मि० ग्रा०%
०.१२	०.०३=०.०१८	२.६१	०.२२=०.१३७
०.२५	०.०४=०.०२५	२.७४	०.२३=०.१४३
०.३८	० ०५=०.०३१	२.८६	०.२४=०.१५०
०.५०	०.०६=०.०३७	२.९९	०.२५=०.१५६
०.६२	०.०७=०.०४३	३.११	०.२६=०.१६२
०.७३	०.०८=०.०५०	३.२४	०.२७=०.१६८
०.८६	०.०९=०.०५६	३.३६	०.२८=०.१७५
०.९९	०.१०=०.०६२	३.४९	०.२९=०.१८१
१.१३	०.११=०.०६८	३.६१	०.३०=०.१८७
१.२६	०.१२=०.०७५	३ ७४	०.३१=०.१९३
१.३९	०.१३=०.०८१	३ ८७	०.३२=०.२००
१.५३	०.१४=०.०८६	३ ९९	०.३३=०.२०६
१.६७	०.१५=०.०९३	४.१२	०.३४=०.२१२
१.८०	०.१६=०.१००	४.२४	०.३५=०.२१८
१.९४	०.१७=०.१०६	४.३७	०.३६=०.२२५
२.०७	०.१८=०.११२	४.४९	०.३७=०.२३१
२.२२	०.१९=०.११८	४.६२	०.३८=०.२३७
२.३५	०.२१=०.१२५	४.७४	०.३९=०.२४३
२.४९	०.२२=०.१३१	४.८७	०.४०=०.२५०

रक्त में शर्करा का परिमाण मालूम करने के लिये इसके अतिरिक्त अन्य भी विधियाँ हैं परन्तु इनका अधिक महत्त्व न होने तथा अधिक जटिल होने से यहाँ वर्णन करना ठीक नहीं समझा गया है।

सामान्यतः स्वस्थ मनुष्य के रक्त मे जिसने कुछ घण्टे लंघन रक्खा हो ०.०९ से ०.१२ प्रतिशत तक द्राक्षशर्करा (Glucose) होती है।

कर्बोदक (Carbohydrate) युक्त भोजन कर लेने के पश्चात् तथा १५० से २०० ग्राम द्राक्षशर्करा खा लेने पर यह ०'१५ -प्रतिशत तक बढ़ सकती हैं। ऐसी अवस्था मे भी यह सामान्यतः मूत्र में नहीं मिलती। जब द्राक्षशर्करा रक्त में ०१७ प्रतिशत से कम हो तो मूत्र मे सिर्फ इसके कुछ चिह्न ही प्रतीत होते हैं, इसलिये इसे वृक्क की शर्करा-धारणशक्ति (Renal threshold) कहते हैं। इस धारणशक्ति की मात्रा प्रत्येक व्यक्ति में और एक ही व्यक्ति मे भिन्न-भिन्न समय तथा परिस्थिति पर भिन्न-भिन्न हो सकती है। साधारणतया आयुवृद्धि के साथ स्थायी अत्यधिक मधुर रुधिर (Hyperglycaemia) रहने से और निरन्तर पिष्ठ पदार्थों के सेवन से यह धारणशक्ति बढ़ जाती है। इस अवस्था मे जल का स्राव भी अधिक होता है। अतः मूत्र परिमाण भी बढ़ जाता है। वृक्क रोगो मे कई बार यह धारणाशक्ति कम भी हो जाती है।

अत्यधिक मधुर रक्त (रक्त में परम मधुरता—Hyperglycaemia):—प्रातःकाल मे जलपान करने से पहले रुधिर मे शर्करा की मात्रा जब १२० मि० ग्राम प्रति सहस्र से अधिक पाई जाय, तो उसे परम मधुरता कहते हैं। जब यह परिमाण ३०० मि० ग्राम से कम हो तब अपेक्षाकृत सौम्य और जब ३०० मि० ग्राम से अधिक हो तब गम्भीर अत्यधिक मधुरता कहलाती है। यह विकृति अति शर्करा और कर्बोदक युक्त भोजन करने का अभ्यास तथा अग्न्यासव के स्राव का ह्रास होने पर होती है। एवं निम्न कारणो से और विविध अवस्थाओ में भी पाई जाती है।

१. धूम्रपानः—तमाखू का धूम्र उपवृक्क ग्रन्थि को उत्तेजित करके उसके स्राव द्वारा रुधिरगतशर्करा को बढ़ा देता है। यह अधिकता धूम्रपान सेवनकाल मे ही रहती है।

२. काम, क्रोध, भय, शोक आदि मानसिक क्षोभ तथा मस्तिष्क पर आघात आदि आगन्तुक व्यथा इनमे प्रायः करोटिगत तनाव (Intercranial tension) बढ़ जाता है। इसके परिणामस्वरूप मानसकेन्द्र (Vegetative centres) उत्तेजित हो जाते हैं। फिर वे स्वतन्त्र (Sympathetic) और परि-स्वतंत्र (Para Sympathetic) नाड़ियो के द्वारा उपवृक्क ग्रन्थिस्राव को तथा यकृत्गत शर्करोत्पादन को बढ़ा करके रुधिर में शर्करा की वृद्धि कराते हैं।

३. कार्बन दी आक्साइड का श्वसन, श्वासकृच्छ्रता और अति व्या-

याम आदि हाफ उत्पन्न करनेवाली अवस्था में उनमें रुधिर के भीतर प्राणवायु की न्यूनता होती है, उपवृक्क स्राव को बढ़ा करके रक्तशर्करा की वृद्धि करती है।

४. अग्न्याशय (Pancrease) को छोड़कर इतर सब अन्तःस्रावी ग्रन्थियो की कार्याधिकताः—ये सब स्राव मधुरक परिवर्तन, शर्करोत्पादन करनेवाले होने से रुधिर मे शर्करा बढ़ जाती है। इस प्रकार को स्थिति नेत्रगलगण्ड (Grave disease) अस्थिवर्द्धन विकार (Acromegaly) आदि मे होती है।

मधुमेहः—परम मधुरता विकृतिका यह सबसे महत्वपूर्ण रोग है। इसमें रुधिर के भीतर शर्करा की अधिकता जितनी पाई जाती है, उतनी अधिकता अन्य किसी रोग मे नहीं मिलती। किसी किसी रोगी के रुधिर में तो प्राकृत परिमाण की अपेक्षा २० गुनी अधिक शर्करा पाई गई है। मधुमेही में भोजन के करने और न करने के समय मे धमनी और शिरागत रक्त शर्करा मे भेद नहीं होता। क्योकि, भोजन के पाचन-शोषण से रक्त मे आई हुई शर्करा के संग्रहण और उपयोगीकरण के लिये आवश्यक अग्न्याशय के रससत्व (Insuline) की कमी होती है।

इक्षुमेह या शर्करामेह— (Glycosuria) - इस विकार की संप्राप्ति परम मधुरता मय विकृति से होती है। जब परम मधुरता और शर्करामेह मिष्ठान्न के अतियोग से होते हैं तब इस शर्करामेह को आहारज (**Alimentary G.**) कहते हैं।

यदि वह इन्स्यूलीन की अविद्यमानता या अल्पता के कारण होता है तो इसे अग्न्याशयज (Pancreatic G.) अथवा मधुमेह (Diabetes Mellitus) कहलाता है। इसका वर्णन पहले किया है। यदि वृक्को की धारणा शक्ति का ह्रास हो जाय, तो रक्त मे शर्करा की मात्रा अधिक न होते हुए भी शर्करामेह उपस्थित होता है। इसे वृक्कज (Renal) कहते हैं। यथार्थ मे यह सहज स्थिति होने के कारण आयुवृद्धि के साथ न बढ़ती है और न इन्स्यूलीन के योग से घटती हैं। इनके अतिरिक्त एपीनेफ्राइनका अन्तःक्षेपण, रक्त मे मेगनेशिया वृद्धि, पोषणक ग्रन्थि (Pituitary gland) के पश्चात् खण्ड का अत्यधिक स्राव आदि कारणो से भी शर्करामेह प्रस्तुत होता है।

स्वल्पमधुर रक्त—(Hypoglycaemia) जब रक्तगत शर्करा

का परिणाम ८० मि० ग्रा० से कम होता है, तब इसे स्वल्प मधुरता विकृति कहते हैं। शरीर अधिक शर्करा को जितना सह सकता है, उतना अत्यल्प शर्करा को नहीं सह सकता है। साधारणतया ७५ मि० ग्रा० शर्करा होने पर लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं। क्वचित् ३० मि० ग्रा० तक शर्करा होने पर भी लक्षण उत्पन्न नहीं होते। खरगोश के रक्त मे रक्तशर्करा का परिमाण ०.०४% तक हो जाने पर उसे झटके आते हैं तथा उसकी मृत्यु हो जाती है। मनुष्यो में सामान्यतः रक्तशर्करा की मात्रा कम हो जाने पर प्रारम्भ में क्षुधा प्रदीप्त होती है, स्वेद आता है, मन पर अधिकार नहीं रहता, चक्कर आते हैं और साधे शिथिल होते हैं। मधुमेह मे इन्सुलिन का अति योग होने पर भी ऐसी ही स्थिति होती है।

यह विकार निम्न अवस्था और कारणों से उत्पन्न होता है:—

१. अनशन जनित निर्बलता।

२. अत्यन्त कठिन परिश्रम से बलक्षय।

३. स्त्रियों में स्तन्योत्पत्ति काल।

४. अग्न्याशय के अर्बुदादि विकार।

५. यकृत् विकार।

६. अवटुक, उपवृक्क और पोपणक ग्रन्थियों का न्यून उद्योगीपन (Hypo-Activity)

७. बालकों मे अस्वाभाविक यकृत् वृद्धिज मधुरक विकृति (Von Gierke's disease)

८. इन्स्यूलिनका अन्तःक्षेपण करने के पश्चात् इस स्थिति में मधुमेह में रक्त के अन्दर केवल ०.६ प्रतिशत तक शर्करा शेष रह सकती है।

उक्त स्वल्प मधुररक्त विकार होने पर द्राक्षशर्करा, उपवृक्कसत्व या पोषणिका ग्रन्थि (Pituitary gland) को सत्व देने पर सत्वर सम स्थिति की प्राप्ति होती है।

अध्याय ६ ठवां

श्वास संस्था—

(Respiratory system)

इसके विवेचन में समझाने की सुविधा के लिये इसके ७ खण्ड किये हैं।

१. शरीर ; २. दर्शन परीक्षा ; ३. स्पर्श परीक्षा ; ४. ठेपन परीक्षा ; ५. श्रवण परीक्षा ; ६. क्ष किरण परीक्षा ; ७. कफ परीक्षा। इन सबका क्रमशः वर्णन करते हैं।

१. शरीर—(Anatomy)

यह शरीर की महत्वपूर्ण संस्था है। इसमें नासिका, स्वरयंत्र, श्वास नलिका, फुफ्फुस और फुफ्फुसावरण, इन अवयवो का समावेश किया जाता है। सारे शरीर के लिये जीवन प्रदान करनेवाली प्राणवायु (Oxygen) को वायु मण्डल से ग्रहण करना और शरीर के अवयवो में उत्पन्न द्विआंगारिक वायु (Carbon di oxide) को शरीर से बाहर निकाल देना, ये दो महत्व पूर्ण कार्य इस संस्था द्वारा संपादन होते हैं। अशुद्ध रक्त हृदय के दक्षिण निलय कोष्ठ मे से फुफ्फुसाभिगा धमनी द्वारा फुफ्फुसो में जाता है (सम्पूर्ण शरीर में केवल यही एक धमनी ऐसी है; जो अशुद्ध रुधिर को वहन करती है) रक्त फुफ्फुसों में पहुँचने पर प्राणवायु के सम्मिश्रण और आंगारिक वायु के भीतर वियोजन से विशुद्ध होता है।

इस संस्था के महत्वपूर्ण यंत्र उरोगुहा में रहते हैं। अतः इनकी स्थिति ज्ञात करने के लिये उरोगुहा का संक्षिप्त वर्णन कर देना अनुपयुक्त न होगा।

उरोगुहा—उरोगुहा का पिछला हिस्सा पृष्ठ वंश से, पार्श्वभाग मनुष्य के समान मुड़ी हुई पर्शुकाओं से तथा आगे का हिस्सा उपपर्शुका और उरोस्थि से निर्मित है। चित्र नं० १० देखे।

पर्शुकाओं के बीच मे एवं उपपर्शुका के बीच के रिक्त प्रदेश में पर्शुकान्तरिका पेशियाँ अवस्थित हैं। उरः फलक की पिछली और उरस्त्रिकोणिका पेशी लगी है। एवं उरच्छदा आदि कई पेशियाँ उरः फलक की अगली

ओर लगी हैं। ये सब श्वासक्रिया में सहायता पहुँचाती हैं। इस उरोगुहा के अवस्थित सब अवयव फुफ्फुस धराकला (Pleura) से आवृत हैं।

उरोगुहा का आकार चौड़े उदरवाले लोटे के समान है। इसका ऊपर का भाग संकुचित है और नीचे उतरने पर बढ़ता जाता है। इसका शिखर मुक्त है और तल भाग महाप्राचीरा पेशी द्वारा उदर से पृथक् होता है। इसके भीतर निम्न अवयव रहते हैं।

(१) बृहत् श्वासनलिका, (२) छोटी छोटी श्वास प्रणालिकाएं, (३) दोनों ओर एक एक फुफ्फुस, (४) फुफ्फुसों के बीच में हृदय, (५) हृदय से सम्बन्धवाली अनेक बृहच्छिराएँ, (६) महाधमनी, (७) अक्षाधरा धमनी की सब शाखायें (अन्तः स्तनिका धमनिया), महाशिरा की शाखायें, पुरोवंशिका शिराओं (Azygoas veins) की ३ शाखायें, जो अवरोही महाशिरा और आरोहिणी महाशिरा को जोड़ती हैं। (८) श्वासनलिका-शाखाकी शिराएँ, (९) फुफ्फुस और आमाशयस्थ नाडियाँ (१०) धमनी, शिराओं के पीछे रहा हुई अन्न नलिका (११) रसकुल्या (Thoracic duct) (१२) रसायनिया और लसिका ग्रन्थियाँ आदि।

छोटे बालकों में छातीका-चौड़ापन और आगे पीछे की लम्बाई समान होने से गोल दीखती है। बड़ी आयु मे चौडाई बढ़ने-पर लम्ब गोल होजाती हैं। पुरुषों और स्त्रियों की छाती की रचना मे अन्तर है। स्त्रियों की छाती का विस्तार कम होता है। उनकी उरः फलकास्थि चपटी और छोटी होती है। एवं पुरुषों की अपेक्षा कुछ नीची होती है। स्त्रियों की ऊपर की पशुकाएँ सरलता से चल सकती हैं, जिससे उनकी छाती का ऊपर का हिस्सा सरलता से फूलता है। एव उनकी छाती पर हर्ष-शोकादि मानस वृत्तियों का प्रभाव तुरन्त पड़ता है। जब मनुष्य श्वास लेता है तब उरोगुहा और फुफ्फुसों का प्रसारण होता है, तथा जब वायु बाहर निकलती है, तब उरोगुहा और फुफ्फुसों का आकुंचन होता है। यह प्रसारण-आकुञ्चन क्रिया श्वासोच्छ्वास के साथ साथ अहर्निश होती रहती है।

प्राणवायु या श्वास को आकर्षण करने का मुख्य साधन-महा-प्राचीरा पेशी है। जब वह नीचे उतरती है, तब उरोगुहा विस्तार बढ़ जाता है। फिर बढ़े हुए स्थान मे वायु का प्रवेश होने से फुफ्फुस फूलते हैं। यदि दीर्घ श्वास लेना हो, तो महाप्राचीरा को इतर पेशियाँ सहायता पहुँचाती हैं। एवं जब उदरच्छदा पेशियाँ उदरस्थ आशयों को दबाती हैं। तब महाप्राचीरा ऊपर उठती है; जिससे फुफ्फुसगत वायु बाहर निकलती है।

१—श्वसन यन्त्र दर्शन।

स्वरयन्त्र (Larynx)—यह आवाज उत्पादक यन्त्र है। यह श्वास नलिका के ऊपर कण्ठ के आगे के हिस्से में रहा है। इसका आकार मुकुट के समान है। इसमें ऊपर नीचे १–१ छिद्र है। ऊपर का छिद्र ग्रसनिका (Pharynx) के साथ तथा नीचे का छिद्र श्वासनलिका के साथ सम्बन्ध रखता है। इस स्वरयंत्र से श्वासोच्छ्वास का आवागमन तथा आवाज़ का उच्चारण ये दो कार्य होते हैं। यह कण्ठ की अगली ओर मध्यरेखा में तथा कण्ठिकास्थि (Hyoide bone) के मूल भाग से अवटुक प्रवर्धन तक त्वचा के नीचे विदित होता है। यह मास पेशियो से आच्छादित है।

श्वास नलिका (Trachea or wind Pipe)—यह लगभग ४–४॥ इञ्च लम्बी और १ इञ्च चौड़ी है। यह नलिका गले के अगली ओर अवटुक प्रवर्द्धन (Adam's apple) से किञ्चित् नीचे से प्रारम्भ होती है। फिर नीचे आकर उरोगुहा मे प्रवेश करती है और फुफ्फुसो के मूलभाग के पास मुख्य २ शाखाओ मे विभक्त होजाती है। कण्ठ की अगली ओर रहे हुए कण्ठ-कूप में अंगुली डालने पर श्वासनलिका के १–१॥ इञ्च जितना भाग जाना जाता है। नीचे जाने पर चौथी या पाचवी पृष्ठ कशेरुका के पास दो शाखा वन कर दोनों फुफ्फुसो मे जाती है।

श्वासनलिका शाखाओमें दॉयी शाखा वायीकी अपेक्षा अधिक मोटी और छोटी है। इसकी लम्बाई १ इञ्च है। यह हृदय और उत्तरा महाशिरा के पीछे और दायी ओर रही है। बायी शाखा पतली और २ इञ्च लम्बी है। यह महाधमनी के महराव के नीचे होकर निकलती है। दायी शाखा २ कण्डिकाओ मे तथा बायी शाखा ३ कण्डिकाओ मे विभक्त होकर फुफ्फुस मे प्रवेश करती है। फिर इन कण्डिकाओ के भी पुनः छोटे बड़े उपविभाग होते हैं। अन्त मे सूक्ष्मतम शाखायें बनकर प्रत्येक वायुकोप मे एक एक प्रवेश करती हैं। इन के द्वारा ही वायुकोपां मे श्वास वायु पहुँचता है। चित्र नं० १२ देखें।

सामान्यतः श्वास नलिका शाखाये आगे की ओर उरः फलक के ग्रैवेयक भाग (Manubrium sterni) की निम्नधारा से तथा पिछली ओर चौथी पॉचवी और छठी पृष्ठ कशेरुका से सम्बन्ध रखती हैं।

फुफ्फुस रचना—उरोगुहा मे दोनो ओर एक एक फुफ्फुस अवस्थित हैं। ये पतले कोमल और स्थिति स्थापक द्रव्य के बने हैं। उनमे बहुसख्य वायुकोष हे। तुरन्त जन्मे हुए बच्चे के फुफ्फुस गुलाबी रगके होते हैं। आयु बढ़ जाने पर रंग मलिन हो जाता है। वृद्धावस्था मे अधिक काले बन जाते हैं।

पुरुषों के फुफ्फुस स्त्रियों की अपेक्षा अधिक काले होते हैं। पुरुषों के दहिने फुफ्फुस का वजन लग भग ५५ तोले और बायें का वजन ५० तोले होता है। स्त्रियों के फुफ्फुसों का वजन लग भग ५-५ तोले कम होता है। चित्र मे नं० १२ देखें।

फुफ्फुसों के ऊपर का भाग सकड़ा और नीचे का भाग चौड़ा है। बाहर की बाजू लग भग गोल है और वह पशु काओं से सम्बन्धवाली है। भीतर की बाजू हृदय आदि अवयवों के कारण खड्डेवाली है और हृदय को कुछ अंश मे ढकती है। दोनों फुफ्फुसोंके शिखर (Apex) गलेके दोनों ओर अक्षकास्थि-से लग भग १-१॥ इंच तक गये हैं। सामान्यतः दक्षिण फुफ्फुस की ऊँचाई वाम की अपेक्षा कुछ कम है। निम्न भाग में फुफ्फुस महा प्राचीरा पेशी के कुछ ऊपर तक रहते हैं।

फुफ्फुस सीमा—दायें फुफ्फुस की अग्रधारा शिखर से आरम्भ हो कर मध्य रेखा की ओर आगे और नीचे आती है। इसका शिखर प्रथम पशुका की ग्रीवा की सतह पर स्थित है और पीछे की ओर सातवें ग्रैवेयिक कशेरुका के समानान्तर है। वक्षोस्थि के पीछे द्वितीय पशुका की सतह में यह धारा लग-भग मध्य रेखा में पहुँच जाती है, और फिर छटवीं उपपशुका और वक्षो-स्थि के संयोग स्थान तक सीधी नीचे उतर कर अकस्मात् दायीं तरफ मुड़ जाती है और अधोधारा बनकर बाहरकी तरफ चली जाती है। इसकी अधोधारा अग्रधाराके निचले सिरेसे आरम्भ होकर बाहर व पीछेकी ओर जाती है। दायीं पार्श्व वक्षोस्थि रेखा (Parasternal line) में छटवीं पशुका के ऊपर के किनारेके पीछे चूचुक रेखा (Mammary line) में भी छटवीं पशुका के ही समानान्तर दोनों कुक्षिरेखाओं (Axillary line) में सातवीं और आठवीं पशुका और स्कन्धास्थि रेखा (Scapular line) मे १०वीं पशुका के पीछे से गुजर कर पृष्ठवंश में यह १०वीं पशुकान्तर या ११वीं पशु के पीछे रहती है।

बायें फुफ्फुस की अग्रधारा शिखर से आरम्भ हो कर दायें फुफ्फुस के समान ही उरोस्थि के पीछे मध्य रेखा मे आती है और चौथी उपपशुका तक नीचे उतरती है। इसके पश्चात् इन दोनोंकी स्थितिमें अन्तर हो जाता है। यह दायें फुफ्फुस की अग्रधारा के समान सीधी ही छटवी उपपशुका और उरोस्थि के सीधे स्थान तक न उतर कर, चौथी उपपशुका के पीछे ही अकस्मात् बाहर की तरफ मुड़ जाती है, इससे हृदय के पूर्व पृष्ठ का कुछ भाग फुफ्फुस से आवृत नहीं होता। तत्पश्चात् यह महराब बनाती हुई बाहर और नीचे की तरफ उतर

कर पार्श्व उरोस्थि रेखा के कुछ बाहर की तरफ छटवी पर्शुका के पीछे तक आती है। इस विन्दु से अधोधारा आरम्भ होकर दाये फुफ्फुस की अधोधाराके समान ही, परन्तु उससे कुछ नीची पीछे की तरफ जाती है।

दोनो फुफ्फुसो की अधोधारा उदरकी ओर कुछ उन्नतोदर होती है। साधारणतया श्वास लेने पर यह आध इञ्च नीचे तथा गहरा श्वास लेने पर २ या ३ इञ्च तक नीचे उतर आती है, अर्थात् इसका अवतरण श्वासकी गहराई पर निर्भर है।





चित्र न० ६६

वक्ष भित्ति पर फुफ्फुस की दरारो की स्थिति

फुफ्फुस खण्ड—दाहिना फुफ्फुस दो दरारो से तीन खण्डो में और बायीं एक दरार से दो खण्डो मे विभक्त होता है। मध्य दरार दोनो फुफ्फुसोंमें समान है, इससे दोनो फुफ्फुसो के दो दोखण्ड (ऊर्ध्व खण्ड तथा अधोखण्ड) बन जाते हैं। परन्तु दाहिने फुफ्फुसमें एक छोटी सी दरार मध्य दरार से आरम्भ होकर अग्रधारा तक जाती है, इससे दाया फुफ्फुस का ऊर्ध्वखण्ड दो भागो (ऊर्ध्व और मध्य खण्डो) मे विभक्त होजाता है।

अनेक अवस्थाओं मे रोगी के फुफ्फुसके खण्डो की सीमा मालूम करने से भी महत्व पूर्ण सूचनाये प्राप्त होती हैं। इसके लिये एक आडी रेखा द्वितीय पृष्ठ कशेरुका से आरम्भ करके चुचूक रेखा मे छठवीं पर्शुका तक खींचे, तो यह रेखा अधोखण्ड का ऊर्ध्व किनारा प्रदर्शित करेगी। जैसाकि पूर्व लिखा गया है कि दाया फुफ्फुस तीन खण्डो में विभक्त है। इसलिये वक्ष मे दाहिनी

और एक रेखा उक्त मध्य रेखा के मध्य विन्दु से आगे की ओर खींचकर चौथी उपपर्शुका और उरोस्थि के संधिस्थान पर उरोस्थि मिलादें। यह रेखा दायें फुफ्फुसके ऊर्ध्व खण्ड को दो भागो (ऊर्ध्व और मध्य खण्डो) मे विभक्त करने वाली दरार को प्रदर्शित करेगी। चित्र नं० ६६ देखें।

उक्त वर्णन से स्पष्ट होजाता है कि, पीठ पर से फुफ्फुसों को परीक्षा करने से फुफ्फुसोके अधोखण्डोकी ही परीक्षा होती है क्योकि अधोखण्ड का अधिक भाग ही पीछे की तरफ अवस्थित हें ; जबकि आगे की ओर दाहिनी तरफ तो ऊर्ध्व और मध्यखण्ड और बायीं ओर ऊर्ध्वखण्डका अधिक भाग अवस्थित हैं। अतः ये आगे से परीक्षा करने पर ही सुगमता से अवगत होते हैं। कक्षा प्रदेशो (Axillary regions) मे बाहुको ऊपर उठाकर परीक्षा करने पर सब खण्डो के समान भाग विदित होते हैं।

फुफ्फुसावरणः—यह थैली के समान है और फुफ्फुसो को चारो तरफ से ढका रहता है। इसकी दो तहे हैं। एक फुफ्फुस के ऊपर और दूसरी वक्ष भित्ति के नीचे। एक फुफ्फुस के पृष्ठ के साथ चिपटी रहती है और उसकी दरारो में भी घुस जाती है। दूसरी वक्षके नीचे वाली तह है। यह शिखर से आरम्भ होकर उसके साथ साथ मध्य (दूसरी उपपर्शुका, वक्ष और वक्षोस्थि की सधिके समानान्तर) तक आकर दूसरी ओर के फुफ्फुसावरण से साथ आमिलती है, यहाँ से ये दोनो इकट्ठी होकर अग्रधारा के अधोभागसे भी ½ इञ्च नीचे तक चली जाती हे। यह फुफ्फुस की अधोधारा से बहुत नीचे रहती हैं। अर्थात् चूचुक रेखा मे २ इञ्च, मध्य कक्षरेखा मे ४ इञ्च और स्कंधास्थि रेखाओ मे १।। इञ्च के लगभग नीचे रहती है। यह थैली चुचूक रेखामें आठवीं, कक्षा रेखामे दशवी, और स्कंध रेखामे १२ वी पर्शुका के पीछे गुजरती हुई १२ वी, पृष्ठ कशेरुका तक जाती है। वाम फुफ्फुसावरण अन्दर की ओर वाम फुफ्फुस के साथ साथ चौथी उपपर्शुका तक आता है। इसके पश्चात् फुफ्फुस तो बांयी ओर को हट जाता है, किन्तु वहाँ से वाम फुफ्फुसावरण दाहिने फुफ्फुसावरण के साथ नीचे तक जाता है। इस तरह आगे मध्य मे तथा नीचे वाम फुफ्फुसावरण की तहो के मध्य मे रिक्त स्थान रह जाता है। यह स्थान बायीं तरफ आमाशयिक गूँजित गुहा के ठीक ऊपर स्थित है, इसलिये जब तरल की उत्पत्ति (Hydrothorax) के कारण यह नीचे विस्तृत होजाता है। तब उस स्थान पर स्वस्थावस्था की सौषिर ध्वनि के स्थान पर घन ध्वनि प्रतीत होने लग जाती है। चित्र न० १२ देखें।

उरः पंजर (Thorax)—यह छाती मे रहा हुआ हड्डियो का

ढाँचा है। यह ऊपर में ग्रीवा से आरंभ होकर नीचे उदर गुहा तक फैला है। इसमे रहे हुये रिक्त प्रदेश को उरोगुहा (Cavity of the chest) कहते हैं। इसके भीतर आगे की ओर ऊपर मे अक्षकास्थि, बीच में खड़ा उरःफलक तथा उरःफलक को लगी हुई पर्शुकाये और उपपर्शुकाएँ है। पिछली ओर कधे के दोनो ओर अंसफलकास्थि हैं। बीच मे पृष्ठ वंश है। चित्र नं० १७।

अक्षकास्थि (Clavicle)—छाती मे अगली ओर ऊपर के हिस्से मे दोनो तरफ एक एक नलिकास्थि है। इनको अक्षकास्थि कहते हैं। इन दोनों का मिलकर आकार धनुष्य के सदृश होता है। यह कंधे के मूल से उरःफलक तक फैली रहती है।

उरःफलक उरोस्थि (Sternum)—यह अस्थि छाती के अगली ओर रही है। इसके तीन टुकडे हैं। सबसे ऊपर का भाग षट्कोण है, उसे ग्रैवेयक (Manubrium) सज्ञा दी है। मध्यखण्ड को मध्यफलक (Gladiolus) तथा निम्न भाग को अग्र-पत्र (Ensiform-cartilage or xiphoid process) कहते है।

पर्शुका (Ribs) वक्ष से दोनो ओर १२–१२ पसलियाँ लगी हैं। सब पसलियो के सिरे पिछली ओर पीठ में रही हुई कशेरुका के साथ मिलते हैं। ऊपर रही हुई ७—७ पर्शुकाएं क्रमशः लम्बी होती जाती हैं और अगले सिरे से उपपर्शुका के साथ मे तथा उनके द्वारा उरः फलक के साथ संबन्ध मे आती हैं। निम्न स्थान मे रही हुई ५-५ पर्शुकाएँ क्रमशः छोटी होती जाती हैं। इनका सबन्ध उरःफलक के साथ नही है। इनमे ८—९ और १०वी पर्शुका के अगले सिरे अपनी उपपर्शुका द्वारा ऊपर वाली उपपर्शुका के साथ सयोजित होती हैं। ११वी १२वी पर्शुकाओ के सिरे बिल्कुल मुक्त हैं।

उपपर्शुका—(Costal cartilage) उपर्युक्त २४ पर्शुकाओ के साथ जुड़ी हुई उपपर्शुकाएँ भी २४ हैं। ये मुख्यतः तरुणास्थि की बनी हैं। ये पर्शुकाओ के अगले सिरे के साथ जुड़ती हैं।

अंसफलक (Scapula)—कधे के दोनो ओर पीठ मे १-१ त्रिकोणाकार अस्थि है। इनको असफलक कहते हैं। इन हड्डियों के ५-५ भाग किये हैं १. असप्राचीरक (Spine of scapula), २. अंसकूट (Acromion process), ३. अंसतुण्ड (Caracoid process),

(Glenoid cavity) तथा ५. अंश कपालिका (Dorsum of Scapula)

पृष्ठवंश (Vertebral column or spine)—यह वंश २४ पर्वों का बना है। इन पर्वों को कशेरुका (vertebra) कहते हैं। ये वंश ऊपर में मस्तिष्क के साथ तथा नीचे त्रिकास्थि (Sacrum) के साथ संबन्ध रखता है। इसके तीन विभाग हैं। ग्रीवागत, पृष्ठगत, कटिगत। ग्रीवा प्रदेश में ७, पृष्ठभाग में १२ तथा कटिप्रदेश मे ५ कशेरुकाएं हैं।

बाये फुफ्फुसावरण की आगे की ओर की प्रतिफलित क्रिया चौथी पशुका के नीचे बाये फुफ्फुस की अग्रधारा की अपेक्षा मध्यरेखा से ज्यादा पास है। इसलिये वायुकोष प्रसारण (Emphysema) मे, जब कि इस रिक्तस्थान मे दबाव डालकर आगे की ओर विस्तृत हो जाता है, तब हृदय की पूर्ण घन ध्वनिवाला प्रदेश विशेपांश मे आक्रमित होजाता है।

वक्ष के पूर्व और पश्चात् भाग मे रुग्ण स्थान अंकित करने के लिये निःश्वास काल मे निम्न चिह्न उपयुक्त सिद्ध होते हैं।

(१) उरोस्थिका ऊर्ध्व सिरा दूसरी और तीसरी पृष्ठ कशेरुकान्तर के समानान्तर स्थित है।

(२) उरोस्थि के ग्रैवेयक और मध्यभाग की संधि (या दूसरी उपपशुका और उरोस्थिकी संधि) ५ वी पृष्ठ कशेरुका के समानान्तर है।

(३) उरोस्थि के मध्य और अधोखण्ड की संधि ६ वीं पृष्ठकशेरुका के सामने स्थित है।

(४) असफलक (Scapulla), यह पिछली ओर एक उपयोगी चिह्न है। इसका मध्यका कोण, भुजाओं को पार्श्व मे लटके रहने पर प्रथम और द्वितीय पृष्ठ कशेरुकान्तर में समानान्तर स्थित होता है। इसका अंसप्राचीरक भाग (Root of the Spine) तीसरी और चौथी पृष्ठ कशेरुका के समतल चिह्नित किया जा सकता है। इसका अधोकोण अष्टम कशेरुका के शरीर के समानान्तर स्थित है।

जहाँ पशुकाओं के सम्बन्ध का प्रश्न है। अंसफलक का मध्यकोण द्वितीय पशुका को आवृत करता है, अधोकोण सातवे पशुकान्तर या आठवी पशुका तक पहुँच जाता है।

१२ वीं पशुका प्रत्येक रोगी मे प्रतीत कर लेना कुछ कठिन बात है।

इसलिये पर्शुकाओं की गिनती हमेशा ऊपर से नीचे की ओर करनी चाहिये। ताकि भूल होने का भय न रहे। सब रोगियों में द्वितीय पर्शुका आसानी से प्रतीत की जा सकती है। क्योंकि उरोस्थि और द्वितीय पर्शुका के सन्धिस्थान पर जरा सा उभार होता है। इसी उभार को उरोस्थि के उर्ध्व और मध्य भाग का संधिस्थान समझना चाहिये।

वक्ष प्रदेश—वर्णन करने में सुविधा हो इसलिये वक्ष निम्न प्रकार से प्रदेशों में विभक्त कर दिया गया है:—

१—वक्ष के अग्रभाग के मध्य के ३ प्रदेश:—

अ. उरःफलकोपरि प्रदेश (Suprasternal region)—यह स्वर यन्त्रगत कृकाटक तरुणास्थिसे उरोस्थि के ग्रैवेयक भाग के ऊपरले किनारे तक का प्रदेश।

आ. ऊर्ध्व उरःफलक प्रदेश (Superior ternal R.)—उरोस्थि के ग्रैवेयक भाग के ऊपरले किनारे से तीसरी उरोस्थि-पर्शुका संधि तक का क्षेत्र।

इ. अधः उरःफलक प्रदेशः—तीसरी उरोस्थि पर्शुका संधि से उरोस्थि के अन्तिम सिरे तक का क्षेत्र।

इन तीनों प्रदेशों के पार्श्व की सीमा पार्श्व-उरोस्थि रेखाओं तथा इन्हें सीधी कुछ ऊपर बढाई हुई रेखाओं से निर्मित होती है।

२—अग्रभाग के प्रत्येक पार्श्व के पाँच प्रदेशः—

अ. अक्षकोपरि प्रदेश (Supraclavicular R.)—अगर एक टेढी रेखा कृकाटक तरुणास्थि से अक्षकास्थि के बाह्य सिरे तक खींची जाय तो यह इस प्रदेश की उर्ध्व सीमा और अक्षकास्थि अधोसीमा बनाती है।

आ. अक्षकास्थि प्रदेश (Clavicular R.)—अक्षकास्थि से घिरे हुये प्रदेश को कहते हैं।

इ. अधोअक्षकास्थि प्रदेश (Infraclavicular R.)-इसकी ऊर्ध्व सीमा को अक्षकास्थि, और अधोसीमा को तृतीय उरोस्थि पर्शुका संधि की सतह से अंकित की जानेवाली क्षैतिज रेखा, प्रदर्शित करती है।

ई. स्तनान्तरिक प्रदेश (Mammary R.) अधोअक्षकास्थि प्रदेश की अधोसीमा से लेकर छठी उरोस्थि पर्शुका संधि की सतह तक फैले हुए प्रदेश को कहते हैं।

उ. अधोस्तनप्रदेश (Infra Mammary R.)—चूचुक प्रदेश के नीचे वक्ष पर अवस्थित वक्षःप्रदेश का शेष भाग।

ये पाचो प्रदेश दोनो पार्श्व मे होते हैं, और बाहर की तरफ पूर्व कक्षा रेखा तक फैले होते हैं।

३—दोनों पार्श्व प्रदेश—

अ. कक्षा प्रदेश (Axillary R)

आ. कक्षा निम्न प्रदेश (Infra-Axillary)।

उक्त दोनो प्रदेश छठीपर्शुका के समतल मे मिलते हैं।

४—पृष्ठस्थ दोनो पार्श्वों मे ४–४ प्रदेशः—

अ. अंसप्राचीरक प्रदेश (Supra Scapular),

आ. अंसप्रदेश (Scapular), इसके ऊर्ध्व और अधो, ये अंस-प्राचीरक से २ उपविभाग हैं।

इ. अंसफलक निम्न प्रदेश (Infra Scapular)

ई. स्कन्धान्तराल प्रदेश (Inter Scapular) दोनो अंसफलको (कन्धे) के बीच मे रहा हुआ प्रदेश।

उक्त चारो प्रदेशो की स्थिति उनके नामो से ही स्पष्ट है इसलिये विस्तार की कोई आवश्यकता नही है।

उक्त प्रदेशो को समझने के लिए अत्र २ आकृति दी हैं। विद्यार्थियो की विशेष सुविधा के लिये किंचित् अन्तर किया गया है।

२—दर्शन परीक्षा

Inspection

वक्ष प्रदेश की परीक्षा दर्शन, स्पर्शन, ठेपन और श्रवण, इस क्रम से की जाती है। अतः पहले दर्शन परीक्षा लिखते हैं। इस परीक्षा से निम्न बातों का निर्णय किया जाता है।

अ. **वक्षाकृति** (Form of chest)

१. **आदर्श स्वस्थ वक्ष** (Healthy chest)

वक्षः प्रदेशस्थ विधान-लक्षणादि दर्शक कोष्ठक।

चित्र के अंक और प्रदेश	स्थान	ठेपन में स्वाभाविक ध्वनि	आभ्यन्तरीय विधान	पीडाजनित लक्षण
१ दो अक्षकास्थि (Clavicular) प्रदेश	अक्षकास्थि	वक्षोस्थि के निकट में ठेपन ध्वनि अति स्पष्ट (Tympanic)। मध्य प्रदेश और बाह्य अस्थि के समीप मन्द ध्वनि (Dullness)।	फुफ्फुस का ऊर्ध्वभाग।	राजयक्ष्मा रोग मे पीडित स्थान पर बहुधा एक पार्श्व में घनध्वनि (Dullness)।
२ दो अक्षकास्थि बाह्य-प्रदेश (Infra clavicular Region)	अक्षकास्थि से चौथी पर्शुका तक	स्पष्ट आवाज।	फुफ्फुस के ऊर्ध्व खण्ड और वक्षोस्थि के समीप बृहच्छ्वासनलिका।	यक्ष्मा रोग मे इस स्थान पर ठेपन ध्वनि अनियमित जड होती है। ध्वनि वाहक यन्त्र से सुनने पर श्वासनलिका के ऊपर विशेष विस्तृत ध्वनि, श्वासोच्छ्वास क्रिया विकृति, मंद घर्घर ध्वनि और रोगी के कण्ठस्वर से उच्चारित शब्दो की स्पष्ट प्रतिध्वनि (Pectoriloquy) विवर पर की

				वक्ष-दीवार मे से आना, ये चिह्न प्रतीत होते हैं। प्रतिश्याय होने पर विविध आगन्तुक ध्वनि आती हैं।
३ दो स्तनातरिक प्रदेश (Mammary Region)	चौथी से आठवी पशु का के मध्यवर्ती।	अति स्पष्ट ध्वनि, दूर के ठेपन में विशेष शुद्ध आवाज।	फुफ्फुस के मध्य खण्ड ऊपर की ओर वक्षोस्थि के समीप; तथा श्वासनलिका, वामपार्श्व के निम्न भाग में फुफ्फुसावृत हृदय।	प्रतिश्याय रोग मे आगन्तुक ध्वनि। यक्ष्मा रोग में विविध लक्षण। हृदावरण मे रस संचय (Hydropericardium) और हृत्पिण्ड वृद्धि विकार मे वाम ओर ठेपन करने पर जडध्वनि। हृदय के किसी भाग की वृद्धि (Hypertrophy) होने से ठेपन करने पर आवाज बढ जाती है। हृत्कपाट के रोग मे हाफने सदृश ध्वनि (Bellows murmur)
४ दो स्तन बाह्य प्रदेश (Inframammary) Region)	आठवीं से बारहवी पशु का की निम्न सीमा तक	दक्षिण पार्श्व मे जड़ध्वनि, वामपार्श्व मे अनियमित जड़ध्वनि या अस्वाभाविक प्रतिध्वनि	दक्षिण ओर में यकृत् तथा वाम ओर में फुफ्फुस द्वारा आमाशय कुछ आवृत होता है।	आशुकारी फुफ्फुस खण्ड प्रदाह में केशमर्दनवत् मंद द्रवध्वनि (Crepitant) और आगन्तुक आवाज। फुफ्फुसावरण प्रदाहकी परिणतावस्था में श्वासोच्छ्वास आवाज़ रहित। फुफ्फुसकोपों में वायु भरा रहने

				(Interlobular Emphysema) पर शुष्क केशमर्दनवत् द्रव ध्वनि (Crepitation)
५ एक ऊर्ध्व उरःफलकास्थि (Superior Sternal)	उरःफलक का ऊर्ध्व भाग।	पूर्णांश में रिक्त ध्वनि	बड़ी श्वासनलिका	प्रतिश्याय रोग में श्वासोच्छ्वास के साथ श्वासनलिकाओं मे से आगन्तुक ध्वनि।
६ एक मध्य उरःफलकास्थि (Middle Sternal)	उरः फलक का मध्य प्रदेश	पूर्णांश मे रिक्त ध्वनि	फुफ्फुस की मध्य सीमा	फुफ्फुस विधानमे घनीभवन (Red Hepatization) होने पर उरः फलकास्थि पर जड ठेपनध्वनि। वक्षः पार्श्वमें विस्तृत रसस्राव (Effusion) होने पर वहाँ पर घन आवाज।
७ एक अधः उरः फलकास्थि (Inferior Sternal)	उरः फलक का निम्न अंश और अन्तिम उपास्थि। (Ensisternum)	ऊर्ध्व भाग मे रिक्त-ध्वनि। मेद विशिष्ट व्यक्ति मे अपेक्षाकृत कम। निम्न भाग मे अधिकतर जड ध्वनि।	ऊर्ध्व भाग में फुफ्फुसो की सीमा; निम्न भाग मे हृदय, यकृत् और कभी आमाशय।	हृदयके दक्षिण पार्श्वकी पीडाके चिह्न मिलते हैं। रसस्राव, हृदावरणमे मेद संचय, हृदयवृद्धि आदि रोगो मे ठेपन की आवाज जड हो जाती है।

८ दो कक्ष प्रदेश (Axi-lary)	पार्श्व के चौथे से आठवें पर्शु काके मध्यमें	सम्पूर्ण रिक्तध्वनि	फुफ्फुसोंके पार्श्वखण्डों के (Lateral Lobes) ऊर्ध्व भाग, बडी श्वास नलिका।	यक्ष्मारोगमें ठेपन ध्वनि जड, ध्वनि वाहक यन्त्रसे सुननेपर घर-घर ध्वनि और रोगीके उच्चारित काना फूंसी के सदृश शब्दकी प्रतिध्वनि अति स्पष्ट। प्रतिश्याय होनेपर आगन्तुक ध्वनि। उरस्तोय रोगकी परिणतावस्थामें जड़ ठेपन ध्वनि। दक्षिण भाग मे यकृद् वृद्धि होने पर जड ध्वनि। उरस्तोय की परिणतावस्थामे सुनने पर वाक्योच्चारणमे अजाध्वनिवत् कम्पितआवाज (Aegophony) फुफ्फुसप्रदाहमें वाक् प्रतिध्वनि अस्पष्ट (Bronchophony)और केशमर्दनवत् आगन्तुक द्रवध्वनि।
९ दो पार्श्व-प्रदेश Lateral	पार्श्व के चौथे से आठवेपर्शु का के मध्य में	सम्पूर्ण रिक्तध्वनि। वायु कोष विस्तार रोग में अस्वाभाविक रिक्तध्वनि।	फुफ्फुसके पार्श्वखण्डोंकी सीमा।	
१० दो निम्न पार्श्व प्रदेश (Inferior lateral)	पार्श्व देश मे आठवीं पर्शुका के नीचे	जड़ध्वनि	फुफ्फुसोंके पार्श्वखण्डोंकी सीमा। दक्षिणमें यकृत् तथा वाम ओर आमाशयप्लीहा।	फुफ्फुसप्रदाहके प्रारम्भ में केशमर्दनवत् ध्वनि। उरस्तोय रोगमें द्रव वृद्धि होने पर श्वासोछ्वास ध्वनिका लोप; ठेपन करने पर जड़ध्वनि।

११ दो अंश प्राचीरक प्रदेश Acromion)	कण्ठ और स्कन्धास्थि के ऊर्ध्व सीमा के बीच	प्रायः जत्रु के समीप स्पष्ट रिक्त ध्वनि ।	फुफ्फुस का ऊर्ध्व खण्ड और बृहछ्वास नलिका।	क्षय कीटाणु ग्रस्त विस्तृत अंशके ऊपर ठेपन करने पर रिक्तध्वनि। राजयक्ष्मामें गह्वरपर कौप्यक और आगन्तुक घर-घरध्वनि, श्वासोछ्वास और मन्द उच्चारित वचनकी प्रति ध्वनि। प्रतिश्यायमें आगन्तुक ध्वनि। प्रतिश्यायमे उसके चिह्न। ऊरस्तोयमे अजा-ध्वनिवत् आवाज। फुफ्फुसप्रदाह में अस्पष्ट दूरस्थित वाक् प्रतिध्वनि।
१२ दो अंशप्रदेश Scapular.	स्कंध और नीचे की मासपेशीकी सीमा।	व्यवहित ठेपन मे छाती की प्रतिध्वनिके समान ध्वनि।	फुफ्फुसके पश्चात् खण्ड का मध्यभाग।	
१३ स्कधान्तराल प्रदेश (Interscapular)	उभय स्कंध के भीतरकी धारा के मध्य मे।	अंगुली रखकर या छाती की ओर १ हाथ पर दूसरा हाथ रख तथा मष्तिष्कको झुका कर ठेपन करने पर रिक्त ध्वनि।	फुफ्फुसके पश्चात् खण्ड के मूल और भीतरका अंश।	प्रतिश्यायमे स्पष्ट लक्षण। ऊपरके भागमें श्वासोछ्वासध्वनि सुननेमे आती है। फुफ्फुसावरणमे रक्तस्राव होने पर ध्वनि लोप। कुछ प्रदाह और स्राव होने पर निम्नभागमें अजाध्वनिवत् आवाज। प्रबल फुफ्फुसखण्ड प्रदाहमे केशमर्दनवत् ध्वनि और वाक् प्रतिध्वनि अस्पष्ट। श्वासनलिका की ग्रन्थियोंकी पीड़ामें स्पष्ट लक्षण।

१४ दो पीठवा निम्न प्रदेश (Ieferior dorsal)	स्कधके निम्न कोन और धारा Serrated. से पीटकी ओर १२वी कशेरुका तक।	ऊर्ध्वभागमे पशुकाके कोन पर ठेपनमे रिक्तध्वनि निम्न दक्षिणपार्श्व मे जड़ध्वनि और वामपार्श्व में सौषिरध्वनि।	फुफ्फुसोका निम्न भाग, दाहिनी ओर यकृत्का अश तथा बायी ओर आमाशय।	फुफ्फुसखण्डप्रदाहके प्रारम्भमे श्रवण यन्त्रसे सुनने पर केशमर्दनवत् द्रवध्वनि और अस्पष्ट वाक् प्रतिध्वनि। उरस्तोय रोगमे अजाध्वनिवत् आवाज दोनो व्याधियोंमे ठेपन करने पर जडध्वनि।

२. फुफ्फुसों की भावी रोग प्रवणता दर्शक वक्षाकृति—

(अ) पक्षाकार—(Alar chest)

(आ) समतल—(Flat chest)

३. भूतकाल के रोगों के चिह्नों सहित वक्षाकृति

(अ) अस्थिवक्रता से प्राप्त—(Ricketic chest)

(आ) कपोत वक्ष—(Pigeon breast)

(इ) हैरिसन परिखा युक्त—(Harrison's Sulcus)

४. विद्यमान रोग चिह्नो सह अनुचित वक्ष—

(अ) पीपाकार—(Barrel shaped chest)

(आ) शून्योदर या आकुंचित पार्श्वमय-(Bilateral retraction

५. वक्ष के एक पार्श्व में परिवर्तन—

(अ) वृद्धि—(Enlargement)

(आ) ह्रास—(Diminution)

६. स्थानिक परिवर्त्तन—

(अ) उभार—(Bulging)

(आ) आकुंचन—(Retraction)

(इ) नलाकार अवनति—(Funnel shaped deperssion)

आ—वक्ष की गति—

१. श्वास क्रिया से संबन्ध युक्त—

(अ) श्वास गति—(Rate)

(आ) ताल—(Rhythm)

(इ) प्रकार—(Type)

इसका स्वरूप जानने के लिये द्वितीयाध्याय देखे। वहाँ पर विस्तार का परिमाण, एक पार्श्व की संलग्नता, स्थानिक विलम्बित गति, स्थानिक आकुंचन और स्फीति; इन सबका विवेचन किया है।

२—श्वासक्रिया से सम्बन्धरहित-हृदय की कपकपी (Pulsation) इस का वर्णन अध्याय ४ में किया है।

अ—वक्ष की आकृति—

यह पशुकाओं के मोड़ और तिर्यक्ता तथा पृष्ठवंश की वक्रता पर

अवलम्बित है। उरोस्थि का मोड़ भी इन्हीं दो बातो पर निर्भर है। जब पर्शुकाओ का मोड़ उचित परिमाण का होता है, तो वक्ष की आकृति भी यथोचित होती है। पर्शुकाये जितनी ज्यादा क्षैतिज होती हैं, वक्षका अतिक्रम परिच्छेद (Cross-section) उतना ही अधिक गोल प्रतीत होता है। पर्शुकान्तर चौड़े होते हैं और उपपर्शुका और उरोस्थि सन्धिका कोण ज्यादा स्थूल बन जाता है; जब कि इसके विपरीत पर्शुकाओ की टेढ़ाई ज्यादा हो जाय तो पर्शुकान्तर तंग हो जाते हैं, तथा वक्ष का अतिक्रम परिच्छेद भी कुछ अंडाकार हो जाता है। बृहद् अक्ष आडा तथा लघुअक्ष अग्र-पश्चात् (Antero-posterior) दिशा मे हो जाता है। एवं उपपर्शुका-उरोस्थि संधिका कोण स्वाभाविक की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म हो जाता है। स्वस्थावस्था में यह कोण पुरुषो मे ७० अंश का और स्त्रियो में ७५ अंश (डिग्री) का होता है। इसमे १० डिग्री न्यूनाधिक्य हो सकता है; पृष्ठवंश के पार्श्व के मोड़ (Lateral curvature) में वक्ष के पार्श्व बेडौल हो जाते हैं। जब पृष्ठवंश आगे की ओर अस्वाभाविक नतोदर हो जाय तो वक्ष की आकृति में अन्यपरिवर्तन् हो जाते हैं, जिनका वर्णन आगे किया जायगा।

(१) **स्वस्थवक्षः**—इसमें निम्नाकित बाते होती हैं। दोनो पार्श्व सुडौल सम होते हैं। इसकी परिधि समान होती है, उसमे बड़े गड्ढे नहीं होते। अक्षकास्थि के नीचे कुछ परावृत्ति प्रतीत होती है। छाती एक दम गोल न होकर, इसकी पीठ चौडी है और पार्श्वाश से गोलाई आरंभ होकर मध्य रेखा के समीप आकर समाप्त होजाती है। इसका अतिक्रम परिच्छेद अंडाकार होता है, इसके एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व तक के व्यास और आगे से पीछे तक के व्यास का अनुपात लगभग ७:५ होता है। इसकी सार्वाङ्गिक आकृति लम्बे अक्ष में अण्डे के समान होती है। बालको मे अतिक्रम परिच्छेद लगभग गोलाकार होता है।

वक्षोस्थि ऊपर से नीचे उन्नतोदर होता है (.जब सामने से ऊपर से नीचे-से देखी जाय)। उरस्था पेशियो के दोनो पार्श्व में होने से अगंभीर गर्त्त मालूम पड़ता है, जिसे उरःफलक परिखा (Sternal furrow) संज्ञा दी है। वक्षोस्थि के ग्रैवेयक भाग और उसके मध्य भाग की संधि पर कोण सा बन जाता है, इसे ल्युइसका कोण (Louis's angle) कहते है। यह कोण दृष्टिगोचर तो कभी कभी ही होता है। परन्तु यह साधारणतया सर्वदा स्पर्श तो हो सकता है। उरः फलक परिखा नीचे की ओर ७वी उपपर्शुका के समानान्तर अधोवक्ष खात में समाप्त होती है। बृहती उरच्छदा

गुर्वी (Poctoralis major) पेशी के विभाजित होने के कारण अक्ष-कास्थि के नीचे स्वल्प गहर होता है। यह गहर गहरा न होना चाहिये, क्योंकि यह निर्बलता का प्रतीक है, तथा मॉसपेशियों के सङ्कोच के समय स्पष्ट प्रतीत होना चाहिये। उरच्छदा गुर्वी और अंसच्छदा (Deltoid) पेशी के मध्यमें, स्कंध से जरा सा नीचे एक अधिक स्पष्ट गर्त्त होता है। यह मध्य रेखा से ज्यादा दूर होता है और इसे अक्षकाधर खात (Infra clavicular or Mohren Hemis Fossa) कहते है। यह खात मनुष्य के यक्ष्मा से पीडित होने पर ज्यादा गहरा होजाता है।

चूचुक प्रदेश की आकृति चूचुक ग्रन्थियो की वृद्धि और अन्तर त्वचागत वसा की मात्रा पर निर्भर है। वसामय व्यक्तियो मे स्तनप्रदेश के भीतर वसा संचित होने के कारण उभरे हुए प्रतीत होते हैं। साधारणतया वयस्क पुरुषों मे दोनों चूचुक चतुर्थ पर्शुकान्तर मे मध्य रेखा से लगभग ४·४ इंच दूरी पर रहते हैं।

क्रियात्मक जीवन मे ऐसे आदमी विरले ही मिलते हैं। जिनके वक्ष के दोनों पार्श्व योग्य परिमाण मे हों। इनमे कुछ-न-कुछ अन्तर होता है, परन्तु साधारण दृष्टि से यह अन्तर विदित नहीं होता। प्रायः दॉयी पार्श्व बॉयें की अपेक्षा अधिक विशाल होता है, दॉयीं अक्षकास्थि बॉयी की अपेक्षा ज्यादा झुकी होती है, और पृष्ठ वंश भी अक्सर पार्श्व के मोड़ की ओर झुका रहता है। परीक्षक को इसकी परीक्षा करने के लिये सर्व प्रथम सामने से, पार्श्व से और पीछे से वक्ष का निरीक्षण करना चाहिये। तत्पश्चात् परीक्षक को स्कंधों के ऊपर पीछे से देखना चाहिये ताकि वक्ष के पार्श्व की बाह्य क्षैतिज सीमा प्रतीत की जा सके। यह अन्तिम विधि पार्श्व की अनुचितता और फैलाव की विषमता को मालूम करने की अत्युपयोगी है। यदि दृष्टि डालते ही अनुचितता या विषमता प्रतीत हो जाय तो इसे अवश्य रुग्णावस्था का प्रतीक समझना चाहिये।

इसके साथ उरः पंजर (Thorax) के समान ग्रीवा तथा हृदयाधरिक प्रदेश (Epigastrium /R.) का भी निरीक्षण कर लेना चाहिये पाठ की ओर देखने पर इस बात पर लक्ष्य देना चाहिये कि, अंसफलक की कशेरुका धारा (वंशानुगाधारा) अस्वाभाविकतया उभरी हुई तो नहीं है ? दोनो मध्य-रेखा से समान दूरीपर है या नहो ? तथा दोनो ओर अधोकोण समान सतह पर स्थित है या नहीं ?

अस्वाभाविक वक्षाकृति—रोग के कारण वक्ष की स्वाभाविक आकृति में च्युति सम्पूर्ण वक्ष को या वक्षके कुछ भाग को प्रभावित कर सकती है। अस्वाभाविक वक्षाकृति ३ श्रेणियोमें विभक्त होती है। १ फुफ्फुसों की रोग प्रवणता की सीमा दर्शक, २ प्राक् कालीन रोग दर्शक, ३ विद्यमान विकृति दर्शक। इनमें प्रथम प्रकार के २ भेद पाये जाते हैं:—पक्षवत् और समतल छाती। द्वितीय प्रकार के ३ भेद होते हैं:—अस्थिवक्रताजन्य, कपोत वक्ष और हैरिसन परिखायुक्त। तृतीय प्रकार के २ भेद हैं:—नलाकार और शूर्णोदर वक्ष या उभय पार्श्व का आकुंचन।

इन उल्लिखित तीनों विकृत आकृतियों में वक्ष के दोनों पार्श्व समान तथा प्रभावित होते हैं। इसलिये दोनों पार्श्वों में समान विकृति सुस्थिर रहती है इसके अतिरिक्त ऐसे भी रोग होते हैं जिसके फल स्वरूप वक्षके दोनो पार्श्व-विषम हो जाते हैं। एक पार्श्व का घनफल दूसरेसे न्यूनाधिक हो सकता है, और इस प्रकार दोनों पार्श्वों में विषमता उत्पन्न हो जाती है। अन्त में यह भी जान लेना जरूरी है कि कुछ ऐसे भी स्थानिक रोग होते हैं जिनके कारण वक्ष के मर्यादित भाग की आकृति में ही अस्वाभाविक परिवर्तन होते हैं।

१. आदर्श स्वस्थवक्षाकृति—का वर्णन पूर्व ही से कर दिया गया है।

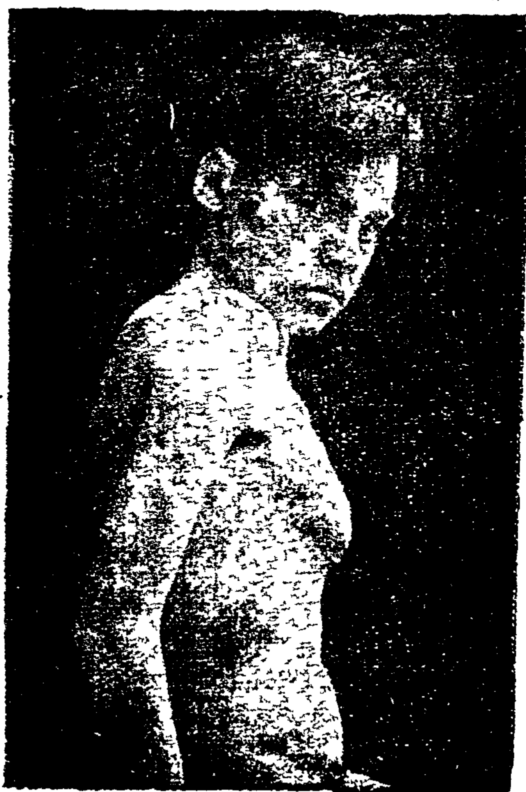
२ फुफ्फुसों की रोग प्रवणता दर्शक वक्षाकृति—पक्षाकार और समतल, ये दो आकृति मुख्य हैं।

(अ) पक्षाकार वक्ष (Alar chest)—इस प्रकार में स्कन्धास्थि की वंशानुगा धारा (Vertebral border) पृष्ठ वंश की ओर अत्यधिक बाहर निकल जाती है और स्कन्ध नीचे गिर जाता है। इस विकृतिका कारण पर्शुकाओं का मुड़ना है। ऐसा होनेपर पर्शुकाओं का अधिक्षेपण होता है। फिर उनका आडे व्यास का कोन तथा पक्षों का मोड़, दोनों स्वस्थावस्था की अपेक्षा अधिक आकुंचित होते हैं। उरःपन्जर लम्बा और कुछ उथला हो जाता है। ग्रीवा लम्बी होती है तथा अवटुक तरुणास्थि (Thyroid Cartilage) बाहर निकल आती है।

(आ) समतल वक्ष(Flat Chest)—यह उपपर्शुकाओं के न तो दूर हो जाने से उत्पन्न होती है, जो कि अधिक या न्यून सपाट हो जाती है। इसके फलस्वरूप उरः फलक भी नीचे दब जाता है, इससे पृष्ठ वंश और उसके मध्य की दूरी कम हो जाती है। समतल वक्ष के साथ अक्सर पक्षाकार वक्षभी

विद्यमान होता है, परन्तु यह याद रखना चाहिये कि, सर्वदा ही ऐसा नहीं होता।

(इ) भूतपूर्व रोग को दर्शाने वाली वक्षाकृतिः—अनेक रोग ऐसे होते हैं जिनके नष्ट हो जाने पर भी वक्ष पर अनेक चिह्न रह जाते हैं। यह चिह्न आजीवन वक्ष पर अंकित रह सकते हैं। इस विभाग में अनेक रोग सम्मिलित किये जा सकते हैं, परन्तु नीचे मुख्य रोगों का ही वर्णन किया जायगा।



चित्र नं० १०१

पेरिखायुक्त अस्थिवक्र रोगज वक्ष

(अ) अस्थिवक्र रोगज वक्षः—अस्थिवक्रता (Rickets) बाल्यावस्था का एक रोग है। इस रोग में खटिक की न्यूनता के कारण अस्थियाँ मृदु हो जाती है, फिर भार या दबाव के कारण शीघ्र दब जाती है या विकृत हो जाती है। स्वाभाविकतया ही यह रोग उस स्थानको ज्यादा प्रभावित करता है जहाँ तरुणास्थियाँ (Cartilages) अस्थियों से जुड़ती है। इसी लिये, किसी अवरोध के कारण श्वास लेने पर जब शुद्ध वायु फुफ्फुसों में पूर्णतया न जा सके, तब वक्ष *उपपर्शुकाओं और उरोस्थि के संधि स्थान पर,*

बाह्य वायु के दबाव के कारण नीचे दब जाती है। इस प्रकार इस प्रदेश में खड़ी परिखा, वक्ष के दोनों पार्श्व में समान रूप से बन जाती है। आगे जाकर यह रोग दूर हो जाता है, परन्तु यह परिखा आजीवन अंकित रह जाती है। अस्थि वक्ररोगज वक्ष की आकृति नीचे के चित्र में दिखलाई गई है, जिसमे उरोस्थि के पास दोनों तरफ वक्ष सिकुडी हुई आसानी से प्रतीत की जा सकती है। जब रोग भयंकर हो तो वक्ष भित्ति इतनी मृदु हो जाती है कि परिखा उत्पन्न होने के लिये श्वास लेने मे किसी प्रकार के अवरोध होने की आवश्यकता ही नहीं रहती। अपितु वक्ष मे श्वास लेने के समय सर्वदा रहने वाला न्यून दबाव ही परिखा उत्पन्न करने के लिये काफी होता है।
चित्र न० १०१ देखें।

(आ) कपोतवक्षः—बाल्यावस्था मे जबकि पशुकाएँ मृदु होती हैं। उस समय अगर श्वास लेने मे किसी प्रकार का नगण्य अवरोध भी हो जाय, तो इसके फल स्वरूप पशुकाएँ आगे की ओर कोण पर सीधी हो जाती है, जहाँ महराव कम होने के कारण अज्ञात बाह्य दबाव के कारण यह आसानी से विकृत हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि वक्षोस्थि कबूतरके समान आगे की ओर अधिक उभर आती है और उसके नीचे का सिरा उदर मे सामने निकल आता है। इससे निम्न स्थान पर एक तीक्ष्ण कोण बन जाता है। इसके साथ ही वक्ष का अतिक्रम परिच्छेद लम्ब वर्तुल के स्थान पर त्रिकोणकार प्रतीत होने लग जाता है। जिसका एक कोण सामने उरोस्थि पर और दो पीछे की ओर पशुका कोणों पर अव स्थित होते हैं।

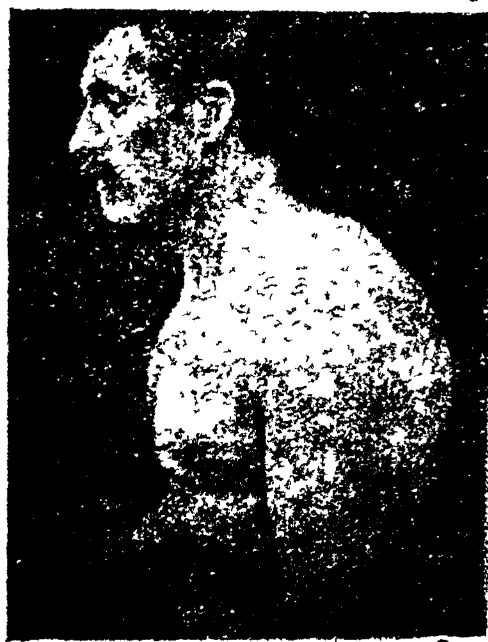
(इ) परिखायुक्त वक्षः—इस आकृति मे उरोस्थि के अग्रपत्र (Xiphisternum) के बाहर की ओर दोनो तरफ आडी परिखाएँ बन जाती हैं। ये परिखाएँ बाहर और कुछ नीचे की तरफ होती हुई चूचुक रेखा के बाहर तक चली जाती है, परन्तु मध्यकक्षा Mid-axillary) रेखा तक कभी-कभी ही पहुंचती है। यह विकृति भी कपोत वक्ष में वर्णित कारण से ही उत्पन्न होती है। परन्तु या तो श्वास मे स्वल्प अवरोध होने या अस्थियो के अधिक कठोर हो जाने पर भी ऐसी विकृति हो जाती है। चित्र न० १०१ देखें

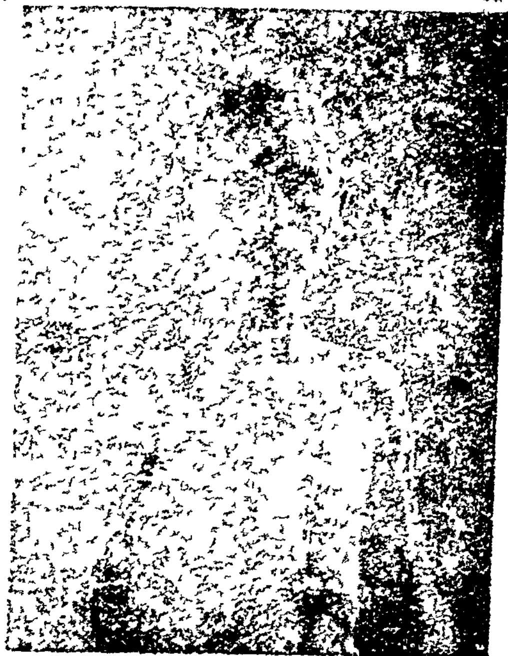
अवरोध तुच्छ होने तथा अस्थियो के कठोर हो जाने के कारण परिखा सबसे अधिक वशवर्ती मध्य स्थान पर ही उत्पन्न होती है, और यह गह्वर जहाँ सबसे चौडा है, उसीके समानान्तर होती है। इस परिखा के नीचे की तरफ यकृत आदि उदरस्थ अंग वक्षभित्ति को सहारा दिये रहते है, इसलिये यह परिखा नीचे की तरफ नहीं बनने पाती। एवं अधिक ऊंचाई पर पशुकाओं

का बृहद् मोड बाह्यदबाव को सहन करने की शक्ति प्रदान कर देता है, इससे परिखा उस स्थान मे भी नहीं बन सकती।

उक्त तीनों प्रकार की विकृतियाँ एक-ही मनुष्य मे साथ ही पायी जा सकती है, और मुख्यतया कपोत वक्ष और परिखायुक्त वक्ष तो सर्वदा ही साथ साथ ही प्रतीत होती है।

४ विद्यमान रोग दर्शक वक्ष—अनेक रोगों की उपस्थिति भी वक्षाकृति में परिवर्तन कर देती है। उनमे निम्न मुख्य हैं।





चित्र न० १०२

नलाकार वक्ष

अ नलाकार वक्षः जीर्ण तमक श्वास तथा कासमे उत्पन्न वायु कोष्ट—विस्तृति मे फुफ्फुसाका घनफल बढ़ जाता है। इसलिये स्वाभाविक वक्ष मे इनका समा सकना कठिन हो जाता है। इस स्थान की पूर्ति के लिये पर्शुकाओं का मुडाव सामान्य तरह से कुछ कम हो जाता है, पृष्ठ वंश पीछे की तरफ उन्नतोदर होजाता है तथा वक्षोस्थि आगे की ओर स्वाभाविक अवस्था से ज्यादा उभर आती है। यह जब होता है, तब ग्रैवेयक मध्यफलक कोण (Angle of Louis) अधिकाश से उन्नत होजाता है।

वक्ष की रचना (जो श्वास लेने के समय वक्ष को फुलाती है) के कारण फुफ्फुसों के घन फल की वृद्धि के साथ ही वक्ष का प्रसारण भी अधिक

होजाता है। सम्पूर्ण छाती की गति द्वारा परवर्त्ती काल में यही प्रभाव पड़ता है कि श्वास ग्रहण मे सहायता पहुँचाने वाली मॉस पेशियों को उपपर्शुकान्तर का स्थान ग्रहण करना पड़ता है। इस कारण से ये अधिक बाहर निकल आती है। उस समय वक्षोदर मध्यस्था पेशी का कार्य भार भी काफी बढ़ जाता है। उस अवस्था मे छाती नलाकार (ऊपर से नीचे समान गोल) बन जाती है। ऐसे रोगियो के ग्रीवा मूज उभरे हुए तथा तत्स्थानीय शिरायें फूली हुई होती है ऐसा रोगी दूर से ही पहचाना जाता है कि यह पुराने दमेका रोगी है या इसे वायुकोष्ठ विस्तृति का रोग है।

पृष्ठ वंश की कुब्जावस्था (kyphosis) होने पर वक्षा कृति वायुकोष प्रसारण पीड़ित रोगी की वक्षाकृति का अनुकरण करती है। चित्र नं० १०२

आ. शून्योदर वक्ष–(Bilateral hollowing or Retraction) क्षय पीड़ित रोगियों की छाती समतल होजाती है, यह पृष्ठ ३७२ मे दर्शाया है। उसकी चरमावस्था मे छाती पोली होजाती है अर्थात् दोनो पार्श्वों का आकुंचन होजाता है।

५. एक पार्श्वगत परिवर्तन इस प्रकार मे एक ओर का पूरा फुफ्फुस प्रभावित होता है। इसके २ उपप्रकार हैं। वृद्धि और ह्रास। इस परिवर्तन का परिणाम उभार या आकुंचन होता है, वह नं० ६ के अन्तर्गत दर्शाया जायगा।

अ. एक पार्श्वगत वृद्धि—जब एक तरफ के फुफ्फुसावरण मे तरल या वायु सचित हो जाय, या फुफ्फुस का घनफल (सामाई), अर्बुद, शोथ या क्षति पूरक स्थूलता (Hypertrophy) (जब एक फुफ्फुस को दोनों फुफ्फुसो का कार्य करना पड़े) के कारण उस प्रभावित फुफ्फुस के आकार की अस्वाभाविक वृद्धि (Enlargement) होजाती है। इसके साथ ही चिकित्सक को यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि तरल सचय के कारण सर्वदा रुग्ण पार्श्वका उभर आना जरूरी नहीं है, हालांकि अक्सर ऐसा ही होता है। किन्तु कभी कभी पीड़ित पार्श्व-छोटा मालूम होने लगता है। फुफ्फुसावरण में तरल सचय होने पर, सर्व प्रथम उसका दबाव फुफ्फुसों ही पर पड़ता है, जिसके कारण उसकी स्थान च्युति होजाती है। इसके पश्चात् जब धीरे-धीरे फुफ्फुसों की स्थिति स्थापकता नष्ट होजाती है। फिर उस ओर की वक्षकी परिधि परिवर्त्तित होजाती है। जब तरल सचय के कारण वक्षाकृति परिवर्त्तित होजाय, तब तरल के आधिक्य और रोगारंभ के समय की कल्पना की जा सकती है।

(आ) घनफल की न्यूनता—फुफ्फुसों के संकोचका एक प्रतीक है। फुफ्फुस संकोच राजयक्ष्मा अथवा फुफ्फुसावरण के तरलमय प्रदाह में उसकी दोनों तहोंका परस्पर संलग्न हो जाने पर होता है। श्वासनलिका (Bronchi) में अवरोध होने पर उस ओर का फुफ्फुस सिकुड़ जाता है। फिर अन्दर की ओर दब जाता है।

किसी रोग के कारण फुफ्फुस या फुफ्फुसावरण के वृद्धि या ह्रास रूप परिवर्तन जानने के पहले पृष्ठ वंश अस्वाभाविक मुडा हुआ है या नहीं? यह भी निर्णित कर लेना चाहिये। क्योंकि, पृष्ठवंश जिस ओर चक्रवत् मुड जाता है, उस ओर का पार्श्व उभर आता है। अगर परीक्षक केवल सामने से ही उभरे हुए पार्श्वको देखकर रोग निर्णय कर लेगा, तो निदान में बड़ी भारी भूल होने की संभावना है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि अल्प वयस्य रोगियों में फुफ्फुस संकोच के कारण ही पृष्ठवंश की वक्रता होजाती है। उदर रोगों से भी कभी-कभी भ्रम पैदा हो सकता है।

६. पार्श्वगत स्थानिक परिवर्तन—इसमें एक पार्श्वका स्थान विशेष ही प्रभावित होता है। इसके ३ प्रकार है, उभार, आकुंचन और नाली सदृश अवनति।

अ. उभारः—निम्न ५ कारणों से वक्ष के भिन्न-भिन्न स्थानों में उभार उत्पन्न हो सकता है।

(१) वायु कोष्ठ विस्तृति में वक्षकास्थि के ऊपर फुफ्फुस शिखर अस्वाभाविकतया उभर आते हैं।

(२) तरलमय उरस्तोय में जब मुख्यतया पूयोत्पत्ति हो रही हो, तब पीड़ित स्थान के पर्शुकान्तर उभर आते हैं।

उपर्युक्त दोनों अवस्थायें सम्पूर्ण पार्श्वकी वृद्धि के साथ या इसके अनुपस्थित होने पर भी उत्पन्न हो सकती है।

(३) फुफ्फुसों के अर्बुद, विद्रधि या शोथ के कारण।

(४) हृदयरोगों के कारण।

(५) पर्शुकाओं या वक्षकी माँस पेशियों के शोथ, विद्रधि, अर्बुदादि के कारण।

आ. आकुंचन—कुछ रोग ऐसे हैं जिनके कारण वक्ष नीचे बैठ जाती है और वक्ष के पृष्ठ पर खात सा होजाता है।

(१) राजयक्ष्मा में अक्सर एक या दोनों फुफ्फुसों के शिखर संकुचित होजाते

हैं। इसलिये अक्षकास्थि के ऊपर खात सा बन जाता है। इस प्रकार के खात अक्षकास्थि के अधो प्रदेश मे भी पैदा हो सकता है, जो साधारणतया स्पष्ट प्रतीत होता है।

उभारयुक्त वक्ष या समतल वक्ष में भेद करने के लिये परीक्षक को रोगी के वक्ष का, स्कन्धों के ऊपर से नीचे या उदर के नीचे से ऊपर लम्ब रेखा मे निरीक्षण करना चाहिये।

(२) राजयक्ष्मा और अन्य क्षयकारक व्याधियो में पर्शुकान्तर बैठ जाते हैं, और पर्शुकाएं ऊपर उभरी हुई प्रतीत होती है। क्योकि मासपेशियो और अन्तर्त्वचा के तन्तुओं को उचित पोषण मिलना बन्द हो जाता है।

(३) कभी-कभी फुप्फुसावरण प्रदाह के पश्चात् भी इसकी दोनो तहों के सलग्न हो जाने से वक्ष मे स्थानिक खातसा बन जाता है।

(इ) नाली सदृश अवनति—कभी-कभी सामने वक्ष की मध्य रेखा में नीचे की तरफ गढा सा नजर आता है। कभी तो यह जन्मार्जित होता है और कभी बाल्यावस्था मे श्वास क्रिया में अवरोध होने या अन्य अज्ञात कारण से उत्पन्न हो जाता है। कुछ अवस्थाओं मे तो यह तृतीय पर्शुका तक विनृस्त होजाता है। कभी इसी प्रकार का कम गहरा गढा माचियों मे उनके व्यवसाय के कारण उत्पन्न हो जाता है।

आ. वक्ष की गतियां

रोग निर्णय करने के लिये श्वास के समय वक्ष में उत्पन्न गतियों को देखना भी महत्व-पूर्ण है। इसमे श्वास की गति, यति, स्वरूप और परिमाण प्रतीत करना चाहिये।

(१) गति (Rate) स्वस्थावस्था के वयस्क व्यक्तियों में श्वास की गति लगभग १८ या २० वार प्रति मिनिट होती है। परन्तु इसे कभी निश्चित सख्या नही मान लेना चाहिये। क्यों कि इससे कभी बहुत कम और कभी बहुत ज्यादा होती है। श्रम, मानसिक उद्वेग, ज्वर, श्वास और रक्त में कार्बोनिक एसिड की मात्रा बढ़ जाने पर श्वास की गति बढ जाती है। रक्त मे कार्बोनिक एसिड, हृदय, फुफ्फुस, श्वास नलिका, या स्वरयन्त्रके रोग से या स्वयं रक्त की प्राणवायुको ग्रहण करने की शक्ति न्यून हो जाने पर श्वास की गति बढ जाती है। ज्यो ज्यो रक्त मे आंगारिक द्विवायु की मात्रा बढ़ती है, त्यों-त्यों मनुष्य को प्राणवायु की आवश्यकीय मात्रा प्राप्त करने के लिये

श्वास जल्दी-जल्दी लेना पड़ता है। इसके अतिरिक्त उन सब रोगों में जिनमें श्वास लेने में पीड़ा प्रतीत हो, तथा फुफ्फुसावरण प्रदाह और उदर कला प्रदाह में पीड़ा के कारण श्वास उथला हो जाता है, इसलिये कमी को पूर्ण करने के लिये रोगी बार बार श्वास लेता है।

परीक्षक को यह भी देखना चाहिये कि श्वास की गति का नाडी की गति के साथ क्या सम्बन्ध है? स्वस्थावस्था में सामान्यतः इसका अनुपात १:४ का होता है, अर्थात् मनुष्य एक मिनिट में १७-२० बार श्वास लेता है जब कि नाडी साधारणतया ७०-८० बार चलती है। श्वसनक ज्वर में श्वास की गति शीघ्र हो जाने के कारण यह १:२ तक हो जाता है। निद्राप्रद (Narcotic) विष से विषाक्त होने पर यह अनुपात १:६ या १:७ तक भी हो जाता है।

(२) यति (Rhythm) स्वस्थावस्था में भी यह कभी सम नहीं होती है। श्वास कभी उथला और कभी गम्भीर होता है। रोगी को इसका ज्ञान हो जाने पर कि परीक्षक गति और यति की परीक्षा कर रहा है, अवश्यमेव श्वास में अन्तर पड़ जाता है। इसलिये यह आवश्यक है कि इनकी परीक्षा करते समय रोगी का ध्यान दूसरी तरफ लगा रहे, तब ही सही परिणाम हो सकता है। यति में दो प्रकार के परिवर्तन हो सकते हैं। निःश्वास का लम्बा होना या श्वास का लम्बा होना। श्वास का लम्बा होना मुख्य श्वास नली या स्वरयन्त्र की विकृति से सम्बन्ध वाला है। तथा निःश्वास का लम्बा होना श्वास नलिका या फुफ्फुस रोगों का प्रतीक है।

अनेक रोगों की अन्तिम अवस्था में, विशेषतः हृदय और श्वास रोगों में, श्वास की गति विचित्र सी हो जाती है। इनमें श्वास गति उत्तरोत्तर गम्भीर होती जाती है, यहाँ तक कि अपनी सीमा पर पहुँच कर फिर धीरे-धीरे उथली होने लग जाती है। पुनः उत्तरोत्तर उथली होती हुई अति उथली होकर कुछ कालके लिये विराम हो जाता है। पुनः इसी प्रकार क्रमशः वृद्धि होकर गम्भीर अगम्भीर, गाध और विराम होकर चक्कर चलता रहता है। (ΔΔΛΔΔ—ΔΔΛΔΔ) इस तरह क्रमशः वृद्धि ह्रास और विराम होते रहते हैं। इस श्वास गति को आयुर्वेद में छिन्न श्वास और पाश्चात्य चिकित्सा में "चेन स्टॉक श्वास (Cheyne Stokes Breathing) कहा है। दो चक्करों के मध्य का विराम ½ मिनिट का, हालाँकि अक्सर इसमें कम ही होता है और सम्पूर्ण एक चक्र २ मिनिट से भी कम समय में समाप्त हो जाता है। अन्तिम अवस्था

में इस विराम का समय बढ़ तो जाता है और अन्त मे पूर्ण श्वासावरोध होकर मृत्यु हो जाती है।

इस प्रकार के श्वास की प्रतीति संन्यास या सुषुप्ति अवस्था मे ही होती है। जागृतावस्था और मुख्यतया वार्तालाप करते समय इसका ज्ञान करना कभी कभी कठिन हो जाता है। इस श्वास से ही मिलते जुलते अन्य प्रकार के श्वास उत्पन्न हो सकते हैं, जिनका इससे निश्चित भेद होता है।

एक अन्य प्रकार का श्वास और है, जिसका "चेनस्टोक" से निदान करने मे अक्सर भ्रम हो जाता है। परन्तु वास्तव मे यह उससे भिन्न ही है। इसमे विश्राम के पश्चात् चक्कर के मध्य तक श्वास धीरे धीरे गम्भीर न होकर अकस्मात् गम्भीर होकर शनैः शनैः उथला, अति उथला और विराम, रूप चक्र चलता है। यह अक्सर मस्तिष्कावरण प्रदाह मे देखा जाता है।

३—स्वरूप—(Type) स्वस्थावस्था में श्वास लेने पर वक्ष और उदर, दोनो गति करते हैं। श्वास ग्रहण करने पर उदर ऊपर उठता है और निःश्वास मे नीचे बैठता है। जब कभी श्वास क्रिया वक्षके ऊर्ध्वभाग से सम्पादित होती हुई प्रतीत होती है, तब इसे वक्षीय (Thoracic Type) श्वास कहा जाता है। कुछ सीमातक यह श्वास औरतो मे पाया जाता है, परन्तु श्वास का यह प्रकार पूर्णतया वृद्धियुक्त तो उस अवस्था मे विदित होता है, जब कि वक्षोदर मध्यस्था पेशी का पक्षाघात हो जाय या प्रदाह के कारण यह स्थिर हो जाय अथवा किसी हेतु वश उदर का दबाव बढ़ जाय।

पुरुषो और छोटे बालको की श्वास क्रिया मे वक्षोदर मध्यस्था पेशी और उदर की पेशियाँ महत्व पूर्ण भाग लेती हैं। ऐसी अवस्थाओ मे जबकि पर्शुकान्तर पेशियो का पक्षाघात हो जाय, या वक्ष मे फुफ्फुसावरण प्रदाह तथा पर्शुकान्तर पेशियो की आपेक्षिक पीडा (Pleurodynia) आदि वेदनाप्रद कारण उत्पन्न हो जाय तब श्वास पूर्णतया उदरीय (Abdominal) प्रकार का हो जाता है। उसी प्रकार उदर मे पीड़ा होने पर श्वास वक्षीय हो जाता है।

स्वस्थावस्था मे पुरुष की श्वास क्रिया "उदर वक्षीय (Abdomino-thoracic)" होती है, जब कि स्त्रियो मे "वक्ष उदरीय (Thoracico-abdominal) या पूर्ण वक्षीय होती है।

वेदना या श्वासकृच्छ्रता विद्यमान हो, तो उसकी ठीक यादी करलेनी

चाहिये। इस सम्बन्ध का वर्णन पहले द्वितीय अध्याय में श्वास प्रकार के अन्तर्गत किया है।

४—वक्ष की गति (Movement)—श्वास के समय वक्ष को ध्यान से देखना चाहिये कि उसमें कैसी गति हो रही है? इसका परिमाण, फुलाव प्रतीत करना चाहिये। तथा दोनो पार्श्व तथा उनसे सम्बन्ध वाले प्रदेश समान रूप से प्रसारित होते हैं या इनमें अन्तर है?

वक्ष की गति और प्रसारण की मात्रा से यह न समझना चाहिये कि फेफड़े अधिक फैलते हैं या कम? क्योंकि वायुकोष्ठ विस्तृति में वक्ष की गति यद्यपि अत्याधिक होती है, तथापि फुफ्फुसावरण अधिक नहीं फैलते।

दोनो पार्श्वों की तुलना करने पर ज्ञात हो कि एक पार्श्व की गति न्यून अथवा अनुपस्थित है तो इसे तरलमय फुफ्फुसावरण प्रदाह का प्रतीक समझना चाहिये, या फुफ्फुसों की घनता या उनकी कठोरता के कारण प्रसारण अनुपस्थित है।

स्थानिक प्रसारण न्यूनता अक्सर राजयक्ष्मा या खण्डीय श्वसनक ज्वर को दर्शाती है। राजयक्ष्मा के कारण तो प्रसारण न्यूनता सर्वदा फुस्फुसों के शिखरों पर होती है। परन्तु खण्डीय श्वसनक ज्वर के कारण उत्पन्न न्यूनता रोग की स्थिति के अनुसार फुफ्फुस के तल या शिखिर पर प्रतीत होती है।

कभी कभी वक्ष का एक हिस्सा विश्रान्ति के बाद श्वास ग्रहण के समय विलम्ब करता है। इस प्रकारका चिह्न रोग निदान के महत्वपूर्ण है। वक्ष के किसी भाग का या श्वास ग्रहण के समय पर्शुकान्तरका अन्तराकर्षण हो या निःश्वास के समय ऊपर उभर आना विद्यमान हो तो इन्हें भी ध्यान से मालूम करना चाहिये। उपर्युक्त दोनों विकार किसी रोग के न होने पर भी उत्पन्न हो सकते हैं। इस अवस्था में ये दोनो परिवर्तन इन्द्रीयक्रिया विकृति जन्य सम्पूर्ण वक्ष मे उपस्थित होते हैं और अति स्पष्ट नहीं होते। जब किसी रोग की संप्राप्ति के फलस्वरूप ये परिवर्तन उत्पन्न हुए हों तब ये सम्पूर्ण वक्ष को, या एक पार्श्व को, या सिर्फ किसी स्थान विशेष को ही प्रभावित कर सकते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण मिले हैं जिनमें श्वास ग्रहण के समय स्वरयंत्र में अवरोध होने पर सम्पूर्ण वक्ष का और छोटी प्रणाली मे अवरोध होने पर स्थानिक अन्तराकर्षण होता है। वायु कोष्ठ विस्तृति की बढ़ी हुई अवस्था मे निःश्वास

के समय फुफ्फुसों के शिखरों पर उत्पन्न उभार, स्थानिक उभार का एक सर्वोत्तम उदाहरण है।

३. स्पर्शन (Palpation)

स्पर्शन द्वारा निम्नोक्त बातें प्रतीत की जाती हैं।

१ वक्ष की आकृतिः—इससे दर्शनपरीक्षा द्वारा प्राप्त परिणामों को दृढ किया जाता है।

२ वक्षकी गतियाँः—

अ. श्वास क्रिया सम्बन्धीः—इससे वर्णन परीक्षा द्वारा ज्ञात गतियों को अनुमोदन मिलता है।

आ. हृदय स्पन्दन सम्बन्धीः—इसका वर्णन पहले हृदयाधिकार में किया गया है।

३ तरंग स्पर्शः—परीक्षक अगर रोगी के वक्ष पर सपाट हाथ रखेगा, तो वक्ष मे उत्पन्न ध्वनि तरग उसके हाथ को स्पर्श होगी। इसके ३ प्रकार हैं।

अ. स्पर्शनीय घर्षण तरंग—दो अङ्गो के घर्षण से उत्पन्न ध्वनि द्वारा।

आ. स्पर्शनीय अस्वाभाविक श्वासज (कूजन) तरग-श्वास लेने के समय वायु प्रवेश द्वारा।

इ. स्पर्शनीय शब्द तरग—वृद्धि, ह्रास और अभाव भेद से इसके ३ प्रकार होते हैं।

४. पीड़ना क्षमता (Tenderness) अर्थात् दबाने पर अधिक पीड़ा होना।

५. द्रवमय विचलन (Fluctuation)—न्क्षोग तरल की उपस्थिति के कारण यह प्रतीत होता है।

६. वक्षभित्ति की प्रतिरोधक शक्ति—(Resistance of the chest wall) अर्थात् दबाव का प्रतिरोध करने की शक्ति।

स्पर्श परीक्षा से सर्व प्रथम वक्षकी आकृति और गतियाँ प्रतीत की जाती हैं। द्वितीय तरग या कम्पन की उपस्थिति ज्ञात करे। फिर अन्त मे तृतीय यह देखे कि वक्षमे कहीं स्पर्श भार से पीड़ा तो नहीं होती ? पीड़ा होने पर रोगी स्वय शिकायत कर देता है। अगर वह न कहे तो पूछने की अपेक्षा

रोगी की मुखाकृति से पीडा का ज्ञान कर लेना चाहिये। इस प्रकार स्पर्श के ३ विभाग हो जाते हे। प्रथम विभाग द्वारा दर्शन से प्राप्त परिणामो को प्रमाणित किया जाता ह। द्वितीय मे श्वास क्रिया के साथ उपस्थित अन्य घर्षणध्वनि या नासाध्वनि, जो श्वास क्रिया को सरलता मे बाधक होते हैं, तथा शब्द तरग द्वारा सचालक माध्यम की दशा का प्रकाशन, ये सब प्रतीत किये जाते हैं, तृतीय विभाग द्वारा वक्षमे उपस्थित पीडा का कारण जानने में सहायता मिलती है।

पीड़ा का परिचय—क्रमानुसार स्पर्श परीक्षा प्रारम्भ करने से पूर्व परीक्षक के लिये यह लाभदायक है कि, वह अपना हाथ रोगी की वक्ष के उस भाग पर रक्खे जो शोथ युक्त हो या जहॉ रोगी दर्द होने की शिकायत करता हो ऐसा करते समय परीक्षक को अपनी दृष्टि परीक्ष्य स्थान पर न रखकर उसके चेहरे पर रखनी चाहिये। क्योंकि ऐसा करने से रोगी की मुखाकृति से उस स्थान पर उपस्थित पीडा का ज्ञान शीघ्र हो जायगा। पीडा प्रादाहिक अवस्था उपस्थित होने पर वक्षभित्ति के भीतर उत्पन्न हो सकती है। पर्शुकान्तर वातनाडी शूल (Neuralgia) होने पर आसपास अनेक स्थानो पर जहॉ जहॉ रुग्ण नाडी की शाखायें निकलती हैं, वहॉ वहॉ स्पर्श द्वारा पीडायुक्त स्थान प्रतीत किये जा सकते हे। पर्शुकान्तर पेशीशूल (Myalgia) या फुफ्फुसावरण प्रदाह होने पर रुग्णपार्श्व पर दबाव डालने पर पीडा बढ़ जाती है। इनमे से फुफ्फुसावरण प्रदाह के कारण उत्पन्न पीडा दबाव डालने पर काफी बढ़ जाती है। क्योंकि दबाव के कारण प्रभावित एक भाग का दूसरे से सम्पर्क ज्यादा तीव्र होजाता है। इसके साथ ही अगर वक्ष मे शोथ है तो किस प्रकार का है, यह भी जान लेना चाहिये। शोथ को ज्ञात करने के लिये दर्शन द्वारा प्राप्त सूचनाओं को स्पर्शन द्वारा प्रमाणित करने का अमूल्य साधन है। क्योंकि इससे अस्वाभाविकतया उभरे हुए पर्शुकान्तर का आसानी से ज्ञान हो जाता है और कभी फुफ्फुसावरण मे उपस्थित तरल के कारण उत्पन्न द्रवमय तरग भी प्रतीत हो जाती हे। इस तरह वक्षभिति में विद्रधि होने पर भी द्रवमय तरग उपस्थित होती है। और इस अवस्था मे यह ज्यादा स्पष्ट होती है। यह विद्रधि वक्ष की अस्थियों या वक्ष को निर्माण करने वाले मुलायम अवयवो के रोगो के कारण या स्वत. फूटे हुए फुफ्फुसावरण विद्रधि (Empyema Necessitatis) का पूय फुफ्फुसावरण मे से वक्षभित्ति तक पहुँच जाने पर निर्माण होती हे।

वक्ष का रेखाचित्र और नाप—उपर्युक्त प्रारम्भिक निरीक्षण

समाप्त कर लेनेके पश्चात् परीक्षकको अपना ध्यान वक्षकी आकृतिकी तरफ आकर्षित करना चाहिये, वक्ष का रेखा चित्र निकालने के लिये यान्त्रिक प्रयोग द्वारा हाथ को अच्छी सहायता मिल जाती है। इसके लिये सिर्टोमीटर (Cyrtometer) नामक यंत्र आता है। इस तरह सादी रीति से विभिन्न नाप लेने से भी कार्य चल सकता है। रेखा चित्र और नापने की क्रिया, ये दोनों श्वासोच्छ्वास क्रिया के साथ करनी चाहिये।

सुडोल शरीर वाले स्वस्थ पुरुष का पूर्ण विश्वास के पश्चात् वक्ष का घेरा, स्तनों के सतह पर २४ इंच के लगभग होना चाहिये। और कमसेकम गहरा श्वास लेने पर २ इंच बढ़ जाना चाहिये। मनुष्य की ऊंचाई, उम्र और शरीर की बनावट का इस नाप पर बहुत प्रभाव पड़ता है। विभिन्न जातियों में यह नाप भी विभिन्न पाया गया है। नाप कुछ भी हो परन्तु यह महत्वपूर्ण है कि निःश्वास और श्वास ग्रहण दोनों (पूर्ण तथा साधारण) के मध्य में कितनी वृद्धि होती है, यह जान लिया जाय, तो असली घेरा निश्चय हो सकता है।

वक्ष के अतिक्रम परिच्छेद की आकृति अंकित करने के लिये दो चपटी प्रत्येक दो-दो फुट लम्बी नमन शील उपयुक्त गैस नलिकाओं को एक स्थिति स्थापक नलिकाकार कब्जा (Hicge) द्वारा जोड़दी जाय जिससे एक ठीक काम कारिज्ञ सिर्टोमिटर तैयार हो जाता है। सम्बन्ध करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि, कब्जा पृष्ठ वंश पर और गैस नालिकायें वक्षभित्ति पर रहे। ऐसा करने से नालिकायें वक्षाकृति में परिवर्त्तित हो जायगी। इसके पश्चात् कब्जे पर से उसे खोल लें। यह घेरा वक्षाकृति को दर्शायेगा। अगर इसका स्थायी चित्र लेना हो तो इसे एक कागज पर रख कर फिर से कब्जा को बन्द करदे। इसमे किसी प्रकार की भूल न रह जाय इसलिये उसी समय रेखाओं द्वारा इसके पृष्ठ और दाहिने भाग को अंकित कर लेना चाहिये, तथा कब्जे पर से सामने की ओर एक खड़ी रेखा खींच लेनी चाहिये, जो उरोस्थि के मध्यबिन्दु को दर्शायेगी। वक्ष पर से खोलते तथा कागज पर रखते समय हाथ के दबाव के कारण सिर्टोमीटर मुड़ न जाय, इस बात की पूर्ण सावधानी रखनी चाहिये। अगर ऐसा हो जायगा तो वक्षाकृति विकृत अंकित होगी और रोगनिदान में भ्रम पैदा हो जायगा। इससे बचने के लिये मुड़सके ऐसे पैरों वाले कम्पास (Callipers) द्वारा इस पंक्ति की लम्बाई की जाँच कर लेनी चाहिये।

अगर स्थायी चित्र की आवश्यकता समझी जाय तो इसे कई गुणा

छोटा करके 'पेंटोग्राफ (Pantograph)'' से चित्र बना लेना चाहिये। अगर ऐसा किया जाय तो इस स्थायी चित्र पर वह अंक, जिस अनुपात से यह छोटा करके दर्शाया गया है, उसे अंकित करने का कभी नहीं भूलना चाहिये। इसी प्रकार इस यन्त्र द्वारा वक्ष की क्षैतिज दिशा की आकृति और सीमाओं के समान ही पिछली ओर की आकृति और सीमायें आसानी से प्रतीत की जा सकती हैं। इसके लिये कब्जे को स्कन्ध पर रक्खे, दो गैस नालिकाओं में से एक आगे की ओर पार्श्व उरोस्थि रेखा के साथ और दूसरी पृष्ठमें इसके समानान्तर नीचे उतारे, और शीघ्रता के साथ उनके नीचे के सिरोको एक दूसरे के विरुद्ध मोडे यहाँ तक कि कक्षा रेखा में एक दूसरे को पार कर जाय। तत्पश्चात् पार करने वाले बिन्दु को निश्चित करके यत्र को कब्जे पर से खोले और एक कागज पर रख कर पुनः बन्द करके चित्र बनाले।



चित्र न०१०३

श्वास क्रिया में वक्ष विस्तार में गति मालूम करने की स्पर्शन विधि

श्वास क्रिया से वक्षगति—इसके पश्चात् श्वास- क्रिया से उत्पन्न

वक्ष की गति भी देखना चाहिये। सर्व प्रथम यह जानना आवश्यक है कि वक्ष के दोनो पार्श्व लगभग समान सीमा तक ही गति करते हैं या नहीं? इसको ज्ञात करने के लिये परीक्षक अपने दोनों हाथ अंगुलियो के सिरो के सहारे रोगी के दोनो पार्श्वों पर तथा दोनो हाथो से अंगुष्ठ वक्ष की मध्य रेखा मे एक दूसरे से मिलते हुये रक्खे। हाथों को स्थिर रख कर रोगी को पूर्ण श्वास लेने को कहे। रोगी के श्वास लेने के साथ ही परीक्षक के दोनों अगुष्ठ मध्य रेखा से पार्श्व मे खिसक जायंगे। दोना अंगुष्ठो की मध्य रेखा से उत्पन्न दूरी दोनो पार्श्वों की विस्तृति को प्रगट कर देगी। जिस तरफ की दूरी ज्यादा हो उस तरफ का पार्श्व अधिक विस्तृत होता है।

कभी कभी ऐसा होता है कि, श्वासक्रिया के समय दोनों पार्श्व एक साथ विस्तृत नहीं होते, एक पार्श्व पीछे रह जाता है। इस प्रकार की विकृति स्पर्श द्वारा आसानी से ज्ञात हो जाती है। यह विकृति होने पर दोना पार्श्व पर रक्खे हुए हाथ एक साथ गति न करके पृथक्--पृथक् समय पर गति करते हैं।

इसी प्रकार फुफ्फुसो के शिखर की गतियाँ भी प्रतीत की जा सकती है। इसके लिये वैद्य रोगी के पीछे खड़ा रहे, अपने अंगुष्ट पृष्ठ वंश पर और अंगुलियाँ सामने अक्षिक स्थि तक पहुंचती हुई दांये और बाँये फुफ्फुस शिखर पर स्थिर रक्खें। फिर रोगी को गम्भीर श्वास लेने को कहे। इस प्रकार अगुष्ठो मे उत्पन्न दूरी से शिखरों की विस्तृति प्रतीत करले। तत्पश्चात् वैद्य अपना एक हाथ वक्ष पर और दूसरा कौडी प्रदेश पर सपाट रक्खें। स्वस्थावस्था मे वक्ष की विस्तृति के साथ हो कौडी प्रदेश भी कम या ज्यादा अवश्य विस्तृत होता है। अगर वक्ष की प्रत्येक विस्तृति के समय कौडी प्रदेश फूलने के स्थान पर नीचे बैठता है तो वैद्य को वक्षोदर मध्यस्था पेशी के पक्षाघात या अस्वाभाविक लचीली हो जाने का संशय करना चाहिये। श्वास के समय वक्षोदर मध्यस्था पेशी की स्थिरता साधारणतया उदरस्थ रोगों के फलस्वरूप उत्पन्न होती है (इसका विस्तृत वर्णन तृतीय अध्याय मे उदर की दर्शन परीक्षा मे किया है)।

तरङ्ग स्पर्श—वक्ष मे उत्पन्न तरंग स्पर्श द्वारा प्रतीत की जा सकती है। इनको मालूम करने के लिये परीक्षक को अपने हाथ की हथेलियाँ वक्ष पर सपाट रखनी चाहिये। क्योंकि, दोनों हाथो की अनुभव शक्ति, अक्सर असमान होती है, इसलिये दोनो पार्श्वो मे उत्पन्न तरंग मालूम करने के लिये एक ही हाथ को प्रयुक्त करना चाहिये। वक्ष मे तीन प्रकार की तरगें हाथ

को प्रतीत होती हैं, घर्षण, अस्वाभाविक श्वासज तथा शब्द जन्य तरंग स्पर्श। हृदय प्रदेश में उत्पन्न तरंगों का फुफ्फुस की तरंगों से आसानी से भेद किया जा सकता है। इसका विस्तृत वर्णन चौथे अध्याय में हृदय की स्पर्श परीक्षा के भीतर किया गया है।

श्वास संस्था में घर्षण और कूजन (अस्वाभाविक श्वासज) तरंग की उत्पत्ति फुफ्फुसावरण प्रदाहज घर्षण, श्वास नालिकाओं में कफके भीतर प्रसेकज परिवर्तन जिनसे स्थानिक संकोच उत्पन्न हो सकता है, या श्वासप्रणालियों और फुफ्फुसीय गह्वर में तरल संचित होने पर होती हैं।

उपर्युक्त प्रकार की तरंगों (Fremitus) की उपस्थिति या अनुपस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् परीक्षक को रोगी के शब्द उच्चारण से उत्पन्न तरंग का स्पर्श करना चाहिये। इसे प्रतीत करने के लिये रोगी को १-२-३, १-२-३, इस तरह शब्द उच्चारण करने को कहें। इससे वक्ष पर रक्खे हुए हाथ को उच्चारित शब्दज तरंग का स्पर्श होता है। इसे "शब्द तरंग स्पर्श" अथवा "शब्द स्पर्श" कहते हैं। शब्दोच्चारण करने पर वायु द्वारा उत्पन्न तरंगें स्वरयन्त्र से बृहच्छ्वास नालिका, श्वासनालिका शाखा और श्वास प्रणालियों द्वारा वायुकोष्ठों में पहुँचती है और वहाँ से फुफ्फुसों और वक्ष की दीवार को पार करके चिकित्सक के हाथ तक पहुँचती है। किसी वस्तु की उपस्थिति जो श्वासमार्ग और फुफ्फुसके तन्तुओंकी शब्दतरंगको परिचालन करने की शक्ति पर प्रभाव डालती है, या मार्ग में किसी अन्य वस्तु की उपस्थिति, जिसमें से शब्द तरंग को गुजरना पड़े, ये दोनों बातें शब्द तरंग की तीव्रता पर काफी प्रभाव डालती है। जब रोगी शब्द उच्चारण कर रहा हो उस समय परीक्षक अपना हाथ उसकी वक्ष पर सपाट रख कर स्पष्ट तरंग को प्रतीत करले, इसके साथ तुलना करके परीक्षक को यह भी देख लेना चाहिये कि दोनों पार्श्वों के समान स्थान पर शब्द स्पर्श समान है या असमान ? इस बात को देखते समय यह स्मरण रखना चाहिये कि दायें फुफ्फुस पर जहाँ हृदय स्थित हो वहाँ शब्द स्पर्श बहुत कम हो जाती है। अनुभव हो जाने के पश्चात् परीक्षक तुलना करके निर्णय कर सकता है कि शब्द स्पर्श स्वस्थवत् है, अस्वाभाविक या न्यूनाधिक।

शब्द स्पर्श वृद्धि हेतु—शब्द स्पर्श निम्नोक्त कारणों से बढ़ जाता है:—

१. शब्द का उच्चारण लम्बा करने पर।

२— वक्ष की दीवार सख्त हो जाने पर और प्रायः वक्षभित्ति पतली हो जाने पर।

३— फुफ्फुसों के घना हो जाने पर—जैसा श्वसनक ज्वर और राजयक्ष्मा में होता है।

४— फुफ्फुसों में कोटर बन जाने पर—वक्ष भित्ति के समीप फुफ्फुसों में क्षय कीटाणु जन्य या अन्य हेतु से विवर हो जाते हैं। राजयक्ष्मा मे ज्यों ज्यों रोग बढ़ता है, शब्द स्पर्श भी बढ़ता जाता है।

क्योंकि दाँयी श्वास-प्रणाली बाँयी से चौड़ी और छोटी है, तथा दोनों श्वास नलिकाओं को पृथक् करने वाली कला भी बृहच्छ्वास नलिका के मध्य से बाँयें तरफ ही स्थान ग्रहण करती है, इसलिये स्वरयंत्र मे उत्पन्न शब्द दाँयी श्वास प्रणाली में बाँयी की अपेक्षा ज्यादा स्वतंत्रता से प्रवेश कर सकते हैं, और यही कारण है कि शब्द स्पर्श स्वभावतः दायें फुफ्फुस पर बायें की अपेक्षा ज्यादा स्पष्ट होता है।

शब्द स्पर्श ह्रास—शब्द स्पर्श निम्नोक्त कारणों से घट जाता है:—

१—शब्दोच्चारण उथला हो। रोगी, निर्बल मनुष्य, मृदु आवाजवाली स्त्री और बालक के वक्षपर हाथ रखने पर शब्द स्पर्श स्पष्ट नहीं हो सकता।

२—वक्ष की भित्ति मोटी हो, और मुख्यतः फुफ्फुसावरण के काफी मोटा हो जाने पर—जैसे फुफ्फुसावरण प्रदाह मे।

३—तरलमय फुफ्फुसावरण प्रदाह मे तरल संगृहीत होने पर फुफ्फुसवक्ष से पृथक् होजाता है, इससे शब्द स्पर्श का ह्रास या अभाव हो जाता है। अधिक तरल जमा हो जाने पर शब्द स्पर्श बिल्कुल प्रतीत नहीं होता। पाठकों को इसमे शंका होगी कि तरल की उपस्थिति के कारण तो शब्द स्पर्श बढ़ना चाहिये; परन्तु यह घटता इसलिये है, कि फुफ्फुस शब्द तरंग को फुफ्फुसावरण में उपस्थित तरल तक पहुँचाने में असमर्थ हो जाता है। क्योंकि फुफ्फुस तरल के नीचे दब जाता है।

नवयुवकों और स्त्रियों के शब्द संचालन क्रिया के प्रकार और तीव्रता मे काफी अन्तर होता है। इस अन्तर का कारण वक्षकी विभिन्न प्रकार की बनावट और कठोरता, ध्वनि के विभिन्न प्रकार तथा उत्पत्ति स्थान का भेद है।

पीड़ना क्षमता (Tenderness)—देह के किसी भाग मे रक्ताधिक्य हो जाने पर वह भाग इतर भागों की अपेक्षा कुछ अधिक उष्ण भासता है, किन्तु यह उष्णता रुधिर की उष्णता से ज्यादा नहीं होती। स्थानिक रक्ताधिक्य होने से गोरी त्वचा लाल (आरक्त) तथा काली त्वचा वैवर्ण्य दीखती है। आवश्यकता से अधिक रुधिर होने तथा लसीकास्राव की

वृद्धि होने पर उस स्थान में सूजन आजाती है। फिर वातनाड़ियों पर दबाव आता है। जिसमें दबाने पर वेदना + दुःसह होती है, उसे पीडना क्षमता कहते हैं।

फुफ्फुसप्रदाह, फुफ्फुसावरण प्रदाह, मूढ़मार, फुफ्फुसविद्रधि या अर्बुद आदि रोगों की प्रारम्भावस्था मे इस लक्षण की प्रतीत होती है। इस पीडना क्षमता स्थान की परीक्षा विधि तृतीय अध्याय मे उदर परीक्षा के अन्तर्गत की है।

द्रवमय तरंग (Fluctuation)—वक्षके भीतर द्रवमय तरंग का अनुभव तरलमय उरस्तोय मे होता है। इसकी परीक्षा विधि जलोदर के समान है। इसका वर्णन तृतीय अध्याय मे उदर परीक्षा के अन्तर्गत किया है।

वक्षकी प्रतिरोधक शक्ति (Resistance of chest)—वक्ष की दबाव रोकने के शक्ति जानने के लिये परीक्षक को रोगी जब लेट रहा हो, अपना हाथ उरोस्थि पर रखकर वक्ष को पीछे पृष्ठ वंश की ओर दबाने का प्रयत्न करना चाहिये। वक्षकी कठोरता आयु के साथ बढती हैं, तथा कुछ रोग-जैसे राजयक्ष्मा, वायुकोष्ठ विस्तृति आदि के फल स्वरूप भी यह बढ़ जाती है। अगर रोग के कारण वक्षकी कठोरता वृद्धियुक्त हुई होतो परिणाम अशुभ समझना चाहिये, क्योंकि इसमे फुफ्फुस श्वास लेने पर स्वतन्त्रता के साथ विस्तृत नहीं हो सकता है।

+ इस प्रकार की वेदना के अतिरिक्त भी निम्नानुसार कितनेक प्रकार की वेदना होती है।

१—किसी भागमे पूयोत्पत्ति होने पर स्फुरणमय वेदना (Throbbing Pain)।

२—श्लैष्मिक त्वचा मे दाह होने पर दह्य मान (Scalding) वेदना।

३—बृहद् गुहा या लसीका मय गुहाकी रस त्वचा (Serous membrane) में छेदन करने योग्य पीड़ा होने पर छेद्यमान (Stabbing) दर्द।

४—अस्थिगत तोडने के सदृश पीडा होने पर विदार्यमान (Borring) दर्द।

५—वात नाड़ी जन्य स्थानान्तरित दुःख हो तो प्रेरित (Referred) वेदना।

४. ठेपन—(Percussion)

ठेपन से निम्नोक्त बातों का निश्चय किया जाता है।

१—फुफ्फुसों की सीमा।

२—फुफ्फुसों की कूजन ध्वनि।

(अ) विभिन्न भागों के स्वाभाविक विभिन्न प्रकार।

(आ) अस्वाभाविक परिवर्त्तनः—

(१) परिमाण वाचक वृद्धि (अति गुंजन) तथा ह्रास (ठेपन ध्वनि के सूक्ष्म परिवर्त्तन से लेकर पूर्ण ठोस हो जाने तक)

(२) गुण दर्शक—सौषिर (Tympanitic), स्कोडा अर्थात् वक्षके निम्न भाग में ध्वनि का अभाव होने से ऊर्ध्वभाग में ध्वनि वृद्धि हो जाना (Skodaic), वायुकोष प्रसारण में अति क्षीण (Boxy-), स्तन पान करने वाले शिशुओं में भंग पात्रवत् (Cracked pot), घण्टा सदृश (Bell sound or coin percussion), कौप्यक ध्वनि (Amphoric)

ठेपन विधिः—सर्व प्रथम जब ठेपन को रोग विनिर्णय विज्ञान में सम्मिलित किया था उस समय रोगी की त्वचा पर परीक्षक अपने हाथ की अगुलियों से सीधा ही प्रहार करता था, अर्थात् उस समय रोगी की त्वचा के ऊपर अन्य कोई वस्तु नहीं रक्खी जाती थी। इस विधि को प्रत्यक्ष ठेपन (Direct percussion) कहते हैं। अब यह विधि बहुत कम प्रयुक्त की जाती है, केवल फुफ्फुसों की परीक्षा करते समय अक्षकास्थि पर यह अभी भी प्रयुक्त की जाती है। ठेपन ध्वनि स्पष्ट सुनाई दें, तथा रोगी को भी किसी प्रकार का कष्ट न हो, इसलिये अनेक वस्तुएं रोगी की त्वचा पर रखकर उस पर प्रहार करने के लिये काम में ली जाने लगी हैं। अनेक वैद्य अस्थियों से या हाथी दाँत से निर्मित चपटा फलक प्रयुक्त करते हैं, जो इस प्रकार की आकृति का होता है कि वक्ष पर आसानी से, उसकी त्वचा से बिल्कुल सम्बन्धित रक्खा जा सके। इसे "प्लेक्सी मीटर (Pleximeter)" कहते हैं। अनेक चिकित्सक इसके स्थान पर अपने बायें हाथ की मध्यमा या तर्जनी अगुली रखना ज्यादा अच्छा मानते हैं; और वास्तव में है भी ऐसा ही। इसमें सिर्फ एक यही लाभ नहीं है कि अगुली शीघ्रता से वक्षके प्रत्येक स्थान पर त्वचा को स्पर्श करती हुई आसानी से रक्खी जा सके, अपितु इससे ठेपन ध्वनि से प्राप्त सूचनाओं के अतिरिक्त भी दूसरी महत्त्व की सूचना प्राप्त हो जाती हैं:—जैसे प्रहार करने

पर परीक्षक को वक्ष के तंतुओं की अवरोधक शक्तिका परिमाण भी मालूम हो जाता है। चित्र न० १०८ देखें





चित्र नं० १०८

ठेपन विधि का सही तरीका।

कभी-कभी प्रहार करने के लिये अगुली के स्थान पर रबर की छोटी सी हथोड़ी काममें ली जाती है। इसे "प्लेसर (Plessor)" कहते हैं। कभी-कभी यह उपयोगी भी सिद्ध होती है, परन्तु अक्सर नियमानुसार अगुली ही को प्रयुक्त करना ज्यादा लाभदायक सिद्ध हुआ है।

सामान्य ठेपनविधि—बायें हाथ की मध्यमा अगुली ठेपन किये जाने वाले स्थान पर रक्खे। अगुली को स्थिर रक्खे तथा वक्ष की ऊंचाई और नीचाई का भी पूर्ण खयाल रखते हुए त्वचा से बिल्कुल स्पर्श करती हुई रक्खे, ताकि त्वचा और अंगुली के मध्य में कोई रिक्त स्थान शेष न रहने पावे। फिर दाहिने हाथ की मध्यमागुली के सिरे से वक्षपर बाये हाथ की सपाट रक्खी हुई अगुली की मध्यमास्थि के पिछले सिरे पर प्रहार करें। प्रहार मणि बंध सधि और अगुली की संधि से करना चाहिये, न कि कूपर सधि से। एवं प्रहार करने वाली अगुली इस प्रकार मुडी होनी चाहिये कि जब प्रहार किया जाय, तब इसकी अन्तिम अस्थि करागुली मूल शलाका (Metacarpal bones) के साथ समकोण बनाती हुई रहे। प्रहार करने के पश्चात् प्रहार करने वाली अगुली को एक दम हटा लेना चाहिये, अन्यथा ठेपन ध्वनि विकृत होजायगी। यद्यपि कठोर ठेपन की जहाँ आवश्यकता हो, वहाँ प्रहार करने के लिये एकसे अधिक अगुलियाँ काम में ली जा सकती हैं, तथापि सामान्यतः एक अगुली प्रयुक्त करना ज्यादा अच्छा समझा जाता है। कुछ अवस्थाओं में और मुख्यतः उदर परीक्षा मे विशेष प्रकार की ठेपन परीक्षा विद्यमान तरलकी अनु-

भूति के लिये की जाती है, जिससे तरल मे उत्पन्न तरंग स्पर्श हो जाती है।
चित्र नं० १०४ देखें।

मुख्य नियम—मुख्य नियम ३ हैं। इनको ठेपन करते समय सर्वदा स्मरण रखना चाहिये। १—समीस्थ अंगो की सीमा मे मालूम करने के लिये ठेपन सुषिर ध्वनि उत्पन्न करने वाले स्थान से आरम्भ करके कम सुषिर ध्वनि वाले स्थान की ओर जाना चाहिये। २—अन्न की जिस धारा की परीक्षा की जा रही हो; बायें हाथ की मध्यमा अंगुली (या प्लेक्सीमीटर) लम्बाई के रूपमे उस धारा के समानान्तर रखनी चाहिये, और ठेपन करने की रेखा उस धारा के साथ समकोण बनाती हुई होनी चाहिये। ३—बायें हाथ की मध्यमा अंगुली (या प्लेक्सीमीटर) त्वचा के साथ पूर्णतया सम्बन्धित होनी चाहिये, ताकि त्वचा और उसके मध्यमे रिक्त स्थान न रहने पावे।

एक ही स्थान पर दो या तीन से अधिक प्रहार करने की विरल ही आवश्यकता पडती है। एक साथ अनेक प्रहार एक ही स्थान पर करने से रोगीको कष्ट होगा। अतः ऐसा करनेमे जहाँतक संभव हो बचना चाहिये। ठेपन करते समय उत्पन्न प्रतिध्वनि का घनफल, गहराई और प्रहार का मुकाबला करने की शक्ति (जो अंगुली को मालूम पडे) इन बातों पर पूरा लक्ष्य देना चाहिये।

यह असम्भव है कि, ठेपन द्वारा प्राप्त ज्ञान को भौतिक विज्ञान की भाषा मे वर्णन किया जा सके। चिकित्सक के क्रियात्मक जीवन मे इस बातकी आवश्यकता भी नहीं है। क्योंकि अनुभव से ही ठेपन द्वारा प्राप्त सूचनाओं का तात्पर्य समझा जा सकता है। इनको समझने के लिये अगर विद्यार्थी इसकी उत्पत्ति के कुछ मुख्य मुख्य कारणों को समझ लेगा, तो कार्य के समय सुविधा रहेगी।

सर्व प्रथम आवाज उत्पन्न करनेके ३ साधनो को समझना चाहिये। १—प्लेक्सीमीटर (बायें हाथकी अंगुली जिसपर प्रहार किया जाता है)। २—वक्षकी दीवार जो प्लेक्सीमीटर के नीचे रहती है। ३—वक्षस्थ अंगका वह भाग जिसपर प्रहार का प्रभाव पड़ता है। प्लेक्सीमीटर कुछ धातुओं के मिश्रण से एसा बना लिया जाता है कि उसमे से किसीभी प्रकारकी आवाज उत्पन्नही न हो, या इसके मुख्य प्रकार के कारण ठेपन ध्वनि पर किसी प्रकारका प्रभाव ही न पडे। वक्षकी दीवार की आवाज उसकी बनावट के अनुसार बदल जाती है, और यह उरोस्थि, अक्षकास्थि, पर्शुकाओं और कोमलस्थान, जिस पर प्लेक्सीमीटर रक्खा हो, उस पर निर्भर है। जब ठेपन किये जाने वाली

दीवार के नीचे अवस्थित अंगमें वायुभर जाय या प्रहार जोर से किया जाय तो दीवार से उत्पन्न ध्वनि निम्न अंगसे, उत्पन्न आवाज की तुलना में गौण होती है।

ठेपन ध्वनि परिणाम और गुण दोनो में ही विभिन्न प्रकार की होती है। परिणाम में विभिन्नतायें प्रहार की शक्ति और ठेपन किये जाने वाले हिस्से की आवाज को गुंजित करने की शक्तिपर निर्भर है। गुणमें विभिन्नतायें मुख्य मुख्य उत्पन्न तरंगों और प्रभावित अंगकी प्रतिध्वनि की शक्ति पर निर्भर है।

जब वायु किसी विस्तृत गह्वरमे भरी हो और उसमें ठेपन द्वारा तरंग उत्पन्न की जाय तथा तरंग पर गह्वरकी दीवारों की प्रतिरोधक शक्तिका भी कोई विशेष प्रभाव न पड़ता हो, तो आवाज "रिक्त" ढोल के समान गुंजित प्रतीत होती है। परन्तु जब गह्वर अनेक छोटे छोटे भागो में विभक्त हो और उनकी दीवारोंमे काफी तनाव हो तब एक पृथक् प्रकार ही आवाज उत्पन्न होती है जिसे रिक्त या गुंजित नहीं कहा जा सकता। उसे "सौपिर" संज्ञा देना ज्यादा उपयुक्त मालूम होता है। फुफ्फुस ठीक इसी प्रकार के छोटे छोटे कोष्ठों से निर्मित है। इसलिये फुफ्फुस मे सर्वत्र यही आवाज उत्पन्न होती है। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि इस आवाज का रूप लिखकर समझना कठिन ही नहीं, असम्भव है, तथा स्थानानुसार इसमें काफी अन्तर भी होजाता है, इसलिये परीक्षक अनुभव द्वारा ही इसे पहचान सकता है। साधारणतः स्थूल दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि फुफ्फुसकी सौपिर ध्वनि मन्द और स्पष्ट होती है।

ठेपन फल—फुफ्फुसों की ठेपन परीक्षा द्वारा निम्न ३ बातों का ज्ञान प्राप्त होता है।

१—फुफ्फुस के शिखर और अधोधारा की स्थिति, और साथ ही बायें फुफ्फुस की अन्तः धाराके उस भागकी स्थिति जो हृदयपर स्थित है।

२—फुफ्फुसो की अवस्थाः—इसके विभिन्न भागो मे वायु का कितना परिमाण उपस्थित है, और इसकी स्थिति स्थापक जालके समान बनावट का तनाव कितना है।

३—क्या फुफ्फुस वक्षकी दीवार से अस्वाभाविकतः दूर है, यह स्थान च्युति वक्ष की दीवार के मोटा होजाने या फुफ्फुसावरण में तरल या गैस किसके भर जाने के फल स्वरूप हुई है?

शिखर और धारायें—स्वस्थावस्था में सौषिर ध्वनि साधारणतः अक्षकास्थि से १॥-२ इंच ऊपर सुनाई देता है। दोनो फुफ्फुसों के शिखर या तो समान ऊंचाई पर ही होते हैं, या दायाँ शिखर बाँये से कुछ ऊँचा होता है; अगर दायाँ शिखर बाँयें से नीचा हो, या बाँया दायें से ज्यादा नीचा हो, तो जिस फुफ्फुस का शिखर स्वाभाविक स्थिति में न हो, वह वर्तमान में रुग्ण है या भूतकाल मे रुग्ण था, ऐसा समझना चाहिये। अगर दोनो शिखर स्वाभाविक अवस्थासे काफी नीचे स्थित हो, तो दोनो फुफ्फुसो को रुग्ण समझना चाहिये। साधारणतः वायु कोष विस्तृति मे दोनो शिखर स्वाभाविक स्थितिसे काफी ऊँचे स्थित होते हैं। परीक्षक को इस बात का ध्यान विशेष तौर से रखना चाहिये कि, परीक्षा करते समय रोगी शिर को बिलकुल सीधा रखता हुआ अपने सम्मुख ही देखे। न कि वह अपना सिर एक तरफ मोड़ले। अन्यथा फुफ्फुसों पर स्थित मास पेशियो का तनाव बढ़ जायगा।

ठेपन करने का प्रहार न ज्यादा कठोर हो और न ज्यादा मृदु और इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये कि, प्रहार सतह के सर्वदा लम्बाकार (Perpendicular) ही किया जाय। जब फुफ्फुसों के शिखर की स्वाभाविक स्थिति में सदेह हो तो इनके ऊर्ध्व किनारे के सम्पूर्ण नापकी परीक्षा करके स्थितिका यथोचित ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। स्वस्थावस्था मे पृष्ठमे फुफ्फुस की सौषिर ध्वनि ज्ञात करने के लिये ठेपन वक्ष कशेरुका की सतह से आरम्भ करके बाहरकी तरफ एक रेखाके सहारे सहारे, जो धीरे धीरे ऊपर की तरफ गति करती हुई मुड़ती जाती है और अक्षकास्थिके १॥ इंच ऊपर जाकर पृष्ठच्छदा पेशी (Trapezius muscle) की अन्तर्धारा मे मिल जाती है, करना चाहिये। इसके पश्चात् फुफ्फुसकी सौषिर ध्वनि नीचे और आगे की तरफ आती हुई उरः कर्ण मूलिका पेशी (Sterno-Mastoid) की बाह्य सीमा तक पहुंचती है, और तब अक्षकास्थि की ओर सीधी नीचे उतर जाती है। कभी कभी यह आगे की तरफ उरः कर्ण मूलिका पेशी तक नहीं पहुंच पाती, और कभी यह पेशी के पृष्ठ के साथ साथ प्रतीत होती है। उस अवस्था में जिसमें फुफ्फुस की निश्चित स्थान च्युति में टेटुवे का गुंजित ध्वनि हस्तक्षेप करती हो, उसमें भ्रम और कठिनाई को दूर करने के लिये रोगी का मुख खुला रखकर ठेपन करना चाहिये। इस प्रकार टेटुये की ठेपन ध्वनि में उत्पन्न परिवर्तन की याद्दी करे।

जब फुफ्फुसों के ऊर्ध्व खंडके रुग्ण होने की संभावना हो, तो परीक्षक के लिये यह लाभदायक होगा कि वह ठेपन परीक्षा स्कंधास्थि के सम्पूर्ण ऊर्ध्व

सिरे पर स्थित अंसचक्र सधान (Acromio-clavicular articulation) से प्रारम्भ करें तथा सौषिरध्वनि की उत्पति और समाप्ति के चिह्न करले। दोनों-पार्श्वों में इस प्रकार चिह्न अंकित कर लेने के पश्चात् उनके मध्य की दूरी को नाप कर परस्पर तुलना करें कि, दोन के नाप समान ही है या किसी प्रकार का अंतर है ? इस नाप की याद्दी कर लेनी चाहिये। क्योंकि आगे की जाने वाली परीक्षा में यह अमूल्य सहायक सिद्ध होगा।

दायें फुफ्फुस की अधोधारा:— यह यकृत् के ऊपर स्थित है और पतली है इसलिये इसकी स्थिति जान करने को मृदुठेपन करना चाहिये। पृष्ठ की ओर यह मोटी मांसपेशियाँ और वसाके आवृत है, इसलिये कठोर ठेपन की आवश्यकता पड़ती है। यदि रोगी स्थूल काय हो, तो कई अंगुलियो से एक साथ कठोर प्रहार करना पड़ता है। ताकि स्थूल दीवार को पार करके प्रहार का प्रभाव फुफ्फुस तंतुओं पर हो सके। शान्त श्वास-क्रिया के समय दायें फुफ्फुस की अधोधारा चूचुक रेखा में छठी पर्शुका पर, मध्यकक्षा रेखा मे ८ वी पर्शुका पर, स्कन्धास्थि रेखा मे १० वीं पर्शुका पर और पृष्ठ वंश के पास दसवें पर्शुकान्तर के समीप निम्नांश मे स्थित होती है।

बायें फुफ्फुस की आधोधारा:— यह आमाशय से आवृत है। इस लिये फुफ्फुस की सौषिरध्वनि को किसी घनध्वनि मे से होकर स्थानान्तरित नही होना पडता। अपितु इसे आमाशय के 'रिक्त' ढोलवत् गुंजित प्रतिध्वनि में से गुजरना पड़ता है। पृष्ठ की ओर प्लीहा और पृष्ठ वंश के पास फुफ्फुसो के नीचे स्थित अनेक ठोस अंगो के कारण सौषिरध्वनि को उनके ठोसध्वनि में से बाहर आना पडता है। इस लिये इसकी पिछली ओर की अवस्था दायें फुफ्फुस के समान ही समझनी चाहिये। बायें फुफ्फुस की अधोधारा दायें फुफ्फुस की अधोधारा की अपेक्षा कुछ नीचे स्थित होती है।

सूचना:— परीक्षक को यह स्मरण रखना चाहिये कि, वृद्ध मनुष्यो मे फुफ्फुस उक्त सीमा से एक पर्शुका की चौड़ाई जितना अधिक नीचे फैला होता है, तथा बच्चो मे यह उतनी ही चौड़ाई से उपर्युक्त सीमातक भी नही पहुँचता।

बायें फुफ्फुस की अग्रधारा:— दायें फुफ्फुस की अग्रधारा सीधी मध्यतक जाती है, परन्तु बायें फुफ्फुसकी अग्रधारा चौथी उपपर्शुका के समानान्तर उरोस्थि के पीछे से निकल कर, हृदय की उत्तान कठोर ठेपनध्वनि उत्पन्न करने वाले क्षेत्र की ऊर्ध्व और वाम सीमायें निर्मित करती है, अर्थात्, वहाँसे यह धारा बाहरकी तरफ चली आती है। गंभीर श्वास लेने तथा वायुकोष्ठ

विस्तृति में, जबकि वायु ग्रहण करने वाले फुफ्फुसों का घन फल बढ़ जाता है, ये सीमाएं बढ़ जाती हैं। वायु पूरित फुफ्फुसावरण विकार (Pneumothorax) होने पर सौषिर ध्वनि की अधोधारा उल्लिखित सीमा से काफी नीचे खिसक जाती है और इसकी आवाज में भी काफी अन्तर पड़ जाता है (इसका वर्णन आगे विस्तार से किया जायगा)।

फुफ्फुस सीमा निर्णय का अभावः—जब फुफ्फुस सिकुड़ जाय, घन बन जाय, उदर का वृद्धियुक्त दबाव वक्षोदर मध्यस्था पेशी की स्थिति को प्रभावित करदे, जब फुफ्फुसावरण के गह्वर में तरल संचित होजाय, यह तरल संचय जब बायें फुफ्फुसावरण में हों तो अन्तः कक्षा रेखा में ठेपन से उत्पन्न सौषिर ध्वनि आमाशय की रिक्त प्रतिध्वनि में से गुजरने के स्थान पर इन दोनों के मध्य में तरल की उपस्थिति के कारण एक ठोस ध्वनि प्रतीत होने लग जायगी। क्योंकि कक्षा रेखा में फुफ्फुसावरण उल्लिखित फुफ्फुस की अधोधारा से लगभग ४ इञ्च नीचे तक फैला होता है, इसलिये यह ठोस आवाज स्वाभाविक सोषिर से नीचे तक प्रतीत होती है और यह ट्रौबिज क्षेत्र* को आवृत कर लेता है। इसके विपरीत फुफ्फुस के घन हो जाने पर यह क्षेत्र नहीं घटता।

स्वस्थावस्था में फुफ्फुसों की धारायें गम्भीर श्वास लेने पर काफी गति करती हैं, जब कि किसी रोगी के पैदा होजाने पर इनकी गति में बाधा उपस्थित होती है। इसलिये परीक्षक के लिये यह महत्त्वपूर्ण है कि, शिखर और अधोधारा की ठेपन परीक्षा गम्भीर श्वास ग्रहण और निःश्वास, दोनो समय में पृथक्-पृथक् की जाय। फुफ्फुस के एक पार्श्व की गति की सीमा का ह्रास या एक पार्श्व के फुफ्फुस के शिखर की या फुफ्फुस की अधोधारा (Base) गति का बिल्कुल अभाव हो जाय, तो इसे फुफ्फुस में अप्राकृतिक वस्तु के संचय की प्रारम्भिक अवस्था का मुख्य चिह्न समझना चाहिये। जब दोनों

---

* ट्रौबिका क्षेत्र (Traube's semilunar space)—यह अर्धचन्द्राकार प्रदेश है। यह प्रदेश वक्ष के निम्नभाग में बायीं ओर को आमाशय के उस भाग के नीचे अवस्थित है, कि जो भाग बायीं उपपर्शुका की धारा के ऊपर है तथा यह वाम फुफ्फुस का निम्न किनारा, प्लीहा का ऊर्ध्व किनारा और यकृत् के वाम खण्ड की अधोधारा, इन तीनों के बीच रहा है। जब आमाशय में वायु हो तब उस स्थान पर फुफ्फुस आमाशय की मिश्र ध्वनि (Vesiculo-Tympanitic Sound) उत्पन्न होती है।

फुफ्फुसों के शिखर की गति न्यून हों तो समझना चाहिये कि दोनों फुफ्फुस रुग्ण हैं, या इसे बहुत बैठक करने वाले पुरुषों में फुफ्फुसों को पूरे काम मे नहीं लाने के फलस्वरूप उत्पन्न विकृति समझनी चाहिये। इस कार्य प्रणाली को सर रोबर्ट फिलिप ने ज्वार भाटा मय ठपन (Tidal Percussion) संज्ञा दी है।

इस प्रकार फुफ्फुस की सीमाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् वक्ष के विभिन्न स्थानों पर उत्पन्न विभिन्न प्रकार की ठपन ध्वनि को प्रतीत करना चाहिये। सम्पूर्ण वक्ष से सौषिर ध्वनि ही उत्पन्न होती है, परन्तु स्थानानुसार इसमें काफी परिवर्त्तन हो जाता है। इस अन्तर को लेखनी से दर्शाना असम्भव है। अनुभव ही इसे मालूम करने का एक मात्र उपाय है। वक्ष की परीक्षार्थ परीक्षक को सर्व प्रथम अक्षकास्थि के अनेक स्थानों पर मृदु ठपन करना चाहिये बारी-बारी से दोनों तरफ की अक्षकास्थियों के समान स्थानों पर ठपन करें। इस बात का पूर्ण ख्याल रक्खे कि, दोनों तरफ की अक्षकास्थियों के समान स्थान पर और समान बल से पद्धति अनुसार, ठपन किया जाय। ताकि तुलना करके ठीक ज्ञान प्राप्त किया जासके। यह निर्णय करें कि दोनों तरफ की ठपन ध्वनि समान ही है या उनमें किसी प्रकार का अन्तर है? तत्पश्चात् दोनों पार्श्वों के अक्षकास्थि के ऊपर इनमे भी विशेषतः ऊर्ध्व अक्षकास्थि त्रिकोण प्रदेश (Supraclavicular triangles) में अनेक स्थानों पर ठपन करके, उत्पन्न आवाजों की तुलना करें। बायें पार्श्व मे हृदय की उपस्थिति के कारण सौषिर ध्वनि मे परिवर्त्तन होजाता है। इसलिये बायें पार्श्व के कुछ निश्चित भाग की दाये से तुलना नहीं की जा सकती।

इस प्रकार मृदु ठपन से वक्ष के सामनेके भाग की पूर्णतया परीक्षा कर लेने के पश्चात् परीक्षक दोनों कक्षा और कक्षा के अधोप्रदेश पर ठपन करे। इन प्रदेशों पर ठपन करते समय रोगी अपने हाथ सिर के ऊपर एक दूसरे को पकड़ कर रक्खे। अन्त मे पीठके अनेक क्षेत्रों पर ठपन करें। पीठ पर ठपन करते समय अगर रोगी बैठने की शक्ति रखता है, तो उसे अपने हाथ कूर्पर सन्धिसे मोड़ कर एक दूसरे कधे पर रखने का तथा आगे की ओर थोड़ा झुक जाने को कहे।

सम्पूर्ण वक्ष की परीक्षा करने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि, रोगी ऐसी स्थिति में बैठा या सोता हो, जिसमे उसे पूर्ण आराम प्रतीत होता हो तथा उसकी भुजा और स्कंध समान सतहपर हो। अगर यह ऊँचे नीचे होंगे तो दोनो पार्श्वों के समान स्थान की ठपन ध्वनि मे अनुचित (रोग

सम्प्राप्ति न होने पर भी) अन्तर भासेगा । रोगी का सिर किसी पतले तकिये या जमीन पर ही सीधा रक्खा होना चाहिये, न कि वह एक पार्श्वकी ओर झुका हो ।

अगर वक्षके किसी भागमें अस्वाभाविक गर्त है, तो प्लेक्सीमीटर (बायें हाथकी मध्यमा अगुली) को त्वचा स्पर्श करते हुए वक्ष पर रखना कठिन है । इसलिये ऐसी स्थिति में ताबल के डाटको उस गर्त में खड़ा रख कर उससे प्लेक्सीमीटर का कार्य निकाल लेना चाहिये । अगर वक्ष के दोनों पार्श्व विषम हों तो परीक्षक को दोनों पार्श्वों में समान प्रति-ध्वनि की आशा नहीं करनी चाहिये ।

विविध सौषिर ध्वनि प्रदेश—स्वस्थ व्यक्ति के वक्ष के मुख्य मुख्य भागों में निम्न विशेष प्रकार की सौषिर ध्वनि उत्पन्न होती है :—

शिखर:—इस पर ध्वनि स्पष्ट परन्तु अधिक तीव्र नहीं होती, क्योंकि तरग उत्पन्न करने वाली वस्तु छोटी होती है । इस ध्वनि में रिक्त ध्वनि भी कुछ अंशमें सम्मिलित प्रतीत होती है । क्योंकि टेटुआ पास ही स्थित है और प्रहार का उस पर भी प्रभाव पड़ जाता है । दाया शिखर बायें की अपेक्षा सामान्यतः कुछ कम प्रतिध्वनित होता है, तथा ध्वनि कुछ ऊँची होजाती है । इस अन्तर का कारण यह है कि, दायें फुफ्फुस शिखर का घनफल कम होता है, क्योंकि इसके आगेकी ओर दीर्घ प्रणालियाँ हैं, तथा इसका अन्तः पृष्ठ रिक्त ध्वनि उत्पन्न करने वाले टेटुवे के सम्पर्क में रहता है, जब कि बाये फुफ्फुस के शिखर का अन्तः पृष्ठ आवाज को प्रतिध्वनित न करने वाले अवयवो के सम्पर्क में रहता है ।

अक्षकास्थि प्रदेश :—अन्तः किनारे पर ध्वनि स्पष्ट, तथा न तीव्र न मंद होती है । इसमें टेटुओ के कारण उत्पन्न रिक्त ध्वनि मिश्रित होती है । मध्यमें स्पष्ट और अक्षकास्थि के ऊर्ध्व पदेश की या अक्षकास्थि से बाह्यप्रदेश की अपेक्षा ज्यादा तीव्र होती है । बाह्य किनारे पर मध्यके समान ही होती है, परन्तु उससे कम तीव्र ।

अक्षकास्थि अधोप्रदेशः—अत्र ध्वनि स्पष्ट और तीव्र होती है । किन्तु उरोस्थि के पास कुछ रिक्त ध्वनि सम्मिलित होती है ।

चूचुक प्रदेश —इस प्रदेश के दोनो पार्श्वों की आवाजमें स्वाभाविकतया ही अन्तर होता है । दाहिनी तरफ इस प्रदेश में फुफ्फुस के नीचे यकृत् रहता है , जबकि बाईं तरफ इस प्रदेश के अधिक भाग में हृदय अवस्थित है,

अधो किनारे पर आमाशय की मिश्रित ध्वनि प्रतीत होती है । साधारणतया यह कहा जा सकता है कि इस प्रदेश के सम्पूर्ण भागमे, जिसमे अन्य अंग अवस्थित नहीं हैं ; फुफ्फुस की सौषिर ध्वनि स्पष्ट और मध्यम प्रतीत होती है। इस प्रदेश की वक्ष दीवार अन्यस्थानों से ज्यादा मोटी होती है। क्योंकि अत्र उरच्छदा पेशियाँ (Pectoral muscles) और चूचुक ग्रन्थियाँ विद्यमान हैं। इसके फलस्वरूप इस प्रदेश की ठेपन ध्वनि दबी हुई प्रतीत होती है।

चूचुक अधोप्रदेशः—इस प्रदेश की ठेपन ध्वनि पर समीपस्थ यकृत्, बृहदन्त्र और आमाशय का बहुत प्रभाव पड़ता है। परन्तु यह कहा जासकता है कि, फुफ्फुस ध्वनि हालाकि तीव्र नहीं, परन्तु स्पष्ट होती है । परीक्षक ज्यों-ज्यों नीचे की तरफ ठेपन करेगा त्यों त्यों फुफ्फुसों की पतली सतहके कारण रिक्त ध्वनि होती जायगी।

कक्षा प्रदेशः—इस प्रदेश की ठेपन ध्वनि अन्यस्थानों से तीव्र और ज्यादा स्पष्ट होती है। किन्तु आवाज की तीव्रता दोनों पार्श्वों के अधोभाग में कम हो जाती है।

पृष्ठ प्रदेशः—यह मोटी मोटी मांस पेशियों से आवृत है । इसलिये ठेपन ध्वनि मृदु ही प्रतीत होती है; तथा इसी कारण ठेपन तीव्र, और कभी कभी तो कई अंगुलियों से करने की आवश्यकता होती है। स्कंधास्थि प्रदेश सबसे अधिक आवृत है और स्कंधास्थि अधो प्रदेश अपेक्षाकृत कम आवृत है, और स्कंधास्थि अन्तः प्रदेश और स्कंधास्थि ऊर्ध्व प्रदेश मध्यम परिमाण की मांस पेशियों से आवृत है।

फुफ्फुस मे रोग उत्पन्न होनेपर ठेपनध्वनि के परिमाण और प्रकार, इन दोनों में अन्तर हो जाता है।

१. परिमाण में उत्पन्न अन्तर—सौषिर शब्द की वृद्धि—वायुकोष्ठ विस्तृति की प्रारम्भिक अवस्था मे यह किञ्चित् अधिक सुनाई देती है। परन्तु इसमे वक्ष का तनाव बढ़ जाने पर अनेक रोगियो में वृद्धियुक्त सौषिर ध्वनि के स्थान पर ठोस ध्वनि का अनुमान होने लगता है। जब फुफ्फुस तन्तु शिथिल हो जाय. परन्तु फिर भी उनमे वायु भरी हुई हो तो फुफ्फुसो के वायुकोष्ठों को एक दूसरे से विभक्त करने वाली कला का प्रभाव प्रायः नष्ट हो जाता है, और ठेपन ध्वनि "रिक्तवत्" प्रतीत होने लगती है। तथा इसके साथ ही ध्वनि की तीव्रता भी बढ़ जाती है। इस प्रकार की ध्वनि कभी कभी "स्कोडिक ध्वनि" (Skodaic resonance) × कहलाती है, और यह

× स्कोडिक ध्वनि—वक्षके ऊर्ध्व भागमे उत्पन्न वृद्धियुक्त ठेपन ध्वनि

फुफ्फुसावरण में सवित तरल की सतह के ऊपर या उस फेफड़े के ऊर्ध्व भाग में, जिसका अधोखण्ड श्वसनक ज्वर के कारण घन हो गया हो, सुनाई देती है।

फुफ्फुसावरणों के गह्वर मे वायु भर जाय और यदि वायु पर बहुत ज्यादा दबाव नहीं हो, तो टेपन ध्वनि अतिगुंजित (रिक्तवत्) प्रतीत होती है।

वातमूर्छा: फुफ्फुसावरण मे एक विशेष प्रकार की प्रकृति निर्देशक आवाज उत्पन्न होती है, उस घण्टा नाद (Bruit D'airain) संज्ञा दी है। इस आवाज को सुनने के लिये रोगी की छाती पर एक रुपया रख दूसरे रुपये से टेपन करें। ठीक उसी समय परीक्षक उसकी पीठ पर श्रवण करे, तो रुपये की झंकार जैसी आवाज प्रतिध्वनित होती है, यह ध्वनि पूर्णावस्था मे दूर से सुनाई देने वाली ताल बद्ध घंटी या कितनेकों ने मृदु वाजित्र की आवाज के समान प्रतीत होती है। परन्तु अधूरी अवस्था में तो दूर से सुनाई देने वाली निहाई पर हथोड़े की चोट के समान प्रतीत होती है।

यह क्रिया वक्ष पर रुपया के स्थान पर, स्टैथस्कोप से श्रवण करते समय उसके इतस्ततः चुटकी लगाकर प्रतीत की जासकती है। इस प्रकार श्रवण करने पर प्रतीत होगा कि स्वस्थावस्था मे चुटकी से उत्पन्न आवाज कठोर चट् जैसी मालूम होती थी, वह फुफ्फुसावरण मे वायु पूरित स्थान पर तालबद्ध घंटी या वाद्य ध्वनि के समान सुनाई देती है। इस विधि से यह लाभ होता है कि इसमे रुपया प्रयुक्त नहीं करना पड़ता एवं रुपये की आवाज की तुलना में यह ज्यादा स्पष्ट होती है क्योंकि इसमें सिर्फ शब्द की तेजी मे ही नहीं अपितु शब्द के सम्पूर्ण स्वरूप में अन्तर प्रतीत किया जा सकता है।

परीक्षक को स्मरण रखना चाहिये कि अगर यह घण्टा नादा प्रतीत न भी हो तो यह न समझ ले कि फुफ्फुसावरण वायु पूर्ण नहीं है। फुफ्फुस मे गह्वर उत्पन्न होने, या टेपन क्षेत्र मे दीर्घ या मध्यम आकार की वायु प्रणाली आजाने पर आवाज रिक्तवत् (गुंजित) होजाती है। फुफ्फुस का कुछ भाग टेंटुवा या मुख्य श्वास नलिका की शाखा और सतह के बीच मे घनी भूत या संकुचित होजाय तो उससे लगभग मिलती जुलती ध्वनि उत्पन्न होती है, इसे विलियम की श्वासनलिका की ध्वनि (William's Tracheal Resonance) संज्ञा दी है। इस अवस्था मे यह ध्वनि उरोस्थि के पास प्रथम और द्वितीय पर्शुकान्तर में अति मुक्तरूप से प्रतीत होती है।

को कहते हैं। इसके प्रतीत होने के स्थान के नीचे अवस्थित वक्ष का भाग घना होगया है ऐसा समझना चाहिये।

सौषिर ध्वनि का ह्रासः—ध्वनि सौषिर से ठोस होजाने के कारण निम्नानुसार उपस्थित होती है।

१. फुफ्फुसावरण के मोटे होजाने के कारण (पूर्वसूत प्रदाह के फलस्वरूप या जीर्ण प्रदाह के कारण) आवाज किञ्चित् ठोस हो जाती है।

२. फुफ्फुस के घन हो जाने पर, जब सम्पूर्ण फेफड़ा ठोस हो जाय, यथा खण्डीय श्वसनक ज्वर में; या फुफ्फुस के कुछ वायुकोष्ठो में सूक्ष्म ठोस (Patches) हो जाय, जैसा कि राजयक्ष्मा की प्रथमावस्था मे। द्वितीय उदाहरण में ठेपन करने पर आवाज उन घन सूक्ष्म ग्रन्थियों के आकार और वक्ष से उनकी दूरी के अनुसार ठोस होगी, यह पूर्णतया ठोस नहीं होती है।

३—जब फुफ्फुसावरण मे तरल संचित हो जाय, या तरलमय उरस्तोय बन जाय, तब ध्वनि पूर्ण ठोस हो जाती है, तथा प्लैक्सिमीटर (वक्ष पर रक्खी जाये हाथ की अंगुली) को वक्ष की दीवार की प्रतिरोधक शक्ति बढी हुई प्रतीत होती है। तरलमय फुफ्फुसावरण प्रदाह मे संचित तरल की ऊर्ध्व सीमा साधारण तया महराव युक्त होती है।

४—घन फुफ्फुसका ठोस अंशका वह भाग वायुसे रहित हो गया हो, फुफ्फुस के उस आवरण (Shell) से प्रायः घिरा होता है, जिसमे कोषो का विभक्त करने वाली कला ढीली हो जाती है। ऐसे भाग पर ठेपन करने पर पृथक् ही प्रकार की ध्वनि उत्पन्न होती है। वह कम तीव्र परन्तु कुछ अधिक रिक्त स्थान मय होती है। इस प्रकार को गौण गुंजित ध्वनि (Sub tympanitic) कही जा सकती है। यह ध्वनि लकड़ी की पेटी पर ठेपन करने से उत्पन्न ध्वनि के समान होती है। अतः इसे काष्ठ ध्वनि (Boxy or wooden sound) संज्ञा दी है।

(२) ठेपनध्वनि के गुण मे उत्पन्न अन्तरः—अनेक प्रकार की आवाज जो विकृतावस्था के फलस्वरूप उत्पन्न होती है, उन पर भी ध्यान देना परीक्षक के लिये अत्यावश्यक है। जिनमें भग्नभाण्डध्वनि और कौप्यक ध्वनि मुख्य हैं।

भग्नभाण्ड ध्वनि—(Cracked pot sound) यह आवाज हवा के एक दम किसी तंगमार्ग मे से गुजरने से उत्पन्न होती है। यह उस अवस्था में प्रतीत होती है, जिसमे ठेपन उस गह्वर पर किया जाय जिसका मुँह मध्यम-आकार की वायु प्रणाली में खुलता हो। वह आवाज रोगी का मुँह खुला रखवाकर ठेपन करने पर अत्यधिक स्पष्ट हो जाती है। यह

आवाज सर्प की लगातार फूंकार के सामने प्रतीत होती है, जिसमें कि रुपयों को एक साथ हिलाने से उत्पन्न ध्वनि के समान ध्वनि भी सम्मिलित हो। यह आवाज वक्षीय नाड़ी व्रण (Thoracic fistula) के कुछ रोगियों में, तथा कभी कभी वायुभृत-फुफ्फुसावरण, और फुफ्फुसावरण प्रदाह में संचित तरल के ऊपर तनाव रहित फुफ्फुस, और श्वासन के ज्वर में कठोर बने हुए स्थान के समीप में टेपन करने पर भी प्रतीत होती है। परीक्षक को स्मरण रखना चाहिये कि अगर रोते हुए स्वस्थ बालक की वक्ष पर ठेपन किया जायगा तो अक्सर इसी प्रकार की आवाज उत्पन्न होगी।

कौप्यक ध्वनि (Amphoric resonance)—यह फुफ्फुस में बृहद् गह्वर होने पर, रिक्त बोतल के मुँह पर फूँक मारने से उत्पन्न ध्वनि के समान प्रतीत होती है। इसमें प्रतिध्वनि वृद्धियुक्त होती है तथा समाप्ति भी धीरे धीरे ही होती है।

रोग संप्राप्ति से प्राप्त कुछ विकृत आवाज—कुछ विकृतावस्थाओं में टेपन ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है। भौतिक विज्ञान की दृष्टि से इसका वर्णन करना बहुत कुछ सम्भव है।

१—जब ठेपन ध्वनि गुँजित हो तथा इसकी उत्पत्ति का कारण फुफ्फुस में उत्पन्न उस प्रकार का गह्वर हो कि जिसका सम्बन्ध किसी श्वास प्रणाली से हो, तब रोगी का मुँह-खुला कर टेपन करने पर आवाज की तीव्रता घट जाती है।

२—गह्वर के ऊपर टेपन ध्वनि की तीव्रता रोगी की स्थिति पर निर्भर है। इसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि किसी रोगी के गह्वर में कुछ तरल है, तब उसकी स्थिति के परिवर्तन (सोने बैठने आदि) के अनुसार इस तरल की स्थिति भी बदल जाती है। जिससे गह्वर के आकार में परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त अन्य कारण भी इस पर प्रभाव डालते हैं।

३. गह्वर के ऊपर टेपन ध्वनि श्वास ग्रहण के समय तीव्र हो जाती है और निःश्वास के समय मन्द। इस पर वक्ष की दीवार के तनाव का भी प्रभाव पड़ता है।

४. वायुभृत-फुफ्फुसावरण में सोये हुए रोगी की ठेपन ध्वनि बैठे हुए की तुलना में ज्यादा तीव्र होती है।

कुछ अवस्थाओं में वक्ष के सामने की माँस के विकृत पोषण के कारण

वे आवश्यकता के ज्यादा उत्तेजनामय हो जाती है। ऐसी अवस्था मे वक्षोस्थि पर हल्का प्रहार करने से उरच्छदा (Pectoral) पेशी के कुछ दूर तक के तन्तु बारबार प्रसारण सकुचित होते रहते हैं। यह अवस्था अक्सर राजयक्ष्मा में उत्पन्न होती है, और इसे "पेशी प्रसारण जन्य उद्दीपना वस्था या पेशी शोथ (Myotatic irritability or myvidema)" कहा जाता है।

यदि ट्युनिक फार्क द्वारा निर्धारण करने का यत्न किया जाय तो फुफ्फुसों की सीमा का परिचय मिलने के अतिरिक्त उनके खण्डों की सीमा जानने मे भी सफलता मिल जाती है। उस यंत्र का पैर वक्ष के आगे की ओर के पर्शुकान्तर के ऊपर छोटी तख्ती मे लगाकर ठीक उसी समय सामान्य ध्वनि बाहक यंत्र से पिछली ओर ध्वनि श्रवण करें। जब ध्वनि बाहक यन्त्र एक खण्ड से दूसरे खण्ड पर गमन करता है, तब कितनीक समय ध्वनिभेद अवगत हो सकता है। जब जिस खण्ड के सामने ट्युनिक फार्क स्थापित होता है और उसी खण्ड के ऊपर ध्वनि बाहक यन्त्र रखा जाता है, तब आवाज की अवस्था स्पष्ट तर और उच्चतर हो जाती है।

५. श्रवण (Auscultation)

फुफ्फुस के वायु कोष्ठ, श्वास नलिका, श्वास प्रणालिका आदि पर ध्वनि बाहक यन्त्र रख कर सुनने पर स्वाभाविक श्वास. ध्वनि, शब्द ध्वनि तथा आगन्तुक ध्वनि सुनाई देती है। इसके मुख्य प्रकार निम्नानुसार हैं।

अ. श्वास ध्वनि प्रकार Character of Respiratory sound.

१ वायुकोषीय नाद (Vesicular breathing—(तृण की आवाज सदृश)

I. स्वाभाविक Normal
II. वर्द्धित या शैशवीय Puerile
III. कर्कश Harsh
IV. विच्छिन्न Jerkey or cog-wheel
V. मन्द या अनुपस्थित Feeble or absent.
VI. दीर्घ निःश्वासज मर्मर ध्वनि With prolonged expiratory murmur.

२—नालीयनाद—Bronchial breathing (कण्ठज आवाज)
I. सामान्य Ordinary.

(अ) मन्द ग्रामयुक्त Lower pitched. (विवरनाद Cavernous)

(आ) मध्यम ग्रामयुक्त Medium-pitched.

(इ) उच्च ग्रामयुक्त High pitched. (नालीय नाद Tubular)

II. कौप्यक Amphoric प्रतिध्वनि वृद्धिसह। इसमें भी मन्द, मध्यम और ग्रामयुक्त उपप्रकार होते हैं।

३—कोष-प्रणालीय नाद—Indeterminate or broncho-vesicular-breathing.

आ. शब्द नाद—Vocal resonance.

परिमाण मे परिवर्तन—Quantitative changes.

I. वर्द्धित Increased.

(अ) मन्द Slight

(आ) स्पष्ट Marked. प्रतिध्वनिसह Bronchophony.

(इ) अधिक Extreme, उच्च प्रतिध्वनिसह Pectorilogery

II. अवनत Decreased.

(अ) मन्द Slight.

(आ) स्पष्ट Marked

(इ) विलुप्त Entire absent.

२—जातिपरिवर्तन—Qualitative changes.

I. अजाध्वनि Aegophony

II. कौप्यक Amphoric

इ—आगन्तुक ध्वनि Accompaniments

१ अन्तरायज Rales

I शुष्क Dry (Ronchi)

अ उच्च ग्राममय या वेणु वादनवत् Sibilant or high-pitched

आ. मध्यम ग्रामयुक्त Midium pitched.

इ मन्द ग्रामयुक्त या नासा स्वरवत् Sonorous or low pitched.

II. आर्द्र Moist (Crepitations)

अ. स्वाभाविक ध्वनि रहित Non resonant or toneless इसमे मन्द, मध्यम और स्थूल, ये ३ उपप्रकार होते हैं।

आ. स्वाभाविक ध्वनिसह Resonant (Metallic) or consonant. इसमें मध्यम और स्थूल, ये २ उप-प्रकार हैं।

२. घर्षण ध्वनि Friction sound. इसमें मन्द, मध्यम और स्थूल, ये ३ उपप्रकार होते हैं।

३ वस्ति ध्वनि या हिपोक्रेटिक संदोलन Splashing sound or hippocratic succussion.

श्रवणपरीक्षा द्वारा वक्ष के प्रत्येक स्थान पर निम्न ३ बातों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। १—श्वासध्वनि प्रकार, २—शब्दध्वनि प्रकार और ३—अन्य आगन्तुक ध्वनि की उपस्थिति या अनुपस्थिति।

श्रवण द्वारा परीक्षा करने के लिये रोगी को ऐसी स्थिति में रखना चाहिये, कि उसके दोनों पार्श्व समान स्थिति मे और मुक्त रह सके। अगर रोगी बैठा रहने मे समर्थ है तो उक्त स्थिति आसानी से प्राप्त की जा सकती है, परन्तु रोगी के बैठा रहने मे असमर्थ होने पर कठिनाई उपस्थित होती है। ऐसी अवस्था में अग्रभाग की परीक्षा रोगी को चित लिटा कर करलें, और पीठ तथा मुख्यतया फुफ्फुसतल की परीक्षा करने के लिये रोगी को बारी-बारी से दोनों पार्श्वों पर लेटावे। इससे उसकी पीठ और फुफ्फुस तल की परीक्षा आसानी से की जा सकेगी। विद्यार्थियो को यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि, गम्भीर रोगियों की लम्बे समय तक परीक्षा करते रहना हानिदायक है। स्टैथस्कोप और मुख्यतया एकनालीय स्टस्थकोप का प्रयोग करते समय परीक्षक को पूर्ण ध्यान रखना चाहिये कि, उस यन्त्र का वक्षवर्ती भाग सम्यक्तया वक्ष पर लगा रहे और अस्वाभाविक दबाव भी न डाला जाय। रोगी को नासाद्वारा दीर्घ किन्तु नियमित श्वास लेने को कहे, परन्तु श्वास ध्वनिमय न होना चाहिये। स्टैथस्कोप के किसी अंश को कोई वस्त्र आदि बाह्य पदार्थ न छूना चाहिये, तथा वक्षवर्ती भाग और वक्ष के मध्य मे किसी प्रकार का कपड़ा और बाल आदि भी न होने चाहिये। अगर वक्ष पर बाल बहुत हो तो उन्हें साफ करवा लेना चाहिये।

अ. श्वासध्वनि प्रकार

श्वास-ध्वनि के मुख्य दो प्रकार हैं। १. वायुकोषीय और नालीय। ये दोनों स्वस्थावस्था मे वक्ष के कुछ निश्चित स्थानों पर श्रवण किये जा सकते हैं। परीक्षक को इन्हे ध्यानपूर्वक श्रवण करना चाहिये। प्रथम ध्वनि

फुफ्फुस के स्वस्थ कोपो के ऊपर सुनाई पड़ती हैं, और द्वितीय मुख्य श्वास-नलिका तथा श्वासनलिका की मुख्य दो शाखा पर।

१. वायुकोपीय-ध्वनि—कोपीय ध्वनि कक्षा प्रदेश और स्कन्ध बाह्य-प्रदेश में आदर्श रूप और पृथक् भाव से सुनाई देती है। इसकी उत्पत्ति अति सूक्ष्म श्वासप्रणालिका और वायुकोप के आकुंचन प्रसारण से होती है। यह ध्वनि फुफ्फुसो के निम्न खण्ड की अपेक्षा ऊर्ध्वखण्ड में और पश्चाद् भाग की अपेक्षा सम्मुख प्रदेश में अधिक स्पष्ट सुनाई देती है। एवं दाहिने फुफ्फुस की अपेक्षा बाएँ फुफ्फुस पर किञ्चित तीक्ष्ण होती है। इसके विषय में निम्न बातें याद रखनी चाहिये।

श्वासग्रहण से उत्पन्न ध्वनि मध्यम स्वरूप वाली होती है, और इस क्रिया के सम्पूर्ण समय तक सुनाई देता है। यह स्पष्ट तथा मन्दग्रामयुक्त (सौम्य) होती है। इसी प्रकार को विशेषतःकोषीय ध्वनि कहते हैं।

श्वास के पश्चात् बिना किसी विराम के निःश्वास आरम्भ हो जाता है। साधारणतया श्वास और निःश्वास के मध्य मे विराम नहीं होता। परन्तु ऐसा देखा गया है कि, रोगी अक्सर श्वास के पश्चात् एकाध सैकिण्ड श्वास रोक लेता है। प्रायः निःश्वास ध्वनि श्वासध्वनि की तुलना मे मन्दग्राम और अल्प स्पष्ट होती है। कोपीय ध्वनि का श्रवण करते समय निःश्वास का पहला तिहाई या इससे कुछ अधिक भाग ही सुनाई पड़ता है।

स्वस्थ-वृत का नियम है कि श्वासज ध्वनि निःश्वासज ध्वनि की अपेक्षा कम से कम द्विगुण समय तक सुनाई देनी चाहिये।

नालीयनाद—नालीयनाद ध्वनि की पहचान सीखने के लिये विद्यार्थियों को स्वरयन्त्र पर स्टैथस्कोप रख कर श्रवण करना चाहिये। इस स्थान पर नालीय श्वास स्पष्ट और तीव्रतर सुनाई देता है। परन्तु इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि, पीडित फुफ्फुस की श्रवण परीक्षा करते समय उसे नालीय ध्वनि इतनी तीव्र नहीं सुनाई देगी।

इसमे श्वास ग्रहण जन्य आवाज कोपीय की अपेक्षा परिमित और प्रखर होती है। श्वास ग्रहण की समाप्ति होने के कुछ समय पहिले ही इसका श्रवण बन्द हो जाता है। यह कोपीयनाद की अपेक्षा उच्च ग्राम युक्त होती है। कठ या फुँकनी से फूकते समय यह प्रतीत होती है।

इसमे श्वास की तुलना मे निःश्वास ध्वनि ज्यादा तीव्र और उच्च ग्राम युक्त (तीक्ष्ण) होती है। इन दोनों के मध्य में एक निश्चित विराम होता

है। निःश्वास ध्वनि निःश्वास क्रिया के लगभग सम्पूर्ण समय तक सुनाई देती है, तथा श्वास ध्वनि के समान या इससे भी लम्बी हो जाती है। यह श्वास ध्वनि के बहुत कुछ समान या कंठ या फूंकनी से फूंक मारने के सदृश होती है। इस आवाज को कभी-कभी बंशीनाद (Tubular) भी कहदेते है परन्तु यह शब्द नालीय नाद के एक मुख्य भेद को प्रगट करता है, इसलिये इस अवस्था मे इस नाम का प्रयोग न करना ही उत्तम है।

वायुकोषीय श्वास प्रकार—इसके मुख्य ७ भेद हैं। इनमें एक स्वाभाविक श्वसन प्रकार है। शेष ६ निम्नानुसार हैं।

१—शैशवीय या वर्द्धित ध्वनि (Puerile) स्वस्थावस्था मे भी बालक का श्वास तीक्ष्ण होता है, परन्तु इनमे भी स्थिरता काल युवा के समान ही होता है। जब क्रिया मे अधिकता होने पर वायु अधिक परिमाण में या अधिक वेगपूर्वक प्रवेश करती है। तब इस नाद की उत्पत्ति होती है। यह उच्च आवाज श्वास और निःश्वास, दोनो समय मे सुनी जाती है। श्वास और निःश्वास दोनों के स्थायीपन और उच्चता मे वृद्धि होती है। तथापि उभय के परस्पर सम्बन्ध मे व्यतिक्रम नहीं होता। यह बालको के लिये स्वाभाविक है, किन्तु बड़ी आयु मे ऐसी आवाज होने पर व्याधि चिह्न माना जाता है।

फुफ्फुस के किसी रुग्ण स्थान के भीतर श्वसन क्रिया मे अन्तराय आने पर उस क्षति के पूरणार्थ अन्य स्वस्थ स्थान मे श्वसन क्रिया की वृद्धि होती है। इस हेतु से यह ध्वनि उपस्थित होती है। प्रायः इसकी उपस्थिति रसस्राव हो कर फुफ्फुस पीडित होने वा श्लेष्मा आदि के निःसरण से श्वासप्रणालिका रुद्ध हो जाने पर होती है।

२. कर्कश—(Harsh) यह ध्वनि यद्यपि कोषीय ही रहती है, तथापि नि.श्वास लम्बा हो जाता है। एवं श्वास और निःश्वास, दोनों ही तीव्र हो जाते है। श्वास मे यह परिवर्तन फुफ्फुस तन्तुओं की नमन शीलता न्यून हो जाने के फलस्वरूप उत्पन्न होता है, अतः राजयक्ष्मा की प्रथमावस्था मे अक्सर पाया जाता है। एव कभी-कभी श्वासनालिका प्रदाह (शुष्क कास) मे भी हो सकता है। जब गम्भीर श्वास लेने पर भी उक्त परिवर्तन विद्यमान रहे तब राजयक्ष्मा का सन्देह करना चाहिये।

३. विच्छिन्न—(Jerkey, interrupted or cog-wheel) इसमे ध्वनि समान रूप से सुनाई नही देती, अपितु लहर की उत्पत्ति के समान

टूट-टूट कर या झटके के समान सुनाई देती है। यह अनिमित कोषीय नमनशीलता के कारण उत्पन्न छोटे-छोटे वायुकोष्ठों के अनिमित प्रसारण का साक्षात् प्रतीक है, अतः राजयक्ष्मा की प्रथमावस्था में अक्सर उपस्थित होता है। चिकित्सक को यह स्मरण रखना चाहिये कि, इस प्रकार का परिवर्तन उत्साह भङ्ग हो जाने के कारण भी उत्पन्न हो सकता है। इसलिये रोग-परीक्षा में इसे महत्व तब ही दिया जाता है जब कि गम्भीर श्वास लेने पर भी यह उपस्थित रहे। गम्भीर श्वास के समय उपस्थित रहने पर भी रोग-परीक्षा में इसे गौण स्थान ही देना चाहिये।

इनके अतिरिक्त शीत प्रवेश, भय आदि कारणों से विच्छिन्न के स्थान पर कम्पित नाद (Tremulous) उपस्थित होता है। इसमें आवाज कम्पती हुई भासती है। इसे रोग परीक्षा में महत्व नहीं दिया गया है।

४. मन्द ध्वनि (Feeble)—निरोगावस्था में जब श्वास धीरे-धीरे लिया जाय, श्वास ध्वनि स्वभावतः मन्द हो जाती है, यहाँ तक कि कभी तो निःश्वास ध्वनि सुनाई ही नहीं देती। रोगी के गम्भीर श्वास लेने पर मर्मर आवाज सुनाई देती है। अगर गम्भीर श्वास लेने पर भी श्वास ध्वनि धीमी सुनाई दे, तो कोई विकृति समझनी चाहिये।

नादह्रास के हेतु—श्वास ध्वनि के मंद हो जाने में मुख्य कारण ४ हैं। १. मार्ग विरोध, २. श्वसन क्रिया क्षीणता, ३. वायु कोष्ठों का अल्प प्रसारण, ४. विधान के बाहर प्रतिबंध।

१. मार्ग विरोध—नासा, स्वरयंत्र, या श्वास नलिका के मार्ग में प्रतिबन्ध होने पर वायुका यथोचित प्रवेश नहीं होता। बृहच्छ्वास नलिका या श्वास-प्रणालिकाओं में किसी बाह्य पदार्थ का प्रवेश हो जाना, स्वरयन्त्र में पीड़ा होना; श्वास नलिका की श्लैष्मिक कला अति स्थूल होजाना या उस पर सूजन आजाना, श्वास नलिका पर दबाव आना, श्वास नलिका में रस या कफ का संचय होना, अथवा श्वास नलीका आक्षेप जन्य संकोच होजाना, इनमें से कोई भी एक या अधिक हेतु द्वारा प्रवेश पथ में अवरोध होने से नाद के परिमाण और बलका ह्रास हो जाता है।

२. श्वास प्रश्वास क्रिया की क्षीणता—सार्वाङ्गिक निर्बलता, पक्षाघात आदि से वात वाहिनियों की निर्बलता, उरस्तोय या फुफ्फुसावरण की वातवाहिनियों द्वारा पर्शुकान्तरिका मांस पेशियों में पीड़ा (Pleurodynia) जनित स्थानिक वेदना आदि से क्षीणता हो जाने पर श्वासोच्छ्वास क्रिया क्षीण हो जाती है।

३. वायुकोप का योग्य प्रसारण न होना—फुफ्फुसावरण में रसंस्राव, वक्ष के भीतर अप्रकृत वृद्धि, वक्ष की विकृत रचना आदि से वायुकोपों का योग्य प्रसारण न होने पर, श्वासोच्छ्वास में कमी होती है।

४. विधान के बाहर प्रतिबंध—वायुकोष और परीक्षक के कान के बीच में कोई तरल या कठिन पदार्थ का अवस्थित होना। इसी हेतु से मेद-ग्रस्त व्यक्ति में क्षीण मर्मर ध्वनि सुनने में आती है।

उपरोक्त कारण बढ़ जाने पर, बाह्य वस्तु से श्वास नलिका रुद्ध हो जाने पर वायुकोषीय नाद बिल्कुल स्थगित हो जाता है।

५ ध्वनिलोप (Disappearance of the breath sound)—फुफ्फुसा वेष्ट में तरल भर जाने पर उसके तल भाग के नीचे श्वास ध्वनि लुप्त हो जाती है। इसका कारण यह होता है कि फुफ्फुस और वक्षभित्ति के मध्य में तरल संचित हो जाता है। हालांकि यह तरल अपेक्षाकृत आवाज का अधिक वहन करने वाला है। परन्तु फुफ्फुस तन्तु शिथिल हो जाने से श्वास ध्वनि को तरल तक पहुंचाने में असमर्थ होजाते हैं। अगर संचित तरल का परिमाण न्यून हो तो श्वास ध्वनि मंद मंद सुनाई देगी। क्योंकि इस अवस्था में फुफ्फुस ततुओं की शिथिलता अधिक नहीं होती। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि फुफ्फुसावरणों में अत्यधिक तरल संचित हो जाने पर भी श्वास ध्वनि लुप्त होजाने के स्थान पर स्पष्ट और तीव्र सुनाई देता है। तथा नालीय नाद के समान होती है। इस अवस्था में शब्द-नाद भी वृद्धियुक्त होजाता है, किन्तु वह लगभग अजा ध्वनि के समान होता है। साधारणतया यह अवस्था पीठ में फुफ्फुस के अधोखण्ड की श्रवण-परीक्षा करने पर स्पष्ट और आसानी से प्रतीत होती है। इस वृद्धि का कारण यह होता है कि श्वास प्रणालियों में उत्पन्न नाद फैफड़े के किसी भाग के दब जाने से तरल में आसानी से संप्रेरित होजाता है। क्योंकि, फुफ्फुस में वायु न होने से या कम होने से उसका प्रतिरोध नहीं होता।

निःश्वास ध्वनि वृद्धि (Prolongation of the expiratory sound)—जहाँ तक निःश्वास के दीर्घ होजाने का सम्बन्ध है, यह स्मरण रखना चाहिये कि वायुकोष्ठ विस्तृति तथा तमक श्वास में स्वस्थावस्था की अपेक्षा निःश्वास धीरे-धीरे निकलता है, जिससे निश्वास ध्वनि भी दीर्घ होजाती है। निःश्वास की दीर्घता के कारण यह अवस्था आसानी से पहचानी जा सकती है।

टूट-टूट कर या झटके के समान सुनाई देती है। यह अनिमित कोषीय नमन शीलता के कारण उत्पन्न छोटे-छोटे वायुकोष्ठों के अनिमित प्रसारण का साक्षात् प्रतीक है; अतः राजयक्ष्मा की प्रथमावस्था में अक्सर उपस्थित होता है। चिकित्सक को यह स्मरण रखना चाहिये कि, इस प्रकार का परिवर्तन उत्साह भङ्ग हो जाने के कारण भी उत्पन्न हो सकता है। इसलिये रोग-परीक्षा में इसे महत्व तब ही दिया जाता है जब कि गम्भीर श्वास लेने पर भी यह उपस्थित रहे। गम्भीर श्वास के समय उपस्थित रहने पर भी रोग-परीक्षा में इसे गौण स्थान ही देना चाहिये।

इनके अतिरिक्त शीत प्रवेश, भय आदि कारणों से विच्छिन्न के स्थान पर कम्पित नाद (Tremulous) उपस्थित होता है। इसमें आवाज कम्पती हुई भासती है। इसे रोग परीक्षा में महत्व नहीं दिया गया है।

४. मन्द ध्वनि (Feeble)—निरोगावस्था में जब श्वास धीरे-धीरे लिया जाय, श्वास ध्वनि स्वभावतः मन्द हो जाती है; यहाँ तक कि कभी तो निःश्वास ध्वनि सुनाई ही नहीं देती। रोगी के गम्भीर श्वास लेने पर मर्मर आवाज सुनाई देती है। अगर गम्भीर श्वास लेने पर भी श्वास ध्वनि धीमी सुनाई दे, तो कोई विकृति समझनी चाहिये।

नादह्रास के हेतु—श्वास ध्वनि के मंद हो जाने में मुख्य कारण ४ हैं। १. मार्ग विरोध, २. श्वसन क्रिया क्षीणता, ३. वायु कोष्ठों का अल्प प्रसारण, ४. विधान के बाहर प्रतिबंध।

१. मार्ग विरोध—नासा, स्वरयंत्र, या श्वास नलिका के मार्ग में प्रतिबन्ध होने पर वायुका यथोचित प्रवेश नहीं होता। बृहच्छ्वास नलिका या श्वास-प्रणालिकाओं में किसी बाह्य पदार्थ का प्रवेश हो जाना, स्वरयंत्र में पीडा होना, श्वास नलिका की श्लैष्मिक कला अति स्थूल होजाना या उस पर सूजन आजाना; श्वास नलिका पर दबाव आना, श्वास नलिका में रस या कफ का संचय होना, अथवा श्वास नलीका आक्षेप जन्य संकोच होजाना, इनमें से कोई भी एक या अधिक हेतु द्वारा प्रवेश पथ में अवरोध होने से नाद के परिमाण और बलका ह्रास हो जाता है।

२. श्वास प्रश्वास क्रिया की क्षीणता—सार्वाङ्गिक निर्बलता, पक्षाघात आदि से वात वाहिनियों की निर्बलता, उरस्तोय या फुफ्फुसावरण की वातवाहिनियों द्वारा पर्शुकान्तरिका मांस पेशियों में पीडा (Pleurodynia) जनित स्थानिक वेदना आदि से क्षीणता हो जाने पर श्वासोच्छ्वास क्रिया क्षीण हो जाती है।

३. वायुकोष का योग्य प्रसारण न होना—फुफ्फुसावरण मे रसस्राव, वक्ष के भीतर अप्रकृत वृद्धि, वक्ष की विकृत रचना आदि से वायुकोषो का योग्य प्रसारण न होने पर, श्वासोच्छ्वास से कमी होती है।

४. विधान के बाहर प्रतिबंध—वायुकोष और परिचालक के कान के बीच मे कोई तरल या कठिन पदार्थ का अवस्थित होना। इसी हेतु से मेद-ग्रस्त व्यक्ति मे क्षीण मर्मर ध्वनि सुनने मे आती है।

उपरोक्त कारण बढ जाने पर, बाह्य वस्तु से श्वास नलिका रुद्ध हो जाने पर वायुकोषीय नाद बिल्कुल स्थगित हो जाता है।

५. ध्वनिलोप (Disappearance of the breath sound)—फुफ्फुसा वेष्ट मे तरल भर जाने पर उसके तल भाग के नीचे श्वास ध्वनि लुप्त हो जाती है। इसका कारण यह होता है कि फुफ्फुस और वक्षभित्ति के मध्य मे तरल संचित हो जाता है। हालाकि यह तरल अपेक्षाकृति आवाज का अधिक वहन करने वाला है। परन्तु फुफ्फुस तन्तु शिथिल हो जाने से श्वास ध्वनि को तरल तक पहुँचाने मे असमर्थ होजाते हैं। अगर सचित तरल का परिमाण न्यून हो तो श्वास ध्वनि मद मद सुनाई देगी। क्योंकि इस अवस्था मे फुफ्फुस ततुओ की शिथिलता अधिक नहीं होती। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि फुफ्फुसावरणो मे अत्यधिक तरल सचित हो जाने पर भी श्वास ध्वनि लुप्त होजाने के स्थान पर स्पष्ट और तीव्र सुनाई देती है। तथा नालीय नाद के समान होती है। इस अवस्था मे शब्द-नाद भी वृद्धियुक्त होजाता है, किन्तु वह लगभग अजा ध्वनि के समान होता है। साधारणतया यह अवस्था पीठ मे फुफ्फुस के अधोखण्ड की श्रवण-परीक्षा करने पर स्पष्ट और आसानी से प्रतीत होती है। इस वृद्धि का कारण यह होता है कि श्वास प्रणालियो मे उत्पन्न नाद फैफडे के किसी भाग के दब जाने से तरल मे आसानी से संप्रेरित होजाता है। क्योंकि, फुफ्फुस मे वायु न होने से या कम होने से उसका प्रतिरोध नहीं होता।

निःश्वास ध्वनि वृद्धि (Prolongation of the expiratory sound)—जहाँ तक निःश्वास के दीर्घ होजाने का सम्बन्ध है, यह स्मरण रखना चाहिये कि वायुकोष्ठ विस्तृति तथा तमक श्वास मे स्वस्थावस्था की अपेक्षा निःश्वास धीरे-धीरे निकलता है, जिससे निश्वास ध्वनि भी दीर्घ होजाती है। निःश्वास की दीर्घता के कारण यह अवस्था आसानी से पहचानी जा सकती है।

कुछ मनुष्य स्वभावतः ही श्वास उथला लेते हैं और कुछ गम्भीर। परीक्षक की अभ्यसित श्रवणेन्द्रिय इस भेद को श्वास ध्वनि की उपस्थिति के समय और कुछ उसकी तीव्रता से आसानी के साथ प्रतीत कर लेती है।

ध्वनि वाहक यन्त्र से श्वास की गहराई का जो अनुमान होता है, वह कभी-कभी श्वसन विहार (Respiratory excursion) कहलाता है।

२. नालीय नाद(Bronchial breathing)—इसके ३ प्रकार होते हैं। कारण, स्वरयंत्र में उत्पन्न ध्वनि दृढ़ हुए फुफ्फुसों में से निकल कर कान तक पहुँचती है। वह प्रत्येक बृहत्, मध्यम और लघुश्वास वाहिनी में से गुजरती है; जिससे वे वाहिनिया इन ध्वनियों के कतिपय तत्त्वों को सबल बनाकर ३ प्रकार के पृथक्-पृथक् स्वरूप प्रदान करती है।

इनमें से पहली श्वास ध्वनि मंदग्रामयुक्त (Low pitched) है, वह जब वायु दीर्घश्वास प्रणालियों में से गुजरती है तब सुनाई देती है; आवाज मंद होजाने का कारण यह है कि, बृहद् नलिका स्वरयंत्र में उत्पन्न श्वास ध्वनि की मर्मर के गम्भीर अंश को अपने में समा लेने की अधिक क्षमता रखती है। द्वितीय प्रकार में ध्वनि मध्य ग्रामयुक्त (Medium pitched) होती है। तृतीय ध्वनि उच्च ग्रामयुक्त (High pitched) है। तृतीय ध्वनि जब छोटी श्वास प्रणालिकाओं में से गुजरती है तब वह तीव्र हो जाती है। मंद ग्रामयुक्त नालीय नाद रुग्ण मनुष्य की वक्ष में उस समय, तथा उस स्थान पर सुनाई देता है जहाँ रोग सम्प्राप्ति द्वारा दीर्घ गह्वर बन गया हो। इसीलिये इसे कभी कभी विवरनाद (Cavernous) के नाम से भी पुकारते हैं। उच्च ग्राम युक्त नालीय नाद उस अवस्था में सुनाई देता है जबकि छोटी प्रणालिकाओं के पास फुफ्फुस घन हो गया हो। जैसा कि, श्वसनक ज्वर (न्युमोनिया) में नालीय श्वास का उत्तम उदाहरण भी अक्सर श्वसनक ज्वर में ही मिलता है। इस अवस्था में ध्वनि कण्ठस्थ ध्वनि की अपेक्षा किसी नली से वायु आकर्षण करने से उत्पन्न ध्वनि से विशेष समानता रखती है, इस हेतु से इसे वंशीनाद (Tubular breathing) संज्ञा भी दी है।

रुग्णावस्था में एक अन्य विशेष नालीय नाद और देखने में आता है। उसे कौप्यक (Amphoric) श्वास कहते हैं। अगर मनुष्य खाली बोतल या बन्दूक की नाल के मुख पर फूंक मारे तो जिस प्रकार की आवाज उत्पन्न होती है, उस प्रकार की ठीक आवाज कौप्यक श्वास में होती है। अगर इस ध्वनि का विश्लेषण किया जाय तो इसमें एक या अधिक मंद ग्रामयुक्त प्रधान

ध्वनि और अतिरिक्त उच्च प्रति ध्वनि सम्मिलित प्रतीत होती है। इस प्रकार का श्वास इस बात का प्रत्यक्ष चिह्न है कि, रोगी का श्वास श्वास-नलिका की मुख्य शाखा में से होकर या तो किसी दीर्घ गह्वर में संचरण कर रहा है या वायुपूरित फुफ्फुसावरण में। फुफ्फुस में दीर्घ गह्वर राजयक्ष्मा की अन्तिमावस्था में तथा वायुपूरित-फुफ्फुसावरण बहुधा फुफ्फुस का विदारण होने पर पाया जाता है। वायु पूरित-फुफ्फुसावरण होने पर यह नाद ज्यादा स्पष्ट होता है।

(३) कोष्ठ-प्रणालीय मिश्रितनाद—(Broncho vesicular or Indeterminate)—उन अवस्थाओं में जिनमे कि नालीय श्वास की प्रतिध्वनि स्पष्ट हो, परन्तु इसके साथ ही घनीभूत फुफ्फुस श्वास नलीका की मुख्य शाखा और वक्ष भित्ति के मध्यमे स्थित हो, तो कोष्ठीय और नालीय, दोनों श्वास मिल जाते हैं, और श्रवण करने पर मिश्रित आवाज सुनाई पडती है। मिश्रित ध्वनि मे कौनसा अधिक स्पष्ट है और कौनसा कम, यह प्रत्येक रोगी मे प्रभावित नलिका भाग और कोष्ठ के परिमाण के अनुपात पर निर्भर है। इस प्रकार के प्रत्येक रोगी मे सामान्यतः निःश्वास ध्वनि कम या अधिक नालीय होती है। यह मिश्रित आवाज स्वस्थावस्था मे वक्षके कुछ प्रदेशों मे, जहाँ शारीरिक रचना इसकी उत्पत्ति मे सहायता देती है, वहाँ सुनाई देती है। यह मुख्यतः पीछेकी ओर फुफ्फुस मूलो के समीप और सामने की ओर मध्य रेखाके पास ऊर्ध्व प्रदेशमें सुनाई देतो है। उन नलिकाओंकी ध्वनि जोकि वक्ष के गम्भीर भागमे स्थित है, तथा फुफ्फुस तन्तुओं की मोटी तहसे आवृत है, स्वस्थावस्थामें सुनाई नहीं पडती। परन्तु रुग्णावस्था मे जब उनको आवृत करनेवाला फुफ्फुस खण्ड घन (कठोर) हो जाता है, तब इन नलिकाओं की ध्वनि आसानी से उसमे संचरण करके परीक्षक के कान तक पहुँच सकती है। अगर नलिका के ऊपर स्थित फुफ्फुस खण्ड पूर्णतया घन न हुआ हो, तो नालीय ध्वनि कोष्ठीय ध्वनि (जो कि अवशिष्ठ वायुकोषो मे से उत्पन्न हो रही है) में से गुजरती हुई सुनाई देगी। फुफ्फुसखण्ड प्रदाह और राजयक्ष्मा की द्वितीय अवस्था मे इसकी उत्पत्ति होती है। देखिये चित्र नं० १०५

पूर्व से ही ठेपन द्वारा परीक्षा किये हुए वक्ष के अनेक स्थानों पर श्वास ध्वनि का श्रवण करके उसके स्वरूप को मालूम करना चाहिये। दोनों पार्श्वों के समान प्रदेश की तुलना करके मालूम करना चाहिये कि श्वास ध्वनि दोनो पार्श्वों में समान है या इनमे किसी प्रकार का अन्तर है।

आ शब्दनाद—(Vocal Resonance)

इसके पश्चात् श्रवण-परीक्षा द्वारा शब्दनाद की तीव्रता और स्वरूपका ज्ञान प्राप्त किया जाता है। स्वस्थावस्था में भी स्वभाविकतः ही शब्दनाद की तीव्रता में, वक्षके दोनों पार्श्व तथा विभिन्न स्थान के अनुरूप काफी अन्तर पाया जाता है। यह दाहिने पार्श्व में अधिक तेज होता है, और बड़ी श्वास नलिका के ज्यों ज्यों नजदीक श्रवण किया जायगा इसकी तीव्रता बढ़ती जायगी। जब रोगी एक-दो-तीन या अन्य कोई वाक्य भार देकर उच्चारण करता है तब श्रवण करते हुए परीक्षक के कर्ण रोगी की वक्ष से उन शब्दों को साफ तौर से ग्रहण नहीं करते, परन्तु सिर्फ एक झन झनाहट सुनाई पड़ती है, जिसकी तीव्रता रोगी के उच्चारित शब्द की तीव्रता और गम्भीरता तथा फुफ्फुस की संचरण शक्ति पर निर्भर है। कोई भी शब्द या वाक्य रोगी से कहलाया जाय, परन्तु वह इस प्रकार का होना चाहिये कि सम्पूर्ण वक्ष पर समान तथा सतोषप्रद तरङ्ग उत्पन्न करे, ताकि विभिन्न समान स्थानों की तुलनात्मक परीक्षा की जा सके।

शब्द नाद ह्रास—परीक्षा करते समय तीव्रता के प्रमाण को परीक्षक के कर्ण से विभिन्न दूरियों पर उत्पन्न शब्द की कल्पना द्वारा आसानी से स्मरण रक्खा जा सकता है। कितनेक रोगियों में शब्द बहुत दूर होता है। यह शब्द नाद के स्पष्ट ह्रास के समान होता है। कभी शब्द स्टैथस्कोप के वक्षीय भाग से कुछ दूर ही उत्पन्न होता हुआ प्रतीत होता है। इस अवस्था में शब्द नाद का न्यून ह्रास हो जाता है। इसका निश्चय करने के लिये दूसरे पार्श्व पर उसके समान स्थान पर श्रवण करके शीघ्र तुलना कर लेनी चाहिये।

शब्द नाद वृद्धि—वास्तव में, जैसा कि स्पर्शन और ठेरन परीक्षा में किया जाता है, ठीक उसी प्रकार शब्द नाद की प्रतीति के लिये भी वक्ष के एक पार्श्व के प्रत्येक परीक्ष्य स्थान की दूसरे पार्श्वके समानस्थान से तुलना करनी चाहिये। सामान्य वर्द्धित शब्द नाद साधारणतया एक कर्णीय स्टेथ-स्कोप के वक्षीय भाग के पास ही उत्पन्न होता हुआ प्रतीत होता है। अगर यह इससे अधिक कर्ण के पास प्रतीत हो, तो शब्द नाद बढ़ जाता है। जब यह स्टैथस्कोप के समीप प्रतीत हो तो वृद्धि स्पष्ट प्रतीत होती है, और इस अवस्था को स्पष्ट वर्द्धित शब्दनाद (Bronchophony) कहते हैं।

अगर रोगी से उच्चारित शब्द स्पष्ट हो जाय और परीक्षक को उसके कर्ण में ही उत्पन्न होते हुए प्रतीत हो, तो इस अवस्था में प्रायः देखा जायगा

कि मामूली फुफ्फुसाहट का शब्द भी स्पष्ट सुनाई पड़ता है। इस अवस्था को अत्यधिक वर्द्धित शब्द नाद (Pectoriloquy) कहते हैं । शब्दनाद की वृद्धि उस अवस्था में उत्पन्न होती है, जब किसी भी कारण से, श्वासनलिका मे उत्पन्न शब्द तरंग को फुफ्फुस ज्यादा स्पष्ट और तीव्रता से संचारित करें। फुफ्फुस का घन (कठोर) हो जाना उसकी संचारण शक्तिको वृद्धि-युक्त करने का एक अति सामान्य कारण है। शब्द नाद की स्पष्ट वृद्धि युक्त-अवस्था (Bronchophony) उस दशामे उत्पन्न होती है जबकि किसी बड़ी श्वास नलिका के आसपास की फुफ्फुस खण्ड की पर्त्त, जो वक्ष की भित्ति तक जाती है , वह घन होजाय । अत्यधिक वृद्धियुक्त-अवस्था (Pectoriloquy) फुफ्फुस के ऐसे गह्वर को उपस्थिति बतलाता है, जिसका सम्बन्ध श्वास नलिका से हो । कुछ रोगियों मे शब्द नाद की निश्चित सीमा तक अत्यधिक-वृद्धि सामने की ओर फुफ्फुस के ऊर्ध्वखण्ड पर उस अवस्था में सुनाई देती है जब कि इसका अधोखण्ड दब गया हो, उदा०—फुफ्फुसावरण मे तरल संचय के कारण फुफ्फुस के अधोखण्ड पर दबाव पड़ जाय तो उसके ऊर्ध्वखण्डका शब्द नाद कुछ सीमा तक अत्यधिक बढ जाता है। इसकी परीक्षा करते समय निम्न दो बातों का परीक्षक को ध्यान रखना चाहिये। १ रोगी से उत्पन्न शब्द दूसरे कान द्वारा तो परीक्षक तक नहीं पहुँच रहा है। २ रोगीका मुखशब्दोचारण के समय स्टैथस्कोप के मुख या कर्णीयभाग की तरफ तो नहा है ?

अगर थोड़ी सी फुसफुसाहट की आवाज भी शब्द नाद की वृद्धि के कारण युवा और बच्चो मे पृष्ठ वंश के चौथे, पाँच और छठे पृष्ठ कशेरुका पर और शिशुओ मे प्रथम, द्वितीय और तृतीय वक्ष कशेरुका पर सुनाई दे, तो इसको डी ÷ इसीका चिह्न (D' Espine's sign) कहते हैं । यह फुफ्फुसो के मध्य की ग्रन्थियों की वृद्धि प्रदर्शित करता है।

शब्दनाद ह्रास—जब फुफ्फुस तरल की सतह के कारण वक्षभित्ति से पृथक हो जाता है तब शब्द बिल्कुल लुप्त होजाता है । इसका विचार (पहले ध्वनि लोप में पृष्ठ ४१४ के भीतर किया है) वायुकोप विस्तृति और फुफ्फुसावरण के मोटा हो जाने पर भी शब्दनाद मंद होजाता है।

जाति परिवर्तन—कुछ अवस्थाओं मे शब्द नाद का स्वरूप भी रूपान्तरित होजाता है। । शब्दनाद की अति वृद्धियुक्त अवस्था इस रूपान्तर का एक आदर्श उदाहरण है, लेकिन वायुभरा फुफ्फुसावरण (Pneumothorax) में भी लक्ष्य देने योग्य परिवर्त्तन मालूम पड़ता है क्योंकि इसमें रोगी जब

बोलता है, श्वास लेता है, तब वह ध्वनि व हृदय-स्पंदन की ध्वनि कोष्यक या धातुक समान ध्वनि के समान प्रकाशित होती हुई सुनाई पड़ता है। शब्दनाद के स्वरूप में दूसरा परिवर्तन फुफ्फुसावरण-प्रदाह के कितनेक रोगियो मे भी हो जाता है। जब उत्पन्न तरल कम परिमाणमे हो तब फुफ्फुस और वक्षभित्तिएक पतली सी सतह से ही पृथक् होते हैं, इस लिये इस अवस्थामे शब्दनाद सानुनासिक या बकरे की बोली के समान प्रतीत होता है। यह द्वितीय प्रकार का शब्द नाद पीठमे नीचेके स्कंधास्थि कोण पर या नीचेके स्कंधास्थिकोण और कक्षा रेखा के मध्यमे वक्षके अन्य प्रदेशोंकी तुलना मे ज्यादा स्पष्ट सुनाई पड़ता है। इसे अजाध्वनि (Aegophony) कहते हैं।

संभवतः मूल भूत आवाज की गति मे तरलके हेतु से तीक्ष्ण आवाज की अपेक्षा अधिक परिमाण मे अन्तराय आने से यह विशेष प्रकार की सप्रेरित ध्वनि सुनी जाती है।

आगन्तुक ध्वनिः—

Accompaniments

श्रवण परीक्षा द्वारा अन्तिम बात जो प्रतीत की जाती है वह किसी सयोगी आगन्तुक ध्वनि की उपस्थिति और पहचान मालूम करना है। प्रथम तो यह मालूम करना चाहिये कि किसी प्रकार की औपाधिक आवाज उपस्थिति है या नही? तत्पश्चात् अगर है तो वह किस प्रकार की है? इसके मुख्य ३ भेद है।

१. अन्तराय जन्य, २. घर्षण जन्य, ३. संदोलन ध्वनि। औपाधिक आवाज या तो फुफ्फुसावरण मे उत्पन्न हो सकती है। इसके साथ ही परीक्षक को यह भी नहीं भूलना चाहिये कि केशयुक्त वक्ष पर स्टैथस्कोप के घर्षण से भी औपाधिक ध्वनि के समान आवाज उत्पन्न हो सकती है, परन्तु वक्षको गीलीकर देने से इसका भय दूर हो जाता है। फुफ्फुस या श्वास नलिका मे उत्पन्न औपाधिक ध्वनि पर सर्व प्रथम ध्यान देना चाहिये।

अन्तरायज ध्वनि (Rales):—फुफ्फुस या श्वास नालिका के भीतर उत्पन्न आगन्तुक ध्वनि को अन्तराय जन्य ध्वनि कहते हैं। इसके दो भेद हैं। शुष्क और आर्द्र।

चित्र पृष्ठ ७२० से चि० प्र० द्वितीय खण्ड से

शुष्क ध्वनि (Dry Sounds or Rhonchi)—इसे कूजन ध्वनि भी कहते है। यह वायु मार्ग मे उत्पन्न होती हैं, और इसकी उत्पत्ति

का कारण वायु मार्ग के कुछ भाग का अवरोध है, जोकि, श्लैष्मिक कला के शोथ या लसलसे स्राव की उपस्थिति के कारण उत्पन्न होती है। अतएव कहा जा सकता है कि, इनकी यान्त्रिक उत्पत्ति भी उन्हीं कारणों से होती है, जिनसे कि हार्दिक-मर्मर-ध्वनि।

श्वास प्रणालियो (उत्पत्ति के स्थान) के आधार (मोटी या छोटी) के अनुसार शुष्क ध्वनि में अनेक अन्तर पाये जाते हैं। क्षुद्र श्वास प्रणालियाँ उच्च (वेणुवादनवत् Sibilant) शुष्क ध्वनि की उत्पत्ति को स्थान हैं यह ध्वनि रुग्णावस्था उपस्थित होने पर श्वास ग्रहण के अन्तिम समय मे प्रचुर मात्रा मे सुनाई पड़ती है। मध्यम आकार की श्वास प्रणालियाँ मध्यम शुष्क-ध्वनि उत्पन्न करती हैं। एव बड़ी श्वास नलिका गम्भीर शुष्क ध्वनि यॉनासा स्वरवत् (Sonorous) मद ध्वनि उत्पन्न करती हैं। जो कि अक्सर श्वास ग्रहण के प्रारम्भिक भाग मे सुनाई पड़ती है या प्रायः श्वास के सम्पूर्ण समय तक विद्यमान रह सकती है। शुष्क ध्वनि श्वास-प्रणाली-प्रदाह का मुख्य प्रतीक है, परन्तु इसके साथ ही परीक्षक को यह भी स्मरण रखना चाहिये कि, इसके अतिरिक्त श्वास संस्थान की अन्य व्याधियो के कारण भी शुष्क ध्वनि उत्पन्न हो सकती है, जैसा कि राजयक्ष्मा को उस अवस्थामे जिसमे श्वास प्रणालियाँ रुँधजाती है।

आर्द्र ध्वनि (Moist Rales Crepitations)—आर्द्र अन्तरायज ध्वनि को करकरापन भी कहते हैं। यह वायुकोष्ठों मे अथवा सूक्ष्म प्रणालियो मे या श्वास नलिकाओं मे तरल की उपस्थिति के कारण उत्पन्न होती है तथा कट् कट् शब्द को तरह रह रहकर सुनाई देती है। यह परीक्षक के कान में छोटे या बडे बुदबुदे फूटने के समान प्रतीत होती है, और वायुकोष्ठो या प्रणालिकाओ मे तरल को उपस्थिति का स्पष्ट प्रतीक मानी जाती है। इसके तीन भेद होते हैं। मृदु, मध्यय और स्थूल या बिम्बस्फोटन ध्वनि (Bubbling Sound)। कितनेक विद्वानों ने करकरापन नाम सिर्फ मृदु आर्द्र ध्वनि को ही दिया है और शेष दो को मृदु और कठोर बिम्ब स्फोटनवत् ध्वनि के नाम से पुकारा है।

मृदुकरकरापन (Fine Crepitation)—जब वायुकोष्ठो के भीतरकिञ्चित् तरल का स्राव होता है, तब उनकी दीवार परस्पर चिपक जाती है। फिर वायु प्रवेश होने पर जब वे खुलते हैं, तब यह आवाज उत्पन्न होती है। यदि शिर के बालो को कान के समीप लाकर तर्जनी और अंगुष्ठे से मरोड़े तो जो आवाज उत्पन्न होती है, या गोंद से चिपटी हुई

अंगुलियों को कानके पास लाकर अलग करने पर जो आवाज होती है, उससे इस की बहुत कुछ समानता होती है। जब वायु कोष्ठो में शोथ है तो उनमे से स्राव होता है जिसके फलस्वरूप कोष्ठ की दीवारें परस्पर जुड़ जाती हैं। जब इस प्रकार का परिवर्तन अनेक कोष्ठो मे हो जाता है तब श्वास लेने पर वायु के दबाव के कारण चिपके हुए कोष्ठ पृथक्-पृथक् होते हैं और अकस्मात् ही वायु प्रवेश करता है। जिससे मृदु करकरापन उत्पन्न होती है क्योंकि श्वास लेने से वायु कोष्ठ खुलते हैं, इससे श्वास ग्रहण के लगभग अन्तिम समय मे मृदु करकरापन सुनाई पड़ती हैं। यह आवाज इस बात का प्रत्यक्ष प्रतीक है कि प्रभावित फुफ्फुस के अनेक वायु कोष्ठो मे स्राव उपस्थित है। यह खण्डीय फुफ्फुस प्रदाह की प्रथमावस्था मे और किसी भी कारण से उत्पन्न तीव्र रक्ताधिक्य मे स्पष्ट सुनाई देती है। दानेदार राजयक्ष्मा (Miliary Tuberculosis) की प्रथमावस्था मे भी प्रकट होती है। फुफ्फुसों के आंशिक आकुंचन (Atelectatis) के पश्चात् यह कभी कभी उपस्थित होती हैं, तथा फुफ्फुस शोथ (Lung's Edema) होने पर यह मुख्य श्वास नलिकाओं म उपस्थित तरल से उत्पन्न भिन्न स्फोटनवत् ध्वनि के साथ साथ सुनाई देती है। क्योंकि फुफ्फुस शोथ होने पर श्वास प्रणालियो मे तरल सञ्चित होजाता है।

मध्यम करकरापन (Medium Crepitations)—यह छोटी श्वास नलिकाओं मे उत्पन्न होती है, और श्वास ग्रहण के अन्तिम भाग तथा नि. श्वास के प्रारम्भिक भाग में सुनाई पड़ती है। इसकी उत्पत्ति का कारण श्वास नलिकाओं के मार्ग मे स्राव की उपस्थिति है। फिर उन नलिकाओं के टेढे मार्ग मे से वायु के आवागमन करने पर भिन्न स्फोटनवत् ध्वनि (Bubbling) उत्पन्न होती है।

स्थूल करकरापन (Coarse Bobbling or Crepitations)—यह श्वास नलिका के बड़े विभागों में उत्पन्न होती है, और श्वास क्रिया के किसी भी समय सुनी जा सकती है, यह बिल्कुल अविरामयुक्त भी हो सकती है। फुफ्फुस में गह्वर उत्पन्न हो जाने पर भी स्थूल करकरापन उत्पन्न हो सकती है।

ध्वनिलोप (Non resonant or toneless)—कभी-कभी ध्वनि का लोप हो जाता है। यह उस अवस्था में उत्पन्न होती है जिनमें कि फुफ्फुस स्पञ्ज के समान हो जाते हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य रोगियों मे यह आवाज, आवाज पूर्ण और स्पष्ट होती है और परीक्षक के कर्ण को सूचना

देती है कि आवाज निश्चित ग्रामयुक्त है। सिर्फ दो अवस्थाये ऐसी हैं जिनमें आवाज अन्तरायज ध्वनिमय उत्पन्न होती है। १—फुफ्फुस के घन होजाने पर, २—या फुफ्फुस मे बृहद् आकार का गह्वर उत्पन्न होजाने पर। इन दोनों मे फुफ्फुस या उसके आसपास की मुख्य श्वासनलिका शाखा में अन्तरायज ध्वनि उत्पन्न होती है।

जब अत्यन्त बडी ध्वनि हो तो उसे विशिष्ट वाद्नवत् धातव ध्वनि (Metallic and tinkling consonance) कहते हैं? यह आवाज स्पष्ट उच्च ग्रामयुक्त होती है। यह आवाज बिल्कुल उस आवाज के समान होती है, जो कि पानी की बूँदें किसी धातु के बर्तन पर गिरने से उत्पन्न होती है। इस ध्वनि के साथ कोष्यक श्वास भी होता है और इसी के समान। यह या तो दीर्घ गह्वर या वायुमय फुफ्फुसावरण मे अवगत होती है।

जहाँ आगन्तुक ध्वनि स्पष्ट सुनाई दे, उस स्थान पर ज्यादा ध्यान देना चाहिये। अगर यह फुफ्फुस के शिखर पर सुनाई दे, तो राजयक्ष्मा की एकदम कल्पना हो जाती है, जब मध्यम और तीव्र करकरापन फुफ्फुस तल पर सुनाई दे, तो इसे अचिर स्थायी स्राव का मुख्य लक्षण समझे, जो शीघ्र ही नष्ट हो जायगा। जब रोगी कुछ घण्टों तक बिल्कुल शान्ति के साथ श्वास लेता रहे और जब वह खास करके शय्या पर सो रहा हो, तब उस अवस्था में फुफ्फुस-शिखर पर प्रतीत होने वाली करकरापन से सर्वदा सशय होता है, परन्तु यह किसी अस्थायी कारण से भी उत्पन्न हो सकती है।

२ घर्षण ध्वनि (Friction Sound)—फुफ्फुसावरण की गुहा मे उत्पन्न होने वाली आगन्तुक आवाजों मे घर्षण ध्वनि मुख्य है। यह फुफ्फुसावरण-प्रदाह की उस अवस्था मे रोग स्वभाव निर्देशक माना जाता है कि, जब फुफ्फुसावरण शुष्क हो तथा उसमे इतना तरल सचित न हुआ हो कि प्रदाह युक्त और खुरदरे आवरणों को पृथक्-पृथक् रख सके घर्षण ध्वनि का स्वरूप पृथक् ही होता है। इसलिये अक्सर आसानी से पहचाना जा सकता है; लेकिन कभी-कभी कुछ तरल की उपस्थिति के कारण घर्षण ध्वनि मृदु हो तो इसे पूर्वोक्त करकरापन से पृथक् करना कठिन होजाता है। घर्षण ध्वनि भी मृदु मध्यम और स्थूल तीन प्रकार की होती है। कुछ अवस्थाओ में यह स्पर्शन शील होती है। परन्तु स्थूल करकरापन भी स्पर्शन शील हो सकती है। इसलिये इसी पर से इनमे भेद कर लेना अनुचित है।

घर्षण और अन्तरायज ध्वनि में भेद—निम्न चिह्नों द्वारा दोनो

का प्रभेद सरलता से होजाता है। घर्षण-ध्वनि श्वास के उस समय में सुनाई पड़ती है, जब दोनों खुरदरी पर्त्तों का परस्पर घर्षण होता है। और निश्वास के भी ठीक उसी समय मे सुनाई पडती है। खाँसने और कफ बाहर निकालने से घर्षण आवाज मे किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। जब कि करकरापन मे काफी परिवर्त्तन हो जाता है। क्योंकि इनसे इसको उत्पन्न करने वाले संचित द्रव्य की स्थिति मे अन्तर पड़ जाता है। कभी-कभी इनका भेद करने में यह बात भी सहायक सिद्ध होती है कि घर्षण ध्वनि करकरापन की तुलना में ज्यादा सीमित होती है। स्टैथस्कोप से वक्ष पर स्वाभाविक दबाव से कुछ ज्यादा दबाव डालकर सुनने पर घर्षण आवाज और भी तीव्र हो जाती है। क्योंकि ऐसा करने से प्रदाह युक्त पृष्ठ ज्यादा पास आजाते हैं और घर्षण अधिक सबल होता है। करकरापन पर दबाव का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। इनके अतिरिक्त सशय युक्त आवाज की स्थिति, पीडा की उपस्थिति और रोग के इतिहास की कुछ बाते घर्षण और करकरापन ध्वनि का भेद करने मे परीक्षक को सहायक होती है।

परीक्षक को यह बात भी सर्वदा स्मरण रखनी चाहिये कि, एक प्रकार की आगन्तुक ध्वनि विद्यमान होने पर दूसरी की अनुपस्थिति न मान लें। क्योंकि दो या तीन प्रकार की आगन्तुक ध्वनियाँ भी एक ही समय एक ही रोगी मे उपस्थित हो सकती है। जब घर्षण ध्वनि बायें फुफ्फुस के अन्त किनारे के साथ साथ ज्यादा वृद्धियुक्त हो, और मुख्यतया इसका वह भाग प्रभावित हो जो हृदय शिखर के सम्पर्क में रहता है, तब कई बार घर्षण ध्वनि श्वास क्रिया की अपेक्षा हृदय स्पन्दन की गति के साथ विशेष सम्बन्ध युक्त प्रतीत होती है। ऐसी अवस्था मे फुफ्फुसावरण-हृदयावरण (Pleuro pericardial) घर्षण तथा सच्चे हृदयावरण (Pericardial) घर्षण का प्रभेद करना, कभी-कभी अति कठिन हो जाता है।

परीक्षक को अगर यह बात अच्छी तरह स्मरण हो, कि फुफ्फुसावरण की घर्षण ध्वनि का आधार इसकी दो शोथयुक्त सतह के येगरिये पर है; और श्वासक्रिया के साथ उस समय ही उत्पन्न होती है जबकि ये दोनों परस्पर रगड़ खावें। इसलिये गम्भीर श्वास लेने पर जब प्रदाह युक्त फुफ्फुसावरण की दोनों तह की येगरिये पृथक् पृथक् हो जाती हैं तब घर्षण ध्वनि लुप्त हो जाती है। अगर इससे भी पूर्ण विश्वास न हो तो श्वासक्रिया बन्द करा देने पर, या फुफ्फुसों को जहाँ तक हो सके रिक्त कर देने पर फुफ्फुसावरण मे उत्पन्न घर्षण आवाज का लोप हो जाता है। संक्षिप्त मे इस प्रकार कहा जा सकता है कि

हृदय के पास स्थित फुफ्फुसावरण प्रदाह से उत्पन्न घर्षणध्वनि सच्चे हृदयावरण प्रदाह की घर्षणध्वनि की अपेक्षा अत्यधिक श्वासक्रिया पर निर्भर है।

[देखिये पृष्ठ ४६६ से ४७० तक]

बस्ति ध्वनि या हिपोक्रेटिक संदोलन (Hippocratic succussion)—जब फुफ्फुसावरण की गुहा में वायु और तरल (विशेष कर पूय), दोनों उपस्थित हों, तब रोगी को हिलाने के साथ स्टैथस्कोप द्वारा परीक्षा करने पर तरल के छलकने की आवाज सुनाई देती है। यह आवाज ठीक उसी प्रकार की होती है जो पानी से भरी मशक के हिलाने पर उत्पन्न होती है।

(४) सीत्कार ध्वनि (Post tussive suction—वायु के किसी तंग मार्ग में से होकर चौड़े बर्त्तन में आकर्षित होने से उत्पन्न आवाज को सीत्कार ध्वनि कहते हैं। यह वायु के कारण फूली हुई उस गेंद की आवाज के समान होती है, जिसे दबाकर हवा निकाल दी गई हो और फिर वह अपने आप हवा को आकर्षित करके फूल रही हो। जब फेफड़ों में कोई बड़ा कोटर उपस्थित हो जाय, और कुछ देर खाँसने से उसका कफ एवं वायु निकल जाय, तब पुनः श्वास लेने पर वायु उस गह्वर में (जिसकी दीवार अधिक कठोर नहीं होगई हो) आवाज सह आकर्षित होती हुई प्रतीत होती है। इसी को सीत्कार ध्वनि कहते हैं। जब यह स्पष्ट सुनाई दे, तब निदानकरने के लिये यह एक अमूल्य लक्षण है। क्योंकि यह सिर्फ फुफ्फुस में गह्वर होने पर ही उत्पन्न होती है।

६. क्ष-किरण परीक्षा

यद्यपि यह परीक्षा श्वास संस्था के संशयात्मक अनेक रोगियों के लिये सहायक होती है, तथापि केवल लेख पर से इसका अनुभव नहीं हो सकता। एवं इसका संक्षिप्त परिचय रुग्ण परिचर्या और नेत्र रोग विज्ञान में दर्शाया है। अतः इस ग्रन्थ में इसका विस्तार नहीं किया।

७. ष्ठीवन परीक्षा

कफ का विस्तृत वर्णन द्वितीय अध्याय में किया है। अतः जहाँ सिर्फ इसकी आकृति और विभिन्न रोगों में इसकी परीक्षा का कुछ वर्णन करते हैं।

नेत्र द्वारा दर्शन-परीक्षा—इससे निम्नोक्त बातें प्रतीत की जाती हैं:—

(१) परिमाण।

(२) गाढ़ापन।

प्रमुख अस्वाभाविक और आगन्तुक ध्वनि ।

अङ्क	ध्वनि	श्वासोच्छ्वास सम्बन्ध	हेतु और स्थान	जाति	सम्प्राप्ति
१	उत्कम्पन (Vibrating)				
	अ–शुष्क नासाध्वनि (Sonorous)	श्वासोच्छ्वास, उभय काल में विशेषतः निश्वास काल मे ।	आक्षेप, संपीडन या शुष्क कफ आदि से श्वासनलिका का संकोच होना । इसके साथ वक्षः की दीवार में कम्पन (Fremitus) भी होता है ।	कपोत ध्वनिवत् निम्न ग्राम विशिष्ट या अनुच्च कम्पन । कभी खर्राटे मारने (Snore) सदृश ।	कास रोग और तमक श्वास में ।
	आ–वेणुवादनवत् (Sibilant)	उभयकालमें विशेषतः श्वासग्रहण काल मे । कभी निःश्वाससह ।	श्वासनलिका सकोच, श्वासनलिका मे कफ चिटक जाना ।	'शीशी' सदृश ध्वनि या सर्प के श्वासग्रहण सदृश उच्च ग्राम विशिष्ट ।	श्वासनलिका विस्तार, कास, तमक श्वास और क्षय कीटाणुओं की प्रारम्भावस्था में ।
२	बिम्बस्फोटनवत् (Bubbling)				
	अ–बृहद् बिम्ब-	उभय काल मे ।	श्वासनलिका से विवर का	बड़े बुदबुदे फूटने	अधिक परिमाण में

स्फोटनवत् (Bubbling large or Mucous)		सम्बन्ध होने पर, उसमें रक्त, पूय या रक्तरस सञ्चित होकर वायु की गति होने पर।	के समान	कफनिःसरण होने पर, कास रोग में रक्तसंग्रह (Congestion) होने पर।
आ—क्षुद्र बिम्ब स्फोटनवत् (Bubbling small or submucous)	उभय काल में।	कफसंलग्न श्वास प्रणालिका में से वातप्रवाहण। श्वास प्रणालिकाके कास रोग में फुफ्फुसके निम्न प्रदेश में। यक्ष्मा रोगकी प्रथमावस्था में फुफ्फुस के ऊर्ध्व भाग में। न्युमोनिया की उपशमावस्था (Resolution) मे विस्तृत स्थान पर।	छोटे बुदबुदे के फूटने सदृश असमान ध्वनि।	श्वास प्रणालिका में कास (Capillary-Bronchitis), राजयक्ष्मा की प्रथमावस्था और फुफ्फुस-खण्डप्रदाह की उपशमावस्था में।
इ—गम्भीर बिम्बस्फोटन (Gurgling)	उभय काल में।	फुफ्फुस गह्वरस्थ कफमे से वायु प्रवाहण।	फूटे बर्तन में से जल टपकने या बहुत बड़े बुदबुदे फूटने के समान। गम्भीर घर्-घर् ध्वनि।	राजयक्ष्मा मे विवर उत्पन्न होने पर। श्वासनलिका विस्तार या बृहच्छ्वास नलिका और फुफ्फुसावरणीय कला संयोजक (Bro-

				(ncho-Pleural) स्थान पर नाड़ी-व्रण होने से।
३ कट्-कट् ध्वनि Crackling				
अ—सूक्ष्म कट्-कट् ध्वनि (Small Crackling)	विशेषतःश्वासकाल मेंऔर कुछ निःश्वास कालके प्रारम्भमें।	यह वक्षःस्थल में सर्वत्र सुनने में आती है। विशेषतः श्वास-प्रणालिका में कफ या तरल होने पर, कारण अनिर्दिष्ट।	शुष्क, लघु और लग-भग केशमर्दन वत् ध्वनि।	फुफ्फुस में संचित कीटा-णुओं के चारों ओर फैल जाने पर या फुफ्फुस में मृदुता आने पर।
आ—शुष्क कट्-कट् (Dry Crackli-ng)	केवल श्वास ग्रहण काल में।	फुफ्फुस के संयोजक तन्तुओं के टूटने पर।	अल्पस्थायी, शुष्क, तीक्ष्ण और बड़ी आवाज।	राजयक्ष्मा की द्वितीया-वस्था में और फुफ्फुस कोथ होने पर।
इ—मध्यम कट्-कट् (Medium Crac-kling)	केवल श्वासग्रहण काल में।	अक्षकास्थि के ऊपर या नीचे। कारण अनिर्दिष्ट।		यक्ष्मारोग में दृढ़ अंश के कोमलीभूत होने का प्रारम्भ होने पर तथा क्षय कीटाणुओं के फैलने पर।

३—द्रव ध्वनि (Crepitation)		वायुकोष या श्वास प्रणालिकाओ मे द्रवोत्पन्न होने पर।		
अ—प्रथमावस्था (Primary)	श्वास ग्रहण के अन्त में।	प्रदाह युक्त वायुकोषों का विस्तार होने से दीर्घश्वास लेने और खाँसी आने पर आवाज प्रखर होती है।	केशमर्दनवत् सूक्ष्म, तीक्ष्ण, शुष्क अविराम [illegible]	फुफ्फुसखण्ड प्रदाह की प्रथमावस्था में क्षय कीटाणु ग्रस्त स्थानो के चारो ओर तथा फुफ्फुस शोथ (Oedema) में।
आ—द्वितीयावस्था (Secondary or Crepitus Redux)	विशेषतः श्वास ग्रहण काल मे।	सूक्ष्म श्वास प्रणालिकाओं में संचित तरल द्रव्यमे वायु प्रवेश होने पर।	अल्प, आर्द्र, असमान स्थायित्व युक्त केशमर्दनवत् ध्वनि।	फुफ्फुसखण्ड प्रदाह की उपशमावस्था मे और राजयक्ष्मा की वृद्धि होने पर।
५—घर्षण ध्वनि (Friction)	श्वासऔर निःवास, उभय कालमें।	हृदयावरण या फुफ्फुमावरण की कलाओ का परस्पर घर्षण होने पर। सामान्यतः स्तन-प्रदेश, पार्श्व प्रदेश, अंस-फलक के निम्न कोने के समीप,	दो हाथ घिसने पर उत्पन्न ध्वनि के सदृश। प्रारम्भ में स्निग्ध फिर शुष्क घर्षक ध्वनि।	उरस्तोय की प्रथमावस्था मे तथा हृदावरण कला का प्रदाह होने।

सहवर्ती भौतिक चिह्न

ठेपन	श्वासोच्छ्वास	शब्द प्रतिध्वनि	स्वरोत्कम्पन	आभ्यन्तरिक अवस्था
रिक्त	वायुकोषीय मर्मर या इसका रूपान्तर	स्वाभाविक	स्वाभाविक	फुफ्फुस तन्तु बहुधा स्वस्थ
जड़	अ—नालीय या कर्कश श्वासोच्छ्वास।	दूरत्वमय मन्द ध्वनि	वर्धित	फुफ्फुस विधानमें घनीभूति
सौषिर	आ—श्वासोच्छ्वास लोप उत्पत्ति अनुसार विवरनाद या क्षीण श्वासोच्छ्वास	लोप अनिश्चित वाक् प्रति-ध्वनिका ह्रास	ह्रास या लोप अनिश्चित, विशे-षतः ह्रास	फुफ्फुसावरणमें रक्तस्राव विवर होना, वायुकोष के अधिक प्रसारण युक्त वायु आबद्ध होना, या वायुके परिमाण की वृद्धि होना।
कौप्यक या, धातव	कौप्यक या धातव	कौप्यक या धातव	ह्रास	स्थिति स्थापक दीवार वेष्टित विवर
पात्रभंगवत्	विवरनाद	विवर ध्वनि	अनिश्चित	श्वासनलिकासे विवरका सम्बन्ध।

(३) सम्पूर्ण कफ एकसा है या विभिन्न आकृतियों वाली सतहो में ?
(४) झागयुक्त है या वायु रहित ?
(५) वर्ण और पारदर्शकता ।
(६) गंध ।

सूचना—परीक्षार्थ सर्वदा कफ का उपयोग करना चाहिये । कभी थूंक या लार नहीं लेना चाहिये ।

कफ के भेद उसमें उपस्थित द्रव्य पर निर्भर है । जो कि उसके साथ ही निकलता है । इस दृष्टि से इसके मुख्य भेद होते हैं ।

१. श्लेष्मल (Mucous sputum);—रक्तद्रवमय (Serious sputum) ; ३. सौत्रिक तन्तुमय (Fibrinous sputum) ; ४. पूय मय (Purulent sputum) ; ५. रक्त (Blood) , बहुत से रोगियो में इनके मध्य के अवस्थान्तर भी पाये जाते हैं ।

१. **श्लेष्मल कफः**—यह मुख्यतया कास की प्रारम्भिक अवस्था में पाया जाता है । यह स्वच्छ, श्वेत, घन एवं चिक्कण होता है । नियमानुसार इसका परिमाण अधिक नहीं होता । श्वास नलिका प्रदाह (कास) की अन्तिम अवस्था में इसमें उपस्थित श्लेष्मा के साथ पूय कोष मिल जाते हैं, तब यह कम लसलसा और कुछ अधिक मात्रा में होता है, और इसका रंग हरा-पीत होजाता है ।

श्लेष्म-पूयात्मक (Muco-purulent)—फुफ्फुस के अनेक रोगो में कफ के अन्दर श्लेष्मा और पूय दोनों मिली होती हैं । राजयक्ष्मा की कोटरावस्था मे जो कफ निकलता है, उसके अन्दर पूय इतस्ततः श्लेष्मा से आवृत प्रतीत होता है । इस अवस्था का कफ ज्यादा भारी होता है क्योंकि इसमें वायु नहीं होती । इसलिये बतासे के समान (Nummular) बधा हुआ आता है और पानी मे डालने से डूब जाता है । अगर इस प्रकार के कफ के साथ रक्तद्रव या अन्य जलीय अंश (कच्ची श्लेष्मा) मिश्रित होगा तो यह पानी में डालने पर धीरे धीरे डूब जायगा और इसके तीन स्तर प्रत्यक्ष प्रतीत होंगे । सबसे नीचे पूय, उसके ऊपर रक्तद्रव तथा सबसे ऊपर झाग युक्त श्लेष्मा होती है ।

कफमें सिर्फ पूय उस अवस्था में आती है जब कि फुफ्फुस में उत्पन्न विद्रधिका या पूय मय कोटर (फुफ्फुस के दो खण्डों के मध्य मे उत्पन्न) का वायुमार्ग में मुँह खुल जाय ।

रक्तद्रव मयकफ—यह श्लेष्मा से पृथक् आता है। यह पतला, जल के समान तरल और साधारणतया किञ्चित् रक्तसे रंजित होता है। यह फुफ्फुस के आर्द्र शोथ को प्रगट करता है। जिस फुफ्फुस शोथ में रक्त–रसोत्सृजन न हो तो कफ झाग युक्त साबुन के पानी के समान आता है।

रक्तमय कफ—सिर्फ रुधिर ही कभी-कभी खाँसने के साथ ऊपर आजाता है, परन्तु अक्सर रुधिर कफके साथ न्यूनाधिक मिश्रित ही आता है, जिससे यह कम या अधिक रक्त रंजित होता है। अगर नासा–रक्तस्राव, आमाशयिक रक्तस्राव या अन्नमार्ग की किसी शोथयुक्त शिरा से रक्तस्राव होकर मुखमें आरहा हो तो फुफ्फुस से आने का संशय हो सकता है। इसलिये इनसे विभेद करना अत्यन्त आवश्यक है। अगर रुधिर मुख में से, नासारक्तस्राव से या आमाशय से आरहा हो, तो इसका रंग चमकता हुआ लाल होता है; और यह झागयुक्त होता है। इन दोनो लक्षणों के कारण विभेद करना आसान हो जाता है। जब यह निश्चय हो जाय कि यह फेफड़ों से ही आरहा है तो इसके निम्न तीन कारण हो सकते हैं.—(१) फुफ्फुस रोग, हृदय रोग, या (३) धमन्यर्बुद (Aneurysm)।

कफवर्ण—भिन्न-भिन्न रोगो मे कफ का रंग बदल जाता है। श्वासनालिका प्रदाह आदि की प्रारम्भावस्था में श्लेष्मल कफ श्वेत होता है। यह रोग भेद से लोहे के जङ्ग सदृश, तेजस्वी पीला, हरा, काला, रक्ताभपीत, मुनक्का जैसा लाल आदि वर्ण का बन जाता है।

१. अयोमल सदृश (Rusty)न्युमोनियामें कफ लोहे के जङ्ग के समान रंग का होता है। और इतना लसदार होता है, कि मुंह से देर तक अलग नहीं होता।

२. तेजस्वीपीत या हरित (Bright yellow or green) ऐसा तभी होता है जब यकृत् की विद्रधि ऊपर की ओर (वक्षोदर मध्यस्था पेशी को गला कर) फेफड़ों मे विदीर्ण हो जाय, तब पित्त के कारण कफ का ऐसा रंग हो जाता है। हरित रंग न्युमोनिया के कुछ रोगियो मे भी (तृतीयावस्था मे) पाया जाता है। कभी-कभी जब पेचिश के कीटाणु से उत्पन्न यकृद् विद्रधि फेफडो में विदीर्ण हो जाय, और श्वासमार्ग द्वारा उसका स्राव बाहर निकलने लगे तब कफ आचार के तैल जैसे रंग का पीला हो जाता है।

३. कृष्ण कफ—(Black sputum) कोयले की खानो तथा कारखानों मे काम करने वालों का कफ अक्सर काला होता है, जबकि लालधारी वाला (Red streaked) कफ यक्ष्मा की उपस्थिति दर्शाता है।

४. अरुणकफ—(Prunejuice sputum) आलुबुखारा के रस के समान वर्ण वाला कफ उस अवस्था में होता है जब कि फुफ्फुस शोथ मुख हो जाने के कारण रक्त को कुछ समय उसमें ही रुकना पड़े। इस लिये यह जीर्ण न्युमोनिया में फुफ्फुस तन्तुओं के विगलन के हेतु से पाया जाता है।

५. तेजस्वी रक्त कफ—(Red-currant jelly Sputum)लाल अंगूर के मुरब्बे के सदृश कफ विशेषतः फेफड़ो को घातक अर्बुद का प्रकृति निर्देशक होता है।

इसके अतिरिक्त रुग्ण परिचर्या पृष्ठ १५५ में कफ परीक्षा विचार और परिचर्या पद्धति दर्शायी है।

मात्रा—चौबीस घटे मे कितना कफ आता है और कितनी बार निकलता है? एक समय में ही अधिक श्लेष्मा बहुत समय के पश्चात् मुक्त रूप से निकल जाती है या थोडी-थोडी कई बार में? श्लेष्मा निकलने के दो समयो में कितना अन्तर है? राजयक्ष्मा मे प्रातःकाल के समय कफ अधिक निकलता है और इसमें श्लेष्मा अधिक मात्रा में होती है। वायुप्रणाली विस्तृति मे अत्यधिक मात्रा में बदबूदार श्लेष्मा आती है, और प्रातःकाल ही अधिक आती है। फुफ्फुस-कोथ मे दुर्गन्धित तथा विद्रधि फट जाने पर अत्यधिक मात्रा मे दुर्गन्धित पूयमय श्लेष्मा आती है।

कभी-कभी कफ के अन्दर श्वासनालिकाओं के छोटे-छोटे निर्मोक प्रतीत होते हैं; परन्तु इस प्रकार की आकृति वाली वस्तुओं की परीक्षा अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से आसानी से की जा सकती है।

गन्ध—कफ की गन्ध कचित् ही रोग निर्देशक होती है। प्रायः इसमें कोई विशेषता नहीं होती। साधारणतया इसमे बिगडे हुए बासी भोजन के समान गन्ध होती है। परन्तु फुफ्फुस कोथ तथा दुर्गन्धमय श्वासनलिका प्रदाह होने पर नाक को चुभने वाली सड़ी हुई गन्ध आने लग जाती है। परीक्षक को यह भी स्मरण रखना चाहिये कि अनेक रोगो में कफ फुफ्फुस मे से तो मामूली गन्ध वाला आता है, परन्तु मुंह मे आने पर उसमे दुर्गन्ध सम्मिलित हो जाती है।

कफ की अणुवीक्षणिक परीक्षा

(Microscopical Examination of Sputum)

साधारणतया यह श्रेष्ठ माना जाता है कि सर्वप्रथम कफ के ताजा नमूने की अरंजित काँचपट्टी बना कर ही परीक्षा की जाय। इसके पश्चात्

विविध कीटाणुओं की उपस्थिति मालूम करें। इसका वर्णन आगे १४वें अध्याय में कफ परीक्षा के भीतर किया जायगा। परीक्षा के लिए कफ का नमूना ग्रहण करने के लिये उसे चौड़े कॉच के बर्तन में लेना चाहिये। जोकि किसी सफेद या काली पीठ (Back ground) वाले पात्र में सुविधा अनुसार आसानी से रक्खा जासके। मिश्रित आकृति रहित श्लेष्मा मे निम्न ऐन्ट्रिक पदार्थ प्रतीत होते हैं।

१. घटकमय द्रव्य—(Cellular structures):—

अ पूयघटक—यह अंकुरमय अपक्रान्ति (Granular Degeneration) की विभिन्न अवस्थाओं में पाये जाते हैं।

आ. आच्छादकत्वचा—(Epithelium) यह रोगी के मुँह, वायुमार्ग और वायुकोष्ठों में से टूट-टूट कर कफ मे सम्मिलित हो जाती है। वायुकाष्ठो में वायु के साथ प्रवेशित रंजक द्रव्य, या विशिष्ठ प्रकार के लोहे युक्त रंग प्रवेश करता है। जिससे इन घटकों में यह रंग होने पर वे स्थान निर्देश करता है। यह लोहमय रंग फुफ्फुस-रक्ताधिक्य के साथ हृदयरोग होने पर कभी कभी प्रचुर मात्रा में कफ के अन्दर पाया जाता है, और फुफ्फुस की पिंगल घनता (Brown Induration) का मुख्य प्रतीक माना जाता है। कफ मे लोहयुक्त रंग होने पर उसमें अगर लवणाम्ल (हाइड्रोक्लोरिक एसिड) और पोटासियम फ़ैरो साइनाइड (Potassium ferrocyanids) मिलाया जाय, तो रक्त की उपस्थितिके समान रासायनिक प्रतिक्रिया (Haemosiderin reaction) उत्पन्न हो जायगी।

इ. रक्ताणु—कफ के अन्दर इनकी न्यून उपस्थिति कोई महत्व नहीं रखती। ये रक्तवमन (Haemoptysis) में बडी संख्या में विद्यमान होते हैं।

ई. अम्ल रंगेच्छु श्वेताणु—(Eosinophil) अम्ल रंगेच्छु श्वेताणु तमक श्वास के कफ में पाये जाते हैं।

२. स्थिति स्थापक सौत्रिक तन्तु—(Elastic fibres):—कफ में इनकी उपस्थिति या तो राजयक्ष्मा, कोथ या विद्रधि के कारण फुफ्फुस तन्तुओं का क्षय दर्शाती है। कोथ होने पर फुफ्फुस के कुछ तन्तु ही नष्ट होते हुये भाग से पृथक् हो कर कफ मे आते हैं। ये छोटे छोटे लस लसे कुण्डों मे पाये जाते हैं, और अगर इसमें १० प्रतिशत कॉस्टिक सोडा (Caustic

soda) का विलयन समान मात्रा में मिला कर तेजी के साथ गरम किया जाय, तो आसानी से प्रदर्शित किये जा सकते हैं। जब यह उबल जाय तो सरेश तत्व (gelatinous) शेष रह जाता है; इनके अन्दर प्रचुर मात्रा में पानी मिलाना चाहिये, और मिश्रण को शंका (conical) काँचनालिका में स्थिर होने को रखदे। कुछ समय पश्चात् लोचदार सौत्रिक तन्तु नालिका के तल में बैठ जायेंगे। इस प्रकार यह पृथक् किये जा सकते हैं; और बढ़े हुए रोग में फुफ्फुस तन्तुओं की कोष्ठीय व्यवस्था को प्रगट करती हैं।

३. केश—(Hair) जब श्वासी नालिका के साथ केशोत्पादक अर्बुद (Teratoma) का सम्बन्ध होता है, तब कफ में केशद्रव्य उपस्थित होता है। जो बहुधा केवल चक्षुदृष्टि से क्वचित् ही प्रतीत होता है।

४. सौत्रिक तन्तु के चिह्न—(Fibrin cast) इनका आकार काफी दीर्घ होता है, इससे ये आँख से भी आसानीसे प्रतीत हो सकता है। परन्तु कम शक्तिशाली वस्तुता की सहायता से देखने पर और भी स्पष्ट हो जाते हैं।

५. परान्न भोजी कीटाणु—(Parasites) फुफ्फुस के कृमिज रसार्बुद (Hydatid cyst) होने पर कफ में कृमियों के छोटे बडिश (Hooklets) उपस्थित होते हैं। एवं श्वान कृमि (Echinococcus Hydatidosus) जन्य रसार्बुद की कला से बाहर रहने वाले गोल कण भी मिल जाते हैं।

६. खटिककण (Asbestosis bodies)—फुफ्फुसो के भीतर श्वसन क्रिया द्वारा धूल में से सूक्ष्म परमाणु आकर्षित होने (Pneumoconiosis) पर क्षार द्रव्य कफ के साथ बाहर निकलता है। ये कण भिन्न-भिन्न आकृति और परिमाण के होते हैं। ये विशेषतः कन्द की वृद्धि के समान नियमित बढ़ते हैं, अथवा डम्ब बेल के सदृश अनिमित खण्ड युक्त हो जाते हैं। पूर्णाकृति होने पर इसका देखाव छोटी बड़ी माला के समान भासता है। इसकी लम्बाई २० से २०० माइक्रोन तक या इससे भी अधिक होती है। खटिक का तन्तु कण के मध्य भाग मे निर्माण होता है। तथा प्रायः बाहर निकल सकते हैं। ये तैल लगे हुए ताल से भली भाँति दृष्टिगोचर होते हैं।

यद्यपि ये हेमेटोक्सीलिन के रंग से रंजित होते हैं, तथापि बिना रंगे ही स्पष्ट रूप से स्वर्ण सदृश पीत (Golden yellow) दीखते हैं। एवं तेजस्वी पीला द्रव्य जो प्रत्येक तन्तु को आच्छादित करता है, उसमें लोह द्रव्य भी मिश्रित होता है। जिससे पोटास फेरो सायनाइड और लवणाम्ल का प्रयोग करने पर श्याम नील (Prussian blue) प्रति क्रिया दर्शाता है।

अध्याय ७ वां

मूत्र परीक्षा

रोगी के जब मूत्र संस्था के पीढ़ित डित होने का संदेह उत्पन्न करे तब जिस प्रश्न-परीक्षा-विधिका परीक्ष . को अवलम्बन करना पड़ता है, उसका विस्तृत वर्णन प्रथम अध्याय में कर दिया गया है, और क्यों कि वृक्क-उदर गुहा में स्थित है। इस लिये इसकी शारीरिक परीक्षा-विधि तृतीय अध्याय मे अन्य उदरस्थ अंगों के साथ लिख दी गई है। मूत्र शरीर का मल है, जिसको दोनों वृक्क रक्त से निरन्तर पृथक् करते रहते हैं। और शनैः शनैः गवीनियो (Ureters) द्वारा मूत्राशय मे एकत्रित कर देते है, अर्थात् मूत्र बूॅद बूॅद करके निरन्तर दोनों गवीनियो द्वारा मूत्राशय मे आता रहता है। जब मूत्राशय इससे परिपूर्ण हो जाता है तब अपनी स्वाभाविक संकोचन शक्ति द्वारा मूत्र को प्रसेक नलिका के मार्ग से बाहर निकाल देता है। समस्त मनुष्यों के मूत्राशय की समाई समान नहीं होती। जिनमें समाई कम होती है, उनको थोड़ा थोड़ा करके कई बार मूत्र त्याग करना पडता है, और जिनकी अधिक हो, वे अधिक परिमाण में कम समय मूत्र त्यागते हैं। इस लिये मूत्र का परिमाण और संख्या का निश्चय करना हो, तो केवल एक बार के मूत्र पर से निश्चय न करके सम्पूर्ण २४ घण्टे का मूत्र एकत्रित करके निर्णय करना चाहिये।

यकृत् मे उत्पन्न मल और आहार मे रहे हुए अनावश्यक क्षार सर्वदा मूत्र के साथ बाहर निकलते रहते हैं। यकृत् मे नाइट्रोजन युक्त मूत्रीया (Urea), मैहिक अम्ल (Uric Acid) और इतर त्याज्य पदार्थों की उत्पत्ति होती है, भोजन में नमक (Sodium Chloride) आदि क्षार होते हैं, तथा वृक्क स्थान में हिप्युरिक एसिड और अमोनिया क्षार बनते हैं फ्रेंच डाक्टर बूशार्ड (Bcuchard) की परीक्षा के अनुसार मूत्र में ६ प्रकार के मूत्र विष (Urotoxins) सर्वदा बाहर निकलते रहते हैं। १. मैहिक अम्ल, २. स्वापक (नशालाने वाला Narcotic), ३. लाला स्रावी,

४. कनिनिका संकोचक (नेत्र की पुतली संकोचक), ५. उष्णता शामक; ६. आक्षेपक। इनके अतिरिक्त रोग होने पर रोगानुरूप संक्रामक ज्वर आदि के विष भी मूत्र मार्ग से बाहर निकलते रहते हैं।

रोग निदान में मूत्र परीक्षा का अत्यन्त महत्व है। इससे सिर्फ वृक्क और मूत्र वाहक संस्था की स्थिति का ही पता नहीं चलता, अपितु यकृद् रोग रक्त विकार, तथा अन्य अनेक शारीरिक व्याधियों का भी ज्ञान प्राप्त होता है।

परीक्षार्थ मूत्रग्रहणः—अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि दिन के विभिन्न समयों में त्याज्य मूत्रका संगठन भी भिन्न-भिन्न ही होता है, इस लिये जहाँ तक सम्भव हो सके परीक्षार्थ मूत्र सम्पूर्ण २४ घंटों का एकत्रित कर, उसमें से लेना चाहिये। जब ऐसा करना संभव न हो रोगी के एक ही समय में त्याज्य मूत्र से ही परीक्षा करनी पड़े, तब भोजन के ३ घंटे पश्चात् लेना श्रेष्ठ माना जाता है। क्योंकि इस समय के मूत्र में अस्वाभाविक उपकरण की उपस्थिति ज्यादा सम्भवित है। परीक्ष्य मूत्र का नमूना लम्बे शंकु-आकार काँच के बर्त्तन में ग्रहण करें। उसे ढक कर कुछ घंटों के लिये ठंडी जगह में स्थिर होने के लिये रखदें। अगर मूत्र को कुछ समय विशुद्ध रूप से ही रखना अभीष्ट हो तो उसमें टोलू ऑल (Toluol)* काफी मात्रा में मिलाकर हिलाया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि, यह पृथक् होने के पश्चात् मूत्र की सतह पर एक पपड़ी-सी उत्पन्न कर देता है इससे बाहरी अशुद्धियाँ इसमें नहीं मिलने पाती। या १॥ लीटर (लगभग ५० औंस) मूत्र में १५ सी० सी० लवणाम्ल (हाइड्रोक्लोरिक एसिड) मिलाकर इसे अम्लीय कर लेना चाहिये। इससे भी मूत्र कुछ समय तक अशुद्धियों से बचाया जा सकता है।

मूत्र को स्थिर रख देने से अघुलनशील कठोर वस्तुएँ, जो उसमें उपस्थित हो, तल छट के रूप में बैठ जाती हैं। तत्पश्चात् उसकी परीक्षा आरम्भ करनी चाहिये।

मूत्र परीक्षा प्रकार—इसके मुख्य ३ प्रकार हैं।

अ. भौतिक परीक्षा, आ. रासायनिक परीक्षा, इ. अणुवीक्षणिक परीक्षा।

---

* यह एक प्रकार का वर्ण हीन तरल होता है, जो टोलू आदि राल के समान पदार्थों से प्राप्त किया जाता है। इसे हाइड्रोकार्बन, $C_5H_5CH_3$, मैथीलबैंजीन कहते हैं।

अ. भौतिक परीक्षा
(Physical Test)

इसमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिये:—

१. मूत्र परिमाण (Quantity)
२. मूत्र वर्ण और पारदर्शकता (Colour and Transparency)
३. सान्द्रता (Consistency)
४. गन्ध (Odour)
५. घनत्व (आपेक्षिक गुरुत्व Dansity)
६. अधः क्षित पदार्थों की केवल नेत्र द्वारा परीक्षा।

१. मूत्र परिमाण

स्वस्थावस्था में दिन और रात के मूत्र के परिमाण में काफी अन्तर होता है। इसलिये रात और दिन में त्याज्य मूत्र को पृथक् पृथक् नापना चाहिये। फिर इन दोनों को जोड देने पर २४ घंटों के मूत्र का परिमाण प्रतीत हो जायगा।

दिनका मूत्र ग्रहण करना—इसके लिये प्रातः काल ८॥ बजे रोगी का मूत्राशय खाली करलें और उस समय प्राप्त मूत्र को फेंक दें। इसके पश्चात् सम्पूर्ण दिन में त्याज्य मूत्रको कॉच के पात्रमें एकत्रित करता जाय, और अन्तमें संध्या के ८॥ बजे मूत्राशयको फिर से रिक्त करवालें। परन्तु इस समय प्राप्त मूत्र को दिन के मूत्रमें ही मिलादें। इस प्रकार १२ घण्टेका (दिनका) मूत्र इकट्ठा हो जायगा।

रात्रिका मूत्र ग्रहण करना:—रात्रिको ८॥ बजने के पश्चात् सम्पूर्ण रात्रि में त्याज्य मूत्र को कॉचके बर्त्तन मे एकत्रित करता जायँ; और अन्त में प्रातः ८॥ बजे मूत्राशय को रिक्त करवालें, और मूत्र को रात्रि के मूत्र में मिलादें। इस प्रकार रात्रिको १२ घण्टे का मूत्र इकट्ठा होजायगा।

दोनों के पृथक् पृथक् परिमाण दर्शक चिह्न देख लेने के पश्चात् मिश्रित करके २४ घण्टों का परिमाण जानलें।

यह कठिन है कि सम्पूर्ण २४ घण्टों मे त्याज्य मूत्र को इकट्ठा किया जा सके ; क्योंकि इसका कुछ भाग मल त्याग करते समय निकल जाता है। इस प्रकार की कठिनाई मुख्यतः रोगी बच्चा या स्त्री होने पर उपस्थित होती है, था उस अवस्था में जबकि मूर्च्छा आदि कारणों से मूत्र त्याग अनैच्छिक

(Involuntary) होजाय। जहाँ बिल्कुल ठीक परिमाण ज्ञात करना अभीष्ट हो वहाँ पेशाब कराने की सलाई (Catheter) का प्रयोग करना चाहिये।

एक स्वस्थ युवा पुरुष औसतन २४ घण्टेमें १५०० (सी० सी०) ५२ औंस अथवा ४० से ६० औंस मूत्र त्याग करता है, और स्त्री इससे कुछ औंस कम मूत्र त्याग करती है।

डा० हौल्ट (Holt) के मतानुसार विभिन्न आयु वाले बच्चों के मूत्र का औसतन परिमाण निम्न कोष्ठक में दिखाया गया है, जो २४ घंटे में त्यागता है।

बालकों का मूत्र परिमाण

आयु	परिमाण
प्रथमदिन	० से २ औंस
द्वितीयदिन	½ से ३ औंस
३ से ६ दिन	३ से ८ औंस
१ सप्ताह से ८ सप्ताह	५ से १३ औंस
२ मास से ६ मास	७ से १६ औंस
६ मास से २ वर्ष तक	८ से २० औंस
२ वर्ष से ५ वर्ष	१६ से २६ औंस
५ वर्ष से ८ वर्ष	२९ से ४० औंस
८ वर्ष से १४ वर्ष	३२ से ४८ औंस

चर्चिल साहब अपने परीक्षणों के आधार पर कहते हैं कि, बच्चे साधारणतया विश्वास किये जाने वाले मूत्रके परिमाण से कम मूत्र त्यागते हैं। इनके मतानुसार बाल्यावस्था की विभिन्न आयुमें मूत्र का परिमाण और आपेक्षिक गुरुत्व ( ) निम्न कोष्ठक द्वारा प्रगट किया जाता है :—

आयु	परिमाण (२४ घंटे में)	आपेक्षिक गुरुत्व
३ वर्ष	३५८ सी० सी०*	१०२४
४ ,,	२९९ ,, ,,	१०२७
५ ,,	३९२ ,, ,,	१०२४
६ ,,	४०५ ,, ,,	१०२३
७ ,,	५६४ ,, ,,	१०१८

* सी० सी० तरल पदार्थों का मान है, यह लगभग १ माशे के समान होता है। १ औंस में २९.५७ सी० सी० होती हैं।

८ वर्ष	६२८ सी० सी०	१०२१
९ ,,	७३१ ,, ,,	१०२०
१० ,,	७६८ ,, ,,	१०२३
११ ,,	७१६ ,, ,,	१०१८
१२ ,,	८२६ ,, ,,	१०२०

पन्द्रह वर्ष की उम्र के पश्चात् मूत्रका परिमाण युवाके समान ही होता है। अगर शरीर भार के अनुसार देखा जाय तो बच्चा, युवा पुरुष से ज्यादा मूत्र त्यागता है। इसके दो कारण हैं। १. बच्चों में चयापचय क्रिया (Metabolism process) युवा पुरुषोंकी तुलना में ज्यादा वेगवती होती है। २. उनके भोजन में तरल पदार्थ अधिक होते हैं। इसके साथ ही पाठकों को यह सूचित कर देना युक्तियुक्त मालूम पड़ता है कि, पूर्व कथित परिमाण स्थूल मान से दर्शाया है। अतः अनेक रोगियों में चिकित्सक अनुभव करेंगे की कोठक में दर्शित परिमाण से उनके मूत्र का परिमाण न्यून है।

स्वस्थावस्था में रात्रिकी तुलनामें दिनके मूत्र का परिमाण अधिक होता है। रात्रिके मूत्र का स्वस्थ युवा पुरुष में औसतन घनफल १५ औंस और इसका आपेक्षिक गुरुत्व लगभग १०३२ होता है। दिन और रात्रि के मूत्र के परिमाण का अनुपात १००:२५-६० अर्थात् चौथाई के लगभग होता है। यदि रात्रिक मूत्र दिन के लगभग समान या अधिक हो तो इसे अस्वाभाविकता का प्रतीक समझें। इस परिवर्तन का मुख्य कारण चिरकारी वृक्क विकारकी उत्पत्ति है। यह इस रोग की प्रारम्भिक अवस्था का एक मुख्य चिह्न माना जाता है। उस अवस्था में अनुपात १००:१०० या कभी कभी १००:२०० हो जाता है। एवं मूत्र के घन अंश की भी वृद्धि होजाती है।

साधारणतया सोते समय यदि मूत्र- त्याग कर लिया जाय, तो फिर प्रातः काल उठने तक मूत्र त्याग की इच्छा न होनी चाहिये। जिनको रात्रि में मूत्र त्यागने के लिये उठना पडे, उनमें किसी न किसी रोग की उपस्थिति होने की शंका होती है। चिरकारी वृक्क प्रदाह, उदकमेह, मधुमेह, मूत्राशयप्रदाह (cystitis) आदि रोगों में मूत्र त्याग के लिये रात्रि में कई बार उठना पड़ता है।

स्वस्थावस्था में बिना किसी रोग की उपस्थिति के कारण भी मूत्र की मात्रा में स्वयमेव न्यूनाधिक्य हो जाया करता है। शीत और वर्षाकाल में वायु की शीतलता के कारण स्वेद न आने से, अधिक जलपान, पेय पदार्थ

का अधिक सेवन मूत्रल पदार्थों का सेवन, भय और व्यायाम का अभाव, आदि कारणों से मूत्र स्वयमेव बढ़ जाता है। इसके विपरीत किसी प्रकार के रोग की उपस्थिति न होने पर भी ग्रीष्म काल तथा व्यायाम आदि क्रियाओं से उत्पन्न अधिक स्वेद-प्रवाह होने से, तले हुए भोजन का अधिक सेवन तथा न्यून जल-पान से मूत्र स्वयमेव कम हो जाता है।

जब उपरोक्त कारणों की अनुपस्थिति में मूत्र का परिमाण न्यूनाधिक हो जाय, तब इसे किसी रोग का प्रतीक समझना चाहिये; और इस अवस्था में संप्राप्त रोग को जानने का प्रयत्न करना चाहिये।

मूत्र-परिमाण वृद्धियुक्त विकार—निम्न रोगों की संप्राप्ति होने पर मूत्र का परिमाण बढ़ सकता है। उन सब रोगों में जिनमें जल संचय होकर लीन होने लग जाय जैसे—जलोदर, तरलमय फुफ्फुसावरण प्रदाह; तथा वात नाड़ी क्रिया विकृति जन्य अपतन्त्रक (Hysteria) जैसी वातव्याधियों के फल स्वरूप भी मूत्र का परिमाण बढ़ जाता है।

मूत्र परिमाण ह्रासयुक्त विकार—निम्न रोगों में मूत्र का परिमाण कम होजाता है। उन रोगों में, जिनमें धमनी रक्तभार न्यून होजाय या वृक्क की शिराओं का रक्तभार बढ़ जाय। जैसा कि आशुकारी वृक्क प्रदाह और बढ़े हुए द्विपत्र कपाट (Mitral valve) के रोगों में; सब प्रकार के ज्वर, अतिसार, प्रवाहिका, विसूचिका, वमन, कतिपय विषविकार और शोथ में, पित्त प्रधान व्याधियों में, जिनमें स्वेद अधिक आता हो तथा मस्तिष्क में क्षोभ (irritation), मस्तिष्क पर प्रबल आघात (Concussion) के उपस्थित होने पर मूत्र का परिमाण कम होजाता है।

२. मूत्र वर्ण और पारदर्शकता

सामान्यतः स्वस्थावस्था में मूत्रका वर्ण अम्बर या तृणके समान किंचित् पीत होता है। बिना किसी कारणके स्वस्थावस्था में भी वर्ण में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। कभी-कभी वर्ण अधिक पीला होजाता है। स्वस्थावस्था में रंग की भिन्नता मूत्र के पतलेपन, आहार और प्रतिफलित क्रिया (Reaction) पर निर्भर है। अम्लीय-प्रतिक्रिया वाले मूत्र का रंग समान ठोस तत्त्व युक्त होने पर भी क्षारीय की अपेक्षा सर्वदा तेज होता है। स्वास्थावस्था के मूत्र में वर्ण का कारण एक विशेष प्रकार का पीला रंजक द्रव्य है, जिसे पित्त मूत्र रंजक (Urochrome) कहते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य दो प्रकार के रंजक द्रव्य भी मूत्र में पाये जाते हैं। एक को "रक्ताभ मूत्र

रंजक (Uroerythrin)” और दूसरे को पिङ्गल मूत्ररञ्जक(urobilin) कहते हैं। स्वस्थावस्था के मूत्र में ये दोनों बहुत कम परिणाम में पाये जाते हैं।

पिंगल मूत्र रञ्जक (यूरोबाइलीन)—पित्त रञ्जक (bilirubin) के विश्लेपण से पित्त मूत्र रञ्जक (urobilinogen) उत्पन्न होता है। फिर उससे पिगल मूत्र रञ्जक बन जाता है। साधारणतः मूत्र जब शरीर से बाहर आता है, तब यह पदार्थ इसमें नहीं होता। किन्तु पित्त मूत्र रञ्जक होता है। फिर थोड़ी देर में वह पिगल मूत्र रञ्जक मे परिवर्तित हो जाता है। जब किसी कारण से रक्तकणों का नाश अधिक हो रहा हो जैसा विपम ज्वर (Malaria) में अथवा यकृत् का कार्य ठीक न हो, तब मूत्रमे इसका परिमाण बढ़ जाता है। इसकी ज्यादा उपस्थिति के कारण मूत्र का रंग गहरा नारंगी होजाता है, और साधारणतः शंकु आकार पात्र जिसमे मूत्र रक्खा होता है, उसके ऊर्ध्व भाग में धुंधला पीला रंग प्रतीत होता है। जब “पित्तमूत्ररञ्जक” अधक मात्रा मे उपस्थित हो तब लवणाम्ल के कुछ बूंद डालने पर वह थोड़े ही मिनटों में पिंगल मूत्र रञ्जक बन जाता है।

पित्त मूत्र रञ्जक की परीक्षा विधि—डायमेथिल पैरामिन बेञ्जेल्डी हाईड (Dimethyl paramino benzaldihyde) के दो ग्राम (लगभग २ मासा) को ५ प्र० श० वाले लवणाम्ल के १०० सी. सी. सोल्युसन (Solution) में लीन करके विलयन बनावें। पश्चात् इस विलयन की २० बूंद परीक्षानली में एक इंच मूत्र भर कर उसमें डालें।

यदि पित्तमूत्र रञ्जक की मात्रा अधिक होगी, तो मूत्र शीतल होने पर तुरन्त तेजस्वी लाल रंग का प्रतत होगा।

आकृति (६४) १. पिंगल मूत्र रञ्जक पृथक्ता दर्शक प्रकाश चित्र।

२. पिंगल मूत्र रञ्जक का अन्य रञ्जक द्वारा आच्छादित प्रकाश चित्र।

पिंगल मूत्र रञ्जक की उपस्थिति छाया दर्शक यन्त्र (Spectroscope) द्वारा भी प्रतीत की जासकती है। इसमे पतली तहके भीतर इसके दो वर्ण प्रतीत होते हैं। प्रत्याभासित प्रकाश (Transmitted light) से रक्त और प्रतिफलित प्रकाश (Reflected light) से हरित प्रतीत होता है। इसके परीक्षार्थ डा० गैरोड ने निम्न सूचनाएँ की हैं।

१. छायादर्शक यन्त्र छोटी और सीधी छायावाला लेना चाहिये।

२. परीक्षार्थ ६ औंस का शंकु आकार कॉच पात्र प्रयुक्त करें।

इससे विभिन्न मोटाई की सतहों का निरीक्षण सरलता से हो जाता है।

३. काँच पट्टिका को शंकुआकार पात्र से एक इंच दूर पकड़ कर, सम्पूर्ण शंकुआकार पात्र की लम्बाई में ऊपर से नीचे तक चलावें।

४. सूर्य का प्रकाश या कृत्रिम प्रकाश, कोई भी प्रयुक्त किया जा सकता है।

५. अगर स्पष्ट परिणाम प्रतीत न हो सके और कुछ शंका हो तो ४०० सी० सी० मूत्र में ५० या ६० सी० सी० विशुद्ध अमिल अल्कोहोल (Amyl alcohol) और कुछ बूँद एसिटिक एसिड (Acetic acid) डालकर हिलावें। इससे जो सतह ऊपर तैर आवे, उसे एकत्रित करलें। अगर आवश्यकता हो तो इसमें कुछ "ऐथिल अल्कोहोल (Ethylalcohol)" मिला, छानकर परीक्षा करें।

द्वितीयविधि—पिंगल मूत्र रंजकका आधिक्य निम्न परीक्षा द्वारा भी प्रतीत किया जा सकता है:—इसके लिये दो विलयन की आवश्यकता होती है।

१. एक परीक्षा नली में ५ ग्राम जिंकएसिटेट (Ziuc Acetats) को ५ सी० सी० विशुद्ध अल्कोहोल में घोलकर विलयन तैयार करें।

२. दूसरा विलयन आयोडीन का बनावें।
आयोडीन (Iodine)—१ग्राम।
पोटाशियम आयोडाइड(Potassium Iodide) २ ग्राम।
रेक्टी फाइड सिपरिट—१०० सी. सी.

उपरोक्त दोनों विलयन तैयार करलेने के पश्चात् ५ सी. सी. मूत्र में ३ बूंद दूसरा विलयन (Tr. Iodine) डालें। फिर उसमें प्रथम विलयन मिलादें। अब इस मूत्र को एक से दूसरी नालिका में उस समय तक उडेलते रहें, जब तक कि उसमें, प्रथम विलयन में स्थित जिंक एसिटेट पूर्णतया घुल जाय। फिर इसे फिल्टर पेपर से छान, काले पृष्ठ पर रख परीक्षा करें। यदि इसमें हरित वर्ण उत्पन्न हो जाय तो पिंगल मूत्र रंजक या पित्तमूत्र रंजक का आधिक्य समझें।

२. गूढ रक्ताभ मूत्र रंजक—अभीतक यह पता नहीं चल सका है कि इसकी वास्तविक उत्पत्ति कहाँ से होती है। सम्भव है, यह रक्तरंजक के विश्लेषण का ही कोई स्वरूप हो। यह यकृत्, तथा अग्न्याशय की व्याधियों और साधारण ज्वरों में अधिक निकलता है। विविध मूत्रलवण (Urates) जो वस्तुतः वर्ण रहित होते हैं, वे इस रंग को शीघ्र ग्रहण कर लेते हैं, और इसीका वर्ण धारण कर लेते हैं। ज्वरों में मूत्र के वर्ण के गहरे होने का कारण यही है कि उसमें मूत्र लवण आते हैं, और गूढ रक्ताभ मूत्र रंजक भी अधिक बनता है। फिर मूत्र लवण रंजित होजाने से मूत्र का रंग गाढा भासता है।

विद्यार्थियों को सरलता पूर्वक बोध होने के लिये अत्र एक पत्रक दिया जाता है, जिसमें मूत्र के परिवर्त्तित वर्ण के मुख्य मुख्य भेद उनके कारण सहित दर्शाये हैं।

मूत्रवर्ण परिवर्त्तन पत्रक।

वर्ण	कारण	विशेषता या अवस्था
लगभग विवर्ण	१. मूत्र परिमाण वृद्धि। २. मूत्र रंजकों का ह्रास	अधिकजलपान, चाय आदि मूत्रल पदार्थों का सेवन, उदकमेह, योषापस्मारादि वातव्याधिया आदि।
नारंगी रंग	१. [illegible] अंश की न्यूनता। २. मूत्र-रंजकों की अधिकता। ३. कभी-कभी पित्त-रंजकों की उपस्थिति।	मास पेशियों का अधिक परिश्रम, ज्वर कामला।
नारंगा रंग, रक्त पिंगल	सनाय(Senna), रेवन्द चीनी (Rhubarb) और क्राई सोफेनिक एसिड (Cry-Soph anic acid) के प्रयोग से	अम्ल के साथ पीत और क्षार के साथ लाल रंग उत्पन्न हो जाता है। उसे फेनोल थेलेइन (Phenolph-alein) १ संज्ञादी है।
गहरापिंगल	रक्त रंजकाम्ल (Meth-	वृक्कों मे रक्त स्राव के

(Dark Brown)	aemoglobi) के कारण ।	रक्त कणों के नाश से उत्पन्न रक्त-रंजक के कारण ।
रक्त या गुलाबी	१. रक्त की उपस्थिति । २. एक विशिष्ट प्रकार के नीले रंग (Anilne) से रंगी हुई मिठाई के सेवन, से वही रंगमूत्र में ाने लग जाता ।	रक्त कणों की उपस्थिति से ।
तेजस्वीरक्त Cherry-Red	आमवात, वात नाड़ी प्रदाह, राजयक्ष्मा या प्रतिश्याय पर एमोडो पाईरीन (Amedo pyrine) या उसके सत्व के सेवन से ।	यह रंग मूत्र स्थिर होने पर अधिक गाढा होजाता है ।
गहरालाल (Port wine)	लोह रहित रक्तरंजक (— (Haemeto porphyrin) के कारण ।	अक्सर औरतों में "सल्फो नाल(Sulphonal)" के सेवन से यह भयानक चिह्न है । इसकी उत्पत्ति के पश्चात् इसका सेवन बंद कर दें ।
काला पिंगल (Brownish Black)	१. मैलेनीन के कारण	मैलेनीन के रंगयुक्त रक्ता बुंद (Melanotic Sartonia) के हेतु से । मूत्र को स्थिर रखने पर इसका रंग गहरा होजाता है । फैहलींग के विलयन को परिवर्त्तित नहीं करता । फैरिक क्लो राइड (Ferric Chloride)

		से हरित पिंगल कलमें बनती है। नाइट्रिक एसिड (HNO^3) से कालास होजाता है।
	२. रक्त रंजक की अधिकता होना।	चोकलेट(Chocolate) रंगके ठोस कण नीचे बैठ जाते हैं।
	३. मूत्रमें अल्कैप्टोन (Alkapton) का संग्रह होना।	होमो जैन्टिसीनिक अम्ल(Homogentisinic acid)जन्य।
हरित कृष्ण।	१. हाइड्रोकुनीन, कार्बोलिक एसिड। सेलोल (Salol) गोयाकोल (Guaiacol) रैजार्सिन (Resorcin) नैफ्थेलीन (Nephthelin) आदि औषधियों के प्रयोग से।	
	१. पित्तकी उपस्थिति से।	कामला के स्थायी जीर्ण रोगियो मे
पीताभ हरित या हरित	१. पित्तकी उपस्थिति से।	कामला मे।
	२. सैण्टोनीन (Santonin) के प्रयोग से।	क्षार के मिलने पर वर्ण लाल बन जाता है।
पीताभ और दुग्धाभ	१. पूय की उपस्थिति।	पूयमेह में
	२. वसा का पायसकरण	सर्पिमेह (Chyluria) में। एवं वृक्क रोग बढ़कर वसा मेह (Dipuria) बनने पर।
हरितनील वानील	या बिन्दु रूप बनना।	प्रलापक ज्वर-(fever)
	१. नील (indigo) बनाने वाले तत्त्वों की वृद्धि।	टाइफस Typhus में क्षार से इसका रंग बैंगनी हो जाता है।
	२. मैथेलीनब्लु (Methyline blue) के प्रयोगसे	छायादर्शक यंत्रसे देखने पर रक्त और पीत दो रंगों में प्रतीत होता है।

साधारणतया स्वस्थावस्था में सद्य त्याज्य मूत्र बिलकुल स्वच्छ पारदर्शक होता है। परन्तु अनेक अघुलन शील अधःपतन होने योग्य पदार्थों की उपस्थिति के कारण यह धुंधला (Opalescent) भी हो सकता है। अगर मूत्र को छानने (Filteration) के पश्चात् भी वही वर्ण बना रहे तो इसमें उद्भिद कीटाणुओं (Bacteria) की उपस्थिति समझें।

अगर मूत्रमें अतिन्यून परिमाण मे रक्त विद्यमान् हो तो मूत्र किंचित् मिश्र रंगी बनता है। इससे यह धुएं जैसा (Smoky) प्रतीत होता है।

अलकेप्टोन्यूरिया (Alkaptonuria) :—यह अवस्था मूत्र में हाइड्रो कुनीन, एसेटिक एसिड (डीहाइ ड्रोक्सी फेनील एसेटिक एसिड या होमो जैएटीसिनिक एसिड) की उपस्थिति के कारण उत्पन्न होती है। इस अवस्था में जब मूत्र निकलता है, उस समय तो स्वाभाविक रंगका ही दिखलाई देता है। परन्तु ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता है, त्यों त्यो वायु स्पर्श द्वारा धीरे धीरे इसका रंग सतह से तल की ओर गहरा होता जाता है; यहाँ तक कि यह गहरा भूरा पिंगल) या कृष्ण हो जाता है।

इस अवस्था के मूत्रमें थोड़ा-सा क्षार डालने से यह एकदम काला हो जाता है। ऐसा मूत्र कोपरिक ओक्साइड (Cupric oxide) के क्षारीय) विलयन के रंग को बदल देता है। फेहलिंग विलयन (Fehling solution से मधुमेहवत् क्रिया दर्शाता है, अर्थात् उक्त विलियन के नील वर्ण को पीत या रक्त पिंगल वर्ण में परिवर्त्तित कर देता है, परन्तु मधुमेह की अन्य परीक्षाओं द्वारा मधुमेह सिद्ध नहीं होता। इससे शका निवारण होजाती है।

मीलन के प्रतिकारक (Millons reagent) द्रव्य के संयोग से इसमें पीले रंगके तलछट नीचे बैठ जाते हैं। और इसमें हल्का फैरिक क्लोराइड (Dilute ferric chloride) बूंद बूंद करके डालने पर कुछ समय के लिये गहरा नीला रग प्रतीत होता है। इसमूत्र में किण्व (Veast) से किसी प्रकार की खमीर उत्पन्न नहीं होती; पोलरी मीटर (Polarimeter) द्वारा चक्राकार प्रकाशक सतह को नहीं बदलता एवं शर्करा फेनिल हाइड्राजीन और एसेटिक एसिड मिलाने पर भी ओसेझोन (Osazone) नही बनता।

इस अवस्था से वैद्यको कभी घबराना नहीं चाहिये; क्योंकि यह किसी रोग विशेष का प्रतीक नहीं है, तथा इससे किसी प्रकार के चिह्न भी प्रकट नहीं होते, किन्तु इससे कभी-कभी मूत्रमार्ग में पीड़ा (Dysuria) और रात्री में मूत्राधिक्य हो जाया करता है। इसका कारण ग्रथिन की चयापचय

क्रिया में सहज-दोष (Inborn error) का होजाना है, अर्थात् प्रथिन का विश्लेषण भली भाँति नहीं होने पाता।

मैलेनिन (Melanin)—मूत्र में मैलेनिन की उपस्थिति से भी मूत्र वायुस्पर्श से रंजककणों का ओषजनी करण (Oxidation) काले रंगका होजाता है। मैलेनिन प्रायः दुष्ट कृष्ण रक्तार्बुद (मैलेनोटिक सार कोमा), जो नेत्रमध्य पटल (Choroid) आदि नैसर्गिक रंजित कोषों में होता है, के उत्पन्न होने पर निकलता है। यह भयानक तथा कष्टसाध्य अवस्था का प्रतीक है। यह फेहलिंग के विलयन को परिवर्त्तित नहीं करता। यदि फैरी क्लोराइड विलयन डाला जाय तो हरा-भूरा तलछट नीचे बैठ जाता है, तथा नाइट्रिक एसिड डालने से मूत्रका रंग काला होजाता है।

कार्बोलिक एसिड (carbolic acid)—यदि मूत्रमें कार्बोलिक एसिड आता हो तो वायुस्पर्श से पूयमेह या प्रदाह पर प्रयोजित हाइड्रो की नोन का ओषजनी करण (Oxidition) होकर काला रंग होजाता है। इस अवस्था के मूत्र में हाइड्रोकीनोन ठीक अलकैप्टोन्यूरिया के समान ही रंजक द्रव्य में बदल जाता है। कार्बोलिक एसिड की विद्यमानता होने पर मूत्रका रंग हरित होजाता है; और यदि वायुस्पर्श से पूर्व ही हरिताभ हो तो वायुस्पर्श के बाद हरित वर्ण बढ जाता है।

कैल्शियम फोस्फेट्स (Calcium phosphates)—कभी-कभी क्षारीय मूत्रकी सतह पर पतलीसी मलाई के समान पपड़ी जम जाती है; यह कैल्शियम फोस्फेट्स से निर्मित होती है। कुछ समय पश्चात् जबकि मूत्र शीतल होजाता है, तब यह पतली भंगुरशील तह (Film) की भांति पृथक् की जा सकती है। भूतकाल मे यह विचार प्रचलित था कि ऐसी पपड़ी गर्भवती स्त्री के मूत्र ही में उत्पन्न होती है, किन्तु यह सत्य नहीं है।

३. सान्द्रता—(Consistence of urine)

स्वस्थावस्था में मूत्र जलके समान तरल होता है। अगर इसमे शर्करा और पित्त अधिक परिमाण में उपस्थित हो, तो यह कुछ सान्द्र (चिपचिपा) होजाता है; और पित्त तथा शुभ्रप्रथिन (Albumin) की विद्यमानता होने पर हिलाकर उत्पन्न किये हुए झाग (फेन) स्वाभाविक अवस्था से अधिक समय स्थायी रहते हैं। क्षारीय मूत्र में पूय विद्यमान होने पर रस्सी के समान एक जात हो जाता है। मूत्र का वर्ण रक्तपित्त हो और उसे कुछ समय स्थिर रख देने पर उसके नीचे जाला सा बैठ जाय, तो उसमें रक्तवारिका सम्मिश्रण

जावें। जब रक्तवारिका परिमाण अत्यधिक हो, तब सारा ही मूत्र छिछड़े (Fibrin) के रूप में जम जाता है। यह निश्चय करने के लिये कि छिछड़ा रक्तवारिका ही है निम्न विधि प्रयुक्त करें।

छिछड़े (Fibrin) को काँच शालाका की सहायता से काँच पट्टिका पर मूत्र से पृथक् करलें, और १० प्र० श० लवण के विलयन से उसे धोलें। पुनः उसमें थोड़ासा थाईमोल (Thymol) डालकर मिलाईं। अगर अब इसे १ प्र० श० लवणाम्ल के विलयन में डाला जाय तो रक्तवारिका छिछड़ा होने पर यह फूल जाता है; और पेप्सीन (Pepsin) में डालने पर लीन होजाता है।

४. मूत्रगंध।

स्वाभाविक अवस्था के मूत्रमें एक विशेष प्रकार की प्रकृति निर्देशक गंध आती है, इसकी पहचान प्रायः सबको सरलता से होजाती है। कुछ समय रक्खा रहने पर मूत्रमें से नौसादर (Ammonia) का वियोजन होता है। इसलिये गंधमें इसकी तीव्रता आजाती है। मूत्राशय प्रदाह (Cystitis) में मूत्र क्षारीय बन जाता है। जिससे वास नौसादर की आती है। मूत्र मार्ग और अन्त्र (मलाशय) में अस्वाभाविक सम्बन्ध (छिद्र द्वारा) होने से (मल के अणु मूत्राशय में पहुँचने पर) मूत्रमें मलकी गंध आने लग जाती है। यदि मूत्रमें अन्त्र कीटाणु (Bacilli coli) अवस्थित हो, तो वास मत्स्य सदृश भासती है। मधुमेह या शीधुमेह (acetonuria) में रक्तशर्करा की विकृति होने पर मूत्रमें रक्तशर्करा विष (acetone) आने लग जाता है। इसके फलस्वरूप मूत्रकी गंध ईख के समान होजाती है। तारपीन का तेल, कबाबचीनी, सेण्टोनीन आदि औषधियों के सेवन से रोगीके मूत्रमे सेवित पदार्थ के समान ही गंध प्रतीत होता है रोगानुसार गंधके परिवर्त्तन के कुछ उदाहरण यहाँ देना उपयुक्त प्रतीत होता है।

१. जीर्ण ज्वर में मूत्र में बकरे के मूत्र के समान गन्ध आती है।

२. अजीर्ण के कारण मूत्र में दुर्गन्ध आने लग जाती है।

३. उदकमेह में मूत्र गन्ध रहित, सुरामेह (alcoholuria) मे शराब जैसी दुर्गन्ध और क्षारमेह (highly alkaline urine) में मूत्र में खारी दुर्गन्ध आने लग जाती है।

४. मूत्र के साथ पीब आने पर एक विशेष प्रकार की दुर्गन्ध आने लग जाती है।

५. घनत्व (density)

मूत्रका आपेक्षिक गुरुत्व (specific gravity) एक विशेष प्रकार के यन्त्र की सहायता से जाना जाता है। इसे यूरिनोमीटर urinometer) कहते हैं। इसको १५ सेन्टीमीटर के उत्ताप पर अंकित किया जाता है, और यह १००० से १०६० के चिह्न तक निर्माण किया जाता है. अर्थात् इससे मूत्र के घनत्व में १००० से १०६० तक का उत्पन्न परिवर्तन प्रतीत किया जा सकता है।

यूरिनोमीटर की प्रयोग विधिः—सद्य त्याज्य मूत्र को कुछ समय रक्खा रहने दें। ताकि ठण्डा होकर उसका तापक्रम भी स्थानीय स्वाभाविक तापक्रम के समान होजाय। फिर इसे ऊँचे और चौड़े काँच के गिलास या जार में भरें। जार इतना चौड़ा होना चाहिये कि, उसमें यूरिनोमीटर बिना उसकी दीवारों का स्पर्श किये आसानी से तैर सके। यन्त्र को प्रयोग करने से पूर्व मूत्र की सतह पर उपस्थित भाग को दूर कर देना चाहिये। तत्पश्चात् यूरिनोमीटर को अच्छी प्रकार पोंछ कर साफ करलें और धीरे से मूत्रयुक्त पात्र में डालें। यन्त्र को पात्र के मध्य में डालना चाहिये ताकि उसकी दीवारों का स्पर्श न हो। अब परीक्षक अपनी दृष्टि मूत्र की सतह के समानान्तर डाल कर, वहाँ यूरिनोमीटर पर स्थित अंकों को प्रतीत करलें। वही परीक्ष्य मूत्र की घनता (आपेक्षिक गुरुत्व) है। अंकों को पढ़ने मे परीक्षक को किंचित् सावधानी रखनी चाहिये; क्योंकि कभी २ मूत्र की सत्य सतह पर के अंकों के स्थान पर यूरिनोमीटर की नालिका के चारों ओर के किनारे, जोकि दबाव के कारण ऊपर उठ आते हैं, उस पर चिह्नित अंक पढ़ लिये जाते हैं और इस प्रकार गलत परिणाम प्राप्त होजाता है।

अल्पमूत्र की वजन विधि—जब परीक्षार्थ मूत्र थोड़ी मात्रामे प्राप्त किया जासके, और यूरिनोमीटर उसमे तैर न सके तो निम्नोक्त२ विधि से परीक्षा करनी चाहिये।

(१) इसके लिये भिन्न भिन्न भार के बाँट (Beads) मिलते हैं। ये बाजार मे "आपेक्षिक गुरुत्व दर्शक बाँट (specific gravity beads) के नाम से मिलते हैं। इन पर आपेक्षिक घनत्व के अंक छपे रहते हैं। इन को मूत्र में एक एक करके डालते जायं। जो बाँट डूब जाय उनको मूत्र के घनत्व अंक से भारी समझना चाहिये। पुनः उससे हलके मनके मूत्र में डालना चाहिये। समान अंक वाले मनका, जहाँ मूत्र मे रक्खा जाय, वहीं ठहरा रहता है, और हल्का ऊपर तैर जाता है।

(२) यदि उक्त मनके न हो और मूत्र कम मात्रामें हो, तो उसके निर्णयार्थ मूत्रमें आवश्यकतानुसार आधा, समभाग, डेढ़ गुणा, दुगुना. अथवा अधिक जल मिलाकर मूत्रका परिमाण ज्यादा करले। पानी शुद्ध स्रवित होना चाहिये। इसके पश्चात् जल मिश्रित मूत्रको चौड़े जार में लेकर पूर्व उल्लिखित विधि अनुसार यूरिनोमीटर से आपेक्षिक घनत्व मालूम करें। इस प्रकार प्राप्त अंकों को जल की मात्रा के अनुसार निश्चित संख्या द्वारा गुना करने से वास्तविक घनत्व प्रतीत हो जाता है। यदि आधा भाग पानी मिलाया गया हो, तो १००० से ऊपर जितने अंक हैं, उनको डेढ़ गुणा करदे। इसी प्रकार समभाग मिलाने पर द्विगुण, डेढ़ गुना मिलाने पर २॥ गुणा, द्विगुण मिलाने पर तीन गुणा और त्रिगुण जल मिलाने पर चार गुना करदे आदि। इस प्रकार गुना करके प्राप्त अंकों में १००० जोड़ देने से मूत्र का वास्तविक घनत्व विदित हो जाता है। **उदाहरणार्थ**—किसी रोगी के मूत्र में आधा जल मिलाकर यूरिनोमीटर डाला गया, तो उसने मूत्रका आपेक्षिक घनत्व १०३२ बतलाया। अब १००० से अधिक ३२ है, इसलिये इसे ड्योढ़ा करने पर ४८ होते हैं। और इसमें १००० जोड देने से १०४८ हो जाते हैं।

समान जल मिलाकर नापनेपर १०२४ गुरुत्व दर्शाया हो, तो उसके २४ अंकके दूने कर लेने पर ४८ होते हैं। १००० मिलाने पर १०४८।

ड्योढ़ा जल मिलाकर नापने पर १०१५ गुरुत्व हो तो १५ का ३ गुना कर १००० मिलानेपर १०४५ होते हैं।

तीन गुना जल मिला कर नापने पर १०१० गुरुत्व हो तो १० को चार गुना कर १००० मिलाने १०४० होता है।

इस तरह हिसाब कर लेने पर वास्तविक गुरुत्व मिल जाता है।

स्वस्थावस्था में मूत्र का संगठनः—

	जल		१४३० सी० सी०
	मूत्रीया	(Urea)	२० से ३५ ग्राम
सेन्द्रिय द्रव्य	मूत्राम्ल	(Uric Acid)	०·४ से ०·७ ग्राम
	हिप्पूरिकाम्ल		०·५ ग्राम
	क्रियेटिनिन		१ ग्राम
	सेन्द्रिय फोस्फेट्स		०·२ से ०·३ ग्राम

होने पर इसका घनत्व १०२५ हो जायगा। इसलिये इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि मूत्र त्यागने पर ही जो आपेक्षिक घनत्व हो वही वास्तविक घनत्व है। जिन्दगी का बीमा (Life Insurance) बनाने के कामों में इसका ज्यादा महत्व है।

स्वस्थावस्था के मूत्र का आपेक्षिक-घनत्व बहुत कुछ उसमें स्थित मूत्रीया के परिमाण पर निर्भर है। मधुमेह में मूत्रका घनत्व १०७५ तक पहुँच सकता है; परन्तु मधुमेह के अधिक रोगियों के मूत्र का घनत्व साधारणतः १०४० से १०५० तक रहता है। इसके विपरीत उदक मेह या जीर्ण वृक्क के प्रदाह में मूत्र का घनत्व भी स्रवित जल के घनत्व के लगभग समान हो जाता है। शुभ्र प्रथिन और अन्य अवलम्बित पदार्थों की उपस्थिति का मूत्र के आपेक्षिक घनत्व पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

मूत्र के पार्थिव (ठोस) पदार्थों का परिमाण प्रतीत करना—:
पार्थिव-पदार्थों के लगभग परिमाण को ज्ञात करने के लिये१५° सेण्टी-मीटर के उत्ताप पर ज्ञात किये हुए आपेक्षिक घनत्व के अन्तिम २ अङ्कों को २३.२ से गुना करदें। इस प्रकार जो परिणाम निकले उतने ही ग्राम १००० सी'सी' अर्थात् १ लीटर (Litre) मूत्रमें उपस्थित पार्थिव द्रव्यों का परिमाण समझें।

उदाहरणार्थः— अगर मूत्र का आपेक्षिक - घनत्व १०२० है, तो उसमें २० × २'३३ = ४६'६ ग्राम ठोस द्रव्य १००० सी'सी' में है; अथवा ४'६ प्र० श० ठोस द्रव्य हुए।

एक दिन के मूत्रमें ठोस द्रव्यों की औसत मात्रा ६० से ७० ग्राम (२ से २½ औंस) होती है। किन्तु यह परिमाण दर्शक विधि• अस्वाभाविक उपकरण जैसे-शक्कर, एल्ब्युमिन की मूत्र में विद्यमानता होने पर प्रयुक्त नहीं की जासकती।

६—अधःक्षिप्त (तलछट) पदार्थों का स्वरूप

मूत्र जब निकलता है तो बिल्कुल स्वच्छ और पारदर्शक होता है। कुछ समय स्थिर रहने पर उसमें से श्लेष्मा (Mucus) पृथक् होकर नीचे बैठने लगती है। इस समय इसके छिछड़े भेड़ के बालों के समान प्रतीत होते हैं, तथा साधारणतः भारी होने से गिलास के तल में बैठ जाते हैं। परन्तु जब मूत्रका आपेक्षिक घनत्व अधिक होता है, तब ये मध्यमें अवस्थित या मूत्र की सतह पर भी मलाई के समान तैरते हैं। यह श्लेष्मा कर्मोदक मय

प्रथिन (gluco protein) या कोपाणु केन्द्र प्रथिन (Nucleoprot-oin) युक्त है। इसके निर्णय में मतभेद होसका है। यह श्लेष्मा दोनों प्रथिन मय किन्तु कोपाणु केन्द्र प्रथिन के आधिक्य सह हो सकती है। अगर मूत्र में कुछ रक्त भी विद्यमान हो तो श्लेष्मा की परत का रंग गिगजाभ हो जाता है। मूत्राशय और मूत्र प्रसेक नलिका की श्लैष्मिक कला का प्रसेक (Cata-rrh) होने पर श्लेष्मा के परिमाण में वृद्धि होजाती है।

स्वाभाविक अवस्था में कभी कभी कुछ मूत्रीय–उपकरण जो कि अधः क्षिप्त (तलछट) के रूप में पृथक् होजाते हैं और बिना किसी यन्त्र की सहायता के आसानी से दृष्टिगोचर होने लग जाते हैं। इनमें (खनिज) फास्फेट्स (Earthy Phosphates) मूत्र लवण (Urates) अथवा स्वतन्त्र मूत्राम्ल (Free uric acid) मुख्य ह।

फास्फेट्स (खनिज):—अगर मूत्र क्षारीय या उदासीन है, तो उसमें से मैग्नेशियम (Magnesium) और कैल्शियम (Calcium) के फास्फेट्स पृथक् होजाते हैं। ये विवर्ण होते हैं, एवं अधः क्षिप्त के रूप में तल में बैठ जाते हैं। इन्हें खनिज फास्फेट्स कहते हैं। इनकी पहचान निम्नानुसार की जासकती है।

फास्फेट्स निर्णय विधि—एक कॉच नलिका (Pipette) की सहायता से इसका कुछ अन्श एक परीक्षा करने की कॉच की नली (Test-(tube) मे लेकर, उस मे हल्का शुक्ताम्ल (acetic acid) डालने पर अगर अधः क्षिप्त फास्फेट्स के होंगे तो लीन होजायेगे। पूय के अधः क्षिप्त फास्फेट्स के तन्तु के छिछड़े के समान प्रतीत होते हैं। इस लिये इन दोनों के निर्णय मे भूल होने की सम्भावना है। परन्तु पूय के अधः क्षिप्त शुक्ताम्ल से लीन नहीं होते। अतः इन दोनों का आसानी से भेद किया जा सकता है। अक्सर ऐसा होता है कि, फास्फेट्स और पूय के छिछड़े साथ साथ ही विद्य-मान होते हैं, तो निश्चित उपाय द्वारा इनका भेद करना अत्यन्त महत्व पूर्ण है। इन की ठीक ठीक पहचान अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा ही की जा सकती है। इसके अतिरिक्त इन का भेद करने के लिये अन्य उपायों पर पूर्ण विश्वास कर लेना उचित नहीं है।

मूत्रक्षार (urates):—सोडियम (Sodium), पोटाशियम (Potassium) और अमोनियम (ammonium) क्षार का चूर्ण मूत्र गाढा और अति अम्लीय होने पर प्रक्षेप के रूप मे नीचे बैठ जाता है।

यह स्वस्थावस्था में भी कभी कभी सद्य त्याज्य मूत्र में तो प्रतीत नहीं होता, परन्तु कुछ समय रहा हुआ स्थिर मूत्र जब शीतल हो जाता है, तब यह पृथक् हो जाता है। यह स्वयं तो विवर्ण है, परन्तु इस में मूत्र के रञ्जक द्रव्यों को ग्रहण करने की शक्ति है। जिससे यह रञ्जित हो जाता है। साधारणतः यह लाल या गेरू जैसा होता है; इसे "ईंट चूर्ण (Brick dust)" के नाम से पुकारते हैं। अगर मूत्र-रञ्जक द्रव्य न्यून है, तो प्रक्षेप पीताभ या विवर्ण होता है। क्षारीय प्रक्षेप को पहचान इस बात से आसानी से हो जाती है कि, मूत्र को उष्ण करने पर यह लीन हो जाता है और शीतल होने पर पुनः पृथक् हो जाता है। इस पहचान के लिये मूत्र को परीक्षा नली में लेकर धीरे-धीरे उष्ण करना चाहिये। क्योंकि, उसमें यदि शुभ्रग्रथिन विद्यमान होगा, तो एक दम गरम करने से वह प्रक्षेप के रूपमें (क्षार के लीन होने के पूर्व ही) पृथक् हो जायगा, और इस प्रकार परीक्षक को संशय उत्पन्न हो जायगा कि क्षार लीन नहीं हुआ। मूत्र को शनैः शनैः उष्ण करने से क्षार का लीन होना और शुभ्र ग्रथिन का पृथक् होना, दोनों स्पष्ट प्रतीत हो जाते हैं। क्षार प्रक्षेप शुक्ताम्ल से विलीन नहीं होता। इसके विपरीत तेज खनिज अम्ल (Strong mineral acid) जैसे कि सोरकाम्ल (Nitrie acid) मिलाने पर तत्काल उबाल आकर विलीन हो जाता है।

एसिड सोडियम प्रक्षेप (Acid sodium urate) यह वस्तु बहुत कम ही पृथक् होती है। जब कभी होती भी है तब अम्लीय मूत्र में ही प्रक्षेप रूप से तल में बैठती है। यह पीताभ और बालुका के छोटे छोटे कणों के सदृश दिखाई देती है। मूत्र को उष्ण करने से यह शीघ्रता से लीन नहीं होती है।

एसिड अमोनियम प्रक्षेप (Acid ammonium nrate) यह प्रक्षेप एसिड सोडियम प्रक्षेप के समान ही वालुकावत् होता है, परन्तु यह नौसादर-प्रधान क्षारीय मूत्र मे मिलता है। अतः फास्फेट्स के अधःक्षिप्त के साथ ही प्रायः पाया जाता हैं।

मूत्राम्ल (Uric acid):—यह क्वचित् ही मूत्र से पृथक् होकर तलस्थ होता है। यह रवादार दानों के रूप में प्रतीत होता है। इसका रंग गहरा भूरा होता है, इसलिये इसे मिर्चिया (Cazenno-pepper) प्रक्षेप भी कहते हैं। यह अतिसूक्ष्म होता है। इसका संदेह होने पर अणुवीक्षण यन्त्र से निर्णय करें।

सल्फेट्स (Sulphates):—ये मूत्र में कभी प्रक्षेप रूप में पृथक् नहीं होते। सर्वदा विलीन ही रहते हैं। किंतु आक्जेलेट्स (oxalates) कभी कभी निक्षेप रूप में पृथक् हो जाती है, परन्तु अत्यन्त मात्रा में और वह भी प्रायः श्लेष्मा के साथ मिला रहता है; अतः केवल नेत्रों की सहायता से पहचान सकना कठिन है। इसलिये संदेह होने पर अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता लेना चाहिये। इसका विस्तृत वर्णन अणुवीक्षणात्मक परीक्षा में किया जायगा। श्वेताभ ग्रथिन (Fibain) के अधःक्षिप्त का वर्णन पूर्व ही किया जा चुका है। और अन्य अस्वाभाविक प्रक्षेप, जो अतिसूक्ष्म होते हैं, और जो अणुवीक्षण की सहायता के बिना नहीं देखे जा सकते, उनका वर्णन आगे अणुवीक्षणिक परीक्षा वर्णन में किया जायगा।

वक्तव्य—जो पदार्थ मूत्र से पृथक् होकर निक्षेप रूपमें बैठ जाता है। वह सर्वथा शरीर से अधिक परिमाण में निकलने के हेतु से प्रक्षेप रूपसे पृथक् हो रहा है, ऐसा निश्चय करलेना मिथ्या और भ्रान्ति पूर्ण है। संभव है कि जिस वस्तुकी उपस्थिति से प्रक्षेप मूत्रमें लीन होता है, उसका अभाव या ह्रास होगया है। उदाहरणार्थ– अगर मूत्रमेंलाल मिर्च प्रक्षेप पृथक् हो रहा है, तो सर्वदा यह नहीं समझ लेना चाहिये कि शरीर से मूत्राम्ल ज्यादा परिमाण में निकल रहा है। क्योंकि जिसवस्तु की उपस्थिति से यूरिक एसिड लीन होता है। उसका अभाव होने पर मूत्रमें स्वाभाविक परिणाम में मूत्राम्ल होने पर भी निक्षेप रूपसे पृथक् हो सकता है। मूत्रके अस्वाभाविक अम्लीय हो जाने, रंजक द्रव्य की कमी या लवणोंकी कमी हो जाने पर (इन तीनों ही कारणोंसे) मूत्राम्ल की विलयन शक्तिन्यून हो जाती है, इसलिये मूत्राम्ल मूत्रमें स्वाभाविक परिमाणमे होने पर भी लाल मिर्चिया प्रक्षेप पृथक् हो जाता है। ठीक इसी प्रकार फास्फेट्सके प्रक्षेप पृथक् होने पर यह न समझना चहिये कि सर्वदा इनके प्रक्षेप की उत्पत्ति शरीर मेंसे अधिक फास्फेट्स बाहर आने का प्रमाण है, अपितु यह कभी तो मूत्रके क्षारीय होने की सूचना मात्र ही होता है।

इसके साथही यह भी बतला देना जरूरी प्रतीत होता है कि, अम्लीय मूत्र से कौन कौन सी वस्तुएं पृथक् होती है और क्षारीय मूत्र से कौन कौनसी।

अम्लीय मूत्र से पृथक होने वाले प्रक्षेप—

१. मूत्राम्ल यूरिक एसिड (Uric acid)

२. मू लवणक्षार (Urates)

अ. एसिड सोडियम प्रक्षेप (Acid Sodium urates)

आ. एमार्फस प्रक्षेप (Amorphous urates)

३. आक्जेलेट्स (Oxalates)
४. हिप्युरिक एसिड (Hippuric acid)
५. सिस्टिन (cystin)
६. जेन्थिन (Xanthin)
७. टाइरोसिन (Tyrosin)
८. ल्यू. सिन (Leucine)

क्षारीय मूत्र से पृथक होने वाले निक्षेप

१. कैल्शियम तथा मेग्नेशियम फास्फेट्स (Calcium or magnesium phospates)

२. अमोनियम फास्फेट्स (Ammonium phosphates)

३. अमोनियम, मेग्नेशियम फास्फेट्स (Ammouim & Magnesium phosphates)

४. अम्लीय अमोनियम प्रवेत(Acid Ammonium Urates)

५. कर्बोनेट्स (Carbonates)

६. कोलेस्टेरोल (Cholesterol)

आ—मूत्र की रासायनिक परीक्षा ।

१. प्रतिक्रिया (Reaction)

साधारणतः स्वस्थावस्था में मूत्र की प्रतिक्रिया अम्लीय होती है। परन्तु स्वस्थावस्था में ही भोजन के पश्चात् इसकी प्रतिक्रिया क्षारीय हो सकती है। इसे कभी कभी क्षारीय लहर (Alkaline tide) के नाम से भी पुकारते हैं, और यह सबसे ज्यादा भोजन के तीन घण्टे पश्चात् प्रतीत होती है।

एवं शीतल या उष्ण जल से स्नान करने पर तथा सोडियम बाइ कार्बोनेट या पोटाशियम एसिटेट का सेवन करने पर मूत्र क्षार गुण विशिष्ट हो जाता है।

स्वस्थ मूत्र अधिक समय तक पड़ा रहने पर क्षार रूप उत्सेचन क्रिया का आरम्भ हो जाता है। जिससे मूत्रीया में से कार्बोनेट आफ एमोनिया बनने लगता है। इस हेतु से मूत्र में से एमोनिया की उग्रगंध बाहर आती है; सल्फाइड और एमोनिया उत्पन्न होता है; तथा फोस्फेट और यूरेट्स ऑफ अमोनिया तलस्थ होता है।

मूत्राशय प्रदाह (Cy-titis) और मूत्र प्रसेक नलिका प्रदाह (Urethritis) होने पर मूत्र क्षारीय बनता है इसके विपरीत आशुकारी आमवातिक ज्वर आदि विषम ज्वरों में पेशाब अत्यन्त अम्ल हो जाता है।

मूत्र की अम्लता किसी की उपस्थिति के कारण नहीं होती; प्रत्युत अम्लीय लवण, प्रायः एसिडसोडियम फास्फेट्स की उपस्थिति के कारण होती है। इसी प्रकार मूत्र के क्षारीय होने का कारण भी क्षारीय लवणों, प्रायः वेसिक सोडियम फास्फेट (Basic Sodium Phosphates) की विद्यमानता है। आमोनिया (Ammonia) की उपस्थिति के कारण भी कभी कभी मूत्र क्षारीय हो जाता है। अमोनिया मूत्र त्यागने के पश्चात् ही मूत्र से निकल कर उसे क्षारीय बनाता है, अर्थात् ऐसा मूत्र त्यागने के समय तो अम्लीय होता है, परन्तु कुछ समय रक्खा रहने पर क्षारीय हो जाता है। इसलिये प्रतिक्रिया तत्काल ही देखनी चाहिये।

अमोनिया की उपस्थिति के कारण अगर मूत्र क्षारीय हुआ हो, तो प्रथम उसकी गंध देखें। फिर क्षारीय प्रतिक्रिया के कारण लाल लिटमस पेपर (Litmus Paper) जो नीला हो जाता है, उसे गरम करें। यदि अमोनिया उड़ जाने के कारण लिटमस पुनः लाल हो जाय तो उक्त दोनों बातों से आमोनिया की उपस्थिति का निश्चय किया जा सकता है।

कभी कभी वेसिक सोडियम फास्फेट्स और एसिडसोडियम फास्फेट्स दोनो एक साथ मूत्र मे उपस्थित होते हैं। इसलिये एक ही मूत्र क्षारीय और अम्लीय प्रतिक्रिया, दोनों दर्शाने लग जाता है। इसे कोई विशेष महत्व न दें। क्योंकि यह चिह्न किसी रोग विशेष का प्रतीक नहीं है।

प्रतिक्रिया जानने की विधिः—प्रायः लिटमस पेपर (Litmus Paper) से ही मूत्र की प्रतिक्रिया जानी जाती है। यदि पेशाब में क्षार अधिक जाता है और प्रतिक्रिया क्षारीय है, तो टरमोरिक पेपर या हल्दी के जल में भिगोकर-सुखाये हुये सफेद ब्लोटिंग पेपर के पेशाब मे भिगोने पर वह पीले के बदले लाल हो जाता है। इसके विपरीत अगर पेशाब की प्रतिक्रिया अम्लीय है, तो लिटमस पेपर या गोभी के रस में भिगोकर सुखाये हुए ब्लोटिंग पेपर को पेशाब में डुबोने से नीले के बदले लाल हो जाता है। उदासीन प्रतिक्रिया (Neutral reaction) में लाल लिटमस नीला और नीला लाल हो जाता है।

अम्लता और अमोनिया का परिमाण—रोग-निर्णयार्थ मूत्र में इनके परिमाण को निर्णय करने की विधि निम्नानुसार है।

(१) एक फ्लास्क में १५ ग्राम चूर्ण किया हुआ पोटाशियम ओग्ज़लेट (Potassium oxalate), जो फैनोल्थलीन (Phenophthalein) के लिये उदासीन (Neutral) हो, वह डालें। यह चूर्ण इसलिये डाला जाता है, ताकि उपस्थित केलशियम (Calcium) प्रक्षेप रूप से नीचे बैठ जाय, ताकि कैलशियम-फास्फेट (Calcium Phosphate) की उत्पत्ति होकर प्रति-क्रिया के अन्तिम परिणाम में दखल न दे सकें। तत्पश्चात् उसमें २५ सी० सी० मूत्र, इसीके बराबर परिमाण में स्रवित जल (Distilled water) और १० बूंद १ प्र० श० वाला मद्यसारीय फैनोलथलीन (Alcoholic Phenolphthalein) डालें। इनको हिलाकर अच्छी प्रकार मिला दें। अब एक मिनिट के पश्चात् निश्चित् अंकों वाले गिलास (Burette) की सहायता से उसमें नत्रजन/१० सोडियम हाइड्रोक्साइड (Sodium Hydroxide) उस मात्रा तक मिलावें, जिससे कि फ्लास्क में रक्खे हुए मूत्र का रंग हल्का गुलाबी हो जाय। अब उक्त गिलास के अङ्क पढ़कर मालूम करलें कि, कितना नत्रजन/१० सोडियम हाइड्रोक्साइड मिलने के मूत्र का रंग परिवर्तित हुआ है। यही अङ्क नत्रजन/१० सोडियम हाइड्रोक्साइड के संकेत (Term) में अम्लता का परिमाण दर्शाता है।

अब एक काँच का चोंचदार गिलास (Beaker) में ५ सी. सी. फोर्मलीन (Formaline) लेकर उसमें ५ सी. सी. पानी और कुछ बूंदें फैनोलथलिन मिलावें, तब इसमें नत्रजन/१० सोडियम हाइड्रोक्साइड उस परिमाण में मिलावें, जिससे कि उपरोक्त मिश्रण हल्का गुलाबी हो जाय। इस मिश्रण को फ्लास्क (Flask) में के उदासीन मूत्र में डालें तो इसका गुलाबी रंग अदृश्य हो जायगा। अन्त में फ्लास्क के इस मूत्र-मिश्रण में नत्रजन/१० सोडियम हाइड्रोक्साइड उस परिमाण में डालें। जिससे कि उसका रंग पुनः हल्का गुलाबी हो जाय। विभाजित गिलास (Burette) के अङ्कों को पढ़कर सामान्य सोडियम हाइड्रोक्साइड के संकेत में अमोनिया का परिमाण मालूम करलें। उदासीन फॉर्मलीन के मिलाने से मूत्र में स्थित अमोनिया इसके साथ मिलकर एक उदासीन यौगिक (compound) बनाता है, जिसे हैक्जैमीन (Hexamin) कहते हैं। इस प्रकार करने से पूर्व उदासीन हुआ अम्ल पुनः मुक्त हो जाता है, और द्वितीय बल निर्णायक प्रतिमान (Titration) द्वारा निश्चित कर लिया जाता है। नाइट्रोजन

का अमोनिया रूप में उपस्थित परिमाण के अङ्कों को ०·००१४ से गुणा रने पर ग्रामो में परिमाण हो जाता है। उपरोक्त विधि द्वारा प्रतीत किये हुये अमोनिया का परिमाण सूचक अङ्क वास्तविक परिमाण से कुछ ज्यादा परिमाण दर्शाता है। परन्तु रोग निर्णय के लिये इन पर विश्वास किया जा सकता है। अमोनिया की वास्तविक उपस्थिति से ज्यादा परिमाण दर्शाने का कारण यह है कि, उसके साथ अमीनो-एसिड (Amino-acids) मूत्र में सम्मिलित है।

अपवाद—अश्मरी कणमय-मूत्र अर्थात् सिकतामेह (Cystimuria) जिसमें अमिनो अम्ल (Amino acids) मूत्र के साथ ज्यादा बाहर निकलता है। इसके अतिरिक्त अन्य रोगों में इनका परिमाण इतना न्यून होता है कि उस पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं रहती। सामान्यतः (स्वस्थावस्था में एक वा आधा ग्राम अमोनिया तो निकलता ही है और अमोनिया द्वारा शरीर से २ प्र० श० से ५ प्र० श० तक नत्रजन भी निकलता ही है। अम्लों के अधिक प्रयोग से अथवा शरीर के अन्दर अम्लों की अधिक उत्पत्ति से अमोनिया अधिक बनता है।

(२) अम्लता के लिये सेलार्ड् की परीक्षा (Sellard's test)
शरीर में विद्यमान अम्लत्व के आधिक्य को करने की यह सरलतम विधि है। यह परीक्षा इस अटल सत्य पर निर्भर है कि स्वस्थावस्था मे मूत्र की प्रति क्रिया किञ्चित् अम्लीय होती है तथा५ से १० ग्राम सोडियम बाई कार्बोनेट (Sodium bi carbonate) खिलाने पर प्रतिक्रिया में परिवर्त्तन होकर वह क्षारीय हो जाती है। परन्तु जब रक्त में अम्लता बढ़ जाय (Acidosis) तब मूत्र की क्षारीय प्रतिक्रिया करने के लिये ज्यादा सोडियम बाई कार्बोनेट खिलाने की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ यह लिख देना आवश्यक जान पड़ता है कि; साधारण तया रक्त किञ्चित् क्षारीय होता है; परन्तु मधु-मेह, न्युमोनिया, तथा अन्य तीव्र ज्वरों मे यह अम्लीय हो जाता है। यह स्वाभाविक है कि रक्त अम्लीय होने पर मूत्र भी निःसंदेह अम्लीय ही होता है और जब तक रक्त क्षारीय न हो जाय, मूत्र भी क्षारीय नही हो सकता। ऐसी अवस्था में मूत्र को क्षारीय बनाने के लिये अधिक परिमाण में सोडियम बाई कार्बोनेट खिलना पड़ता है, ताकि रक्त क्षारीय होकर मूत्र भी क्षारीय हो जाय।

परीक्षा के लिये ५ ग्राम (७५ ग्रेन) सोडियम बाई कार्बोनेट प्रति घंटा देते जायँ और कुछ काल के पश्चात् मूत्र त्याग करवा कर या कैथीटर

द्वारा निकाल परीक्षा करते जायें। जब तक मूत्र क्षारीय न हो जाय प्रति घंटा ५ ग्राम सोडियम बाई कार्बोनेट देते जायँ, और प्रतिवार मूत्र निकाल, उबाल कर शीतल होने पर लिटमस द्वारा परीक्षा करते जायें। जितनी मात्रा सोडियम बाई कार्बोनेट खिलाने से मूत्र क्षारीय हुआ है उतनी ही मात्रा स्थूल दृष्टि से मूत्र में अम्लत्व की समझनी चाहिये।

सूचना—वृक्क प्रदाह में अम्लता के परिमाण को प्रतीत करने का यह विश्वसनीय तरीका नहीं है। परन्तु इससे मधुमेह में अम्लता का साधारणतः ठीक ठीक परिमाण प्रतीत हो जाता है।

२. स्वस्थावस्था के मूत्र में नत्रहीन पदार्थों की परीक्षा—कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो स्वस्थावस्था में भी सर्वदा मूत्र के साथ बाहर निकलते रहते हैं, तथा रुग्णावस्था में इनका परिमाण कम या ज्यादा हो जाया करता है। इनको दो भागों में विभक्त किया गया है। १ नत्रहीन और २. नत्र युक्त। इनमें से नत्र हीन द्रव्यों का वर्णन अत्र देते हैं।

(१) क्लोराईड्स (Chlorides):—स्वाथावस्था के मूत्र में निरिन्द्रिय वस्तुओं में साधारण नमक (सोडियम क्लोराइड) मुख्य पदार्थ है, और मूत्र में बहुधा पाया जाता है। साथ ही पोटाशियम क्लोराइड (Potassium chloride), भी कुछ मात्रा में उपस्थित रहता है। जो लवण हम खाते हैं, उसमे से कुछ आमाशयिक रस का लवणाम्ल बनाने में काम आ जाता है। शेष रक्त में मिलकर भ्रमण करता हुआ वृक्कों द्वारा मूत्र के साथ बाहर निकल आता है।

मूत्रमें पोटासियम, सोडियम, अमोनियम या केल्शियम के साथ पीतभ-हरित गैसीय द्रव्य क्लोरिन (Chlorine) रहता है। मूत्र में कुछ बूंद सोरकाम्ल डालने पर फोस्फेट्स द्रवीभूत होता है फिर क्लोरिन श्वेत वर्ण में क्लोराइड ऑफ सिल्वर रूप से अधःस्थ होता है।

परीक्षा विधिः—अगर मूत्र स्वच्छ न हो तो प्रथम उसे फिल्टर पेपर द्वारा छानकर स्वच्छ करलें; और अगर शुभ्र प्रथिन विद्यमान है तो, उसे उबालकर पुनः छान लेने से वह पृथक् हो जायगी। अत्र आध इंच के लगभग मूत्र परीक्षा-नली मे भरें, और उसमें कुछ बूँदें विशुद्ध सोरकाम्ल की डालें। उसे डालने के पहले देखलें कि, वह लवणाम्ल से बिल्कुल मुक्त तो है। अन्तमें उस ट्यूब में मूत्र के समान ३ प्र० श० सिल्वर नाइट्रेट (Silver nitrate) का विलयन डालें। अगर नमक स्वाभाविक परिमाण में उपस्थित है, तो इस विलयन के डालते ही एक दम बहुत सा दधिसदृश (Curdy)

निक्षेप पृथक् हो जायगा। नमक के कम हो जाने पर विलयन दुग्धवत् श्वेत हो जायगा। और अगर नमक के केवल कुछ चिह्न ही मूत्र में अवशेष हैं तो मामूली धुंधलापन उत्पन्न होगा; तथा पूर्णतया अभाव हो जाने पर मूत्र में किसी—प्रकार का परिवर्तन न होगा और स्वच्छ ही बना रहेगा।

वक्तव्य.—उपरोक्त परीक्षा में शोरकाम्ल की बूँदें इसलिये डाली जाती है कि सिल्वर नाइट्रेट (Silver nitrate) के डालने पर सिल्वर के फास्फेट्स (Phosphates) बनकर प्रक्षेप रूप में पृथक् न होने पावें।

स्वस्थावस्था में नमक का औसत लगभग १२ ग्राम है। निरोगावस्था में इसकी मात्रा बहुत कुछ भोजन पर निर्भर करती है। अगर ज्यादा लवण खाया जायगा तो मूत्र में भी लवण की मात्रा बढ़ जायगी। रोग संप्राप्ति अवस्था मे विषम ज्वर (Maleria) के अतिरिक्त सम्पूर्ण ज्वरो मे लवण की मात्रा कम हो जाती है। विषम ज्वर की ज्वरावस्था (Febrile Period) मे तो मूत्र मे लवण बढ़ जाता है; परन्तु विरामावस्था (Apyrexial intervals) मे घट जाते हैं। खण्डीय फुफ्फुसप्रदाह (Lobar Pneumonia) में तो लवण बहुत ही घट जाता है। कभी कभी तो इनका अभाव हो हो जाता है। यह बात रोग विवेचन में काफी सहायता देती है। न्युमोनिया में भी ज्वर शमन के पश्चात् नमक बढ़ जाता है; यह वृद्धि ज्वर शमन के तीन दिन पश्चात् प्रतीत होती है। फुफ्फुसा वरण प्रदाह और जलोदर आदि रोगो में भी जब पानी लीन होने लगता है तब मूत्र मे नमक बढ़ जाता है।

(२) फास्फेट्स (Phosphates)—दो प्रकार के फास्फोरिस-एसिड के लवण मूत्र मे पाये जाते हैं। एक को क्षारीय फास्फेट्स और दूसरे को खनिज फास्फेट्स (Earthy Phosphates) कहते हैं। क्षारीय फास्फेट्स पोटेशियम, सोडियम और अमोनियम के रूप मे और खनिज फास्फेट्स कैल्शियम और मेग्नेशियम के रूप मे पाया जाता है। मूत्र के समस्त फास्फेट्स का पौन भाग क्षारीय और चौथाई भाग खनिज फास्फेट्स का होता है। साथ ही कुछ ग्लिसेरोफोस्फेट्स (Glycero PhO sphates) भी पाया जाता है।

क्षारीय फोस्फेट क्षार सयोग से अधः पतित नहीं होता। यह अम्लीय मूत्र में घुल जाने से प्रतीत नहीं होता। यह जल में शीघ्र लीन हो जाता है।

खनिज फोस्फेट समक्षाराम्ल (Neutral) है। अम्ल संयोग से इसका

द्रव होता है। यह मूत्र मे होने पर कार्बोनिक एसिड मिलाने पर द्रवी भूत होता है तथा क्षार सयोग मे तलस्थ होता है।

मूत्र की अम्लीय प्रति क्रिया जब नष्ट हो जाती है तब यह निक्षेप रूप से नीचे बैठ जाता है। अगर मूत्र को गरम किया जाय तो खनिज फास्फेट् स के निक्षेप में वृद्धि हो जाती है। गरम करने से इस प्रकार का अभाव संभवतः कार्बोनिक एसिड के मूत्र से पृथक् होने से उत्पन्न होता होगा इस लिये मूत्र को, जिसकी प्रति क्रिया अम्लीय न हो गरम किया जाय तो खनिज फास्फेट् स बादल के रूप में मूत्र से पृथक् हो जायेंगे। शुभ्रप्रथिन के भी इसी प्रकार के बादल के समान निक्षेप उत्पन्न होते हैं। परन्तु इसका भेद इस बात से आसानी से हो जाता है कि खनिज फास्फेट् स के निक्षेप कुछ बूंदें शुक्राम्ल की डालने पर तत्काल लीन हो जाते हैं।

पहली परीक्षा विधि—मूत्र में कुछ अमोनिया डालें, अगर उसमें खनिज फास्फेट्स (केल्शियम और मेग्नेशियम) होंगी तो स्थिर रख देने पर श्वेत [illegible]टिक में पृथक् प्रक्षेप हो जायगा। क्षारीय फास्फेट् स (पोटोशियम, सोडियम) उसमे लीन हो रहेंगी।

दूसरी परीक्षा विधि—१० सी० सी० मूत्र मे इससे आधाभाग सोरकाम्ल, और २ सी० सी० १० प्र० श० अमोनियम मोलिब्डेट (Ammonium Molybdate) को डालकर मूत्र को उबाले। इस विधि से सब प्रकार (खनिज और क्षारीय) के फोस्फेट् स पीत रग से विक्षेप रूप में नीचे बैठ जायेंगे।

स्वस्थावस्था में स्फुर (फोसफरस) २४ घंटों मे १ या १½ ग्राम निरिन्द्रिय फोस्फेट्स के रूप मे मूत्र के साथ बाहर निकलता रहता है। ये फास्फेट् स भोज्य पदार्थों में विद्यमान फास्फेट्स से एवं शरीर में उत्पन्न अण्डे की जर्दी सदृश पोषक द्रव्य लेसीथीन् (Lecithin) और रक्तजीवाणु के केन्द्र स्थान (Neuclin) के विश्लेषण से भी बनते हैं। नीरोगावस्था में फोस्फेट् स की वृद्धि और ह्रास विशेषतः भोजन पर अवलम्बित है।

अस्थिवक्रता (Rickets), अस्थिशोष (Osteomalacia), चिरकारी आम वातजसंधिप्रदाह (Rheumatoid Arthritis) वात नाड़ी शूल (Neuralgia) और अतिशय मानसिक परिश्रम से खनिज फास्फेट बढ़ जाता है। तथा अन्य लक्षणों की भांति फास्फेट् स भी वृक्क रोगो में काफी कम हो जाता है। ज्वरों में फास्फेट् स की मात्रा अप्रभावित रहती है। पाठकों को यह बात सर्वदा स्मरण रखनी चाहिये कि फास्फेट् स का निक्षेप रूप में पृथक होना

यह मूत्र के क्षारीय होने का द्योतक है; इस बात का प्रमाण नहीं है कि देह में से फोस्फेट्स ज्यादा निकल रहा है।

(३) सल्फेट्स (Sulphates):-यह निरिन्द्रिय, और सेन्द्रिय, दोनों रूप में मूत्र के भीतर पाये जाते हैं। सोडियम और पोटाशियम सल्फेट तो निरिद्रिय हैं तथा क्रिसोल (Cresol), फिनोल (Phenol) इण्डोल (Ind· ol) स्केटौल (Skatol) पायरो केटेच्चिन (Pyrocatechin) आदि सेन्द्रिय है। प्रथम प्रकार के सल्फेट्स ही दूसरी जाति की अपेक्षा मूत्र में १०-२० गुने अधिक पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त गंधक (Sulphur) अपने विशुद्ध रूप में भी मिलती है। देह के अन्तर्गत सूक्ष्म कणों (Molecule) के भीतर भी गंधक वर्त्तमान है; तथा सिस्टीन में* विश्लेषण से गंधक बनता है। यह गंधक यकृत् मे पहुँचकर रक्त के सोडियम तथा अन्य लवणों के साथ मिलकर क्षारीय गंधक (सल्फेट्स) बनाता है, और जो गंधक शेष रह जाती है वह वैसी की वैसी ही मूत्र द्वारा बाहर निकल जाती है। अन्त्र में सडान्द के कारण इन्डॉल, स्केटॉल आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जो गंधक से मिलकर सल्फेट्स बन जाते हैं और मूत्र के साथ सेन्द्रिय सल्फेट्स के रूप मे बाहर निकलते हैं।

१ या १½ ग्राम के लगभग गंधक प्रतिदिन सल्फेट्स के रूप मे मूत्र के साथ बाहर निकलती है। सम्पूर्ण उपस्थित सल्फेट्स की ठीक ठीक मात्रा तथा निरिन्द्रिय और सेन्द्रिय का अनुपात ग्रेवीमीटर (Gravimeter) से विदित होता है; किन्तु साधारण रोग विनिर्णय के लिये वह वर्णन यहाँ अनुपयुक्त है।

भोजन में गंधक की मात्रा बढ़ जाने पर और ज्वरावस्था में सम्पूर्ण सल्फेट्स बढ़ जाते हैं। गंधक का परिमाण, जो कि सेन्द्रिय सल्फेट्स के रूप मे मूत्र के साथ निकलता है, उस समय बढ़ जाता है जब कि स्वाभाविक से अधिक गंध द्रव्य रक्त परिभ्रमण मे प्रवेशित हो जाते हैं। एवं फेनोल (Phenol) और इससे सम्बन्धित द्रव्यों का औषधि रूप से प्रयोग किया

---

* सिस्टीन यह एक प्रकार की ॲमिनोअम्ल है अमिनो अम्ल शुक्ताम्ल (Acetic acid vinegar) में से बनती है। इसके ४ उपविभाग हैं। पहले विभाग में ग्लायसीन, ल्यूसीन आदि ५ अम्ल, दूसरे विभाग में ॲ पार जीन आदि ३ अम्ल, तीसरे में सुगन्धमय ३ ॲमिनो अम्ल तथा चौथे विभाग में लायसीन आदि ५ तथा सिस्टीन और प्यूरिन ये २ हैं। ये सब मिलकर ॲमिनो अम्ल के १८ प्रकार हैं।

जाँय, या जब इस प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति शरीर में बढ़ जाय जैसा कि अंत्र में सड़ाँद उत्पन्न होने पर होता है। यथार्थ में मूत्रस्थ खनिज सल्फेट्स इस प्रकार की सड़ाँद उत्पादक क्रिया नहीं करता। क्योंकि निरिन्द्रिय और सेन्द्रिय सल्फेट्स तथा शुद्ध गंधक के परिमाण का अनुपात भोजन में उपस्थित नत्रजन के परिणामानुसार विभिन्न होता है। भोजन में नत्रयुक्त पदार्थ अधिक होने पर गंधक अधिक मुक्त होती है और सेन्द्रिय सल्फेट्स के बनने की अधिक सम्भावना रहती है।

इनके अतिरिक्त मस्तिष्कावरण प्रदाह (Meningites), मास्तिष्क प्रदाह (Cerebritis), आमवात और विविधि माँस पेशियों में पीड़ा होने पर मूत्र में गंधक की मात्रा बढ़ती जाती है।

(४) आक्जेलेट्स (Oxalates)—लगभग ०·०१७ ग्राम आक्जेलिक एसिड २४ घंटे में मूत्र के साथ बाहर निकलता है। यह मूत्र में एसिड सोड़ा फास्फास के कारण ही लीन रहता है। वह कम होने पर मूत्र त्यागने के पश्चात् यह अधिक देर तक लीन न रह कर शीघ्र निक्षेप रूप से नीचे बैठ जाता है। तब मूत्र के नीचे सफेद चूर्ण बुरकाया हो, ऐसा भासता है। यह बहुधा श्लेष्मा के साथ मिश्रित रहता है। स्वस्थावस्था में भी कभी-कभी यह पृथक् हो जाता है। एक प्रतिशत इसकी पृथकता से यह न समझना चाहिये कि आक्जलेट्स अधिक मात्रा में निकल रहे हैं; प्रत्युत प्रायः उपरोक्त एसिड सोडा फास्फास की न्यूनता के फल स्वरूप ही ऐसा होता है। इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि, शरीर में आक्जेलेट्स अधिक बनने से भी मूत्र में इसके प्रक्षेप अलग हो सकता है। इनकी उत्पत्ति विशेषतः भोजन में से ही होती है।

यदि भोजन में गोभी (Cabbage), स्पिनाक (Spinach) या रेवंद चिनी (Rhubarb) का सेवन हो, तो मूत्र में ओक्जेलेट्स का परिमाण बढ़ जाता है।

यह अमोनिया और सोरकाम्ल में लीन नहीं होता। लवणाम्ल और अन्य धातव अम्ल में द्रवणीय है। अन्य सब लवण या क्षार के संयोग से द्रव-रूप नहीं होता। शुक्राम्ल में मिला गरम करने से यह लीन हो जाता है; किन्तु शीतल होने पर पुनः पृथक् हो जाता है।

विविध आशुकारी व्याधियों के अन्त में वह उपस्थित होता है। इनके अतिरिक्त कास रोग और अजीर्ण में इसकी मात्रा बढ़ जाती है।

३—स्वस्थावस्था के मूत्र में नत्रमय पदार्थों की परीक्षा।

प्रति-दिन भोजन में हम प्रथिन (Protein) का उपयोग करते हैं। वृक्षों तथा जीवों की रचना में इस वर्ग के पदार्थों का महत्वपूर्ण स्थान है। मांस का अधिक भाग नत्रमय प्रथिन ही है। बहुत सी प्रथिन गरम करने और खनिज अम्लों के संयोग से जम जाती है; ये इथर (Ether) और अल्कोहोल में नहीं घुलती। इनकी मुख्य उत्पत्ति वनस्पति संसार में होती है और जीव अपने भोजन के रूप में इसे ग्रहण करता है। मनुष्य शरीर में सर्वदा नत्र प्रथिन के रूप में ही प्राप्त होती रहती है। १ भाग नत्र बनने के लिये ६·२५ भाग प्रथिनों की जरूरत पड़ती है। इसके साथ ही यह भी दर्शा देना अत्यन्त उचित है कि प्रथिन वसा और कर्बोदक की भांति शरीर में संचित नहीं होती जाती, परन्तु भोजन के साथ शरीर में जाकर सम्पूर्ण प्रथिन विश्लिष्ट होकर या व्यय होकर बाहर निकल जाती है। इसलिये कहा जा सकता है कि प्रथिन का बहुत सा भाग नत्रीय पदार्थों के रूप में निम्न अनुपात में मूत्र के साथ बाहर निकल जाता है।

स्वस्थावस्था में मूत्र के भीतर नत्रमय पदार्थों का मिश्रणः—

८४-८७ प्रतिशत मूत्रिया
२-५ प्रतिशत नौसादर मिश्रण
१-३ प्रतिशत मूत्राम्ल
३ प्रतिशत क्रियेटिनिन
१-३ प्रतिशत हिप्यूरिक अम्ल
४-७ प्रतिशत अनिर्णित द्रव्योंका मिश्रण

उक्त अनिर्णित द्रव्यों में ऑक्सि प्यूरीन, जेन्थाइन, एडिनाइन, ग्वानिडाइन, मूत्राम्ल और थियोब्रोमाइड आदिका मिश्रण, जिसे प्यूरिन बोडिज (Purine Bodies) कहते हैं, वह भी सूक्ष्म परिमाण में संमिलित रहता है।

सामान्यतः प्रतिदिन नत्र लगभग १५·२० ग्राम (१। से १॥ तोले तक) मूत्रमार्ग से बाहर निकलता रहता है। यदि भोजन में प्रथिन की मात्रा अधिक होती है, तो मूत्र में नत्र की मात्रा बढ़ जाती है। एवं प्रथिन कम होने पर नत्र परिमाण भी कम हो जाता है। परन्तु पाठकों को इसके साथ ही यह स्मरण रहना चाहिये कि भोजन में अगर प्रथिनों का बिल्कुल अभाव ही हो तो मूत्र में नत्रका अभाव नहीं हो सकता। ऐसी अवस्थामें शरीर के

सूक्ष्म पिण्डों में से प्रथिन विश्लिष्ट होने लगती हैं। अतः नत्रमय पदार्थोंका मूत्रमें कभी अभाव नहीं हो सकता। जबतक परिक्षक को यह मालूम न हो कि, कितनी प्रथिन (नत्र) प्रतिदिन खाया जा रहा है, तब तक मूत्रके उपस्थित नत्रमय पदार्थों के परिमाण का ज्ञान विशेष फलदायी नहीं है, और नहीं रोग निदान में सहायक सिद्ध हो सकता है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि स्वस्थावस्था में १-२ ग्रेन नत्र प्रतिदिन मलके सात्र भी निकलता है।

मूत्रीया (Urea)—नत्रमय सब त्याज्य पदार्थों में से इसका स्राव अधिक होता है। इसका सम्बन्ध भोजन में ली हुई प्रथिनों के परिमाण से अधिक रहती है। दूध, दही, मास आदि द्रव्य, जो ग्रहण किये हो, उनकी प्रथिनो का मल मूत्रीया है। मूत्रीया की मात्रा अधिक बढ़ने पर मूत्रमे उग्र वास आती है। सामान्यतः अधिक मांसाहारी के मूत्र में मूत्रीया की मात्रा शाक भोजी के मूत्रकी अपेक्षा अधिक रहती है।

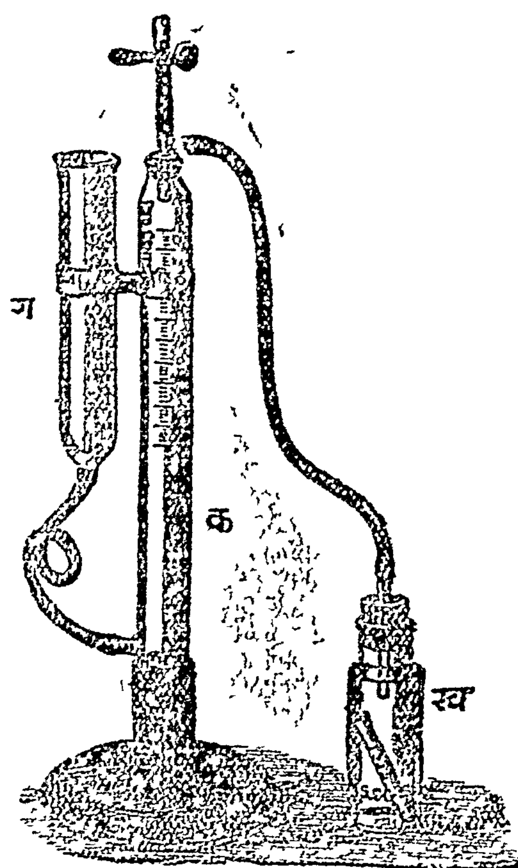
मूत्रीयाकी उपस्थिति निर्णायक परीक्षा—मूत्र मे मूत्रीया है या नही ऐसा संदेह होने पर मूत्र की एक या दो बूंद काच पट्टिका (Slide) पर रक्खे, और उसमें एक बूंद सौरकाम्ल की डालकर स्प्रिट लेम्प पर धीरे-धीरे गरम करें। कुछ समय पश्चात् बाष्प बन कर तरल के उड़जाने के कारण कॉच पट्टिका शुष्क हो जायगी। अगर मूत्र में मूत्रीया उपस्थित होगा तो कॉच पट्टी पर यूरीया नाइट्रेट (Nitrate of urea) स्फटिक अवशेष रह जायेंगे। ये विशेषतः षट्कोणीय रूप मे बनते हैं } आकृति नं० ६५—यूरीया नाइट्रेट (urea nitrate)।

परिमाण कल्पना—मूत्र पर सोडा हाई पो ब्रोमाइड की प्रतिक्रिया द्वारा मूत्रस्थ नत्र की मात्रा निर्धारित की जाती है। एवं मूत्रीया के परिमाण का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। यह विधि रोग विनिर्णय के लिये मूत्रीया की मात्रा पूर्णतया दर्शा देती है, और इस सत्य पर निर्भर हैं कि, सोडा हाई पो-ब्रोमाइड की प्रतिक्रिया से नत्र स्वतत्र हो जाता है। साधारणतः यह नियम है कि, १ ग्राम मूत्रीया से ३७१ सी. सी. नत्र त्याग होता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि नत्र के साथ कुछ कार्बन डाइ ओक्साइड (CO_2) भी मूत्र से स्वतंत्र हो जाती है। इसलिये पहले कार्बन डाई ओक्साइड को कास्टिक सोडा के विलयन द्वारा लीन कर लेना चाहिये। फिर अवशेष नत्र गैस के घनत्व को नापकर उसके अनुसार, परीक्षार्थ लिये हुए मूत्र मे स्थित मूत्रीया के परिमाण को हिसाब लगाकर निश्चित कर लेना चाहिये। यह निश्चित किया गया है कि, ५ सी. सी. मूत्र में जितने सी. सी. नत्र निकले, उसे ०·०५६ से गुणा

करने पर जितना परिमाण निकलता है, उतने ही ग्राम मूत्रीया १०० सी. सी. मूत्र में समझना चाहिए, अर्थात् ५ सी. सी. मूत्र के नत्र को ०'०८६ से गुणा करने पर १०० सी. सी. मूत्र में उपस्थित मूत्रीया का परिमाण ग्रामो में ज्ञात हो जाता है, और अगर इसे ४'३७५ से गुणा कर लिया जाय तो १ औंस मूत्र में मूत्रीय का परिमाण ग्रेनों मे मिल जाता है।

इस विधि को सम्पन्न करने के लिये सोडा हाइपो ब्रोमाइड की प्रतिक्रिया द्वारा मूत्र से निकले हुए नत्र को ग्रहण कर। उसे नापने के लिये अनेक प्रकार के यंत्र प्रयुक्त किये जाते हैं। परन्तु निम्न प्रकार का यंत्र इन सब में मुख्य है।

जीरार्ड का मूत्रीया मापक (Gerrard's ureometer)—इस यंत्र के मध्य में काँच की एक गोल नलिका (क) होती है, जो निश्चित अंकों द्वारा विभाजित होती है। इसके ऊपरी सिरे पर रबर का डाट लगा



चित्र नं० १६०
जीरार्ड का मूत्रिया मापक यंत्र

होता है उसमें एक छिद्र होता है जिसमें 'T' आकार की नलिका रहती है।

नलिका का एक ऊर्ध्व सिरा किलग या टोंटी (Stop cork) द्वारा बन्द रहता है, और दूसरा सिरा एक रबड़ की नलिका से लगा रहता है।

इस रबर की नलिका का निम्न सिरा एक कॉच की नलिका में खुलता है यह कॉच की नलिका एक चौड़े मुँह की बोतल (ख) होती है; जिसकी समाई लगभग ६ औंस होती है। विभाजित नलिका (क) के निम्न भाग में एक छिद्र होता है, जो एक रबर की नलिमा द्वारा गिलास की आकार की कॉच की नलिका (ग) से सम्बन्धित है। यह कॉच की नलिका (ग) ऊपर से खुली हुई होती है। इस नलिका का इतना ही उपयोग है कि यह पानी के भडार का काम देती है। यह एक धातु के बलय द्वारा गोल नलिका (क) रहती है, और इस वलय को इच्छानुसार ऊपर नीचे करके पानी की सतह को निश्चित अक पर लाया जा सकता है।

(क) विभाजित गोल नलिका (Cylinder) (ख) शीशे की बोतल (Flask) (ग) जलाधान नलिका (Reservior)।

यंत्र की प्रयोगविधि—शीशे की बोतल (ख) में २५ सी० सी० हाइपो ब्रोमाइड (Hypobromite) का विलयन (परिशिष्ट योग नं ६)डालें अगर हाइपो ब्रोमाइड का विलयन बोतल में ज्यादा भी डाल दिया जायगा तो किसी प्रकार की हानि की सम्भावना नहीं है, परन्तु परीक्षक को इस बात का निश्चय कर लेना चाहिये कि विलयन की जो मात्रा उसने बोतल मे भरी है वह मूत्र मे स्थित मूत्रिया की सम्भावित सम्पूर्ण मात्रा को मूत्र से विश्लिष्ट करने के लिये पर्याप्त है या नहीं ? क्योंकि अगर इस विलयन की मात्रा कम होगी तो सम्पूर्ण मूत्रिया विश्लिष्ट न होने पायगा। इसलिये परीक्षा से संतोषप्रद परिणाम नहीं मिलेगा। एक कॉच की नलिका में ५ सी० सी० नापकर मूत्र लें; यह नलिका इस यंत्र के साथ ही प्रयोजन के लिये मिलती है।

मूत्र को इस नलिका में लेने से पहिले यह देख लेना चाहिये कि इसमें शुभ्र प्रथिन तो नहीं है। अगर वह है, तो पहले उसे प्रथक करना चाहिये। शुभ्र प्रथिन को दूर करने की सर्वश्रेष्ठ विधि यह है कि किसी निश्चित परिणाम—जैसे ५० सी० सी० मूत्र को नलिका में लेकर उसमें १ या २ बूँद लेकर शुक्ताम्लकी डाले, और कुछ मिनटों के लिये उबाल लें। पश्चात् उसे छानकर शुभ्र प्रथिन को प्रथक् करें, और उबालने से जितना जल बाष्य बनने से कम हुआ हो, उतना मूत्र में मिलाकर पूर्व परिमाण (५० सी० सी०) पूरा कर दें। उसमे से मूत्र ५ सी० सी० की मात्रा में नलिका में लें।

मूत्र से भरी हुई नलिका हाइपो ब्रोमाइड वाली बोतल (ख) के भीतर इस प्रकार सावधानी से रक्खे कि, मूत्र का विलयन से स्पर्श न होने पावे। यह नलिका इतनी लम्बी होती है कि, इसे बोतल में खड़ी कर दी जाय तो हाइपो ब्रोमाइड या ब्रोमाइड के विलयन में नहीं डूबती। इस नलिका को बोतल में रखने का सरल तरीका यह है कि, परीक्षक अपनी कनिष्ठिका को मुंह में फंसा फिर उसे बोतल में डाल, नलिका को बोतल की दीवार के सहारे खड़ा करदे और धीरे से अंगुली को बाहर निकाल लें। इस विधि द्वारा मूत्र और विलयन मिश्रित नहीं होने पाते। जलाधान (ग) को अब पानी से भर दें, और बोतल (ख) के मुंह को कार्क लगाकर बन्द कर दें, अब जलाधार (ग) को स्थिर रखने वाले वलय को खोलें और ऐसे स्थान पर रख कर स्थिर कर दें, कि गोल नलिका (क) में पानी की सतह शून्य (०) पर रहे और जलाधान के पानी की सतह उसके समानान्तर। इस बात का भी ख्याल रखना चाहिये कि गोल नलिका (क) में पानी की सतह शून्य पर होते हुए भी जलाधान नलिका (ग) का काफी हिस्सा रिक्त रहे, अन्यथा प्रयोग काल में पानी उछलकर बाहर निकलने का भय रहता है। गोल नलिका (क) का डाट अच्छी तरह बन्द रहना चाहिये।

उपरोक्त सम्पूर्ण तैयारी करने के पश्चात् हाइपो ब्रोमाइड वाली बोतल को हिलावें, ताकि समस्त मूत्रनालिका से निकल कर, विलयन के साथ मिश्रित हो जायें। मूत्रका विलियन के साथ संयोग होनेसे बुदबुदे उत्पन्न होकर मूत्रसे नत्र विश्लिष्ट होने लगता है और खर नलिका द्वारा विभाजित नलिका (क) में आजाता है। नत्रके दबाव के कारण पानी हट जायगा और गैस उसका स्थान ग्रहण कर लेगी। जितना पानी नत्र के दबाव के कारण विभाजित नलिका (क) में से निकलेगा वह जलाधान नलिका (ग) में चला जायगा, इससे इसमें पानी की सतह ऊपर बढ जायगी। दस मिनट तक प्रतीक्षा करलें, ताकि शीतल होजाय। फिर जलाधान (ग) को नीचे खिसकावें, ताकि उसके पानी की सतह विभाजित नलिका (क) के पानी की सतह के समानान्तर होजाय। अन्त में विभाजित नलिका (क) के अंकों को पढ़कर ज्ञात करलें कि कितना स्थान जल ने त्याग किया और नत्र ने लेलिया है। नलिका (क) पर मूत्रीयाके प्रतिशत अंक दर्शाये गये हैं, नकि नत्र को सी० सी० की मात्रायें। मूत्रीया की मात्रा को दर्शाने वाले उपरोक्त अंकों को नियत करते

से पहले कार्बन डाइ श्रोक्साइड (Carbon di oxide) की मात्रा, जो नत्र के साथ ही विश्लिष्ट होकर विभाजित नलिका (क) मे श्रा जाती है, उसका पूर्ण खयाल कर लेना चाहिये। ताकि मूत्रीया की मात्रा मालूम करने के लिये गणना न करनी पड़े। इस प्रकार मूत्रीया की प्रतिशत मात्रा ज्ञात होजायगी। यदि यह मालूम करना हो कि मूत्र के प्रति श्रौन्स में मूत्रीया कितने ग्रेन है, तो गोल नलिका का को पढ़ने से प्राप्त श्रंकों को ४'३७५ से गुणा करदें।

सामान्यत हाइपो ब्रोमाइट की प्रति क्रिया द्वारा मूत्रीया के नत्रका ७२ प्रतिशत भाग विश्लिष्ट होजाता है। परन्तु मूत्र में शर्करा उपस्थित होने पर इसकी मात्रा ६९ प्र० श० तक बढ़ जाती है। उपरोक्त यन्त्र का नाप सामान्य मूत्रके लिये ही निश्चित किया गया है, इसलिये मधुमेह मे यह जरूरी है कि इस प्रकार प्राप्त श्रंको को $\frac{९२}{९९}$ (०.९३) से गुणा करके ठीक कर लिया जाय।

स्वस्थावस्था में २४ घण्टों में लगभग २० से ३५ ग्राम मूत्रीया मूत्र के साथ निकलता है। यह मूत्र का लगभग २ प्र० श० या १ श्रौन्स मूत्र मे लगभग १० ग्रेन होता है। भोजन मे अधिक प्रथिन लेने तथा ज्वर (मोतीझरा, श्रशुकारी-आमवातिक ज्वर, न्युमोनिया आदि में अधिक प्रथिन क्षय होने से और संखिया तथा फोस्फरस से विषाक्त होने पर देहगत प्रथिन का नाश होने से इसकी मात्रा मूत्र में बढ़ जाती है। न्यून आहार (प्रथिन की न्यून मात्रा) से तथा यकृत् के तीव्र रोगों में यूरिया कम बनने से, और वृक्क के कुछ रोग (आशुकारी वृक्क प्रदाह, चिरकारी वृक्क प्रदाह, वृक्क सन्यास uremia) आदि मे मूत्रीया कम बाहर निकलने से इसकी मात्रा घट जाती है।

विविध औषध सेवन से मूत्रीया का परिमाण न्यूनाधिक होजाता है। स्फुर (फोस्फरस) के सेवन से वृद्धि। अफीम सत्व (मोर्फिया), किनाइन तथा आयोडाइड आफ पोटाशियम आदि के सेवन से ह्रास होजाता है।

सूचना—वैद्य को यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि नत्रसे विश्लिष्ट पदार्थों को मूत्रीया का अन्तिम स्वरूप यकृत् ही प्रदान करता है, अर्थात् यह कहा जासकता है कि, मूत्रीया यकृत् में ही बनता है; वृक्क का काम तो सिर्फ उसे रक्त से पृथक् करके बाहर निकाल

देना है। इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि रोगी के मूत्र के मूत्रीया के परिमाण को ज्ञात कर लेना उस समय तक निरर्थक है जब तक कि, यह मालूम न कर लिया जाय कि रोगी कितना नत्र प्रतिदिन सेवन कर रहा है।

आमोनिया के परिमाण की कल्पना—इसके लिये फोलीन (folins) की विधि सर्वश्रेष्ठ है, परन्तु इसके लिये एक विशेष प्रकार के यन्त्र की आवश्यकता है। अतः सर्वसाधारण के लिये प्राप्त करना कठिन है। फार्मल्डीहाइड की विधि रोग विनिर्णय के लिये सरल और उपयोगी है। इसका वर्णन पहले मूत्र प्रतिक्रिया के आरम्भ में किया गया है।

साधारण भोजन खाने से चौबीस घण्टे में औसतन ½ से १ ग्राम तक अमोनिया मूत्र द्वारा बाहर निकलता है; और इसमें मुक्त हुआ नत्र, मूत्र की प्रति दिन की कुल नत्र का २ से ५ प्र० श० है। मूत्र में अमोनिया की मात्रा अधिक अम्लीय पदार्थों के सेवन या शरीर में अधिक अम्ल की उत्पत्ति के कारण बढ़ जाती है। इसलिये अमोनिया से उत्पन्न होने वाला नत्र का परिमाण उन सब अवस्थाओं में बढ़ जाता है, जिनमें रक्त की अम्लता बढ़ जाती है। जैसे मधुमेह, सगर्भा की त्रिदोषज वमन (malignant tipe of the Vomiting) अधिक समय तक क्लोरोफार्म देने से भी उत्पन्न विष आदि में।

मूत्राम्ल (uric acid):—मूत्र में यह क्षारों के साथ मिश्रित स्फटिक रूप में मिलता है। क्योंकि यह अम्ल दो समान आधार वाला (dibasic) है। इसलिये इससे दो प्रकार के लवण स्फटिक (यूरेट्स) निर्मित होते हैं। १ सामान्य और २ अम्लीय। कुछ अवस्था में मूत्राम्ल मूत्र से मुक्त होकर स्फटिकाकार बन जाता है और स्वयं मिर्चिना निक्षेप (cayenne pepper deposit) के रूप में पृथक् हो जाता है। इस तरह अम्लीय लवण भी स्फटिक रूप से मुक्त होकर पृथक् हो जाता है। यदि दोनों प्रकार के निक्षेप मूत्र मार्ग (वृक्क गवीनियाँ, मूत्राशय) में पृथक् हो जायँ तो मूत्रशर्करा या अश्मरी (gravel or stone) रोग की उत्पत्ति हो जाती है। इसकी विशेष पहचान का वर्णन अणुवीक्षणिय-परीक्षा में किया जायगा। निम्नोक्त अवस्थायें मूत्राम्ल और अम्लीय लवण को निक्षेप रूप में मूत्र से पृथक् करने में सहायक सिद्ध होती हैं।

१ मूत्र में मूत्राम्ल की अधिक मात्रा में उपस्थिति।
२ मूत्र का अत्यधिक अम्ल होना।
३ लवणों की न्यूनमात्रा में उपस्थिति और रंजक द्रव्य की कुछ अंश में उपस्थित।
४ शीत का आधिक्य।

अगर मूत्राम्ल ज्यादा परिमाण मे उपस्थित हो, तो फेलिंगविलयन (Fehling's solution) का रंग बदल जाता है।

परिमाण कल्पना विधिः—रोग विनिर्णय के लिये मूत्राम्ल की मात्रा को प्रतीत करने की होपकिन्स की विधि (Hopkin's method) सब से श्रेष्ठ है, जिसे फोलीन ने संशोधित किया है। यह विधि इस बात पर आश्रित है कि अमोनिया के मूत्राम्लीय लवण क्षार (Ammonium urates) अमोनियम सल्फेट (Ammonium sulphate) के संतृप्त (Saturated) विलयन में अघुलनशील (Insoluble) है। एक निश्चित परिमाण के मूत्र को अमोनियम सल्फेट के साथ मिलाने से उसमें स्थित सम्पूर्ण मूत्राम्ल अमोनिया के अम्लीय स्फटिक (यूरेट्स) के रूपमे पृथक होजायगा, जो संचित किया जा सकता है। फिर इसमें से मूत्राम्ल पृथक किया जाता है, और तोलकर या पोटाश परमेंगनेट की विलेय मापन क्रिया (Titration)* द्वारा उसका परिमाण प्रतीत करलिया जाता है। इसकी विधि निम्न प्रकार है।

(१) १०० सी.सी. मूत्र को आवश्यकतानुसार ४५°C पर अच्छी प्रकार गरम करके उसमें अमोनिया सल्फेट का चूर्ण उस परिमाण में मिलावे कि विलयन सतृप्त होजाय। लगभग ३० ग्राम अमोनियम सल्फेट की आवश्यकता पड़ेगी। अमोनियम-सल्फेट इसमें इतनी शीघ्रता से लीन हो जाता है, कि थोड़े थोड़े से समय के अन्तर पर इसे हिला देने से कुछ ही समय में अमोनियम सल्फेट का अधिक भाग लीन हो जायगा और कुछ कण निचेर रूप से शेष रह जायेंगे। इस बात की बहुत सम्भावना है कि अमोनियम

---

* किसी विलयन के निश्चित आयतन में घुली हुई वस्तु का परिमाण निकालने की रासायनिक क्रिया। परीक्षा विलयन के निश्चित आयतन में बूंद बूंद करके एक प्रमाणित-विलयन मिलाया जाता है, जब तक कि सूचक (Indicator) द्वारा रासायनिक क्रिया के अंत का पता न लग जाय। जितना प्रमाणित-विलयन मिलाया गया हो उससे गणना करके निश्चित परिमाण निकाल लेते हैं।

सल्फेट के मिलाने के कारण तापका जो आरम्भ में पतन हुआ था वह पुनः कुछ समय बाद बढ जाने पर, जो अमोनियम सल्फेट के कण निक्षेप रूप में शेष रहे थे लीन होजाय, परन्तु, इसबात पर ध्यान न देकर इसे संतृप्त विलयन ही समझना चाहिये।

(२) इसमे थोडा सा अमोनिया मिलाकर क्षारीय करलें।

(३) १ या १½ घटे तक इसे स्थिर रख देने के पश्चात् छानकर प्रक्षेपको पृथक् करलें। और अमोनियम सल्फेट के संतृप्त विलयन द्वारा इस निक्षेप को कई बार धोलें।

(४) गरम पानी की टोंटी की सहायता से फिल्टर पर पानी डालकर निक्षेप को किसी कॉच नलिका में लेलें। तत्पश्चात् उसमे एक चुटकी (Pinch) भरके सोडा कार्बोनेट (Carbonate of soda) डालकर उस समय तक गरम करें जब तक कि, सम्पूर्ण निक्षेप लीन न होजाय।

(५) १०० सी सी में जितना कम हो उतना स्रवित जल मिलाकर विलयन को १०० सी सी बनालें।

(६) २० सी.सी. तेज गधकाम्ल (Sulphuric acid) डालें।

(७) उसी समय गरम गरम मे ही निश्चित परिमाण में $\frac{१}{२०}$ नार्मल पोटास परमेगनेट का विलयन धीरे धीरे डाल कर विलेयमापन क्रिया उत्पन्न करें। विलयन १ ५७८ ग्राम पोटास परमेंगनेट प्रतिलिटर (१००० सी.सी) मे डालकर तैयार किया जा सकता है।

(८) इस प्रकार धीरे धीरे उपर्युक्त विलयन डालते व हिलाते रहने से जब ही कुछ सैकण्डो तकस्थिर रहने वाला गुलाबी रग उत्पन्न हो जाय तब ही विलेय मापन क्रिया उत्पन्न हुई समझें और पोटाश परमेगनेट का विलयन डालना बंद करदें। अत्यन्त चतुराई और ध्यान पूर्वक गुलाबी रग की उत्पत्ति देखते रहना चाहिये। क्योंकि यह कुछ ही सैकण्डो मे फिर गायब हो जाता है। इसके साथ ही यह भी स्मरण रक्खें कि गुलाबी रंग का उत्पन्न होकर कुछ सैकड़ो के लिये स्थिर रह जाना ही इसके लिये पर्याप्त है। इसके पुनः अदृश्य हो जाने का परीक्षा के लिये कुछ भी महत्व नहीं है।

(९) पोटाश परमेगनेट के शेष रहे विलयन को नापकर देखलें कि, कितना विलयन विलेयमापन क्रिया उत्पन्न करने मे व्यय हुआ है? परीक्षणों द्वारा निश्चय किया गया है कि, पोटाश परमेगनेट का १ सी.सी. विलयन ०·००३७५ ग्राम मूत्राम्ल के लिये पर्याप्त है; अर्थात् मूत्र मे ०·००३७५ ग्राम

मूत्राम्ल है तो १ सी.सी पोटाश परमेंगनेट के विलयन से विलेयमापन क्रिया उत्पन्न हो जायगी।

वक्तव्य—अगर मूत्र में पित्त-रंजक (Bile Pigment) उपस्थित है तो पोटाश परमेंगनेट के विलयन द्वारा विलेयमापन क्रिया उत्पन्न करके मूत्राम्लका परिमाण ज्ञात करने मे प्रतिबंध होता है। ऐसी अवस्था में तौल-करके ही मूत्राम्ल के परिमाण को प्रतीत करना चाहिये। इस विधि मे एक और कठिनाई का परीक्षक को सामना करना पड़ता है। वह यह है कि, अमोनियम सल्फेट मिलाने पर मूत्र इतना गाढा होजाता है कि फिल्टर पेपर से धीरे धीरे बड़ी कठिनाई से छनता है। इस कठिनाई से बचने के लिये फिल्टर पेपर के स्थान पर "काचकी रूई (Glasswool)*" को प्रयुक्त करना चाहिये। इसके लिये कुछ अभ्यास और अनुभव की आवश्यकता है, क्योंकि इसे इस अन्दाजे के साथ छाने जाने वाले विलयन के बर्त्तन में स्थिर करना पड़ता है कि, निक्षेप तो बर्त्तन मे ही रह जाय और तरल शीघ्रता से छन जाय। अगर यह कुछ ढीला रह जायगा तो निक्षेप भी तरल के साथ छन जायगा और तग होगा तो तरल को छनने में काफी समय लगेगा।

शुभ्र प्रथिन की उपस्थिति उपर्युक्त विधियो पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डालती। अगर परीक्ष्यमूत्र मे मूत्राम्ल या मूत्रलवण स्फटिक विद्यमान है तो उसे अच्छी प्रकार हिलाकर मिला लेना चाहिये। ताकि सच्चा परिमाण मिल सके। या इसमे कुछ बूंदे अमोनिया की डाल गरम कर निक्षेप को द्रव बनाले। अगर फास्फेट्स के निक्षेप हो तो उन पर ध्यान देने की आवश्यकता नही है।

स्वस्थावस्था में २४ घंटो में ०·४ से ०·७ ग्राम (७ से १० ग्रेन)मूत्राम्ल या मूत्र लवणक्षार मूत्र के साथ बाहर निकलता है। इसका परिमाण भोजन में विद्यमान कोषाणुकेन्द्रस्थ प्रथिनो(Nucleo Proteins)†पर निर्भर है यह उन रोगों मे बढ़ जाता है, जिन कोषाणुओं के केन्द्रो का अपचय [क्षय] अधिक

---

* पिघले हुए काच से बने हुए बारीक तार जो बिल्कुल रुई के समान मालूम पड़ते हैं। ये अक्सर गैसों को छानने के काम में आते हैं।

† कोषाणु केन्द्र प्रथिन विशेषतः यकृत्, अग्न्याशय, बालग्रैवेयक ग्रन्थि (Thymus gland) लसी का ग्रन्थियाँ और वृषण में अधिक रहती है। इस प्रथिन मे स्फुर अधिक होता है।

हो रहा हो। यथाहि मज्जावृद्धि जन्य श्वेताणु वृद्धि (Mylloid Leukaemia) में २४ घंटो में इसकी मात्रा ४ ग्राम तक हो जाती है। एवं आशुकारी ज्वरों में भी यह बढ़ जाता है। इसके विपरीत जीर्ण वात रक्त (Gout) में और कुनीन सेवन के पश्चात् घट जाती है।

पाठकों को पुनः सूचित कर देना उचित समझते हैं कि मूत्र में मूत्राम्ल और मूत्र लवण क्षार की उपस्थिति से यह अनुमान कर लेना कि, शरीर में मूत्राम्ल अधिक बन रहा है, यह मान्यता सर्वथा भ्रमोत्पादक है।

प्यूरिन ग्रथिन(Purin basis)—कोषाणु केन्द्रों के विनाशसे मुख्य दो पदार्थों की उत्पत्ति होती है। १. मूत्राम्ल २. क्षारीय द्रव्य (Basic bodies), जिसे कोषाणु केन्द्र (Nuclein) या प्यूरिन कहा जा सकता है, इसकी मूत्राम्ल से इस बात में भिन्नता है, कि इसकी प्रतिक्रिया क्षारीय होती है। इस ग्रथिन में अनेक उपप्रकार हैं। जिनमें हाइपो ज़ेन्थिन (Hypoxanthin), ऐडेनिन (Adenin), जेन्थिन (Xanthin) और ग्वानिन (Guanin) मुख्य हैं। इनसे उत्पन्न नत्र मूत्र के सब नत्र का १ से ५ प्रतिशत है। मूत्राम्ल की भाँति प्यूरिन भी श्वेताणु वृद्धि तथा आशुकारी ज्वर आदि व्याधियो में बढ़ जाती है, जिनमें कोषाणु केन्द्रों का विनाश अधिक होता है। किन्तु वातरक्त (Gout) में यह मूत्राम्ल के समान नहीं घटती।

क्रियेटीनिन—(Creatinin) यह एक क्षारीय द्रव्य है जो ऍमिनो अम्ल के उपप्रकार क्रियेटिन (Creatin) ग्रथिन में से पानी निकल जाने पर बन जाता है। क्रियेटिन स्फटिकाकार में परिवर्तन होने योग्य नत्रमय द्रव्य है। यह माँस रस से प्राप्त किया जा सकता है। शरीर में इसकी उत्पत्ति यकृत् आदि के अपचय से तथा मांसाहारियों के माँस खाने से होती है स्वस्थावस्था में मूत्र में इसकी मात्रा सर्वदा लगभग समान ही रहती है। भोजन आदि का इस पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता एवं यह किसी रोग विशेष का निर्णायक चिह्न भी नहीं है। अनुमान है कि, यह न्युमोनिया, ऑन्त्रिक ज्वर, धनुस्तंभ (Titanus) में बढ़ जाता है; और श्वेताणु वृद्धि, पाण्डु, वृक्कों की अपक्रांति (Degeneration of kidneys), यकृत् की अपक्रान्ति (Degeneration of liver), मांसपेशी शोष (Atrophy of Muscles) और पक्षाघात में घट जाता है। २४ घण्टों में यह लगभग १ ग्राम मूत्र के साथ निकलती है। यह भी मूत्राम्ल की भाँति फेह्लिंग विकलनयो विघर्ण कर देती है।

हिप्युरिक एसिड [Hippuric acid]:— यह मूत्र में सोडियम हिप्युरेट (Hippurate of sodium) के रूप में निकलता है। यह लगभग ½ ग्राम प्रतिदिन मूत्र के साथ निकलता है लोहवानाम्ल [Benzoic acid] का औषधि रूप में प्रयोग करने या बेर आदि फल, जिनमें राल आदि युक्त सुगन्धित अम्ल समूह [Aromatic acids] हो, खाने से इसकी मात्रा बढ़ जाती है। रोग संप्राप्ति के साथ इसका क्या सम्बन्ध है, यह अभी ज्ञात करना अवशेष है।

४. मूत्र में अस्वाभाविक रासायनिक द्रव्य।

(१) प्रथिन (Proteins)

रक्त जल में पाई जाने वाली ३ प्रथिन है। १' रक्तरसज शुभ्रप्रथिन (Serum albumin) २. रक्तरसज ग्लोब्युलिन (Serum globulin)* और ३-रक्ततन्तुजनक [Fibrinogen] उपर्युक्त तीनों प्रथिन या सिर्फ एक ही मूत्र मे पायी जा सकती है इसके अतिरिक्त श्लेष्म प्रथिन [Mucin] और कोषाणु केन्द्र प्रथिन [Nucleo Protien] मिलकर योगिक प्रथिन तथा मूलभूत और गौण प्रोटियोसिज [Proteosis]† प्रथिन भी कभी कभी मूत्र में उपस्थित हो जाते हैं। इसमें अभी सदेह है कि सच्ची पैप्टोन प्रथिन [True peptone]§ भी कभी कभी मूत्र में पायी जाती है या नहीं? यह अब सिद्ध हो गया है कि, इनमें से दो श्लेष्म प्रथिन और कोषाणु केन्द्र प्रथिन न्यून मात्रा मे मूत्र के भीतर स्वस्थावस्था में भी मिलती हैं। ये मूत्र में तब मिलते हैं जबकि मूत्र वृक्कों द्वारा पृथक होकर मूत्र मार्ग में से गुजरता है।

---

*ग्लोब्यूलिन प्रथिन विशेषतः रक्तरस, अण्डे, माँस तथा नेत्रस्थ काँच में मिलती है। यह नमक जल में द्रवीभूत होती है।

† इसकी रचना प्रथिन पिण्ड का विदारण होकर रस निकल जाने पर होती है। यह अमिनो अम्ल से संबंध रहित है। इसके २ प्रकार हैं। जो अमोनिया सल्फेट से अर्ध संतृप्त होने पर तलस्थ होता है, वह मूलभूत है। और पूर्ण संतृप्त होने पर गौण कहलाता है।

§ पैप्टोन प्रथिन अम्ल और मण्ड, दोनों में से किसी भी एकसे सादी प्रथिन का द्रवीकरण होने पर बनती है। यह जल में घुल जाती है। यह उष्णता, अमोनिया, क्षारीय या अम्लीय क्रिया द्वारा अधः पतित नहीं होती। एवं चर्म पत्र में से पार निकल जाती है।

परन्तु स्वस्थावस्था मे ये इतने न्यून परिमाण मे उपस्थित होते हैं कि, इन पर ध्यान देना निरर्थक है।

यह भी सत्य है कि शुभ्र प्रथिन भी पूर्ण स्वस्थ मनुष्यो के मूत्र मे उपस्थित होता है। स्वस्थ दुग्ध बच्चों के मूत्र की साधारण सी परीक्षा करने पर इसकी उपस्थिति के चिह्न प्रगट हो जाते हैं, परन्तु साधारणतया यह इतना न्यून परिमाण में होता है कि, रोग विनिर्णयार्थ कीगई साधारण परीक्षा द्वारा प्रतीत नहीं हो सकता। शुभ्र प्रथिन की उपस्थिति के कारणो का निर्णय, और इसके व्यापारिक (Functional) तथा सेंद्रिय (organic) भेदो की पहचान करना हम यहाँ उपयुक्त नही समझते। इनका वर्णन इस पुस्तक की सीमा के बाहर है। शुभ्रप्रथिन के सब प्रकारो के लिये एक ही नाम प्रयुक्त होता है। लसीकामेह (Albuminurea)* रासायनिक तौर पर की गई परीक्षा से सिर्फ प्रथिन की उपस्थिति प्रतीत होजाती है; परन्तु इससे यह ज्ञात नहीं हो सकता है कि इनकी उपस्थिति किस कारण से है।

मूत्र पिण्डोमें संचालित रक्त के प्रत्यागमन मे कुछ प्रतिबंध होने पर मूत्र में प्रथिन जाने लगती है। वृक्क प्रदाह होने पर यह नियमित रूप से निकलती है। विविध ज्वर रोगो में भी कुछ अंश में जाती है। इनके अतिरिक्त सीसा धातु से विषाक्त होने पर, सगर्भावस्था मे कभी कभी, तथा अपस्मार के आक्रमण के पश्चात् शुभ्र प्रथिन निकलती है। यदि मूत्र में शुक्र रक्त या पूय जाने लगे, तो उनके साथ भी यह उपस्थित होती है।

१. रक्तरस शुभ्रप्रथिन और रक्तरस ग्लोब्युलिन प्रथिन— मूत्र मे प्रायः ये दो प्रकार की प्रथिन ही पायी जाती हैं। ये दोनो प्रथिन पृथक् पृथक् या एक साथ ही, दोनः रूपसे मूत्र के भीतर उपस्थित हो सकती हैं। अक्सर ये दोनो प्रथिन एक साथ ही सम्मिलित रूपसे मूत्रमे विद्यमान रहती हैं। और इसे ही लसीकामेह (Albuminuria) के नाम से पुकारा जाता है। दोनो प्रथिनो की अनुपातिक मात्रा मे अवस्था अनुसार काफी भिन्नता होजाती है। परन्तु साधारणतः शुभ्रप्रथिन ग्लोब्युलिन की तुलना मे काफी अधिक मात्रा मे पायी जाती है। रोग विनिर्णय के लिये इनकी मात्राओं

---

*लसीकामेह मे मूत्र के साथ लसीका जाती है। सामान्यतः वृक्कों द्वारा रक्त मे से केवल मूत्र पृथक होकर गवीनी में आता है। वृक्क लसीका को मूत्र में नहीं जाने देता।

की विभिन्नता का कोई महत्व नहीं है। जब तक कि पृथक् नाम का उल्लेख
न हो शुभ्र प्रथिन के उल्लेख मात्र से ग्लोब्युलिन की उपस्थिति भी समझ
लेनी चाहिये।

सूचना—शुभ्रप्रथिन के निर्णयार्थ मूत्र की परीक्षा करने से पूर्व मूत्रको
अच्छी तरह फिल्टर पेपर से छानकर स्वच्छ कर लेना चाहिये। अगर मूत्र
को एक से अधिक समय छान लेने पर भी वह गंदला ही रहे, तो उसमें
कीटाणुओं की उपस्थिति सम्भव है। ऐसी सम्भावना होने पर मूत्रको काफी
समय तक "परिभ्रामक यन्त्र" द्वारा केन्द्रापसारी क्रिया करके कीटाणुओं को
पृथक् करले; या बेरियम कार्बोनेट (Barium Carbonate) के चूर्ण
की रासायनिक क्रिया द्वारा पृथक् करके छानले।

पहली परीक्षाविधि—एक परीक्षा नली लें, जो बाहर और भीतर
से साफ हो, उसको लगभग दो तिहाई मूत्र से भरदें। नली को टेढ़ी पकड़कर
"बुनसैन (Bunsen)" के गैस के दीपक की ज्वालापर मूत्र के ऊपर के
भागको गरम करें। इस बात का पूर्ण ख्याल रक्खें, कि मूत्र हिलने न पाय।
इसे गरम इतनाकरना चाहिये कि, ऊपरी भाग उबलने लग जाय। उबले हुए मूत्र
की नीचे के मूत्र से तुलना करें। अगर शुभ्र प्रथिन होगी तो ऊपर का भाग
जो उबाला गया है वह सफेद है बदल सदृश प्रतीत होगा। अगर उबालने से
अस्वच्छता उत्पन्न हो तो परीक्षा को समाप्त न करके उसमें कुछ बूँद
२ प्र० श० शुक्राम्ल डालें। इस अम्लके डालने पर भी अगर मूत्र का
उबाला हुआ भाग स्वच्छ ही रहे तो शुभ्र प्रथिन की अनुपस्थिति समझें।
अगर उबालने मात्र से मूत्र मे अस्वच्छता उत्पन्न होजाय, तो यह परिवर्त्तन
शुभ्रप्रथिन और खनिज फास्फेट्स दोनो की उपस्थिति से हो सकता है। इनमे
परस्पर भेद करने के लिये उपर्युक्त शुक्राम्ल की कुछ बूँदे अस्वच्छ हुऐ मूत्र
मे अवश्य डालनी चाहिये। क्योंकि शुक्राम्लके डालने पर भी अस्वच्छता
विद्यमान रहे तो शुभ्रप्रथिन की उपस्थिति समझना चाहिये।

सूचना—मूत्र की प्रतिक्रिया चाहे क्षारीय हो या अम्लीय, उसे
शुक्राम्ल मिलाने से पहले अवश्य उबालें। एव उबालने के पश्चात् चाहे
अस्वच्छता उत्पन्न हो या न हो शुक्राम्ल अवश्य मिलावें।

दूसरी परीक्षाविधि—यह शुभ्रप्रथिन की उपस्थिति प्रतीत करने
की सब विधियों मे शीघ्रग्राही और विश्वसनीय विधि है। इसमे रासायनिक
प्रतिक्रिया उत्पन्न करने के लिये सेलिसिल सल्फोनिक एसिड (Salicyl sul-

phonic acid) प्रयुक्त किया जाता है। यह अम्ल दाहक नहीं है, पर इस विधि में अपूर्व लाभ है। इसी कारण से यह विधि सरलता से की जा सकती है। एक परीक्षा नली में २ सी. सी. विशुद्ध मूत्र भरकर उसमें कुछ बूंदें उक्त संतृप्त एसिड की डालें। अगर श्वेत वर्ण का निक्षेप उत्पन्न हो जाय तो शुभ्रप्रथिन, कोषाणु केन्द्र प्रथिन या प्रोटि ओसिज़ (Proteoses) की उपस्थिति समझें। अगर प्रोटिओसिज की उपस्थिति के कारण श्वेत निक्षेप उत्पन्न हुआ है तो वह मूत्र को गरम करने से लीन हो जायेगा। और पुनः शीतल होने पर निक्षेप रूप से पृथक् हो जायगा।

परिमाण- परीक्षा:—रोग विनिर्णय के लिये एस्बक की शुभ्र प्रथिन मापक नलिका (Albuminimeter) द्वारा इसका ठीक ठीक परिमाण प्रतीत हो जाता है। यह एक मोटे कॉंच की लम्बी नलिका है जो ० से ७ तक के अंकों द्वारा विभाजित होती है। इस नलिका में U चिह्न तक मूत्र भरें। फिर R तक ६ प्र० श० पिक्रिक एसिड मिला कर २४ घण्टे तक एक ओर रख देवें। सारा निक्षेप नीचे बैठ जाने पर नलिका पर स्थित अंकों को पढ़ कर शुभ्रप्रथिन का परिमाण प्रतीत करलें।

प्रयोगविधि:—अगर मूत्र स्वच्छ न हो, तो उसे छान लें। मूत्र क्षारीय हो, तो उसमें थोडा सा शुक्ताम्ल मिला कर अम्लीय बना लें अगर मूत्र का आपेक्षिक गुरुत्व अधिक हो तो १००८ या इससे न्यून करलें। मूत्र को नलिका में U के अंक तक ही भरें उसके ऊपर R के अंक तक पिक्रिक एसिड का विलयन (परिशिष्ट नं० १० में वर्णित) डालें। फिर नलिका के मुंह को रबर का डाट लगा कर बंद कर दें और नली को धीरे धीरे कुछ बार ऊपर नीचे करदें ताकि अम्ल और मूत्र अच्छी प्रकार से मिल जायें। } चित्र नं०.................... (Esbuch's albuminimeter) फिर नलिका को २४ घंटों के लिये एकान्त स्थान में रखदें। सम्पूर्ण निक्षेप नीचे बैठ जाने पर देखें कि किस अङ्क तक यह एकत्रित हुआ है? नली के ऊपर अङ्कित अंकों द्वारा प्रति लिटर (प्रति १००० सी. सी.) में उपस्थित शुभ्रप्रथिन की मात्रा ग्रामों में विदित होती है।

मूत्र में शुभ्र प्रथिन की मात्रा प्रतिशत के हिसाब से जाननी हो तो इसे १० से विभाजित करें। अगर मूत्र का आपेक्षिक घनत्व अधिक होने के कारण पानी मिला कर हल्का किया गया हो, तो जितना पानी मिलाया हो, उतने ही से परिणाम को गुणा करें।

इस विधि से शुभ्र प्रथिन की लगभग मात्रा विदित होती है, न कि बिल्कुल सत्य मात्रा, क्योंकि पृथक् पृथक् मनुष्यों के मूत्र के निक्षेप की घनता और अधः पतन होने का समय दोनों ही भिन्न भिन्न होते हैं।

सूचनाः—(१) अगर मूत्र में शुभ्र प्रथिन बहुत कम परिमाण में है तो वह इस यंत्र द्वारा विदित नहीं हो सकेगी; क्योकि इससे ०'१ प्रतिशत से कम शुभ्र प्रथिन की उपस्थित अंकित नहीं हो सकती है।

(२) अगर प्रथम बार परीक्षा करने से निक्षेप ४ के अंक से भी ऊपर तक एकत्रित हो जाय, तो मूत्र को हल्का करके दूसरी बार परीक्षा करनी चाहिये।

गौण लसिका मेह—(Proteosuria, Peptonuria, Albumesuria) मूत्र में सच्चा पैप्टोन जाने का निर्णय न होने से डाक्टरी में इसे प्रोटियो सूरिया संज्ञा देना ज्यादा युक्ति युक्त माना है। रोग विनिर्णय के लिये मूत्र में "प्रोटिओस" की उपस्थिति का अभी कोई महत्व नहीं मालूम हुआ। अनुसंधान द्वारा यह जाना गया है कि किसी भी संक्रामक रोग मे ये मूत्र में उपस्थित हो सकती है; जहाँ सूक्ष्म कीटाणुओं की क्रिया से तन्तुओं का विगलन (Disintegration) हो रहा हो। उदा० श्वसनक ज्वर से पीड़ित रोगी के मूत्र मे। एव उन रोगों मे जिनमे पूय बड़ी मात्रा मे शरीर मे संगृहीत हो जाती हो, ये निश्चित रूप से मूत्र में प्रतीत हो सकती है। जैसे—पूयभृत फुफ्फुसावरण प्रदाह (Empyema) या शरीर के अन्य गह्वर मे पूय भर जाना, तथा दीर्घ विद्रधि की उत्पत्ति में वृक्क प्रदाह (Nephritis) के भी किसी किसी रोगी के मूत्र में ये काफी परिमाण मे मिलती हैं। इन अवस्थाओं में प्रोटियोज़ की मूत्र मे उपस्थिति अस्थायी और कम महत्व की है, इसलिये रोग-निर्णय के लिये इसे अधिक महत्व नही दिया।

"प्रोटि ओसिज़" के दो प्रकार हैं—१. मुख्य और २. गौण। गौण प्रकार की प्रोटि ओसिज पैप्टोन से अधिक समानता वाली है। रोग विनिर्णय के लिये इसके दोनों प्रकारों मे भेद करने की आवश्यकता नही है। रोग निदान में इसका कुछ भी महत्व नहीं है। सर्व प्रथम यह देख लें कि परीक्ष्य मूत्र में शुभ्र प्रथिन तो नही है ? तत्पश्चात् निम्नप्रकार से परीक्षा करे।

परीक्षा विधि (१) छने हुए और आवश्यकता होने पर अम्लीय किए हुए मूत्र मे कुछ बूंदें सैलसिल- सल्फोनिक एसिड की (Salcyl

sulphonic acid) डालें । फिर उबालकर, उसे गरम गरम ही छानले । अगर शीतल हो जाने के पश्चात् छना हुआ मूत्र गंदला हो जाय तो "प्रोटि ओसिज" की उपस्थिति समझें ।

वक्तव्य—अगर मूत्र में अएटी पाइरीन, कुनैन और कोई राल जगाय पदार्थ विद्यमान है, तो उससे भी उपरोक्त परीक्षा विधि द्वारा प्रोटि ओसिज के समान ही प्रतिक्रिया उत्पन्न होगी ।

(२) परीक्ष्य मूत्र में साधारण नमक का सतृप्त विलयन उसके बराबर मिलावें, और फिर बूँद २ करके शुक्ताम्ल उस समय तक डालें, जब तक कि उसमें बादल के समान गँदलापन उत्पन्न हो जाय । अगर गरम करने पर वह गँदलापन लीन हो जाय और शीतल होने पर पुन. प्रगट हो जाय तो प्रोटि-ओसिज की उपस्थिति समझें । दोनों प्रकार के प्रोटि ओसिज इस प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं ।

वक्तव्य—अगर मूत्र में शुभ्र प्रथिन है, तो प्रोटिओसिज की उपस्थिति के लिये परीक्षा करने से पूर्व उसे पृथक् कर देना चाहिये । इस प्रयोजन के लिये मूत्र को उबाल कर, एक या दो बूँद शुक्ताम्ल डाल, और पुनः दो मिनिट उबाल लें । फिर छानकर उपरोक्त विधि द्वारा परीक्षा करें ।

३. कोषाणु केन्द्र प्रथिन

(३) न्युक्लिओ प्रोटन्यूरिया और म्यूसिन्यूरिया (Nucleo Proteinuria Mucinuria):—हम पहले ही लिख चुके हैं कि कोषाणु केन्द्र प्रथिन (या इस के समान अन्य पदार्थ) और श्लेष्म प्रथिन दोनों ही स्वस्थावस्था में भी मूत्र के भीतर विद्यमान रहती हैं । यह भी सम्भव है कि मूत्र में विद्यमान श्लेष्मा (Mucus) का अधिक भाग इन्हीं के द्वारा निर्मित होता है । मूत्र मार्ग का प्रदाह मुख्यतया मूत्राशय का प्रदाह होने पर मूत्र में श्लेष्मा, शायद सच्ची श्लेष्मा का परिमाण बढ जाता है, और इसी को डाक्टरी में म्यूसिन्यूरिया (Mucinuria) संज्ञा दी है । जब तक मूत्र अम्लीय रहता है, तब तक श्लेष्मा उसमें अघुलनशील होती है, इसलिये वह मूत्र पात्र में अधः क्षित रहती है । यह श्लेष्मा पूय के समान भासती है । इसलिये संदेह हो सकता है । परन्तु अणुवीक्षण यंत्र द्वारा पूयकोषाणु (Pus cells) की उपस्थिति या अनुपस्थिति प्रतीत करके संशय दूर किया जा सकता है ।

अगर मूत्र क्षारीय है, तो मूत्र में उपस्थित श्लेष्मा का कुछ अंश या सम्पूर्ण श्लेष्मा ही मूत्र में विलीन रहती है । ऐसी अवस्था में मूत्र में कुछ

बूँदें शुक्राम्लकी डाल;मूत्रको अम्लीय कर के श्लेष्मा पृथक् की जा सकती है। मूत्र में सफेद रंग का बादल सा उपस्थित हो और, वह उबालने पर बढ़ जाय तो निश्चय ही श्लेष्मा की उपस्थिति समझें। अगर परीक्षा से पूर्व मूत्र को उसी के घनफल के समान पानी मिलाकर, हल्का कर लिया जायगा तो परीक्षा करने मे सरलता होगी, तथा सफलता की अधिक सम्भावना रहेगी;क्योंकि मूत्र मे यदि लवण अधिक परिमाण मे विद्यमान् हैं, तो तलस्थ होने वाले द्रव्य को बाधा हो सकती है। पानी मिलाकर हल्का कर लेने पर यह प्रतिबन्ध नहीं होता। परीक्षा से पूर्व मूत्र को हल्का कर लेने से एक यह भी लाभ होता है कि समाहृत मूत्र मे शुक्राम्ल मिलाने से उत्पन्न मूत्र लवण क्षार के निक्षेप की उत्पति से परीक्षक धोखा खाने से बच जाता है। रोग विनिर्णय के लिये कोई ऐसी साधारण परीक्षा विधि नही है, जिससे श्लेष्म प्रथिन और कोषाणु केन्द्र प्रथिन मे भेद कर सके।

(४) **बेन्स जोन्स प्रथिन** (Bence jones protein)—यह इसके आविष्कर्त्ता के नाम से ही पुकारा जाता है। यह एक प्रकार का एल्ब्युमिन पदार्थ है। यह और इसी के समान अन्य प्रथिन, विस्तृत अस्थि-अर्बुद (Multiple myelomatosis) * रोग मे अक्सर जाती है। यह प्रथिन रक्त मे श्वेताणु वृद्धि (Leukaemia) होने पर भी कभी कभी मूत्र मे मिलती है। यह मूत्र की अन्य जमने वाली प्रथिनों की तुलना मे कम तापांक (५५ सैण्टी ग्रेड या कम) पर ही जम जाती है। बैन्स जोन्स की प्रथिन की यह विशेषता है कि पुनः उसे लगभग १०० सैन्टी ग्रेड पर गरम करने से यह मूत्र मे विलीन हो जाती है, परन्तु इसके लिए मूत्र मे समाहृत लवणो की मात्रा इस परिवर्तन के लिए अनुकूल होनी चाहिए। मूत्र मे शुभ्र प्रथिन काफी परिमाण में उपस्थित होने पर भी निम्नोक्त विधि द्वारा बैन्स जोन्स की कुछ प्रथिन मालुम की जा सकती हैं।

प्रथम मूत्र मे कुछ शुक्राम्ल मिलाकर उसे कुछ अम्लीय करलें। फिर उबाल कर गरम गरम को ही चंगा [Funnel] और गर्मजल की आवरण [Hot water jacket] से छान लें। अगर मूत्र में सच्ची

* अस्थि मज्जा की अस्वाभाविक वृद्धि के कारण अर्बुद के समान उत्सेद उत्पन्न होने को कहते हैं। इस रोग मे अस्थि मज्जा प्रभावित होती है। यह भयानक रोग है। इससे पीड़ित रोगी वात नाड़ी मे पीड़ा [Neurelgia] की शिकायत करता है, फिर उसे कुछ समय के पश्चात् पशुकाओं और खोपड़ी पर पीड़ा युक्त शोथ उत्पन्न हो जाता है।

बेन्स जोन्स की प्रथिन उपस्थित होगी, तो छना हुआ मूत्र शीतल होने पर गंदला हो जायगा।

मूत्र को उबालने पर उसके सदृश भासने वाली प्रथिन पुनः विलीन होने के स्थान पर रबर के समान पुञ्ज सा बन जाती है। यह पुञ्ज शुभ्र प्रथिन और ग्लोब्युलीन की उपस्थिति से उत्पन्न पुञ्ज से बहुत भिन्नता रखता है, इसलिए थोड़े से अनुभव के पश्चात् आसानी से पहचानी जा सकती है।

परीक्षा विधि:—१० सी० सी० मूत्र को परीक्षा नली में लें और कुछ बूंदें शुक्ताम्लकी डाल कर अम्लीय कर लें। फिर उसमें ७ प्र० श० केल्शियम क्लोराइड [Calcium chloride] का विलयन १ शीशी मिलाकर परीक्षा-नली में थर्मामीटर [Thermometer] रख दें। और परीक्षा नली को पानी से भरे हुए बीकर [Beaker] में स्थिर रख दें। नलिका का घनत्व बीकर में स्थित पानी से न्यून होता है। इसलिए नलिका उसमे तैरती हुई स्थिर रहेगी। पश्चात् पानी को धीरे धीरे गरम करें और तापांक को देखते रहें। जिस तापाँक पर प्रथिन जमना आरम्भ हुआ है, उसको नोट करलें। अगर वह ६०' सेन्टी ग्रेड से नीचा है तो मूत्र में बेन्स जोन्स के वर्ग की प्रथिन की उपस्थिति संभवित है।

जब बीकर का पानी इतना गर्म हो जायगा कि वह उबलने लगे, तब उसमे यदि इस वर्ग की प्रथिन होगी तो पुनः विलीन न होकर पुञ्ज बन जायगी।

(२) मूत्रमें रक्त और उसके द्रव्य।

मूत्रमें रक्त दो स्वरूप मे उपस्थित हो सकता है। प्रथम, रक्ताणु रूप में और द्वितीय केवल रक्तरंजक के रूप मे। प्रथमावस्था को रक्तमेह (Haematuria) और द्वितीया को माञ्जिष्ठ मेह (HaemoGlobinuria) *

---

* इस विकार में मूत्र के भीतर से रक्तरञ्जक (हैमोग्लोबिन) मिलता है। रक्तरंजक रक्त के लाल कणों को रंजित करने वाला, लोह युक्त पदार्थ है। यह लाल, स्फटिकाकारयोगिक है। इसमें प्रोटीन, ग्लोबिन, हैमोटीन आदि पदार्थ मिश्रित होते हैं। इसका साधारण स्वरूप ऑक्सि हैमोग्लोबिन कहलाता है, यह तेजस्वी लालरंग है; इसमे प्राणवायु प्रचुर मात्रामें होती है। इसकी प्राणवायु आसानी से पृथक् हो सकती है, और यह पुनः वायु मे से प्राणवायु को ग्रहण कर सकता है। पाण्डु मे यह ओषधि के रूप में ३ से २ ग्रेन तक प्रयोजित होता है।

संज्ञा दी है। इन दोनों अवस्थाओं में आसानी से भेद किया जा सकता है, क्योंकि प्रथम में रक्तकणों (Corpuscles) की उपस्थिति अणुवीक्षणयंत्र द्वारा विदित होती है, और द्वितीय में अनुपस्थित रहते हैं। वृक्कशूलके वेग के पश्चात् रक्तकण अनेक दिन तक मूत्रमें अति न्यून मात्रा में उपस्थित रहते हैं, इसके अतिरिक्त अन्य अवस्थाओं में भी इनकी उपस्थिति अणुवीक्षण यंत्र द्वारा निर्णित हो सकती है। इसका उल्लेख आगे अणुवीक्षणिक परीक्षा में किया जायगा।

अगर मूत्र में रक्त या रक्त रंजक अति न्यून मात्रा में उपस्थित हैं, तो यह एक अनोखे स्वरूप वाला अपार दर्शक होता है। इसे 'धूम्रवर्णीय(Smoky)" नाम दिया जाता है। मूत्र मे जब रक्त बहुत मात्रा मे उपस्थित हो, तो मात्रा के अनुसार मूत्र का वर्ण न्यून या अधिक रक्तवर्ण का होजाता है। मूत्र मे रक्तकण उपस्थित होने पर ये तलस्थ होजाते हैं और उसकी तहे बन जाती हैं, जो रक्तकी मात्रा और उसमे उत्पन्न परिवर्तन के अनुरूप पिंगल या लाल होती है।

निम्नोक्त परीक्षाये रक्त रंजक की उपस्थिति पर निर्भर हैं। इसलिये रक्तमेह, और माञ्जिष्ठ मेह, दोनों पर प्रयुजित होती है।

(१) वर्ण विश्लेषण परीक्षा (Spectroscopic test):— यह परीक्षा एक छाया दर्शक यंत्र द्वारा की जाती है, जिसे "स्पक्ट्रोस्कोप (Spectroscope) कहते हैं। इसमे परीक्षा के लिये अगर मूत्र का रंग बहुत गहरा हो तो सर्व प्रथम उसे हल्का करके छान ले। पश्चात् ५ सी० सी० मोटी हो ऐसी छोटी चपटी कॉच की शीशी या परीक्ष्य नली का प्रयोग करते हुए इसकी पतली तह में से प्रकाश गुजार कर देखा जाता है। जब प्रकाश सप्त वर्णों में विभक्त होकर उसमें से गुजरता है तो उन वर्णों की पट्टिकाये(bands) प्रतीत होती हैं। इन पट्टिकाओं की स्थिति द्वारा ही रक्त (रक्त रंजक) की उपस्थिति जानी जाती है। रक्त रंजक की पट्टिका आसानीसे पहिचानी जा सकती है। परन्तु कभी कभी जब रक्त रंजक अत्यंत न्यून मात्रा मे उपस्थित हो तो साधारण स्पक्ट्रोस्कोप द्वारा रक्त रंजक की पट्टिका को पहचान लेने की सम्भावना कम है। (चित्र फलक नं० १७ देखें)

(२) अर्क ग्वाय कम परीक्षा (T. Guaiacum test) परीक्षा नली में १ इंच मूत्र लेकर उसमे ताजा टिंचर ग्वायकम की दो बूँद डाले! इससे श्वेत निक्षेप उत्पन्न हो जायगा। क्योंकि ग्वायक राल (Guaiac resin) का कुछ अंश निक्षेप रूप में परिवर्तित हो जाता है। अब इसमें मूत्र के बरा-

बर (एक इंच) ओज़ोनिक इथर (Ozonic ether) डालें, परन्तु हिलना नहीं चाहिये। यदि मूत्र में रक्त रंजक उपस्थित होगा, तो दोनों द्रवों के संगम स्थान पर नील वर्ण उत्पन्न हो जायगा।*

(३) कभी कभी मूत्र मे लाल (थूक) काफी परिमाण मे उपस्थित होता हैं, क्योंकि रोगी उसमें थूंक देता है; इससे भी भ्रम हो जाता है। क्योंकि इसमें ओक्सीजन उत्पादक उपकरण होने से इस परीक्षा द्वारा समान परिणाम ही प्राप्त होता है। क्योंकि वे उपकरण कभी कभी मूत्र मे विद्यमान रहते हैं, इसलिये इस परीक्षा के करने से पूर्व मूत्र को उबाल लेना सर्वथा अच्छा माना जायगा। इस अवस्था में अगर रक्त उपस्थित है तो उत्पन्न हुआ पुञ्ज नील वर्ण का हो जाता है।

रूपान्तरित माञ्जिष्ट मेह (Methaemoglobinuria)† अम्लीय मूत्र कुछ समय रक्खा रहने पर रक्त रंजक में से ही रूपान्तरित रक्त रंजक (मेट हैमोग्लोबिन) बन जाता है। ऐसा बहुत कम देखा गया है कि सद्य त्याज्य मूत्र में यह विद्यमान हो। यदि सद्य त्याज्य मूत्र में यह विद्यमान है तो तो वृक्कों से रक्त स्राव हुआ समझें। रक्तमेह, जिसका मूल वृक्कों में स्थित है; उसके मूत्र मे धूम्र वर्ण की आभा का मुख्य कारण रूपान्तरित रक्त रंजक

---

*टिंचर ग्वायकम ताजा ही होना चाहिये। जैसा—आक्सी करण रहित (Unoxidized) रंजिन (राल वर्गीय) द्रव्य से। एवं ओजोनिक ईथर के विलयन में ३० घनफल को शक्ति का हाइड्रोजन पर ओक्साइड (Hydrogen peroxide) मिश्रित होना चाहिये। इसके परिणाम स्वरूप जब यह परीक्षा नली मे डाला जाय तब बुदबुदे उत्पन्न होना चाहिये। अगर इन उक्त बातों पर ध्यान नहीं रक्खा जायगा तो परीक्षा असफल सिद्ध होगी। इस परीक्षा के लिये ओजोनिक इथर के स्थान पर "सनीटास (Sanitas) प्रयुक्त करना अधिक सुविधाप्रद है, तथा खर्च भी कम होता है।

†मूत्र में मैथमोग्लोबिन की उपस्थिति को कहते हैं। रूपान्तरित रक्तरंजक (मेट हैमोग्लोबिन) ओक्सि हैमोग्लोबिन का परिष्कृत स्वरूप है, जो कि रक्त मे एसिटनिलिड (Acetanilid) अधिक मात्रा में सेवन करने पर विद्यमान होता है। इसका संगठन ऑक्सि हैमोग्लोबिन के समान ही होता है, परन्तु इसका रंग कथाई भूरा (Chocolate brown) होता है। इसमे रही हुई ऑक्सिजन इतनी स्थिर होती हैं कि, किसी भी वायुशून्य स्थान से आकर्षित नहीं की जा सकती और न यह श्वास क्रिया मे भाग लेती है।

ही है। और आकस्मिक मॉजिष्ठ मेह (Paroxysmal Haemoglo bunuria) में उपस्थित रंजक द्रव्य भी मुख्यतया यही है। इसकी उपस्थिति जानने के लिये वर्ण विश्लेषक परीक्षा ही विश्वासनीय परीक्षा हैं। (चित्र नं० १७)

रूपान्तरित रक्तमेह—(Haematoporphyrinuria) इस रोग की संप्राप्ति हैमाटो पोर्फिरिन मूत्र मे उपस्थित होने पर होती है। हैमाटोपोर्फिरिन हैमाटीन * के लोह से उत्पन्न होता है। यह मूत्र मे रक्त के लाल कणों के विनाश से उत्पन्न होता है। यह स्वस्थावस्था के मूत्र में अतिन्यून मात्रा में पाया जाता है, और मूत्र के रंग पर किसी प्रकार का प्रभाव डाले बिना ही इसकी मात्रा काफी बढ़ सकती है। जब यह अधिक मात्रा मे विद्यमान हो तब मूत्र का रंग गहरा लाल हो जाता है। इस प्रकार के मूत्र पर टिञ्चर ग्वायिकम की कुछ भी प्रतिक्रिया नहीं होती। अगर स्पैक्ट्रोस्कोप से परीक्षा की जाय तो क्षारीय हैमाटोपोर्फिरिन की प्रकृति निर्देशक पट्टिका (स्पक्ट्रम) प्रतीत होती है। प्रायः ऐसा होता है कि, शिर्फ मूत्र की ही परीक्षा करने से इसकी पट्टिका उत्पन्न नहीं होती। ऐसी अवस्था मे मूत्र में कुछ अमिल अल्कोहोल या एसिटिक ईथर (Acetic ether) मिला कर रंजकद्रव्य पृथक् किया जा सकता है, किन्तु इसके पहले मूत्र मे कुछ बूंदें शुक्ताम्ल की मिला लेनी चाहिये। इस प्रकार पृथक् करके परीक्षा करने पर क्षारीय हैमाटोपोर्फिरिन की चार पट्टिका प्रतीत की जासकती है। पहली पीले और लाल रंग के संगम स्थान पर, दूसरी पीले के भीतर, तीसरी हरे के भीतर और चौथी जो सबसे अधिक चौड़ी होती है वह हरी और नीली के मध्य मे। अगर इसमें एक या दो बूँद लवणाम्ल की मिला कर परीक्षा की जाय तो अम्लीय हैमाटोपोर्फिरिन की दो पट्टिका (Bands) प्रतीत की जा सकती हैं—पहली नारंगी रंग मे सकड़ी पट्टी और दूसरी पीली और हरी के संगम स्थान पर चौड़ी। (चित्र फलक नं० १७)

कभी हैमाटोपोर्फिरिन उन मनुष्यों के मूत्रमे अधिक मात्रा मे पाया जाता है, जो सल्फोनल (Sulphonal) का औषधि रूपसे सेवन कर रहे हों, और इस अवस्था की सम्प्राप्ति पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों मे अधिक होती

*हैमेटिन एक प्रकार का भूरा, प्रथिन रहित, न पिघलने वाला आकार हीन द्रव्य है। इसके साथ रक्तरंजक प्रथिन (ग्लोबिन) मिलने पर रक्तरंजक (हैमोग्लोबिन) बनता है। यह हैमोटिन लोह रहित होने पर हैमाटो पोर्फिरिन कहलाता है। इसका रंग गहरा बैंजनी होती है।

है। यह चिह्न अत्यन्त भयानक है। इसका परिणाम बुरा आता है। अतः जो रोगी सल्फोनल सेवन कर रहा है, उसका मूत्र यदि गहरा लाल बन जाय, तो सल्फोनल को तत्काल बंद करके क्षारीय ओषधियों का प्रयोग प्रारम्भ कर देना चाहिये।

जिस मूत्रमें रक्त या रक्तरंजक उपस्थित है, उसमें शुभ्रग्रथिन की कुछ मात्रा उपस्थित होती ही है। ऐसी अवस्था में निर्णय करना कठिन है कि, उपस्थित शुभ्रग्रथिन का कारण रक्तकी उपस्थिति ही है या इसके साथ ही रोगी लसीका मेह (Albuminuria) से भी पीड़ित है। यह परीक्षणों द्वारा सिद्ध किया है कि, अगर स्वस्थावस्था के मूत्र में रुधिर इतनी मात्रामें मिलाया जाय कि मूत्रमें धूम्र वर्ण पैदा हो जाय, तो रक्तकी इस मात्रा से मूत्र में शुभ्रग्रथिन के सिर्फ कुछ चिह्न ही उत्पन्न होते हैं। यहाँ तक कि रक्त इतनी अधिक मात्रा में मिलाया जाय कि मूत्र गहरा लाल रंग का हो जाय, तो भी शुभ्र ग्रथिन प्रति एक हजार में ½ ग्राम ही होती है। अतः मूत्र में रक्त के साथ शुभ्र ग्रथिन की स्वल्प मात्रा में उपस्थिति रोग विनिर्णय के लिये कुछ भी महत्व नहीं रखती; परन्तु मात्रा अधिक होने पर लसीका मेह की कल्पना की जाती है।

(२) मूत्रशर्करा की परीक्षा।

प्राणियों में कर्बोदक में से द्राक्ष शर्करा (Glucose) और श्वेत-सार (Starch) के सदृश मधुजन (Glycogen) की उत्पत्ति होती है। इनमें से शर्करा कम अणुओं (Molecule) युक्त तथा श्वेत सार अधिक अणुओं युक्त द्रव्य है। शर्करा के २ विभाग है। पहले विभाग में द्राक्ष शर्करा फल शर्करा (Fructose) और उपदुग्ध शर्करा (Galactose) है। दूसरे विभाग में इक्षु शर्करा (Sacchrose), दुग्ध शर्करा (Lactose) और धान्य शर्करा (Maltose) है।

पहले विभाग की शर्करा विद्राव्य है। यह द्राक्ष, पक्के आम, केला आदि फल में से मिलती है। इसे किसी क्रिया की आवश्यकता नहीं है। यह सरलता से रक्तमें शोषित होजाती है। फिर आवश्यकता के अनुसार वहाँ रहती है, शेष रूपान्तरित होकर यकृत् और मांस पेशियों में मधुजन रूप से संग्रहीत रहती है। वह मर्यादा से अधिक होने पर वसा में रूपान्तरित होजाती है या द्राक्ष शर्करा रूपसे मूत्र मार्ग से बाहर निकल जाती है।

दूसरे वर्ग की शर्करा भोजन में से सीधी शोषित नहीं होसकती। पचन क्रिया द्वारा रूपान्तर होकर फिर शोषित होती है। किन्तु इस वर्ग की तीनों शर्करा का रूपान्तर पृथक् पृथक् होता है।

इक्षुशर्करा विशेषतः ईख और महुआ, ताड़फल, गाजर, शक्करकन्द आदि फलों और कन्दों में से मिलती है, इसका रूपान्तर द्राक्ष शर्करा में होता है। दुग्ध शर्करा में से उपदुग्ध शर्करा बनती है। धान्य शर्करा श्वेतसार पर पाचक रसकी क्रिया होने पर बनती है। इसका रूपान्तर द्राक्ष शर्करा में होता है। एवं इनके अतिरिक्त गुड़, शक्कर, शहद का सेवन होता है, उनका विशेष अंश द्राक्ष शर्करा रूप बन जाता है।

उक्त दोनों वर्ग की शर्करा में से मूत्र परीक्षार्थ द्राक्ष शर्करा और दुग्ध-शर्करा का विशेष महत्व है। कभी कभी द्राक्ष शर्करा के साथ फल शर्करा मिल जाती है। एवं इक्षु शर्करा और यव शर्करा का सेवन अधिक होने पर वे भी मूत्र में उपस्थित होती हैं। इनके अतिरिक्त क्वचित् कव शर्करा (Pentosis) भी मिलती है, जो खमीर होने के लिये अयोग्य है।

मूत्र में द्राक्ष शर्करा (Glucose in urine)-सामान्यतः, जब रक्त में शक्कर की मात्रा ०·१७ प्रतिशत से बढ़ जाती है। तब मूत्र के साथ बाहर निकलने लगती है। शक्करा में द्राक्षशर्करा (विशुद्ध-Dextrose) अथवा मूल रूप में-Grape sugar) अति सामान्यतः प्रतीत होती हैं। इस अवस्था को साधारणतः इक्षुमेह (Glycosuria) संज्ञा दी है। किन्तु इसका प्रभेद मधुमेह से, विशेष स्पष्ट शब्दों में कहें तो अग्न्याशय रस स्रावके ह्रास या अभाव युक्त मधुमेह (Diabetes mellitus) से करना चाहिये। जिसमें मुख्य लक्षण इक्षुमेह है। किन्तु यह नियम नहीं है कि, सर्व इक्षुमेह से पीडित रोगी मधुमेह से भी पीड़ित होना चाहिये।

स्वस्थावस्था के मूत्र में भी कुछ चिह्न द्राक्ष शर्करा के हो सकते हैं, किन्तु इसका परिमाण इतना न्यून होता है कि, यह सामान्य परीक्षा से विदित नहीं होता। अतः सामान्य परीक्षा से द्राक्ष शर्करा की उपस्थिति सिद्ध होजाय, तो इसे रुग्णावस्था का प्रतीक समझें।

द्राक्षशर्करा की परीक्षा इस बात पर निर्भर है कि यह शीघ्र ऑक्सिजन युक्त होजाती है। कोई ऐसी वस्तु जो द्राक्षशर्करा से मिलाने पर यदि अपनी ऑक्सिजनत्याग दे, तो द्राक्ष शर्करा का ऑक्सिडाइजेसन (ऑक्सिजनी करण) होजायगा। यह ऑक्सिजनी करण सर्वदा क्षारनाक पर ही होता है। तुत्थ (Copper sulphate) एक ऐसी वस्तु है, जिसका वर्ण नीला है। उसमें कास्टिक सोडा मिलाने पर क्यूप्रिक ऑक्साइड (Cupric oxide)

बन जाता है, जो जलमें अघुलनशील है। परन्तु टार्टरेट (Tartrate) की उपस्थिति में यह लीन हो जाता है और अति नील वर्ण धारण कर लेता है। जब द्राक्ष शर्करा के साथ मिला कर इसे क्थनांक पर गरम किया जाय, तो क्यूपरिक - आक्साइड से ऑक्सिजन निकल कर क्यूपरस ऑक्साइड बन जाती है, जिसमे ऑक्सिजन पहले की अपेक्षा न्यून है। इसका वर्ण भी पीत या लाल होता है। अर्थात् जब मूत्र में यह विलयन मिलाकर उबाला जायगा तो द्राक्ष शर्करा की उपस्थिति होने पर पीत या रक्त वर्ण हो जायगा। यह विलयन फैह्लिंग विलयन कहलाता है और नं० १ तथा नं० २ के विलयन मिलाने से बनता है। (परिशिष्ट न० ११)

(१) **फैह्लिङ्ग की परीक्षा (Fehling's test)**—इस परीक्षा के लिये प्राथमिक आवश्यकता यह है कि परख़क सर्व प्रथम इस बात का निश्चय करलें कि प्रतिक्रिया उत्पन्न करने वाला विलियन अच्छा है या नहीं ? इस बात की आवश्यकता इसलिये है कि, यह विलयन रक्खा रहने के कारण खराब हो जाता है। जिससे इसे उबालने पर क्यूपरस ऑक्साइड का निक्षेप उत्पन्न हो जाता है। फैह्लिंग के विलियन की परीक्षा करने के लिये एक परीक्षा नली में इसे लेकर, इसीके घनफल के बराबर पानी मिलावें। और दो मिनटके लिये उबालें। अगर विलयन स्वच्छ ही रहे तो इसे शुद्ध और प्रयोग योग्य समझें इसके विपरीत अगर निक्षेप उत्पन्न हो जाय, तो इसमें कुछ कॉस्टिक सोडा (caustic soda) मिला छान कर प्रयोग में लेवें।

परीक्षा विधि

परीक्षानली में एक इंच तक फैह्लिग का विलियन भरे और उसमें एक-एक बूँद करके मूत्रडालें। मूत्र मे अगर शुभ्र प्रथिन हो तो उसे पूर्व ही पृथक् करदें। तत्पश्चात् उसे उबाले। अगर द्राक्ष शर्करा होगी, तो पीत या रक्त निक्षेप उत्पन्न हो जायगा। अगर मूत्र की बूँदें डाल कर गरम करने से किसी प्रकार के निक्षेप उत्पन्न नहीं हो, तो विलयन की समान मात्रा में ही मूत्र मिला कर दो मिनट तक गरम करें। फिर स्थिर होने के लिये एक तरफ रखदें। अगर स्थिर हो जाने पर भी बिल्कुल स्वच्छ रहे तो द्राक्ष शर्करा की अनुपस्थिति समझें या इतने न्यून परिमाण में उपस्थिति समझें कि जिसको परीक्षा द्वारा निश्चित करना असम्भव है।

ताजा उबाले हुए फैह्लिंग विलयन की सतह पर छोटी नली (pipette) की सहायता से मूत्र डाल कर, कुछ मिनट तक ट्यूब को स्थिर रख देने से इस परीक्षा को और भी ज्यादा शीघ्रग्राही और सूक्ष्म परिणाम दर्शक बनायी जा सकती है। रंग में परिवर्तन दोनों द्रव्यों के मिश्रण स्थान पर ही होता है और ऐसे मूत्र में होता है जिसमें कोपर आक्साइड (copper oxide) को लीन करने के लिये कास्टिक क्षार या टारट्रेट विद्यमान हो।

अगर मूत्र में १ प्रतिशत या इससे अधिक द्राक्षा शर्करा विद्यमान हो, तो उबलते हुए मूत्र और फैह्लिंग विलयन को मिलाते ही रक्ताभ या पीत रंग का निक्षेप उत्पन्न हो जायगा। अगर द्राक्ष शर्करा की उपस्थिति ०·५ प्रतिशत से न्यून है, तो कुछ समय स्थिर रख देने पर निक्षेप हरिताभ प्रतीत होगा।

सूचना १. मूत्र में शुभ्रप्रथिन न होना चाहिये। अगर हो तो, उसमें एक या दो बूँद शुक्राम्ल एसिड को डालकर उबाल लें फिर छानकर शुभ्रप्रथिन को प्रथक् करदें।

२ अगर मूत्र मे अधिक अमोनिया उपस्थित है तो फैह्लिंग की परीक्षा नहीं की जा सकती। क्योंकि अमोनिया की उपस्थिति क्यूपरस आक्शाइड के निक्षेप की उत्पत्ति को रोक देती है।

३. अगर मूत्र मे क्युपरिक एसिड के ऑक्सीजन के हरण (reduction) के लिये आवश्यकीय द्राक्षौज की मात्रा से अधिक है, तो उसमे से कुछ अंश सन्दग्ध (Caramelized) हो जाना सम्भव है, यदि उसे काफी देर तक उबाला जाय, तो सम्पूर्ण तरल और निक्षेप गहरे भूरे वर्ण के हो जाते हैं।

फैह्लिंग की परीक्षा में भ्रमोत्पत्ति इसलिये सम्भव है कि, द्राक्ष शर्करा के अतिरिक्त मूत्र में उपस्थित अन्य वस्तुयें भी क्यूपरिक ऑक्साइड का ऑक्सीजन-हरण कर सकती है इसलिये विलयन का रंग नीले के स्थान पर पीत या लाल हो जाता है। मूत्र की स्वस्थावस्था मे ऐसी वस्तुओं में मूत्राम्ल (Uric acid) मुख्य है; और रुग्णावस्था के मूत्र में दुग्धशर्करा, गध द्रव्योसह द्राक्ष शर्कराम्ल "ग्लाइ कुरोनिक एसिड (Glycuronic acid)" और कुछ औषधियाँ जैसे क्लोरल (Chloral) क्लोरोफार्म, सेलिसिलेट्स और कार्बोलिक एसिड आदि अल्कैप्टोन अर्थात् होमोजैन्टिसिक एसिड

(Homogentisic acid or hydroguinone acetic acid) या फार्मलीन (Farmalin) मूत्र में उपस्थित होने पर द्राक्ष शर्करा के समान फेह्लिंग विलयन का ऑक्सिजन हरण हो जाता है । अगर संशय पूर्ण रोगियो के मूत्र का आपेक्षिक घनत्व ज्यादा हो; तो उसमें पानी मिलाकर १०१५ के लगभग कर लेना चाहिये। इस प्रकार हल्का कर लेने के पश्चात् अगर फेह्लिंग विलयन मिलाकर १० सैकण्ड तक गरम करने पर तत्काल या एक दो मिनट तक स्थिर रख देने के पश्चात् विलयन का आक्सीजन-हरण हो जाय और रोगी कोई औषधि भी सेवन न कर रहा हो, तो निश्चय ही रोग संप्राप्ति दर्शक परिमाण में शक्कर की उपस्थिति समझें ।

(२) **बेनेडिक्ट की परीक्षा** (Benedict's test):—५ सी. सी. बेनेडिक्ट के प्रतिकारक विलयन (परिशिष्ट नं० १२) में ८ बूंदें मूत्र की डालकर उसे २ मिनट के लिये उबालें। अगर शर्करा उपस्थित है तो ठंडा होने पर विलयन का रंग नीले की जगह भूरा हो जायगा ।

यह परीक्षा फेह्लिंग परीक्षा से उत्तम मानी जायगी, क्योंकि बेनेडिक का विलयन होमोजैण्टिनिसिक एसिड, मैह्निकाम्ल आदि से अपरिवर्तित ही रहता है, अतः इससे भ्रमोत्पत्ति की कम सम्भावना है । केवल द्राक्षशर्करा, दुग्धशर्करा और कर्च शर्करा से ही यह विलयन परिवर्तित होती है ।

(३) **फैनील हाइड्राजीन परीक्षा** (Phenyl-Hydrazine Test) १०० सी. सी. पानी समा सके, ऐसे बीकर मे ६० सी. सी. मूत्र लें । उसमे १ ग्राम सोडियम एसिटेट (Sodium Acetate) और कुछ न्युन मात्रामें शुद्ध फैनील हाइड्राजेन हाइड्रोक्लोराइड (Phenyl Hydrazine Hydrochloride) के रंग हीन स्फटिक डालें । तत्पश्चात् इसे उबलते जल (Water bath) मे गरम करने को रक्खे । गरम होते समय बीच बीच में हिलाकर किनारो पर जो विक्षेप लगे उसे खुरच कर पानी मे मिलाते जॉय । जब बीकर में १० या २५ सी. सी. तरल शेष रहे, तब अग्नि बंद करके उसे शीतल होने दें । दो घंटे पश्चात् परीक्षा करें कि किसी प्रकार के निक्षेप उत्पन्न हुए हैं या नहीं । अगर किसी प्रकार के स्फटिक उत्पन्न न हुए हो तो मूत्र में शक्कर की अनुपस्थिति समझें ।

सरल परीक्षा—एक टेस्ट ट्यूब में शुभ्रप्रथिन रहित १० सी. सी. विशुद्ध मूत्र लें । उसमें ६ बूंदें घन शुक्राम्ल अर्थात् ग्लैसियल एसिटिक एसिड (Glacial Acetic acid), थोड़ा सा (२ माशा के लगभग)

फैनील हाइड्राजीन हाइड्रोक्लोराइड और इससे दो गुणा ठोस सोडियम ऐसिटेट डालें। ये सब मूत्र में लीन हो जाय इसके लिये परीक्षा नली को थोड़ा सा गरम कर लें।। फिर दूसरी परीक्षा नली में छान लें। इस नलिका को उबलते हुए जल में ४० मिनिट के लिए रख दें। पश्चात् अग्नि देना बंद कर दें, और उसी उष्ण जल में ही एक घण्टे तक उसे ठंडा होने दें।

अगर मूत्र में द्राक्ष शर्करा विद्यमान है, तो इस परीक्षा से चमकदार गंधक के समान पीले रंग के, सुई की नोक के समान स्फटिकाकार निक्षेप उत्पन्न हो जायगा, जो गुच्छों; चरखी के पट्टियों या कृत्रिम गुलाब पुष्प (Rosettes) सदृश व्यवस्थित प्रतीत होंगे। अगर शर्करा न हो; तो केवल पिंगल या पीताभ गुटिकाएं या कण प्रतीत होंगे। अगर इस अवस्था में फेह्लिंग के विलयन से आक्सीजन-हरण होकर उसका रंग परिवर्त्तित हो जाय, तो इसका कारण कभी द्राक्षशकरा की उपस्थिति नहीं समझनी चाहिये। इस परीक्षा में ग्लाइक्यूरोनिक एसिड (Glycuronic acid), दुग्ध शर्करा और कर्व शर्करा की उपस्थिति से भी द्राक्ष शर्करा सदृश स्फटिकाकार निक्षेप उत्पन्न हो जाता है, इससे भ्रम होने की सम्भावना है। अगर ऑक्सीजन-हरण करने वाले पदार्थ के विषय में संदेह है, तो निम्न परीक्षा करनी चाहिये।

(४) **फेनीभवन परीक्षा** (Fermentation test):—वास्तव में द्राक्ष शर्करा की उपस्थिति प्रतीत करने के लिये यह परीक्षा ही ऐसी है, जिस पर पूर्णतया विश्वास किया जा सकता है। इसका मुख्य कारण यह है कि मूत्र में पायी जाने वाली सिर्फ द्राक्ष शर्करा ही ऐसी वस्तु है; जिसमें फेनीभवन (खमीर) उत्पन्न हो सकता है।

इस परीक्षा को प्रयुक्त करने के लिये निम्न सूचनाओं पर आवश्यक ध्यान रखना चाहिये:—

सूचना:—

१—इसके लिये मूत्र अम्लीय होना चाहिये। क्षारीय मूत्र सड़ जाता है। अगर मूत्र क्षारीय हो तो उसमें आवश्यकतानुसार इमली का सत्व (Tartaric acid) डाल कर अम्लीय बना लेना चाहिये।

२—मूत्र को १० मिनट उबाल लें। ताकि उसमें उपस्थित वायु निकल जाय, फिर शीतल करके परीक्षा करें।

३—खमीर की उत्पत्ति के लिये किण्व (Yeast) का प्रयोग करें। किण्व ताजा तथा श्रेष्ठ होना चाहिये। इसके लिये बेकर (Baker) का किण्व उत्तम है। परीक्षा में प्रयुक्त करने से पूर्व इसकी परीक्षा कर लेनी चाहिये कि वह क्रिया शील है या नहीं? यह परीक्षा द्राक्षशर्करा के विलयन में मिलाकर हो सकती है।

परीक्षा विधिः—किण्व (Yeast) का छोटा सा टुकड़ा लेकर मूत्र में अच्छी प्रकार मिलावें, ताकि दुग्धीकरण (Emulsion) बन जाय और इसका एक भी टुकड़ा शेष रहने न पावें। इस मिश्रिण को एक नलिका में पृथक् रखदें। खमीर उत्पत्ति के लिये विशेष प्रकार की नलिकायें बनायी जाती हैं। अगर इनमें से एक भी प्राप्य न हो, तो साधारण नलिका को ही पारद ऊष्मक (Mercury bath) में रखकर काम चलाया जा सकता है। इसके लिये प्रयुक्त की जाने वाली विशेष नलिकाओं को डॉरिमस मूत्रीया मापक (Doremus ureometer) कहते हैं। इसके लम्बे भाग में मूत्र-किण्व मिश्रण भरदें। मूत्र पूरा भरदें, जिससे वायु का एक भी बुदबुदा न रहने पावें। इस नलिका को एक ओर प्याली या तस्तरी में उष्ण स्थान में रख देवें। २४ घंटे पश्चात् परीक्षा करें। मूत्र नलिका से निकलकर प्याले में आजायगा। तथा किण्व के हेतु से वायु के बुदबुदे नलिका के सिरे पर खाली स्थान में जमा हो जायेंगे। यह बुदबुदे कार्बन डाय ऑक्साइड के होने से नली में जलती हुई दियासलाई रखने पर बुझ जाती है। इससे सिद्ध होता है कि कम से कम ०·५ प्रतिशत द्राक्ष शर्करा मूत्र में होनी चाहिये।

अगर उपरोक्त सूचनाओं को ध्यान में रखकर परीक्षा की गई है, तो यह परीक्षा द्राक्षोज की उपस्थिति प्रतीत करने के लिये विश्वसनीय और संतोष प्रद है।

इस परीक्षा में एक ही कमी है। वह यह है कि अगर मूत्र में शक्कर ०·१ प्र० श० से कम परिमाण में विद्यमान है, तो किण्व से किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं होगी। इस अवस्था में जब कि शक्कर की न्यून मात्रा के कारण खमीर उत्पन्न न हुआ हो, और २४ घंटा तक पड़ा रख कर भी देख लिया गया हो, तो परीक्षक को पूर्वोक्त बेनेडिक्ट की परीक्षा करनी चाहिये। अगर बेनेडिक्ट की परीक्षा से भी ऑक्सिन-हरण क्रिया हो कर मूत्र का रंग नीले के स्थान पर भूरा न हो (अर्थात् शक्कर की उपस्थिति सिद्ध न हो), तो समझना चाहिये कि, मूत्र में द्राक्ष शर्करा के कुछ चिह्न ही उपस्थित है। जो कि खमीर उत्पन्न करने योग्य नहीं है। अगर बेनेडिक्ट परीक्षा से रंग नीले

के स्थान पर भूरा हो जाय (अर्थात् शक्कर की उपस्थिति सिद्ध हो जाय), परन्तु खमीरोत्पत्ति परीक्षा से खमीर उत्पन्न न हो, तो मूत्र में दुग्ध शर्करा और पैन्टोस (Pentose) की उपस्थिति की परीक्षा करनी चाहिये।

शक्कर की परिमाण-परीक्षा—फैह्लिंग की विधि, यह विलेयमापक (Titration) क्रिया द्वारा की जाती है। यह इस बात पर निर्भर है कि, उबलते हुए मूत्र के क्वथनांक पर विलेय मापक क्रिया उत्पन्न करने के लिये कितने फैह्लिंग के विलयन की आवश्यकता होती है। विलेयमापक क्रिया उत्पत्ति के लिये उबलते हुए मूत्र में पूर्व ही से ज्ञात परिमाण का फैह्लिंग विलयन धीरे धीरे डाला जाता है। इसके साथ ही परीक्षक यह देखता जाता है कि, सम्पूर्ण क्यूपरिक ऑक्साइड से ऑक्सिजन-हरण क्रिया द्वारा ऑक्सिजन निकल कर कब यह क्यूपरस ऑक्साइड बनता है। क्यूपरस ऑक्साइड का निर्माण तब ही सम्पूर्ण हुआ माना जाता है जबकि, नील वर्ण पूर्णतया नष्ट हो जाय। इस विधि में रक्त वर्ण का निक्षेप मूत्र से पृथक् होता है। इसलिये परीक्षक के लिये यह ठीक ठीक पता लगा लेना कि नील वर्ण कब नष्ट हुआ है, यह अति कठिन कार्य है। अतः भ्रमोत्पत्ति का संभव होने से शक्कर का परिमाण जानने के लिये यह परीक्षा प्रयुक्त करने की सलाह सबको नहीं दी जा सकती। इसी की निम्न परिष्कृत विधि अपेक्षाकृत अच्छी मानी जाती है।

(२) जीरार्ड की साइनो क्युपरिक विधि—यह परीक्षा इस सत्य पर निर्भर है कि विवर्ण द्विगुण पोटाश साइनाइड और ताम्र में ऐसी शक्ति है कि इनकी उपस्थिति में क्यूपरस ऑक्साइड विलीन ही रहता है। इसलिये अगर शक्कर युक्त विलयन में फैह्लिंग का विलयन डाल कर, साइनाइड की उपस्थिति में विलेय मापक क्रिया उत्पन्न की जायगी, तो नीला रंग धीरे-धीरे नष्ट हो जायगा और किसी प्रकार का निक्षेप भी उत्पन्न नहीं होगा। इन सुविधाओं के कारण नील वर्ण के विनाश का अन्तिम बिन्दु आसानी से विदित हो जाता है। इसका पुनः आक्सीजनी करण भी नहीं होता, इसलिये सम्पूर्ण क्रिया चौड़े चीनी मिट्टी के बेसिन (Basin) में आसानी से हो सकती है।

द्वि (डबल) साइनाइड कृति—१०० सी० सी० फैह्लिंग के विलयन में लगभग २०० सी० सी० पानी मिलाकर हल्का करले। उसे उबाल कर उसमें सम्हाल पूर्वक लगभग ५ प्र० श० वाला पोटाश साइनाइड का विलयन मिलावें। उसे उस मात्रा तक मिलावे कि फैह्लिंग का विलयन

विवर्ण हो जाय। फिर अन्त में ५०० सी० सी० में जितना कम हो, उतना पानी मिला कर उसे हल्का करले, और शुद्ध अच्छे डाट वाली बोतल मे भरदें।

विलेय मापक विधि—उपर्युक्त २० सी० सी० विलयन मे १०० सी० सी० फैह्लिग का विलयन मिलाकर एक चौडे चीनी के पात्र में उबाले। पश्चात् पानी मिला कर हल्के किये हुए मूत्र को इसमे सम्हाल पूर्वक उस समय तक धीरे-धीरे डालें, कि विलयन विवर्ण हो जाय। जैसा कि प्रमाणित है कि, द्विसाइनाइड से किसी प्रकार का आक्सीजन-हरण नहीं होता। इसलिये शक्कर का परिमाण ज्ञात करने के लिये सिर्फ मिश्रित किये हुए १० सी० सी० फैह्लिग विलयन से ही गणना करनी पडती है। यह विधि रोग विनिर्णय के लिए शीघ्र प्रयुक्त हो सकती है और सूक्ष्म परिमाण दर्शक है। द्विसाइनाइड और फैह्लिग विलयन का मिश्रण अगर सप्ताहो तक रक्खा रहे तो भी विकृत नहीं होता। इसलिये एक साथ बहुत सा तैयार करके बोतल में रख लेना चाहिए, और हरबार परीक्षा करते समय मिश्रण को इतने परिणाम मे अलग चीनी के चौडे वर्तन मे ले ले कि, उसमें फैह्लिग विलयन १० सी० सी० की मात्रा मे हो।

गणना विधि :—यह प्रमाणो द्वारा सिद्ध किया गया है कि, १० सी० सी० फैह्लिग विलयन को अपकार्पित करने के लिये ०'०५ ग्राम द्राक्ष शर्करा की आवश्यकता पड़ती है। मान लिया जाय कि, उपरोक्त परीक्षा में हल्का किया हुआ १० सी० सी० मूत्र प्रयुक्त हुआ है, और वह ५००० सी० सी० मूत्र २४ घण्टे मे त्यागता है, तब :—

२४ घण्टो में शक्कर की मात्रा :— $\frac{५००० \times ०'०५ = २५}{१०}$ ग्राम।

परन्तु मूत्र १:२ के अनुपात से हल्का किया गया है। अतः २४ घण्टों में शक्कर की मात्रा=२५ × २०=५०० ग्राम।

मूत्र जिस अनुपात से हल्का किया गया हो उसीसे गुणा करना चाहिये।

दुग्ध शर्करा मेह (Lactosuria) :—कभी-कभी स्तन पान कराने वाली माताओं के मूत्र मे दुग्ध शर्करा काफी मात्रा मे पायी जाती है। यह बेनेडिक्ट के विलयन को आकर्पित करती है, और फैनील-हाइड्राजीन परीक्षा से फैनील लैक्टोसाजोन (Phenyl Lactosazone) के फूंदने होते हैं, जो द्राक्ष शर्करा की उपस्थिति से उत्पन्न चरबी के पट्टियो

से छोटे होते हैं। परन्तु फेनीभवन—परीक्षा से इसमें किसी प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं होती। दुग्ध शर्करा का परिमाण भी द्राक्ष शर्करा की विलय मापक क्रिया द्वारा विदित हो जाता है, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि दुग्ध शर्करा की अपकर्षण शक्ति का द्राक्ष शर्करा की अपकर्षण शक्ति से अनुपात ७:१० हैं, इसलिये, अगर किसी निश्चित मात्रा के विलयन को अपकर्षित करने के लिये द्राक्ष शर्करा के ७ भाग की आवश्यकता हो, तो उसी मात्रा को अपकर्षित करने के लिए दुग्ध शर्करा १० भाग चाहिये।

कर्ब शर्करा मेह (pentosuria) :—मूत्र मे कर्ब शर्करा (pentose) की उपस्थिति को कहते हैं। कर्बोदक मे कार्बन के ५ परमाणु हो, उसे कर्ब शर्करा कहते हैं। यह मूत्र मे कभी कभी ही पाया जाता है।

कर्ब शर्करा की परीक्षा के लिये बियलका प्रतिकारक (bial's reagent) प्रयुक्त किया जाता है। इसे निम्न प्रकार से बनाकर तैयार कर लेना चाहिए।

ओर्सिन (Orcin)—१ ग्राम।
लवणाम्ल ५०० सी० सी०।
(जिसका आपेक्षिक घनत्व ११५१ हो)
फैरिक क्लोराइड का १० प्र० श० विलयन—२५ बूंद।

तीनों वस्तुओं को मिलाने से बियल का प्रति कारक विलयन तैयार होता है। यह विलयन एक परीक्षा नली मे ५ सी० सी भरकर उबालें। फिर स्पिरिट लैम्प से हटाकर ५ बूंद मूत्र की डालें।

अगर कर्ब शर्करा होगा तो दोनो के सगम स्थान पर हरा रंग प्रतीत होगा। मूत्र मिलाने से पूर्व परीक्षा नली को स्पिरिट लैम्प की ज्वाला से दूर हटा लेना चाहिए।

कर्ब शर्करा कभी कभी मधुमेह से पीडित रोगी के मूत्र मे पाया जाता है। बेरी, अगुर, किसमिस आदि फल खाने से भी ये मूत्र में उत्पन्न हो सकता है। फिर भी यह फल शर्करा नही है। इसकी उपस्थिति के विषय की मुख्य बात यह है कि शरीर की चयापचय क्रिया (Metabolism) मे कुछ परिवर्तन हो जाने से मूत्र से उपस्थित हो सकता है। अतः यह रुग्णावस्था का

प्रतीक नहीं है और इसके लिये किसी प्रकार की चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है।

(४) मूत्र में पित्त *की उपस्थिति

मूत्र में पित्त के दो प्रकार के द्रव्य पाये जाते हैं। (१) पित्त रंजक (Bile Pigment) और (२) पित्ताम्ल (Bile acid)। प्रायः ये दोनों ही एक साथ मूत्र में उपस्थित होते हैं, परन्तु पित्त रंजक पित्ताम्ल से ज्यादा प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। मूत्र में पित्त के द्रव्यों की उपस्थिति का साधारण कारण पित्त मार्ग विरोध है। जब तक मूत्र ताजा (सद्यः त्यक्त) होता है। तब तक पित्त रंजक उसमें पित्ता रुणा (Bilirubin) के स्वरूप में रहता है। कुछ काल व्यतीत होने पर आक्सीकरण होने से पित्त हरित (Biliverdin) बन जाता है।

जिस मूत्र में पित्त मिश्रित होता है उसका रंग हरिताभ या पिंगलाभ पित्त है, और स्वाभाविक मूत्र से कुछ ज्यादा चिपचिपा होता है, इसलिये कुछ समय हिलाने से इस पर झाग उत्पन्न हो जाते हैं, जो साधारणतः स्थायी होते हैं। जो मनुष्य शेलोल (Salol or Phenyl Salicyllate) का

---

*सोने के रंग के समान पीले-भूरे या हरे पीले रंग के यकृत् स्राव को पित्त कहते हैं। इसका स्वाद कडुवा, प्रतिक्रिया क्षारीय और घनत्व (गुरुत्व) १·२६ से १·३२ तक होता है। इसमें पानी, दो जाति के पित्त लवण सोडियम टॉरोकोलेट (Sodium taurocolate) और सोडियम ग्लाई कोकोलेट, पित्तघन (Cholesteria) वसा, श्लेष्मा और अनेक प्रकार के रंजक द्रव्य होते हैं। शरीर में इसका उपयोग पचन क्रिया में अग्न्याशय रस (Pancreatic juice) की सहायता करना है। प्रथितों पर पचन क्रिया पित्त के हेतु से बढ़ती है। यह वसा का दुग्ध के समान विलयन बना देता है, तथा अन्त में किसी प्रकार की सड़ाँद उत्पन्न नहीं होने देता। यह यकृत् में उत्पन्न होकर पित्ताशय (Gall bladder) में जमा होता है। इसमें कुछ देर तक जमा हुए पित्त को पित्ताशयस्थ पित्त (Cystic Bile) कहते हैं।

मूत्र में पित्त की उपस्थिति, पित्त मार्गावरोध अथवा पित्त के अधिक बनने से इसका कुछ अंश रक्त में मिल जाने पर होती है। पित्तमार्गावरोध में पित्त अन्त्र में नहीं पहुँच सकता; यकृत् में ही संग्रहीत होता है; और वहाँ से रक्त में मिलकर कामला की संप्राप्ति कराता है। फिर रक्त में से पित्त वृक्कों द्वारा मूत्र में आता है।

सेवन कर रहा हो उसका मूत्र भी पित्त मिश्रित मूत्र के समान हरिताभ प्रतीत होता है। परन्तु सैलोल की उपस्थिति से मूत्र इतना गाढ़ा नहीं होता और जो फेन उत्पन्न होते हैं; वे विवर्ण और अस्थायी होते हैं।

मूत्र को छोटे शंकु आकार शीशे के पात्र में लें, और उस पर बड़ी सावधानी से कुछ बूंद सोरकाम्ल (Nitric acid) जिसमे न्यूनतम नत्र-मय सोरकाम्ल (Nitrous acid)* उपस्थित हो, उसे इस प्रकार से डालें कि, वह पात्र को लगता हुआ जाय, जिससे मूत्र के तल मे उसकी एक तह-सी बन सके। इस प्रयोग मे पित्त-रजक का ऑक्सीकरण होकर कोलैटलीन (Choletelin) बन जाता है, जो एसिड के पास पीताभ रक्त वर्ण का छल्ला सा बनाता है। इसके ऊपर रक्त वर्ण का छल्ला होता है, उसके ऊपर पित्त नील (Bilicyenin) का बनफशई, और सबसे ऊपर पित्त हरित (Biliverdin) का हरा छल्ला होता है। उपर्युक्त सम्पूर्ण छल्लो मे से सबसे ऊपर का हरा छल्ला ही मूत्र मे पित्त की उपस्थिति का द्योतक है, जबकि शेष छल्ले मूत्रिय नील से उत्पन्न स्फटिकाकार पदार्थों से भी उत्पन्न हो सकते हैं।

पूर्व वर्णित मेलिन की परीक्षा ज्यादा सूक्ष्म ग्राही नहीं है। इस लिये ५ प्र० श० पित्त होने पर भी इस विधिद्वारा परीक्षा करने से असफलता मिल सकती है। सामान्य एक ही फिल्टर पेपर द्वारा मूत्र को कई समय छान कर इस परीक्षा की सूक्ष्म ग्राह्यता बढ़ाई जासकती है। इससे पित्त रंजक से फिल्टर पेपर अच्छी तरह रंग जाता है, फिर इसपर पीतवर्ण के सोरकाम्लकी बूंदे डालने पर विविध वर्ण के मण्डल स्पष्टतया भासते है।

इसका निम्न परिष्कृत स्वरूप अधिक सूक्ष्म ग्राही है, इसलिये सदेह होने पर निम्न विधियों द्वारा निश्चय करना चाहिये। इनसे अगर ०.२ प्रति-शत पित्त भी मूत्र में होगा तो भी उपस्थिति का पता चल जायगा।

प्रथम विधिः—एक जार (Jar) में ५० सी.सी मूत्रले और उसमें ५ सी.सी. १० प्र० श० का बेरियम क्लोराइड का विलयन, और ५ सी.सी. क्लोरोफार्म मिलावे। फिर कुछ मिनिट तक चलाकर १० मिनिट एक तरफ स्थिर रखदे। इससे मूत्र मे निक्षेप उत्पन्न होकर नीचे बैठते समय क्लोरोफार्म और स्फुर पित्त रजक को भी अपने साथ लेलेगी। अगर उस समय कुछ

---

*सोरकाम्ल को कुछ समय प्रकाश मे खुला रख देने से यह पीला हो जाता है, इस कार्य के लिये इसे ही प्रयुक्त करना उपयुक्त है; या इसमें कुछ सोडियम नाइट्रिट (Sodium Nitrite) मिलाकर प्रयुक्त करना चाहिये।

निक्षेप मूत्र में ऊपर रहा हो, तो जारको धीरे से इधर उधर हिलादें। इससे वह नीचे बैठ जायगा। फिर पिपेट की सहायता से निक्षेप और क्लोरोफार्म पृथक् करलें। अगर इसके साथ कुछ मूत्र भी आजाय, तो कोई बात नहीं। इनको चौडी तस्तरी में रखकर गरम पानी से भरे हुए चीनी के पात्र में रखे। कुछ समय बाद गर्मी के कारण सम्पूर्ण क्लोरोफार्म के वाष्पि भवन हो जाने पर तस्तरी को पानी पर से हटा कर शीतल होने दें। तत्पश्चात् कोई तरल जो निक्षेप के उपर हो फेंक दें निक्षेप पीताभ होगा। अब निक्षेप पर पीतसोर-काम्लकी बूंदे इधर उधर डालें। अगर पित्त रंजक विद्यमान होगा तो अम्ल की प्रत्येक बूंद के चारो तरफ नीलाभ या हरित वर्ण उत्पन्न हो जायगा।

द्वितीय विधिः—१० सी. सी. मूत्र को एक परीक्षा नलिका में लेकर उसमें थोड़ा सा कास्टिक सोडा मिलाकर उसे क्षारीय बनाले। इसमें कैलशीयम क्लोराइड (Calcium chloride) के १० प्रतिशत विलयन के २ या ३ सी. सी. डाले। इससे निक्षेप उत्पन्न हो जॉयगे। फिर फिल्टर से छान कर निक्षेप पृथक् करलें। इन निक्षेपों को किसी तरल से धोकर स्वच्छ करलें। तत्पश्चात् फिल्टर पेपर को निक्षेप सहित चौडे चीनी के पात्र में रखकर उस पर १० सी. सी. अम्लीय अल्कोहल अर्थात् एसिड अल्कोहल (५ सी. सी. तेज लवणाम्ल और १०० सी. सी तक अल्कोहल) डाले। इससे निक्षेप उस में लीन होजायगा, और अम्लीय अल्कोहल पीताभ होजायगी। इसे यदि परीक्षा नलीमे डाल कर उष्ण किया जाय तो पित्त की उपस्थिति मे इसका वर्ण नीलाभ या हरा हो जायगा।

आयोडीन परीक्षा—मूत्र को परीक्षा नली मे लेकर इसके ऊपर शनैः शनैः १० प्र० श० मद्यसारीय आयोडीन विलयन इस प्रकार डालें कि यह मूत्र के साथ न मिलकर उसके ऊपर ही तैरता रहे। यदि मूत्र में पित्तरंजक होगा तो दोनों के संगम स्थान पर गहरा हरितवर्ण उत्पन्न हो जायगा।

पित्ताम्ल की परीक्षा-(१) पेटन कोफर की परीक्षा (Petten kofar's test) * जो कि साधारणतया अन्य वस्तुओं मे पित्ताम्ल की उपस्थिति

---

* पैटनकोफर एक जर्मन वैज्ञानिक हुआ है जिसने पित्ताम्ल की निम्न परीक्षा निकाली। गधकाम्ल (Sulphuric acid) में शक्कर मिलाकर मिश्रण तैयार कर लिया जाता है। अगर इस मिश्रण में परीक्ष्य विलयन डाला जाय। और उसमें पित्ताम्ल विद्यमान होगा तो उसमें बेंजनी और गहरा लाल उत्पन्न हो जायगा।

जानने के लिये प्रयुक्त की जाती है, मूत्र मे इसकी उपस्थिति जानने के लिए अनुपयुक्त है। इसका कारण यह है कि, स्वस्थावस्था का मूत्र भी तेज गंधकाम्ल की उपस्थिति से, पित्ताम्ल उपस्थिति न होने पर भी, बैंजनी आभावाला रंग उत्पन्न कर देता है। इससे भ्रमोत्पत्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त श्वेत मज्जा (Myeline) जैसे अन्य पदार्थों की उपस्थिति से भी समान ही प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है; इसलिये मूत्र मे पित्ताम्ल की उपस्थिति जानने के लिये इसे प्रयुक्त न करना ही ज्यादा उचित माना जायगा।

द्वितीय विधि:—पित्ताम्ल की उपस्थिति के लिये डाक्टर हे की गंधक परीक्षा (Hay's sulphur test) सरलतम है। मूत्र की सतह पर गंधक का सूक्ष्म चूर्ण धीरे धीरे बिखेरें। अगर मूत्र मे पित्तज-लवण विद्यमान होगा, तो गंधक डूब जायगी, जब कि स्वस्थ मूत्र मे गंधक तैरती रहेगी। यह परीक्षा इस सत्यता पर निर्भर है कि पित्तज लवण जिस तरल के साथ मिश्रित रहता है, उसकी सतह का तनाव (Tension) कम कर देता है।

(५) मूत्रमें पूयकी विद्यमानता (पूयमेह Pyuria)

मूत्र में पूयकी उपस्थिति के कारण उसके वर्ण और विषमता में भिन्नता आजाती है। इसकी उपस्थिति से उत्पन्न मूत्र के स्वरूप मे परिवर्तन जो सिर्फ आँख से प्रतीत किया जा सकता है, उसका वर्णन पूर्व किया जा चुका है। रासायनिक परीक्षा से इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि, पूयकी उपस्थिति होने पर मूत्र मे शुभ्र प्रथिन भी अवश्य विद्यमान होता है। रक्तमेह के समान इस अवस्था मे सम्पूर्ण शुभ्रप्रथिन पूयके कारण है या रोगी स्वतन्त्र लसीका मेह से भी पीड़ित है यह जानना कठिन है? एक वैज्ञानिक ने इस विषय में निश्चय करने के लिये निम्न विधि बतलायी है। प्रथम रोगी के २४ घंटो का मूत्र लें और भली प्रकार आलोडित करलें। ताकि सम्पूर्ण मूत्र मे पूय समान रूप से मिल जाय। पश्चात् रक्ताणुगणना यन्त्र (Haemocytometer) की सहायता से पूय कोषो की गणना करले। इसकी विधि रक्ताणुगणना के समान है। केवल अन्तर इतना ही है कि, रक्ताणुगणना में उसे हल्का नहीं करना पडता। यदि मूत्र मे प्रतिघन सहस्रांश मीटर (Per-cubic millimeter) १००,००० पूयकोष हो, तो शुभ्रप्रथिन की मात्रा १ प्र० श० होती है। अगर मूत्र मे शुभ्रप्रथिन इस अनुपात से अधिक हो, तो समझना चाहिये कि शुभ्रप्रथिन की उपस्थिति केवल पूयके कारण नही, अपितु स्वतंत्र लसीकामेह भी उपस्थित है। यह स्पष्ट है कि इस विधि द्वारा लगभग परिणाम ही प्रतीत होता है न कि पूर्ण निश्चित परिणाम।

इसके आक्सीकरण से एसिटो एसिटिक एसिड उत्पन्न होता है; फिर वह आसानी से एसीटोन (रक्त शर्करा विष) और कार्बन डाइ ओक्साइड में विश्लिष्ट हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि, ये तीनों द्रव्य एक ही पदार्थ से उत्पन्न होते हैं, तथा इनका आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनकी उपस्थिति मूर्च्छा उत्पन्न कर देती है इस लिये जीर्ण मधु मेह से पीड़ित रोगी के मूत्र को इनके लिये समय समय पर परीक्षा करनी चाहिये।

मधुमेह के अतिरिक्त अति मधुर पदार्थों के सेवन से उत्पन्न बालकों की यकृद्वि (Glycogenosis) आक्षेप (Tetany), चिरकारी वृक्क प्रदाह, वृक्क सन्यास (Uraemia), बालों के मूल, विशेषतः दाढ़ी के बालों के मूल में फुन्सियाँ होकर पूयस्राव होना (श्मश्रु प्रदाह Sycosis), लघु अन्त्र में कर्बोदक आदि की अम्ल प्रतिक्रिया होकर उत्पन्न सेन्द्रिय विष से विषाक्त होना (Autointoxication), समुद्र आदि की अधिक मुसाफिरी क्लोरोफार्म आदि मूर्च्छित करने वाली ओषधियों के उपयोग के पश्चात् बार बार वमन होना, अफीम या सेली सिलेट का विष से उपयोग करना, इन सब कारणों से मूत्र में रक्तशर्करा विष उपस्थित होता है।

परीक्षा विधि—परीक्षा नलिका में १० सी. सी. ताजा मूत्र लेकर उसमें इतना अमोनिया सल्फेट मिलावे कि सतृप्त विलयन तैयार हो जाय। अक्सर ५ ग्राम अमोनियम सल्फेट की आवश्यकता पड़ती है। फिर उसमें ५ प्र० श० सोडियम नाइट्रो प्रूसाइड (Sodium nitro prusside) की ३ बूंद, और तेज अमोनिया २ सी.सी. डाले। यदि गुलाबी रंग उत्पन्न हो जाय, तो समझना चाहिये कि ऐसीटोन और एसिटो एसिटिक एसिड मूत्र में उपस्थित हैं। इन दोनों की विद्यमानता से समान ही प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है।

सूचना—परीक्षार्थ मूत्र ताजा होना चाहिये। यदि मूत्र उबाल लिया जायगा; अथवा कुछ समय पड़ा रह जायगा, तो एसिटो, ऐसिटिक एसिड विश्लिष्ट हो जायगा। फिर परीक्षा में सफलता नहीं मिलेगी।

उक्त परीक्षा को डाक्टरी में रोथिंग की परीक्षा (rothera's nitro pruside test) संज्ञा दी है। यदि उक्त परीक्षा में सतोष-प्रद परिणाम प्रतीत न हो तो निम्न फेरिक क्लोराइड की प्रति क्रिया द्वारा एक गिर हार्ट की परीक्षा (Girhart's test) प्रयुक्त करनी चाहिये।

परीक्षा विधि:—कुछ मूत्र परीक्षा नलिका में लेकर उसमें आयरन पर क्लोराइड (perchloride of Iron) के विलयन को बूंद-बूंद

करके इतना डालें कि आयरन फास्फेट्स का कुछ निक्षेप उत्पन्न हो जाता है। उसे छान कर पृथक् करलें। तदनन्तर छने हुए मूत्र में आयरन पर क्लोराइड के विलयन की पुनः एक या दो बूंद डालने से यदि भूरा-लाल वर्ण उत्पन्न हो जाय, तो एसिटो एसिटिक एसिड की विद्यमानता समझनी चाहिए। एण्टी पाइरिन, सैलोल (salol), सैलीसिलेट्स (salicylates), कार्बोलिक एसिड और अन्य कुछ औषधियाँ भी आयरन पर क्लोराइड के साथ इसी प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है। इससे भूल होने की संभावना रहती है। इसकी पहचान इस विभेदक चिन्ह से की जाती है कि, आयरन पर क्लोराइड मिलाने से पूर्व मूत्र को उबाल लिया जाय, तो एसिटो एसिटिक एसिड नष्ट हो जायगा; किन्तु अन्य एण्टी पाइरिन आदि की उपस्थिति से उत्पन्न प्रतिक्रिया पर उबालने से कुछ भी परिवर्तन नही होगा, पूर्ववत् ही प्रतिक्रिया (भूरा-लाल रंग) उत्पन्न होगी। इसलिये लम्बे अर्से तक उबाल लेने के पश्चात् भी आयरन पर क्लोराइड से प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाय तो समझना चाहिये कि मूत्र मे एसिटो एसिटिक एसिड उपस्थित नहीं है। आयरन पर क्लोराइड मिलाकर अगर मूत्र को उबाला जायगा, तो प्रतिक्रिया चाहे एसिटो एसिटिक एसिड से या एण्टी पाइरिन आदि वस्तुओ की उपस्थिति से हुई हो, दोनो ही अवस्थाओं में रंग नष्ट हो जायगा।

आयरन पर क्लोराइड से मूत्र मे प्रतिक्रिया तब ही उत्पन्न होती है जबकि उसमें एसिटो एसिटिक एसिड काफी मात्रा मे विद्यमान् हो। इसलिए अगर मूत्र में प्रथम विधि से ही प्रतिक्रिया उत्पन्न हो, और आयरन पर क्लोराइड से कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न न हो, तो समझना चाहिये कि सिर्फ एसिटोन की कुछ मात्रा ही मूत्र में उपस्थित है।

३. मिथ्याइक्षुमेह (Glycuronuria) :—मिथ्या शर्करान्ल (Glycuronic acid) का निर्माण संभवतः द्राक्ष शर्करा से होता है। इसके कुछ चिन्ह यौगिक रूप से स्वस्थावस्था के मूत्र में पाये जाते है। अगर रक्त परिभ्रमण मे इसके अनुकूल पदार्थ उत्पन्न हो जाय, तो ईथीरियल (Ethereal) या ग्लुकोसाइडल (Glucosidal) के योगिक बनाने को यह बहुत उद्यत रहता है। इसलिए क्लोरल, बैन्जोइकएसिड, मोर्फिया, क्लोरोफार्म आदि के प्रयोग के पश्चात मूत्र के अन्दर यह मिथ्या शर्करान्ल काफी परिमाण में गंध द्रव्य (Aromatics) आदि से युग्म रूप से मिश्रित होकर उपस्थित होता है। यह स्थिति पुराने भ्रमपूर्ण विश्वास को

पैदा करती थी कि, इस प्रकार की औषधियां के सेवन से इक्षुमेह उत्पन्न हो जाता है। जबकि वास्तविकता यह है कि, इस प्रकार की औषधियों के सेवन से मूत्र में जो पदार्थ उत्पन्न होता है वह द्राक्ष शर्करा न होकर मिथ्या शर्कराम्ल है।

कभी कभी मूत्र में मिथ्या शर्कराम्ल स्वतः ही उपस्थित हो जाता है, तब इसे द्राक्ष शर्करा समझ लेने की भूल होने की अधिक सम्भावना है। क्योंकि, यह फैह्लिंग के विलयन को द्राक्ष शर्करा के ही समान अपकर्षित कर देता है, परन्तु बेनेडिक्ट के विलयन को नहीं; तथा फैनील हाइड्राजिन परीक्षा से भी द्राक्षौज ही के समान पीत स्फटिकाकार निक्षेप उत्पन्न करता है।

द्राक्ष शर्करा विभेदक चिन्ह :—

१. किण्व से द्राक्षौज के समान इसमें खमीर उत्पन्न नहीं होता।
२. फ्लोरोग्लुसिन (Phloroglucin) और लवणाम्ल से इसमें गहरा लाल रंग उत्पन्न होता है।
२. (कर्न शर्करा मेह में उल्लिखित) उबलते हुए (वाएल) प्रतिकारक में मूत्र डाला जाय तो वह अपकर्षित नहीं होता।
४. नैफ्थोरिसोर्सिनोल (Naphtho-resorcinal) से प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है।

नैफ्थोरिसोर्सिनोल की प्रतिक्रिया विधि—एक चौड़ी परीक्षा-नालिका में ५ सी.सी. मूत्र ले। और उसमें ०·५ सी.सी. १ प्र० श० नैफ्थोरिसोर्सिनोल का विलयन और ५ सी.सी. शुद्ध लवणाम्ल मिलावें। उसे धीरे-धीरे उष्ण करके उबालें। एक मिनिट तक उबालते रहें और मध्यमे हिलाते भी जायें। चार मिनिट के लिये इसे स्थिर रखदें, फिर पानी के नलके नीचे शीतल करें। अन्त मे इसी के समान घनफल में ईथर (Ether) मिलाकर अच्छी तरह हिलालें। अगर मिथ्या शर्कराम्ल विद्यमान होगा तो ईथर बैजनी या लालरंग से रंजित हो जायगा।

४. सीस्टीन (Cystin)* यह कभी कभी अम्लीय मूलमें निक्षेप

---

* यह एक प्रकार का अमीनो अम्ल है, जो प्रथिनों के पचन या अम्लीय विच्छेदन से उत्पन्न होता है। यह कभी कभी मूत्र में या वृक्कों में सूक्ष्म सूक्ष्म पट् कोणीय स्फटिक के रूप में पाया जाता है, जो कि वृक्क और मूत्राशय के भीतर अश्मरी (Calculus) बना देता है। प्रथिन के परमाणु

रूपमें पाया जाता है। इसके अनोखे स्फटिकाकार स्वरूप के कारण इसे पहचान लिया जाता है। (चित्र ७१)। यह क्षारीय मूत्र में घुलनशील है; इसलिये जब मूत्र कुछ समय रक्खा रहने के कारण सड़ता है, तब इसके निक्षेप विलीन होजाते हैं, और गंधक मिश्रित हाइड्रोजन की गंध उत्पन्न हो जाती है। जिस मूत्र में सीस्टीन विद्यमान हो, और अगर उसमे कुछ कास्टिक पोटाश और नागशर्करा (Acetate of lead) मिलाकर उबाला जाय, तो सीसा के सल्फाइड (Sulphide of lead) का काला निक्षेप उत्पन्न हो जायगा।

सीस्टीन प्रथिनो के चयापचय से उत्पन्न होता है। शायद इसकी उत्पत्ति सीसटेइन (cystein) से होती है, जो उसके स्वाभाविक ऑक्सीकरण मे बाधा उपस्थित होने पर होती है। यह दो प्रकार के अमीनो समूह (जैसे काडावर्डिन और पुट्रीसिन) के योग से मूत्र में प्रतीत होता है। पुरुषों और स्त्रियो में इसकी उपस्थिति का अनुपात २:१ होता है, तथा ५० वर्ष की आयु के पश्चात् क्वचित् ही पाया जाता है। यह एक ही कुटुम्ब के अनेक मनुष्यों मे पाया जा सकता है, तथा इसकी उपस्थिति सतत या सविराम हो सकती है। इसकी उपस्थिति का कुछ महत्व इसलिये है कि, यह चयापचय (metabolism) क्रिया की सहज त्रुटिका प्रतीक माना जाता है। एवं रोग सम्प्राप्ति विज्ञान की दृष्टि से अश्मरी बनाने के स्वभाव के अतिरिक्त इसका कुछ भी महत्व नहीं है।

(७) मूत्र में औषधियाँ

कुछ औषधियाँ ऐसी है जिनके सेवन से मूत्र मे काफी परिवर्तन हो जाता है। परीक्षा मे इनसे भ्रम उत्पन्न न हो, इसलिए इनका भी संक्षेप में वर्णन कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

एण्टी पायरिन (antipyrin) :—इसके प्रयोग से मूत्र रक्त वर्ण का होता है, इससे रक्त की उपस्थिति का भ्रम होने का संदेह रहता है। मूत्र में इसकी उपस्थिति होने पर अगर उसमें आयरन पर क्लोराइड डाला जाय, तो बैंजनी रंग उत्पन्न होता है, जो उबालने पर भी स्थिर रहता है,

---

का सीस्टीन ही गंधक युक्त मुख्य यौगिक है और पूर्णाक भोजन का मुख्य पदार्थ है, अर्थात् इसका अनुपस्थिति में कोई भी भोजन पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

परन्तु अम्ल मिलाने पर विलीन हो जाता है। इसके अतिरिक्त इससे युक्त मूत्र फैह्लिंग के विलयन को मिलाकर उबालने से अपकर्षित हो जाता है।

ब्रोमाइड्स (Bromides) :—इसकी परीक्षा के लिए मूत्र में कुछ लवणाम्ल और कुछ बूंदें ब्लीचिंग पाउडर के हल्के विलयन को मिलावें। पश्चात् कुछ क्लोरोफार्म मिलाकर हिलादें; इसकी उपस्थिति में स्वतंत्र ब्रोमाइड के मिश्रण के कारण क्लोरोफार्म भूरा-लाल हो जाता है।

कार्बोलिक अम्ल (Carbolic acid) :—इसका विस्तृत वर्णन मूत्र के वर्ण परीक्षा विवेचन में कर दिया है। इसके लिये ब्रोमाइड का पानी डालकर परीक्षा करना सर्वश्रेष्ठ परीक्षा है। इससे सफेद निक्षेप इसकी उपस्थिति प्रगट कर देता है।

क्लोरल, क्लोरोफार्म आदि :—इनकी उपस्थिति से मिथ्या शर्करामल का भ्रम हो सकता है। इनकी विभेदक परीक्षा मिथ्या शर्कराम्ल (मिथ्या इक्षु मेह) की परीक्षा में वर्णित करदी गई है।

आयोडाइड्स (Iodides) :—प्रथम कुछ शुद्ध सोरकाम्ल मिलाकर मूत्र को अम्लीय करले। फिर क्लोरो फार्म मिलाकर हिलादें। आयोडाइडकी उपस्थिति में यह गुलाबी-लाल रंजित हो जाता है।

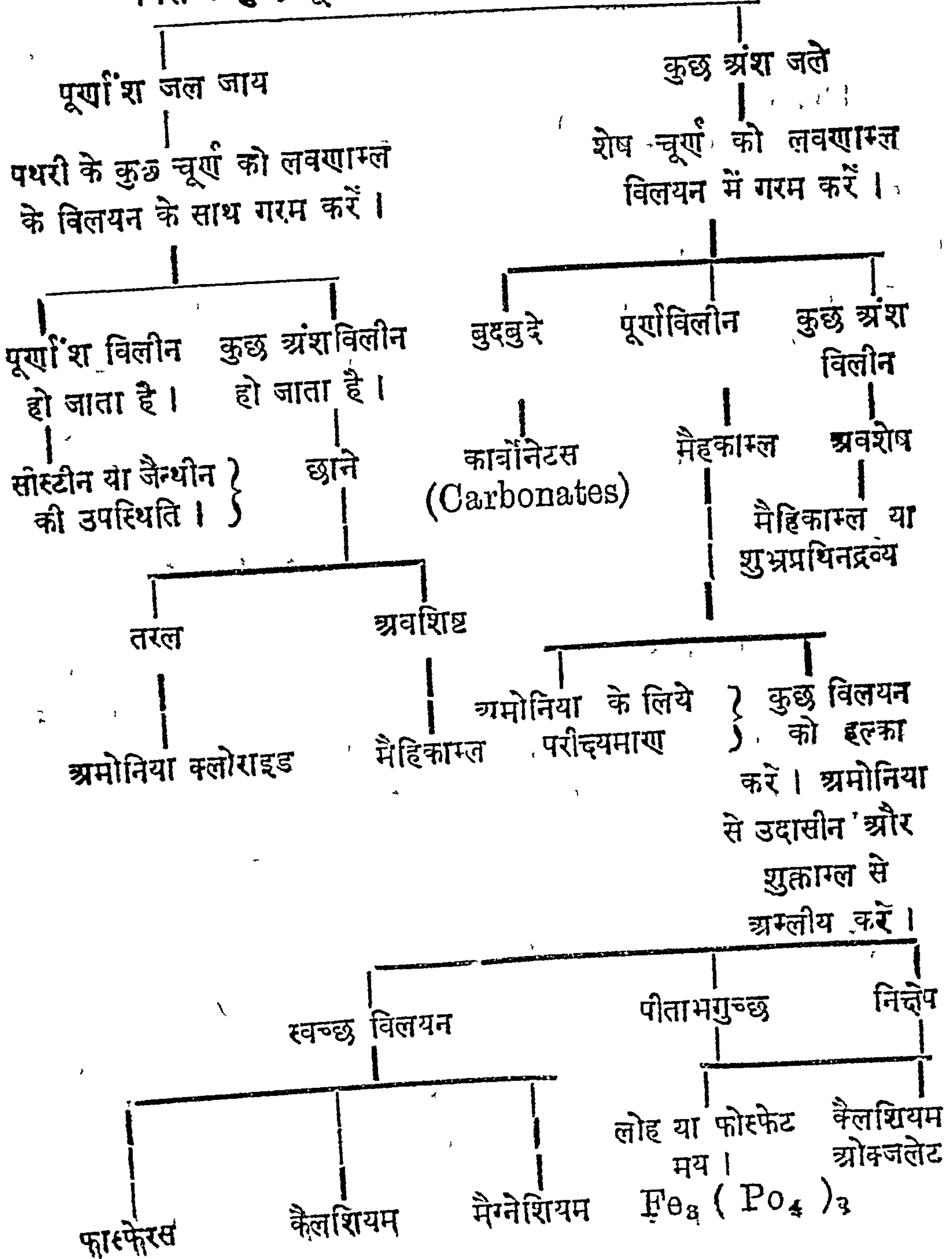
लोह (Iron) :—मूत्र में कुछ बूंदे सोरकाम्ल की डालकर उबाले और पुनः ठंडा करके उसमें कुछ १० प्र० श० पोटाश फेरोसाइनाइड मिलावें। अगर लोह विद्यमान होगा तो उसमें नीले फैरिक फैरोसाइनाइड का विक्षेप उत्पन्न हो जायगा।

रेवंदचीनी और सैण्टोनीन (Rherbarb and santonin)—इनका भी मूत्र की वर्ण परीक्षा मे उल्लेख कर दिया गया है।

सैलीसिलेट्स और सैलोल (Salicylates and salol) ये मूत्रमें सैलीसिल्युरिक एसिड (Salicyluric acid) के रूपमें पाये जाते हैं। अगर मूत्रमें इनकी अधिक मात्रा उपस्थित हो, तो उसमें कुछ फैरिक क्लोराइड मिलाने से नीला-बैंजनी रंग उत्पन्न हो जाता है; परन्तु अगर इनकी न्यून मात्रा ही उपस्थित है, तो लाल-भूरा रंग उत्पन्न होता है, जो कि एसिटो एसिटिक एसिडकी उपस्थिति के समान होता है। (जिससे इनका भेद करना असम्भव होता है) मूत्र में इनकी उपस्थिति फैह्लिग विलयन का आंशिक अपकर्षण भी करती है।

टैनिन (Tannin):—मूत्रमें इनकी उपस्थिति से फैरिक क्लोराइड मिलानेपर नीला काला रंग उत्पन्न हो जाता है।

मूत्राश्मरी की विश्लेषण विधिः—



(८) मूत्रस्थ फेनीभवन शक्ति का अनुमान ।

(Estimation of Diastase of the Urine)

डायस्टेज एक प्रकार का श्वेत, आकार हीन, घुलनशील ठोस खमीर है, जो बीजों के अंकुरित होने के समय उत्पन्न होता है, और अंकुरित यव (malt) के अन्दर पाया जाता है। यह श्वेत सार (starch) को धान्य शर्करा और फिर द्राक्ष शर्करा मे परिवर्त्तित करता है।

सर्व प्रथम ०·१ प्र० श० घुलनशील श्वेतसार का विलयन तैयार करें। पश्चात् १०० प्र० श० नमक (sodium chloride), और ८० सामान्य आयोडीन (N. Iodine) का स्रवित जल में विलयन तैयार करे।

इसके लिये लगभग ३ सी.सी. मूत्र की आवश्यकता पड़ती है; जिसको २४ घटे के एकत्र मूत्र से लेना ज्यादा श्रेष्ठ माना जायगा।

१० परीक्षा-नलीकाएँ लें और उनपर १ से १० तक के अंक के पत्र (lable) लगावें। अब १ सी. सी. वाली पीपैट, जो शतांश के अङ्को द्वारा विभाजित हो, की सहायता से ०·६ सी. सी. मूत्र लेकर १ नम्बर की नालिका मे डाल दे। फिर ०·५ सी. सी. नं० २ में, ०·४ सी. सी. नं० ३ में, ०·३ सी. सी. न० ४ में, ०·२ सी. सी. नं० ५ में, ०·१ सी. सी. नं० ६ में, ०·०६ नं० ७ में ०·०८ नं० ८ मे, ०·०७ नं० ९ में और ०·०६ नं० १० की नालिका में, ०·१ सी. सी. के नीचे मूत्र को नापने के लिये अगर उसे १ में १० के हिसाब से, १ प्र० श० लवण विलयन मिलाकर कर लिया जाय, तो ज्यादा सुविधा रहेगी। पश्चात् प्रत्येक नलिका में लवण विलयन मिलाकर तरल का परिमाण १ सी. सी. कर ले।

प्रत्येक नलिका में पूर्वोक्त २ सी. सी. श्वेतसार का विलयन डालकर हिलावें, फिर नलिकाओं को ३८ सैण्टीग्रेड के ताप पर जल-उष्मक (Water bath) में आध घण्टे के लिए रखकर फिर तीन मिनिट के लिये ठडे पानी में रक्खें। अब प्रत्येक नलिका में पूर्वोक्त आयोडीनका विलयन एक एक बूंद डालें और देखता रहे कि, १० परीक्षा नलिकाओं में से सर्व प्रथम किस में नीला रंग उत्पन्न होता है; अर्थात् दूसरे शब्दो में कौनसी नलिका में अपचित श्वेतसार के चिन्ह विद्यमान् हैं।

साधारणतः नलिका न० ६ मे (जिसमे ०·१ सी. सी. मूत्र होता है) सर्व प्रथम नीला रंग उत्पन्न होता है। इस अवस्था में ०·२ सी. सी. मूत्र,

३० मिनिट में ३८ सेण्टीग्रेड ताप पर, १ प्र० श० वाले श्वेतसार के २ सी. सी. विलयन को पचन करने की शक्ति रखता है।

∴ १ सी. सी. मूत्र पचन कर सकता है २०/२ = १० सी. सी. श्वेतसार के विलयन को इसे इस प्रकार अंको द्वारा प्रगट करते हैं:–D ३८°/३०' या = १० यां D = १० एकाई।

स्वस्थावस्था में यह शक्ति D ६.६ से ३३.३ के बराबर हो सकती है। जीर्ण अग्न्याशय प्रदाह (Pancreatitis) मे यह ४०० तक बढ़ सकती है। इसके विपरीत वृक्क की कार्य कारिता के ह्रास के अनुसार वृक्क प्रदाह (Nephritis) में न्यून हो जाती है।

(६) वृक्कों की धारणा शक्ति।

यह परीक्षा इस सिद्धान्त पर निर्भर है कि ६ मि० ग्राम डाय फैनोल-सल्फोन-थैलीन नामक रंजक द्रव्य का अन्तः क्षेपण किया जाय, तो अन्तः क्षेपण के पश्चात् २ घण्टों में इसका जितना परिमाण मूत्र के साथ बाहर आता है, उसपर यह परीक्षा अवलम्बित है अर्थात इस परिभाषा से वृक्कों की शक्ति विदित हो जाती है।

परीक्षा विधि :—मूत्र का स्राव अच्छी तरह खुलकर हो इसके लिए रोगी को ४०० सी. सी. पानी पीने के लिये दें। इसके १५ मिनिट पश्चात् मूत्र त्याग करवा करके और आवश्यकता हो तो कैथेटर का प्रयोग करके, मूत्राशय को बिलकुल रिक्त कर दें, तथा ६ मि. ग्राम पूर्वोक्त रंजक द्रव्य को १ सी. सी. पानी मे मिलाकर मांस पेशी मे अंतःक्षेपित करा दें।

ठीक एक घंटे और पुनः दूसरे घंटे के पश्चात् मूत्राशय को रिक्त कर डालें, और दोनों नमूनाओं को पृथक् पृथक् रंजक द्रव्य का परिमाण जानने के लिये सुरक्षित रखदें।

मूत्र साधारणतः अम्लीय होता है। इसलिये जब तक क्षारीय न कर दिया जाय रंजक द्रव्य से लाल रंजित नहीं होता। दोनों नमूनाओं में से प्रत्येक को नापे, और ४० प्र० श० सोडियम हाइड्रोक्साइड (Sodium hydroxide) मिलाकर तेज क्षारीय बनालें। गहरा लाल रंग उत्पन्न हो तो इसे ५०० सी. सी. तक हल्का करले, अगर गहरा रंग न हो तो २५० सी. सी. तक ही हल्का करें। अन्त में छानकर फास्फेट्स का निक्षेप पृथक् करलें।

एक एक घंटे के अन्तर पर प्राप्त मूत्र के दोनो नमूनाओं के रंग की तुलना करके परीक्षा की जा सके, इसलिये निम्न प्रमाणित विलयन तैयार कर लेना चाहिये।

फैनोल सल्फोन-थैलीन के ०'०२ प्र० श० विलयन के १'५ सी. सी. को क्षारीय बनाकर, उसमें जल मिला कर ५० सी. सी. बना लिया जाता है। इस प्रकार १००० सी. सी. में ६ मि० ग्राम के हिसाब का द्रव्य का विलयन तैयार हो जाता है। इस प्रमाणित विलयन की तुलना प्राप्त मूत्र के नमूने से की जाती है। मूत्र का पीत रंग इसको कोई बाधा न पहुँचा सके इसके लिये प्रमाणित विलयन बनाने में पानी के स्थान पर मूत्र ही का प्रयोग कर लेना चाहिये। सबसे सरल मार्ग यह है कि निम्नोक्त 'अ' तथा 'आ' विलयन (प्रमाणित) बनाकर तुलना की जाय। 'अ' और 'आ' विलयन निम्न विधि अनुसार बनाये जाते हैं।

(अ) १'५ सी. सी. ०'०२ प्र० श० फैलोन-सल्फोन-थैलीन के विलयन को ४० सी. सी. स्रवित जल में मिलावें। फिर उसमे १ सी. सी. ४० प्र० श० सोडियम हाइड्रोक्साइड मिलाकर, जितना ५० सी. सी. में कम रहे उतना स्रवित जल मिलादें।

(आ) उपरोक्त ०'०२ प्र० श० वाले विलयन की १'५ सी. सी. को ४० सी. सी स्वस्थ मूत्र में मिलावें। अगर मूत्र का रंग गहरा हो तो मूत्र कम मात्रा में लेवें। फिर १ सी. सी. ४० प्र० श० सोडियम हाइड्रोक्साइड मिला कर जितना ५० सी. सी. मे कम रहे उतना स्रवित जल मिलादें।

इन विलयनो में लाल रग की समान मात्रा ही अवस्थित होती है और परीक्ष्य मूत्र के नमूनो के रंग की तुलना करने के लिये इनको विभिन्न अनुपातों में मिलाकर उचित पीत-वर्ण युक्त प्रमाणित विलयन तैयार किया जा सकता है।

वर्ण का परिमाण जानने के लिये एक वर्ण-मापकयन्त्र (Calorimeter) प्रयुक्त किया जाता है। अ और आ विलयन को मिलाकर प्रथम घटे में प्राप्त मूत्र के समान वर्णवाला मिश्रण बनाकर, इस यन्त्र के दो वर्त्तनों में मूत्र और इस मिश्रण को पृथक् पृथक् भरदें। प्रमाणित मिश्रण २० मि. मी. तक और मूत्र की उस गहराई तक जब कि वर्ण की गहराई समान हो जाय। तत्पश्चात् निम्न विधि द्वारा गणना करके मात्रा ज्ञात करलें।

माना कि मूत्र २५० सी. सी. तक हल्का किया गया है, और मूत्र के नमूने की गहराई के अंक जो प्रतीत किये गये हैं "क" हैं।

तब मूत्र के नमूने की रंग की गहराई $\times \frac{क}{२०}$ = प्रमाणित विलयन के रंग की गहराई के।

∴ २५० सी. सी. मूत्र के नमूने $\times \frac{क}{२०}$ में रंजक द्रव्य की मात्रा २५० सी. सी. प्रमाणित विलयन मे रंजक द्रव्य की मात्रा के बराबर है $= \frac{२५०}{१०००} \times$ ६ मि० ग्राम, या प्राथमिक मात्रा का २५ प्र० श०।

∴ मूत्र के नमूने मे रंजक द्रव्य का परिमाण $= \frac{२०}{क} \times$ २५ प्र० श० प्राथमिक मात्रा का: अगर मूत्र २५० सी. सी. के स्थान पर ५०० सी. सी. तक हल्का किया गया है, तो इसमें उपस्थित रजक द्रव्य (फैनोल-सल्फोन-थैलीन) की मात्रा प्राथमिक रंजक द्रव्य की मात्रा की $\frac{२०}{क} \times$५० प्र० श० होगी।

दूसरे घण्टे में प्राप्त मूत्र के नमूने में उपस्थित रंजक द्रव्य की प्र० श० मात्रा भी इसी विधि द्वारा प्रतीत कर लें।

परन्तु प्रत्येक चिकित्सक के लिये वर्णमापक-यंत्र (Calorimeter) प्राप्त कर लेना सम्भव नहीं है, इसलिये जहाँ यह अप्राप्य हो वहाँ निम्न विधि से परिमाण प्रतीत करना चाहिये:—

दो समान आकार वाली परीक्षा-नलिका मे अलग अलग १० सी.सी. प्रमाणित विलयन और १० सी. सी मूत्र का नमूना भर दें। पश्चात् प्रमाणित विलयन में उस समय तक स्रवित जल बूंद बूंद करके मिलाते जाय, जब तक कि दोनों नलिकाओं में स्थित द्रवों का रंग समान न हो जाय।

मानाकि प्रमाणित विलयन मे "क" सी. सी. जल मिलाया गया है।

तब मूत्र के नमूने के रग की गहराई $\times \frac{१०+क}{१०}$ = प्रमाणित विलयन की रंग की गहराई के।

∴ २५० सी. सी. मूत्र के नमूने में रंजक द्रव्य $\times \frac{१०+क}{१०}$ = २५० सी. प्रमाणित विलयन मे रंजक द्रव्य है।

= प्राथमिक मात्रा के २५ प्र० श० के।

∴ २५० सी. सी. मूत्र के नमूने मे रंजक द्रव्य $= \frac{१०}{१०+क} \times$ २५ प्र० श० प्राथमिक रंजक द्रव्य की मात्रा है।

स्वस्थावस्था में मनुष्य प्रथम घंटे में आगनिक मात्रा का ५० प्र० श० से ज्यादा मूत्र के साथ निकाल देता है, और दो घंटों में सम्मिलित रूप से ६० प्र० श० से भी ज्यादा।

(१०) समाहृत मूत्रीया* की परीक्षा

वृक्कों की शक्ति परीक्षा के लिये साधारण अवस्था के मूत्र में समाहृत मूत्रीया की परीक्षा का कुछ भी महत्व नहीं है। क्योंकि, जब मूत्रीया की उत्पत्ति न्यून मात्रा में हो रही हो या मूत्र में जलीय अंश अधिक होता हो, तब स्वस्थ मनुष्य के मूत्र में भी समाहृत मूत्रीया की मात्रा न्यून हो जाती है।

उक्त प्रयोजन के लिये इस परीक्षा को कुछ महत्व पूर्ण और मूल्यवान बनाने के लिये एक विद्वान् ने निम्न उपाय दर्शाया है।

उसके मतानुसार १५ ग्राम मूत्रीया को १०० सी.सी. पानी में मिला कर उसे नारंगी के तरल सार (Tincture) से सुगन्धित करके रोगी को पिलादे। इसके पिलाने से कुछ घंटों पूर्व रोगी को जल या अन्य द्रव कुछ भी भी नहीं पीना चाहिये, तथा मूत्राशय को भी पूर्णतया रिक्त कर देना चाहिये। इसके पिलाने के पश्चात् प्रत्येक घंटे घंटे का मूत्र अलग अलग तीन बर्तन में इकठा करते जायँ। समाहृत मूत्रीया की परीक्षा के लिये यह ज्यादा उपयुक्त होगा कि दूसरे और तीसरे घण्टे में एकत्रित मूत्र में से नमूने लेकर परीक्षा की जाय इसी प्रकार मूत्रीया के स्थान पर "हाइ पो ब्रोमाइट (Hypobromite)" प्रयुक्त करके भी परीक्षा की जा सकती है, परन्तु मूत्रीया ही ज्यादा विश्वसनीय माना जाता है।

अगर वृक्क स्वस्थ है तो द्वितीय और तृतीय घंटे में एकत्रित मूत्र में समाहृत मूत्रीया का परिमाण साधारणतः २.५ प्र० श० से सामान्यतः ज्यादा और २ प्र० श० से तो अवश्य ज्यादा होता है। परन्तु मूत्र का घनफल अगर

*यह द्रव्य श्वेत, स्फटिकाकार बन सकता है। यह मूत्र, रक्त और लसिका से प्राप्त किया जा सकता है। मूत्र में पाये जाने वाला नत्र जनीय मुख्य पदार्थ है। यह शरीर में प्रथिनों के विश्लेषण से उत्पन्न पदार्थों का अन्तिम परिवर्तन है। यह ऐसा परिवर्त्तित स्वरूप है, जिसके द्वारा देह में से नत्र-बाहर निकलता है। यह विश्वास किया जाता है कि, इसकी उत्पत्ति यकृत् में अमिनो अम्ल और अमोनिया के अन्य यौगिकों से होती हैं। यह औषधिरूप से रात्रि में स्वेद लाने, मैहिकाम्ल को विलीन करने और मूत्र लगुण दर्शाने के लिये दी जाती है। मात्रा ५ से १० ग्रेन।

प्रति घण्टा १५० सी० सी से ज्यादा है तो इस प्रतिशत मात्रा में अन्तर पड़ जायगा। वृक्को की न्यून विकृति में प्रतिशत मात्रा १.५से २.५तक, औरअधिक विकृति में १.५ प्रतिशत से भी न्यून हो जाती है। परिणाम का निर्णय करने के लिये कुछ बातों पर विचार करने की आवश्यकता पड़ती है; १—जब रक्त में आरम्भिक मूत्रीया की मात्रा कम हो (जैसे लगभग ०.०२० प्र० श०) तब मूत्र मे समाहृत मूत्रिया इतना अधिक नहीं हो सकता, जितना कि रक्तमे इसकी अधिक मात्रा (जैसे लगभग ०.०४५ प्र० श० के) होने पर; (२) जब कि मूत्र का घनफल ज्यादा (जैसे १२० सी० सी०) हो, तब समाहृत मूत्रीया की मात्रा कम घनफल होने (जैसे ५० सी० सी०) की तुलना में न्यून हो जाती है।

यह परीक्षा वृक्को की शक्ति (क्षमता) जानने के लिये पूर्वोक्त फैनोल-सल्फोन-थैलीन परीक्षा की सहायक सिद्ध होती है। क्योकि जब वृक्कों में विकृति न्यून हो तब द्वितीय परीक्षा (फैनोल सल्फोन-थैलीन) से क्वचित् ही न्यून परिमाण प्रतीत होता है। अगर फैनोल सल्फोन थैलीन के न्यून परिमाण के साथ ही समाहृत मूत्रीया काभी परिमाण न्यून हो तो वृक्कों की विकृति में न्यून ही संदेह रहता है। इसके विपरीत फैनोल सल्फोन थैलीन परीक्षा से वृक्को की क्षमता न्यून हो जाने पर मूत्र मे इसका परिमाण क्वचित् ही स्वस्थवत् प्रतीत होता है, और फैनोल सल्फोन थैलीन का ज्यादा परिमाण मूत्र में आने पर उस संदेह को निवारण करता है, जो समाहृत मूत्रीया २०० और २.५ प्रतिशत की मात्रा में उपस्थित होने पर उत्पन्न होता है।

वृक्कों में दो पृथक् पृथक् क्रियाएं होती हैं। पहली क्रिया द्वारातो रक्त से मूत्रीया और इसके समान अन्य पदार्थ पृथक् किये जाते हैं, और दूसरी द्वारा जल और क्लोराइड्स (नमक आदि)। ऐसी भी अवस्था हो सकती है जिसमें ये दोनो क्रियाये स्वतंत्र रूप से अलग अलग परिमाण मे न्यून हो। जैसे—चिरकारी अन्तर्भरण सह वृक्क प्रदाह (interstitial Nephritis) मे प्रथम क्रिया का मुख्यतः ह्रास होता है। जबकि वृक्कस्थ ऋजु का गुच्छ प्रदाह (Parenchy matous Nephritis) से पीड़ित कुछ रोगियो में द्वितीय क्रिया का ह्रास होता है; परन्तु रोग परीक्षा द्वारा प्रमाणित नालीस्थ वृक्क शोथ से पीड़ित रोगी मे अक्सर प्रथम क्रिया ही असतुलित होती है। आशुकारी वृक्क प्रदाह (Acute Nephritis) मे दोनो ही क्रियाओ की अवनति होती है।

उक्त परीक्षाओं का परिणाम

	फिनोल सल्फोन थैलीन	समाहृत मूत्रिया	रक्तमें मत्रिया
चिरकारी अपभरणसह वृक्कप्रदाह			
१. साधारण (Moerated)	३०	१·६ प्र० श०	०·०४५प्र०श०
२. गम्भीर (Severe)	०	१·१ प्र० श०	०·०४०प्र०श०
वृक्कस्थ ऋजु का गुच्छ प्रदाह			
१. रक्तवारि की वृद्धि*(Hydraemia)	५०	३·५ प्र० श०	०·०४०प्र०श०
२. प्रदाह और अपक्रांति सतह (Mixed)	३३	१·८ प्र० श०	०·०५१प्र०श०
आशुकारी वृक्क प्रदाह	१६	१·४ प्र० श०	०·०६५प्र०श०

३. मूत्र निक्षेपों की अणुवीक्षणिक परीक्षा

यह मूत्र परीक्षा का अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग है। इसके अभाव में मूत्र परीक्षा अपूर्ण ही रहती है। इसलिये जो वैद्य रोग निर्णय के लिये इसका पूर्ण लाभ उठाना चाहते हैं; उन्हे इसका अभ्यास भली भाँति करना चाहिये। मूत्र में कुछ अवयव अघुलनशील होते हैं; वे मूत्र में तलस्थ हो जाते हैं। उनको कॉच पट्टिका (Slide) पर रख कर अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा परीक्षा की जाती है।

मूत्र में अघुलनशील निक्षेपो और अवलम्बित पदार्थों को, जिनकी कि विश्लिष्ट होने की सम्भावना होती है, अगर एकत्रित कर लिया जाय तो उन्हें कॉच पट्टिका (Slide) पर लेकर परीक्षा करने मे काफी सुविधा हो जाती है। इस प्रयोजनार्थ परिभ्रामक यन्त्र (Centrifuge चित्र नं०...) प्रयुक्त किया जाता है। रोग परीक्षा के लिये बेक का परिभ्रामक यन्त्र (Beck's centrifuge)" श्रेष्ठ माना जाता है। इस यन्त्र की नलिका में मूत्र को रख कर घुमाया जाता है इससे मूत्र के निक्षेप और अवलम्बित पदार्थ नलिका

*डाक्टरी में रक्त के भीतर रक्ताणुओं की अपेक्षा रक्तवारि (serum) बढ़ जाने को हाइड्रीमिया संज्ञा दी है। यह स्थिति ऋजुकाओं (Glomeruli) का प्रदाह होने पर होती है। फिर मुख और सम्पूर्ण देह पर शोथ आने लगता ।

के तल पर एकत्रित हो जाते हैं। (जहाँ अनेक रोगियों की मूत्र-परीक्षा करने की आवश्यकता पड़ती हो वहाँ यन्त्र को घुमाने के लिये विद्युत् या जलशक्ति का प्रयोग किया जा सकता है)। अब मूत्र के ऊपरी भाग को जो अवलम्बित पदार्थों से रहित हो चुका है, शनैः शनैः निकाल दे, और तल में स्थित अवयवों के एक दो विन्दुओं को काँच पट्टिका के मध्य में रखकर आवृत काँच से ढकदे। फिर अणुवीक्षणीय यन्त्र के दोनों प्रकार के वस्तुताल (⅔ इञ्च या ⅙ इञ्च) और ऊर्ध्व वस्तुताल (⅙ इञ्च) द्वारा परीक्षा करें। उस समय अणुवीक्षण यन्त्र को खड़ा और मंच के प्रकाश प्रवेश करने वाले छिद्र को कुछ आकुंचित रखना चाहिये।

सुविधार्थ मूत्र अवयवों को निम्न दो श्रेणियों में विभक्त कर दिया गया है:—

१. निरिन्द्रिय निक्षेप (Unorganized deposits) ये लवण रूप होते हैं, इसलिये लावणिक भी कहलाते हैं।

२. सेन्द्रिय निक्षेप (Organized deposits) ये कोषाणु रूप या कोषाणुमय पदार्थ हैं। अतः इनको कोषाणविक निक्षेप संज्ञा दी है।

१. निरिन्द्रिय या लावणिक निक्षेप।

इस विभाग के अन्दर मूत्र में पाये जाने वाले अनेक लवण और स्फटिकाकार पदार्थ सम्मिलित हैं। ये या तो सद्य त्याज्य मूत्र में, और अधिकतर कुछ समय रक्खे हुए मूत्र में मिलते हैं। इनमें से कुछ ऐसे हैं, जो केवल अम्लीय मूत्र में तथा कतिपय ऐसे हैं जो सिर्फ क्षारीय मूत्र में पाये जाते हैं। उनका क्रमशः वर्णन करते हैं।

(१) मूत्राम्ल (Uric acid)—यह कई स्वरूपों में उपलब्ध होता है। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि इनमें मूत्र रजक को ग्रहण करने की शक्ति विशेष है। इसलिये मूत्र रंजक को ग्रहण करके यह तद्वर्णीय हो जाता है। जिससे उसका वर्ण मूत्र रंजक की मात्रा के अनुसार पीत, कपिल, अथवा हल्का-लाल-भूरा होता है, तथा मूत्र रजक के उपस्थित न होने पर इसके स्फटिक भी विवर्ण होंगे। नग्न चक्षुओं से इसके निक्षेप ऐसे प्रतीत होते हैं, कि जैसे मूत्र पात्र के तल में लाल मिर्च का श्लक्ष्ण चूर्ण पड़ा हो। अणुवीक्षण द्वारा देखने पर इसमें स्फटिक साधारणतः विषमकोण समचतुर्भुजीय या इसके परिष्कृत आकार के प्रतीत होते हैं। अक्सर इसके स्थूल कोण (Obtuse angles) परस्पर रगड़ के कारण गोल हो जाते हैं, और किनारे महराबदार

रेखाओं से परस्पर सम्बन्धित रहते हैं। इससे ये नोकदार अण्डे की आकृति के समान प्रतीत होते हैं। कभी कभी इसके अनेक स्फटिक परस्पर जुड़ जाते हैं, तब फुन्दना (Rosettes) के समान या अन्य मिश्रित आकार के प्रतीत होते हैं।

(२) मूत्र लवण क्षार (Urates):—ये पोटाशियम (Potassium) सोडियम (Sodium) और अमोनियम (Ammonium) के निक्षेप होते हैं। इनमें मैहिकाम्ल के समान ही मूत्र-रंजक को ग्रहण करने की विशेष शक्ति है, इसलिये ये कम या अधिक गुलाबी या ईंट के चूर्ण के समान वर्ण वाले होते हैं। जब मूत्र बहुत हल्के वर्ण का होता है, तब वे भी विवर्ण होते हैं, और फास्फेट्स के निक्षेप के समान प्रतीत होते हैं। अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा देखने पर वे छोटे छोटे रजकणों से निर्मित काई के समान गुच्छों मे अव स्थित प्रतीत होते हैं। अमोनियम यूरेट्स पृथक्-पृथक् या समूह रूप से मिलकर चक्र बनाते हुए प्रतीत होते हैं। जिसमें तल से अनेक किरणें निकलती हुई न्यूनाधिक स्फटिकाकार रचना प्रतीत होती है, अगर उसे गरम किया जाय, तो मूत्र के उबालने से पूर्व ये पुनः विलीन हो जाते हैं।

मैहिकाम्ल और लवणक्षार के निक्षेपों को गंधाबिरोजा (Canada balsam) में सुरक्षित रक्खा जा सकता है। इनको सर्व प्रथम कोहल (अलकोहोल) मे से होकर गुजारा जाता है ताकि ये जल से रहित हो सकें। फिर इसकी एक बूंद को काँच पट्टिका पर लेकर शुष्क किया जाता है, और अन्त में गंधाबिरोजा को जाइलोल (Xylol) मे मिलाकर, उसमें इनको स्थायी रखते हैं।

(३) हिप्पुरिकाम्ल (Hippuric acid):—यह मनुष्य के मूत्र में मुख्यतः उस समय प्रतीत होता है, जबकि, उसने बैनजोइकाम्ल या उसके लवण का सेवन किये हों यह मूत्र मे विवर्ण, चतुर्पार्श्व युक्त स्फटिकों के रूप में निकलता है। यह लवणाम्ल मे अघुलनशील है; परन्तु अमोनिया में घुल जाता है।

(४) कैलशियम ओग्ज़लेट (Calcium oxalate):—इसके निक्षेप मूत्र में कभी कभी ही पाये जाते हैं। इसके निक्षेप मूत्र के गिलास की तल मे बैठने वाले अस्वच्छ निक्षेपों मे सब से ऊपर छोटे छोटे विवर्ण स्फटिकाकार प्रतीत होते हैं। इसकी उपस्थिति से निक्षेपों के ऊपर तरंगित श्वेत सतह का भास होता है। मूत्र रखने की गिलास की बनावट

में विषमता होने पर, उस स्थान पर ये चिपक जाते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे गिलास में खरौंच हो। अणुवीक्षण यंत्र द्वारा देखने पर इसके दो भेद प्रतीत होते हैं। १. जिसकी उपस्थिति का अनुपात द्वितीय से ज्यादा है। ये छोटे अष्ट पार्श्वयुक्त (Octahedral) स्फटिकाकार होते हैं। जब ये एक धुरी के साथ साथ कुछ चिपटे हो जाते हैं, तब ये दो विभाजक पंक्ति (Diagonal) द्वाराविभाजित होकर समचतुर्भुजाकार; या लम्बे अष्ट फलक के बन जाते हैं, क्योंकि लघु धुरी की लम्बी रेखा में ही या उसपर समकोण बनाती हुई खड़ी होने पर ऊपर नीचे का आकार भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है।

२. इस प्रकार में ओग्जैलेट निक्षेप डम् बेल्स (Dumb-bells) के अथवा अण्डाकार विस्फोट जैसे आकार के प्रतीत होते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि वास्तव में इस आकार के निक्षेप केलशियम ओग्जेलेट्स के कारण उत्पन्न न होकर केलशियम कार्बोनेट (Calcium carbonate) के कारण उत्पन्न होते हैं। हालाकि कैलशियम कार्बोनेट इस आकार को शीघ्र ग्रहण कर लेता है; परन्तु कुछ अवस्थाये ऐसी है, जिनमें केलशियम आक्जेलेट का निक्षेप भी डम् बैल्स के आकार को ग्रहण कर लेता है, इस बात में कम ही सदेह है। इनके स्थायी नमूने बनाते हैं, ताकि विद्यार्थी बार बार देखकर पहचानने का अभ्यास कर सकें। अष्ट फलकीय ओग्जेलेट के स्थायी नमूने तो ग्लिसरीन जैसी और डम् बैल्स आकार के गंधा-बिरोजा पर आसानी से बनाये जा सकते हैं।

(५) सिस्टीन (Cystin): यह मनुष्य के मूत्र में कभी कभी ही पाया जाता है, । परन्तु जब कभी पाया जाता है तब निक्षेप प्रचुर मात्रा में होता है, और उसका रंग स्फटिक हल्के धूसर रंग के समान होता है। यह क्षार और तेज अम्ल (जैसाकि लवणाम्ल) में घुलनशील है, परन्तु शुक्ताम्ल में अघुलनशील है। यह क्षारीय मूत्र से पृथक् नहीं होता, परन्तु उसमे कुछ बूंदे शुक्ताम्ल की डालने से यह निक्षेप रूप में नीचे बैठ जाता है। यह मूत्र से षट् भुजा क्षेत्र की टिकियाओ के आकार में उत्पन्न होता है, और अमोनिया में घुलनशील होता है। अमोनिया को बाष्प बना कर उडाया जाय तो इसके षट् भुजाकार या सम पार्श्व के स्फटिक बन जाते हैं।

(६) जैन्थीनः (Xanthin)* मूत्र में यह बहुत ही कम पाया जाता

*जैन्थीन डाइ ओक्सी प्यूरिन (Dioxypurin) का श्वेत चूर्ण है;

है। इसके स्फटिक मैहिकाम्ल की अश्मरी के समान ही होते हैं। परन्तु अमोनिया, उष्ण लवणाम्ल और सोरकाम्ल में घुलनशील है।

(७) टाइरोसिन (Tyrosin) *यह साधारणतः ल्युसीन के साथ मूत्र में पाया जाता है, परन्तु कभी कभी स्वतत्र रूप से भी पाया जाता है। इसके विवर्ण सूचिवत् स्फटिक वनते हैं। एवं निक्षेप चरखी के पट्टियों आदि विविध आकार का भासता है। इसके समान आकार वाला निक्षेप अनेक पदार्थों से उत्पन्न होता है, इसलिये अणुवीक्षण यंत्र द्वारा देखकर तथा सदेह हो, तो रासायनिक परीक्षा द्वारा निर्णय कर लेना चाहिये।

(८) ल्युसीन (Leucin)† यह पीले मंडलाकार समूह में पाया जाता है, जिसमें स्फटिकाकार बनावट प्रचुर मात्रा मे नहीं होती है। ल्युसीन और टाइरोसीन, दोनों ही साथ मे आशुकारी यकृद्दाली रोग मे मूत्र के भीतर पाये जाते हैं।

क्षारीय मूत्र के निक्षेप।

(१) फास्फेट्स (Phosphates):—ये स्फुराम्ल और कैलशियम के लवण हो सकते हैं, या अमोनियम और मेग्नी सियम सहित स्फुराम्ल के।

जो शरीर के अनेक तन्तुओं और तरलों, मूत्रीय कणों और कुछ पौधों से प्राप्त होता है। यह अम्लों द्वारा कोपाणु केंद्रों का विश्लेषण होने पर उत्पन्न होता है। यह मांस तन्तुओं और मुख्यतः हृदय के मांस तन्तुओं के लिये उत्तेजक है।

*टाइरोसिन यह एक स्फटिकाकार हो जाने योग्य अमिनोम्ल प्रथिन है। प्रथिन के सड़ने और उस पर अग्न्याशय रस की पाचन क्रिया के कारण यह उत्पन्न होता है। यह भोजन का एक आवश्यकीय अंग है। यह शरीर के अनेक अंगों मे पाया जाता है; और अनेक रोगों मे, मुख्यतः यकृद्दाल्युदर (Yellow atrophy of the lever) मे मूत्र मे विद्यमान होता है। एवं यह सर्प विष की प्रतिकारक ओषधि के रूप में अन्तर त्वचा मे अन्तः क्षेपित होता है।

†ल्युसिन यह एक स्फटिकाकार हो जाने वाला अमिनोम्ल है। यह प्रथिनों के पचन और हाइड्रोलाइटिक विश्लेषण से उत्पन्न होता है। यह स्वस्थावस्था में प्लीहा, अग्न्याशय और अनेक तन्तुओं मे पाया जाता है। मूत्र में इसकी उपस्थिति रुग्णावस्था और विशेषतः यकृद्दाल्युदर का प्रतीक है। यकृत् के अन्दर यह मूत्रीया में परिवर्त्तित होता है।

(क) चूने के फोस्फेट्स (Phosphate of lime):—यह या तो चूर्ण या स्फटिक के रूप में पाया जाता है। स्फटिक रूप होने पर तारा कृति फास्फेट्स (Stellar phosphates) भी कहलाता है। चित्र नं० ७२।

चूने के फास्फेट कण :—ये क्षारीय मूत्र के तल में छोटे छोटे रज कणों के समान प्रतीत होते हैं। नंगी आंखों से देखने पर इसके निक्षेप छोटे, सफेद और दाने दार श्वेत और तह के रूप में (परत) प्रतीत होते हैं। मूत्र लवण क्षार के समान इसमें मूत्र रजक को ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं है। मूत्र को गरम करनेपर निक्षेप की मात्रा बढ़ जाती है।

चूने के तारा कृति फास्फेट्स:—ये कभी कभी ही पाये जाते हैं। ये विवर्ण सम पार्श्व वाले स्फटिकों से निर्मित होते हैं। ये मूत्र में अकेला ही या अक्सर किरण दार गुच्छों के रूप में पायेजाते हैं ये बहुत हलके अम्लीय मूत्र में और साथ ही उदासीन और क्षारीय मूत्र में भी पाये जाते हैं।

(ख) अमोनियम मैग्नीसियम या तेहरा (Triple)फास्फेट:—

इसके निक्षेप उस मूत्र मे उत्पन्न होते हैं, जिसमें अमोनिया मिश्रित हो। नग्न चक्षुओं से देखने पर इसके निक्षेप अत्यन्त श्वेत प्रतीत होते हैं और जब स्फटिक दीर्घाकार के हो तो तेजस्वी बिन्दु के समान प्रतीत होते हैं। कभी कभी ऐसा होता है कि, इसके निक्षेप गिलास के पार्श्व में चिपक जाते हैं, इससे मूत्र की सतह पर मलई के सदृश आवरण बन जाता है।

इससे स्फटिक अपूर्ण त्रिकोनाकार, विवर्ण और समपार्श्व प्रतती होते हैं। पूर्णता और लम्बाई की विभिन्नताओं के अनुरूप इनके आकार अनेक होते हैं। अक्सर ये चाकू के दस्ते या सन्दूक के ढक्कन के समान प्रतीत होते हैं। अगर मूत्र मे अमोनीया जन्य परिवर्त्तन स्पष्ट हो, और इससे भी अगर अधिक परिमाण में (स्वस्थ मूत्र में) अमोनिया मिलाया जाय तो निक्षेप पुच्छयुक्त ताराकृति के प्रतीत होते हैं। इस अवस्था में इन्हें पङ्खदार फास्फेट्स के विक्षेप कहते हैं। (चित्र नं० ७३) फास्फेट के सम्पूर्ण निक्षेप अम्ल मिलाने पर विलीन हो जाते हैं।

इन स्फटिको को स्थाई रूप से रखना कठिन है, परन्तु ये अमोनियम-क्लोराइड के विलयन में अच्छी तरह सुरक्षित रक्खे जा सकते हैं।

(२) अमोनिया के स्फटिक (Ammonium urates):—यह क्षारीय मूत्र मे उत्पन्न होता है, और मूत्राशय प्रदाह (Cystitis) होने पर अवश्य मिलता है। अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा देखने पर इसके निक्षेप छोटे छोटे

अण्डलाकार समूहों में चिकनी सतह युक्त या असंख्य काँटेदार, प्रतीत होते हैं।

(३) कार्बोनेट्स (Carbonates)—यह कार्बोनिक अम्ल का लवण है। यह मनुष्य के मूत्र में दानेदार प्रतीत होता है। यह शुक्ताम्ल में कार्बन डाइऑक्साइड का वियोजन कराता हुआ विलीन हो जाता है। फोस्फेट्स और इसमें आसानी से विभेद हो सकता है। क्योंकि फास्फेट्स का शुक्ताम्ल में विलीन होते समय किसी प्रकार की गैस का वियोजन नहीं होता है। मनुष्यों के मूत्र में तो कभी कभी ही और घोड़ों के मूत्र में अक्सर कैलशियम कार्बोनेट के स्फटिक डम्ब बैल या डमरू के आकार के या किरणों युक्त मण्डल (चक्र) के रूप में प्रतीत होते हैं।

४ पित्त घन (cholesterol) * यह कभी कभी मूत्र में पाया जाता है। जब यह मूत्र में होता है, तब पतली विषम कोण चतुर्भुजीय विवर्ण तख्ती के आकार में होता है, और इसके एक किनारे पर उभार सर निकला रहता है।

इनके अतिरिक्त मूत्र में नील, चूना, मैग्निसिया, साबुन के स्फटिक, और हैमाटोडीन (Haematodin) आदि पदार्थ भी पाये जाते हैं, परन्तु रोग विनिर्णय के लिए इनका अधिक महत्व नहीं है, इसलिए इनके वर्णन की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

२. सेन्द्रिय निक्षेप

(Organized deposits)

(१) रक्त के लाल अणु :—सद्यत्याज्य मूत्र में ही इनकी अच्छी तरह परीक्षा हो सकती है। साधारणतः ये स्वाभाविक आकार के ही होते हैं;

*यह एक चर्बी के समान सफेद पदार्थ है। यह सुई की नोक के समान स्फटिकों में विद्यमान होता है। देह में वसा, मेद, तैल, पित्त, रक्त मस्तिष्क तन्तु, दूध, अंडे की जर्दी, सूक्ष्म नाड़ी वृति (Medullated sheaths of Nerve fibers), यकृत, वृक्कों और उपवृक्का मे (इन सब में नाड़ी संस्था में अधिक) पाया जाता है। जब यह पित में बढ़ जाता है, तब उसमें से पित्ताश्मरी निर्मित होती है। यह धमनी कोषकाठिन्य, क्षयज रसौली और दुष्ट विद्रधि के तन्तुओं में पाया जाता है। यह देह का त्याज्य पदार्थ है, तथापि शरीर में रहने पर कोषों का अन्य विषों से रक्षण करता है।

और मूत्र के घनत्व के अनुसार फूले हुए या सिकुड़े हुए और उभार युक्त भी सकते हैं। इनको इनके आकार, वर्ण और दोनों नतोदर पृष्ठों से पहचाना जाता है, और जहाँ कुछ सदेह हो वहाँ शुष्क स्लाइड बनाकर, उसे किसी भी रक्त को रंजित करने वाले द्रव्य, जैसे लैइशमैन का रंजक द्रव्य (Leishmans Stain), द्वारा रंजित करके परीक्षा करनी चाहिये। मूत्र को निकालने के लिये अगर तैल लगाकर कैथटर (Catheter) प्रयुक्त किया गया है, तो तैल की बूंदें रक्तकणों की उपस्थिति का भ्रम उत्पन्न करा सकती है, किन्तु तैल की बूंदों का इनसे आसानी से भेद किया जा सकता है। क्योंकि बूंदें अधिक किरण वक्रता की सूचक और अधिक वृत्ताकार होती हैं, और सब बिन्दुओं का आकार एक सा न होकर भिन्न भिन्न होता है।

(२) श्वेताणु और पूयाणु (Leucocytes and puscorpuscles).—मूत्र में ये उस अवस्था में विद्यमान होते हैं, जिसमें मूत्र मार्ग में उत्तेजना और पूयोत्पत्ति हो रही है। प्रवाह का समय जैसा व्यतीत होता है, वैसे वैसे सामान्य श्वेताणु मलिन होते जाते हैं अथवा अति दानेदार और वसा में रूपान्तरित होते हैं। वेही मृत श्वेताणु बन जाते हैं। केवल इनमें कोषाणु केन्द्र दिखलाई नहीं देता। यदि इन पर थोड़ी सी बूंदें शुक्ताम्ल की डाल दी जाय, २ ३ कोषाणु केन्द्र, भी स्पष्ट प्रतीत होते हैं। जब कभी मूत्र में पूयाणु दृष्टिगोचर हो, तब उस मूत्र का रोग सप्राप्ति दर्शक सुजाक के कीटाणु (Gonococci) और क्षयकीटाणु (Tuberch bacilli) की प्रतीति के लिये परीक्षा करनी चाहिये।

(३) घृत तैल ये सर्पिमेह (Chyluria) के रोगी के मूत्र के अन्दर श्वेताणुओं के समान कोषाणु दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु इनके कोषाणु केन्द्र और छोटे छोटे कण तथा वसा (घृत या तेल) के अति क्षुद्रबिन्दु भी दिखायी देते हैं। ये कण सामान्यतः अणुवीक्षण यन्त्र से दिखाई देते हैं। इसमे रक्त के लालाणु भी कुछ विद्यमान होते हैं। इस रोग का सदेह होने पर रक्त और मूत्र की परीक्षा ध्यानपूर्वक करना चाहिये कि, इनमे श्लीपद (Filarial) उत्पन्न करने वाला कीटाणु तो विद्यमान नहीं है, इसकी परीक्षा उन रोगियों मे अवश्य करनी चाहिये, जो ऐसे देश मे रहते हों जिनमें ऐसे कीटाणु अक्सर पाये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त वसामेह (Lipuria) मे चर्बी मोटे मोटे गोल दानों में भी प्रतीत हो सकती है। इस अवस्था में यह प्रकाश की किरण को तेजी से वक्र करती है। वे कभी तो तरल में स्वतंत्र रूप से और कभी

इसके विपरीत कोषाणुओं में या प्रणाली निक्षेप (Tube cast) के अन्दर बन्द होते हैं।

सूचना—वसा की उपस्थिति की परीक्षा करते समय परीक्षक को सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि, अगर मूत्र निकालने के लिये कैथेटर प्रयुक्त किया गया है तो उसमें लगाया हुआ तैल अनजाने में मूत्र में आकर भ्रम उत्पन्न कर सकता है, या इसके विपरीत कभी कभी रोगी चिकित्सक को भ्रम में डालने के उद्देश्य से मक्खन के रूप में वसा जान-बूझ कर, मूत्र में मिला देता है।

(४) आच्छादिका कला—(Epithelium)* मूत्रसंस्था के विभिन्न भागों में से इसके कोषाणु मूत्र में आ सकते हैं। जिनमें से निम्न मुख्य हैं।

(क) वृक्कस्थ आच्छादिका कलाः—इसके कोषाणु बहुकोणीय केन्द्र युक्त और श्वेताणुओ से बड़े होते हैं। इसमें वसामय अपक्रान्ति (Fatty degeneration) सहित या बिना अपक्रान्ति के दृष्टिगोचर होती हैं।

(ख) मूत्राशय या मूत्र मार्ग की आच्छादिका कलाः—यह अनेक आकार की होती है। इसका आकार इस बात पर निर्भर है कि, यह इसके उत्तान स्तरो से पृथक् हुई है या गम्भीर स्तरो से। कुछ समय पूर्व ऐसी मान्यता थी कि पुच्छ युक्त सैल की उपस्थित इस बात का प्रतीक है, कि वृक्कालिन्द (pelvis of the kidney) पीड़ित हुआ है। परन्तु

---

*आच्छादक कला कोषाणु तन्तु (Tissue) में से बनती है तथा सर्व शरीर और सब आशयों का आच्छादन करती है। तथा स्रावोत्पत्ति और स्राव त्याग, ये क्रिया करती है। एवं ज्ञानग्राही अन्तरेन्द्रिय की उत्पत्ति करती है। इसमे से बाह्यत्वचा, पचनेन्द्रिय की श्लैष्मिक कला, अन्तः स्रावी ग्रन्थियाँ उनकी नलिका, रक्तवाहिनियाँ, लसीका वाहिनियाँ तथा रसस्रावी (Serous) आशयों की अन्तःकला (Internal membrane) बनती है। एवं नेत्रनासा, कर्ण, मुख आदि से बाह्यत्वचा के भीतर का विशिष्ट भाग, जो तन्तुओं से बना है, उसे आच्छादक कला कहते हैं। इस कला के कोषाणुओ के आकार और तह के अनुरूप अनेक प्रकार बन जाते हैं।

यह कला संरक्षण तथा स्राव सर्जन और उत्सर्जन ये क्रिया कराती है।

अब सिद्ध हो चुका है कि, यह भूल थी। मूत्राशय की आच्छादिका कला के गम्भीर स्तर से भी पृथक् होकर ये मूत्र के साथ बाहर आ सकते हैं।

(ग) योनि मार्गाच्छदिका कला :—स्त्रियो के योनि मार्ग की इस कला के कोषाणु अक्सर स्त्रियों के मूत्र मे पाये जाते हैं। ये तस्तरी के समान होते हैं। अतः उनको स्थाली कोषाणु (squamous) संज्ञा दी है, ये दीर्घ कोषाणु कभी अकेले ही और कभी समूह रूप मे प्रतीत होते हैं।

(५) शुक्राणु (spermatozoa) :—सर्व साधारणों मे ऐसी मान्यता है कि, अनेक रोगियों में मूत्र के साथ शुक्र निकलता है। चिकित्सो के पास अक्सर ऐसे रोगी आते हैं जो कहते हैं कि, उनका वीर्य मूत्र के साथ निकल आता है; वे ठंडी धात से पीड़ित हैं। हम चिकित्सको को सूचित कर देना उपयुक्त समझते हैं कि, इस प्रकार के लक्षण वर्णन करने पर उन्हे स्वप्न मे भी यह न समझ लेना चाहिये कि रोगी वीर्यस्राव से पीड़ित है। यह विचार भ्रम पूर्ण है वस्तुतः १०० मे से किसी एकाध रोगी में, कभी कभी ही वीर्य मूत्र के साथ निकलता है। विशेषतः स्वप्नदोष के अनन्तर प्रथम बार मूत्र त्यागने पर उस मूत्र में शुक्र जीवाणुका निकलना तो संभवित है। मूत्र त्यागने के पश्चात् कभी कभी श्वेत लेसदार पदार्थ स्रवित होती है। वस्तुतः यह वीर्य नहीं है, अपितु श्लेष्मा (mucus) या फास्फेट्स होता है और यह अवस्था अजीर्ण का प्रतीक है। पुरीष त्याग के समय बलपूर्वक प्रवाहण करने पर मूत्र मार्ग से दो चार बूँद श्वेत वस्तु के निकल आते हैं। यह भी वस्तुतः वीर्य नहीं है, अपितु मूत्र मार्ग की कला का स्राव है, जो अक्सर कोष्ठबद्धता का प्रतीक माना जाता है। मल की रगड़ पौरुष-ग्रन्थि (prostate gland) पर लगने से या मूत्र मार्ग में उत्तेजना आने के हेतु से यह निकल आता है।

आधुनिक शिक्षा दीक्षा से विभूषित आचरण भ्रष्ट ऐसे बहुत से नवयुवक मिलेंगे, जिनको स्त्री का विचार आने या दर्शन होने या उसके विषय की बातें सुनने मात्र से वीर्य का स्राव हो जाता है। इस प्रकार वीर्य का स्राव होने पर कुछ वीर्य मूत्र मार्ग में रुका रह सकता है, जो मूत्र के साथ बाहर निकलता है। ऐसे युवक मूत्र मे शुक्रस्राव होने की फ़र्याद करें, यह स्वाभाविक है।

जब कभी शुक्राणु मूत्र में उपस्थित होते हैं तब इनकी विशेष आकृति स्पष्ट बोध करा देती है। इनकी परीक्षा करने के लिए मूत्र को

परिभ्रामक यंत्र में घुमाया जाता है। पश्चात् नलिका के तल में एकत्रित पदार्थ को काँच पट्टिका पर लेकर अणुवीक्षण द्वारा परीक्षा की जाती है। इन शुक्राणुओं का सिर मोटा और छोटा होता है, तथा इनकी पूँछ पतली और लम्बी होती है।

(६) पौरुष ग्रन्थि के तन्तु (prostate threads):—ये मूत्र में लम्बे ततुओं के तुल्य कभी कभी पाये जाते हैं। ये उस अवस्था में पाये जाते हैं जबकि पौरुष ग्रन्थिका चिरकारी प्रदाह हो। मुख्यतः सुजाक होने के कुछ समय के पश्चात्। इनमें श्लेष्मा के लम्बे लम्बे टुकड़े, श्वेताणु और आच्छादिका-कला के कोषाणु सम्मिलित होते हैं। ये पदार्थ मूत्र त्याग के आरम्भ में बाहर आते हैं। ये प्रणालीय निक्षेप से काफी दीर्घ होते हैं। और मूत्र के अन्दर या ऊपर तैरते रहते हैं, इसलिए नग्न नेत्रों द्वारा ही आसानी से प्रतीत हो   हैं।

(७) प्रणालीय कंचुक (Tube casts)—ये कंचुक नलिका में से पृथक् होने के हेतु से पोले होते । आशुकारी तथा चिरकारी वृक्क प्रदाह (Acute and Chronic Nephritis) में वृक्कों की सूक्ष्म मूत्र प्रणालियों से निर्मल पारदर्शक कोषाणुयुक्त दानेदार अथवा वसामय भिन्न भिन्न आकार के छोटे बड़े कंचुक के टुकड़े मूत्र में निकलते हैं, इन्हें ही प्रणालीय कंचुक कहते हैं। इनके निम्न भेद किये हैं।

१ कोषाणु युक्त कंचुक (Cellular casts)—ये पूर्णतया या मुख्यतया कोषाणुओं से निर्मित होते हैं।

२. कणमय कंचुक (Granular casts)।

३. आकार हीन कंचुक (Amorphous casts) इसकी बनावट सर्वत्र एक सी होती है। तथा सतह पर धारीदार होते हैं।

४. वसामय कंचुक (Lipoid casts)-इनमें वसा द्रव्य होता है।

(१) कोषाणुयुक्त कंचुक—इनके कंचुक (Cells) तीन तरह के हो सकते हैं। अ. आच्छादिका कला (Epithelium) के; आ. रक्त के लालाणुयुक्त, इ. श्वेताणु युक्त।

अ. आच्छादिका कला कंचुक—इस प्रकार के कंचुक पूर्णतया आच्छादिका कला के कोषाणुओं से आवृत होते हैं। किसी कोषाणु में कोषाणु केन्द्र होती है और किसी में नहीं। जो कोषाणु मूत्र प्रणाली की दीवार से सद्योपतित होता है, उसमें कोषाणु केन्द्र तथा अन्य सब अंग पूर्ण रूपेण उप-

स्थित होते हैं। कई कोषाणु कुछ समय पूर्व के होते हैं, उनमें केन्द्र स्थान का लोप हो जाता है। एवं वे दानेदार या वसामय अपक्रान्ति से पीड़ित प्रतीत होते हैं।

आ. रक्ताणुओं का कंचुक प्रदर्शन करता है कि कंचुक का पृष्ठ सूक्ष्म गोल रक्ताणुओं से गहरा आवृत हुआ है।

इ. श्वेताणु स्वतः बहुत कम कंचुक बनाते हैं, परन्तु दूसरों के द्वारा निर्मित-कंचुकों में ये अक्सर पाये जाते हैं।

(२) दानेदार कंचुक—इसके अंकुर सर्वथा समान नहीं होते। कोई छोटे और कोई बड़े होते हैं। कभी ये वसामय होते हैं, तो कभी जीवन रस (Protoplasm) की दानेदार अपक्रान्ति होने पर उत्पन्न होते हैं। कुछ अवस्थाओं में ये टूटे हुए आच्छादिका कला कोषाणुओं (Epithelium) के ध्वंसावशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं, जब कि दूसरी अवस्थाओं में प्रणालिका के जीर्ण आकार हीन कंचुकों में दानेदार परिवर्त्तन के कारण उपस्थिति होते हैं।

(३) आकार हीन कंचुक (Amorphous casts):—इसके दो भेद हैं। अ. पारदर्शक (Hyaline) प्रणालीय कंचुक; आ. पिच्छिल (Colloid) प्रणालीय कंचुक।

अ. पारदर्शक प्रणालीय कंचुक—ये पीताभ, स्वच्छ, पारदर्शक और सर्वत्र समान बनावट वाले होते हैं। कभी कभी इनमें पतली श्वेत धारियाँ सी प्रतीत होती हैं। इनका वर्ण इतना फीका होता है, कि अक्सर ये दृष्टिगोचर नहीं होते। परन्तु इनपर एक दो बूँद आयोडीन विलयन (Tn. Iodine) को डालने से ये स्पष्ट प्रतीत हो जाते हैं।

आ. पिच्छिल कंचुक (Colloid casts):—ये ज्यादा चौड़े होते हैं। और इनमें पारदर्शक कंचुक की अपेक्षा किरण वक्रता की शक्ति भी अधिक होती है। इस बात की भी सम्भावना है कि ये निस्रोर ऐसे अन्य द्रव्य से, जो काफी समय मूत्र प्रणालियों में रह चुके हों, निर्मित हुए हों, इनकी उपस्थिति वृक्क की स्निग्धापक्रान्ति (Amyloid degenaration) का प्रतीक नहीं है।

(४) वसामय कंचुक—ये उस अवस्था में मूत्र में पाये जाते हैं जब कि वृक्क के प्रणालीय कोष की वसामय अपक्रान्ति हो रही है। इस अवस्था में वसा के स्पष्ट बिन्दु मूत्र में दृष्टिगोचर होते हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि कंचुक सर्वदा एक ही प्रकार का हो; प्रायः एक ही कंचुक में एक ही समय ही कण, वसा अथवा कोषाणु पाये जाते हैं—उदाहरणार्थ जैसे अक्सर पारदर्शक और आच्छादिका कला कोषाणु एक ही साथ एकही कंचुक मे प्रतीत होते है ।

क्षारीय मूत्र में कचुक आसानी से विलीन हो जाते हैं, और वह मूत्र का नमूना कुछ समय रक्खा रहने पर उसमें से अदृश्य हो जाते हैं। प्रणालीय कंचुक की यह विशेषता है कि, यह मूत्र मे बाहर से आये हुए अणुओं को शीघ्रता से ग्रहण कर लेता है। इसलिये इसमें कीटाणु और अनेक स्फटिक, कैलसियम ऑक्सेलेट आदि का प्रवेश हो जाता है।

प्रणालीय कंचुक विभिन्न लम्बाई के होते हैं; कभी-कभी तो ये १मि० मी० तक लम्बे प्रतीत होते हैं। इनका एक सिरा पेच के समान गोल मुड़ा हुआ या कभी कभी दो भागो मे विभाजित हो सकता है। कुछ समय पूर्व प्रणालीय कंचुकों को गोल रक्त तन्तु (Fibrin cylinders) कहा जाता था, परन्तु अब सिद्ध हो चुका है कि रक्त तन्तु इनकी बनावट मे बहुत कम या बिल्कुल भाग नहीं लेता; इसका अपवाद एक ही है कि जब रक्त के लालाणु कंचुक में प्रवेश करते है, तब रक्त की चक्रिकाये कुछ रक्त तन्तुओं द्वारा बध जाती हैं।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि प्रणालीय कंचुक उनके गर्भाशय सह वृक्कों के छोटे-छोटे स्रोत (Tubules) के उन कोषाणुओं से उत्पन्न होते हैं, जोकि इन स्रोतों को रेखाङ्कित करते हैं; और आच्छादिका कला का कचुक, दानेदार कंचुक और पारदर्शक कंचुक की अनुपातिक संख्या पर उनको धोने वाले तरल की प्रतिक्रिया और संगठन का गहरा प्रभाव पड़ता है। अम्लीय मूत्र, जैसाकि नियम है, दानेदार कंचुक बनाता है, परन्तु अगर अम्लता अत्यधिक है, तो पारदर्शक बनाता है। क्षारीय मूत्र मे जो कंचुक उत्पन्न होते हैं, वे अक्सर पारदर्शक होते है। दूसरी तरफ मूत्र के लवण पिच्छिल द्रव्य को शीघ्रता से कंचुक रूप में परिवर्तित कर देते हैं। इसलिये कंचुक दानेदार प्रतीत होते हैं; तथा इससे जलीय अंश निकल जाने के कारण छोटे मालूम पड़ते हैं।

कुछ विद्वानो ने इनके अतिरिक्त बेलन के समान (cylindroids) कुछ पदार्थों का वर्णन किया है। ये लम्बे और सकड़े प्रणा-

लीय कंचुकों के बिल्कुल समान होते हैं। लेकिन ये साधारणतः काफी चिपटे होते हैं। कुछ विद्वान् इनकी उपस्थिति को कुछ भी महत्व नहीं देते। जबकि कुछ इसको काफी सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। क्योंकि इनका प्रणालीय कंचुक से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

कभी-कभी मूत्र के गाद (तलछट) में श्लेष्मा के धागे भी प्रतीत होते हैं, जिनको प्रणालीय कंचुक या बेलनाभास (cylindroids) समझ कर भूल हो सकती है। अनुभव हीन परीक्षक को अणुवीक्षणीय कीटाणुओं के समूह तथा पौरुष ग्रन्थि के तन्तुओं की उपस्थिति से भी प्रणालीय कंचुकों का भ्रम हो सकता है। जहाँ सन्देहात्मक कारण उपस्थिति हो, वहाँ शुक्ताम्ल या इसी प्रकार के अन्य प्रतीकारक पदार्थ डाल कर के, सन्देह निवारण कर लेना चाहिये।

(८) मूत्राशय के अर्बुद, मुख्यतया खुरदरा (विषम या रुएंदार Villous) होने पर उसकी उत्पत्ति का कुछ अंश मूत्र के साथ आता रहता है। इनकी उपस्थिति से मूत्राशय के अर्बुद का निदान आसानी से किया जा सकता है। मूत्र में उपस्थित अंश में संयोजक तन्तुओं (Connective Tissue) का गर्भ प्रतीत होता है। यह मज्ज रक्तवाहिनियों से युक्त और आच्छादिका कला के अनेक पत्तों से आच्छादित होता है।

(९) स्थितिस्थापक तन्तु (Elastic Fibres)—मूत्राशय में व्रण होने पर ये मूत्र में उपस्थित होते हैं। इनकी उपस्थिति निम्नोक्त विधि द्वारा प्रतीत की जा सकती है।

सर्व प्रथम सद्य त्याज्य मूत्र को जब तक यह अम्लीय ही रहे। फिल्टर पेपर द्वारा छान लें। ताकि फास्फेट्स पृथक् पृथक् हो जाय। अगर ऐसा नहीं किया जायगा, तो कुछ समय के पश्चात् परीक्षा के लिये मूत्र में क्षार मिलाने पर इसके निक्षेप नीचे बैठकर परीक्षा में कठिनाई उपस्थित कर देंगे। पश्चात् समान मात्रा में श्लेष्मस्थ स्थिति स्थापक तन्तुओं के वर्णन में लिखे अनुसार १० प्र० श० कास्टिक-सोडा का विलयन मिलाकर तुरन्त उष्ण करें। इससे सम्पूर्ण मूत्र वाष्प बनाकर उड़ जायगा, और जो राल के समान पदार्थ शेष रहे उसमें पानी मिलाकर शंक्वाकार गिलास में रख दें। कुछ समय पश्चात् अगर स्थिति स्थापक सूत्र होंगे तो गिलास के तल में बैठ जायेंगे।

(१०) मूत्रमार्ग में निम्न परोपजीवी (Parasites)* कीटाणु पाये जासकते हैं।

१. एकीनोकोकस (Echinococcus);
२. सीस्टी सर्कस सैल्युलोज (Cysticerous Cillulose);
३. स्किस्टोसोमा हैमाटो वियम(Schistosoma Haematobium);
४. स्किस्टो सोमा हिमोटो वियम ( );
५. फाइलेरिक बैंक्रोफ्टी (Filarial Bancrofti) ;

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य कीटाणु भी पाये जाते हैं। इनमें से अनेक मनुष्य में इतने कम पाये जाते हैं कि रोग परीक्षा के लिये इनका विशेष महत्व नही है। एकीनो कोकस का परिचय अन्त्रस्थ कृमि-कीटाणुओं के वर्णन में तथा कफ परीक्षा में, सीस्टी सर्कस का परिचय टीनिया सोलियम अन्त्रस्थ कृमि वर्णन में, फाइलेरिया अर्थात् श्लीपद उत्पादक कृमि का परिचय रक्त परीक्षा में पहले दिया है। अतः अत्र स्किस्टो सोमा हैमाटोवियम का परिचय कराते हैं।

स्किस्टोसोमा हैमाटोवियमः—इसके अंडे लगभग ०'१२ मि० मी० लम्बे और ०'०४ मि. मी. चोड़े होते हैं। इसके एक सिरे पर या इससे कुछ दूर एक कांटा निकला रहता है। मूत्र में उपस्थित कृमियों में काँटा साधारणतः सिरे पर ही स्थित होता है। गुदा से प्राप्त अंडों में इसका ऐसा भेद अधिकतर पाया जाता है, जिसमे काँटा पार्श्वस्थ होता है, इसको स्किस्टो सोमा मैन्सोनी (Schistosoma Mansoni) कहते हैं।

युवानर मादा की तुलना में ज्यादा मोटा और कम लम्बा होता है। उसके उदर पर एक छिद्र होता है। जिसमें वह मादा को धारण करता है। मादा कीटाणु नलाकार और कीड़े के समान होती है। नर कीटाणु १२ मि. मी. लम्बा होता है जबकि मादा १६ मि. मी.। शरीर में इनका निवास-स्थान प्रतिहारिणी शिरा की केशिकाओं (Portal System)† मूत्राशय

---

*परोपजीवी उनको कहा है, जो प्राणी या वनस्पति दूसरों के शरीर पर जीवन निर्वाह करते हैं। यह दूसरे जीवित या मृत शरीर में या उनके ऊपर रहते हैं, और उनसे पोषण प्राप्त करते, और इस पोषण के बदले में आश्रय दाता को कुछ भी पुरस्कार (Compensation) नहीं देते। इनके अनेक प्रकार हैं।

†उन कैशिकाओं को कहते हैं जो विभिन्न अंगों से प्रतिहारिणी शिरा में आये हुए अशुद्ध रक्त को यकृत की शिराओं (Hepatic Veins) में पहुँचाती है।

तथा मलाशय के शिराचक्र (plexuses) हैं । इनके अण्डे रक्त वाहिनियों से निकल कर शरीर के तन्तुओं मे प्रवेश कर जाते हैं। इस प्रकार जो मलाशय तथा मूत्राशय मे पहुच जाते हैं; वे मल और मूत्र के साथ बाहर निकलते हैं। मल मूत्र की परीक्षा द्वारा इनकी उपस्थिति जानी जाती है। कीटाणु मिश्र देश मे अति सामान्य हैं।

यदि मूत्र कुछ काल तक पड़ा रहे, तो उसमें वायु से रोग सम्प्राप्ति न कराने वाले छत्रिका कीटाणु (fungi) और प्राणी कीटाणु इन्फूसोरिया (infusoria) आदि बहुत से कीटाणु प्रविष्ठ हो जाते हैं। ये कृमि मूत्र मे रोगी के शरीर से बाहर नहीं आए, प्रत्युत बाहर से ही मूत्र मे प्रविष्ठ हो कर वृद्धि को प्राप्त हुए हैं, अतः रुग्णावस्था के सूचक नही हैं। परन्तु अनेक रोग सम्प्राप्ति जनक कीटाणु मूत्र मार्ग में भी पाये जाते हैं, इसलिये सन्देहप्रद रोगियो में इनकी उपस्थिति की परीक्षा करनी चाहिये। इनमें से सुजाक के कीटाणु (gonococci) और क्षय कीटाणु (tubercle-bacilli) जो आकृति दृष्टि से निरुपद्रवी कीटाणु स्मेग्मा (smegma) तथा अन्य कीटाणु (B. coli communis) के सदृश भासते हैं। वे मुख्य हैं मूत्राशय प्रदाह होने पर कीटाणु के अनेक भेद मूत्र में पाये जाते हैं। एक्टीनो माइसिज (actinomyces) नामक कीटाणु कभी कभी वृक्क में भी पाया जाता है। परन्तु इस अवस्था में यह उत्पन्न हो जाता है।

बाह्यद्रव्यः—इनके अतिरिक्त मूत्र कुछ समय रक्खा रहने पर अनेक बाह्य पदार्थ उसमें मिल जाते हैं। बोतल या मूत्र पात्र में रही हुई धूल या कचरा, बाल, पङ्ख, रुई, ऊन और रेशम के सूत्र, डस्टींग पाउडर से प्राप्त श्वेत सार (हलका टिं आयोडीन डालने पर यह नीले वर्ण का हो जाता है)। आटा, धूल आदि। इनके अतिरिक्त अर्बुद या विद्रधि का मुख मूत्राशय या गर्भाशय में खुल जाने पर इनका स्राव भी मूत्र में मिल जाता है। इससे कीटाणुओ को पहचानने के लिये काफी अभ्यास की आवश्यकता है। यह भी संभव है कि रोगी ने वमन कर दिया हो और मल या वमन द्वारा बाहर आया हुआ पदार्थ मूत्र के साथ मिकल गया हो।

सूचना—जब कभी मूत्र में कीटाणुओं की परीक्षा करनी हो तो स्वच्छ कैथेटर (sterlized catheter) द्वारा स्वच्छ पात्र में मूत्र निकाल लेना चाहिये। अथवा पुरुष का मूत्र ग्रहण करने से पूर्व शिश्न मुण्ड और मूत्रबहिर्द्वार को कृमिघ्न विलयनों द्वारा भली-भाँति स्वच्छ करके मूत्र सीधा स्वच्छ पात्र मे लेलेना चाहिये; परंतु स्त्रियो मे तो सर्वदा कैथेटर प्रयुक्त करके ही स्वच्छ मूत्र प्राप्त किया जा सकता है।

कीटाणुओं की परीक्षा निम्न तीन प्रकार से की जाती है।

(१) सामान्य परीक्षा—मूत्र को परिभ्रामक यन्त्र मे घुमा, नीचे बैठे हुए निक्षेप युक्त मूत्र की दो चार बूंदों को काँचपट्टिका पर रख कर अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा देखे, तथा उसे काँचपट्टिका पर सुखा कर विविध रजकों द्वारा रंजित करके कीटाणुओं का निर्णय करें।

(२) कीटाणु वपन द्वारा परीक्षा—इसमे कीटाणुओं की वृद्धि करके परीक्षा की जाती है। जब मूत्र मे कीटाणु अल्प मात्रा में हो, अथवा उनकी उपस्थिति में सन्देह हो, तब कीटाणुओं को विशेष पोषक माध्यम मे पाला (Cultivation) जाता है। फिर इनकी परीक्षा की जाती है। किंचित मूत्र को नालिकाओं स्थित पर डाल कर हिला दिया जाता है। इसमे उपस्थित एक दो कीटाणु माध्यम पर चिपक जाते हैं। उन माध्यमो को एक दो दिन के लिये कृत्रिम ताप विशेष मे अवस्थित अंड पोषक यन्त्र (incubator) के भीतर रक्खा जाता है। जहाँ जहाँ कीटाणु चिपके थे, वहाँ वहाँ एक से असंख्य कीटाणु बन जातेहैं। इनको उपनिवेश (colonies) कहते है। इनमे से कीटाणुओं को लेकर परीक्षा की जाती है।

कीटाणुओ की वृद्धि के लिये इनके अनुकूल आहार, ताप तथा योग्य परिस्थिति आवश्यक है। इनका आहार प्रथिन, कर्ब, लवण और खाद्योज हैं। कई कीटाणु तो साधारण मध्यम-मांसरस, जेलाटीन, एगार एगार पर ही वृद्धि को प्राप्त हो जाते है और कई के लिये विशेष माध्यम की आवश्यकता पड़ती है। जैसे—सुजाक के कीटाणु के लिये—ताजा रक्तवारि (Serum) तथा कण्ठरोहिणी के कीटाणुओं के लिये द्राक्षौज चाहिये। कीटाणुओं को

वृद्धि के लिये सामान्यतः २५° से ३०° शतांश (९५ से १०२ फैह्रनहाइट ताप) उत्तम माना है।

पाठकों को कीटाणुओं की वृद्धि की कल्पना इससे आसानी से हो जायगी कि, कीटाणु प्रायः आध से एक घण्टे में एक से दो फिर दो से चार, चार से आठ इस क्रम से इस तरह असंख्य वृद्धि हो जाती है। साधारणतः घण्टे के हिसाब से २४ घण्टों में इनकी संख्या एक से एक करोड़ साठ लाख, तथा आध घण्टे के हिसाब से ३ पद्म के लगभग हो जाती है।

(३) कीटाणु अन्तः क्षेपण से परीक्षा—कभी कभी कीटाणु अत्यल्प मात्रा में तथा इस प्रकार के होते हैं कि, वे कृत्रिम रूप से वर्द्धित नहीं हो सकते इनकी विवेचना निम्नोक्त विधि द्वारा की जाती है।

५ से १० सी. सी. मूत्र को अमरीकन लघु वराह (Guineepig) की उदर्य्याकला मे प्रविष्ट करा देते हैं। इससे उसकी उदर्य्या कला या उसके भीतर के अवयवों में कीटाणुविक उपनिवेश स्थापित हो जाता है। जिससे वह पीड़ित होकर मर जाता है। अथवा उसे मार कर परीक्षा की जाती है। उदर्य्या कला तथा अन्य स्थान पर उत्पन्न परिवर्तनों तथा ग्रन्थि आदि को देखकर कीटाणुओं की पहचान की जाती है।

कभी कभी स्त्री को गर्भ धारण हुआ है या नहीं? इसके निर्णयार्थ निम्न एशहिम झोण्डेक की परीक्षा की जाती है।

एशहिम झोण्डेक परीक्षा (Aschheim zondeck test)—संदेह वाली स्त्री का मूत्र लेकर बर्फ पर रखें। फिर उसमे से २५ सी. सी. मादा खरगोश के कान के ऊपर की शिरा मे अन्तः क्षेपित करें। ४८ घण्टेके पश्चात् उदर को खोल कर देखें। उसके बीजाशय (Ovaries) पर सूजन आई हो, तो गर्भ धारण माना जाता है।

आठवां अध्याय

त्वचा-परीक्षा

त्वचा शरीर का सबसे बड़ा अंग है, जो सम्पूर्ण शरीर को आच्छादित करता है। इससे यह न समझ लेना चाहिये कि त्वचा सिर्फ शरीर रूपी पार्सल को ढकने का ही कागज है, अपितु त्वचा वस्तुतः वह सम्पूर्ण वस्तु है जिसमें पार्सल बाँधी ही गई है। यह इन्द्रिय युक्त है, जिसकी महत्वपूर्ण निश्चित् क्रियायें हैं। इसी हेतु से प्राचीन धर्म शास्त्रकारों ने इसकी गणना ज्ञानेन्द्रिय में की है। देह रूपी किले के दरवाजे का यह एक मुख्य चौकीदार है। रोगोत्पादक सूक्ष्म कीटाणुओं का प्रतिरोध करने के लिये अखण्ड-बाह्य त्वचा प्रथम रक्षा पंक्ति है। त्वचा में यदि सामान्य खरोंच हो जाय तो उसमें से मृत्यु ला देने वाले कीटाणु भी शरीर में प्रवेश कर सकते हैं। इससे भी अधिक त्वचा का महत्व तब ज्ञात होता है, जब उसके विस्तृत कुटुम्ब का विचार किया जाता है।

त्वचा के २ विभाग हैं। १. बहिर्त्वचा (Epidermis) और (२) सच्ची त्वचा (Dermis)। इस सच्ची त्वचा के नीचे तीसरी अन्तर्त्वचा (Hypodermis) अवस्थिति है, यह त्वचा का पूर्वरूप है। यह शिथिल संयोजक तन्तुओं की बनी हुई उपत्वचा में से बनती है, जो कुछ समय में त्वचा का रूप धारण करती है। इस त्वचा को नख, केश, मेद ग्रन्थियाँ, स्वेद ग्रन्थियाँ और दुग्ध (स्तन) ग्रन्थियाँ, ये ५ उपांग हैं। इनके अतिरिक्त केन्द्रीय वात संस्था (Central nerve system) जो कि शरीर में सबसे अधिक इन्द्रिय युक्त (Organised) है, इसीसे निर्मित है।

१. बाह्य त्वचा (Epidermis or cuticle)—इसके निम्न ४ स्तर हैं।

अ. शार्ङ्गिणी स्तरिका (Stratum corneum)

आ. शाल्किनी स्तरिका (Stratum lucidum)

इ. कार्णिनी स्तरिका (Stratum granulosum)

६. वर्णिनी स्तरिका (Stratum mucosum or s. malpighii) कृष्ण-पीत आदि वर्ण युक्त कोषाणुमय। इसके नीचे जनित्री (Stratum germinativum) नामकी पॉचवी अन्तस्त्वचा के आच्छादन रूप अवस्थित है।

त्वचा शायद मस्तिष्क के अतिरिक्त सब से ज्यादा जटिल अंग है। इसकी जटिल बनावट और क्रियाओं के कारण इसे अनेक विकृति विज्ञानीय परिवर्त्तन जैसे प्रदाह, सक्रमण, नवीन उत्पत्ति, अपक्रान्तीय परिवर्त्तन आदि हो जाने के योग्य बना देती हैं। त्वचा को वास्तव में "शरीर का दर्पण" कहना पूर्णांश में सत्य है, क्यं कि त्वचामें अनेक विकृति विज्ञानीय परिवर्त्तन, जो कि शरीर के विभिन्न तन्तुओं में उत्पन्न होते हैं, प्रतिबिम्बित हो जाते हैं।

जब इन परिवर्त्तनों की उत्पत्ति त्वचा के उस भागमें हो जाती है। जो कि आसानी से देखा जा सकता है, तब त्वचा की परीक्षा महत्वपूर्ण है, तथा इससे शरीरिक-निदान में यह महत्वपूर्ण सूचना मिलती है। त्वचा पर कुछ चिन्हों की विद्यमानता कभीर अंगीय रोगके सत्य निदान करनेमें प्रथम सहायक सिद्ध होती है। यहाँ तककि क्षुद्र उत्तेजक और इनकी प्रतिक्रियायें, एवं बड़े बड़े अंगो की क्रियाओं में अस्वभाविकतायें त्वचा पर निश्चित चिह्न उत्पन्न कर देती हैं, जिन्हें कभी भी तुच्छ नहीं समझा जा सकता। मनुष्य की अनुग्रहता (indulgences), पीड़ायें और चित्त वृत्तियाँ अक्सर उसके चहेरे पर प्रतिबिम्बित हो जाती है। इसलिये चहेरे की त्वचा पर निष्ठुर स्मारक और यहाँतक कि सूक्ष्म, विचारोंके स्मारक विद्यमान रहते हैं। वास्तव में मध्यकाल से ही त्वचा में बुद्धि, गुण, शक्ति, (Talents) के भाग्य के स्मारक से युक्त सूची (मसविदा Scroll) प्रतीत की जा सकती है। जिससे यह प्रतीत किया जा सकता है कि कहाँ वह विजयी हुआ है, और कहाँ उसने गलतियाँ की हैं।

(अ) शार्ङ्गिणी स्तरिका (शृंग मयस्तर)—इसमे कोषाणु केन्द्र रहित, चिपटे, शृंगमय कोषाणुओं की अनेक परत होती हैं। जो एक के ऊपर एक स्थित है। यह विभिन्न स्थानों पर आवश्यकतानुसार अधिक मोटी या पतली है। जहाँ निरन्तर रगड़ लगती रहती है—जैसे हथेली और तलवे में, वहाँ यह सबसे मोटी है। इसके विपरीत मुखमण्डल और अण्डकोष पर सबसे पतली है। इसके ऊपर के कोषाणु घिस-घिस कर गिरते रहते हैं और नीचे के कोषाणु उनका स्थान ग्रहण करते जाते हैं। गहराई के कोषाणुओं में वसा के कण होते हैं। जिससे वे मोम के समान ही भासते हैं। और

इसी हेतु से त्वचा जलरोधक (Water proof) का कार्य करती है। इसके उत्तान कोषाणुओं में कैरेटिन (keratin) *नामक पदार्थ होता है। यह एक शक्तिशाली प्रतिरोधक है। इस पर ५० प्रतिशत खनिज अम्ल का कुछ भी असर नहीं होता, तथा पैप्सीन—हाइड्रोक्लोरिक-एसिड से पचन नहीं होता परन्तु इस पर क्षारों का शीघ्रता से प्रभाव पड़ता है।

आ. शल्किनी स्तरिका - शृंगयुक्त स्तर के ठीक नीचे स्थित है, और कोषाणु केन्द्र युक्त स्वच्छ चिपटे कोषाणुओं से निर्मित है, जिसका आकार मछलियों के टुकड़े के समान भासता है। इसके कोषाणुओं के चारों तरफ और मध्य में भी एक तैलीय तरल सूक्ष्म सूक्ष्म बूंदों में पाया जाता है। यह तैलीय द्रव शायद केरैटिन की अपक्रांति से उत्पन्न होता होगा।

इ. कणिनी स्तरिका :—यह शल्किनी स्तरिका के नीचे स्थित है। इसमें वृत्ताकार कोषाणु केन्द्र मय कोषों की एक या अधिक तह प्रतीत होती है। इसे कणिनी संज्ञा दी है, क्योंकि वर्णिनी स्तरिका में रहे हुए कैरेटोहाइलिन (keratohylin) नामक पदार्थ के अनेक कण प्रत्येक कोषाणुओं में केन्द्र से किनारे तक फैले हुए दिखाई देते हैं।

ई. वर्णिनी स्तरिका—यह सच्ची त्वचा और कणमय स्तर के मध्य में स्थित है। यह कोषाणुओं की अनेक तहों से निर्मित है, और बाह्यत्वचा का वह भाग है जो निरन्तर उद्भिदावस्था या वर्द्धनावस्था में ही रहता है, ताकि इससे ऊपर स्थित बाह्यत्वचा की हानि को जो निरन्तर बाह्य पदार्थों के सम्पर्क से होती रहती है, पूर्ण कर सके। इसका सबसे गहरा स्तर नखों का कीटाणु युक्त स्तर बनाता है। वह गहरा स्तर आधार भूतकला पर अवस्थित है, जो इस त्वचा से पृथक् करता है। इसके कोषाणु स्तम्भाकार और अण्डाकृति कोषाणु केन्द्र युक्त होते हैं। पुनरुत्पत्ति के समय स्तम्भाकार कोषाणु बढ़ते हैं, इनको केन्द्र विभाजित होते हैं। फिर बहुकोणीय केन्द्रमय

---

*कैरैटिन शुभ्र प्रथिन मय द्रव्य है, जो उपत्वचा, बाल और शृंगमय तंतुओं का आधार बनाता है। यह अत्यन्त अघुलनशील प्रथिन है, जिसमें गंधक होती है। विश्लिष्ट होनेके पश्चात् टाइरोसिन (Tyrosin) और ल्युसिन (leucin) उत्पन्न करता है। कभी कभी इसका विलयन गोलियों को आवृत्त करने के काम में लिया जाता है।

और लघुस्तम्भाकार कोपाणु उत्पन्न होते हैं। पश्चात् ये भी ऊपर की तरफ धकेल दिये जाते हैं, और नोकदार कोपाणुओं का स्तर (prickle-cell-layer) बनता है। नोकदार कोपाणुओं में रेशे निकले हुए रहते हैं, जिनके द्वारा ही ये एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं।

वर्द्धन क्रिया अब भी जारी रहती है, और क्रियाशील आच्छादिका कला के स्तम्भाकार कोपाणु इन नोकदार कोपाणुओं को ऊपर की ओर धकेलते हैं। ज्यों ही ये पृष्ठ पर आते हैं उनमें अपक्रान्ति होती है, जिसके फलस्वरूप केरेटो हायलीन से इलीडीन (Elidin), और इससे अंत में शार्ङ्गिनी स्तरिका में स्थित मोम के सदृश पदार्थ बन जाता है, और शेष रहे हुए काष्ठोज (सैल्युलोज) से शृंगमय स्तर के कोपाणु निर्मित होते हैं।

कर्ण कुहर (Auditory Meatus) के अतिरिक्त शरीर में जितने भी द्वार हैं, उन सब में बाह्य त्वचा श्लैष्मिक कला की आच्छादिका कला (Epithe lium) से लगकर सम्बन्धित है।

त्वचा का रंग, जो कि जाति और व्यक्ति विशेषके वर्ण का कारण है, बाह्य त्वचा के इसी स्तर में अवस्थित रहता है।

(२) सच्ची त्वचा (Corium--cutisvera or dermis)—यह बाह्य त्वचा के नीचे स्थित है। यह न समझ लेना चाहिये कि, जिस प्रकार एक पुस्तक दूसरी पुस्तक पर समतल रक्खी जाती है, उसी प्रकार बाह्य त्वचा सच्ची त्वचा पर स्थित है, अपितु यह इस तरह एक दूसरे से मिली हुई है कि बाह्य त्वचा के अंकुर मय अन्तर प्रवर्द्धनां (interpapillary Processes) में भी अच्छी तरह चिपकी हुई है जिससे बीच के त्वचा के अंकुर (Papilea) भी ऊपर निकल आते हैं। ये उभार सौत्रिक तन्तुओं या रक्त केशिकाओं के झुण्ड हैं। हथेलियों और तन्तुओंकी त्वचा में यह उभार मोटे होते हैं और इनसे समानान्तर रेखासी बन जाती हैं। अंगुलों में शंख चक्र आदि इन्हीं रेखाओं से बनते हैं।

सच्ची त्वचा सौत्रिक और स्थितिस्थापक तन्तुओंकी सघन जालीसे निर्मित होती है। यह जाल के समान बनावट उत्तान भाग में अन्तर्त्वगीय तन्तुओं के पास स्थित त्वचा से ज्यादा सघन होती है। शरीर के उन भागों में जहाँ अधिक स्थिति स्थापकता की आवश्यकता होती है; जैसे संधिओं के पास; वहाँ स्थिति स्थापक तंतु ज्यादा मात्रा में रहते हैं और जहाँ न्यून स्थिति स्थापकता की आवश्यकता होती है, जैसे हथेली और तलवे में, वहाँ ये भी न्यून मात्रा में होते हैं। ऐसा कहा गया है कि अंकुरिणी स्तरिका के स्थिति स्थापक तन्तु

आधारभूत स्तम्भाकार कोषाणु और बाह्य त्वचा के मध्य में सीमा निर्धारित करते हुए ऊपर निकले हुए होते हैं, और ये वही सौत्रिक तन्तु है जो बाह्य त्वचा के साथ बाँधते हैं।

सच्ची त्वचा में निम्न वस्तुएँ उपस्थित हैं। (१) रक्त वाहिनियाँ और लसिका वाहिनियाँ, (२) वात नाडी और स्पर्श यन्त्रिका (Tactile Corpuscles); (३) ग्रन्थीमय रचना और केशोत्पादक कूप। इसका वर्णन करने के लिये इसके निम्नानुसार दो भाग किये हैं।

अ० अंकुरिणी स्तरिका- (Papillary Layer) यह बाह्य उपत्वचा के नीचे स्थित है। इसमें अनेक अंकुर निकले होते हैं। अंकुर शङ्क्वाकार, एक या अधिक विभाजित शिखर युक्त होते हैं, और उस स्थान पर प्रचुर मात्रा में होते हैं, जहाँ कि स्पर्श-शक्ति अत्यधिक बढ़ी हुई हो। जैसे अंगुलियों पर स्थित हथेली का पृष्ठ। प्रत्येक अंकुर में रक्त वाहिनी होती हैं। और उनमें से अधिकों में एक या अधिक वातनाडी के तन्तु भी होते हैं। त्वचा के उस भाग में, जिसमें स्पर्श ज्ञान शक्ति अत्यधिक होती है, वातनाड़ी के तन्तु स्पर्श करने वाले कोषों से सम्बन्धित होते हैं। इन अंकुरों में लसिका वाहिनियाँ भी होती हैं।

आ० जालिनी स्तरिका (Reticular layer)—यह अंकुरमय स्तर के ठीक नीचे स्थित है, और संयोजक तंतुओं के समूहों से निर्मित सघन जाल से बनती है। इसका निर्माण करने वाले संयोजक तन्तु अंकुरों तक पहुँच जाते हैं। इस स्तर में भी स्थिति स्थापक सूत्र बहुत रहते हैं और इन्हीं की उपस्थिति के कारण गर्भावस्था और शोथावस्था में त्वचा फैल सकती है।

अन्तस्त्वचा (Hypoderm)—यह कहा जा सकता है सम्पूर्ण त्वचा इस अन्तस्त्वचा या अन्तस्त्वगीय तन्तुओं से सम्बन्धित रहती है। या इसी के आधार पर स्थित है। यह संयोजक तन्तुओं के ढीले बने हुए समूहों के निर्मित होतीहै, और इसके जाल में वसा के कोषाणु फँसे रहते हैं। इस अन्तस्त्वचा में स्वेद ग्रन्थियाँ और गहरे बालों के कूप स्थित हैं।

त्वचा में रक्त संचार:—त्वचा और अन्तस्त्वचा में रक्त संचार तीन स्थानों के चक्रों (Plexuses) द्वारा होता है। प्रथम स्थान के चक्र कितनीक दीर्घ रक्त वाहिनियों की शाखा प्रशाखाओं द्वारा निर्मित उपत्वचा के तन्तुओं (Subcuteneous tissue) में स्थित हैं। द्वितीय चक्र त्वचा में

ठीक उपत्वचा के ऊपर स्थित है। तृतीय स्थान के चक्र धमनियों में निर्मित एक जाली है, जोकि अंकुरों के आधार की सतह पर स्थित है। इन चक्रों में से अनेक शाखाएँ निकल कर स्वेद ग्रन्थियों, बालों की जड़ें और मेद ग्रन्थियों में जाती है। अकुरों मे रक्त का सचार उतानचक्र की कैशिकाओं में से होता है, ये कैशिकायें सूक्ष्म शिराओं (Venules) मे मिल जाती हैं। ये सूक्ष्म शिरायें धमनियों की कैशिकाओं में कुछ बड़ी होती हैं। इस लिये दो कैशिकायें एक शिरा द्वारा अपना रक्त वापिस कर सकती है। इसमे यह परिणाम निकलता है कि अकुरों मे रक्त अन्तस्तर की सूक्ष्म नलिकाओं (Capillary loops) मे से होकर सवहन करता है। शिरायें धमनियों के चक्र के साथ साथ चलती हैं, और त्वचा की शिरायें धमनियों की तुलना मे ज्यादा बड़ी हैं। सत्य (मुख्य) त्वचा अपने पोषण के लिये शिराओं और लसिका वाहिनियों पर निर्भर है क्योंकि त्वचा के अंकुर मय और जालवत् स्तर मे स्थित सूक्ष्म तम धमनी प्रशाखाएँ (Arteriotes) भी गोल मांस सूत्रों से घिरी हुई हैं। इसमे सदेह नहीं कि, धमनी गत कुछ रक्त भी अंकुरों तक पहुंचता है, परन्तु त्वचा का मुख्य पोषण तो उन शिराओं द्वारा ही होता है, जो शिराएँ मौलिक श्लैष्मिक कलाके ऊपर अन्तस्तर मे अवस्थित हैं। इन रक्त वाहिनियों के प्रबन्ध की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि, जब त्वचा मे स्थित धमनियों और धमनी प्रशाखाओं के विशेष मांस यंत्र त्वचा के रक्त सचार का नियन्त्रण न कर सके, तब त्वचा शारीरिक उत्ताप को नियमित नहीं रख सकती। कारण, त्वचा शारीरिक उत्ताप को नियमित रखने का अपना कर्त्तव्य तब ही निभा सकेगी जब कि त्वचा मे स्थित धमनियों के चारों तरफ के मांस सूत्र रक्त संचार पर नियन्त्रण रक्खेगी।

लसिका बाह्य त्वचा के अन्तः कोषाणुओं के भीतर सवहन करता है। एव प्रत्येक अंकुर के शिखर मे भी लसिका के लिये स्थान है। अंकुरों के उपप्रदेश में भी लसिका वाहिनियों के चक्र हैं और लसिका वाहिनियाँ भी रक्त वाहिनियों के ही साथ साथ जाकर उपत्वचा के स्तरों मे लसिका के स्रोतों मे सम्मिलित हो जाती है। सच्ची त्वचा के सूत्रों के बीच में स्थित अन्तः कोषाणु स्थानों मे भी लसिका सवहन करती है।

वातनाड़ी तन्तु—त्वचा में मज्जा से आच्छादित (Medullated) और अनाच्छादित (Non-medullated) दोनों प्रकार के सावेदनिक नाड़ी तन्तु पाये जाते हैं। प्रथम प्रकार मे से कुछ अंकुरों के शिखर मे स्थित लम्बे चक्रवत् स्पर्श कोषाणुओं (Meissner's bodies) मे प्रवेश करते

हैं, जहाँ स्पर्श शक्ति अत्यधिक होती है। उदा अंगुलियों के अग्र में। द्वितीय प्रकार के अंकुरों में स्थित अण्डाकार केन्द्रमय स्पर्श कोषाणु (Merkel's-touch-cells) में मिल जाते हैं। इनका मुख्य कार्य क्या है यह अभी पता नहीं चल सका। प्रथम प्रकार में से कितनेक अपने मज्जा के आवरण को शिथिल करके सूक्ष्म सूत्रों से जाली सदृश रचना करते हैं, जो बाह्य त्वचा की शल्किनी स्तरिका तक फैले होते हैं।

अन्तस्त्वचा के अमरूद सदृश आकार के स्तर के सबसे बड़े अण्डाकार कोषाणुओं को आच्छादित नाड़ी तन्तु शक्ति प्रदान करता है।

अनाच्छादित तन्तु स्वेद ग्रन्थियाँ, रक्तप्रणालियाँ और त्वचागत सूक्ष्मतम माँस पेशियों को शक्ति देता है। त्वचा गत रक्त वाहिनियों को शक्ति प्रदान करने वाले तन्तु अति मिश्रित हैं। इनमें आकुंचन कार्य के लिये नाड़ी तन्तु अनुकम्पी स्वतन्त्र नाड़ी मण्डल (Sympathetic Nervous System) में से प्राप्त होते हैं; तथा मस्तिष्क करोटिकी त्वचा मे रक्तवाहिनियों के प्रसारणार्थ नाड़ी तन्तु शीर्षण्या नाड़ियों (Cranial nerves) के साथ गमन करते हैं, जब कि दोनों कपोलों में संभवतः ग्रीवा की अनुकम्पी नाड़ी में से तथा धड़ और शाखाओं के त्वचा की रक्त वाहिनियों के प्रसारण के लिये सुषुम्णाकाण्ड के वक्ष और कोटि प्रदेश के पश्चिम मूलों में से।

माँसपेशियाँ—वृषण कोष, चूचुक के चारों ओर का मण्डल तथा पलकों की त्वचा में चिकने माँससूत्र प्रतीत होते हैं। इन्हींसे त्वचा का आकुंचन होकर सिलवट होती है। ग्रीवा की उत्तान पेशियों में से तथा मुखाकृति बनाने वाली माँशपेशियोंमें से आड़े माँस तन्तु निकल कर सच्ची त्वचा में प्रवेश करते हैं। इन्हीं माँस पेशियों के सकोच के कारण जब मनुष्य क्रोध करता है तब त्वचा में झुर्रियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और जब हँसता है तब गाल मे गढ्ढा पड़ जाता है।

बालों के प्रत्येक मूल में खड़ी माँस पेशियों का छोटा समूह मे अनैच्छिक माँस पेशियों का समूह होता है, जो बाल के मुड़ने की तरफ स्थित होता है। यह सच्ची त्वचा की कणिनी स्तरिका से लेकर लोम कूप के नीचे तक रहता है। यही लोम मूल के बाह्यावरण की वृद्धि कराता है। जब यह माँस सूत्र संकुचित होता है, तब बालों के कोषों का तिरछापन कम हो जाता है, जिसके

परिणामस्वरूप बाल अधिक खड़े हो जाते हैं, इसे "रोंगटे खड़े हो आना" कहते हैं। क्योंकि मेद ग्रन्थि माँस सूत्रों और कोष के मध्य में स्थित होती है। इसलिये जब माँस सूत्रों का सँकोच होता है तब उस ग्रन्थि में से मेद निकल आता है।

त्वचा की ग्रन्थि संस्था—इसमें निम्न दो प्रकार की ग्रन्थियाँ होती हैं।

मेद ग्रन्थियाँ (Sebaceous glands)—ये सामान्यतः छोटी थैली जैसी होती हैं। बालो के ऊपर के भाग के पास उनका मुख रहता है। इसमें मेद उत्पन्न होता रहता है और इसी से बालों मे मुलायमपन रहता है। ये पूर्ण स्रावी (holocrine) ग्रन्थियाँ हैं। इनमे से मेद ग्रन्थियों के पूर्ण विगलन से बाहर निकलता है।

स्वेद ग्रन्थियाँ (Sweat glands)—ये त्वचा के भीतर अधिक हैं। इनमें भी हथेली और तलुवे पर, जहाँ बाल नहीं होते, वहाँ अधिक परिमाण में रहती है। इन ग्रन्थियों की नलिकाओं का समूह त्वचा के गहरे भाग में रहा है। वहाँ से नलिका टेढ़ी मेढ़ी हो कर बाह्य त्वचा पर निकलती है। नलिका समूह गत कोषाणु स्वेद उत्पन्न करते हैं। फिर वह नलिका द्वारा बाहर आता है। कान का मल और तैली भाग इस प्रकार की स्वेद ग्रन्थियों से उत्पन्न होता है। ये ग्रन्थियाँ अंशस्रावी (merocrine) हैं। क्योंकि ग्रन्थि कोषाणुओं का विनाश न होते हुए स्वेद स्राव होता है। इन अंशस्रावी ग्रन्थियों के २ उपविभाग हैं।

अ. मल त्यागी ग्रन्थियाँ (Eccrine glands)—इनमेंसे स्वच्छ तरल स्राव होता है। एव कोषाणु अक्षत रहते हैं।

आ जीवन द्रव त्यागी ग्रन्थियाँ (Apocrine glands)—इनमें से मल त्याग के साथ कुछ जीवन सत्व भी स्रवित होता है। ग्रन्थि के आवरण के कोषाणुओं के शिखरों का विगलन होता है और वह तरल के साथ मिश्रित हो जाता है।

मनुष्य मे मलत्यागी स्वेद ग्रथियाँ ही ज्यादा होती हैं, ये सीधी

त्वचा के बाह्य पृष्ठ पर खुलती हैं। जीवन सत्व त्यागी स्वेद ग्रंथियाँ पुरुष और औरतों में कक्षा, जननेन्द्रिय क्षेत्र और वक्ष में पायी जाती है, ये मल त्यागी से बड़ी होती हैं, और रोम कूपों में मेद ग्रंथियां के ऊपर खुलती है। इनके स्राव में प्रकृति निर्देशक गन्ध होती है, जो लिंग भेद का प्रतीक है।

ये पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में तथा गोरे मनुष्यों की अपेक्षा काले मनुष्यों में अधिक संख्या में और अधिक क्रियाशील होती हैं। गर्भिणी और रजस्वला होने पर इनका स्राव अधिक होता है।

उक्त दो प्रकारों की ग्रन्थियों के अतिरिक्त स्त्रियों के स्तनों में स्तन ग्रन्थियाँ (mammary glands) होती हैं। संयोजक तन्तुओं (connective tissue) से इसके २० खण्ड बनते हैं। प्रत्येक खंड में एक एक दुग्ध नलिका (lactiferous duct) होती है। ये नलिका चूचुक (nipple) में जाने पर कुछ आकुंचित होती है। वहाँ पर दूध का कुछ संग्रह होता है। ग्रन्थि खंड के उपविभाग अनेक होते हैं। इन स्तन ग्रन्थियों के चारों ओर मेद आवरण रहता है। इन ग्रन्थियों को वात नाड़ियों, रक्त वाहिनियां और लसीका वाहनियों की पूरी सुविधा मिलती है। ये ग्रंथियाँ सगर्भावस्था और दुग्धस्रावावस्था में बड़ी होती हैं। इन ग्रंथियों की उत्तेजना नाड़ी तन्तुओं की उत्तेजना से नहीं होती, किन्तु बीजाशयस्थ अंतःस्राव से होती है।

बालः—बालत्वचा में से ही निकलते हैं। ये तीन स्थानों--हथेलियों, तलुओं और शिश्न के अगले भाग की त्वचा को छोड़कर सम्पूर्ण शरीर में रहते हैं। बालों की लम्बाई, मोटाई और रंग सब जातियों में एक सा नहीं होता, एक ही मनुष्य में किसी स्थान के बाल मोटे और लम्बे होते हैं; किसी स्थान के पतले और छोटे। पलकों की त्वचा के बाल बहुत ही छोटे होते हैं, सिर के बाल बहुत लम्बे होते हैं। एवं पलकों के किनारों के बाल (बरुनी), विटपदेश, मूंछ और दाढी के बाल भी मोटे होते हैं।

बाल का कुछ भाग त्वचा से बाहर निकला रहता है और कुछ उसके भीतर रहता है, उसे बाल की जड़ कहते हैं। जिस गढे में बाल की जड़ रहती है उसे लोम कूप कहते हैं। लोम कूप के नीचे भाग की दीवारें कई कोषाणुओं की तहों से बनती हैं और इन कोषाणुओं के बाहर सौत्रिक तन्तु की तह रहती है।

प्रत्येक रोम मूल में कैशिकाओं का जाल और मांसतन्तु रहते हैं। इन मॉस तन्तुओ के अकुंचन, शीतलगने और भय होने पर रोंगटे खड़े हो जाते ह तथा त्वचा शुष्क हो जाती है, यह क्रिया वातनाडी की उत्तेजना से होती है।

बाल के दो भाग होते हैं। १. मध्य भाग—यह गोलाकार कोषाणुओं से बनता है। २. बाह्य भाग—यह मध्य भाग के चारो तरफ रहता है। इसमे लम्बे लम्बे सूत्राकार कोषाणु होते हैं। कोषाणुओं के भीतर एक रंग रहता है। किन्तु परिपक्वावस्था श्वेत बालो मे रंग नही रहता।

नख:—हाथ और पैर की हर एक अंगुल के अन्तिम पोर्व मे एक एक नख रहता है। नख अपने नीचे के चम से रख चिपटा रहता है, और उसका किनारा त्वचा मे घुसा रहता है नख का अधिक भाग स्वच्छ होता है और उसमे से त्वचा के रक्त का रंग चमकता करता है; पिछला थोडा-सा भाग अस्वच्छ और सफेद होता है। नख वास्तव मे बाह्य चर्म ही है जिसके कोषाणु अधिक सख्त हो गये हैं। इसके नीचे कोमल भाग रहता है, वह सच्ची त्वचा है। जिसमे नखोत्पादक नखक्षेत्र (Matrix) रहता है। वह शिरा, धमनी और स्पर्श नाड़ी सूत्रों से पूर्ण रहता है। किन्तु बाह्य चर्म की तरह रक्त वाहिनियॉ नही है। इनका पोषण त्वचा की लसिका से ही होता है। इन नखो के मूल मे आगे की ओर अर्धगोल श्वेताभ होती है, उसे अर्धेन्दु-कान्ति (Lunula) संज्ञा दी है।

त्वचा में रंजक द्रव्य:—त्वचा का रंग मैलेनीन (Malanin) *नामक मिश्रित सेन्द्रिय यौगिक काले द्रव्य पर निर्भर है। साधारत. रंजक-द्रव्य बाह्य त्वचा के सबसे नीचे के कोषाणुओं के केन्द्रो मे सरक्षक आवरण (Protective Caps) निर्मित करता हुआ एकत्रित पाया जाता है। इसके अतिरिक्त यह समीपस्थ लोम कूप, लोम और त्वचा के कुछ कोषाणुओं मे भी पाया जाता है। बाह्य त्वचा के कोषाणुओं मे इस रंजक द्रव्य के सचय का सबसे बड़ा भारी लाभ यह है कि, यह चेतना मय कोषाणु केन्द्रों के नीलातीत (Ultra violet) और रक्तातीत (infra-red) रश्मियों के

---

*एक गहरा रंजक द्रव्य है। जो नेत्र के मध्य पटल (Choroid) मस्तिष्कस्थश्याम पत्रिका (Sub Spania Nigra), तथा घातक अर्बुद (Melanotic Tumour) मे रहता है। यह कोषाणु क्रिया से उत्पन्न होता है।

हानिप्रद प्रभाव से बचा लेता है, एवं वाह्य त्वचा के नीचे स्थित नाज़ुक तंतुओं जैसे कैशीय रक्तवाहिनियाँ आदि की भी इन रश्मियों से रक्षा करता है। मेलेनीन मे रक्तातीत रश्मियों को प्रतिक्षिप्त करने का गुण अवस्थित है। इसीलिये अगर किसी निग्रो (nigro) की फोटो इस रश्मि से ली जाय, तो ऐसा प्रतीत होगा जैसे किसी श्वेत मनुष्य का चित्र है।

इस रंजक द्रव्य का अन्त दो प्रकार से होता है। इसमें से कुछ भाग त्वचा में प्रवेश करके विलीन हो जाता है, जब कि शेष बाह्य त्वचा के उत्तान कोषाणुओं में ऊपर निकल आता है, जिसमें से कुछ तो शृंग मय स्तर में रह जाता है परन्तु इसका अधिक भाग विवर्ण पदार्थ में परिवर्तित हो जाता है।

त्वचा के कार्य

१ **संरक्षण**—इससे सम्पूर्ण शरीर ढका हुआ है; इससे नीचे स्थित माँसादि कोमल तन्तुओं की रक्षा होती है, तथा यह अपने कोमल चिमड़ा और स्थिति स्थापत्व गुणों से इनकी सहायता करती है, ताकि वे स्वतन्त्रता पूर्वक क्रिया कर सके। यह रोगोत्पादक जन्तुओं और विषों को शरीर के भीतर घुसने से रोकती है तथा बाह्य आघात से रक्षा करती है।

२ **शारीरिक उत्ताप का नियंत्रण**—इसमें रक्त की प्रचुर मात्रा तथा स्वेद ग्रन्थियाँ होने के कारण शारीरिक ताप को नियमित रखने में इसका मुख्य भाग है।

३ **श्वासोच्छ्वास**—श्वासक्रिया में भी इसका कुछ हाथ रहता है। मनुष्य मे तो त्वचा से श्वास क्रिया न के बराबर होती है, परन्तु जानवरों में जैसे मेढ़क में त्वचा की यह क्रिया इतनी बढ़ी हुई होती है कि वे फुफ्फुस के बिना ही कार्य चला सकते हैं। मनुष्यों मे कर्बद्वि प्राणयक फुफ्फुस के निःश्वास की अपेक्षा $\frac{1}{220}$ भाग पतली त्वचा से बाहर निकलता है।

४ **मल त्याग**—त्वचा में स्थित स्वेद ग्रन्थियाँ शरीर के मल और पानी को बाहर निकाल कर वृक्कों की परम सहायक सिद्ध होती है। स्वेद के साथ आने वाले तरल का परिमाण दो बातों पर निर्भर है—(१) मनुष्य के आसपास का बाह्य ताप (२) और उसका कार्य।

शीतकाल मे भी स्वेद निकलता है, किन्तु वह थोड़े होने से सत्वर बाष्प हो कर उड़ जाता है। उसे अज्ञात स्वेद (insensible-

perspiration) कहते हैं। ग्रीष्म ऋतु में त्वचा पर स्वेद बिन्दु प्रतीत होता है, उसे ज्ञात स्वेद कहा है। वायु शुष्क और उष्ण होने पर विशेषतः अज्ञात स्वेद रहता है। स्वेद द्वारा स्वस्थ मनुष्य में साधारणतः २४ घंटो मे लगभग १।। से २ पौंड तरल निकलता है और ०'०८ प्रतिशत मूत्रीया। अगर शारीरिक परिश्रम ज्यादा और अधिक देर तक किया जाय तो शरीर से बाहर निकलने वाले सम्पूर्ण नेत्र का १०—१२ प्र० श० स्वेद के साथ निकल सकता है।

स्वेद क्रिया नाड़ी तन्तुओं की उत्तेजना से होती है। अधिक स्वेदावस्था मे कैशिकायें प्रसारित होती हैं, रक्ताभिसरण मे वृद्धि होती है तथा स्वेद बाहर निकलता है। स्वेदोत्पादक नाड़ी तन्तुओं के केन्द्र सुषुम्णा काण्ड में है। वहाँ से स्वेद का नियन्त्रण भी होता है। कितनीक औषधियाँ (पाइलोकार्पिन, कपूर, तमाखु, कुचिला आदि) के सेवन, रक्त मे प्राणवायु की न्यूनता तथा तापमान वृद्धि होने पर केन्द्र उत्तेजित होते हैं। पक्षवध सदृश कितनेक रोगों मे स्वेदक्रिया ऐसी ही उत्तेजित होती है। स्वेद अम्ल और नमकीन है। इसमे दुर्गन्ध उड्डनशील (volatile) मेदाम्ल के हेतु से आती है। इसमे मूत्रलवण के समान लवण वसाम्ल, वसा चिह्न और पित्त घन (cholesterol) रहते है। इसका विशिष्ट गुरुत्व १००५ है।

स्वेद मार्ग से कितनीक औषधियाँ बाहर निकलती हैं। भिलावाँ तेल, सोमल, पारद, आयोडीन, क्विनाइन, लहसुन, तार्पिन तेल, शराब आदि आमवातिक ज्वर मे स्वेद अम्ल वास वाला होता है, और उसमे शुभ्रप्रथिन भी होता है। मधुमेही के स्वेद में शर्करा निकलती है। सूतिका ज्वर (puerperal fever), अस्थिवक्रता (rickets) और गड माला मे स्वेद में दुग्धाम्ल निकलता है। कुछ औषधियाँ अफीम ऋची बूटी सत्व (atropiu) स्वेद कम कराती है। यदि स्वेद का बिल्कुल रोध कराया जाय तो उष्णता कम हो कर मृत्यु हो जाती है। अति चिपका हुआ रबर का आवरण पहनने या देह पर वार्निश (varnish) लगा लेने पर त्वचा की क्रिया बन्द हो कर स्वेदावरोध हो जाता है।

त्वचा कार्य और वृक्क कार्य का घनिष्ट सम्बन्ध है। मूत्रस्राव अधिक होने (या पतले पतले दस्त होने) पर त्वचा शुष्क हो जाती है।

यदि स्वेद अधिक निकलता है, तो उतने अंश में मूत्रोत्पत्ति कम हो जाती है। रक्त में मूत्रीया अति बढ़ जाने पर अर्थात् वृक्क अक्रिय होने पर (मूत्राघात Uraemia) में मूत्रोत्पत्ति नहीं होती, तब स्वेद द्वारा मूत्रीया बाहर निकलता है। इस हेतु से वृक्क रोगों में स्वेद बढ़ाकर और विरेचन देकर वृक्कों का कार्य कम कराया जाता है।

५ शोषण—त्वचा में शोषण शक्ति न के बराबर ही है। कुछ तैल और तैल मिश्रित पदार्थों के अतिरिक्त अक्षत त्वचा में से कोई वस्तु शोषित नहीं होती। ग्रीस ऊन की चर्बी (लेनोलीन), मच्छी का तेल और सूअर की चर्बी का त्वचा पर मालिश या लेप करदेने से अन्दर शोषित हो जाते हैं, पारद को भी किसी वसा के साथ मिलाकर त्वचा पर मालिश करने से शरीर में शोषित हो जाता है। पारद प्रयोग करने का यह एक सर्वश्रेष्ठ उपाय है। जलीय तरल अक्षत त्वचा में शोषित नहीं हो सकता है।

६ स्पर्श ज्ञान—त्वचा शरीर का एक मुख्य अंग है। जिसकी स्पर्श ज्ञान शक्ति से शरीर का बाह्य दुनिया से सम्बन्ध होता है। शरीर के इसी अंग द्वारा स्पर्श, पीड़ा, गर्मी, सर्दी और ग्राह्य-अग्राह्य की चेतना प्राप्त करने वाले यन्त्रिणा (Mechanism) अवस्थित है। बाह्य दुनिया का मुख्य वात नाड़ियों के केन्द्रों से सम्पर्क स्थापित करने का एक मुख्य साधन त्वचा भी है। इस बात के अनेक प्रमाण हैं। क्योंकि अनेक मनुष्य जो अन्धे, गूंगे और बहरे थे, उन्होंने स्पर्श ज्ञान शक्ति के संगठित प्रयोग द्वारा उच्च शिक्षा प्राप्त की है।

शरीर के विभिन्न क्षेत्रों में त्वचा की चेतना शक्ति भी भिन्न भिन्न मात्रा में होती है—जैसे यह अंगुलियों के सिरों और हथेली में अत्याधिक होती है। यह भी प्रमाणित कर दिया गया है कि त्वचा की चेतना शक्ति और ठीक उसके नीचे स्थित अंग की महत्ता (या आवश्यकता) का घनिष्ट सम्बन्ध है।

७ मानस क्रिया (Psychic functions) केन्द्रीय वात संस्था और त्वचा की उत्पत्ति में गर्भविद्या (Embryology) की दृष्टि से बहुत समानता है। क्योंकि, गर्भबीज त्वचा की बाह्य ३ पर्त (Epiblast) से त्वचा अंशतः और केन्द्रीय वात संस्था पूर्णतः वृद्धि को प्राप्त होती है। यही कारण है कि, त्वचा मनोभाव प्रदर्शित करने का एक मुख्य साधन है। भय से त्वचा निस्तेज हो जाती है तथा शीतल स्वेद का एक रूक्ष स्राव होता है। भयोत्पादक विषय दृष्टि समक्ष होने पर त्वचा निष्क्रिय

और रोंगटे खड़े हो जाते हैं। विस्मय, लज्जा और अनादर होने पर चेहरा ग्रीवा और अधिक लज्जाशील औरत की चौथाई वक्ष की त्वचा लाल हो जाती है। इससे स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि मानस केन्द्रों (Psychical Centres) तथा त्वगीय कौशिकाओं और संचालक नाड़ियोंकी यन्त्रिणाओं का स्थान है। यह कुछ दुःख वृद्धि तो करा सकता है, किन्तु दुःख का सच्चा ह्रास नहीं कराता।

८ जीवन सत्व उत्पादन (Vitamin formation)—सूर्य किरणों में से या विद्युत् से नीला तीत किरण देह पर गिरने पर जीवन-सत्व 'ड' की उत्पत्ति होती है। यह संभवतः त्वचा के उत्तान स्तर में वसामय द्रव्य स्टेरोल (Sterol) पर प्रकाश की रासायनिक क्रिया के प्रभाव से होता है।

त्वचा की दर्शन परीक्षा

त्वचा और उससे संलग्न अवयवों की परीक्षा के लिये रोगी को जितना उचित और संभव हो उतना नग्न करके, सूर्य के स्वच्छ प्रकाश में देखना चाहिये। स्त्रियों के लिये यह बात विशेषतः ध्यान में रखनी चाहिये। उनका जितना थोड़ा भाग नग्न किया जाय उतना ही अच्छा है। आवश्यकता से अधिक तो कभी नँगा न करे और आवश्यक भाग को भी बारी बारी से थोड़ा थोड़ा नग्न करे।

लगभग सम्पूर्ण स्फोटों (Eruption) की परीक्षा में उनका रंग एक मुख्य बात है, एवं इनमें से बहुत सों में यह एक विशिष्ट लक्षण होता है। मनुष्यों की त्वचा का रंग बहुत कुछ उनकी जाति (race) पर निर्भर है। एक ही जाति के मनुष्य में आब हवा तथा आयु और लिंग के अनुसार त्वचा के रंग में भिन्नता पायी जाती है। जैसे एक हिन्दुस्थानी जो मद्रास में रहता है उसकी त्वचा का रंग उस हिन्दुस्थानी से जो काश्मीर में रहता है, बिल्कुल ही भिन्न होता है। त्वचा का रंग मुख्यतः इसकी वाहिनियों के परिणाम और इसके रंजक द्रव्य (Pigment) के परिमाण और वितरण पर निर्भर होता है। इनमें से किसी में भी परिवर्त्तन हो जाने पर उसका त्वचा के वर्ण पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है, और रक्तवाहिनियों (Cutaneous vessels) पर वात संस्था, भौतिक पदार्थों (Physical Agents) और विषमय अवस्था (Toxic state) का काफी प्रभाव पड़ता है,

इसलिये वर्ण में परिवर्तन जो कि रुग्ण त्वचा में उत्पन्न हो, वे प्रायः अनुपम या अपूर्व होते हैं; और कभी कभी अत्यन्त महत्व पूर्ण होते हैं। जैसे उदाहरणार्थ- कुछ ओषधियो द्वारा उत्पन्न रक्त में प्राणवायु की अतिन्यूनता होने पर मुख व ओष्ठ पर नील वर्ण की उत्पत्ति (Cyanosis) कुछ बिल्कुल महत्वहीन या न्यून महत्व वाले होते हैं। जैसे उदाहरणार्थ— जिस मनुष्य की त्वचा श्याम व ताम्रवर्ण (Tanned) की हो तो यह उसके स्वास्थ्य के विषय में इतनी ही सूचना प्रगट करती है कि यह सूर्य मे नंगा रहता है। जैसे कि त्वचा का कुछ पीला रंग (Sallowness) यह सूचित करता है कि इसका जीवन घर के भीतर ही व्यतीत होता है (Indoorlife)।

उपरोक्त वर्णन से त्वचा की वर्ण परीक्षा का महत्व स्पष्ट है। इसलिये सर्व प्रथम त्वचा परीक्षा में परीक्षक का सम्पूर्ण शरीर की त्वचा के वर्ण का निरीक्षण करना चाहिये।

पाण्डु (Aneamia) में त्वचा फीकी; हलीमक (Chlorosis ÷) में हलकी हरी-पीली, सान्निपातिक पाण्डु (Pernicious Aneamia) में नीबू के समान पीली हो जाती है। सान्निपातिक पाण्डु और कामला (Jaundice) से उत्पन्न पीत रंग में भेद करने के लिये परीक्षक को नेत्र की श्लैष्मिक कला (Conjunctiva) देखना चाहिये। इसके लिये सर्व श्रेष्ठ विधि यह है कि, परीक्षक अपना एक हाथ रोगी के कपाल पर रक्खे। रोगी को नीचे पैर की ओर देखने को कहे और तब अंगूठे की सहायता से नेत्र की ऊर्ध्व पलक (upper eyelid) को ऊपर उठाले। कामला में नेत्र श्लैष्मिक कला जहाँ नेत्र बाह्य पटल (Sclera) को आवृत करती है, उस स्थान पर पीत वर्ण प्रतीत होगा, जब कि पाण्डु मे श्वेत होगा पाण्डु की [मात्रा] तीव्रता जानने के लिये त्वचा की तुलना मे

÷ यह एक प्रकार का पाण्डु रोग ही है, जो अक्सर १५, १६ वर्ष की लड़कियो को होता है। इसमें त्वचा का रंग हरा-पीला हो जाता है। यह दोष पूर्ण रक्त की उत्पत्ति के कारण उत्पन्न होता है, जिसमे रक्त रंजक द्रव्य न्यून होजाता है तथा रक्ताणुओ की भी आंशिक न्यूनता होजाती है। श्रम, बलक्षय, उत्साह नाश, मासिक धर्म की अनियमितता, श्वेत प्रदर मूत्र का रंग फीका होजाना आदि इसके मुख्य लक्षण हैं। इसके अतिरिक्त कृमिज पाण्डु (Tropical Chlorosis), जो विशेषतः मिश्र मे होता है। यह स्त्री-पुरुष सबको होता है। दोनों का विस्तृत विवेचन चिकित्सा तत्व-प्रदीप द्वितीय खण्ड मे किया है।

श्लैष्मिक कला का रंग ज्यादा सहायक सिद्ध हुआ है, इसलिये, जहाँ यह अभीष्ट हो वहाँ श्लैष्मिक कला की परीक्षा करनी चाहिये। इसके लिये अधोपलक को आवृत करने वाली श्लैष्मिक कला को देखना चाहिये। अधोपलक को आवृत करने वाली श्लैष्मिक कला का परीक्षण, रोगी को ऊपर देखने को कहकर उसी समय अधोपलक को अंगुली से दबाकर, आसानी से किया जा सकता है। ऐसा भी सम्भव है कि त्वचा पीली के स्थान पर अस्वाभाविक र या सुर्ख लाल हो। लाली (तेजी) सार्वदेहिक या स्थानिक, दोनो प्रकार की हो सकती है। सर्वदा इसकी ठीक विस्तृति प्रतीत करनी चाहिये और यह भी ज्ञात करना चाहिये कि दबाव से यह अदृश्यहो जाती है या नहीं? इसको प्रतीत करने की सर्वश्रेष्ठ विधि यह है कि एक काँच के टुकडे को लेकर उस स्थान पर दबाया जाय। इससे स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि, काँच के नीचे वचा विवर्ण (हल्की) हुई है या नहीं?

मस्तिष्कावरण की लाली—(Tache cerebrale)—यह लाल तेजी प्रदान करती है। यह कितनेक मस्तिष्क रोगो मे जब त्वचा में उत्तेजना उत्पन्न होती है; तब उत्पन्न होती है। इसके निर्णयार्थ परीक्षक अपनी अंगुली के नख से रोगी के कपाल पर आडी रेखा खीचे। अगर यह उपस्थित है तो रेखा रक्त वर्ण की हो जायगी, और कुछ समय तक इसी प्रकार स्थिर रहेगी। यह रक्त वाहिनियो को सचालित करने वाले नाड़ी सूत्रो की अनियमितता का प्रतीक है। परन्तु मस्तिष्क प्रदाह के अतिरिक्त अन्य रोगो मे भी पायी जाती है। इसलिये रोग-परीक्षा मे इसका अधिक महत्व नहीं है।

नीले धब्बे(Taches Bleuatres) *फौलाद के रग के समान त्वचा के नीले धब्बो को कहते हैं। ये अक्सर अधिक संख्या में धड और साथल पर उत्पन्न होते हैं। ये त्वचा के अन्दर गहरे स्थित होते हैं। इनकी सीमाये अनियमित होती हैं। रोग परीक्षा के लिये इनका भी अधिक महत्व नहीं है। शायद जूँ (Pediculi) को उत्पति के साथ इसकी सम्प्राप्ति होती होगी।

त्वचा के वर्ण मे कभी-कभी पाये जाने वाले व्यति क्रम "सिल्वर नाइट्रेट (silver Nitrate)" के सेवन और उपवृक्क शोष (Addisons

---

*त्वचा पर उत्पन्न नीले धब्बो को कहते हैं। कुछ विद्वानो का मत है कि ये आन्त्रिक ज्वर से पीडित कुछ रोगियो मे उत्पन्न होते देखे गये हैं। कभी कभी ये 'चूका' से भी उत्पन्न हो जाते हैं।

disease) *से उत्पन्न होते हैं। प्रथम अवस्था को रौप्य विष दोष (Argyria) कहते हैं। इसमें सम्पूर्ण त्वचा का रंग मैला धूसर रंग के समान हो जाता है और इसपर दबाव का कुछ भी असर नहीं होता। उपर्युक्त शोष के परिणामस्वरूप त्वचा में उत्पन्न रंग ब्रोन्ज [कोपर और टीन के मिश्रण से बनाया हुआ] धातु के समान लाल भूरा होता है। यह रंग उन स्थानों में पहले उत्पन्न होता है, जो वायु के सम्पर्क में रहते हैं, तत्पश्चात् उनमें, जो दबाव के स्थान होते हैं यानि जिन पर दबाव पड़ता हो। इसमें छोटे छोटे भूरे धब्बे होते हैं जिनके किनारे स्वस्थ त्वचा में फैलते हुये हल्के हो जाते हैं। जिन रोगियों में इस रंग के उत्पन्न होने का संदेह हो उनके ओष्ठ और गाल के भीतर की श्लैष्मिक कला का परीक्षण विशेष ध्यान से करना चाहिये। उपर्युक्त शोष से पीडित होने पर अक्सर इनमें गहरे नीले काले रंग के धब्बों के चिह्न प्रतीत होंगे, जिनकी तुलना उन धब्बों से की जा सकती है जो नीली, काली स्याही वाली कलम को चूस लेने पर जिह्वा और ओष्ठ पर उत्पन्न हो जाते हैं। गर्भावस्था में भी अक्सर त्वचा पर इतः स्ततः पीले भूरे धब्बे [Chloasma gravidarum] हो जाते है; और राजयक्ष्मा के अनेक रोगियों के कपाल और गाल पर भूरे दाग, उपदंश रोगी की त्वचा पर रोग दर्शक धब्बे तथा सोमल जिनने काफी समय तक सेवन किया हो, उनकी त्वचापर भी बिखरे हुए रंजित धब्बे पाये जाते हैं।

इस प्रकार त्वचा में उत्पन्न अस्वाभाविक वर्ण को प्रतीत कर लेने के पश्चात् परीक्षक को यह देखना चाहिये कि, रोगी के शरीर पर किसी प्रकार के रक्त-उत्सेध (फुन्सी फोडे) (eruption)*तो नहीं है ? अगर त्वचा में किसी प्रकार का लाल उत्सेध प्रतीत हो तो प्रथम अध्याय में त्वचा रोग विषयक वर्णित विधि द्वारा रोगी की प्रश्न-परीक्षा करनी चाहिये। उत्सेध की ठीक स्थिति और विस्तार भी ज्ञात करना चाहिये। यह दोनों पार्श्वों में है या एक ही में, यह भी देखे। इस प्रकार साधारण परिचय प्राप्त कर लेने के

---

*इस उपर्युक्त विकार से शरीर की श्लैष्मिक कला और त्वचा पर धब्बे पड़ जाते हैं। रक्तभार में न्यूनता, क्षुधानाश, अन्त्र और आमाशय में कष्ट, निर्बलता, विकृति ये लक्षण प्रतीत होते हैं। इस रोग का परिणाम सर्वदा अशुभ ही होता है।

*यह त्वचा की दृश्यमान क्षति (Lesion) है, जिसमें त्वचा लाल वर्ण की होती है और कुछ उभर-आती है।

पश्चात् रक्त-उत्सेध के सूक्ष्म भेद का निर्णय करना चाहिये। ऐसा करने में परीक्षक को सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि, प्रत्येक त्वगीय-रक्त-उत्सेध में मूलभूत क्षति (Primary lession) होती है। जिसमे गौण क्षति (Secondary lession) सम्मिलित हो सकती है और नही भी।

त्वचा का प्राथमिक-स्थानिक क्षति के कई प्रकार हैं। जिनका नीचे वर्णन किया जाता है। सुविधार्थ इसके पाँच भेद माने जाते हैं।
१. चर्मक लंक (Macules), २ कीलक (Papules), ३. रसपिटिका (Vericles), ४. पूय पिटिका (Purtules), ५. मज्ज (Wheals)।

१ **चर्मकलंक** (Macules-Spots):—त्वचा के रग मे किसी भी प्रकार के सीमित अस्वाभाविक परिवर्त्तन से उत्पन्न दागों को कहते हैं। यह त्वचा के बाह्य पृष्ठ मे प्रगट नही होता है। इस पर सर्वदा दबाव डाल कर देखना चाहिये कि, दबाव द्वारा यह अदृश्य हो जाते हैं या नहीं ? उदाहरणार्थ—आन्त्रिक ज्वर से उत्पन्न चर्म कलक के दाग दबाव द्वारा अदृश्य हो जाते हैं, जब कि त्वचा के अन्दर हुये रक्तस्राव से उत्पन्न दाग अदृश्य नहीं होते।

रक्त कलक के दाग छोटे और बडे हो सकते हैं। इस प्रकार मे त्वचा की सतह पर किसी भी प्रकार की पीड़ा नहीं होती। एव त्वचा की दृढता में भी अन्तर नहीं होता। इन दागो मे किसी भी प्रकार का अन्तर्भरण (Infiltration), शोप (Atrophy) या त्वचा की सतह पर उभार भी नहीं होता। रक्त कलंक लगभग सफेद कपडे पर पडे हुए फलो के दाग सदृश्य होते हैं। इसकी उत्पत्ति के सामान्यतः निम्न ४ हेतु हैं।

१. रक्तवाहिनियो मे रक्ताधिक्य भर जाने पर, जैसे रोमान्तिका की पिटिका (Rosela) और ग्रन्थि विसर्प (Erethema nodosum) में।
२. उत्तान कैशिकाओ का प्रसारण होने से, जैसे गुल्फप्रसारण (Talangiectases)
३. रक्तप्रणालियो में से रक्त के निकल जाने पर, जैसे रक्त निःसरणजनिस्तेजता (Eechymosis) और रक्त मयपिटिका (Petechial)
४. त्वचाका स्थानिक रंजका भाव होने से, जैसे किलास (Leucodermia), अथवा त्वचा का स्थानिक अधिक रंजित होने पर जैसे स्थानिक वर्णपरिवर्त्तन (Freckles)

२. कीलकः—(Papules or pimple) त्वचा के पृष्ठ से बाहर निकले हुए कठोर छोटे छोटे दाने हों, उनको कीलक संज्ञा दी है। ये दाने न बड़े होते हैं, न गहरी जड़ वाले और न बिल्कुल गोल। चर्म कलक से विपरीत आकार वाले होते हैं अर्थात् स्पर्श द्वारा बोध होने वाले, तीक्ष्ण, चिपटे या नोक रहित होते हैं। ये मटर से बड़े नहीं होते। यदि मटर से बड़े और बेर से छोटे हों तो उनको ग्रन्थि (Tubercle) या पिण्डक (Nodule) संज्ञा दी है। जब इसका आकार बेर से भी बड़ा हो तब यह अर्बुद (Tumour) कहलाता है।

परीक्षक को सर्वदा देखना चाहिये कि इनके सिरे गोल हैं या तीखे ? तथा बैठे हुए तो नहीं ? उदा० व्युची (Eczema) की कुछ अवस्थाओं में गोल, मुहाओं (यौवन पिडिका Acne) में नोकीले और अलसक कुष्ठ (Lichen) में बैठे हुए चिपटे होते हैं।

इसरोग की उत्पत्ति त्वचा के कितनेक उपादानात्मक कोषाणुओं के पुनर्जनन या वर्द्धन (Proliferation) से या तरलस्राव से होती है। इसकी संप्राप्ति विशेषतः मेद ग्रन्थियों का तरल (Sebum) अतिशय गाढ़ा होने पर होती है। क्वचित् त्वचा के भीतर क्षुद्रबिन्दु आकार में रक्तस्राव होने पर भी होती है।

इस रोग में आधार का सम्बन्ध होने से यह देखना चाहिये कि इन दानों में अस्वाभाविक अन्तर्भरण कितना है ? जितना अन्तर्भरण अधिक होगा। उतना ही दाह-शोथ अधिक होगा। इसकी सम्प्राप्ति अलसक कुष्ठ और ग्रीष्म पिटिका (Summer prurigo) आदि कतिपय रोगों में आदर्श रूप होती है।

३. रसपिटिका (Vesicles):—पारदर्शक या दूधियाँ तरल की उपस्थिति के कारण बाह्य त्वचा के शृंगमय स्तर का सीमा बद्धस्थान उभर आने को कहते हैं। यह मटर से बड़ी नहीं होती जब मटर से बड़ी हो जाती है तब उसे स्फोटक, छाला या फफोला (Bullae or blebs) कहते हैं। सर्वदा यह देखना चाहिये कि रसपिटिका के आधार के चारों ओर लाली है या नहीं ? क्योंकि रक्तिमा उपस्थित है तो यह इस बात का प्रतीक है कि रसपिटिका प्रदाहमय आधार पर अवस्थित है। यह बात ऐसी है जिसका रोग-परीक्षा में काफी महत्व है। अतः सर्वदा स्मरण रखना चाहिये।

त्वचा की प्रदाहावस्था में रक्त प्रणालियों में से रक्त रस उत्सृष्ट होकर

श्लैष्मिक कला में प्रवेश करता है। फिर बाह्यत्वचा के शृंगमय स्तर में संगृहीत करके रसपिटिका की संप्राप्ति कराता है।

प्रादाहिक क्रिया के अतिरिक्त स्वेदाधिक्य से भी रस पिटिका (घामोरी) उत्पन्न होजाती है।

सब प्रकार की रसपटिका त्वचा से कुछ उभरी हुई रहती है। सामान्यतः रसपिटिका के प्रारम्भ में रक्त प्रधान चर्म कलंक प्रकाशित होता है। रसपिटिका कभी तीक्ष्ण शिखर युक्त और कभी गोल होती है। यह सामान्यतः क्षत चिन्हं न रखते हुए अदृश्य हो जाती है। किसी किसी रोग में वह आदर्श चिन्ह रूप होती है। उदा० व्युची की रसमयावस्था।

स्फोटक सामान्यतः निर्बलों को होता है। विशेषतः रक्त को विकृतावस्था (Dyscrasia) में उत्पन्न होता है। इसमें पहले पीताभ वर्ण स्वच्छ जल होता है। रक्त मिश्रित होगया हो, तो रक्ताभ या कृष्णाभ वर्ण हो जाता है। यह गोलाकार, अण्डाकार या अनियमित आकार का होता है। इसका व्यास १॥-२ इञ्च (अग्नि दग्ध व्रण में इससे अधिक) बढ़ जाता है। यह कभी फूट जाता है और कभी पक जाता है।

क्वचित् कैशिकाओं के उत्सृष्ट रस कोषाणुओं की दीवार में ही रह जाता है, तब उस प्रकार की रसपिटिकाओं को विषमय रसपिटिका (Pock) संज्ञा दी है। उदा० शीतला (Vereola), मसूरिका विषज स्फोट (Vaccinia), कक्षा (Herpes) और फिरंग (Syphilis) में।

रसपिटिका कभी कभी समूहों में उपस्थित होता है। उदा० व्युची नाड़ी ग्रन्थि प्रदाहज कक्षा (Herpes zoster) में।

४. पूयपिटिक (Pastules):—त्वचा के छोटे से उभार को जिसमें पूय हो पूयपिटिका कहते हैं। इनमे यह देखना चाहिये कि, इनके चारों तरफ शोथ अधिक है या कम ?

अधिकांश स्थलों में कीलक और रसपिटिका का परिपाक होकर पूयपिटिका होजाती है। कभी कभी पूयपिटिका उतनी जल्दी उत्पन्न होजाती है कि पूर्वावस्था में कीलक या रसपिटिका प्रतीत नहीं होती।

५ मण्डल (Wheals):—त्वचा के कुछ उभरे हुए कठिन विस्तृत स्फोटक या उत्सेध (शोथमयस्फीति) को मण्डल कहते हैं। जिसका केन्द्र ज्यादा फीका पीला (Pale) होता है। विशेषतः जब इसे पूर्ण वर्द्धितावस्था की प्राप्ति होती है, तब बीच का हिस्सा अपेक्षाकृत म्लान हो जाता है।

इसकी उत्पत्ति सच्ची त्वचा को ऊर्ध्व स्तर में अकस्मात रक्त संप्राप्ति और सत्वर निःसरण होने पर होती है। एक स्फोटक में स्वल्प स्थान स्फीत होता है; किन्तु सब स्फोटक सम्मिलित होने पर स्फीति विस्तृत स्थान मे फैल जाती है। इस शोथ का विशेष स्वभाव यह है कि, दबाने पर गड्ढा नहीं होता। यह विकार अकस्मात् प्रकाशित होता है और अकस्मात् शमन हो जाता है। क्वचित् विस्तृत स्थान व्यापी होने पर कतिपय घण्टे तक रह जाता है। उदा० बालकों के रंजित शीत पित्त (urticaria pigmentosa or nettle rash) में अधिक अपथ्य आहार के हेतु से वात नाड़ियों में विलक्षणता हो कर गोल या अण्डाकार गुलाबी मण्डल उत्पन्न होते हैं, जो खुजाने पर बीच में सफेद हो जाते हैं।

इनके अतिरिक्त कठिन ग्रन्थि (Tubercle) भी सच्ची त्वचा के निम्न स्तर में उत्पन्न होती है। सामान्यतः यह रक्ताभ पिंगल वर्ण की होती है। उदा० फिरंगज ग्रन्थि, जो मूल भाग मे अधिक चौड़ी होती है। क्वचित् यह ग्रन्थि वृन्तमय होती है। उदा० सूत्रार्बुद (Fibroma) में उक्त ५ प्रकार की क्षति जान लेने के पश्चात् रक्त उत्सेध किस प्रकार की प्राथमिक क्षति मे से उत्पन्न हुआ है यह निर्णय करना चाहिये एव यह निर्णित करना भी अवशेष रह जाता है कि ये प्राथमिक-स्थानिक क्षति पृथक् पृथक् हैं या एक दूसरे से सम्मिलित। इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि रक्त उत्सेध प्राथमिक-स्थानिक क्षति द्वारा निर्मित एक से अधिक प्रकार का हो सकता है अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि रक्त-उत्सेध प्राथमिक-स्थानिक क्षति से एक ही प्रकार का हो।

इसके पश्चात् गौण-स्थानिक क्षतिका निर्णय करना चाहिये कि, यान्त्रिक है या प्राथमिक क्षति मे इसके वृद्धि अथवा नाश के हेतु से उत्पन्न परिवर्तन से हुआ है? यान्त्रिक-गौण क्षति के दो प्रकार हैं। १. खरोंच (Excoriations) जो खुरचने से उत्पन्न होती है; और २. दरार (Fissures) इनमें से दरार अन्तर्भरण (Infiltration) के कारण त्वचा की स्थिति स्थापकता नष्ट हो जाने पर उसके तनाव के कारण उत्पन्न होती हैं। यह त्वचा मे या उससे भी नीचे तक चली जाती है। दरार बहुधा अति पीड़ा प्रद होती है। प्राथमिक क्षतिसे परिवर्तन, प्राथमिक क्षति मे होने वाले परिवर्तनो के फल स्वरूप निम्न प्रकार की गौण क्षतिकी संप्राप्ति होती है।

आच्छादन बनना (छिलका–Desquamations)—अगर प्राथमिक क्षति शुष्क (चर्म कलंक या कीलक) है, तो सिर्फ बाह्य त्वचा के

छिलके बनते हैं। इस अवस्था के रक्त-उत्सेधको आच्छादन मय रक्त-उत्सेध (Scaly eruption) संज्ञा दी है।

आर्द्र प्राथमिक क्षति (रसपिटिका, पूयपिटिका, स्फोटक) होने पर, बाह्यत्वचा के कोषाणु लस लसे हो जाते हैं, और फिर तरल के शुष्क होने पर एक दूसरे से चिपककर व्रणाच्छादन (खुरण्ट या पपड़ी) बन जाता है। यह पपड़ी रक्त वारि, पूय, रक्त या चर्म वसा में से किसी भी वस्तु से, जो प्राथमिक क्षति में उपस्थित हो, निर्मित हो सकती है।

२. अन्तर्भरण (Infiltration)—चर्म के कोषाणुओं मे नूतन द्रव्य भर जाने या उसमें रहे हुए द्रव्य की अधिक परिमाण में उत्पत्ति होने को अन्तर्भरण कहते हैं। यह भी अपक्रान्ति के समान ही एक प्रकार है। यह प्राथमिक क्षति के चारो ओर उत्पन्न होता है। ऐसी अवस्था उत्पन्न होने पर चर्म का स्पर्श कमाये हुए चमड़े के सदृश भासता है। सामान्यतः चिरकारी प्रदाह दीर्घ काल तक स्थिर रह जाने पर इसका निर्माण होता है। (इसके ३ विभाग हैं। अ. मधुभरण; आ. वसाभरण; इ. खटभरण।) *

---

*अ. मधुभरण (Glycogenic infiltration)--मधुजन (Glycogen) विशेषतः यकृत् मे और कुछ सर्व कोषाणुओं में रहता है। किन्तु घातक अर्बुद, पूय, फुफ्फुस प्रदाह तथा इतर आशुकारी संक्रामक रोगों की संप्राप्ति होने पर यह श्वेताणुओं मे भरा हुआ प्रतीत होता है। आयोडिन से रंजित करने पर इसका रंग लाल हो जाता है।

आ. वसाभरण (Fatty infiltration)—प्रत्येक कोषाणुओं में किञ्चित वसा रहती ही है। उससे अधिक होने पर वह रोग चिह्न माना जाता है। अधिक भोजन, व्यायाम का अभाव, मद्यपान, पोषणि का ग्रन्थि (Pituitary body) आदि की विकृति होने पर मेद वृद्धि होती है। वसा ईथर मे विलीन होती है और ऑस्मिक अम्ल मिलाने पर रंग काला हो जाता है।

इ. खटभरण (Calcification)—मृत भाग मे खटक्षार (Calcium salts) संग्रहीत होने को खटभरण कहते हैं। यह हृदयस्थ कपाट, धमनी, जीर्णक्षय ग्रस्त विवर, अर्बुद, हृदय से संलग्न हृदावरण, विद्रधि कोषाणु, गर्भाशय के बाहर बीज वाहिनी आदि में मृत गर्भ (Foutus of ectopic Gestation), ग्रैवेयक ग्रन्थि (Thyroid) और वृद्धावस्था में तरुणास्थि के भीतर अनेक वार संग्रहीत होता है।

३. धातुरंजन (Pigmentation)—कोषाणुओं में अधिक रंग उत्पन्न होने को धातुरंजन कहते हैं। इसकी उत्पत्ति का कारण सामान्यतः दीर्घ काल स्थायी प्रदाह है। रंग (Pigments) में अनेक प्रकार हैं। अ. कृष्णरंगद्रव्य(Melanin); आ. रंजितवसा (Lipochrome); इ. लोहमयरंग (Haemosiderin); ई. लोह रहित रंग (Haematoidin); उ. पित्तारुण (Bilirubin); ऊ पित्त हरित (Biliverdin) आदि।*

४. व्रणोत्पत्ति (Ulceration) इसकी संप्राप्ति प्राथमिक क्षति के विदीर्ण होने और त्वचाके ध्वंस होने से होती है। अगर सच्ची त्वचा पर व्रण उत्पन्न होगया है, तो निम्नोक्त बातें ज्ञात करनी आवश्यक है।

अ. व्रण-तल और उसको आवृत करने वाले अंकुर कैसे हैं?

व्रण में पूयका आच्छादन हो तो उसका शोधन करने की आवश्यकता होती है। व्रण तल लाल साफ अंकुरमय हो तो रोपण क्रिया योग्य हो रही है। ऐसा मानना चाहिये।

आ॰ व्रणका किनारा किस प्रकार का है? चिकना, उभरा हुआ या अन्दर घुसा हुआ? प्रदाहावस्था में किनारा उभरा हुआ रहता है। पूय जनित विनाश होने पर किनारा भीतर घुस जाता है। व्रण साफ होने पर किनारा

---

*कृष्ण रंग त्वचा, केश, नेत्र गत मध्यपटल और तारामण्डल तथा हृदय के मांससूत्रों में स्वाभाविक ही रहता है। सूर्य के ताप मे भ्रमण, गर्भावस्था। मासिकधर्म के प्रारम्भकाल (Menstrual climacteric) श्वेत कुष्ठ, उपवृक्कशोप, गलगण्ड (Goitre), वृक्कप्रदाह, आमवात, चिरकारी-क्षय तथा घातक अर्बुद रोग आदि में इसकी वृद्धि हो जाती है।

रंजित वसा, गौ के मक्खन, अण्डे, मक्का आदि मे रहती है। यह वसा वृद्धिमय पित्तप्रकोप (Xanthoma) होने पर उपस्थित होता है।

लोह मय रंग पाडु रोग में रक्ताणु नाशसे उत्पन्न होता है। यह यकृत्, प्लीहा, वृक्क और मज्जा मे अधिक प्रतीत होता है। लोह रहित रंग जमे हुए रुधिर में रहता है।

पित्तारुण और पित्त हरित कामला रोग मे नेत्र, त्वचा, जिह्वा के निम्नभाग आदि मे प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त हलीमक मे भी उत्पन्न होता है। अलावा रौप्यक्षार, सीसा, कोयला, सोमल आदि से भी देह मे रंग प्रतीत होता है।

चिकना और लाल रंग का भासता है। कभी व्रण बड़ा होता है इससे उसके किनारे परस्पर नहीं मिल सकते या व्रणमें तन्तु समूह मृत (Slough) हो जाते हैं अथवा कीटाणुओं के हेतुसे बिना पाक रोपण न हो सकता हो, वहाँ पर दाने दार तन्तु (Granulation) होकर व्रण भरता है। इसके विपरीत सद्योव्रण (घाव Wound) कीटाणु रहित शुद्ध रक्खा जाता है, तो ५—७ दिन मे पाक रहित रोपण (Healing by first intention) हो जाता है।

३. स्राव किस प्रकार का है? दुर्गन्धमय, पूयात्मक, रक्तवारिमय, सरक्त, तरलमय आदि?

पूय और दुर्गन्धिमय व्रण संशोधन की आवश्यकता दर्शाते हैं। रक्तस्राव रक्त संग्रह या रक्त प्रणालियों की दीवारों का टूटना प्रकाशित करता है। उस पर संधानक चिकित्सा करनी चाहिये। रक्तवारि या पतला तरल स्थानिक प्रदाहावस्था दर्शाता है।

४. व्रण के इत स्ततः त्वचा की क्या अवस्था है? यह सशोथ है या रक्ताभ या स्वस्थवत्?

व्रण में कीटाणु, विष, पूय या वाह्यशल्य है अथवा रक्तवारि संगृहीत हो जाने पर व्रण शोथमय बन जाता है। रक्त संग्रह हो तो लाल सी भासती है। पूय या शल्य होने पर दबाने पर पीड़ा होती है। व्रण का रोपण योग्य होना रहने पर चारों ओर की त्वचा स्वस्थवत् प्रतीत होती है।

यदि दाह-शोथ (Inflammation) कीटाणु ससर्ग से रहित है, तो प्रकृति भाव सुलभता से प्राप्त होता है। कीटाणु जन्य होने पर अनेक बार स्थानिक तन्तु नाश (Local destruction of tissue) होता है। फिर व्रण रोपणावस्था में क्षत तन्तु (Scar tissue) द्वारा प्रशमन होता है। यदि कीटाणु द्वारा श्वेताणुओं का विनाश होकर पूयोत्पत्ति होती है, तो पूय को हटा देने पर ही रोपण क्रिया होती है। क्वचित् तन्तुओं का कोथ हो, गया हो, तो उसे भी काट देना पड़ता है।

५. क्षतत्वचा का निर्माण (Scar formation)—इसकी उत्पत्ति उस अवस्था मे होती है, जहाँ (सत्य) त्वचा भी व्रण प्रकोप से क्षति ग्रस्त हो गई हो। अगर क्षत-चिह्न विद्यमान हो तो उसे देख कर मालूम करना चाहिये कि यह पतला है या मोटा? उसके नीचे अवस्थित अवयवों पर स्वतन्त्रता पूर्वक गति करता है या अधः स्थित अंगो से संलग्न होने

के कारण गति हीन है ? फीका पीला है या नीले रंग को ? इसमें गढ़ा है या नहीं ? और रंजित क्लेश से घिरा हुआ है या नहीं ?

क्षत त्वचा के नीचे रही हुई त्वचा जब तक अपक्व होती है, तब तक क्षत त्वचा चिपकी हुई रहती है। यह नीचे की त्वचा अर्थात् बाह्य त्वचा जब पक्व होजाती है, तब क्षत त्वचा पृथक् होजाती है। कभी निम्न त्वचा एक भाग में अपक्व होती है और दूसरे भाग में पक्व होजाती है, तब पक्व भाग की पृथक् हो सकती है। व्रण का रोपण पूर्ण न हुआ हो तो उस अवस्था में चारों ओर की त्वचा लाल प्रतीत होती है। व्रण जितना गहरा हुआ हो और उपादान कोषों का जितना अधिक विनाश हुआ हो, उतनी ही क्षत त्वचा मोटी और विकृत रहती है।

६. अपक्रान्ति (Degeneration)—कोपाणुओं का रासायनिक अपकर्ष होने को अपक्रान्ति कहते हैं। यह रक्त दोष से होती है। इसके मुख्य ५ प्रकार हैं।

अ. मेदोपक्रान्ति-कोपाणुओं का जीवन रस नष्ट होकर मेद सगृहीत होता है। यह पाण्डु रोग, सोमल, शराब, आयडोफार्म, क्लोरोफार्म, फोस्फरस आदि का विष प्रयोग, न्युमोनिया, मधुरा, राजयक्ष्मा, कण्ठरोहिणी (Diphtheria) आदि ज्वर, मधुमेह, और कामला आदि में हृदय, वृक्क, यकृत आदि में यह विकृति होती है।

संक्रामक ज्वरों में कोपाणुओं के जीवन द्रव में नूतन कण उत्पन्न होकर वृक्क, यकृत और हृदय पर सामान्यतः श्याम शोफ (Cloudy swelling) अर्थात् शुभ्राप क्रान्ति (Albuminous degeneration) होती है। किन्तु शोफ अधिक होने पर मेदापक्रान्ति हो जाती है।

आ. श्लेष्मापक्रान्ति (Mucoid degeneration)—श्लैष्मिक कला का प्रदाह होने पर उसमें से श्लेष्म स्राव बढ़ जाता है। किन्तु घातक अर्बुद सार्कोमा (Sarcoma), तरुणास्थि का अर्बुद (Chondromata) कर्कस्फोट आदि में श्लेष्मापक्रान्ति होने लगती है। इसमें कोपाणु फूल जाते हैं।

इ. सिक्थापक्रान्ति (Waxy, hyaloid, lardaceous or Amyloid degeneration)—यह विशेषतः संधानक तन्तुओं में उत्पन्न होती है। इस प्रकार में तन्तु मोम जैसे बन जाते हैं। प्लीहा, वृक्क हृदयान्तर कला (Endocardium), यकृत और अन्त्र आदि में यह प्रतीत होती

है। क्षय, उपदंश, चिरकारी पूयभाव, कृमिज विष आदि में इस प्रकार की अपक्रान्ति होकर फिर सामान्यतः अवयवों का शोष (Atrophy) होजाता है। केवल वृक्कों की अपक्रान्ति होने पर वह निस्तेज और बड़े होजाते हैं।

ई. स्वच्छापक्रान्ति (Hyaline)-इस अपक्रान्ति में अवयव काच सदृश हो जाता है। प्लीहा, वृक्क, मस्तिष्क, सुषुम्णाकाण्ड, लसीका ग्रन्थि, केशिकाओं की दीवार, क्षयज ग्रन्थियाँ (Tubercles) और सूत्रार्बुद (Fibroma) आदि में यह उपस्थित होती है। आशुकारी संक्रामक ज्वरों में कीटाणुविष संग्रह अपक्रान्ति होती है।

उ० पिच्छिलापक्रान्ति (Colloid degeneration)-इस प्रकार में चिपचिपा द्रव्य उत्पन्न होता है। ग्रैवेयक ग्रन्थि और पोषणिका ग्रन्थि में यह स्वाभाविक ही रहता है। किन्तु कर्कस्फोट में उसकी अपक्रान्ति होजाती है। वह श्लेष्म सदृश भासता है, किन्तु रासायनिक परीक्षा करने पर यह पृथक् हो जाता है।

त्वचाकी स्पर्श-परीक्षा

उपर्युक्त दर्शन परीक्षा समाप्त होजाने के पश्चात त्वचा की स्पर्श परीक्षा करनी चाहिये। इसमें हाथ को इस पर बड़ी सावधानी से धीरे धीरे फेर कर तथा इतस्ततः अंगुली और अंगुष्ठ से चुटकी भर भर के निम्न बातें प्रतीतकरनी चाहिये।

यह मृदु है या कठोर ? पतली है या मोटी ? शुष्क है या आर्द्र ? अगर त्वचा में दृश्यमान स्वेद है तो ज्ञात करें कि यह स्थानिक है या सार्वदैहिक, इसके साथ त्वचा की ललाई (रक्तिमा) भी उपस्थित है या नहीं ? क्या स्वेद में कोई मुख्य प्रकार की गंध है ?

दाह-शोथ ,में से पाक होता हो, तो पीड़ित त्वचापर उष्णता, आरक्तता, शोथ, वेदना और क्रिया-ह्रास [Loss of function] आदि लक्षण-चिह्न प्रकाशित होते हैं। पूय बनने पर उस भाग में शूल चलता है। [Throbbing] अपक्वावस्था मे वह कठोर रहता है और पाक होजाने पर मृदु बन जाता है। फिर दबाने पर पीड़ना क्षमता [Tenderness] अर्थात् दबाने पर अधिक वेदना प्रतीत होती है।

कभी रस कला [Serous Membrane] में तोड़ने समान पीड़ा होती है उसे भिद्यमान [Stabbing] और अस्थि मे विंधने सदृश पीड़ा होने पर विदार्यमाण [Boring] संज्ञा दी है।

कभी कभी ऊपर पपड़ी आ जाती है फिर नीचे रोपण क्रिया [Healing under a scale] होती रहती है। उस समय प्रायः ऊपर कठोर निर्दोष त्वचा प्रतीत होती है।

स्थिति स्थापकत्व [Elasticity] जैसा कि पूर्व लिखा जा चुका है त्वचा में एक प्रकार की स्वाभाविक स्थिति स्थापकता होती है, जिसके ही परिणाम स्वरूप हमारे शरीर के अंग स्वतन्त्रता से गति कर सकते हैं। विभिन्न रोगों में त्वचा के इस गुण में न्यूनाधिकता हो जाती है। अगर चुटकी में त्वचा को पकड़ मोड़ [Fold] कर छोड़ दी जाय, तो स्वस्थावस्था में शीघ्रता से पुनः समतल हो जाती है। कभी कभी समतल होने में काफी समय लग जाता है और मोड़ के चिह्न झुर्रियां काफी समय तक स्थिर रह जाती है यह स्थिति स्थापकत्व के न्यून हो जाने का प्रत्यक्ष प्रमाण है। क्षीण और वृद्ध व्यक्तियों की त्वचा अक्सर झुर्रियों से युक्त होती हैं। अतिसार आदि द्वारा श्रमित और क्षीण बच्चों में भी यह न्यूनता अक्सर देखी जाती है।

स्थितिस्थापकता यह गुण बाल्यावस्था में अत्यधिक होता है। युवावस्था में कम होकर प्रौढावस्था में अति कम हो जाता है। वृद्धावस्था में यह गुण कथन मात्र का रह जाता है। इस गुण के हेतु से रबर को खींचने पर बढ़ने के समान अवयव बढ़ता है फिर घट जाता है। मोड़ने पर मुड़ता है फिर पूर्व रूप में आजाता है। रक्त वाहिनियों की दीवार, श्वासनलिका और स्वर यंत्र में पीले स्थिति स्थापक संयोजक तन्तु रहते हैं। इसी गुण के हेतु से मांसपेशी और अस्थियों में दबाव (Tension) उत्पन्न हो सकता है। रक्त वाहिनियों में यह गुण अधिक होने से हृदय क्रिया चलने के हेतु से यहाँ धमनी में से रक्त की पिचकारियाँ उड़ती रहती हैं। अन्त्र और मूत्राशय में भी पीले संधानक तन्तु होने से उनका आकुंचन प्रसारण होता रहता है।

अन्तस्त्वग्गीय तन्तुओं की अवस्थाः—इसे भी सर्वदा जानना चाहिये। इनमें तरल के अन्तर्भरण से आर्द्र शोथ (Oedema)* कठोर द्रव्यों के अन्तर्भरण से घन शोथ (Myxoe dema)+ और वायु के अन्त-

---

*समगह्वर या क्षेत्रीय संयोजक तन्तु (Areolar connective-tissve) में प्रवाह न होकर रक्तरस सचित हो जाने को शोथ कहते हैं।

+यह रोग ग्रैवेय ग्रन्थि (Thyroidgland) की कार्य न्यूनता (Hypofunotion) के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। इसमें रूक्ष त्वचा,

भरण से अन्तस्त्वगीय तन्तुओं का प्रसारण (Sub cutanious emphsema) होता है। शोथकी उपस्थितिकी परीक्षा इस सत्यपर निर्भर है कि, शोथ उपस्थित होने पर त्वचा, मुख्यतः किसी अस्थिके ऊपर की त्वचा को अंगुली से दबाया जाय, तो उस स्थान पर गढ़ा सा बन जाता है। जो कुछ समय तक स्थिर रहता है। इसके साथ ही परीक्षक को यह भी स्मरण रखना चाहिये कि, यह चिह्न सर्व प्रकार के शोथों में प्रतीत नहीं होता है। जैसे जीर्ण आर्द्र शोथ में। इसलिये सर्वदा इसे मार्ग दर्शक न समझलें। वृद्ध लोगों में न्यून तम शोथ की भी उपस्थिति प्रतीत करने के लिये जंघास्थि (Tibia) और अनुजंघास्थि (Fibula) के गोल प्रवर्धन (Malleoli) कापिछला हिस्सा श्रेष्ठ स्थान है। चिरकारी वृक्करोगों में नेत्र की उपश्लैष्मिक-कला में शोथ (Subconjuctia val oedeoma) उत्पन्न हो जाता है। इस रोग में यह चिह्न सर्व प्रथम प्रगट होने वाले चिह्नों में से है। इसके प्रतीत करने के लिये परीक्षक को रोगी की अधोपलक को नेत्र बाह्य पटल [Sclera] पर धीरे से अंगुली की सहायता से धक्का देना चाहिये। अगर शोथ विद्यमान होगा तो अश्रु के समान तरल की एक छोटी सी बूंद नेत्र की उपश्लैष्मिक कला के नीचे नेत्र बाह्य पटल पर निकल आयगी।

अन्तस्त्वगीय तन्तुओं का प्रसारण—इसको दबाने से एक प्रकार की कर करापन आवाज़ (Crackling) उत्पन्न होता है, जो ठीक उसके समान होता है, जो पंखों के थैले पर स्पर्श द्वारा उत्पन्न होती है। दबाव द्वारा यह आवाज उत्पन्न होकर समीपस्थ वायु मार्ग या वायु से पूर्ण अंग में प्रसारित होती है। इसका कारण वायु पूर्ण मार्ग या अंग का ऐसे अन्तस्त्वगीय तन्तुओं से संसर्ग स्थापित हो जाना है। कुछ अवस्थाओं में इसकी उत्पत्ति का कारण रोग के कीटाणु भी हो सकते हैं।

अणुवीक्षणिक-परीक्षा

कुछ परोप जीवी कीटाणुओं की उपस्थिति के फल स्वरूप उत्पन्न होने वाले त्वगीय रोगों की प्रतीति के लिये यह परीक्षा सहायक होती है। उन रोगों में से निम्न मुख्य हैं।

मेद वृद्धि, बाल गिरना, कठोर शोथ ग्रैवेय ग्रन्थि की कृशता और कठिनता आदि चिह्न प्रतीत होते हैं। इस रोग का विस्तृत वर्णन चिकित्सा तत्वप्रदीप द्वितीयखण्ड में किया है।

१ कंडू (खुजली—Scabies of itch)—यह एक प्रकार के कीटाणु से उत्पन्न होती है, जिसे डाक्टरी मे एकारस स्के बी आई (Acarus Scabiei) संज्ञा दी है। मादा कीटाणु नर की तुलना मे लम्बा होता है और त्वचा के भीतर बिल बनाकर उसमें अपने अंडे एकत्रित करता है। इन बिलो को प्रतीति के लिये परीक्षक को दो अंगुलियों के संधि भाग और कलाई (Wrists) के अन्तः पृष्ठ पर देखना चाहिये। नग्न चक्षुओं द्वारा ही ये दृष्टिगोचर हो जाते हैं। इनकी छोटी छोटी गहरी रेखा सी एक प्रकार के चमकदार त्वग्गीय धब्बे मे समाप्त होती है। इसके अंडे गहरी रेखा में और कीटाणु चमक दार त्वग्गीय धब्बे मे उपस्थित होते हैं। एक चपटे नोक वाली सुई को चमकदार धब्बे के पीछे काली रेखा के सहारे त्वचा में घुसा कर इन्हे बाहर निकाला जा सकता है। इसमे सदेह नहीं कि, इनकी उपस्थिति केवल आँखो से ही प्रतीत होती है, परन्तु अणुवीक्षण-यंत्र का प्रयोग इसमे अमूल्य सहायक है तथा इससे निश्चय ही सफलता प्राप्त होती है, और केवल नेत्रो द्वारा प्राप्त परिणाम को प्रमाणित किया जाता है। सूक्ष्म परीक्षा के लिये उक्त विधि द्वारा प्राप्त कीटाणुओं को कांच पट्टी पर रख अणुवीक्षण यंत्र द्वारा देखना चाहिये।

२. यूकाजन्य त्वग्रोग (Pediculosis)—जूं तीन प्रकार की होती है। अ. बालो में पायी जाने वाली, ये बड़ी और कृष्ण वर्ण की होती है। इस लिये इन्हे कृष्ण यूका (Pediculus Capitis) कह सकते हैं आ० कपड़ों मे उत्पन्न होने वाली श्वेत होती है, इसलिये इन्हे श्वेत यूका (P. Corporis) कहा जाता है, इ० सूक्ष्मयूका जो रोम कूपों में चिपटी रहती है ,और जो आँखो द्वारा बडे ध्यान पूर्वक देखने पर ही प्रतीत होती है, इन्हे चर्म यूका (चर्मजू P. Pubis) कहा जा सकता है। ये विशेषतः जननेन्द्रिय के ऊपर तथा कक्षा के बालो में रहती है। (कभी कभी ये सर्वाङ्ग मे कृष्ण यूका के अंडे जो बालों मे होते हैं, इन्हे लिक्षा (Nits) कहते हैं। बालो के किस भाग मे ये स्थित हैं, यह देख कर अनुमान किया जा सकता है कि, इनकी उपस्थिति कितने समय से है। क्योंकि सर्वप्रथम ये बालो के मूल में चिपटी रहती है और धीरे धीरे वृद्धि के साथ ही ऊपर आती जाती हैं। इस लिये लिक्षा बालो में जितनी अधिक ऊपर हो उतने ही अधिक समय से इनकी उपस्थिति, समझे। श्वेत यूका की प्रतीति के लिये त्वचा के सम्पर्क मे रहने वाले कपड़ो की सीवन को (विशेषतः बगल के कपड़े को) देखें। यूका के काटने से त्वचापर रक्तस्राव मय धब्बा सा बन जाता है।

रेणु होते हैं, जो अनियमित बिखरे रहते हैं। एवं इनके कोमल मूलों की संधियाँ भी असमान दूरी पर होती है।

इन्द्र लुप्त (गंज) द्वारा प्रभावित बालों को प्रतीत करने की उपयुक्तविधि यह है कि, अगर क्लोरोफार्म (Chloróform) मे तर किया रुई का फोहा रुग्ण स्थान पर चुपड दिया जाय, तो तरलके बाष्प बनकर उड़ जाने पर प्रभावित बाल श्वेत हो जाते हैं, और बुढ़ापे के श्वेत बालों के समान भासते हैं। इसलिये अणुवीक्षण यंत्र की सहायता से इनका स्वस्थ बालो से आसानी मे भेद किया जा सकता है। दारुणक (Favus) मे प्रभाविन बालों में यह परिवर्तन नहीं होता।

अगर त्वचा में उपस्थित दद्रु की परीक्षा अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा करनी हो, तो किसी कुंठित चाकू की सहायता से दद्रु से पीड़ित त्वचा के एक परत को उखाल कर उसे कांच पट्टी पर १० प्र० श० लिकर पोटास (Liquor Potassae) की एक बूंद में रख कर आच्छादन से ढक फिर काँच पट्टी को यन्त्र में स्थिर करके देखें। इस प्रकार देखने से कीटाणुओं के सूक्ष्म सूत्रों के समूह शाखाओं युक्त, किरणों युक्त धागे के समान दिखलायी देंगे। जिनके मध्य मे रेणुओं का समूह या रेखाओं में एकत्रित रेणु प्रतीत होंगे।

अगर इसी प्रकार प्रभावित त्वचा के बालों की परीक्षा की जाय तो यह ऊपर मे टूटे हुए और रेणुओं से परिपूर्ण प्रतीत होंगे। इसमे किसी प्रकार के सूत्र दृष्टि गोचर नहीं होंगे। साधारण अवस्था मे रोग—परीक्षा के लिये काटे हुए बालों को चौड़े नोक वाली चिमटी से पकड़ ऊपर बढ़ने की ओर से खेंच कर बाहर निकाल लें। बाल को अक्षरेखाओं में खेंचने से यह लाभ होता है कि लोमकंद अक्षत प्राप्त हो जाता है। फिर इसे ईथर से धोकर लीकर पोटासी में १५ मिनट तक डुबो रक्खें। पश्चात निकाल काँच पट्टी पर रस रखकर आच्छादन काँच ढक दें। और उसके नीचे एक बूंद ग्लीसरीन डाल दे। फिर पट्टी और आच्छादन के किनारों को पिघले हुए पेराफीन (Paraffin) से दृढ करदें। इसे यंत्र मे स्थिर करके परीक्षा करे। कीटाणुओं के रेणु के शीय पदार्थ मे और इसके परत मे दृष्टि गोचर हो जायेंगे। वसा के कारण ही एक ऐसी वस्तु है जिस से भ्रम हो सकता है। परन्तु इसपर ईथर की एक बूंद डाल देने से दोनों का भेद आसानी से हो जाता है। अगर वसा के कण होंगे तो विलीन हो जायेंगे और कीटाणुओं के रेणु होंगे तो अप्रभावित ही रहेंगे। लीकर पोटासी से रेणु शोथ मय हो जाता है। इसलिये अगर

परीक्षा द्वारा दो प्रकार के कीटाणु का भेद करना अभिप्रेत हो तो इसका प्रयोग न करें। इस प्रयोजन के लिये काँच पट्टी को रंजित करके परीक्षा करनी चाहिये। इसकी विधि निम्न प्रकार है।

(१) विवर्ण और स्नेह हीन करने के लिये सर्व प्रथम बालों को ओजानिक ईथर (ozonic eather) में कुछ मिनिटों के लिये डुबो दें। फिर काँच पट्टी पर बाहर निकाल कर सूखने दें।

(२) ५ प्र० श० जेन्शन वायोलेट (Gention violot) १० भाग के मद्य सारीय विलयन और ३० भाग ऐनीलीन-जल (Aniline water) को मिलाकर तैयार किये हुए मिश्रण से १० से ३० मिनिट तक भिगो रक्खें।

(३) शोषक पत्रों (Blotting paper) द्वारा शुष्क करके इसे ग्राम के विलयन (परिशिष्ठ नं० १८) में ५ मिनिट तक तर रक्खें। इस क्रिया से काँच पट्टी स्थायी रंजित होती है, अर्थात् रंजक द्रव्य स्थायी हो जाता है।

(४) पुनः इसे शुष्क करके १० मिनिट से कुछ घंटों तक आवश्यकतानुसार विशुद्ध ऐनीलीन* जिसमें काफी आयोडीन (Iodine) मिश्रित कर दिया हो, यहाँ तक कि उसका रंग काला भूरा होजाय। उसमें डुबाये रक्खें। इस क्रिया द्वारा वानस्पतिक कृमियों (Fungus) के अतिरिक्त अन्य सब पदार्थ विवर्ण हो जाते हैं। यह क्रिया अणुवीक्षण यंत्र की सहायता से ही की जानी चाहिये।

(५) अन्तमें इसे विशुद्ध ऐनिलील द्वारा कुछ सैकिण्डों के लिये और फिर जी लोल (Xylol) द्वारा धोलें और बालसम (Balsam) डालकर यंत्र पर स्थिर करके देखें।

ज्यादा शक्ति शाली वस्तु ताल द्वारा देखने पर पूर्व वर्णित दोनों ही प्रकार के कृमियों का भेद आसानी से प्रतीत हो जायगा। इनके आकार प्रकार में क्या विभेदक चिह्न होते हैं। इनको पूर्व प्रदर्शित कर दिया है। दोनों प्रकार

---

* ऐनीलीन, यह एक विवर्ण तैलीय तरल है, जो तारकोल और नील में पाया जाता है। यह पानी में बहुत कम घुलन शील है, जब कि ईथर और अल्कोहोल में सरलता से विलीन होजाता है। यह एक प्रकार का विष है। जिससे सिर में चक्कर, दौर्बल्य और गात्रनीलता (Cyanosis or anilism) आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। यह और इसका सल्फेट्स मृगी और नृत्यवात (Chorea) में प्रयुक्त होते हैं।

के कृमियों के रेणुके आकार (लम्बाई, चौड़ाई) में विशेष अन्तर नहीं होता। रेणु की जमावट और सूक्ष्म सूत्र समूह के स्वभाव, इन दोनों पर विशेषतया ध्यान देना चाहिये।

(४) दारुणक (Favus)—यह एक प्रकार का त्वचा का रोग है। जिसमें केवल आँखों से ही दिखलायी देने वाली पीली, प्याले के आकार की गोल पपड़ी त्वचा पर उत्पन्न होती है। यह एक प्रकार के कीटाणु से उत्पन्न होती है, जिसे डाक्टरी में उसके शोधक एक जर्मन चिकित्सक के नाम से ही "एकोरीओन शनलीनाई (Achorion schonleinii)" पुकारा जाता है। इस रोग से भी पीड़ित बाल और पपड़ी को काँच पट्टी पर लिकर पोटासी [Liquor potassae] में रखकर परीक्षा की जा सकती है। परीक्षा करने से पूर्व काँच पट्टी के आच्छादन को कुछ कुछ दबाना चाहिये। ताकि, उसमें उपस्थित बाह्य त्वचा के टुकड़े जो सम्भवतः कृमियों को आवृत करते हैं, फैल जाय और फिर छिपे हुए कृमि भी प्रतीत हो सके इस रोग में बाल कीटाणुओं के सूक्ष्म सूत्र समूहों से पूर्ण और इनकी मज्जा नलिका (Medullary canal) मिटी हुई प्रतीत होती है। सूक्ष्म सूत्र समूहों की संधियाँ शाखाओं युक्त होती हैं और इनका आकार अक्सर करांगुली मूल शलाका (Metacarpal) तथा पादांगुली मूल शलाका (Metacarsal) के आकार के समान प्रतीत होता है। रेणु कुछ बड़े और समूह बद्ध या रेखाओं में अवस्थित होते हैं।

(५) शुष्क पीताभपिटिका (Tinea versicolar)—यह माइक्रो स्पोरोन फर्फर (Microsporin fufur) नामक उद्भिद् फंगस जाति के कीटाणु से उत्पन्न होता है। इसकी पपड़ी भी उपरोक्त विधि द्वारा निकालकर कास्टिक पोटाश (Caustic potash) में परीक्षा की जा सकती है। अणुवीक्षण यंत्र द्वारा देखने पर ये कीटाणु किरणमय सूक्ष्म सूत्र समूह (Myceliune) वाले दिखलायी पड़ते हैं। इसके सूक्ष्म सूत्र समूह के किरण स्वतंत्रता से संयोजित होते हैं। और इस प्रकार निर्मित जाल में रेणु के समूह प्रतीत होते हैं। रेणु सैफ्रेनीन (Saffranin) द्वारा रंजित किये जा सकते हैं। हल्के शुक्ताम्ल द्वारा इनका विभेद किया जा सकता है। यह सूक्ष्म सूत्र समूह (Myceliune) मेथेलीन ब्ल्यू (Methyline blue) नामक प्रतिकारक रंजक (Counter stain) * द्वारा रंजित होता है।

*प्रतिकारक रंजक उसे कहते हैं, जो किसी अन्य स्पष्ट दृष्टि गोचर होने वाले रंजक द्रव्य प्रभाव को मिटा देता है।

इसकी उत्पत्ति बाह्यत्वचा के शृंगमय स्तर में से होती है। परन्तु बालों पर कभी आक्रमण नहीं करती और नहीं तेल और स्वेद ग्रन्थियों में प्रवेश करती है। इसमें कण्डू चलती है किन्तु इस पिटिकाओं का पाक नहीं होता। उष्णता और आर्द्रता के हेतु से ये फैलती है तथा प्रतिकूल परिस्थिति में शमन होजाती है। ये विशेषतः वक्षप्रदेश और पीठ मे तथा कभी कभी ग्रीवा मे भी होती है। परन्तु हाथ तथा पैरों पर कभी नहीं होती इससे कहा जासकता है यह उन भागों पर होती है जिनके ढका रहने के कारण स्वेद को बाहर निकलने की सुविधा नहीं होती। इसकी पिटिकायें परिधिकी तरफ फैलती हैं और मध्य के भाग मे फैलें बिना ही एक दूसरे से मिल जाती हैं। इसलिये सम्पूर्ण आवृत वक्ष मे फंगस की एक बड़ी तह, जिसके बीच मे स्वस्थ त्वचा द्वीप के समान होती है, फैल जाती है। अगर इसकी चिकित्सा न की जाय तो यह चिरकारी और जीर्ण रूपधारण कर लेती है, परन्तु वृद्धावस्था की प्राप्ति पर स्वयमेव शान्त हो जाती है। साधारणतः यह प्रौढावस्था सक्रामक है, परन्तु उग्र प्रकार की नहीं।

(६) डिमोडिक्स फोलीक्युलोरम कीटाणु (Demodexfolliculorum) यह एक प्रकार के त्वग-रोग उत्पादक अतिसूक्ष्म कीटाणु है। जिसकी लम्बाई $\frac{1}{120}$ इञ्च होती है। जो कभी कभी त्वचा से निकलने वाले तैलीय स्वेद मे पाया जाता है। इस कीटाणुका उदर विषम और कुछ दीर्घ होता है। जिसमे अनुप्रस्थ चक्रों के चिह्न होते हैं, जो सामान्यतः सूक्ष्म कृमि सदृश दिखायी देता है। इसे एक चूसने वाली सूंड और लेखनी सदृश जबड़े (Jaws) होते हैं, और शरीर के वक्षीय प्रदेश में चार जोड़ी दृढ पैरों की होती है। यह एक परोपजीवी कीटाणु है जो साधारणतः त्वचा के तैलीय स्रावमे रहता है। रोग सम्प्राप्ति की दृष्टि से इसका कुछ भी महत्व नहीं है। ज़ील नीलसन (Ziehl neelsen) की रंजन-विधि द्वारा यह तेजस्वी रक्त रंजित होता है, जब कि कोषीय तैल ग्रन्थियों का एकत्रित स्राव या कूडा-कर्कट, जो त्वचापर से मिलता है, वह नील रंजित होता है।

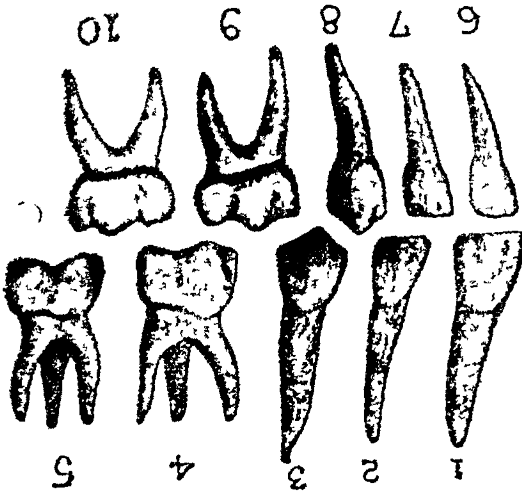
(७) छायामय पिंगल पिटिका (Erythrasma):—इस रोगमें त्वचाके अन्दर भूरी-पीली पिटिकायें निकल आती हैं। ये कुछ उभरी हुई होती हैं, और इनके किनारे स्पष्ट होते हैं। यह साधारणतः कक्षा और जननेन्द्रिय प्रदेश में उत्पन्न होती है। इसकी उत्पत्ति का कारण एक प्रकार का उद्भिद् फंगस जातिका कीटाणु-माइक्रोस्पोरोन माइन्युटीसीमस (Microsporan minutissimum) है। अनियमित खण्डयुक्त सूक्ष्मसूत्र समूहों द्वारा निर्मित होता है। इनको भी अणुवीक्षण यंत्र से शुष्क पीताभ पिटिका के कीटाणुओं के समान ही देखा जा सकता है।



परिशिष्ट नं० १

जो ब्लौक पुस्तक में छपने से रह गये हैं वह यहाँ दिये जा रहे हैं।

चित्र न० २६



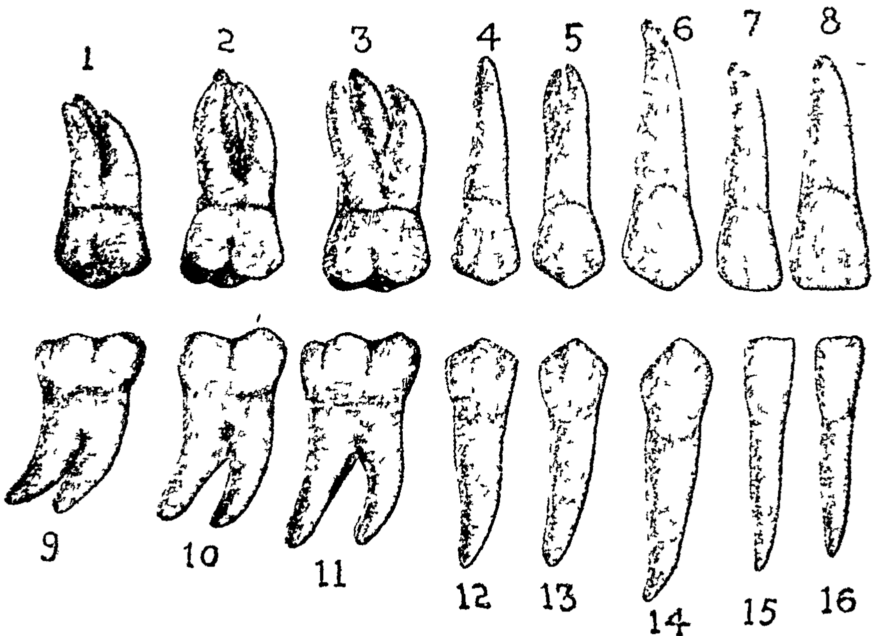
अस्थायी दन्त।

चित्र न० २७



ओष्ठ पर जमा हुआ मल
(श्लेष्मज अधर कोष)

चित्र नं० २८



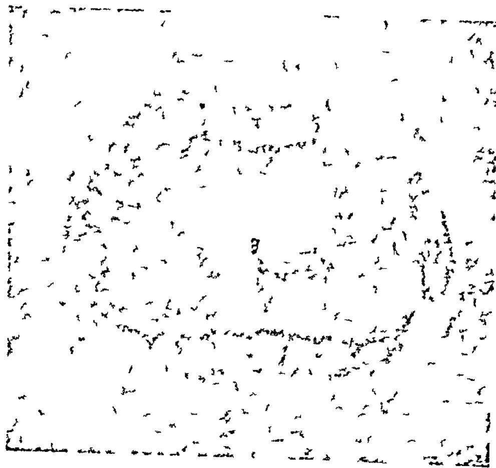
स्थायी दन्त।

चित्र नं० ३०



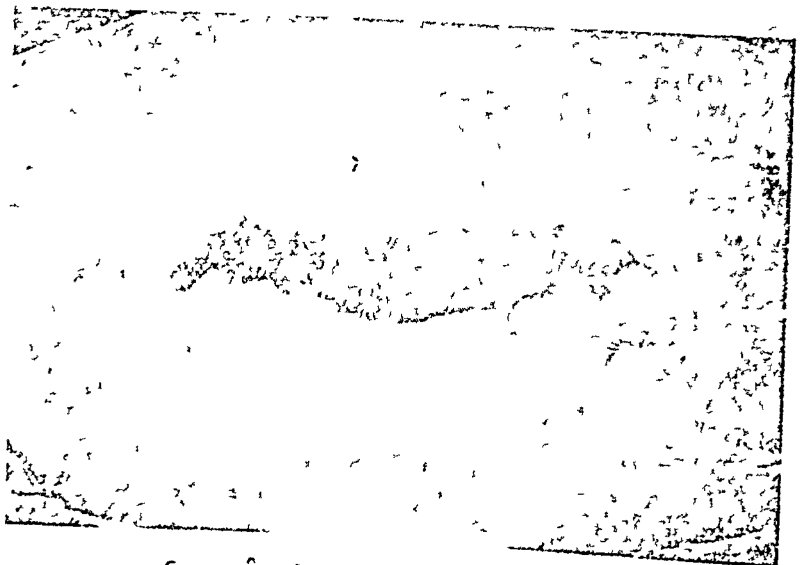
अस्वभाविक दाँतों की अधिक उत्पत्ति ।

चित्र नं० ३४



उपत्वग्गीय जिह्वा का दुष्ट अर्बुद ।

चित्र नं० ३१



अस्थिमार्दव रोग में अपूर्ण दन्तरचना ।

चित्र नं० ३५



कृत्रिम कलामय जिह्वा।

चित्र नं० ३८



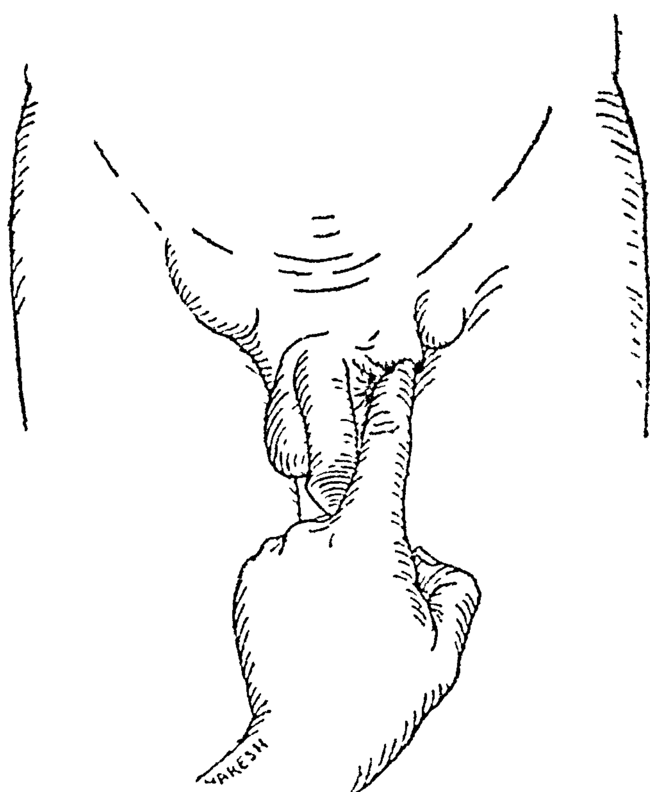
कफज ग्रन्थिमय जिह्वा।

चित्र नं० ३९



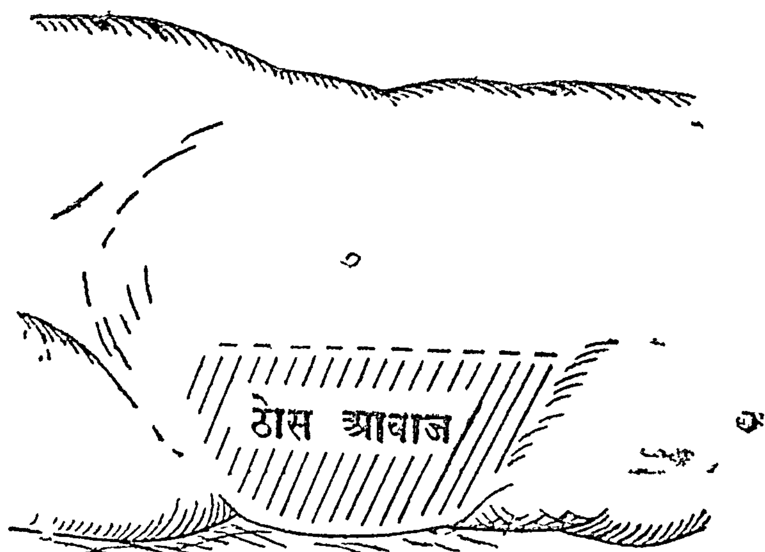
कठिन जिह्वा।

चित्र नं० ४४



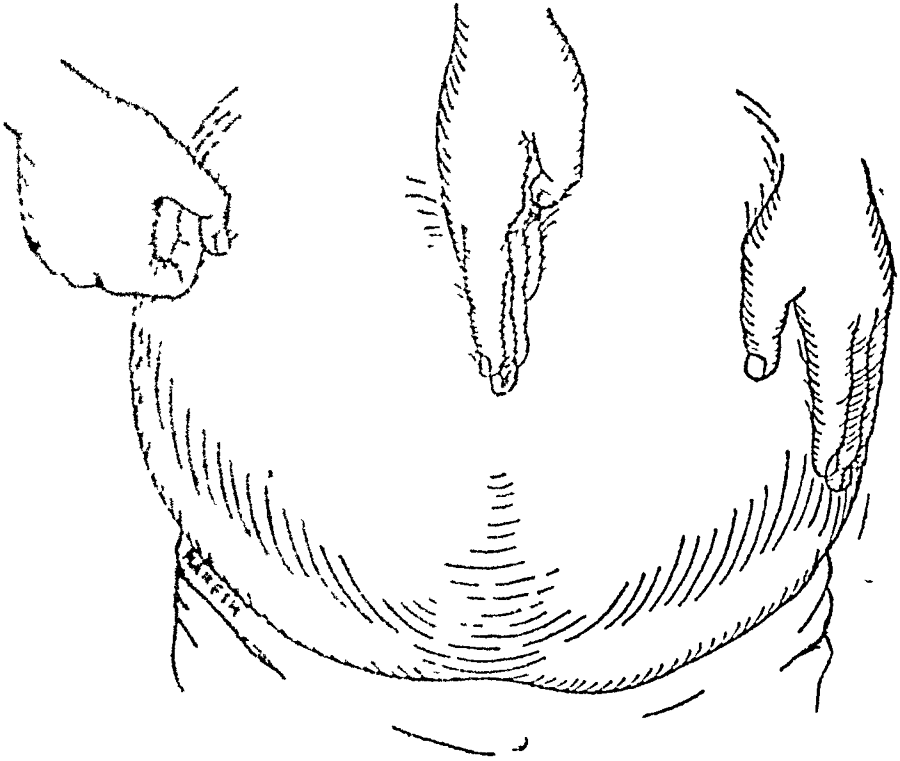
दक्षिण वक्षणीय अन्त्रवृद्धि और वाम ओर की अन्त्र वृद्धि।

चित्र नं० ४५



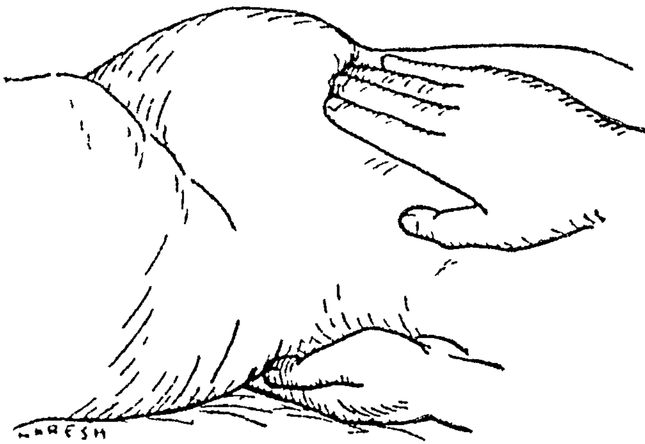
करवट लेकर सोये हुये जलोदर के रोगी के उदर मे पार्श्व की ओर तरल सञ्चय के फलस्वरूप उत्पन्न ठोस ध्वनि।

चित्र नं० ४७



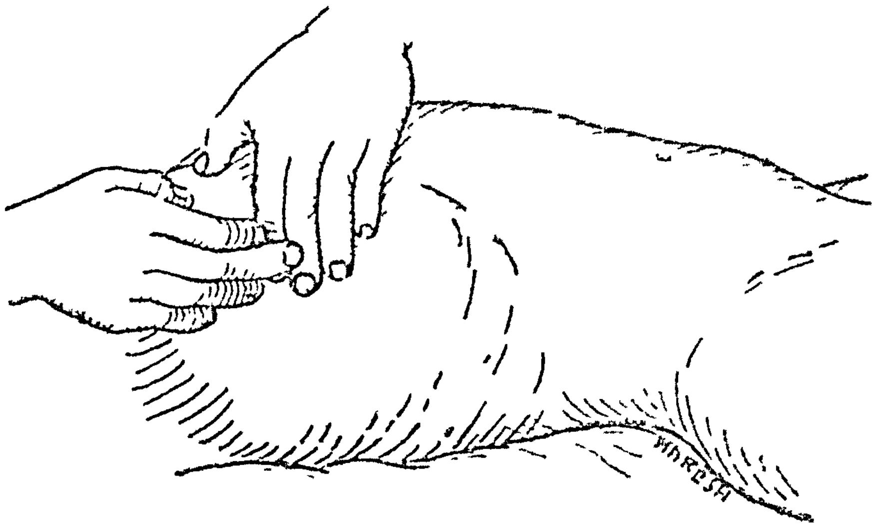
उदर मे सम्प्रेषिततरङ्ग को उत्पन्न करने की विधि।

चित्र न० ४८



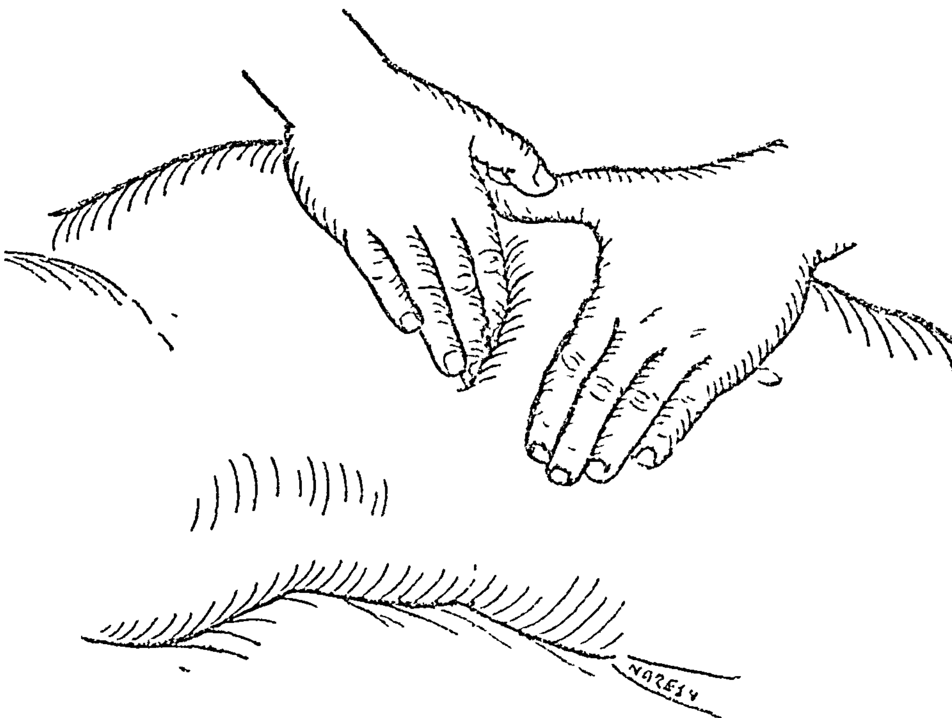
यकृत् ठेपनविधि ।

चित्र नं० ५०



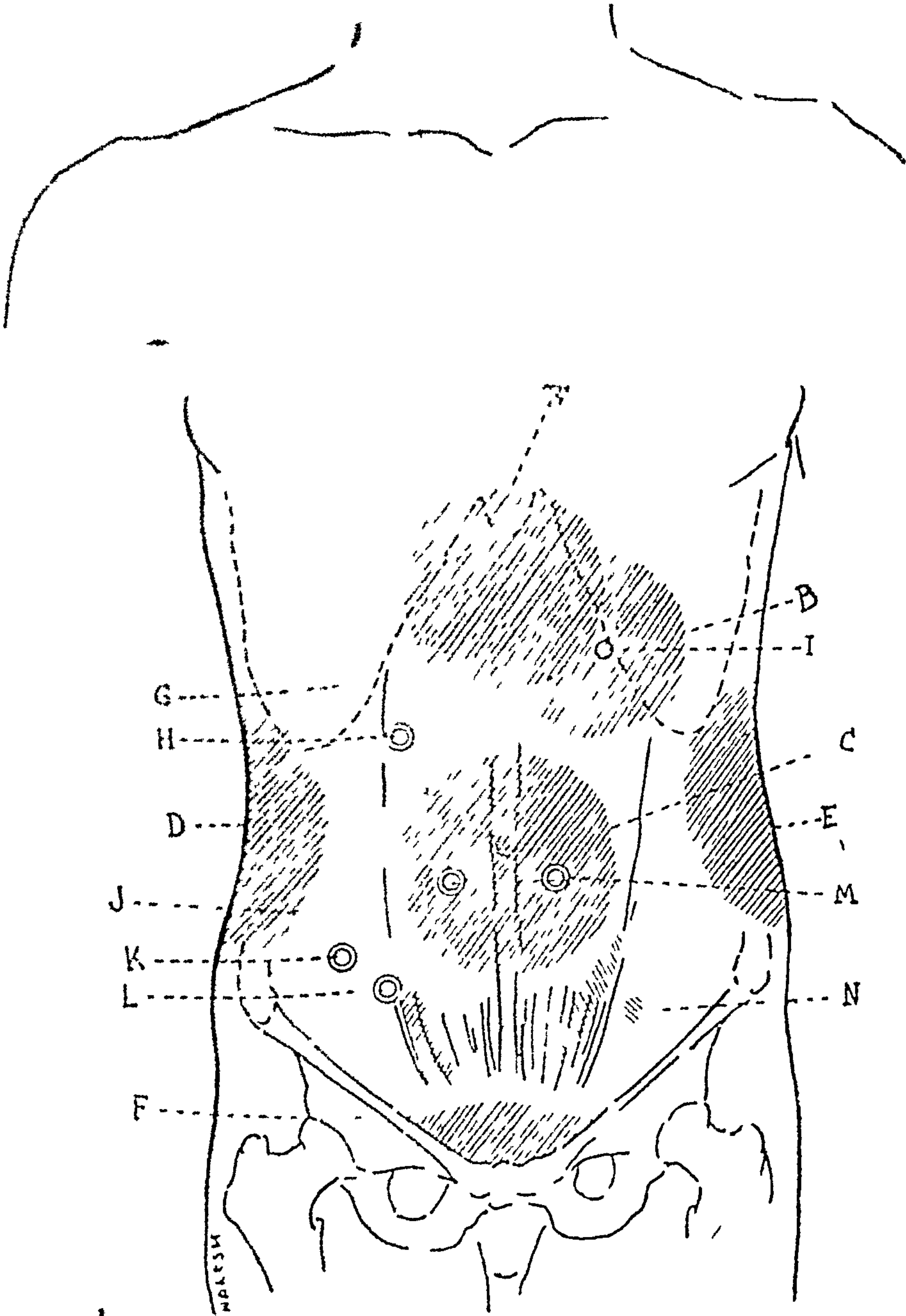
प्लीहा का निम्नतल ।

चित्र नं० ५१



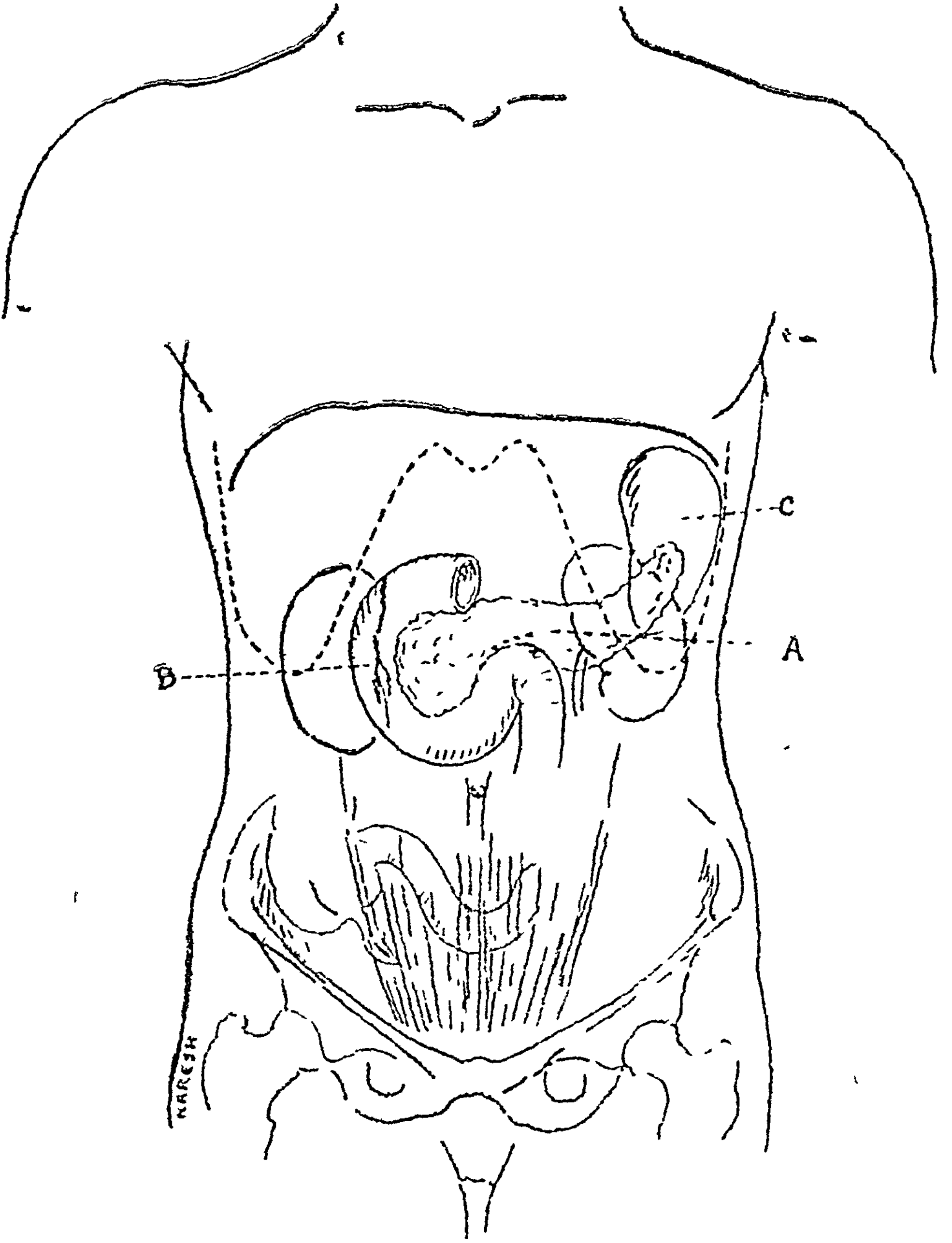
प्लीहा की स्पर्शन विधि ।

चित्र नं० ५२



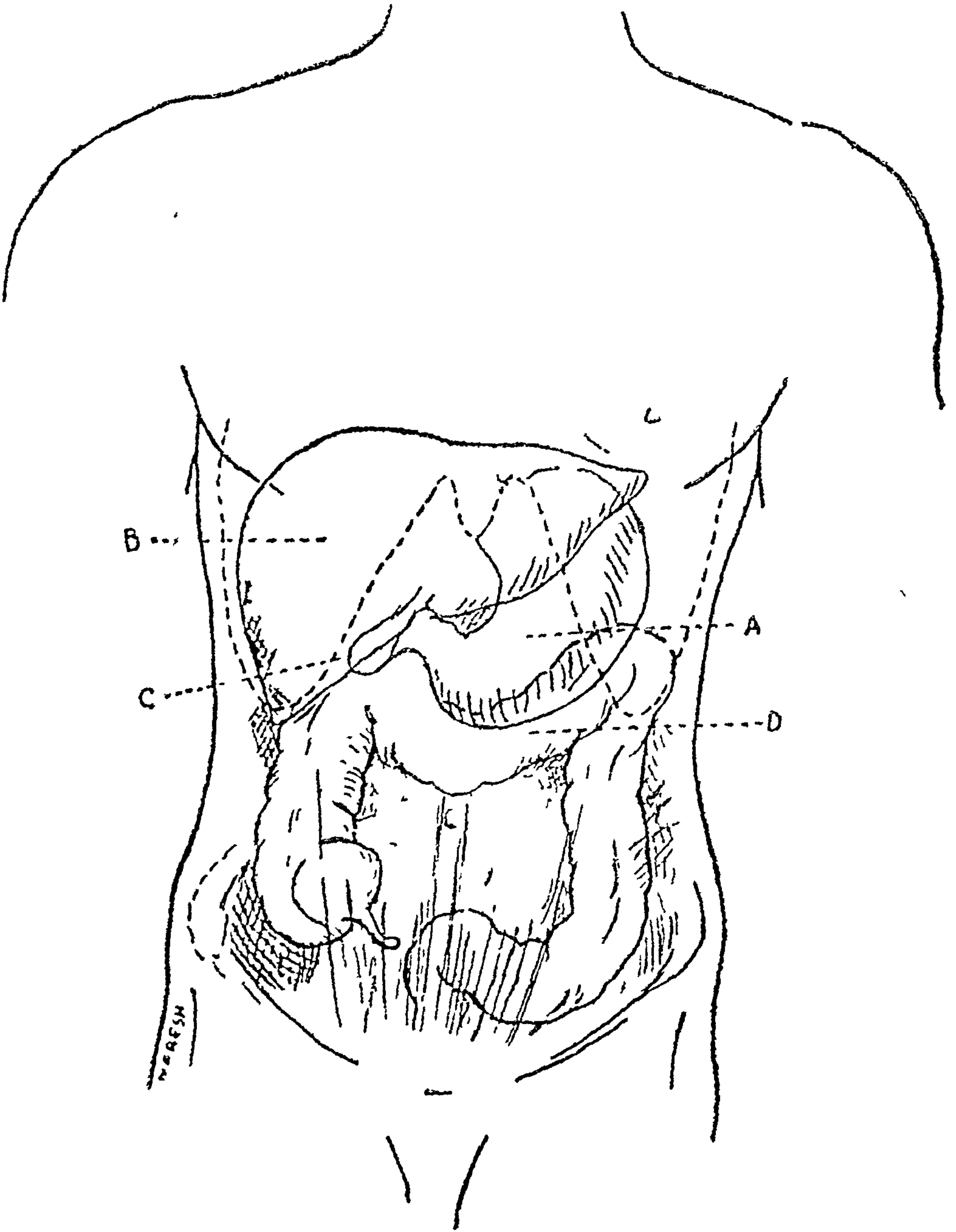
A आमाशय, पित्ताशय, अग्नाशय, पक्वाशय, अनुप्रस्त बृहदान्त्र। B. आमाशय और प्लीहा। C. अन्त्र, उदर्याकला। D. यकृत, बृहदान्त्र और दक्षिण वृक्क। E. प्लीहा और वाम वृक्क। F. मूत्राशय और श्रोणीगत अङ्ग। G पित्ताशय। H मेयोरोन्वस बिन्दु। I. आमाशय व्रण। J. अन्त्र मुड़ जाना।

चित्र नं० ५३



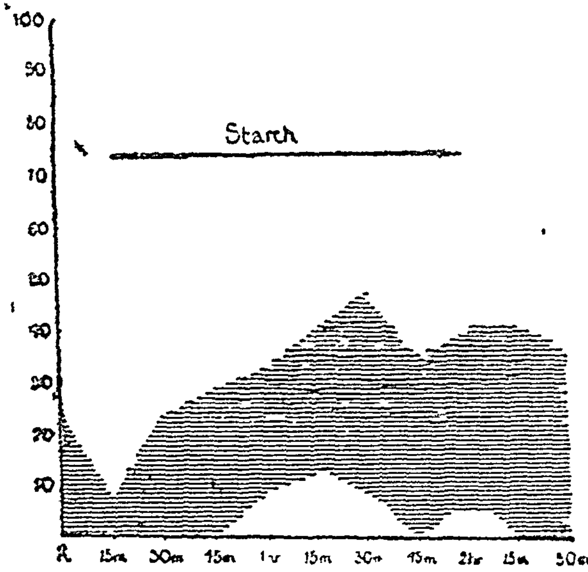
A. क्लोम । B पक्वाशय । C प्लीहा ।

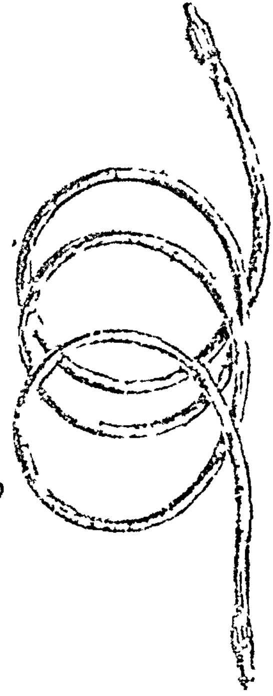
चित्र नं० ५४



आमाशय, यकृत, पित्ताशय बृहदान्त्र।

चित्र नं० ५७



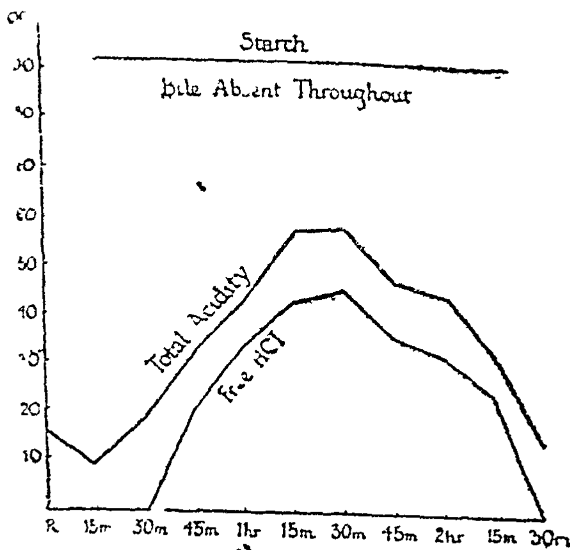


चित्र नं० ५८

घन्टा और मिनटों में समय

स्वाभाविक आमाशयक क्रिया का रेखाचित्र ।

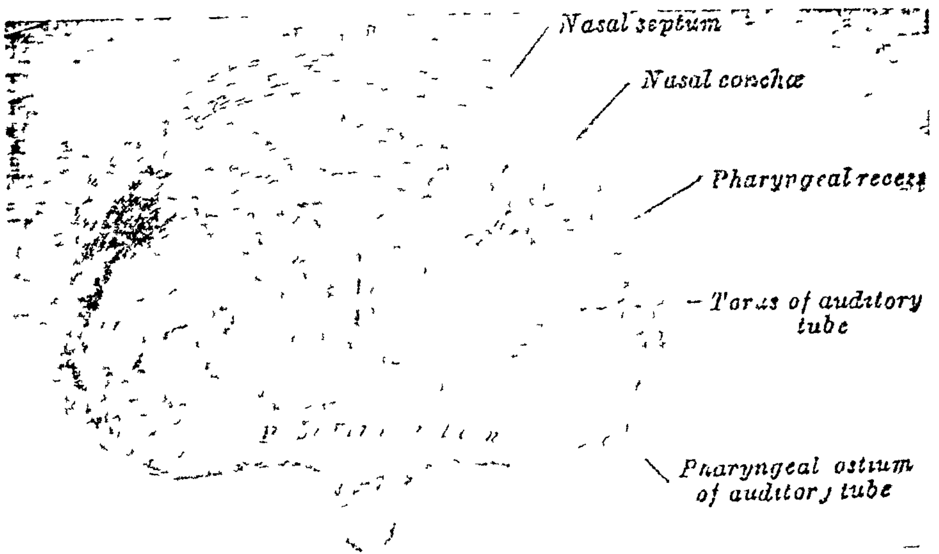
चित्र नं० ५९



घन्टा और मिनटों में समय

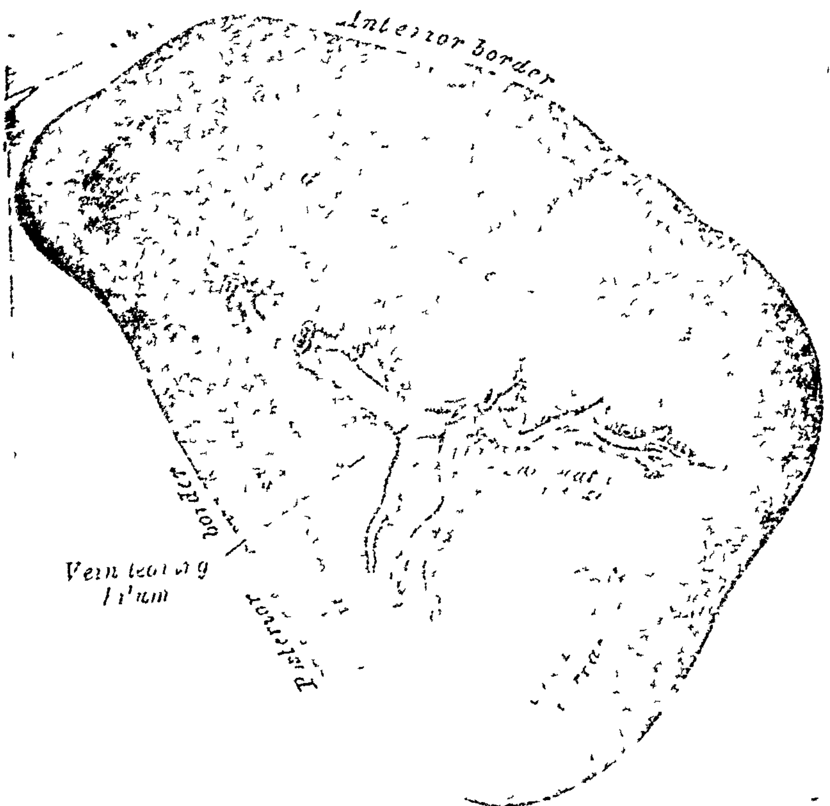
अशभग्नपरीक्षाहार । जीर्ण आमाशयक व्रण में ।

चित्र नं० ४०



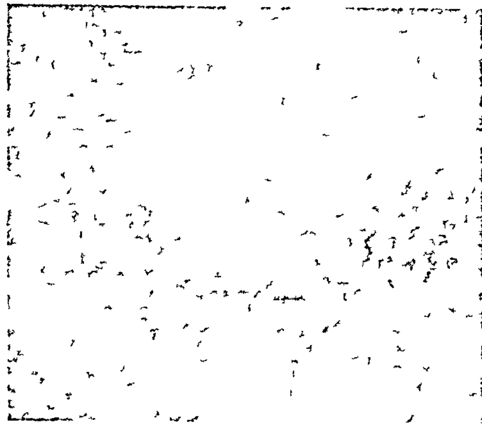
स्वत्यत्र दर्शक द्वारा प्रतीत होने वाला ग्रसनिका का नासागत प्रदेश

चित्र नं० ३२



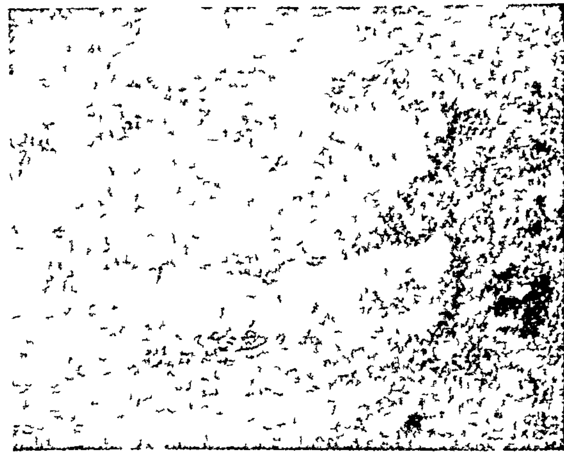
मुखगह्वर मे जिह्वा

चित्र नं० २६



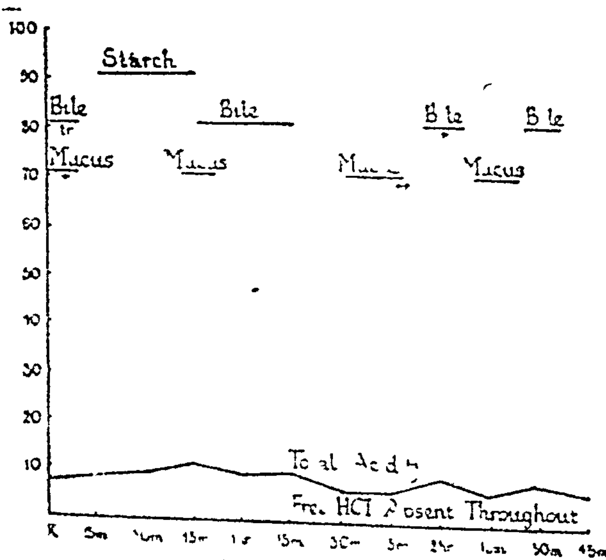
ओष्ठ पर जमा हुआ मल
अधर विसर्पिका में

चित्र नं० ३२



हचिन्सन्स दन्त

चित्र नं० ६१



घन्टों और मिनटों में समय

अंशभग्न परीक्षाहार। त्रिदोषज पाण्डु में।

चित्र नं० १३, १४, १५, १६, २६, ३७, ४६, ५५, ५६ और ६० के ब्लोक्स नहीं बन सके। अतः पुस्तक में नहीं दिये जा सके हैं।

परिशिष्ट नं० २

पृष्ठ २०८ पर—नं० ८

कोंगोरेड पत्र बनाने की विधि—

यह मोटे ब्लोटिंग पेपर को कोंगोरेडके १ डैसीग्राफको १०० सी० सी० ानी में बनाये हुये विलयन या संतृप्त मद्यसारीय विलयन मे डुबो कर पुनः खा लेने से बन जाता है।

पृष्ठ २०१ पर—नं० ५

फ्लोरोग्लूसीन और वनीलीनका विलयन—

२ ग्राम फ्लोरोग्लूसीन और १ ग्राम वनीलीनको १०० सी.सी. विशुद्ध ाल्कोहोल मे घोले। इस विलयन को अंधेरे में रखे और मितव्यतासे काम लें।

पृष्ठ २०१ पर—नं० ६

बोअसका रेजोर्सिन रिएजेंट

रेजोर्सिन ७५ ग्रेन	मिलाले।
सफेद शक्कर ४५ ग्रेन	
हल्का स्पिरिट ३॥ औंस	

पृष्ठ ३४४ पर नं० १३

रक्त को पतला कर देने वाला तरलः—

सल्फेट ऑव सोडा ११४ ग्रेन
एसेटिक एसिड १ ड्राम
स्रवित जल ६ औंस

पृष्ठ ३४७ पर—नं० १४

रक्तको पतला करने वाला तरल (स्टोंगकी विधिः—

सोडियम क्लोराइड	० ६५ ग्राम
सोडियम साइट्रेट	०-८५ ग्राम
कोमर्सियल फार्मेलीन	०-५ सी. सी.
स्रवित जल	१०० सी. सी.

पृष्ठ ३५५ पर नं० १५

टोइसनका विलयन

मैथिल वीयोलट ५ वी.	०.०५२ ग्राम
सोड० क्लोर.	१-००० ग्राम
सोड० सल्फ	८-००० ग्राम
न्यू ग्लिसरीन	३०-००० ग्राम
स्रवित जल	१६०.००० ग्राम

सूचना—उपयोग में लेनेसे पूर्व छान लो।

पृष्ठ ३८५ पर नं० २५

रोमनौस्कीका रंजक द्रव्य—

इसकी टिकियाए (Soloid) बनी हुई आती है। एक टिकियाको १० सी. सी. मैथिल अल्कोहोल मे मिला लेने से यह रंजक द्रव्य बन जाता है। विलन बनाने मे प्रयुक्त मैथिल अल्कोहोल एकदम एसिटोन रहित होना चाहिये।

टिकियाओं के साथ विभिन्न लिखी हुई सूचानाओं पर विशेष ध्यान देना चाहिये एवम् जिस बोतल में विलयन रखा जाय उसे अच्छी प्रकार डाट लगाकर रखना चाहिये। इस रंजक द्रव्य से रक्त केरक्तागु रंजित किये जाते हं। इससे रक्तागु गुलाबी (Pink), श्वेतागुका केन्द्र रक्ताभ नील, अम्लरंगेच्छुके कण गुलाबी और क्षार रंगेच्छु (Bosopils) के कण नील रंगके हो जाते हैं। विषमज्वरके कीटाणुओ का केन्द्रकपदार्थ रक्ताभ नील हो जाता है।

पृष्ठ ५३० पर नं० ११

फौह्लिङ्गका विलयन—

(१) ३४.६४ ग्राम विशुद्ध कोपर सल्फेट लेकर २०० सी. सी. गरम पानी मे मिलावे। ठण्डा होने पर विलयन ५०० सी. सी बनाले।

(२) १८० ग्राम स्फटिकार रोचे साल्ट (Roghe salt) को ३०० सी. सी. गरम पानी मे मिलाकर छान ले और उसमे ७०० ग्राम विशुद्ध कास्टिक सोडा या १०० ग्राम पोटाश मिला ले। ठण्डा करे और कुल विलयन ५०० सी सी. बनाले।

जब प्रयोग करना हो उस समय नं १ और नं० २ को बराबर परिमाण में मिला लो। इस विलयनकी १ सी सी. ५ मि. ग्राम विशुद्ध ग्लूकोज से रिड्यूस्ड हो जाती है।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३१४	१७	शिरानाड़ी परिवर्तन	शिरा स्पंदन परिवर्तन
३२१	१४	आकृति न० ३६	आकृति नं० ८२
३२८	२४	आकृति नं० ४५ अ	आकृति नं० ८७ A
३२६	१	आकृति नं० ४५आ	आकृति नं० ८७ B
—	७	आकृति न० ४५ इ	आकृति नं० ८७ C
३३४	११	संहमन	संवहन
३३७	१	रक्तवारी	रक्त वारि
३४४	१७	उपर	आगे
३४६	६	मार्ग	वर्ग
३४६	१८	४००० = २४०००	४००० = २४,०० × १०० = २४००००० रक्ताण्ड १: १००
३५२	१६	आकृति नं ४६	आकृति नं० ६०
३५२	२६	चित्र नं० ५०	चित्र नं० ६१
३५३	६	चित्र नं० ५१	चित्र नं० ६२
३६५	६	रुधि	रुधिर
३८७	१४	CLO	CLOT
३६२	×	म, ख, क	C, B, A
३६४	१	आकृति नं ५७	आकृति नं० ६८
४१७	२	गहर	गह्वर
४२८	८	वर्णन	दर्शन
४४७	६	ठोस	ठोस ग्रंथिया
४५४	२०	मार्ग विरोध	मार्ग निरोध
४७३	२	शोथ मुख	शोथयुक्त
४७५	४	शका	शंक्वाकार

शुद्धि-पत्रक

पृष्ठाक	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३	१५	Spin diseases	Skin diseases
—	१८	Bonses	Bones
—	१९	Goints	Joints
१८	१७	खामी	खाली
—	२६	अन्नशूल	अंत्रशूल
—	३१	पत्ताइमरी	पित्ताश्मरी
२७	२१	Shrue	Sprue
२८	३३	अवतयकश	आवश्यक
३२	६	होने	में होने पर
३४	२	समय	समस्त
३६	६	का गुण	का स्थितिस्थापक गुण
३६	१	कुबटु	कुटम्ब
५६	७	कहते	होता
—	१२	जगल	लगना
६०	२८	रक्ताव	रक्तश्राव
६२	२५	विपरीत	भ्रम
—	३१	में रोगी	मे बुद्धि भ्रंश के हेतु
६३	८	स्मृति क्षय	मिथ्या भास
६४	१५	रक्त मे वृद्धि	रक्त में मूत्राम्ल वृद्धि
६८	३२	को प्रभावित	को सबसे अधिक प्रभावि
७२	२७	कोथक	कोप्यक
७४	१६	वाहक यंत्र	ध्वनि वाहक यंत्र
८१	१	नत्यात	नृत्यवात
—	४	पित्ताइमरी	पित्ताश्मरी
—	—	टुंगाद्ध	तुंगाक्ष
६२	३	शारीरिक शिक्षा	शारीरिक परीक्षा
६५	१४	धमनी	धमनी विवर
१०८	१७	तकरणास्थि	तरुणास्थि



पृष्ठांक	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०	११	रोगी सन्तानो	रोगी की सन्तानों
१२	४	टाल	टाट
१७	२८	पर	में
१६	१३	सहायक	सघात
२८	१७	नासिका	नालिका
३०	४	व्यवस्था	अव्यवस्था
१३४	३१	विवाजन	विभाजन
१४६	२१	बाहर	बारह
१५२	१५	इनमें खाने	इनमे पान खाने
१५३	१६	मल जिह्वा	मलयुक्त जिह्वा
१५३	२८	निर्दल	निर्बल
१५७	१	प्रवाह	प्रदाह
१६०	६	जविनि	गविनी
२२२	५	विषय	विषम
२२५	१२	प्राप्ति क्रिया	प्राति क्रिया
२२७	१०	Clnodenatı	Duodenale
२२६	१०	पूर्वोत्तम	पूर्वोक्त
२३२	२६	ग्लेथरल	ग्लेसियल
२४१	१६	नल	तल
२५६	१६	बुंई	ब्रूट्स
२६५	६	चित्र नं० ७ M	चित्र न ७० में M
२६६	३२	अजावों	आवाजो
२८३	३	नाल	ताल
२६३	२७	संकचना	सकोच
३०१	२७	यह	पर
३०७	१२	आकृति नं० ३२	आकृति नं० ७६
३०६	११	आकृति नं० ३३	आकृति नं० ७७ A
—	१६	आकृति ३३ B	आकृति नं० ७७ B
३१०	१६	विश्वास	निश्वास
३१२	६	आकृति न० ३४	आकृति नं० ७८